ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता ।

[पुरुषार्थ-बोधिनी-भाषा-टीका]

टीकालेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

प्रथमवार २०००

संवत् १९८७, शक १८५२, सन १९३०.

'वेदका वेद्य।'

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

भ० गी० अ० १५

"मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंकी देहोंमें रहता हूँ और मैं ही वहां प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।" १४

"मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रहा हूँ। मुझसेही स्मरण, ज्ञान और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है। सब वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूँ। मैं ही सब वेदोंका जाननेवाला हूँ और वेदका अन्तिम तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ।" १५

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

[भाषाटीका।]

श्रीमद्भगवद्गीता यह सातसौ श्लोकोंका छोटासा ग्रंथ मननशील पाठकोंको अत्यंत प्रिय होने योग्य है। यह **गीता** ग्रंथ इतना छोटा है, तथापि अर्थकी गंभीरताकी दृष्टिसे इसकी योग्यता बहुत बडी है। इसलिये **महात्मा गांधी** जी जैसे अनासक्तिके पथपर स्वयं चलने और जनताको चलानेवाले, अहिंसाधर्मका पुनरुज्जीवन करनेवाले कर्मयोगीने इसका अर्थ वर्धिष्णु है ऐसा कहा है-

"गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें आप जितने गहरे पैठेंगे उतने ही नये और सुंदर अर्थ आपको मिलेंगे। गीता सर्वसाधारण की चीज है और इसलिये उसमें एकही बात अनेक तरहसे कही गई है। अतएव गीतामें प्रयुक्त महाशब्दोंके अर्थ हरएक युगमें बदलेंगे और विस्तृत होते जायंगे। पर गीताका मूल मंत्र कभी नहीं बदलेगा। जिस रीतिसे यह मंत्र सिद्ध किया जा सकता है उस रीतिसे जिज्ञासु उसका जो चाहे अर्थ करे।"

श्री० महात्मा गांधीजी ने निरंतर ४० वर्ष गीताका मनन किया और **गीताके** उपदेशके अनुसार आचरण किया और पश्चात् उक्त शब्द लिखे हैं, इसलिये इनके विरुद्ध शब्द लिखना सहजहीमें नहीं हो सकता।

गीताका अर्थ एकवार पढनेसे ध्यानमें नहीं आसकता, मनुष्य कितनाभी विद्वान क्यों न हो, थोडेसे मननसे **गीताग्रंथ** का हृद्गत समझमें नहीं आसकता। **लो० तिलकजीने** ४५ वर्ष **गीताका** मनन किया और **गीता-रहस्य** ग्रंथ लिखा, **म० गांधीजीने** ४० वर्ष मननके साथ आचरण किया और अपना भाषान्तर प्रकाशित किया जिसकी भूमिकामें वे कहते हैं कि—

"गीताके अनुसार आचरण करनेमें प्रतिदिन निष्फलता होती है, इस निष्फलतामेंहम सफलता की उगती हुई किरणोंकी झाँकी करते हैं।"

चालीस वर्ष अखंड तपस्या करनेवाले के हृदयके ये शब्द निःसंदेह **गीताके** उपदेशकी गंभीरताके सूचक हैं। परंतु जो लोग आचरण नहीं करते और मननभी नहीं करते, उनके लिये **गीता** ग्रंथका कोई विशेष मूल्य नहीं होता है। मननके विना **गीता** ग्रंथको देखा जाय, तो उसमें पुनरुक्ति, असंबद्धता, अस्पष्ट और परस्पर विरुद्ध विधान भी पाये जायंगे। कईयोंने गीताके विषयमें ऐसे ही अनुदार शब्द लिखे हैं,जो उनके अज्ञानके सूचक हैं।

केवल संस्कृत भाषा अथवा अनुवादकी भाषा जाननेसे गीताका आशय मनन न करते हुए ध्यानमें आना करीब करीब अशक्य है। वेद, उपनिषद् और गीता इन सब ग्रंथोंकी अवस्था यही है! प्रायः सब ऋषिग्रंथोंके विषयमें यही बात है। विशेष मननके विना उनका हृद्गत समझना अति कठीन कार्य है। यह इसलिये होता है कि, ये ग्रंथ **विशेष मनोभूमिकाकी अवस्थामें लिखे होते हैं और इनके दृष्टिकोन भी भिन्न होते हैं। जबतक उनका दृष्टिकोन समझ में नहीं आता, तब तक उनके उपदेश समझमें आना कठीन है।**

श्रीमच्छंकराचार्यजी तथा अन्य अनेक **आचार्यों ने** यह कहा है कि **"वैदिक धर्म" के सत्य सिद्धांत कालान्तरसे जनताके मनसे दूर हुए, अतः उनको पुनः उज्वलित करके जनताके सन्मुख रखनेके लिये गीताशास्त्र कहा गया है।** यह आचार्योंका कथन नितान्त सत्य है। **वैदिक धर्मके** गूढ सिद्धांत उज्वल रूपमें देखनेकी इच्छा हो, तो **गीता** पढी जाय। स्वयं **गीता** में चतुर्थाध्यायके प्रारंभमें यही बात कही है—

"श्रीभगवान् बोले— यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान्से कहा था, उसने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार परंपरासे आया हुआ और राजर्षियोंका जाना हुआ यह योग दीर्घकाल के कारण नाशको प्राप्त हुआ। वही पुरातन रहस्य रूप योग मैंने आज तुमसे कहा है, क्यों कि तू मेरा भक्त है और मित्र भी है।"

यहां स्वयं भगवान्‌के द्वारा कहा गया है कि, गीता कोई नया शास्त्र नहीं है, परंतु प्राचीन परंपरासे जो ज्ञान आदिकालसे चला आया है, वही पुनः यहां कहा गया है। 'वेद' ही अनादि ज्ञान प्राचीन परंपरासे चला आता है, परंतु मनुष्यके अज्ञानके कारण उस मार्गसे मनुष्य दूर चले जाते हैं। इसलिये जनताको जगानेवाले 'उत्तम पुरुष' वारंवार आते हैं, वे आकर जनताको जगाते हैं, और पारंपरिक ज्ञान देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् इसी प्रकारके 'उत्तम पुरुष' किंवा 'पुरुषोत्तम' थे और उक्त हेतुसे ही उन्होंने गीताशास्त्रका उपदेश किया। इससे स्पष्ट हुआ कि, गीताशास्त्रमें जो ज्ञान कहा है, वह ज्ञान परंपरासे चला आता है, वह ज्ञान इससे पूर्वके ग्रंथोंमें भी मिल सकता है, वह नया नहीं है।

इस 'पुरुषार्थ बोधिनी' भाषाटीकामें यही बात दर्शायी जायगी कि, वेद, उपनिषद आदि प्राचीन ग्रंथोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अर्थात् ये ही गीताके सिद्धांत प्राचीन ग्रंथोंमें किस रूपमें हैं। यह बात इस समयतकके किसी टीकाकारने विशद नहीं की है, प्राचीन टीकाकारोंने इसका कुछ अंश बताया है, परंतु इसका विशेष आविष्कार किसीने अभीतक नहीं किया है। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है। गीतापर इतनी टीकाएं होते हुए पुनः यह टीका लिखनेका यही एकमात्र हेतु है।

छत्तीस वर्ष पूर्व मैंने मराठी भाषामें एक सारांशरूपसे गीताका रूपान्तर प्रकाशित किया था, और गीताके कई शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करनेके लिये भी कई लेख नियतकालिकोंमें लिखे थे। तबसे यह 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका लिखनेका संकल्प है और तबसे गीताका विचार हो रहा है और प्राचीन ग्रंथवचनोंकी तुलना गीतावचनोंके साथ तबसे की जारही है। इतने समयके मननसे मेरे मनका यह निश्चय हुआ कि, वेद, उपनिषद् और गीता इनका तात्पर्य एकही है, जो भेद किसीको दीखता है वह अज्ञान के कारण है। यदि निःपक्षपातपूर्वक विचार हो जायगा और यदि पंथाभिमान की कलुषित दृष्टि दूर होना किसी कालमें संभव हो जायगा, तो इन तीनोंका एकही तात्पर्य स्पष्ट रीतिसे दृष्टिके सन्मुख उपस्थित होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यह बात तो निश्चित है कि, यह गीताशास्त्र लोगोंके विचारोंके मतभेद बढानेके लिये उत्पन्न नहीं हुआ, परंतु विभिन्न मतोंका संगतिकरण करके, उनसे प्रगट होनेवाली विविधता दूर करके, उनके अंदर जो अभेद है उस ओर लोगोंके ध्यानका आकर्षण करानेके लियेही गीताशास्त्र उत्पन्न हुआ था। यद्यपि ऐसे एकता अथवा समताका प्रचार करनेवाले ग्रंथपरभी आजकल विभिन्न मत लदे गये हैं !! परंतु मूलतः देखा जाय, तो विभिन्न तत्त्वों में व्याप्त रहने वाला अभिन्न तत्त्व बतानेके लिये और उन सब का संगतिकरण करनेके लिये इस गीताशास्त्र की उत्पत्ति है। अर्थात् यह ग्रंथ झगडे बढानेके लिये नहीं है परंतु झगडे घटानेके लिये ही है।

यही दृष्टी यदि पाठक रखेंगे, तो उनको गीताका दृष्टिकोन शीघ्र दीखेगा और वे गीताके उपदेशके अनुसार आचरण करके, अपना और जनताका अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करनेके अधिकारी हो सकेंगे।

अन्तमें मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार भूले और मोहित हुए अर्जुनको उस समय इस "भगवान् के गीत" ने मार्ग दर्शाया, उसी प्रकार इस समय भूले भटके और मोहित हुए जनोंको भी यह गीता सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नतिका पथ सबके लिये खुला कर देगी। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते ही हैं कि— "सब अन्य मतोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू शोक मत कर। (भ० गी० १८।६६)" जो विश्वास रखेंगे और देवकार्यमें अपने आपको समर्पण करेंगे उनको यही अनुभव आवेगा।

निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

औंध (जि० सातारा) स्वाध्यायमंडल

कार्तिक शुद्ध पूर्णिमा शके १८५२

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता।

[पुरुषार्थ-बोधिनी भाषाटीकासे युक्त]

प्रथमाध्यायः।

अर्जुन-विषाद-योग।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता।

धृतराष्ट्र उवाच– धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वय—हे सञ्जय ! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, युयुत्सवः समवेताः, मामकाः पाण्डवाः च एव, किं अकुर्वत ?

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें, युद्ध करनेकी इच्छा से एकत्र हुए, मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस समय अपने लोग किसी युद्धमें संमिलित होते हैं, उस समय उस युद्धका ठीकठीक वृत्तान्त शीघ्र जानना और विजयप्राप्तिके लिये अपने लोगोंकी उचित सहायता करना, प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता।

"श्रीमद्भगवद्गीता" शब्दका अर्थ वास्तविक रीतिसे "श्रीभगवान् के मुखसे गाई गई" ऐसा होता है। श्रीभगवान् का उपदेश द्वितीय अध्याय के द्वितीय श्लोकसे प्रारंभ होता है, उसके पूर्वका यह प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका प्रथम श्लोक पूर्वसंबंध बतानेवाला प्रस्तावनारूप भाग है। इस प्रथम अध्यायमें अर्जुन के मनमें विषाद उत्पन्न होनेका प्रसंग वर्णित हुआ है। परंतु इस प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोकमें अर्जुनका विषाद भी नहीं है। इसमें तो "धृतराष्ट्रकी चिन्ता" है। अर्थात् इस अनुपमेय ग्रंथ का प्रारंभ धृतराष्ट्रकी चिन्तासे हुआ है। यह धृतराष्ट्र कौन है?

धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र एक भारतीय राजा था,यह बात सब जानतेही हैं। परंतु यहां 'धृतराष्ट्र' एक विशेष भूमिका लिये हुए हैं। यह "धृत-राष्ट्र" है। यह 'राष्ट्र' को 'धृत' अर्थात् हडप कर बैठा है। यह जो वास्तविक अपनी चीज नहीं और दूसरे की है, उसपर अन्याय से और पाशवी बलसे अपना अधिकार जमानेका यत्न कर रहा है। दूसरे का राष्ट्र पाशवी बलसे अपने आधीन करना, उसपर अपना अधिकार सदाकेलिये स्थिर रखनेका यत्न करना और उसके अधिकारी पुरुष अपना स्वराज्य वापस मांगने लगे, तो उनको न देनेके लिये प्रयत्न करना, और उनको 'अनधिकारी' सिद्ध करना, यह 'धृत-राष्ट्र' यहां कर रहा है। इसी कारण इसको चिन्ता हो रही है, और यह पूछरहा है कि, "भाई! आज युद्धका पहिला दिन है, उस युद्धमें क्या हुआ ?"

धृतराष्ट्र और हृतराष्ट्र।

"धृत-राष्ट्र" और "हृत-राष्ट्र" इनमें यह युद्ध हुआ है। हमेशा ऐसे ही युद्ध हुआ करते हैं। कौरव 'धृतराष्ट्र' के पक्षपाती और पाण्डवोंका पक्ष 'हृतराष्ट्र' का था। 'हृतराष्ट्र' वे होते हैं कि, जिनका राष्ट्र छीना गया होता है और जो अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये यत्न करते हैं। इनका राष्ट्र छीना गया होनेके कारण और ये राजकीय अवनतिकी चरम सीमा तक पहुंचे होनेके कारण तथा युद्धमें पराजय हुआ तोभी हृतराष्ट्रोंकी और अधिक हानी होनेकी संभावना न होनेके कारण हृतराष्ट्र दक्षतासे युद्धकी तैयारी करते हुए भी चिन्तासे व्याकुल नहीं होते। युद्ध का परिणाम अनुकूल हुआ तो हृतराष्ट्र लोग 'स्वराज्य' प्राप्तकरेंगे, यह आशा इनको रहती है; परंतु युद्धमें पराजय हुआ तो इनकी, पहिलेसे ही राज्य छीना जानेके कारण, और अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं होती है; अतः इन को चिन्ता नहीं दुःख देती; प्रत्युत अपना सत्पक्ष होनेके कारण और राज्य प्राप्तिकी संभावना होनेके कारण, इनके अंदर एक प्रकार का अपूर्व उत्साह रहता है।

धृतराष्ट्रकी हानि।

परंतु 'धृत-राष्ट्र' के पक्षकी बात वैसी नहीं है। यदि इनका विजय हुआ तो इनको प्राप्ति कुछभी नहीं होनी है, जो युद्धके पूर्व था, वही अधिकसे अधिक इनके पास स्थिर रहेगा; युद्धमें पराजय हुआ, तो अनेक अन्याय और क्रूरत्व करके कमाया हुआ राष्ट्र हाथसे चला जायगा; और जय किंवा पराजय होनेपर युद्धसे इनकी हानि ही हानि होनी है; इस कारण ये 'धृतराष्ट्र' के पक्षके लोग रातदिन चिन्तासे व्यग्र रहते हैं। युद्धमें जय मिला तोभी इनकी हानि है, युद्धमें पराजय हुआ तोभी इनकी हानिकी सीमा ही नहीं है, और दोनों अवस्थाओंमें संपूर्ण जगत्की निंदा इनके माथे आती ही रहेगी। इस चिन्तासे व्याकुल होकर इस श्लोकमें 'धृत-राष्ट्र' पूछ रहा है कि "मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र युद्ध की इच्छासे इकट्ठे हुए थे, तत्पश्चात् क्या हुआ?" इस प्रश्नमें जो भय है, वह ऊपर दर्शाया ही है। यह भय सामान्य नहीं, इसी चिन्तासे सब 'धृत-राष्ट्र सम्राट्' मनही मनमें दिनरात जलते रहते हैं।

अन्धा धृतराष्ट्र।

'धृत-राष्ट्र' अंधा भी होता है। यह अन्धा क्यों न होवे? मनुष्य पाशवी बलके कारण अन्धा होता है, परंतु जिसके पास पाशवी बल अत्यधिक होता है, वह तो सबसे पहिले और सबसे अधिक अंधा होता है। पाशवी बल बढजानेके कारण ही यह दूसरोंका राष्ट्र अपने आधीन करके उसका उपभोग लेता रहता है, और इस कारण उसका धन भी बढता है। इस अधिक धनके कारण भी मनुष्य अन्धा होता है। बल और धन पास रहनेपर साधारण मनुष्य तो अन्धा बनही जाता है, परंतु इनके साथ यदि शासनाधिकार प्रतिबंधरहित रीतिसे हाथ में

आगया, तो अन्धा बन जानेकी कोई सीमाही नहीं रहती। बल, धन और अधिकारके मदसे तना हुआ मनुष्य न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, नीति और अनीति, युक्त और अयुक्त देखनेमें असमर्थ होता है। वह शरीर के नेत्रोंके कारण अन्धा हो या उसकी आंखें अच्छी हों, इसका कोई संबंध नहीं, सत्य दृष्टीसे वह अन्धा ही बनता है। स्थूल शरीरके अन्धत्वकी अपेक्षा उसका जो मानसिक और आत्मिक अन्धत्व होता है, वह बहुत ही भयानक होता है; यह न केवल उसको चिन्तामें डालता है, परंतु जितने भी उसके पक्षमें होते हैं, उन सब को अपरिमित चिन्तासागरमें डुबा देता है।

अन्धेके अन्धे अनुयायी.

धृतराष्ट्रकी पत्नी भी आंखें होती हुई अन्धी बनी थी! क्यों न बनेगी? जो अन्धे धृतराष्ट्रके साथी होते हैं उन सब का हाल ऐसा ही होना है। यह ठीक है कि, गांधारी देवीने पतिव्रता व्रतके कारण अपनी आंखें बांध रखी थीं। यह निःसन्देह ऐसाही होगा। परंतु यह गांधारी अपने घरमें अपनी स्नुषापर चलाये हुए अत्याचारका प्रतिबंध करनेमें समर्थ नहीं हुई। इस देवीने बहुत विरोध भी नहीं किया था। जब अत्यन्त अत्याचार हुआ, तब कुछ बोल उठी थी। इससे प्रतीत होता है कि, यह देवी पतिदेव धृतराष्ट्रकी संमतिके प्रतिकूल बहुत जाना नहीं चाहती थी। यदि यह दुःशासनको अपने पूरे बलसे रोक लेती, तो घर के यशकी रक्षा होना संभव था। मानो, इस देवीने जान बूझकर अपने आंखोंपर परदा डाल रखा था और सच मुच था भी ऐसाही। धृतराष्ट्र तो चाहताही था कि यदि किसी न किसी प्रकार पांडवोंकी बला टल जाय और पूर्ण साम्राज्य अपने पुत्रोंके आधीन हो, तो अच्छाही है। पतिव्रता होनेके कारण और पुत्रलोभके कारण देवी गांधारी का भी अंदर अंदरसे ऐसाही मत हुआ होगा। पुत्रों के मोहसे और पतिके अनुकूल रहनेके यत्नसे स्त्रियोंके अंदर इस प्रकारकी कमजोरी आती ही है। वे सहसा अपनी इच्छाको प्रबल करना नहीं चाहती, इस लिये आंखें होती हुई भी उनको अन्धा बननाही पडता है। यही अवस्था गांधारी देवी की हो गई थी।

अन्धे धृतराष्ट्रके पुत्र भी एकसे एक अन्धेके अनुगामी होने योग्य थे। दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुष्प्रधर्ष, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्पराजय, दुराधर, इ० ये पुत्र और इनकी भगिनी दुःशला इनके नाम का प्रारंभ "दुः" अर्थात् दुःख, दुष्टता आदि भावोंसे हो रहा है। यद्यपि शौर्यकी दृष्टिसे इनके अर्थमें कोई बुराई नहीं है, तथापि दुष्टबुद्धि के लिये इनके शौर्यका उपयोग होनेके कारण इनके शौर्यका दुरुपयोगही हुआ। जो शक्ति देवकार्य के लिये लगती है, वही उत्तम आदरणीय है, परंतु जो शौर्य आसुरी कार्यके लिये लगता है; वह शौर्यवीर्य कितना भी बढकर हुआ, तो भी वह दुःख बढानेवाला ही होता है। इसकी सूचना इन नामोंसे भली प्रकार समझमें आसकती है। 'धृत-राष्ट्र' अर्थात् जो दूसरोंका राष्ट्र अन्यायसे हडप कर बैठा होता है, उसके परिवारके लोग और उसके अनुयायी लोग उसको मदत करनेके कारण और उसका पूर्ण विरोध न करनेके कारण उसके दोषके भागी होजाते हैं। इन नामोंकी योजनासे यही स्पष्ट दीखता है। दुर्योधन वस्तुतः सुयोधन अर्थात् उत्तम लडनेवाला था, परंतु उसने अपना युद्धकौशल दुष्ट असत्पक्षके लिये लगानेके कारण वह 'सु-योधन' होता हुआ भी 'दुर्योधन' बनगया।

सामुदायिक पाप।

यही अवस्था भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, आदिकोंकी होगई थी। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये ज्ञानी, शूर, पुरुषार्थी और तेजस्वी धार्मिक पुरुष थे। अनुकरणीय और प्रातःस्मरणीय थे।

परंतु उनका सब शौर्य दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अनीतिके पक्षके लिये लडनेमें खर्च हुआ !! इतने आदर्श पुरुष होते हुए भी बुरी अनीतिके असत्पक्षमें रहनेके कारण वे वधके योग्य समझे गये। सांघिक अथवा सामुदायिक पापका यही परिणाम होता है। ऐसे युद्धोंमें बुरेके साथ भला भी पीसा जाता है। और ऐसी अवस्थामें जो भले लोग पीसे जाते हैं,उनको कोई बचा नहीं सकता। अतः इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मद्रोणादि सज्जनोंको बचा नहीं सके।

वैसा देखा जाय तो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य जानते थे कि,पाण्डवोंका सत्पक्ष है और धृतराष्ट्रका असत्पक्ष है। उनका असंदिग्ध मत था कि, पाण्डवोंको स्वराज्य अतिशीघ्र मिलना चाहिये। धृतराष्ट्र और दुर्योधन पाण्डवोंकी स्वराज्यप्राप्तिमें विविध विघ्न खडे कर रहे हैं, यह अधर्म होरहा है, यह भी वे जानते थे और वे समय समयपर वैसा कहते भी थे। परंतु धृतराष्ट्रके साम्राज्याधिकारी पक्षवाले उनका उपदेश माननेको तैयार नहीं थे। दुर्योधन इनके मतको कोई मूल्य देता नहीं था। बूढेकी बक् बक् कौन सुनता है? अधिकारमदसे उन्मत्त हुए पुरुष सदुपदेश और धर्मका उपदेश सुननेको तैयार नहीं होते। कभी तैयार नहीं हुए और आगेभी सुननेको तैयार न होंगे। वे तो उस समय सुनने को तैयार होते हैं कि, जिस समय वे पूर्ण रीतिसे पराजित हुए होते हैं।

पापसे मृत्यु।

दुर्योधन यह कहता था कि, अपने पास ११ अक्षौहिणी सेना है, भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महावीर सहायक हैं, शस्त्रास्त्र संपूर्ण प्रकारके हैं, साम्राज्यका संपूर्ण धन अपने पास है, इतना होने पर पांडवोंकी थोडीसी स्वराज्यविषयक हल चलको डरकर अपने हाथमें आया साम्राज्य क्यों छोड दें? पाण्डवोंकी सेना छोटी, उस सेनाको बहुत अनुभव नहीं है, उनके पास इतना धन नहीं अर्थात् अपनी शक्तिसे पाण्डवोंकी शक्ति सब प्रकारसे कम है, फिर हम क्यों डरें? केवल युद्ध का बलाबल ही देखा जाय, तो दुर्योधनका कहना सत्य ही था; परंतु वह नहीं जानता था कि, अपने किये हुए अनेक पापोंके कारण अपने सब योद्धा (निहताः पूर्वमेव। भ० गी० ११।३३) करीब करीब मरे हुए हैं। दुर्योधन, आंखें होते हुए भी, इस बातको देखनेके लिये वह पूरा अन्धा हुआ था। अपने पापोंके कारण सब जनताका मन और अपने बहुतसे सैनिकोंका भी मन पाण्डवोंकी ओर हुआ है, यह बात वह देखता नहीं था। सच्चा 'विजय' उसको प्राप्त होता है कि, जिसको सब जनता अपने मनसे विजययुक्त देखना चाहती है, और यह जनताका आशीर्वाद सदा 'धर्म' के पक्षवालोंको ही प्राप्त होता है। पाण्डवोंका यह धार्मिक बल दुर्योधनने ध्यानमें नहीं लिया था, वह केवल अपना पाशवी बल ही गिनता रहता था, और अपने अतुल पाशवी बल के मदसे वह उन्मत्त भी हुआ था।

परंतु अन्धे धृतराष्ट्र के मनमें यह बात दिनरात खटकती थी। वह अन्धा होते हुए भी अपने पापोंको सबसे अधिक जानता था और इसी कारण वह युद्धका समय उपस्थित होनेपर सबसे अधिक भयभीत हुआ था, और यह भय मनमें रखते हुए ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि, 'अरे संजय! युद्धकी इच्छासे मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए, इतना तो तुमने मुझे कहा, पश्चात् क्या हुआ?"

अपने पापसे भीति।

यह प्रश्न पूछनेमें उसके मनके सामने अपने सब पातक उपस्थित हुए हैं ऐसा स्पष्ट, प्रतीत होता है। वह मनमें कहता था कि,—हमने भीमको विषप्रयोग किया, उसको जलमें डुबा दिया, लाक्षागृहमें सब पाण्डवोंको जलानेका यत्न किया, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी पतिव्रता द्रौपदीको सभामें अनंत कष्ट दिये, पाण्डवोंसे कपटद्यूत करके उनका राज्य कपटसे हरण किया, बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके

कष्ट उनको दिये, इतना होने पर भी उन्होंने धर्मके अंदर रहकर कष्ट सहे, शक्ति होते हुए भी कोई अत्याचार नहीं किये, अनत्याचारी वृत्तीसे रहे, सब प्रतिज्ञा पालन करके वे अब अपना स्वराज्य वापस मांग रहे हैं और वह हम उनको वापस नहीं देते। हमने उनको स्वराज्य वापस देनेकी कई वार घोषणा भी की थी, परंतु वह देनेकी इच्छासे नहीं की थी, कालहरण करनेकी मनीषासे ही की थी। इतने हमने अत्याचार और कपट करनेपरभी पाण्डवोंने अन्तमें केवल पांच ग्राम ही मांगे, परंतु वह भी हमने दिये नहीं और कहा कि, युद्धके विना रत्तीभर भूमि भी नहीं मिलेगी। ये सब अत्याचार हमने पांडवोंपर किये हैं। इतने हमने पाप किये हैं, इन पापोंके कारण जनताके मनकी प्रवृत्ती पांडवोंको अनुकूल और हमारे लिये प्रतिकूल हुई है। इस कारण यद्यपि हमारा पक्ष पाशवी शक्तिसे प्रबल है, तथापि आत्मिक शक्तिसे हमारा पक्ष बहुत कमजोर हुआ है और पाण्डवोंका पक्ष तो उनकी 'धर्मके साथ स्थिति' होनेके कारण उनका आत्मिक बल कई गुना हमसे अधिक हुआ है।'' धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता थी, रातदिन वह मनही मनमें इस चिन्तासे जल रहा था और इसी कारण युद्धकी उपस्थिति होनेपर वह आतुरताके साथ पूछ रहा है कि ''युद्धका आगे क्या हुआ ?''

धर्मवचनोंका दुरुपयोग।

अन्यायसे दूसरोंका राज्य हरण करनेवाले और कपटसे उसपर अधिकार स्थिर करनेका यत्न करनेवाले धर्मवचनोंको भी अपने अनुकूल बता देनेका यत्न करते हैं। जित लोगोंमें युद्ध-निवारक धर्माभासके भावको जागृत करना, संपूर्ण मानवोंके हितका विचार उनके मनमें भर देना, उनको युद्धके संहारसे निवृत्त करना, इसी प्रकार जगत् नश्वर है इत्यादि विचार उनमें स्थिर करना, इत्यादि प्रकारका प्रयोग भी 'धृतराष्ट्र' के पक्षवालोंने पाण्डवोंपर कियाही था !!! कहते हैं कि सैतान भी धर्मपुस्तकोंका वचन अपने पक्षके लिये उद्धृत करता है। इसी प्रकार विजेता लोग धर्मवचनोंको अपने पक्षके अनुकूल बताते हैं, बडे बडे तत्त्वज्ञान और शान्तिवचन बोलते हैं, जगदुद्धारके लिये हम यत्न कर रहे हैं ऐसा बताते हैं, इन सबका तात्पर्य यह है कि, जित लोग इन वचनोंसे मोहित हो कर स्वराज्य-प्राप्तिके लिये कोई प्रयत्न न करें, और सदा पराधीनतामें संतोष मानें। कौरवोंने पाण्डवोंके ऊपर भी ऐसाही धर्म प्रयोग किया था। गीताके प्रथम अध्यायसे उस प्रसंगका संबंध है, इसलिये उस प्रसंगका वर्णन सारांशसे यहां करते हैं।

उद्योग पर्वमें (अध्याय २० से अ० ३२ तकके बारह अध्यायोंमें) 'संजययान-पर्व' है। पाठक मूल महाभारतमें यह संपूर्ण पर्व पढें। इसके पढनेसे ही भगवद्गीताका प्रथम अध्याय अर्थात् अर्जुनको विषाद क्यों हुआ, वीर अर्जुनका मन युद्धके प्रारंभमें ही उदासीन और विरक्त क्यों हुआ, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है। धृतराष्ट्रके पक्षवालोंने पांडवोंको धर्मवचन-द्वारा युद्धसे हटा देनेका जो अन्तिम प्रयत्न किया था, वह प्रयत्न साम्राज्यवादियोंकी चालाकीका प्रदर्शक है। धृतराष्ट्र जानता था कि, पांडव धर्मप्रवृत्तीके लोग हैं, इसलिये धर्मवचनोंके जालमें अवश्य फंसेंगे। अतः उसने इस कार्यके लिये संजयको पांडवोंकी छावनीमें भेजा था और उसने वहां पांडवोंको जो उपदेश किया था, वह अर्जुनके मनमें जमगया था, युद्धका भयानक चित्र सन्मुख आतेही उन विचारोंने अर्जुनके मन पर प्रभाव जमा दिया और अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ। ऐसा होगा ही, यह बात धृतराष्ट्र जानता था और अपने प्रयोग की सफलता हुई या नहीं, यह जाननेकी इच्छासे धृतराष्ट्र पूछता है कि ''दोनों ओरकी सेना इकट्ठी होनेके बाद क्या हुआ ? '' अर्थात् हमने जो धर्मवचनोंका प्रयोग पांण्डवोंपर कियाथा, उसका अनुकूल परिणाम हुआ या नहीं हुआ। इसके जाननेकी आतुरता धृतराष्ट्रके इस प्रश्नमें है।

जो लोग संजययानपर्वके अनुसंधानसे भगवद्गीताका प्रथमाध्याय पढेंगे वेही इस अध्यायका मर्म समझ सकते हैं। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि, वे उद्योगपर्वके प्रारंभके ये (अ० २० से ३२ तकके) बारह अध्याय सूक्ष्म दृष्टीसे पढें। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम यहां सारांश रूपसे वह भाग बता देते हैं—

(उद्योग० अ० २२ में) धृतराष्ट्र संजयसे कहता है कि " हे संजय ! तू पाण्डवोंकी छावनीमें जा, और उनसे कह कि, धृतराष्ट्र पाण्डवोंका हित चाहता है, पाण्डवोंके गुणोंका वर्णन करता है, और पांडवोंको वापस आये देख कर उसको बडा ही आनंद हुआ है। धृतराष्ट्र पांडवोंसे युद्ध करना नहीं चाहता, परंतु पांडवोंसे संधि करना चाहता है, इसलिये पांडव भी संधि करनेके लिये तैयार हो जांय। हे संजय ! ऐसी वैसी शान्तिकी बातें कहकर पांडवोंका युद्धविषयक जोश कम होगा ऐसा यत्न कर। "

इससे स्पष्ट होता है कि, धृतराष्ट्र शान्ति करनेका इच्छुक नहीं था; परंतु पांडवोंके स्वराज्य-प्राप्तिके लिये युद्ध करनेके उत्साहको कम करनेका इच्छुक था। देखिये साम्राज्यवादियोंकी राजनीति कहांतक गहरी होती है।

आगे चलकर (अ० २४ में) संजय पांडवोंसे कहता है-" हे धर्मराज ! देखो, आप सब पांडव सज्जन हैं, कठिन प्रसंगमें भी धर्मका अतिक्रम आप नहीं करते, आप धन्य हैं। आपने तो कौरवोंके इतने अपराधोंकी क्षमा की है, ऐसे धर्मात्मा लोग आप अब अपनेही भाइयोंका-दुर्योधनादिकोंका-वध करनेका घोर कार्य करेंगे, यह कदापि हो नहीं सकता। कमसे कम मेरा मन तो कहता ही है कि, ऐसा कुलक्षय आप कभी नहीं करेंगे। हे धर्मराज ! क्षत्रियोंका धर्म तो केवल कसाइयोंका धर्म है, वह आप जैसे धर्मात्माओंके लिये शोभा नहीं देता !! मैं निश्चयसे मानता हूं कि, आप ऐसा क्रूर युद्धकर्म कभी करेंगे ही नहीं। आप जानते ही हैं कि बूढा धृतराष्ट्र आपके साथ कितना प्रेम करता है, परंतु वह बिचारा क्या करेगा ? साम्राज्यमदसे धुंद हुआ सुयोधन उसका सुनता नहीं है। क्या इसलिये उनके सब पुत्रोंको मार कर बूढे धृतराष्ट्रको पुत्रशोकमें डालनेमें आप प्रवृत्त होंगे ? यह तो आपके धर्मभावके लिये सर्वथा अनुचित है। हे अजातशत्रो! तुम्हारे मनमें तो शत्रुभाव भी नहीं है। धन्य हो ! तुम ही सच्चे धार्मिक हो। तुमने इतने दुःख सहन किये हैं और अपना धर्म रक्षण किया है, क्या ऐसे तुम इस समय कौरवोंसे शान्तिका वर्ताव नहीं करेंगे? हे धर्मराज ! तुम्हारे सब भाई भी धर्मात्मा हैं। इस लिये यह कुलक्षय हटाना अब तुम्हारे हाथमें है। मैं समझता हूं कि, सबको सुख प्राप्त हो, ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा है, तो तुम इस समय कौरवोंसे संधि करो और अपने कुलकी रक्षा करनेका यश संपादन करो। " (अध्याय २४)

(अ० २५) " हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्र तो शांति करनेके लिये अत्यंत उत्सुक है। आप सब पांडव जन्मसे दयावान्, धर्मवान् और उदार हैं। आप जैसे धार्मिक सज्जनोंको युद्ध जैसा क्रूरकर्म करना कदापि योग्य नहीं है। आप जैसे धार्मिक पुरुषोंने थोडासा भी हीन कर्म किया, तो वह आपके अयशके लियेही कारण होगा। कौरव तो दुष्ट हैं हि, उनके नीच कर्मोंकी तो कोई सीमा ही नहीं, परंतु आप वैसे नहीं ! आपने इस समय तक धर्मका उल्लंघन नहीं किया है, इसलिये अब आपको युद्धका क्रूर कर्म नहीं सजता है। इस युद्धमें जय मिला तो भी वह पराजयके समानही है और इसमें कुलक्षय तो निःसंदेह होगा ही; इसलिये आप जैसे धार्मिक लोगोंको यह घोर युद्ध करना उचित नहीं है। किस पक्षका जय होगा यह भी नहीं कहा जाता; किसीका भी जय हो और किसीका भी पराजय हो; दोनों अवस्थाओंमें निश्चित बात यह है कि, संपूर्ण कुलका नाश होगा। फिर ऐसा हीन कार्य क्या तुम्हारे जैसे धर्मपुरुषोंको करना योग्य है ? हाय ! हे धर्म ! तूने

इतने दिन धर्मका पालन किया और अब ऐसा हीन कर्म करनेके लिये उद्युक्त हुए हो! युद्ध करना तो नीच पुरुषोंका कार्य है, तुम्हारे जैसे धार्मिक लोगोंको यह उचित नहीं है। कौरव भी तुम्हारे भाई ही हैं और अपने भाइयोंका हित करना तुम्हारा परम कर्तव्य ही है। और पहिले भी तुमने ऐसा ही किया है। जिस समय गंधर्वोंने कौरवोंको पराजित करके बांध दिया था, उस समय तुम पाण्डवोंने ही तो उनकी रक्षा की थी? जिनकी तुमने रक्षा की, क्या तुम अब उनका ही वध करोगे! नहीं नहीं, यह तो कसाइयोंका कार्य है, यह पाण्डवोंके लिये योग्य नहीं है। इस लिये आप शान्ति धारण करनेका कार्य कीजिये। ''

(अ०२७) "हे धर्मराज! तू तो धर्मात्मा है। तू जानता है कि जीवित नश्वर है। यहां कौन शाश्वत रहनेवाला है? क्या कौरवोंका नाश करके पांडव चिरंजीव होंगे? यह कदापि नहीं होगा! तुम्हारा स्वराज्य था और वह कौरवोंने छीना यह भी सत्य है, परंतु वे तुम्हारे भाईही हैं, इस लिये राज्यादि नश्वर भोग तुम्हारे पास रहे या उनके पास रहे, उसमें क्या है? यदि उन्होंने तुम्हें स्वराज्य न दिया, तो तुम भिक्षावृत्तीसे उत्तम धर्मका पालन कर सकते हैं। ऐसा न करते हुए तुम अपने कुल का संहार करोगे, तो बडा अधर्म होगा। मनुष्यजीवन अल्प है, इसलिये स्वजातियोंका वध करके राज्य भी कमाया, तो कितने दिन तुम लोग उसका उपभोग करोगे। तुम्हारे जैसे धर्मात्माओंको क्रूर युद्ध करके और वंशक्षय करके राज्य कमाना किसी प्रकार भी यशकारी नहीं है। विषयवासनाही मनुष्यको ऐसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त करती है, इसलिये ऐसी दुष्ट वासना का तू संयम कर। तुम्हारे जैसे ज्ञानी पुरुषको ऐसी तृष्णा धारण करना उचित नहीं! पृथ्वी का राज्य मिलनेपर भी सुख कहां होता है? केवल धर्मसे ही सुख होता है। हे धर्मराज! तू ज्ञानी है, ब्रह्मचर्यपालन तूने किया है, अतः ऐसी विषयवासनामें फंसना तुम्हें उचित नहीं है। तुम्हारे जैसे ज्ञाता मनुष्यको इह लोक की अपेक्षा परलोक का विचार करना योग्य है। परलोकके लिये इस लोकके सुखका समर्पण करना तुम्हें उचित है। तू चाहे योग साधन कर, ध्यानधारणामें रत हो। इससे परलोककी प्राप्ति होगी। ऐसे क्रूर युद्धसे क्या लाभ होगा? युद्धसे स्वराज्य प्राप्त भी हुआ, तोभी वह चिरकाल तो नहीं टिकेगा। अतः धर्मसंचय करना ही तुम्हें योग्य है। हे पाण्डवो! यदि स्वार्थ भावसे तुम लोगोंने स्वकुलका नाश किया; तो तुम सबको चिरकाल नरक भोगना पडेगा। हे धर्मराज! तुमने इस समय तक क्रोधका आश्रय नहीं किया है, परंतु आश्चर्य है, इतने समयके पश्चात् तुम्हें विपरीत बुद्धि हो रही है! हाय! युद्ध करके तुम लोग पूज्यपाद भीष्म पितामह का और द्रोणाचार्यका भी वध करोगे? तुम्हारे सब बंधु बांधवोंका वध होनेके बाद तुम्हें इस राज्यसे कौनसा सुख होगा? इसलिये हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर, इस क्रूर कर्मसे निवृत्त हो, शान्तिका अवलंब करो और कौरवोंसे युद्ध करनेका विचार छोड दो।''

सावधानीकी सूचना।

इस प्रकार संजयने पांडवोंको युद्धके पूर्व धर्मका और संन्यास का उपदेश किया था। यह सब धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे ही किया गया था। अर्जुन का विषाद इसीका प्रतिबिंब है। अर्जुन के मनमें यह उपदेश जम गया और वह समझने लगा कि, सचमुच स्वराज्यके लिये भी धर्मयुद्ध करना पाप है और भिक्षावृत्तिसे रहना पुण्य है। अर्जुनके मनपर ऐसा भाव स्थिर करानेके लियेही यह व्यूह धृतराष्ट्रने रचा हुआ था। यदि अर्जुनके मनपर यह उपदेश पूर्णरीतिसे जम जाता, तो कौरवोंका साम्राज्य स्थिर हो जाता और पाण्डव हमेशा के लिये राज्यभ्रष्ट रहते। देखिये जेता लोग - स्वयं सैतान होनेपर भी - जित लोगोंको

धर्मका उपदेश दे देकर और उच्च तत्त्व बतला बतलाकर स्वराज्यके प्रयत्न करनेसे किस प्रकार रोक रखते हैं !! अतः स्वराज्यप्राप्ति करनेवालोंको उचित है कि, वे जेता राष्ट्रके धर्मोपदेशकोंके उपदेश भी बडी दक्षतासे सुनें और सावधानतासे उसके अनुसार चलें। नहीं तो अर्जुन जैसी अवस्था ऐन युद्धके समय बनेगी, और संपूर्ण प्रयत्न फंस जायगा। पूर्वोक्त उपदेशमें धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजय पाण्डवोंको ही शान्तिका उपदेश दे रहा है, जैसा कि पाण्डव ही अशान्तिके कारण हैं!! सब अन्याय धृतराष्ट्रके पक्षका है और वेही इस ऐन युद्धके समय शांतिकी स्थापनाके यत्नमें अग्रेसर दीखते हैं !! वेही कह रहे हैं कि युद्धमें क्रूरता है, वैराग्य श्रेष्ठ है, हिंसा करके राज्य कमानेकी अपेक्षा शान्तिसे भीख मांगना उत्तम है, भोग वासनाका क्षय करना चाहिये !! देखिये, विजेता लोग कैसे निर्लज्ज बनते हैं और अपनी साम्राज्य रक्षाके लिये धर्मवचनोंका भी कपट युक्तिसे कैसा आश्रय करते हैं !!! यह धर्मवचनोंका प्रयोग धृतराष्ट्रने पाण्डवोंपर किया था और वह समझता था कि, इस प्रयोगका परिणाम पाण्डवोंपर अवश्य होगा क्योंकि पांडव 'धर्म' के अनुगामी हैं !

पुण्यस्थानका प्रभाव।

दूसरी बात यह है कि, ये दोनों पक्षके सैनिक "धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र" में युद्धके लिये इकट्ठे हुए हैं। साधारण चोर और लुटेरे भी धर्मक्षेत्रमें गये, तो कुछ न कुछ धर्ममें प्रवृत्ति करते ही हैं, तीर्थक्षेत्रोंमें अन्यस्थानोंकी अपेक्षा धर्मकी प्रवृत्ति अधिक रहतीही है। इसलिये धृतराष्ट्र समझता है कि, अपनी प्रेरणासे संजय द्वारा किया गया उपदेश धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जानेके पश्चात् पाण्डवोंके मनपर अधिक परिणाम करेगा और प्रायः वे कुलक्षय करनेवाले युद्धसे विमुख हो जांयगे। मनमें यह भाव धारण करके वह संजयसे पूछता है कि, "हे संजय! धर्मक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंकी सेनाने युद्धकी इच्छासे इकट्ठा होकर क्या किया?" पूछनेका तात्पर्य यह है कि, पाण्डव तुम्हारे उपदेशके अनुसार युद्धक्षेत्र छोडकर वापस गये, या नहीं? तुमने जो उपदेश किया, उसका परिणाम उनपर कैसा हुआ? धृतराष्ट्रकी चिन्ताका यह स्वरूप है। इस पूर्व वर्णनका अनुसंधान करके पाठक यदि इस प्रथम श्लोकका विचार करेंगे, तो उनको इस प्रश्न करनेके समय धृतराष्ट्रके मन की चिन्तामय स्थितिकी ठीक कल्पना हो जायगी।

पराजयकी संभावना।

धृतराष्ट्र यह भी जानता था कि, अपने पक्षके वीरोंमें से दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि थोडे वीरोंके अतिरिक्त भीष्मद्रोणादिक सब बडे वीर दिलसे लडनेवाले नहीं हैं। वे दिलसे पाण्डवोंको स्वराज्य देनेके पक्षमें हैं। इस दृष्टीसे अपने पक्षमें सैन्यबल बडा होनेपर भी दिल कच्चा होनेके कारण अपना पक्ष निर्बल है। परंतु पाण्डवोंके पक्षमें इस दृष्टीसे देखा जाय, तो हर एक वीर कौरवोंका बदला लेनेकी अपनी ओर से पूरी पूरी तैयारी किये हुए हैं। अर्जुन, भीम आदि वीर तो अपनी शक्तिसे कई गुना अधिक कार्य करके दिखा देंगे। इसकारण पाण्डवोंका सेना बल छोटा होनेपर भी हरएक वीर दिलसे कार्य करनेवाला होनेके कारण इनका पक्ष सबल है। इस दृष्टिसे संभवतः अपना पराजय भी हो जायगा। इस लिये हृदयमें दुःख करता हुआ धृतराष्ट्र संजयसे पूछता है कि, "दोनों सेनाएं इकट्ठी हो जानेपर आगे क्या हुआ?" वह मनमें समझता ही था कि, यदि युद्ध छिड गया, तो अपने पक्षका पराभव निश्चितसाही है।

धर्मयुद्ध।

हमेशा 'धृत-राष्ट्र' और 'हृत-राष्ट्र' इन दो पक्षोंमें युद्ध हुआ करता है। धृतराष्ट्र दूसरेका राज्य अन्याय से छीनता है और उसको अपने आधीन रखनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होता है, इसलिये उसकी ओर से जो युद्ध होता है,

वह ' अधर्म युद्ध ' कहलाता है। परंतु जो ' धृत-राष्ट्र ' पक्षके लोग होते हैं, वे अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये धर्मपूर्वक यत्न करते हैं, इस लिये उनका सत्पक्ष होनेके कारण उनकी ओरसे जो होता है, वह 'धर्म युद्ध' होता है। एकही युद्धमें दो पक्ष एक ही स्थानपर संमिलित होते हैं, तथापि उसमें एक धर्म युद्ध करता है और दूसरा अधर्मयुद्ध करता है। यह धर्मयुद्ध और अधर्मयुद्ध का विचार पाठक उत्तम प्रकार स्मरण रखें।

धर्मका पक्ष।

पाण्डवोंका पक्ष "धर्म" का पक्ष था। इस पक्षका मुखिया 'धर्म' नाम का राजा था, यह बात गौण है, परंतु यहां इस पक्षके लोग धर्मके अनुसार आचरण करनेवाले थे, यही इस पक्ष द्वारा बताया है। धर्मराज भी यहां धर्मका प्रतिनिधि होकर वैसी भूमिका लिये हुए हैं। धर्मराज 'युधिष्ठिर' है अर्थात् यह जिस भूमिका को लेकर युद्धमें उपस्थित होता है, उससे पीछे नहीं हटता। युद्धमें अपनी भूमिका पर स्थिर रहना यह भी एक बडा कार्य हुआ करता है। ' युधि-स्थिर ' शब्द द्वारा युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहनेका उपदेश किया है। धर्मयुद्धमें उपस्थित होनेवाले लोग युद्धमें स्थिर रहनेको सीखेंगे, तो अच्छा होगा। 'विजय' प्राप्तिके लिये 'धर्म' का अनुयायी होना और (युधि-स्थिर) युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहना अर्थात् अपने स्थानसे पीछे नहीं हटना, यह अत्यंत आवश्यक बात है। वीर पुरुष अपने स्थानसे आगे बढें, परंतु कभी डरकर पीछे न हटें।

द्वेषभावरहित मन।

यह धर्मराज "अजात-शत्रु" भी है। जिसका कोई शत्रु नहीं है, कमसे कम जो किसीका द्वेष नहीं करता। जो किसीकी हिंसा या हानि करना नहीं चाहता, शत्रुका भी द्वेष नहीं करता, शत्रुका भी सुधार होनेके लिये यत्न करता है, शत्रुके भी गुण देखता है। यह धर्मकी भूमिका है। जिसके मनसे, वाणीसे और कर्मसे द्वेष भाव दूर हुआ है, जो शत्रुका भी द्वेष नहीं करता प्रत्युत जो शत्रुके भी गुण देखता है वह ' अजात-शत्रु ' पाण्डवोंका धुरीण है। सब पाण्डव इस ' अजात शत्रु धर्म' की आज्ञा शिरोधार्य मान कर उस आज्ञाके अनुसार चलनेमें अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची वीर, भीम जैसा बलवान योद्धा, नकुल सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने अपने मतभेद रखते हुए भी अनत्याचारी, शान्ततावादी, अजात-शत्रु धर्म की आज्ञा – अपने मतके विरुद्ध होनेपर भी प्रतिकूलताका भाव न बताते हुए – मानते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं; इसीमें उनका बल है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्मराज ही अनत्याचारी समतावादी और अजातशत्रु था। भीम तो स्वभावतः मुसली बलराम के समान अत्याचारी ही था, अपने स्वभावके कारण धर्मराजपर क्रोध भी करता था, धर्मराजके हाथ जलानेके लिये भी तैयार होता था ; अर्जुन यद्यपि भीमसेन के इतना क्रोधी नहीं था, तथापि धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था। नकुल सहदेव तो अर्जुन के पीछे पीछे चलनेवाले थे। और इनकी धर्मपत्नी वीरपत्नी द्रौपदी देवी तो केवल अकेले भीमको ही पसंद करती थी। अर्थात् धर्मराजके साथ समविचार रखनेवाला इनमें एक भी नहीं था। वस्तुतः देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मराजकी अनत्याचारी अहिंसक वृत्तीसे सब इतर पाण्डव त्रस्त हुए थे। इतना मतभेद होनेपर भी धर्मकी आज्ञा सब मानते थे और अन्त तक किसीने भी धर्मकी आज्ञाका उलंघन नहीं किया। मानो धर्मराजका धर्मही 'अनत्याचार' था और अन्योंने नीतिके लिये वैसा बनाया था। यदि स्वराज्य आन्दोलन करनेवालोंका अनत्याचारी धर्मराज नेता माना जाय, तो उसके नीचे नीतिसे अनत्याचारी बने हुए ये अन्य लोक काम करते थे, ऐसा मानना पडेगा। अर्जुन, भीमसेन,

नकुल, सहदेव और वीरा द्रौपदी ये क्रमशः वीर बली, चतुर, और ज्ञानी पुरुषों तथा वीर स्त्रियोंके संघोंके प्रतिनिधी माने जा सकते हैं । और ऐसा माननेपर भिन्न भिन्न संघोंके मत विभिन्न होनेपर भी एक अनत्याचारी नेताकी आज्ञाके अन्दर ये सब एकविचारसे कार्य कर रहे थे, और ऐसे कार्य करते हुए उन्होंने अपनी उत्तम संघटना की, यह बात स्पष्ट हो जायगी । यदि ये विभिन्न मतके वीर प्रथम समयमें धर्मराजके अनत्याचारी मार्ग में न रहते और स्वयं अत्याचार करनेमें प्रवृत्त हो जाते, तो कौरववीर इनको विना आयास पीस डालते और इनके ऊपर उठनेकी कोई आशा न रहती । परंतु धर्मराजकी सहज धर्म प्रवृत्ति होनेसे और धृतराष्ट्र पक्षवालोंके किये अनेक पाशवी अत्याचार चुपचाप सनते रहनेसे, संपूर्ण जनताकी सहानुभूति तथा कई कौरववीरों की भी अनुकूल बुद्धी पांडवों के लिये सहायक होगई, और इस कारण अन्तमें स्वराज्य प्राप्तिके अन्तिम युद्धमें इनका विजय होने योग्य शक्ति इनको प्राप्त होगई । अर्थात् अनत्याचारी वृत्तिसे रहकर आत्मोद्धारके मार्गसे जाते हुए होनेवाले अनेक कष्टोंको शान्तिसे सहन करनेसे जनताकी सहानुभूतिका अद्वितीय बल प्राप्त होता है, यह बल प्रथमसे अत्याचार करने वालोंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात निःसन्देह सत्य है ।

ईश्वरकी सहायता ।

यहां दूसरी विलक्षण बात यह है कि, काठियावाड-द्वारका-निवासी भगवान मन 'मोहन' श्रीकृष्ण पांडवोंका संचालक और परम सहायक था । यह सब प्रकारसे ज्ञानी शूरवीर और युद्ध विद्याकुशल होते हुए भी "मैं हाथमें शस्त्र नहीं धरूंगा, मैं युद्ध नहीं करूंगा" ऐसी युद्ध न करनेकी अनत्याचारकी प्रतिज्ञा करके पाण्डवोंकी सहायता करनेके लिये आया था । धर्मराज वैसा स्वभावतः शमवादी और अजातशत्रु था, और भगवान् मन 'मोहन' श्रीकृष्ण इस प्रकार युद्धसे निवृत्त रहनेकी प्रतिज्ञा किये हुए थे । इस प्रकार पांडवोंके दोनों मुखिया शमवादी थे ।

धर्मका विजय ।

शमवादी होनेपर भी उनको युद्ध करना पडा, और इन शमवादियोंकी अनुकूलतामें रहनेसे ही पाण्डवोंको अन्तमें विजय प्राप्त हुआ । 'विजय' 'धर्म' का भाई और परमेश्वरका सखा तथा भक्त ही हुआ करता है । विजय कभी अधर्मका भाई नहीं होता और राक्षसोंका भी मित्र नहीं हो सकता ।

सनातन उपदेश ।

इतने शब्दोंका विचार करनेसे पाठकोंको पता लगाही होगा कि 'धर्म, अजातशत्रु, अर्जुन, विजय' आदि नाम किसी व्यक्तिके बेशक हों, परंतु यहां ये नाम एक सनातन बात कहनेके लिये आये हैं । 'धर्म' के पक्षमें ही 'विजय' होता है अधर्मके पक्षमें नहीं । 'धर्म' के पक्षमें ही बलवान भीम होते हैं अन्य पक्षमें नहीं, क्योंकि धर्म से ही बल बढता है और अधर्मसे बल घटता है। 'धर्म' के पक्षकी ही परमेश्वर सहायता करता है और धर्मका पक्ष पाशवी बलमें कम होनेपर भी उसको परमेश्वरका बल प्राप्त होनेके कारण अन्त में उसीको यश प्राप्त होता है ।

'धर्म' के पक्षमें 'न कुल' (पाणिनी अष्टा० ६ । ३ । ७५) अर्थात् कोई लोग कुलवान न भी हुए तो भी वे श्रेष्ठपद प्राप्त करते हैं और वही धर्मका पक्ष 'सह-देव' अर्थात् देवोंकी शक्तिसे युक्त होता है । धर्मके पक्षका यह माहात्म्य है । परमेश्वर सहायक बननेपर उसकी शक्ति अधिक होगी ही, इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

ये सब शब्द किसी एक कुटुंबके मनुष्योंके वाचक भलेही हों, परंतु यहां एक सनातन तत्व बतानेके लिये ही विशेष हेतुसे प्रयुक्त किये गये हैं । इस धर्म पक्षवालोंके ये नाम देखिये और साथ साथ दुर्योधन, दुःशासन आदि अन्धे धृत-

राष्ट्रके अनुयायीयोंके नाम देखिये। दोनोंके नामों की तुलना करनेसे एक पक्ष साम्राज्यशाहीके पाशवी बलका प्रदर्शक और दूसरा पक्ष धर्मानुयायी स्वराज्यवादियोंके आध्यात्मिक बलका प्रदर्शक स्पष्ट प्रतीत होगा। यह भारतीय युद्ध इन दो पक्षोंमें हुआ था। सब जगतमें ऐसाही होता आया है। साम्राज्यवादियोंके व्यवहारका कपटसे प्रारंभ होता है, उनकी मध्य स्थिति चिन्तासे परिपूर्ण है और अन्तमें उनका पूर्ण नाश होता है। और स्वराज्यवादियोंके धर्म पक्षका सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समता, पवित्रता, ईशभक्ति, त्यागवृत्ति इत्यादि सद्गुणोंसे प्रारंभ होता है, इनको बीचमें बहुत कष्ट भोगने पडते हैं, परंतु अन्तमें इनका धवल यश ही सर्वोपरि जगतभरमें फैल जाता है, जो इस समयमें भी सबको मार्गदर्शक होनेका सामर्थ्य रखता है।

धृतराष्ट्र नित्य देखता था कि, हम साम्राज्यवादियोंके अनेकानेक कपट प्रयोग होनेपर भी स्वराज्यका यत्न करनेवाले पाण्डव बचही जाते हैं और प्रतिवर्ष पांडवोंकी शक्ति और संघटना बढती ही जाती है। इसलिये इस युद्धके प्रारंभमें वह अधीर होकर पूछता है कि, 'युद्धका समाचार क्या है ?' इस प्रश्नका सत्य उत्तर तो संजय श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तमें देगा कि, 'जहां धर्मका पक्षपाती धनुर्धर अर्जुन है और उसका सहायक भगवान् है, वहां ही विजयश्री निश्चयसे रहेगी। (भ० गी० १८। ७८)' यह तो अन्तिम उत्तर है। परंतु यह उत्तर श्रवण करनेके लिये संपूर्ण भगवद्गीताका अध्ययन होना चाहिये। इसलिये धृतराष्ट्रका प्रश्न सुनतेही संजयने जो युद्धका वृत्तांत सुनाया, वही पहिले यहां देखेंगे।

आध्यात्मिक भाव।

इतिहासिक दृष्टिसे भगवद्गीताकी भूमिका इससे पूर्व बता दी है और उस भूमिकामें बताया है कि, धर्म, अर्जुन आदि व्यक्तियाँ इतिहासिक होनेपर भी जिस ढंगसे यह कथा वर्णन की है, उस ढंगसे उनकी व्यक्ति सत्ताका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, परंतु उनके नामोंमें अलंकार दृष्टिसे जो मुख्य उपदेशतत्त्व बताया है, वह बतानाही कथाका मुख्य उद्देश्य है। यह युद्ध कुटिल योधियोंसे धर्मनिष्ठावालोंका हुआ और उसमें धर्मानुयायियोंका विजय हुआ। यह तो एक रीतिसे विचार हुआ। इसी युद्धपर दूसरा एक विचार है और वह अध्यात्मविचार है।

अध्यात्मविचार वह होता है कि जो (अधि+ आत्मा) आत्माके आश्रयसे रहनेवाले पदार्थोंके संबंधमें होता है। आत्माके आश्रयसे बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, मन, प्राण, पंच ज्ञानेंद्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और शरीर इतने पदार्थ रहते हैं। इन प्रत्येकमें सत् और असत्प्रवृत्ति रहती है और इन भली और बुरी वृत्तियोंमें सदा झगडा चलता ही रहता है। हरएक समयमें यह झगडा मानवके अन्तःकरणमें चालू रहता है। इसकी साक्षी प्रत्येक मनुष्य दे सकता है। किसी समय मनुष्यके अन्तःकरणमें ईश्वर भक्तिकी लहर आती है और किसी समय भोग प्रवृत्तीकी लहर प्रबल होती है। दोनों वृत्तियां परस्पर झगडती हैं और दोनों वृत्तियां इस शरीररूपी क्षेत्रपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। जो वृत्ति दब जाती है वह प्रबल नहीं होती, परंतु जो वृत्ति दबाती है वह शरीरपर अधिकार करती है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
भ० गी० १३। १

'इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं।' यह कर्म करनेका क्षेत्र है इसलिये इसको 'कर्मक्षेत्र' अथवा 'कुरुक्षेत्र' कहते हैं। यह कुरुक्षेत्र प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें है और उस कुरुक्षेत्रमें भली और बुरी चित्तवृत्तियोंका युद्ध चलता है। इस युद्धका वर्णन भारतीय युद्ध द्वारा बताया है, ऐसा आध्यात्मिक लोगोंका कहना है।

अठारहकी संख्या।

महाभारतकी रचना कुछ विशेष उद्देश्यसे की

गई है, यह शंका तो ऊपर ऊपरकी दृष्टीसे महाभारतका निरीक्षण करनेवालेके ध्यानमें भी आसकर्ता है, देखिये—

१ महाभारतके पर्व १८ हैं,
२ भगवद्गीताके अध्याय १८ हैं,
३ भारतीय युद्ध १८ दिन चल रहा था,
४ उसमें सैन्य १८ अक्षौहिणी था,

यह १८ वाली संख्या कुछ विशेष हेतुसे रखी प्रतीत होती है, यज्ञमें १८ ऋत्विज होते हैं। संभव है इसका इस संख्यासे कुछ विशेष संबंध होगा।

"पुरुषो वाव यज्ञः" (छां० उ० ३ । १६ । १)
पुरुष अर्थात् मनुष्य एक विशेष यज्ञ है। यदि मनुष्य यज्ञ है तो उसमें १८ ऋत्विज होंगे ही। २ आंख, २ कान, २ नाक, १ त्वगिंद्रिय, २ हाथ, २ पांव, १ मूत्रेंद्रिय, १ गुदा, १ मुख, १ वागिंद्रिय, १ मन, १ चित्त, १ अहंकार ये १८ यहांके ऋत्विज हैं। आत्मा यजमान है और बुद्धि यजमानपत्नी है, यह शरीर यज्ञशाला है। यह यज्ञ १०८ वर्ष तक चलना है। इसका पहिला भाग प्रातःकाल २४ वर्षका है, द्वितीय भाग ३६ वर्षका मध्यान्ह समय है और तीसरा भाग ४८ वर्षका सायंसमय है। तीनोंका समय मिलकर १०८ वर्षोंका अवधि होता है। मनुष्यका जीवन रूपी एक बडाभारी यज्ञ है। इस यज्ञमें ये १८ ऋत्विज कार्य कर रहे हैं। इस यज्ञका नाश करनेके लिये बैठे हुए राक्षस रोग, कुवासनाएं, आलस्य आदि हैं। इनका युद्ध इस युद्ध भूमिमें होता है। अर्थात् इस यज्ञमें भी १८ संख्या है।

भगवद्गीता (अ० १ श्लो० ४—६) में जहां पाण्डवोंके विशेष योद्धा गिने हैं, वे भी अठारह ही गिने हैं। देखिये १ भीम, २ अर्जुन, ३ युयुधान (सात्यकि), ४ विराट, ५ द्रुपद, ६ धृष्टकेतु, ७ चेकितान, ८ काशिराज, ९ पुरुजित् कुन्तिभोज, १० शैब्य, ११ युधामन्यु, १२ उत्तमौजा, १३ सौभद्र अभिमन्यु, १४-१८ द्रौपदीके पांच पुत्र ये अठारहही हैं। इस यज्ञके यजमान धर्मराज और यजमानपत्नी द्रौपदी है। इस यज्ञके विघ्नकर्ता दुर्योधनादिक कौरव हैं। यह सब वर्णन यदृच्छासे नहीं हुआ है। विशेष हेतुसे यह लिखा है, ऐसा इसके देखनेसे ही पता लगता है।

वंशकी उत्पत्ति।

कौरवपाण्डवोंके वंशका वर्णन देखनेसे भी उसमें विशेष हेतु होगा ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। व्यासदेव (ब्रह्मन्) त्रिविध क्षेत्रमें (सत्व रज तमात्मक प्रकृतिमें) अपने बीज से त्रिविध संतति उत्पन्न करता है। तमोगुणात्मक अंधा धृतराष्ट्र, रजोगुणी पाण्डु और सत्वगुणी विदुर। तमोगुणी अंधा होता ही है इसमें बडा बल है, रजोगुणी भोगी होता है और भोगसे रोगी होता है, सत्वगुणी ज्ञानी होता है। एक ही आत्म शक्ति त्रिविध प्रकृतिमें जाती है और उससे त्रिविध सृष्टि पैदा होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १४ श्लो० ३— १८) में यह विषय कहा है उसका संक्षेपसे भाव यह है-" विशाल प्रकृति में मैं गर्भ रखता हूं, उससे सब भूत उत्पन्न होते हैं। मैं (आत्मा) ही सब भूतोंका बीज देनेवाला पिता हूं। इसमें सत्वगुण सुख देनेवाला, रजोगुण वासनाओंको बढानेवाला, और तमोगुण मोह तथा प्रमाद उत्पन्न करनेवाला है। सत्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और भोग तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अप्रकाश (अंधकार) की उत्पत्ति होती है। " यह गीताका वचन महाभारतमें देखिये-सत्वगुणी विदुर ज्ञानी शुद्ध और पवित्र है। रजोगुणी पाण्डु राज्यका अधिकारी पुरुषार्थी परंतु भोगी होनेके कारण रोगी (भोगे रोगभयं) होकर अकालमें ही मरता है। तमोगुणी धृतराष्ट्र सब प्रकारसे अन्धा, प्रमादी, मोहयुक्त, मूढ, जो करता है उसमें फंसता है।

एक बीजसे क्षेत्रप्रकृतिभेदके कारण ये तीन प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। सत्वगुणी विदुर त्याग

वृत्तिवाला होनेसे किसी राज्याधिकारमें अपना अधिकार नहीं रखता। त्यागवृत्तीका यही स्वरूप है। इसका किसीसे झगडा भी नहीं है। झगडा तो रज और तममें ही होना है। धृतराष्ट्र अन्धा होनेसे बडा होनेपर भी अनधिकारी हुआ, और पांडु छोटा होनेपर भी उसको राज्याधिकार मिला, जैसा कि रजोगुणी मनुष्यको मिलना योग्य है। परंतु भोगी रोगसे मरता है और उस भोगी के क्षेत्रमें भोग प्रवृत्तीसे ही-परंतु धर्मसे मर्यादित होकर-अन्य बीजोंसे पांच पुत्र उत्पन्न होते हैं धर्मवृत्ति बलवृत्ति वीरवृत्तिवाले बीजोंसे इनही तीन प्रवृत्तियोंके क्रमशः धर्म, भीम और अर्जुन ये तीन संतान एक क्षेत्रमें होते हैं। दूसरे क्षेत्रमें चिकित्सा (ज्ञान) वृत्ती और देववृत्तीवाले बीजसे क्रमशः नकुल और सहदेव ये दो संतान होते है। अर्थात् रजोगुणसे धर्म, बल, वीर, चिकित्सा (ज्ञान), और देवभाव ये पांच प्रवृत्तियां प्रकाशित होगई और इस कारण परमेश्वर इनका सहायकारी हुआ। रजोगुणसे यदि धर्मकी ओर प्रवृत्ति होगई तो उसका अन्तमें भला होगा ही। शुद्ध सत्वगुणी, विदुर जैसा, अपने अंदर ही संतुष्ट (आत्मन्येवात्मना तुष्टः। भ० गी० २।५५) रहेगा, इस कारण उससे जगत् में धर्म कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होसकती। इस कार्यके लिये धर्ममें प्रवृत्त रजोगुण चाहिये; जो पूर्वोक्त रूपक में पाण्डु (शुद्ध, कलंकरहित) द्वारा बताया है। इससे पांच श्रेष्ठ चित्तवृत्तियां धर्म, बल (निर्भयता), वीरभाव, ज्ञान और देवभक्ति येह उत्पन्न होती हैं। वास्तव में मनुष्य का सब कुछ जीवन इन्हींके आधीन रहना चाहिये किंवा सब जगत्पर इन वृत्तियोंका ही राज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा होना कठिन है ?

इन वृत्तियोंमें भी धर्मवृत्ति के आधीन ही बल और वीर ये दोनों भाव होने चाहिये, तथा ज्ञान और भक्ति ये भी भाव धर्मके आधीन ही चाहिये। यदि ऐसा न होगा, और बल (भीम) धर्मकी आज्ञा न मानेगा, वीर (अर्जुन) मन माना वर्ताव करेगा, ज्ञान (न-कुल) धर्मका रुख छोड देगा और भक्तिभाव (सह-देव) धर्मानुकूल ईश्वर भजनमें लगनेकी अपेक्षा भूतप्रेतपिशाचराक्षसोंकी प्रसन्नता संपादन करनेमें लगेगा, तो ये चारों-बल, वीर, ज्ञान, और भक्तिवृत्तियां मनुष्यको निःसंदेह गिरा देगीं। इसीलिये इनको यहां 'धर्म' वृत्तिकी आज्ञा में रखा है। जब ये धर्मवृत्तिके अनुकूल रहती हैं, तभी इनको ईश्वरकी सहायता मिलती है, नहीं तो नहीं। निःसन्देह मनुष्यके जीवनपर इनका राज्यशासन होना चाहिये और सब जगत्पर इन्हींका अधिराज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा कहां होता है ?

जब ये वृत्तियां अन्तःकरणमें अंकुरित होने लगती हैं तब से ही दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, लोभ आदि घोर राक्षसी वृत्तियां उनपर हमला करती हैं और उन सद्वृत्तियोंको दबानेका यत्न करती हैं। तमोगुणी धृतराष्ट्र की संततिसे इन ही आसुरवृत्तियोंको बताया है। धर्मप्रवृत्तियोंको ये आसुरी प्रवृत्तियां छुटपनसे ही दबाती हैं, यह बतानेके लिये पाण्डवोंको बालपनसे कष्ट प्राप्त होनेका वर्णन है। अन्ततः कपटसे आसुरी वृत्तियां धर्मवृत्तियोंके राज्यमें घुसती हैं वहां अपना अधिकार जमा देती हैं और धर्म वृत्तिको अन्तःकरणके राज्यमें आने नहीं देती। धर्मवृत्ति और उसके अनुयायी सद्भावोंको परमेश्वरके आश्रयसे उक्त कारणहि युद्ध करना पडता है और जिन्होंने उनको बढाया उन्ही को मारना पडता है। ज्ञान देनेवाले यहां ज्ञानेन्द्रियां, मन, चित्त, अहंकार, आदि होते हैं, इनसे ज्ञान प्राप्त प्राप्त किया, यह सत्य है; तथापि जब येही असद्वृत्तिको सहायकारी होने लगते हैं, तब इनका ही दमन और संयम करना पडता है। यहां अहंकार भीष्मपितामह है जो अन्योंके समान एक दोदिनों के प्रयत्नसे नाशको प्राप्त नहीं होता। १८ दिनोंके युद्धमें इसका दमन करनेके लिये १० दिन लगे हैं, तबभी यह मरा नहीं; यह अन्तमें अपनी इच्छासे

ब्रह्म+महद्योनि त्रिगुणात्मक प्रकृति ।
[मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
भ० गी० १४।३]
(ब्राह्मण) व्यास+अम्बिका, अंबालिका, — दासी)

[आसुरसर्ग । तम + रज = अन्ध]
धृतराष्ट्र + गान्धारी

विदुर
[धर्मावतार, सत्वगुणी, ज्ञानी]

[दैवसर्ग । सत्व + रज]
कुन्ती + पाण्डु + माद्री

धर्म — धर्मप्रवृत्ति
भीम — बल-निर्भय-वृत्ति
अर्जुन — वीरवृत्ति
नकुल — ज्ञानवृत्ति
सहदेव — अवमान्ति

(दैवी संपत्ति भ० गी० १६।१—३)

दुर्योधन, दुःशासन, इत्यादि सैकडों अधमवृत्तियोंकी उत्पत्ति ।
दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य इ० आसुरी संपत्ति
(भ० गी० १६।४—२१)

॥ दैवासुरसंपद्विभागयोगः ॥
(भ० गी० अ० १६)

संजय उवाच — दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजयः उवाच- तदा तु पाण्डव-अनीकं व्यूढं दृष्ट्वा, राजा दुर्योधनः आचार्यं उप संगम्य, (इदं) वचनं अब्रवीत्।

संजय बोले - उस समय पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह रचकर सिद्ध हुई देख, राजा दुर्योधन (द्रोण-) आचार्यके पास जाकर, कहने लगे।

भावार्थ- शत्रुसेनाका हमला अपनी सेनापर होनेके पूर्व ही अपने और शत्रुके सैन्यके बलाबल का विचार करना योग्य है।

ही शान्त हुआ। क्यों कि यह समाधि सिद्धहोने तक रहता है, पश्चात् यह स्वयं शान्त होता है। मन द्रोणाचार्य है, यह सबको सिखाता है, परंतु इसको भी शान्त करना पडता है। इसी प्रकार अन्यान्य कौरव वीरोंकी अवस्था है। कौरव सेंकडों हैं (आशापाशशतैर्बद्धाः। भ०गी०१४ १२) क्यों कि आशा, वासना, काम क्रोधादि के सेंकडों प्रभेद इस हृदयें फैलते हैं। इस प्रकार यह कौरव संसार मनुष्य हृदयमें होता है।

अध्यात्मभूमिमें यही भारतीय युद्ध मानवी हृदयकी भूमिकापर होता है। इस युद्धमें दंभदर्प अभिमान क्रोध आदि विकार बडे प्रयत्नसे शान्त किये जाते हैं और परमेश्वरकी कृपासे धर्म प्रवृत्तियोंका राज्य होता है और इन्हींको भूमि का और स्वर्ग का राज्य मिलता है। हरएक मनुष्यके अन्तःकरणमें यह सत् और असत्प्रवृत्तियोंका युद्ध होता है और इसीका वर्णन रूपकालंकारसे महाभारतमें किया है। अध्यात्मवादियोंका सारांशसे यह मत है।

यह मत स्वीकार करनेपर धर्म और दुर्योधन आदि इतिहासिक व्यक्तियां थीं, इसका खंडन नहीं होता है। इस नामके या अन्य नामके कोई राजे हुए होंगे। परंतु इस ग्रंथके लेखकने उन व्यक्तियोंको सूचक नाम दिये और अपना ग्रंथ रचा है और यह रचना सहेतुक की है; यह बतानेके लिये कौरवादिकोंकी जन्मकी कहानियां इस ग्रंथमें अस्वाभाविक लिखी हैं। इस प्रसंगमें इस विषयमें अब अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

यह भारतीय युद्ध मानवी अन्तःकरणकी भूमिपर हुआ हो अथवा कुरुक्षेत्रमें हुआ हो, मनुष्य जीवनकेसुधारके लिये दोनोंका परिणाम एक जैसा ही है। ऐसे युद्धोंमें 'धर्म' के सत्पक्षका 'विजय' होता है और स्वार्थसे 'अन्धे' बने हुए असत्पक्ष का नाश होता है। यह सिद्धान्त मनुष्यको अपने मनमें स्थिर करना चाहिये।

आशापाशोंसे बंधे हुए मनुष्य अपना नाश देखते हुए भी अपनी जयकी आशा करते ही रहते हैं और इस लिये पूछते हैं कि 'अब यह युद्ध छिडगया है, आगे क्या होगा?' इस प्रश्नका उत्तर संजय किस प्रकार देते हैं देखिये।

(२) इस प्रथम दिनके युद्धमें कौरवोंकी महासेनाका 'पतत्रि' नामक व्यूह भीष्मपितामहने रचा और उन्होंने अपने सैनिकोंको संबोधन करके उनका उत्साह बढानेके लिये ऐसा भाषण किया कि—"हे क्षत्रियो! यह युद्ध रूपी स्वर्गद्वार तुम्हारे लिये खुला कर दिया है, इसमें प्रविष्ट होकर चाहे तुम इन्द्रलोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें जावो। तुम्हारे पूर्वजोंने इसी मार्गका आश्रय किया और उत्तम गति प्राप्त की थी। घरमें बिस्तरेपर आनेवाला मृत्यु क्षत्रियके लिये योग्य नहीं है। रणक्षेत्रपर शस्त्रधाराके तीर्थमें जो मृत्यु आता है, वही क्षत्रियको सद्गतिदेनेवाला होता है।" (म० भा० भीष्मपर्व० अ० १७) यह पतत्रि व्यूह ऐसा

(२) पांडवसैन्यवर्णन ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अन्वय— हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण, द्रुपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणां एतां महतीं चमूं पश्य ॥ ३ ॥ अत्र भीमार्जुन-समाः युधि शूराः महेष्वासाः युयुधानः, विराटः च, महारथः द्रुपदः च ॥४॥

हे द्रोणाचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा जिसकी व्यूहरचना की गई है, ऐसी पाण्डवोंकी इस बडी सेनाको देखिये ॥३॥ इस सेनामें भीम और अर्जुन जैसे युद्धमें शूर वीर और बडे धनुर्धारी योद्धा युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपदराजा ॥ ४ ॥

होता है कि इसका आकार पक्षीके समान होता है और जिधर चाहे उधर उसका मुख होता है, इसलिये सब दिशाओंसे यह शत्रुको हमला चढानेके लिये कठिन होता है। इस ढंगसे कौरव-सेना का व्यूह होनेपर धर्मराज अर्जुन से कहने लगे, कि—"हे अर्जुन ! महर्षि बृहस्पतिका कथन है कि सेना थोडी रही तो संघसे हमला करना चाहिये और बडी सेना रही तो फैलाकर हमला करना चाहिये। हमारा सैन्य शत्रुसेनाकी अपेक्षा बहु कम है अतः सूचीमुखाकार व्यूह रचकर हमें सिद्ध होना चाहिये।" इस आज्ञाको सुनकर धनुर्धारी अर्जुनने अपनी सेनाका 'वज्र' संज्ञक व्यूह द्रुपदराजाके पुत्र द्वारा रचा दिया (म० भा० भीष्म०अ०१९)। यह व्यूह नोकदार होनेके कारण शत्रुसेनापर हमला चढानेके लिये अत्यंत योग्य है। इस प्रकार उत्तम व्यूहकी रचना होनेके कारण पाण्डवोंको सेना थोडी होनेपर भी कौरवोंकी बडी सेनाके लिये भी भारी होगई। अतः धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन किंचित् चिन्तासे व्यग्र होकर द्रोणाचार्य जी से कहने लगे।

(३-६) इन श्लोकोंमें भीम, अर्जुन, सात्यकि, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु, और द्रौपदीके पांच पुत्र [धर्मराजसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे श्रुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक, और सहदेवसे श्रुतकर्मा] ये अठारह महारथी नामनिर्देशसे कहे गये हैं। महारथी वे कहलाते हैं कि, जो दस हजार धनुर्धारी वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध कर सकते हैं। देखिये—

एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयश्च महारथः ॥

महारथीका अधिकार इतना बडा है। शास्त्रोंका अध्ययन होना चाहिये, युद्धविद्यामें प्रवीणता संपादन करनी चाहिये और दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करनेकी शक्ति चाहिये, तब 'महारथी' यह पदवी प्राप्त हो सकती है। यह पदवी तो विशेष कर्तृत्व करनेपर राजासे बहुमानपूर्वक मिलती है। यहां यह बताना है कि अभिमन्यु और द्रौपदीके पांच वीर पुत्र आयुकी दृष्टिसे छोटे होनेपर अर्थात् उनकी आयु बीस पचीस वर्षोंसे अधिक न होनेपर भी उनकी गिनती महारथियोंमें होने लगी थी। पाण्डवोंके समय की कुमारोंकी पढाई कैसी होती थी, इसकी

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(३) कौरवसैन्यवर्णन।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अन्वय- धृष्टकेतुः, चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजः च, पुरुजित् कुन्तिभोजः, नरपुंगवः शैब्यः च ॥ ५ ॥ विक्रान्तः युधामन्युः च, वीर्यवान् उत्तमौजाः च, सौभद्रः, द्रौपदेयाः च, सर्वे महारथाः एव ॥ ६ ॥

धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥ विक्रमी युधामन्यु, वीर्यशाली उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु), और द्रौपदीके (पांचों) पुत्र हैं, और ये सबही महारथी हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ- शत्रुसेनामें जो जो प्रधान वीर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए हों, उनके गुणदोषों और युद्धकौशलोंको ठीक ठीक प्रकार जानना चाहिये और अपने वीरोंसे उनकी तुलना करनी चाहिये।

कल्पना इससे हो सकती है। इतना सामर्थ्य कुमारोंमें होता था, इसीलिये उस समयकी आर्य जाती जीवित थी और विजयी थी।

यह तो कुमारोंकी अवस्था है; भीम, अर्जुन, तो सत्तर वर्षकी अवस्थामें पहुंच चुके थे, विराट और द्रुपद तो उनसे भी बहुतही वृद्ध थे। इतनी बडी आयु होनेपरभी ये वीर तरुणोंके समान लडने की सामर्थ्य रखते थे। सत्तर और अस्सी वर्ष का वीर हाथमें तलवार, गदा अथवा धनुष्यबाण लेकर युद्धभूमिमें अपने स्वराज्य स्थापन करने के युद्धमें लडता है, यह दृश्य जीवित राष्ट्रमें ही हो सकता है। पराधीनतामें आयु क्षीण होती है और मन भी निरुत्साह होता है। स्वराज्य न होने से ये हानियां हैं और स्वराज्य होने पर कुमार और वृद्धभी महारथी होना संभव है।

(म० भा० उद्योग० अ० १६४-१७१ में) दोनों ओरकी सेनाके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन है। अध्याय १६९ में भीम और अर्जुन का वर्णन है। उद्यो०अ०१७० में अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पांचों पुत्रोंका वर्णन है। इसीमें उत्तमौजा, सात्यकि और युधामन्युका वर्णन है। अ० १७१ में शिशुपालपुत्र चेदिराज धृष्टकेतु का वर्णन है। (अ० १६९-१७१) इन अध्यायोंमें पाण्डवोंके वीरोंका वर्णन देखने योग्य है। 'पुरुजित् कुन्तिभोज, एक ही वीरका नाम है। वृष्णिवीरोंमेंसे प्रसिद्ध योद्धा सात्यकि था। युद्धामन्यु और उत्तमौजा पाञ्चाल्य वीर थे और चेकितान यादव कुलोत्पन्न था। शिबिदेशके राजा शैब्य थे। इस प्रकार पाण्डव वीरोंका वर्णन दुर्योधनने किया है। अब वह अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करता है—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः, मम सैन्यस्य नायकाः, तान् निबोध। ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ॥ ७ ॥ भवान्, भीष्मः च, कर्णः च, समितिंजयः कृपः च, अश्वत्थामा, विकर्णः च, तथा एव च सौमदत्तिः ॥ ८ ॥ अन्ये च बहवः शूराः सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः, नानाशस्त्रप्रहरणाः, युद्धविशारदाः (सन्ति) ॥ ९ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ (द्रोणाचार्य) ! अब हमारे पक्षके जो जो प्रमुख वीर, मेरी सेनाके नायक हैं, उनके नाम सुनिये। आपको केवल सूचना देनेके लिये उन के नाम कहता हूं ॥ ७ ॥ आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, तथा सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥ और भी बहुतसे शूर वीर, सबके सब मेरे लिये अपना जीवन समर्पण करनेको तैयार, नाना प्रकार के शस्त्र चलानेमें निपुण और युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ-अपने सेनापति और सेनानायक किस योग्यताके हैं और वे किस किस विषयमें प्रवीण हैं, और उनमें कौन वीर दिलसे लडनेवाले हैं यह बात ठीक ठीक प्रकार राजाको जाननी चाहिये ॥ ७-९ ॥

(७-९) यहां दुर्योधन अपनी सेनाके मुख्य नायकों का वर्णन कर रहा है। सबसे मुख्य द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह ये वयोवृद्ध और अनुभवी गिने गये हैं। अठारह दिनोंके युद्धमें भीष्म पितामह १७० वर्षके वृद्ध होनेपर भी पूरे दस दिन घोर युद्ध करते रहे, द्रोणाचार्य करीब नौवे वर्षके होनेपर भी उसके बाद पांच दिन युद्ध निभानेमें समर्थ हुए। ये ऐसे बडे वीर थे। इनके पश्चात् कर्ण, कृपाचार्य, भूरिश्रवा (सौमदत्ति), अश्वत्थामा, विकर्ण आदि गिने हैं। युद्धमें इनके काम भी इसी क्रमसे हुए हैं। ये सब वीर महा प्रबल होनेपर भी दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्ण पर ही था। इस लिये उनके वर्णनमें (समितिंजय) 'युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला' यह विशेषण कृपाचार्यके लिये प्रयुक्त किया गया है। और (अन्ये मदर्थे त्यक्तजीविताः) 'दूसरे वीर मेरे लिये अपना जीवन देनेको भी तैयार हैं।' ऐसा कहा है। दुर्योधन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह से बातचीत कर रहा है, ऐसे प्रसंगमें 'दूसरे शूर वीर मेरे विजयके लिये अपना जीवनतक देनेको तैयार हैं' ऐसा कहनेका तात्पर्य यही दीखता है, कि "आप भीष्मद्रोण विशेष योग्यता रखनेवाले वीर हैं यह सत्य है, परंतु आपका मन पाण्डवोंकी ओर होनेसे, मेरे कार्यके लिये जैसा दिलसे युद्ध करना चाहिये वैसा आपसे होना कठिन है" यह उनको बतलाना। दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्णपर था, तथापि वह ऐसी बिकट परिस्थितिमें था कि, वह खुले मुखसे भीष्म द्रोणको युद्धभूमिसे हटा नहीं सकता था। अतः पहिले दिनके महायुद्धका कार्य उन्होंने भीष्म पितामहके ऊपर सौंप दिया। इसका तात्पर्य यह था कि, यदि तरुण अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें बूढे पितामहकी समाप्ति हुई, तो दूसरे वृद्ध द्रोणाचार्यको आगे करेंगे, और उनकी समाप्ति

(४) दोनों सेनाओंकी तुलना।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय-अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तत् बलं अपर्याप्तम्, एतेषां तु भीमाभिरक्षितं इदं बलं पर्याप्तं (अस्ति)॥१०॥

भीष्मद्वारा रक्षित हुआ हमारा सैन्य अपर्याप्त है, परंतु भीमद्वारा रक्षित हुआ उनका सैन्य पर्याप्त है ॥ १० ॥

भावार्थ-युद्ध चलानेवाले राजाको उचित है कि, वह सब साधनों और अवस्थाओंका विचार करके अपनी सेनाके और पराई सेनाके बलाबलका विचार करे, और निश्चय करे कि, किसका बल पर्याप्त है और किसका नहीं है; और यदि अपना बल अपूर्ण प्रतीत हुआ, तो उसकी पूर्णता करनेका यत्न करे ॥ १० ॥

पर मेरा कार्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाले कर्णको सेनापतिका अधिकार देंगे। पश्चात् उस कर्णके युद्ध कौशलसे अपना विजय तो निःसंदेह सिद्धही होगा। प्रारंभमें नया उत्साह होता है, इसलिये ये दोनों बूढे शत्रुके द्वारा शीघ्रही समाप्त किये जांयगे। पश्चात् अपने कार्यके लिये जीवन तक देनेवाले कर्ण जैसे वीर आवेंगे, तो अपना कार्य निःसंदेह यशस्वी होगा। यह अन्तर्यामीका भाव दुर्योधनके इस वर्णनमें दिखाई देता है। यदि भीष्मद्रोणोंपर कुछ संदेहसा उनके मनमें न होता, तो 'अन्य वीर मेरे लिये जीवन देनेको तैयार हैं,'ऐसे शब्दोंसे वह अन्योंका सन्मान इनके सन्मुख न करता; उनके स्थानपर भीष्मद्रोणोंका ही सन्मान करता। "जिस प्रकार अन्य वीर मेरे कारण अपना जीवन देनेको तैयार हैं वैसे तुम दोनों नहीं, तुम्हारा मन शत्रुओंके हितमें तत्पर है।" इस प्रकार स्पष्ट बोलनेकी अवस्थामें दुर्योधन उस समय नहीं था। क्योंकि युद्ध उपस्थित हुआ है, ऐसे समयमें मुख्य राजाको योग्य ही नहीं कि, वह किसी प्रकार भी अपने वीरोंको निरुत्साह करे। परंतु दुर्योधन भीष्मद्रोणके विषयमें अपने मनमें जलता था और बाहरसे मनका भाव प्रकट करनेमें असमर्थ था; इसलिये उक्त प्रकार का वाक्य उसने कहा, और अपने अंदर का भाव संदिग्ध रीतिसे कुछ अंशमें व्यक्त किया।

युद्ध कलाका एक नियम है कि, विजय चाहनेवाले राजा अपनी सेनाके दो तीन विभाग करें और एक विभाग युद्धभूमिपर कार्यमें लगावे और दूसरा पीछे बचाकर रखे। जब अपनी आगे की सेना थक जावे, तब उसको विश्राम दिया जावे और बचाकर रखी हुई सेना आगे लाई जावे। इस प्रकार नये उत्साहवाली सेना आगे आनेसे जयकी आशा विशेष होती है। दुर्योधनने भीष्मद्रोणको युद्धमें आगे रखा था, और कर्णको बचावकी सेनाविभाग (Reserve force) में रखा था। दुर्योधनकी कल्पनासे भीष्म द्रोणके कार्यके पश्चात् कर्णका युद्धकार्य विशेष होगा। परंतु अन्तमें उलटा बनगया, यह बात और है। दुर्योधन इस हेतुसे दोनों ओरकी सेनाओंकी तुलना करता है, वह उसका भाषण अब देखिये—

(१०) इस श्लोकमें दोनों सेनाओंकी तुलना दुर्योधनने की है। यह तुलना करनेके समय उसने अपने सैन्यके लिये 'अपर्याप्त' कहा है और पांडवोंकी सेनाको 'पर्याप्त' कहा है। इसका ठीक ठीक अर्थ समझमें आनेके लिये श्लोक ७ से ९ तककी टिप्पणी पाठक देखें। 'पर्याप्त और अपर्याप्त'

शब्दके संस्कृत भाषामें दो परस्पर विरोधी अर्थ होते हैं । ' पर्याप्त ' = (१) पूर्ण, बस, काफी; (२) [परितः आप्त] चारों ओरसे घेरने योग्य अर्थात् छोटी । 'अ-पर्याप्त' = (१) अपूर्ण, बस नहीं, काफी नहीं, अल्प; (२) [न परितः आप्तुं शक्या] घेरी जानेके लिये अशक्य अर्थात् बडी। ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं । अतः यहां कौनसा अर्थ अपेक्षित है यह विवाद टीकाकारोंमें बहुत दिनोंसे चला आरहा है । उद्योगपर्व अ० ५४ श्लो० ६०-७० में दुर्योधन कहता है कि—

" मेरी सेना बडी और गुणवान् है, इसलिये मेरा विजय होगा । " इस कथनका विचार करनेसे पता लगता है कि, युद्धके पूर्व दुर्योधनका यह विश्वास था कि, अपनी सेना विशाल है, और सेनापति अच्छे योद्धा हैं, इसलिये जीत अपनी होगी । दूसरी बात यह है कि: कोई राजा युद्धके प्रारंभमें अपनी सेनाको अपूर्ण, अपर्याप्त और अल्प कहकर निरुत्साहित नहीं करेगा । 'अपनी सेना थोडी होने पर भी हमारा बल बडा है विजय अपनी होगी,' ऐसाही कहेगा। यह सब ठीक है । इस दृष्टीसे इस श्लोकका अर्थ यह होगा कि—' हमारी सेना भीष्मके द्वारा रक्षित है और बडी होनेके कारण घेरी जाने योग्य नहीं है, परंतु पांडवोंकी भीमके द्वारा रक्षित सेना थोडी है अतः घेरी जाने योग्य है,' अर्थात् हमारी सेना पांडवोंकी सेनाको घेर देगी और उनका पराजय करेगी, अतः युद्धके अन्तमें विजय हमारी होगी।

वस्तुतः कौरवसेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ७ अक्षौहिणी थी । अतः पाण्डवोंकी छोटी और कौरवोंकी बडी होनेमें किसीको संदेह ही नहीं हो सकता ।

ग्यारह अक्षौहिणी सेना सात अक्षौहिणी सेनाको घेर सकती है, इसमें क्या संदेह हो सकता है ? दुर्योधन का विश्वास पहिलेसे इसी प्रकार था । परंतु हस्तिनापुरमें जो जो विविध घटनाएं हुई और भीष्मद्रोण आदि प्रमुख वीरोंके जो निज मत अनेक सभाओंके भाषणोंमें प्रकट हुए, उनसे दुर्योधनका करीब करीब यह निश्चय बनता गया कि, युद्धके समय भीष्मद्रोण अपने पूरे बलसे लडेंगे नहीं। इसी प्रकार अन्तिम संधिसभाके प्रसंगमें जब दुर्योधनने श्रीकृष्ण भगवान्को पकडनेकी अनुचित आज्ञा की, उस समय उस सभामें उपस्थित हुए पुरुषोंमेंसे बहुतसे सदस्य पाण्डवोंके और श्रीकृष्ण भगवान्के, अनुकूल होनेकी बात दुर्योधनने प्रत्यक्ष देखी थी । (म० भा०उ०अ०१३१) इस प्रकारकी घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेसे दुर्योधनके मनमें यह बात करीब करीब आचुकी थी कि हमारा बल अधिक होनेपर भी वह सब का सब हमारे काममें नहीं आवेगा । सेनासंचालक भीष्म और द्रोण यदि पूरे बलसे न लडे, तो शेष सेना डेढगुणी या दोगुणी होनेपर भी क्या लाभ होसकता है ? इसीलिये श्लो० ३ में पाण्डवसेनाको 'महती चमू' कहा है । वस्तुतः वह छोटी थी,परंतु आन्तरिक उत्साहसे बडी थी।

इस बातका प्रमाण देखनेके लिये बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं है । इसी स्थानपर पाठक देख सकते हैं । (इसी प्रथम अध्याय के श्लोक २ से ११ श्लोक तक) राजा दुर्योधन का भाषण द्रोणाचार्यकोही उद्देश करके हुआ है । राजा प्रत्यक्ष आता है और अपनी और परायी सेनाके विषयमें कुछ कहता है, कुछ अपमानके शब्द भी सुनाता है; तथापि द्रोणाचार्य एक भी शब्द नहीं बोलते हैं !!! यह देखकर (अ० १ श्लो० १२ से) भीष्म पितामहने सिंहनाद किया और शंख बजाया, परंतु येभी कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल बोले नहीं । सम्राट्के इतना कहनेपर भी ये दो प्रमुख सेनानायक एक शब्दभी बोलते नहीं और मूकके समान चुप रहते हैं, इस का स्पष्ट अर्थ यही है कि, इनकी आन्तरिक प्रतिकूलता सम्राट्की राजनीतिके साथ है । सम्राट् बोलता है, सेनापति उत्तर तक नहीं देते और चुप रहते हैं, यह देख कर सम्राट्के अन्तःकरणमें इनसे होनेवाले युद्धके विषयमें पूर्ण निराशा हुई होगी और

इस निराशाको प्रकट करनेके लिये उसने यह कहा होगा कि,- " हमारी सेना डेढगुनी बडी होनेपर भी भीष्म (और द्रोण) के आधिपत्य में रहनेके कारण छोटी होनेके समानही बनी है, और पाण्डवोंकी सेना (वस्तुतः छोटी होनेपरभी) जोशीले भीम के नेतृत्व के अंदर होनेके कारण बडी (होनेके समान प्रभावशाली बनी) है। "

सेना संख्यामें छोटी हो या बडी हो, सेनापति के उत्साहसे कार्य करनेके कारण वह प्रभावशाली बनती है और सेनाचालक निरुत्साह हुआ, तो वही सेना पराभूत होती है। यही बात कौरवोंकी छावनीमें हो गई थी। दुर्योधन की नीतिसे भीष्मद्रोण सर्वथा असंतुष्ट थे, और अन्तःकरणसे पाण्डवोंका हित चाहते थे, तथा युद्ध करके पांडवोंका नाश करनेके सर्वथा विरुद्ध थे। यदि इनका मत कर्णके समान पांडवोंके विरुद्ध होता, तो दुर्योधन की जीत होती। यह अवस्था दुर्योधन ठीक ठीक जानता था, परंतु भीष्मद्रोणोंको युद्धभूमिसे हटा देना भी योग्य नहीं समझता था। इसके मनका यह खेद इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है। और यह दर्शानेके लिये द्रोण से कहता है कि '-हमारी सेना भीष्मके आधिपत्य के कारण अपूर्ण है और पाण्डवोंको सेना भीमके आधिपत्यके कारण पूर्ण है। '

परंतु खुले शब्दोंसे सेनापतिका अपमान करनाभी योग्य नहीं है, अतः यह अन्तःकरणकी जलती हुई बात उसने ऐसे शब्दोंद्वारा कही कि, द्रोणके क्रोधित होनेपर इसी वाक्य का दूसरा सरल अर्थ करके बताया जावे, और अपमान करनेके हेतुसे यह वाक्य उच्चारा नहीं गया, ऐसा बताया जावे। जिस प्रकारकी मनोभूमिका में दुर्योधन था; उस अवस्थामें दो प्रकारके अर्थ बोध करनेवाला वाक्य उच्चारा जाना ही सहज प्रतीत होता है। इसी प्रकारका श्लोक भीष्मपर्व (अ० ५१।४-६) में भी है और वहां भी यही अर्थ अपेक्षित समझना योग्य है।

यहांके १० वे श्लोकमें कहा है कि कौरवसेना के अधिपति भीष्म हैं और पाण्डवसेनाके भीम हैं। वस्तुतः पांडवोंके सैन्यके अधिपति धृष्टद्युम्न थे। मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्न थे यह बात सत्य है, परंतु प्रथम दिनके वज्रसंज्ञक व्यूहकी रक्षा करनेके लिये विशेष कुशलताके कारण इस स्थानपर भीमको रखा गया था। इसलिये "पांडवोंकी सेनाकी रक्षा भीम कर रहा है" ऐसा दुर्योधनने यहां कहा; क्योंकि यह बात उसको वहां सामने प्रत्यक्ष दीख रही थी। प्रत्यक्षकी बात देख कर ही दुर्योधन भीमको पाण्डवोंका सेनारक्षक मानता है और वैसाही कहता है। इसी प्रकार (म० भा० भीष्म० अ० २१। १ में) पाण्डवोंकी सेनाको 'भीमनेत्र' अर्थात् भीमद्वारा चलाई जानेवाली, और कौरवसैन्यको ' भीष्मनेत्र ' अर्थात् भीष्मद्वारा प्रेरित होनेवाली कहा है। अतः गीताके इस श्लोकमें कहा हुआ वर्णन पूर्वापर इतिहाससे संगत है।

कई लोग कहते हैं कि यदि भीष्मद्रोण विरुद्ध थे तो उनको उचित था कि, वे कौरवोंके पक्षको छोडकर पाण्डवोंके पक्षमें संमिलित होते। परंतु बडे लोगोंको ऐसा करना योग्य नहीं होता। यदि इस समय वे भीष्म द्रोण कौरवपक्षको छोड देते, तो सब जनता कहती कि ' ये बूढे डर गये '। किसी आर्य संतानके अन्तःकरणमें युद्ध और मृत्युको डरने और उस डरके कारण अपना स्थान छोडनेका विचारतक नहीं आना चाहिये, यह शिक्षा भावी संतानको देनेके लिये उनको अपना पक्ष छोडना उचित न था। दूसरी बात यह है कि भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि, सत्यवतीके संतानोंके वंशकी मैं रक्षा करूंगा। महापुरुषोंको प्रतिज्ञाभंग करना कदापि उचित नहीं होता है। तीसरी बात यह है कि, जिस पक्षमें कार्य किया उसी पक्षमें मरना ठीक है, मरनेका समय उपस्थित होनेपर दूसरे पक्षमें जाना सर्वथा अयोग्य है। भीष्मद्रोण तो जानते ही थे कि, इस युद्धमें अपने पक्षका पराजय होगा और हम मारे जांयगे। यह जानते हुए भी वे युद्धभूमिमें खडे

(५) दुर्योधन की आज्ञा।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वय— भवन्तः सर्वे एव हि सर्वेषु च अयनेषु यथाभागं अवस्थिताः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु ॥ ११ ॥

(अब) आप सब (वीर) मिलकर सब अयनों अर्थात् सेनाव्यूहोंके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दृढ रहकर भीष्मकी ही सब ओरसे रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—युद्धके समय सैनिकोंका कर्तव्य है कि वे अपने अपने स्थानोंमें रहें, डरकर पीछे न भागें, और सेनापतिद्वारा कहा हुआ कर्तव्य दक्षतासे सिद्ध करनेमें तत्पर रहें, और सब मिल कर सेनापति और सेनानायकोंकी रक्षा करें, और अपने पक्षकी जीत करनेके लिये अपने पराक्रमकी पराकाष्ठा करें।

रहे। यही उनका कर्तव्य था। अतः यह कोई न कहे कि वे पाण्डवोंके पक्षको मिल जाते तो अधिक योग्य होता। वे वैसा करते तो आर्य जातीके लिये बहुत बुरा उदाहरण हो जाता। जो भीष्मद्रोणोंने किया वही उनके लिये उस समय करना अत्यन्त योग्य था। उनके आचरणोंको देख कर ही हम लोग अपने कर्तव्योंको समझ सकते हैं। अस्तु। इस भाषणके पश्चात् दुर्योधन अपने सैनिकोंको जो आज्ञा देता है वह देखिये—

(११) श्लोक ३ से १० तक राजा दुर्योधनका वक्तव्य द्रोणाचार्यको संबोधन करके हुआ है। इसको सुनकर भी द्रोणाचार्य चुप रहे और कुछ भी बोले नहीं! यह आश्चर्य की बात देखकर राजा दुर्योधन कुछ देर स्तब्ध हुए। तब भी आचार्यजीसे कुछ उत्तर नहीं आया! संभव है कि, राजा दुर्योधनने आचार्यजीके चुप रहनेका कारण मनही मनमें समझा होगा। द्रोणाचार्य पाण्डवोंके विनाशके लिये चलाये इस युद्धसे सर्वथा प्रतिकूल थे। इसलिये उनसे उत्तर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, और अधिक छेडनेपर कदाचित् यहां ही युद्धभूमिमें खडे होकर कुछ प्रतिकूल बातें सुनायेंगे। इस कारण इस समय द्रोणाचार्यजीको छेडना अच्छा नहीं है, ऐसा जानकर वे चुप होगये।

इस श्लोकमें दुर्योधनने कहा है कि "सब सैनिक भीष्मकी रक्षा करें।" वस्तुतः भीष्म महाप्रतापी योद्धा थे, और उनको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी। तथापि उनको एक डर था, वह यह कि उनकी प्रतिज्ञा थी कि 'शिखण्डी पर शस्त्र न चलाऊंगा।' क्यों कि शिखण्डी पुरुष न था, किसी उपायसे स्त्रीका पुरुष बन गया था। भीष्मपितामह वीर थे और वीरसे लडनेके लिये सिद्ध थे। शिखण्डीभी महारथी था, परंतु स्त्री रूपमें उत्पन्न होनेके कारण उसपर शस्त्र चलानेके लिये वे तैयार न थे। अतः यदि पाण्डवोंने शिखडीको सामने खडा किया, तो भीष्म उसपर शस्त्र न चलावेंगे और व्यर्थ मारे जांयगे। यह दुर्योधन जानता था। इस उद्देश्यसे सब सैनिकों और सेनाध्यक्षोंको संबोधन करके राजा दुर्योधनने ऐसा भाषण किया कि " हे सैनिको! तुम्हारे आधीन जो जो पथक है, उसको सज्ज करो, अपने सेनाविभाग के आगे सेनापति खडे रहें, सब सावधान होकर अपने स्थानमें दक्षतासे रहें, हरएक अपने अपने अध्यक्षकी आज्ञा पालन करें, कोई वीर अपने स्थानसे पीछे न भाग जावे, हरएक अपने स्थानमें रहते हुए उत्तम प्रकार लडे, तथा आप सब मिल कर भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें, क्योंकि इस युद्धको चलाने

(६) शंखनाद।

संजय उवाच— तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अन्वय— तस्य हर्षं संजयन्, प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः, उच्चैः सिंहनादं विनद्य, शङ्खं दध्मौ ॥ १२ ॥ ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त। सः शब्दः तुमुलः अभवत् ॥ १३ ॥

संजय बोले— (दुर्योधनके मनको) हर्षित करनेके लिये प्रतापी, कौरवोंमें अति वृद्ध, (भीष्म) पितामहने ऊंचे स्वरसे सिंहनाद करते हुए अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥ इसके पश्चात् अनेक शंख, नौबतें, डंके, मृदंग और गोमुख नामक बाजे एकदम बजने लगे। वह ध्वनि बहुत ही प्रचंड हुआ ॥ १३ ॥

का संपूर्ण भार उनहीपर रखा है।" इस प्रकार सब सैनिकों, सेनानायकों और सेनापतियोंको उपदेश करनेके बादभी द्रोणाचार्यको चुप खडे रहे देख कर दुर्योधन भीष्मपितामहकी ओर देखने लगे। भीष्मपितामहभी कुछ बोले नहीं, परंतु उन्होंने गर्जना करके अपना शंख बजाया, उसका वृत्तांत आगे देखिये—

(१२) यहां संजयने कहा है कि, 'भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शंख फूंका, वह दुर्योधनको हर्षित करनेके लिये था।' परंतु सत्य रीतिसे देखा जाय, तो भीष्मपितामह भी इस प्रकारके युद्धके विरुद्ध थे। और यदि उनके मनमें दुर्योधनको हर्ष देना सचमुच होता, तो वे इस समय कुछ तो कह देते। कुछभी न बोलते हुए केवल सिंहनाद करते हैं और शंख बजाते हैं, इससे यहां भीष्मपितामहके मनमें क्या था, इस विषयमें प्रबल शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पाठक इसका विचार करें। समय समयपर भीष्म पितामहकी जो वक्तृताएं हुई हैं, वे भी दुर्योधन की नीतिके विरुद्ध हैं। द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह राज्य शासनके अधिकारी होनेके कारण राजाज्ञा होनेपर आज्ञाका पालन करते हुए वे अपने सेनापतिके स्थानपर खडे हुए, यह नियमपालन की दृष्टिसे बडा योग्य है। परंतु वे मनसे दुर्योधनको हर्ष देनेके लिये सेनापतिका कार्य करते थे, ऐसी बात नहीं थी। समयके अनुसार कर्तव्य करना एक बात है, और दिलसे उस नीति के साथ सहानुभूति रखना दूसरी बात है। द्रोण और भीष्म केवल कर्तव्य करते थे। दुर्योधनकी नीति उनको पसंद न थी।

(१३) भीष्म पितामह का सिंहनाद और शंखनाद सुनते ही कौरवोंकी सेनामें रणवाद्योंका प्रचंड घोष हुआ। शंखनाद और रणवाद्योंका नाद युद्धके उत्साहका सूचक है। रणवाद्योंका शब्द सुनतेही सैनिकोंका भय दूर होता है, युद्धकी उष्णता शरीरमें संचार करती है, और पहिला उत्साह द्विगुणित होता है। कौरवोंकी सेनाने इस प्रकारका रणवाद्योंका घोष करके पाण्डवोंको एकप्रकारसे आह्वान किया कि, 'हम युद्धके लिये तैयार हैं, तुममें युद्धके लिये हमारे सन्मुख आनेका धैर्य है, तो आओ।' पाण्डवोंकी तो पहिलेसे ही तैयारी थी, कौरवोंके सैन्यका रणवाद्योंका घोष सुनते ही, पाण्डवोंने भी वैसाही उत्तर दिया। इसका विस्तारपूर्वक वृत्तान्त देखिये—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अन्वय—ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥ हृषीकेशः पाञ्चजन्यं, धनंजयः देवदत्तं, भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशङ्खं दध्मौ ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं, नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥ परमेष्वासः काश्यः, महारथः शिखण्डी च, धृष्टद्युम्नः, विराटः च, अपराजितः सात्यकिः च ॥ १७ ॥ द्रुपदः, द्रौपदेयाः च, महाबाहुः सौभद्रः च, हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः ॥ १८ ॥ सः तुमुलः घोषः नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन्, धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् सफेद घोडोंवाले बडे रथमें विराजमान हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, अर्जुनने देवदत्त शङ्ख, और भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख, और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ बडे धनुष्यधारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, कभी पराजित न हुए सात्यकी, राजा द्रुपद, द्रौपदीके सब पुत्र,

(१४-१९) पाठक यहां देखें कि भीष्मपितामहके शंखनादका वर्णन कौरवसेनाके वर्णनके प्रसंगमें किया है। उसमें द्रोणाचार्यके भी शंखनादका वर्णन नहीं है; कई बडे कौरव वीरोंने विशेष उत्साहसे शंखनाद किये होते, तो उसका वर्णन अवश्य यहां किया जाता। परंतु जहां अंदरका निज उत्साहही नहीं है, जो केवल वेतन लेनेके कारण ही युद्धभूमिमें खडे हुए हैं, और जिनमेंसे कई वीर समझते हैं कि, अपना पक्ष अधर्मका है, उनके शंखनाद विशेष वर्णन करने

(७) अर्जुन का सेनानिरीक्षण।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सबोंने अपने अपने शङ्ख बजाये॥ १७-१८॥ वह भय उत्पन्न करनेवाला शङ्खनाद आकाश और पृथ्वीमें गूंजने लगा, और उसने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनादिकोंके हृदयोंको फाड डाला॥ १९॥

भावार्थ—युद्धके समय रणवाद्य बजाकर अपने सैनिकोंको उत्साहित करना चाहिये।

अन्वय— अथ कपिध्वजः पाण्डवः, धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (सति), धनुः उद्यम्य ॥ २०॥ (हे) महीपते! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यं आह।—

इसके अनंतर हनुमानकी ध्वजावाले अर्जुनने, कौरवोंको उत्तम व्यवस्थासे खडे देख, शस्त्र चलानेका समय आनेपर धनुष्य उठाया॥२०॥ और, हे राजा! श्रीकृष्ण से ऐसा भाषण करने लगे।—

भावार्थ— युद्धका समय उपस्थित होनेपर अपनी पूर्ण तैयारी करके आगे बढना चाहिये।

योग्य कदापि नहीं हो सकते। जिनका शंख नाभिस्थानके जोरसे बजता है उसीका प्रभाव विशेष होता है। इस प्रकारके शंख तो कौरवोंकी ओरसे बजे ही नहीं!! परंतु पाण्डवोंकी ओर देखिये, यहां एक एक वीरका नाम लेलेकर उसके शंख बजानेका वर्णन किया है, क्यों कि वैसे ही विशेष बलसे पाण्डवोंके शंख बजेथे। इसका कारण यहहै कि, पाण्डवोंकी ओरकेसब वीरोंका निश्चय हो चुका था कि, 'या तो हम मर जांयगे अथवा अपना गया हुआ स्वराज्य अपनी शक्ति और संघटनासे प्राप्त करेंगे।' तीसरा विचार उनमें नहीं था।

इस शंखनादका प्रकरणही देखा जावे, तो पता लगता है कि कौरवोंके वीरोंमें वैसा उत्साह नहीं था, जैसा कि पाण्डवोंके वीरोंमें दिखाई देता था। इसका विचार करके देखा जाय तो १० वे श्लोकका अर्थ 'भीष्मके नेतृत्वमें जो हमारा (कौरवोंका) सैन्य है वह अपूर्ण है, परंतु भीम-के नेतृत्वमें जो पाण्डवोंका सैन्य है वह पूर्ण है।' ऐसाही प्रतीत होगा। दुर्योधन अपनी सेनाकी अवस्था देखकर ही वैसे आशयका वक्तृत्व कर रहा है। इस श्लोकका अर्थ करनेके समय ये प्रकरण भी देखने आवश्यक हैं।

इस प्रकार युद्धसूचक शंखनाद होते ही वीर अर्जुन अपनी और परायी सेनाका निरीक्षण करनेके उद्देश्यसे आगे बढते हैं, उसका वर्णन अब देखिये—

(२०) 'धृतराष्ट्रका सैन्य उत्तम रीतिसे खडा और युद्धके लिये सिद्ध हुआ देखकर अर्जुनने अपना धनुष्य चढाया और युद्ध करनेका प्रारंभ करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णजीसे निम्नलिखित वाक्य कहा।' यह इस श्लोकका आशय है।

इस स्थानपर अर्जुनके लिये 'कपि-ध्वज' शब्दका प्रयोग किया है। अर्जुनकी ध्वजापर कपि अर्थात् 'बन्दर' किंवा हनुमानजीका चिन्ह था। महाभारतमें कई प्रसंगोंमें सचमुच हनुमानजी

अर्जुनके ध्वजदण्डपर बैठे थे, ऐसाही वर्णन है। कई स्थानोंपर तो युद्धके प्रसंगमें हनुमानजीके भूत्कारशब्द करनेका भी वर्णन है। इससे पता लगता है कि, सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वज-दण्डपर विराजमान थे। परंतु साधारणतः देखा जाय तो रथपर जो ध्वजा होती है, वह कपडेकी होती है और उसपर कुछ चिन्हविशेष होते हैं। इसी प्रकार अर्जुनकी ध्वजापर हनुमानजीका चित्र होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार हरएक वीर की ध्वजापर अलग अलग चिन्ह थे, द्रोणाचार्य की ध्वजापर कमंडलु था, इसी प्रकार अन्यान्य वीरोंकी ध्वजाओंपर अन्यान्य चिन्ह थे।

'कपि' शब्दका वेदमें अर्थ 'सूर्य' ऐसा भी है। 'क' नाम उदकका पान करनेवाला। सूर्य जलको आकर्षित करता है, इस लिये उसका यह नाम है। यदि यह अर्थ यहां लिया जाय, तो अर्जुनकी ध्वजापर सूर्यचिन्ह था ऐसा भी कहा जा सकता है। अथर्ववेदमें 'एता देवसेनाः सूर्यकेतवः।' (अथर्व० ५।२१।१२) अर्थात् सूर्य चिन्हवाली ध्वजाओंको लेकर ये देवसेनाएं चलती हैं, ऐसा वर्णन है। आर्यवीरोंका सूर्यध्वज होना स्वाभाविक है, परंतु महाभारत या रामायणमें सूर्यचिन्हवाली ध्वजाका वर्णन नहीं है। आर्यवीर अर्जुन की ध्वजा तो बंदर चिन्हवाली (हनुमानजीके चिन्हवाली) महाभारतमें निश्चित है। इसलिये 'कपि' शब्दके दूसरे कई अर्थ हों, यहां 'हनुमान' यही अर्थ अपेक्षित है, इसमें संदेह नहीं।

अर्जुनकी 'कपिध्वजा' क्या सूचित करती है? उसकी चंचलता सूचित करती है। बंदरकी चंचलता स्पष्ट है। बंदर चंचल है, और वही अर्जुनकी ध्वजा, झंडा अथवा चिन्ह है। अर्जुनकी मानसिक चंचलता का अनुभव अभी थोडी देरमें पाठकोंको हो सकता है। अर्जुनपर पाण्डवोंके पक्षका पूर्ण विश्वास, अर्जुन युद्ध करेगा तोही इनके पक्षकी जीत होगी, और यदि अर्जुन युद्ध न करेगा तो पाण्डवोंको स्वराज्य प्राप्तिकी आशा नहीं। ऐसी अवस्था है, यह बात अर्जुन भी जानता था, परंतु स्वभावधर्म दूर होना कठिन है। अर्जुन युद्धकी तैयारीसे रणस्थलपर आगया; शंखनाद होते ही युद्धकी इच्छासे धनुष्य उठाने लगा; अब दोनों सैन्योंके वीरोंका निरीक्षण करनेकी इच्छा कर रहा है, और जब निरीक्षण करेगा, तब मोहित होकर युद्धसे पीछे हटनेका विचार करेगा!!! यह चंचलताकी परम सीमा है!! ऐसे वीरकी 'कपि' ध्वजा होना ही स्वाभाविक है!

स्वराज्यप्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले पक्षमें ऐसे चंचल वीर होना योग्य नहीं है। स्वराज्यके लिये लडनेवाले वीर 'स्थितप्रज्ञ' चाहिये। उनमें चंचलता नहीं चाहिये। चंचल वीर युद्धकी सब तैयारी होनेके पश्चात् ऐन युद्धके समय युद्धभूमिसे हटेंगे और सब स्वराज्यपक्षकी हानि होगी। पांडवोंका पक्ष सत्पक्ष था, इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् उनके सहायक थे; अतः उन्होंने सदुपदेशद्वारा अर्जुनकी चंचलता दूर की और उनको 'स्थितप्रज्ञ' बनाया। तत्पश्चात् अर्जुन युद्ध चलानेमें समर्थ हुआ और विजयी बना। मनकी चंचलता दूर करनेके बादही मनुष्य अपना कर्तव्य पालन कर सकता है। अर्जुनकी यह मनोभूमिका उसकी कपिध्वजासे विदित हो सकती है।

इसमें दूसरी भी एक बात है। अर्जुन इन्द्रका पुत्र है। इन्द्र नाम सामान्य 'विद्युत्' का अथवा अन्तरिक्षस्थानीय मेघमंडलमें संचार करनेवाली विद्युत्का वाचक प्रसिद्ध है। इसीका एक अंश मनुष्यका मन बना है। अन्य सूर्यादि देवताओंके अंशोंके अन्य इंद्रिय बने हैं। देखिये—

इन्द्र (विद्युत्)	मन
सूर्य	नेत्र
वायु	प्राण
दिशा	कर्ण
अग्नि	वाणी
आप्	रसना

अर्जुन उवाच- सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अन्वय—हे अच्युत! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ॥ २१ ॥ यावत् अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् निरीक्षे; अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यं? ॥ २२ ॥

हे श्रीकृष्ण! दोनों सैन्योंके मध्यमें मेरा रथ खडा करो ॥ २१ ॥ इतने में युद्धकी इच्छासे यहां उपस्थित हुए इन वीरोंको मैं देखता हूं। मुझे इस युद्धमें किनके साथ लडना है? ॥ २२ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंशोंसे अन्यान्य इंद्रियां बनी हैं। जैसा विश्वमें इन्द्र सब देवोंका राजा है, इसी प्रकार देहमें मन संपूर्ण इंद्रियों (देहस्थानीय देवतांशों) का राजा है। मनका विजय होनेसे सबकी जीत और मनके पराजयसे सबकी हार होती है। जैसा पांच पांडवोंका विजय अर्जुनपर निर्भर था, उसी प्रकार इंद्रियोंका विजय मनपर निर्भर है। यह समता पाठक विचार करके जान लें। मनके साथ प्राणका संबंध नित्य है। सब योगशास्त्रोंमें यह बात स्पष्ट कही है। यह प्राणवायुका अंश है।-

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। ऐ० उ० १

वायु प्राण बन कर नासिकामें रहा। यह प्राण मनका सहचारी है। इस विषयमें योगग्रंथोंमें कहा है—

मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥
ह० यो० प्र० १ । ४९

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
ह० यो० प्र० २ । ४२

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
ह० यो० प्र० २ । २

"मारुत अर्थात् वायु स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त होता है। मारुत अर्थात् वायु-प्राण-मध्य संचारी होगया तो मन स्थिर होता है। प्राण चंचल हुआ तो मन चंचल होता है और प्राणके स्थिर होनेसे मन भी स्थिर हो जाता है।" इस सब वर्णनसे पता चल सकता है कि, प्राणका और मन का घनिष्ठ संबंध है। ऊपर बताया है कि, इन्द्रका पुत्र मनुष्य-देहमें मन है और वायुका पुत्र प्राण है। कपि, हनुमान, मारुती जो अर्जुनके ध्वजदण्डपर था, वह भी 'वायु-पुत्र' ही है। कितना साम्य है यह देखिये। यह साम्य योंही नहीं हुआ है, यह विशेष हेतुसे ही है। इस शरीररूपी रथमें मन 'धर्म'के विजयके लिये प्रयत्न करता है, प्राण उसको सहायता करता है और ये सब 'धर्म' के कार्यमें लगे रहे तो भगवान् उनकी सहायता करते हैं।

इन्द्रपुत्र अर्जुन और वायुपुत्र (मारुती) हनुमान के रूपकका यह तत्त्व है। इसीलिये मारुती अर्जुन की ध्वजापर है। यह सनातन तत्त्व यहां इस रूपकसे दर्शाया है। यह विचार करेंगे तो पाठकोंको वायुपुत्र मारुतीका और इन्द्रपुत्र अर्जुनका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेगा, और भगवानके द्वारा चलाये जानेवाले रथपर ये दो कैसे खडे हैं इसका ज्ञान होगा। अस्तु।

अपना अर्जुन अब क्या कह रहा है देखिये—

(२१—२३) यहां अर्जुन भगवान् अच्युत श्रीकृष्णसे कहता है कि 'मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खडा करो, ताकि मैं इन सब वीरोंको देख लूं।' यहां भगवान् श्रीकृष्णका नाम 'अच्युत' आया है। इसका अर्थ "जो कभी पतित नहीं होता, जो अपने स्थानपर दृढ रहता है, जो स्वयं ध्रुव है, जो कभी गिरता नहीं, जो स्थिर रहता है,

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥
संजय उवाच— एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वय-दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः ये एते अत्र समागताः, तान् योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे ॥२३॥

और दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन का प्रिय करनेकी इच्छासे जो ये यहां इकट्ठे हुए हैं, उन लडनेवाले वीरोंको मैं देख लूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—युद्ध करनेवाले वीर का कर्तव्य है कि, वह अपने सन्मुख विरुद्धपक्षमें युद्ध के लिये उपस्थित हुए वीरोंको अच्छी प्रकार देखे, उनकी योग्यता ठीक प्रकार जाने और तदनुसार उनसे युद्ध करे ॥ २१-२३ ॥

अन्वय—संजयः उवाच—हे भारत ! एवं गुडाकेशेन उक्तः हृषीकेशः, उभयोः सेनयोः मध्ये, भीष्मद्रोण-प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षितां (प्रमुखतः) रथोत्तमं स्थापयित्वा, 'पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य, इति उवाच ॥ २४-२५ ॥

संजय बोले—हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा वचन कहा, तब उन्होंने, भीष्म और द्रोणके सामने तथा सब राजाओंके अग्रभागमें उत्तम रथको खडा करके कहा कि, 'हे अर्जुन ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख' ॥ २४--२५ ॥

जो चंचल नहीं है, जो अविनाशी और सनातन है, सदा एकसा रहनेवाला है और जो दबता नहीं।' अर्जुन चंचल है, उसका निश्चय स्थिर नहीं रहता; परंतु उसका सहायक मित्र ध्रुव, दृढ, स्थिर है। अर्जुनका विश्वास इस सनातन मित्र-पर दृढ है, इसी लिये अर्जुन इस युद्धसे पार हुआ, विजयी हुआ, और धर्मका राज्य जगत्में स्थापन करनेके यशका भागी बना।

नर और नारायण एकही रथपर खडे हैं। नर प्रयत्न करता है और नारायण उसको सहायता करता है। जो नर—पुरुषार्थी मनुष्य-नारायणको अपना सच्चा मित्र मानता और उसपर दृढ विश्वास रखता है, उसका बेडा पार होता है। हरएक नर युद्धभूमिमें खडा है, इसलिये नारायणपर विश्वास रखना हरएक के लिये लाभकारी है।

अपना अर्जुन अब युद्धभूमिमें जाकर वीरोंको देखता है और आगे क्या करता है देखिये—

(२४—२५) इन श्लोकोंमें श्रीकृष्णका नाम 'हृषीकेश' आया है। 'हृषीक' नाम इंद्रियोंका जो 'ईश' है वह हृषीकेश है। जिसके स्वाधीन अपनी इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंके आधीन नहीं हुआ प्रत्युत जिसके आधीन इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनको उत्तम सत्कर्मोंमें प्रेरित करता है और जिसकी इंद्रियां स्वभावतः ही बुरे कर्मोंकी ओर नहीं जातीं, वह हृषीकेश है। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' (हृषीक+ईश) थे, इसीलिये 'अच्युत' अर्थात् अविनाशी, स्थिर और दृढ थे।

जो सुदृढ और ध्रुव बनना चाहता है, उसको चाहिये कि वह हृषीकेश बने और अपनी सब इंद्रियां स्वाधीन रखे और उनको कभी बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त न करे। इंद्रियां स्वाधीन रखनेसे ही 'भग+वान्' अर्थात् भाग्यवान् बनना संभव है और तभी वह 'श्री—कृष्ण' अर्थात् ऐश्वर्यको अपनी ओर खींचनेवाला किंवा 'कृष्ण' अर्थात् सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला बन सकता है। 'पुरुषोत्तम, (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) बनने की यही युक्ति है।

इन श्लोकोंमें अर्जुन का नाम 'गुडाकेश' आया है। 'गुडाका' नाम निद्राका जो 'ईश' अर्थात् स्वामी है, अर्थात् जिसने निद्रा, सुस्ती, आलस्य आदि दोषोंको जीत लिया है। कार्य करनेके समय जिसको सुस्ती या निद्रा नहीं घेरती, विश्राम लेना या न लेना जिसके आधीन है, निद्रा जिसकी आज्ञामें है, अर्थात् जब वह विश्राम लेना चाहे और जितनी देरतक विश्राम लेना चाहे, तब और उतनी देरतक ही जो गाढ निद्रासे युक्त हो सकता है, अथवा विश्रांति ले सकता है वह गुडाकेश है। जिसको दस वीस पल निद्रा लेनेकी इच्छा हुई, तो झट गाढ निद्रा लेसकता है और ठीक दस वीस पलोंके बाद उठकर कार्य करने लगता है, जो निद्राके वश हुआ तो घण्टोंतक सोया पडा नहीं रहता, वह 'गुडाका—ईश' किंवा 'निद्रा – स्वामी' है। जगत् में बहुतही थोडे मनुष्य हैं कि जिनका ऐसा प्रभुत्व निद्रापर होता है। प्रायः सभी लोग सोनेके लिये भी २०। २५ पल बिस्तरेपर करवटें लेते रहते हैं और उठनेके लिये वैसे ही हिलाने पडते हैं। जिस प्रकार हम किसी कमरेमें झट जाते हैं उस प्रकार जो समयपर झट गाढ निद्राके वश हो जाते हैं और समयपर विना सुस्त हुए उठते हैं, उनके आधीन निद्रा हुई, ऐसा कह सकते हैं। यह एक बडी भारी सिद्धि है, जो उस समयके संपूर्ण भारतीय वीरोंमें अकेले अर्जुनको ही प्राप्त थी। यह सिद्धि अत्यंत कठिन है। मनकी एक विशेष अवस्था रही, तोही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अन्यथा नहीं।

वीसवे श्लोककी व्याख्याके प्रसंगमें बताया है कि, अर्जुन इन्द्रपुत्र होनेके कारण आध्यात्मिक विचारमें शरीरमें मनस्थानीय है। पाठक जान सकते हैं कि, मन ही 'निद्राका स्वामी' है। यदि मन सोया तभी निद्रा आती है। अन्य इंद्रियां कितनी भी शान्त की जांय, या स्थिर की जांय, जबतक मन अपने व्यापारोंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक कभी निद्रा नहीं आती। यह देखनेसे स्पष्ट होजाता है कि, मनही (गुडाकेश) निद्राका स्वामी है। अर्जुनको भी यह नाम इसी लिये दिया गया है और इसी कारण सब कौरव पांडव वीरोंमें यही अर्जुन एक निद्राका स्वामी कहा गया है। शरीरके अन्दर भी अकेला मन ही निद्राका स्वामी है। पाठकगण यह साम्य देखें और समझें कि, यह समानता किसी विशेष हेतुसे लिखी है।

इन श्लोकोंमें 'भारत' नाम धृतराष्ट्रके लिये आया है। आगे कई प्रसंगोंमें यह नाम अर्जुन के लिये भी प्रयुक्त होगा। महाभारतमें अन्यान्य स्थानोंमें यह शब्द युधिष्ठिर आदि अन्यान्य वीरोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है "भारत देशका हित चाहनेवाला, भारत देशके निवासियोंका हित करनेवाला, भारत देशकी भाषा जिसकी जन्मभाषा है और उसपर जिसका प्रेम है, तथा भारत देश, भारतीय लोग और भारती भाषा इनका हित करनेके लिये जो आत्मसमर्पण करनेको तैयार है, अथवा यह करना जिसका कर्तव्य होना स्वाभाविक है।" धृतराष्ट्रका और दुर्योधनका यह कर्तव्य था, परंतु उन्होंने यह नहीं किया; अर्जुनादि पाण्डवोंका यही कर्तव्य था और उसके लिये अर्थात् भरतभूमिमें 'धर्म' का राज्य स्थापन करने और अधर्म राज्य हटानेके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था। यही धर्मराज्य स्थापन करना ईश्वरका कार्य है, जो इस कार्यको करते हैं वे अपने कर्मसे परमे-

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वय—अथ पार्थः उभयोः सेनयोः अपि, तत्र स्थितान् पितॄन्, पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् ॥ २६ ॥ श्वशुरान्, सुहृदः, च एव अपश्यन् । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् बंधून् अवस्थितान् समीक्ष्य ॥ २७ ॥ परया कृपया आविष्टः, विषीदन् इदं अब्रवीत् ।

तब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें वहां उपस्थित हुए अपने ही बडों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, तथा मित्रों ॥ २६ ॥ ससुरों, और स्नेहियोंको देखा। वह अर्जुन उन सब भाईयोंको ही उपस्थित हुए देखकर ॥ २७ ॥ अत्यंत करुणासे व्याप्त हुआ और उदास मनसे बोलने लगा।—

भावार्थ—कठिन प्रसंगमें अपने संबंधियोंका मोह मनुष्यको स्वकर्तव्यसे भ्रष्ट करता है। अतः मनुष्यको ऐसे मोहसे बचना चाहिये।

श्वरकी ही पूजा करते हैं। इस लिये कहा जाता है कि, कौरवोंने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया और पाण्डवोंने कर्तव्यका पालन उत्तम रीतिसे किया, और इस कारण परमेश्वरका सहाय्य उनको प्राप्त हुआ। जो ऐसा करेंगे उनका ईश्वर निःसंदेह सहायकारी होगा।

यहां कहा है, ' रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें रखो'। अध्यात्म पक्षमें रथ शरीर ही है, जो बुरे और भलेके बीच सदा रखा रहता है। ' शरीरं रथमेव तु। इंद्रियाणि हयान्याहुः॥ " (कठ उ० ३। ३-४) शरीर रथ है और इंद्रियां घोडे हैं। यहां मन इंद्रियोंका संचालक है। इत्यादि बातें पाठक अब विचार करके जान सकते हैं।

अब अर्जुन दोनों सेनाओंका निरीक्षण करता है, उसमें उन्होंने क्या देखा और उसका परिणाम उसके मनपर कैसा हुआ, यह अब देखिये—

(२६-२८) यहां अर्जुन दोनों सेनाओंमें युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए अपने सब इष्ट-मित्रों, भाईबंधुओं और पूज्य पुरुषोंको देखकर अत्यंत कृपासे खिन्न होता है। अर्जुनके मनमें बडी कृपा, दया अथवा करुणा उत्पन्न हुई है, युद्धका डर उसको नहीं था। वह वीर था और अपने पराक्रम को भी जानता था। इसलिये उसको निश्चय था कि, युद्ध शुरू होनेके पश्चात् इन सबका संहार अवश्य होगा। इनके बचनेकी कोई आशा नहीं है। अपने शौर्य और युद्धकौशल के कारण और भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम योजनाके कारण निःसंदेह हमें विजय होगा, और हमारे जयका अर्थ ही यह है कि, भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य बडे पूज्य पुरुष मारे जांय, उनमेंसे कोई न बचे, सब भाईयोंकी समाप्ति हो जावे। अपने निज शौर्यके कारण शत्रुपक्षके वीरोंके बचनेकी कोई आशा ही नहीं है, ऐसा अर्जुनके मनमें निश्चय हुआ था। इसलिये उसको उनकी दया आगई और उसके मनमें अत्यन्त खेद हुआ और वह दीन होकर कहने लगा—

(८) अर्जुनका खेद ।

शरीरपर परिणाम ।

अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! इमं स्वजनं युयुत्सुं समुपस्थितं दृष्ट्वा, ॥२८॥ मम गात्राणि सीदन्ति, मुखं च परिशुष्यति, मे शरीरे वेपथुः रोमहर्षः च जायते ॥ २९ ॥ हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते, त्वक् च एव परिदह्यते, अवस्थातुं च न शक्नोमि, मे मनः भ्रमति इव ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! ये अपने ही संबंधी जन युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए देखकर ॥ २८ ॥ मेरे अवयव शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखने लगा है, मेरे शरीरमें कँपकँपी होकर, मेरे रोएँ भी खडे होते हैं ॥ २९ ॥ गाण्डीव धनुष्य हाथ से गिरने लगा है, शरीरकी चमडीमें दाह हो रहा है, मेरेसे खडा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥ ३० ॥

भावार्थ— मोह और करुणा बडे वीरको भी दुर्बल बना देती है । मोहसे शरीरका बल घटता है । इसलिये मोहके वशमें नहीं होना चाहिये । ॥ ३० ॥

(२८—३०) युद्ध के लिये संमुख उपस्थित हुए स्वजनोंको देखकर अर्जुन को करुणा आगई और ऐसे युद्धसे कि जिसमें स्वजनोंके वधके सिवाय दूसरा कुछभी नहीं होगा, अर्जुनके अन्तःकरणको बडा खेद हुआ। युद्धका डर तो उसको था ही नहीं। जिसने प्रत्यक्ष भगवान् कैलासपति शंकरसे युद्ध करते डर नहीं खाया था, और जिसने निवातकवच जैसे कपटी आर्योंके शत्रुभूत राक्षसगणोंका पूर्ण नाश किया था, उसको कौरवोंसे लडनेमें डर लगनेकी संभावना ही नहीं थी। ऐसे निडर और प्रबल वीर के मन में अपने सब संबंधियोंके वध का भयानक चित्र खडा हुआ, और वह कहने लगा कि, हाय हाय! हम यह यहां क्या करने लगे हैं ? उसके मनमें दया आगई, करुणासे मन भर गया, स्वजनोंके प्रेमने विचारशक्तिको घेर लिया, और वह प्रबल आर्य वीर इस मोहसे हतबल होगया !!

पाठक यहां धृतराष्ट्रके द्वारा प्रेषित संजय के शान्तिके उपदेशका स्मरण करें। साम्राज्यवादियोंके फैलाये मोह जालसे सरलहृदय आत्मा कैसे सरलमार्गसे दूर भाग जाते हैं यह देखिये। उस संजय के कपटमय उपदेशका परिणाम अर्जुन के मनपर होगया और वह पूर्ण रीतिसे शिथिल और उत्साहरहित होगया। अस्थानमें दया उत्पन्न होना भी बहुत ही बुरा है और धर्मकार्य करते हुए खेद उत्पन्न होना तो उससे भी बहुत बुरा है। साम्राज्यवादी शत्रुओंके कपटी उपदेशके जालसे इस प्रकार स्वराज्यके लिये

प्रयत्न करनेवाला आर्य वीर मोहित हो गया और स्वकर्तव्यसे पीछे हटा।

खेदका शरीरपर परिणाम ।

खेद, मोह, दया, कृपा अथवा करुणासे सबसे प्रथम शरीरकी शक्ति घट जाती है। और बडा शक्तिशाली पुरुष भी अत्यंत निर्बल हो जाता है। इसका उत्तम उदाहरण भ्रमर का देते हैं। भ्रमर सूखी और कठिण लकडीमें भी सुराख करता है, जमीनमें छेद कर डालता है, ऐसा समर्थ भ्रमर जब कमलमें रातके समय बंद होगया, तो वह कमल की कोमल पत्तीको काट नहीं सकता। प्राण जानेका समय भी क्यों न प्राप्त हो जावे, वह कमलको सुराख करके बाहर नहीं निकलता। संसारमें बहुत वीर पुरुष स्त्री और मदिराके मोहके कारण कैसे विवेकभ्रष्ट और हतबल हो गये हैं, इसकी साक्षी इतिहास देरहा है। यही अवस्था अर्जुनकी इस समय होगई है।

खेदके कारण शरीरका रक्त ही बिगड जाता है, शरीर के हरएक अणुकी ओजःशक्ति नष्ट होती है, इसी कारण सब अंग ढीले पडते हैं, मुख सूखता है, क्यों कि लालाग्रंथियोंसे मुखमें लालानामक रसका स्राव होना बंद होजाता है, इसका परिणाम पचनशक्तिके ऊपर भी होता है और यदि यह खिन्नता बहुत दिनतक रही तो पचनशक्ति बिलकुल नष्ट होजाती है। कईयोंकी पुरुषशक्ति अथवा प्रजननशक्ति भी खेदसे नष्ट होनेके उदाहरण हैं। (अर्जुन तो अज्ञातवासमें खेदसेही नपुंसक बना था।) क्यों कि खेदसे सभी अंग शिथिल, निर्बल और निःसत्त्व होजाते हैं। शरीरका बल कम होनेके कारण शरीर कांपने लगता है, रोएं खडे हो जाते हैं, सब शरीरभर एकदम सनसनीसी पैदा होती है, हाथ की पकडनेकी शक्ति नष्ट होती है, पांवकी खडा रहनेकी शक्ति दूर होती है, चमडीमेंसे चिकनाहट दूर होती है, वह खुष्क होती है और पश्चात् अंदरका मल वहां संचित होकर वहां जलन शुरू होने लगती है।

खेदके कारण बाहरसे खाया अन्न पचन होकर शरीरका बल बढाता नहीं; तथा अन्दरके मलोंको बाहर भेजनेकी क्रिया बंद हो जानेके कारण सब मल अन्दरही अन्दर रुधिरमें संचार करने लगते हैं, इस कारण मन चक्कर खाने लगता है और मस्तिष्क विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है। अतः यदि यह खेदकी अवस्था बढगई अथवा कई दिनतक रही, तो मनुष्य मर भी जाता है, पागल बनता है और इहपरलोकके कोई कर्तव्य करनेके लिये असमर्थ हो जाता है, देखिये एक मोहका कितना घातक परिणाम होता है। और यदि इसके साथ काम, लोभ, मद और मत्सर मिल जांयगे, तो उसके नाशकी कोई सीमाही नहीं रहेगी।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने संजयके द्वारा जो कपटी धर्मोपदेशका जाल पांडवोंपर फैलाया था, उस कारण अर्जुनके मनमें केवल मोह और मोहसे खिन्नताही उत्पन्न होगई थी। अन्य दोष उसके मनमें घुसने नहीं पाये थे। यदि पांडवोंके वीर स्वराज्यका प्रयत्न न करते हुए कौरव पक्षकी कुमारिकाओंके प्रेमके वश होजाते, यदि कौरवोंके धनके लोभमें पड जाते, अथवा कौरवोंके राजशासनमें बडी ओहदेदारीके स्थान प्राप्त करनेके लोभमें फंस जाते, उन प्राप्त अधिकारोंके मदसे 'हम बडे होगये' ऐसा मानने लग जाते और उस कारण आपसमें परस्पर विद्वेष करने लगते, तो उनको पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं थी।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंके विचारोंमें परिवर्तन करते हैं, उनमें आत्मविश्वास रहने नहीं देते, उनमें कर्तृत्वशक्ति बढने नहीं देते, उनमें काम उत्पन्न होजाय इसलिये स्त्री प्रयोग भी करते हैं, उनको नाना प्रकारके प्रलोभन देते हैं और स्वराज्यविषयक प्रयत्नसे उनको हटा देते हैं, उनमें वृथा घमंड उत्पन्न करते हैं, उनमें आपसका मत्सर बढा कर उनके अंदर आन्तरिक कलह बढाते हैं। इनमेंसे कुछ प्रयोग कौरवोंने

पाण्डवोंपर किये थे। उनका राज्यशासन का अनुभव न बढे, इसलिये उन्होंने १३ वर्ष राज्यशासनसे उनको बाहर रखा था। इतने समयमें युद्ध काभी अनुभव उनको न आवे और वे स्वराज्यके लिये पूर्ण नालायक, बिलकुल जंगली जैसे बन जांय। यह साम्राज्यवादी कौरवोंकी इच्छा थी। अंतमें संजय द्वारा भ्रम उत्पन्न करनेवाली कुशिक्षा देनेका भी साम्राज्यशाहीने प्रयत्न किया, जिसका फल अर्जुनके इसप्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होनेका प्रत्यक्ष दीखता है। इसी कारण जेता लोगोंसे धर्मोपदेशकी या अन्य प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करना भी जित लोगोंको योग्य नहीं। क्यों कि ये लोग उस कुशिक्षा द्वारा किस प्रकारका विष जित लोगोंके मनमें भर देंगे, इसका भी पता नहीं चलेगा। इसी उपदेश द्वारा पिलाये विषके कारण वीरोंमें अत्यंत प्रबल वीर अर्जुन कैसा निर्बल बन गया है, देखिये।

उसका शरीर तो बिलकुल शिथिल बन गया, यहां तक निर्बल बना कि, वह अपने हाथसे अपना गाण्डीव धनुष्य भी धारण नहीं कर सकता, और अपने पांवसे खडा भी नहीं हो सकता !! फिर लडना तो दूर रहा !! अर्जुन जैसे आर्य वीर संतानने शत्रुसे थोडीसी शिक्षा प्राप्त की, तो उसका क्या बन गया देखिये। वह पहिले सिंह था, तो शत्रुके उपदेशकोंसे शिक्षा लेकर भेड बन गया; वह पहिले लोहा था तो उसका मोम बना। यह है शत्रुके धर्मवचनोंपर विश्वास रखनेका परिणाम ! इसीसे तो अर्जुनका शरीर और मन बिगड गया !

अनुभव का अभाव।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंको राज्यशासनका अनुभव और युद्धका अनुभव ये दो अनुभव लेनेका अवसर नहीं देते। पाण्डवोंको उन्होंने १२ वर्ष जंगलमें इसीलिये रखा था, कि वे जंगलीसे बन जांय और १ वर्ष अज्ञात वासमें इसलिये रखा था कि, इस समय उनके स्वाभाविक अन्तःसामर्थ्यका प्रकाश करनेका थोडा भी अवसर उनको न मिले, और इस समय यदि वे पकडे गये, तो फिर यह १३ वर्षका चक्र घूमना ही चाहिये !! वीरोंको १२ वर्ष जंगलमें और १ वर्ष अज्ञात वासमें रखनेसे वे कितने बदल जाते हैं, इसका परिचय पाठकोंको विराटपर्वके पढनेसे लग सकता है। उस समय तो अर्जुन केवल पूर्ण नपुंसक ही बन गया था !! केवल १२ वर्ष स्वराज्यका अनुभव न होनेसे अर्जुन जैसा महारथी वीर यदि नपुंसक बन जाता है; तो जो लोग उससे वीरतामें कम होंगे उनका क्या बनेगा ? और वे यदि १३ वर्ष से अधिक वर्ष पराधीनतामें रहे, तो उनकी क्या अवस्था होगी, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं।

नपुंसकता।

अर्जुन की स्थिति नपुंसक जैसी बनी थी, यह बात कौरवोंको पता होगी या न होगी; तथापि संजयके कपटी उपदेशने वीर अर्जुनके ही मनमें घर कर लिया था, इसका कारण यही था कि, वह एक वर्षतक विराट नगरीमें नपुंसकही बन गया था, अर्थात् इतना निर्वीर्य बना था कि इसको स्त्रीपरिवारमें रखनेमें किसीको संकोच न हुआ था। कुछ उपायोंसे वह उसका दोष एक सालके पश्चात् दूर हुआ, परंतु नपुंसकके संस्कार रहे, और एक वर्षतक स्त्रियोंकी संगतिमें रहनेके कारण मोह, दया, करुणा, आदि जो गुण स्त्रियोंमें विशेष रहते हैं, वे इसमें बढ गये !! अतः संजयका कपटी उपदेश अर्जुनके मनमें जैसा जमगया, वैसा किसी अन्य पांडव वीरके मनपर नहीं जमा। इससे संस्कारके महत्त्वका पता लग जाता है। इसीलिये साम्राज्यवादी ऐसी नीति करते हैं कि, जित लोगोंके उच्च संस्कार लुप्त हो जांय और उनमें हीन संस्कार दृढमूल हो जांय; जिससे वे कभी न उठ सकें और अपना स्वराज्य कभी वापस न ले सकें।

अर्जुनके शरीर और मनपर तो इतनी शिथिलता छाई गई। इससे वह युद्धके लिये तो पूर्ण रीतिसे निकम्मा बन गया। उसके अंदर ही

खेदका मनपर परिणाम।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे केशव ! निमित्तानि विपरीतानि च पश्यामि। आहवे च स्वजनं हत्वा श्रेयः न अनुपश्यामि ॥३१॥

हे केशव ! अब मुझे सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं। तथा अपने संबंधियोंको युद्धमें मार कर कुछ कल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

केवल उदासीनता छाई थी यह बात नहीं थी, उसकी बुद्धी भी इतनी विवेकभ्रष्ट हुई कि उसको सब जगत् उदास प्रतीत होने लगा। देखिये वह आगे क्या कहता है—

(३१) देखिये, यहां अर्जुन कह रहा है कि 'सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं।' ऐसा मनके बिगडनेसे होता है। मन बिगडनेसे सब जगत्में विपरीत भाव दिखाई देता है। मन बिगडा तो सब जगत् बिगड जाता है। "मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।" अर्जुनका मन हार गया था, इस लिये उसको संपूर्ण जगत्में अशुभ लक्षण दिखाई देने लगे थे। मनमें उत्साह रहा, तो सब जगत्में शुभ लक्षण दीख पडते हैं। यह सब मनका खेल है। इसीलिये युद्धके पूर्व साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने अर्जुनके मनकोही मोहित करनेका प्रयत्न किया था। जिस समय अर्जुन युद्धभूमिमें आया था, उस समय जिस जगत्में उसको एक भी विपरीत लक्षण दिखाई नहीं देता था, उसी जगत्में उसी अर्जुनको अब सब लक्षण उलटे दीखने लगे हैं !! इसका कारण ही यह था कि, जिस समय अर्जुन युद्धभूमिपर आया, उस समय उसके मनमें उत्साह था, और अब वह उत्साह दूर हो चुका है। जगत्में कोई फर्क नहीं हुआ। अपनेमें फर्क होनेसे जगत् बिलकुल अलग मालूम होने लगता है। पाठक यह नियम स्मरणमें रखें कि, मनुष्य जो मनका भाव लेकर जगत्के पास आयगा, ठीक वैसाही उसको जगत् दीखने लगेगा ! कामिलारोग वालेको सब जगत् पीला दिखाई देता है, इसका कारण उसके नेत्रका दोष है; बुखार आनेके समय सब जगत्में सर्दी भरनेका अनुभव आता है, इसका कारण इसके शरीरका दोष; उदास मनुष्यको सब जगत् उदास दीखता है और उत्साही पुरुषको सब जगत् उत्साहपूर्ण होजाता है, इसका कारण उसका मन ही है। बहुत मनुष्य जगत्को दोष देते हैं, अपना नसीब, दैव आदि कहते हैं, परंतु वास्तविक देखा जाय, तो जगत्में कोई दोष या गुण नहीं है, यदि मनुष्य अपनेमें शुभ गुणोंका उत्कर्ष करेगा, तो उसको जगत् शुभ दीखेगा, और यदि इसके अंदर दोष रहे, तो जगत् भी इसके साथ दुष्टता करेगा। इसलिये 'आत्मशुद्धि' का महत्त्व शास्त्रकारोंने कहा है।

अर्जुनके मनपर जो खेदका परिणाम हुआ, उससे उसका मन दोषयुक्त बना और उस दोषके कारण उसको सब जगत्में विपरीत लक्षण दिखाई देने लगे। जबतक उसके मनमें यह दोष नहीं था, तबतक उसका उत्साह बढ रहा था। जगत् एक शीशेके समान है, जो भाव हम लेकर उसके पास जांयगे, वैसाही ठीक प्रतिबिंब उसमें दीखेगा॥ इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, जब उसको चारों ओर विपरीत लक्षण दीखने लग जांयगे, तब वह समझे कि, अपनेमें कुछ दोष हुए हैं; और प्रयत्न करके अपने अंदरके दोष दूर करनेका यत्न करे। अपने अंदरके दोष दूर होतेही उसको जगत्में शुभ लक्षण अवश्यही दिखाई देंगे। अपने सुधारसे जगत्के सुधारका प्रारंभ होता है।

(९) स्वजनोंका मोह।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! विजयं न काङ्क्षे, राज्यं सुखानि च न (कांक्षे)। हे गोविन्द ! नः राज्येन किम् ? भोगैः जीवितेन वा किम् ? ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है, न मुझे राज्य चाहिये और न मैं सुख चाहता हूं। हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या करना है ? भोगोंसे भी क्या और हमारे जीवित रहनेसे भी क्या लाभ होगा ? ॥ ३२ ॥

अर्जुन दूसरी बात कहता है, कि 'स्वजनोंका वध करके कुछ कल्याण होगा, ऐसा नहीं दिखाई देता है'। स्वजनोंका वध करके क्या लाभ होगा ? यहां शत्रुको अर्जुन 'स्वजन' कह रहा है। रक्तके नातेसे स्वजन और परजन देखे नहीं जाते। स्वजनोंका नाम "आप्त पुरुष" है। और आप्त पुरुष वे होते हैं कि, जो कभी अत्याचार नहीं करते, कभी अधर्मकी बात नहीं करते, कभी असत्य नहीं बोलते। आप्तोंका तो यह लक्षण है। आप्त पुरुषका संमान शास्त्रकारोंने इतना किया है कि, जिसके लिये कोई मर्यादाही नहीं है। जिन्होंने पाण्डवोंका स्वराज्य कपटसे छीन लिया, उनको देशसे बाहर कर दिया, हर प्रकारसे उनको कष्ट दिये, बेइज्जत की, और अन्तमें जो अपना वचन तोडनेको भी तैयार हुए, वे किस प्रकार 'स्वजन' हो सकते हैं ?

बडा उत्तरदायित्व।

यहां अर्जुनपर केवल अपना छीना हुआ स्वराज्य वापस लेनेकी ही जिम्मेवारी नहीं थी, इससे बढकर एक बडा उत्तरदातृत्व अर्जुनपर था, वह यह है कि, 'जगत्‌में अन्याय करनेवालोंके संघको तोडना, और सर्वत्र धर्मका राज्य होनेके लिये अनुकूल वायुमंडल तैयार करना।' भगवान् मनमोहन श्रीकृष्ण इस कार्यके लिये कटिबद्ध थे और अर्जुनको उन्होंने इस कार्यका भार उठानेके लिये अपने पास किया था। अर्थात् अर्जुनके स्वार्थके साथ यह महान परोपकार होनेवाला था। इसी कारण सच्चे स्वजन कौन हैं और सच्चे शत्रु कौन हैं, इस विषयमें अर्जुनको मोह होना इष्ट नहीं था। परंतु जो होना नहीं चाहिये, वही समयपर बन जाता है! और एकवार बुद्धि गिरने लगी, तो उसकी गिरावट भी सीमातक पंहुच जाती है। इसी प्रकार एक वार अर्जुन परमेश्वरके जगद्व्यापक धर्मकार्यका भागी होनेके संमाननीय महत्-स्थानसे जो फिसल गया, वह परिवारके मोहके कीचडमें पडा !! पारिवारिक मोहके संकुचित वायुमंडलसेही वह अब बोलरहा है, अब देखिये कि इस संकुचित विचार के प्रवाह में पडनेसे उसका मत कैसा बन गया है—

(३२ – ३४) अर्जुन परिवार के मोहके कारण राष्ट्रीय कार्य करनेसे पीछे हटता है ! वास्तविक देखा जाय तो "राष्ट्रकार्य के लिये पारिवारिक सुख को त्यागना चाहिये;" परंतु यह भारतका नेता उलटी बातें बोल रहा है !! यह यहां तक भूला है कि 'मुझे विजय नहीं चाहिये' (विजयं न कांक्षे) ऐसा स्वयं कहता है !! वस्तुतः यह स्वयं ही 'विजय' है, इसलिये 'मैं विजय नहीं चाहता, इसका अर्थ 'मैं अपने आपकोभी नहीं चाहता' यही होता है। परंतु इसका अर्थ क्या ? मैं अपने आपको नहीं चाहता' यह तो मूर्खका बोलना है, थोडासा ज्ञान रखनेवाला मनुष्य ऐसा आत्मघातका भाषण बोलही नहीं

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वय- येषां अर्थे नः राज्यं कांक्षितम्, भोगाः (कांक्षिताः), सुखानि च (कांक्षितानि); ते इमे आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा एव च पितामहाः, मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, तथा संबन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा, युद्धे अवस्थिताः ! ॥ ३३-३४ ॥

जिनके लिये हमने राज्यकी और भोगों तथा सुखोंकी इच्छा करनी थी, वेही ये आचार्य, बडे बूढे, पुत्र, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और संबंधी अपने प्राण और धन की आशा छोडकर युद्धके लिये खडे हुए हैं ॥ ३३-३४ ॥

सकता। परंतु अर्जुनके मनपर जिन आत्मघातकी विचारोंका प्रभाव जमगया था, उनका प्रभाव वहां स्थिर रहने तक, वह दूसरे विचार बोलही नहीं सकता !! शत्रुकी कपटी शिक्षाका स्वीकार करनेपर ऐसा ही विपरीत विचारों का प्रवाह शुरू होता है; इसीलिये सूज्ञ लोग कहते हैं कि, अपनी सभ्यता की शिक्षा ही प्राप्त करनी चाहिये, और शत्रुके विचारोंकेनीचे अपने मनोंको दबाना नहीं चाहिये।

जन्मका उद्देश्य.

प्रत्येक मनुष्य जन्मा है, वह अपना विजय प्राप्त करनेके लिये ही जन्मा है। हरएक मनुष्य चार पुरुषार्थ सिद्ध करनेके लिये जगत् में आगया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अर्थात् कर्तव्य पालन करना, धन कमाना, धर्मानुकूल भोग भोगना और बंधनसे मुक्त होना, ये चार पुरुषार्थ मनुष्यको करने चाहिये। कर्तव्य करना पहिला काम है और मोक्ष अर्थात् अपना स्वातंत्र्य प्राप्त करना अन्तिमसाध्य है। मानवका जन्म इसी लिये है। स्वातंत्र्य प्राप्त करना श्रेष्ठ विजय कमाना ही है। इसलिये किसी को अधिकार ही नहीं कि, वह कहे कि, ' मैं विजय नहीं चाहता।' ऐसा कहना चतुर्विध पुरुषार्थ के सर्वथा विरुद्ध है। अर्जुन यहां यह धर्मविरुद्ध बात कह रहा है। यही उसका मोह अर्थात् अज्ञान है।

अज्ञानवश होकर अर्जुन और कह रहा है कि, 'मुझे सुख भी नहीं चाहिये और राज्य भी नहीं चाहिये।' पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंमेंसे 'विजय नहीं चाहिये' कह कर इसने कहा कि मुझे मोक्ष, स्वतंत्रता अथवा बंधननिवृत्ति नहीं चाहिये, मैं बंधनमें ही रहूंगा, अर्थात् जिस कार्यके करनेके लिये यह जन्मा है, वही कार्य करना इसको पसंद नहीं है!! अब यह कह रहा है, कि मुझे सुख भी नहीं चाहिये और स्वराज्य भी नहीं चाहिये!! येही 'अर्थ और काम' ये दो पुरुषार्थ हैं, येभी इसको नहीं चाहिये !! 'अर्थ, काम और मोक्ष' ये तीनों पुरुषार्थ नहीं चाहिये, ऐसा कहते ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि, 'इसने जन्म किस कार्यके लिये लिया है ?' जिसको ये चार पुरुषार्थ करना अभीष्ट नहीं, क्या वह जीवित रहनेका अधिकारी भी है ? अर्जुनने जब कहा कि ' मुझे सुख, भोग, स्वराज्य और विजय नहीं चहिये,' उसी समय उसके ही मनमें यह बात आगई कि, 'मैं अब जीवित रहकर भी क्या करूं' क्यों कि किस

उद्देश्यसे जीवित रहना है? यह बात उसके ध्यानमें आकर वही स्वयं कहता है कि, 'भला मेरे जीवित रहनेसे भी अब क्या लाभ है!' अर्थात् जिस रीतिकी खेदमयी विचारपरंपरा उसके मनमें शुरू होगई थी, उस विचारपरंपराके अन्तमें उसको मृत्यु शीघ्र स्वीकारना ही योग्य हुआ !! खेदमय विचारकी परंपरा कितनी घातक है, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। अतः कोई मनुष्य खेदमय विचारोंको अपने पास आने न दें, और सदा उत्साहमय पुरुषार्थी विचार अपने मनमें स्थिर करें।

संबंधियोंका मोह।

अर्जुन अपने संबंधियोंके लोभमें फंस गया है। वह कहता है कि आचार्य दादा, मामा, पिता, भाई, साले, ससुर, नाती, पुत्र आदिकोंके लिये सुख देनेके उद्देश्यसे ही भोगके साधन इकट्ठे किये जाते हैं। परंतु इस युद्धमें तो वेही अपने प्राण और धनकी पर्वा छोडकर यहां उपस्थित होगये हैं। यदि इनको मारा, तो उनकी मृत्युके पश्चात् इस युद्धसे प्राप्त किये हुए भोग किसको देने हैं? जिनके लिये सुख देना है वेही यहां मारे जाते हैं, फिर सुखप्राप्तिका प्रयत्न किस के लिये करना है? ये मेरे संबंधी हैं, इस लिये मुझे उचित नहीं कि, मैं इनका वध करूं। यदि तुम कहोगे कि मैं इन संबंधियोंका वध करूं तो इनके साथ मैं अपने सहोदर भाइयोंको भी क्यों न मारूं? ये भी भाई हैं और वेभी भाई हैं। अर्जुन कहता है—

'हे कृष्ण! तुम्हें 'गो-विन्द' कहते हैं, क्यों कि तुम 'गो' नाम इंद्रियोंको 'विन्द' अर्थात् स्वाधीन रखते हैं। अतः तुम्हारे जैसा इंद्रियवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला ज्ञानी ऐसे आप्तजनोंके वध करनेके अनर्थकारक कार्यमें मुझे किस प्रकार प्रवृत्त कर रहा है, क्या यही तुम्हारा इंद्रियसंयम है? और इसी प्रकार तुम मुझे संयम सिखाओगे? क्या मैं अपने सुखके लिये आचार्यों और अपने सब आप्तोंका वध करूं? और उनका वध करनेके बाद स्वयं सुख भोगूं?'

कुटुंब और राष्ट्र।

यहां अर्जुन अपने संबंधियोंको सुख देनेके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न कर रहा है। जनतामें शुद्ध और उच्च नीतिधर्मकी स्थापनाका कार्य एक ओर और दूसरी ओर स्वजनोंका सुख होता है। यहां अर्जुन जनताके उद्धारके कार्यकी अपेक्षा अपने पारिवारिक कुटुंबियोंके सुखको अधिक मान रहा है। कौरव साम्राज्यके शासनाधिकार पर किसी न किसी प्रकार आरूढ हो गये थे। अर्थात् श्रेष्ठ पदपर थे। जो मनुष्य श्रेष्ठ पदपर रहता है, उसपर एक उत्तरदायित्व रहता है कि वह किसी प्रकार भी ऐसा बुरा आचरण कदापि न करे, कि जो जनताके लिये बुरा आदर्श हो जावे। "श्रेष्ठपदपर स्थित मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य मनुष्य आचरण करते हैं। (भ० गीता ३। २१)" इसलिये श्रेष्ठ मनुष्य पर अन्य साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शरूप बननेका भार सदा रहता है। क्या यह उत्तरदायित्व कौरवोंने पालन किया था? बिलकुल नहीं। साम्राज्य बढानेके लिये इन्होंने कईयोंको जहर तो पिलाया, कईयोंको अग्निसे जला दिया, कइयोंकी भूमि हरण की, कईयोंके राज्य कपटसे हरण किये, कईयोंका शस्त्रोंसे वध किया, कई स्त्रियोंकी बेइज्जती की, सदा सर्वदा असत्य वचन कहते रहे, अपना दिया हुआ एक भी वचन इन्होंने पालन नहीं किया, नाना प्रकारसे आशाएं दिखलाते रहे; परंतु एककी भी पूर्तता नहीं की, अन्तिम शान्तिसभामें तो इन्होंने स्पष्ट कहा कि, युद्धके विना एक सुईके अग्रपर रहनेवाली मिट्टी भी नहीं दी जायगी। क्या येही आदर्श हैं कि जिनपर जनता चले? और यदि सम्राट् और उसके मंत्रिगण ऐसी कुनीतिसे चलने लगे, तो संपूर्ण जनताकी स्थिति कैसी होगी? इसलिये कुनीतिसे चलनेवाले इन धृतराष्ट्रपुत्र कौरवोंको साम्राज्य पदपरसे उतारना और उनके स्थानपर धर्ममर्यादासे चलनेवाले लोकसंमत राजपुरुषोंको

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वय— हे मधुसूदन ! (मां) घ्नतः अपि एतान्, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि, हन्तुं न इच्छामि, किं नु महीकृते ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् ? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत् ॥ ३६ ॥ तस्मात् स्वबांधवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः । हे माधव ! हि स्वजनं हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम ? ॥ ३७ ॥

हे मधुसूदन ! यद्यपि ये मुझे मारने लग जांय, तो भी इनको, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी, मारनेकी इच्छा मैं नहीं करता; फिर तो भला पृथ्वीके राज्यके लिये इन्हें क्या मारना है ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार कर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इस कारण अपने भाई इन कौरवोंको मारना हमें उचित नहीं है । हे माधव ! अपने ही संबंधि जनोंको मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३७ ॥

(३५ - ३७) अर्जुन अपने स्वजनोंके मोहसे दीन होकर कहता है कि– " यद्यपि ये लोग मुझे मारने लगे तो भी मैं इनको नहीं मारूंगा । इनको मारनेसे निश्चयपूर्वक स्वर्गलोक, भूलोक और पाताललोकका राज्य प्राप्त होनेकी संभावना होने पर भी मैं इनको मारनेका विचार नहीं करूंगा । फिर केवल भूलोक के राज्यके लिये इनका वध नहीं करूंगा, यह क्या दुबारा कहना चाहिये ? ये कौरव अपने भाई हैं, इसलिये इनका वध करनेके पश्चात् हमें कदापि सुख प्राप्त नहीं होगा । ये आततायी हैं, यह सत्य है; तथापि इनके वधसे हमें पापही लगेगा । क्योंकि अपने संबंधियोंका वध करनेसे भला कौन कैसा सुखी हो सकता है ? "

को स्थापित करना उस समयके राष्ट्रीय नेताओंका महान राष्ट्रीय कार्य हुआ । इसलिये उस समयके लोगोंका धर्म हुआ था कि यह राष्ट्रकार्य करें और धर्मकी मर्यादा पुनः स्थापित करें । यदि कोई मनुष्य यह राष्ट्रकार्य न करते हुए अपने परिवार के अर्थात् अपने स्त्री, पुत्र, भाई, माता, पिता, दादा, आदिकों को सुख देनेके कार्यमेंही अपने आपको समर्पित करेगा, तो वह उसके लिये अधर्म होगा । विशेष उन्नत हुए और कार्याकार्य का विचार करनेवाले लोगोंको उचित है कि वे परिवारके मोहसे राष्ट्रकार्यमें विघ्न उत्पन्न न करें । अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंके सुखको अधिक मानकर राष्ट्रकार्यसे विमुख हुआ था । यही उस का अधर्म हुआ । इसी प्रवृत्तिसे वह आगे क्या कहता है देखिये—

आततायीका वध ।

आततायी का वध करनेके विषयमें शास्त्रकी

आज्ञा स्पष्ट है। स्मृतिग्रंथोंमें कहा है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैतान्षड् विद्यादाततायिनः॥
शुक्रनीति

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्॥
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥
भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥
मनु० ८।३५०-३५३

"अग्निसे जलानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रसे मारनेवाला, भूमि, स्त्री और धन छीननेवाला, शाप देनेवाला, अथर्वमंत्रोंसे मारक प्रयोग करने वाला, राजासे चुगली करनेवाला, स्त्रीका धन छीननेवाला, दूसरेका छिद्र ढूंढनेमें तत्पर, इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें। आततायी गुरु, बालक, वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण इनमेंसे कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उसको विना विचारे ही मारना चाहिये। लोगोंको सामने वा एकान्तमें मारनेको तैयार हुए आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता, क्यों कि इसका क्रोध उसके क्रोध से हट जाता है।"

आततायीका वध तत्काल करना चाहिये, ऐसी स्मृति शास्त्रकी आज्ञा है। तथापि अर्जुन कह रहा है कि, आततायी का वध करनेसे हमें पाप लगेगा !! साम्राज्यगद्दीपर आरूढ हुए कौरव सबके सब आततायी हैं, इस विषयमें अर्जुनको कोई संदेह नहीं था। वह स्वयं उनको 'आततायी' कहता है। आततायीका वध शास्त्रसे दूषित नहीं है, यह बात भी वह जानता था। परंतु आततायी हुए तो भी ये अपने संबंधी हैं, अतः रक्तका संबंध होनेसे इनका वध हमको नहीं करना चाहिये; अपने संबंधी लोग कितनी भी दुष्टता करते रहे, उनको दण्ड देना नहीं चाहिये, ऐसा अर्जुनका मत इस समय बन गया था !!

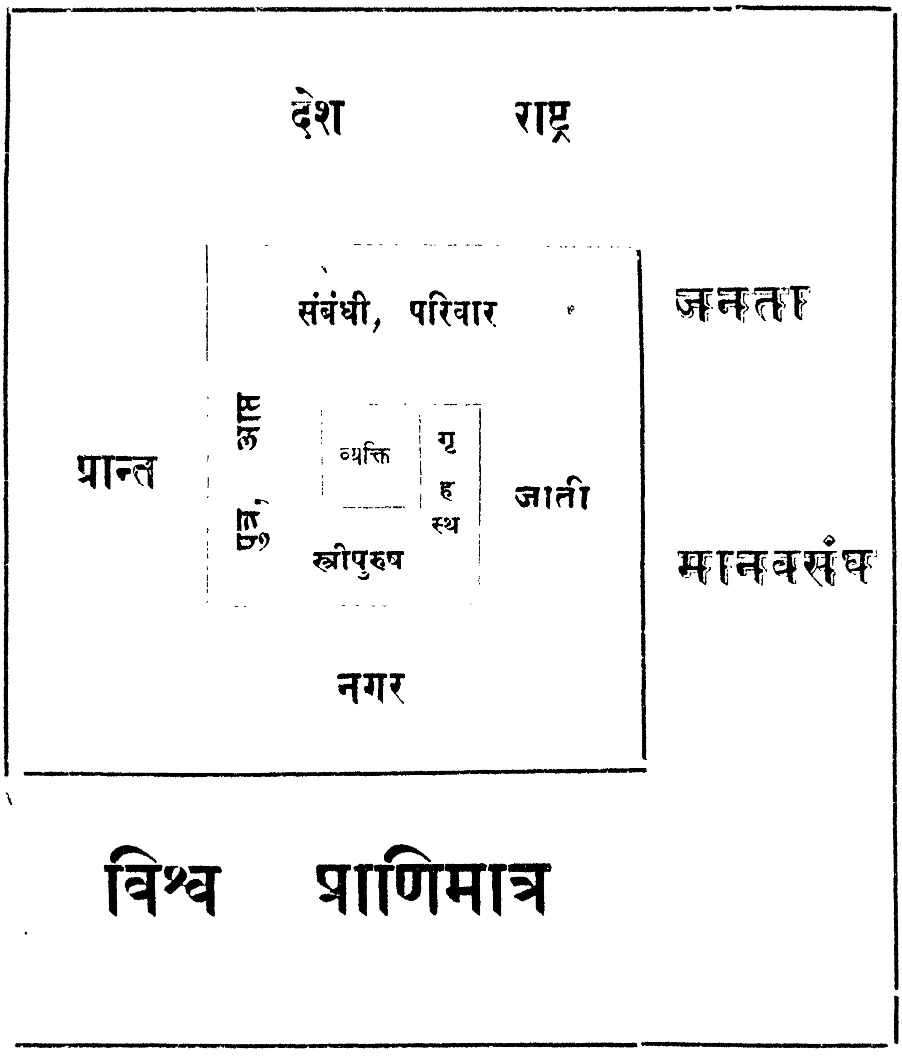
यदि अपने संबंधी कौरव न होते और उस समय साम्राज्यशासक कोई दूसरे विदेशी लोग होते, तो अर्जुन इस प्रकार न बोलता। उदाहरणार्थ मानलें कि हस्तिनापुर में इस समय किसी विदेशी असुर जातीका राज्य होता, तो अर्जुन उनसे युद्ध करता, और उनका नाश करता और उनसे अपना स्वराज्य प्राप्त करता।

परंतु कौरव हुए अपने कुलके, देशके और रक्तके संबंधी इसलिये वह कहता है कि, 'निवातकवच जैसे विदेशी बादशहाओंका तो मैं वध करूंगा, परंतु अपने संबंधियोंका वध कैसा किया जासकता है?' स्वदेशी और विदेशी राजाका अपराध समान ही क्यों न हो, अपने राजाका पक्षपात करना चाहिये, ऐसा इस समय अर्जुनका मत बन गया है। युद्ध तो परकीयोंसे ही करना चाहिये, स्वकीयोंसे युद्ध कैसा किया जाये!

वास्तवमें देखा जाय तो यदि विदेशी राजा प्रजाजनोंको सताने लगा, तो जैसा उसका प्रतिकार करना चाहिये; उसी प्रकार अपने देशका, अपनी जातिका, अपने कुलका अथवा अपना मित्र भी क्यों न हो, अथवा अपने रक्तका संबंध रखनेवाला भी राजा प्रजाजनोंको सताने लग जाय, तो उसका भी योग्य रीतिसे प्रतिकार करना चाहिये। पुत्रको विष देकर मारनेवाली माता भी आततायिनी होती है। इसी प्रकार अपने देशका स्वजातीय राजा भी क्रूर हुआ और प्रजाको सताने लगा, तो भी उसको वैसा ही दण्ड करना चाहिये, जैसा विदेशी राजाको दिया जाता है।

स्वजन होनेसे उनकी क्षमा करनेका जो विचार अर्जुन कर रहा है वही उसकी भ्रान्ति है, वही मोह, वही अविद्या और वही अज्ञान है।

मनुष्य क्रमशः उन्नत होता है और जैसा वह ऊपर चढता है वैसा हरएक सीढीपर उसका कर्तव्य भिन्न भिन्न होता है। ज्ञान, शौर्य तथा बल बढ जानेसे उसपर विशेष प्रकारसे उत्तरदायित्व आता है, अतः अपने अन्दर गुणोंका विकास होनेपर उसको इस प्रकार पक्षपात करना कदापि उचित नहीं। मनुष्यकी क्रम उन्नति किस प्रकार होती है और उस कारण उनके कर्तव्य कैसे बढ जाते हैं, यह बात आगे बताये चित्रमें पाठक देख सकते हैं—



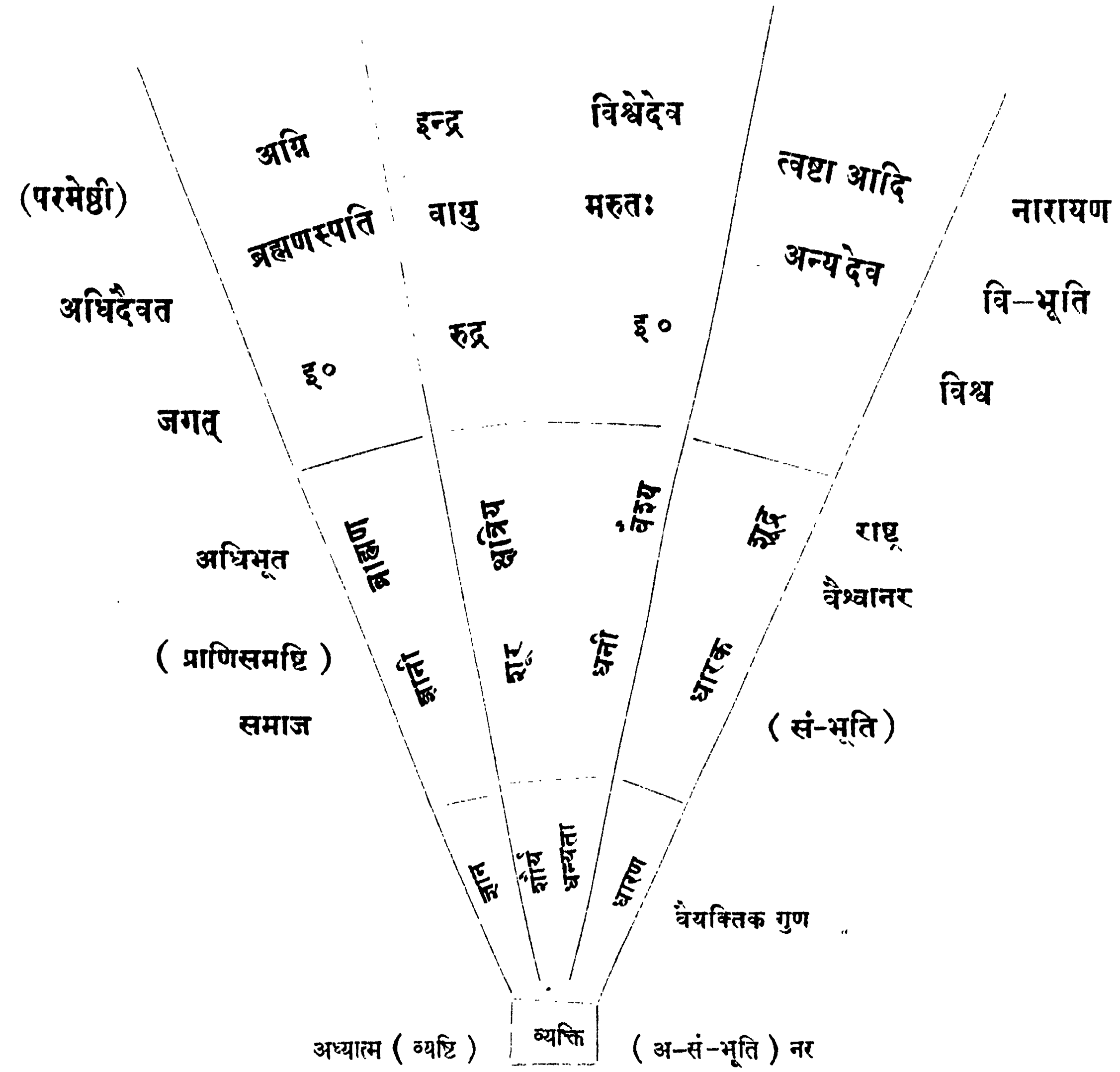
क्रम उन्नतिके साथ कार्यक्षेत्रका विस्तार बतानेवाला चित्र।

इस चित्रमें पाठक देख सकते हैं कि, व्यक्तिका सामर्थ्य बढनेके अनुसार उसके अधिकार और उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार हो जाता है। यदि राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें कार्य करनेका अधिकारी वीर लोभ या मोहके वशमें होकर अपने गृहस्थके या अपने परिवारके मोहमें फंस जाय और पारिवारिक सुखके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न करे अथवा कुटुंबपोषणके मोहसे राष्ट्रकार्य न करे, तो वह पापी बनेगा और गिर जायगा। अर्जुनकी यही अवस्था हो चुकी थी। मनुष्य अकेला और विल-

कुल स्वतंत्र नहीं है, सब जगत्के साथ उसका सुदृढ संबंध है, अतः उसको उचित है कि वह अपनी व्यक्तिका विचार समष्टिके विचारके साथ करे और समष्टिके कार्यके लिये व्यक्तिका समर्पण अवश्य करे।

पूर्व चित्रका विचार पाठक इस प्रकार करें। मनुष्य जिस क्रमसे उन्नत होगा उस क्रमसे उसपर समर्पण का भार अधिक आता है। जो व्यक्ति केवल शरीरधर्मसे जीवित रहती है वह पशुवत् है, कई पशुभी संघसे रहते हैं और संघके लिये मरते हैं। जन्मतः मनुष्य पशुसे उच्च होनेके हेतु उसको संघटित रहनाही चाहिये, अन्यथा उसकी अधोगति होगी। कुटुंब स्थितिमें मनुष्य अपने कुटुंबियोंके हितके लिये आत्मसमर्पण करता है। इससे उच्च होनेपर वह राष्ट्रकार्यके लिये आत्मसमर्पण करता है इससे भी उच्च होकर वह मनुष्य संपूर्ण जनसमाजके लिये आत्मसमर्पण करता है। अर्थात् उसका आत्मसमर्पणका पाठ कुटुंब

[ब्रह्माण्ड और व्यक्ति का संबंध बतानेवाला चित्र]



स्थितिमें प्रारंभ होता है। यही पाठ आगे विस्तृत करना होता है। जिसका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है यदि वह अपने कार्यक्षेत्रको संकुचित करने लगजाय तो वह पापी बनता है और गिर जाता है।

जिस मनुष्यने गृहस्थस्थितिका स्वीकार किया है वह यदि स्त्री पुत्रादिकोंके भरणपोषणका भार त्याग दे और उनकी पर्वाह न करे, तो वह पापी बनता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर राष्ट्रके हितका भार है, अन्योंपर भी है, परंतु इनके पास ज्ञान, बल और धन अधिक होनेके कारण अन्योंकी अपेक्षा इनपर भार अधिक है। अर्जुन क्षत्रियवीर था, इसलिये धर्मकी व्यवस्था मर्यादाके अनुकूल रखनेका भार इसपर विशेष था। साम्राज्यवादी कौरव धर्ममर्यादाको तोड रहे थे और अपने स्वार्थके लिये धर्मका नाश करनेको तैयार थे। इस लिये उनको दण्ड देना अर्जुन जैसे वीरोंका आवश्यक कर्तव्य था। परंतु छोटेपरिवारके मोहमें फंस कर वह अपने विस्तृत कर्तव्यसे भ्रष्ट होने लगा है। यही इसका पाप है।

इस जगत्में कोई व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। सब एक दूसरेसे मिले हैं, संपूर्ण जगत्के स्थिर चर पदार्थ मिलकर संघटित होकर बना हुआ एक महापुरुष है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड मिलकर एकही विराट देह है और उसका एक अंश मैं हूं ऐसा मानकर मनुष्यको व्यवहार करना चाहिये।

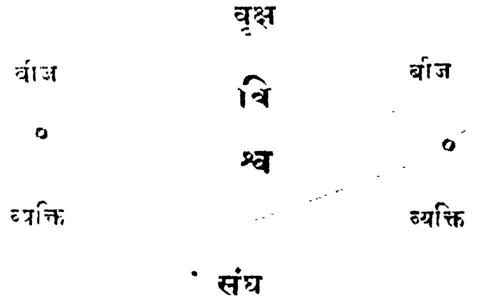
यह व्यष्टिसमष्टिका संबंध बतानेवाला चित्र पूर्व पृष्ठपर देखिये—

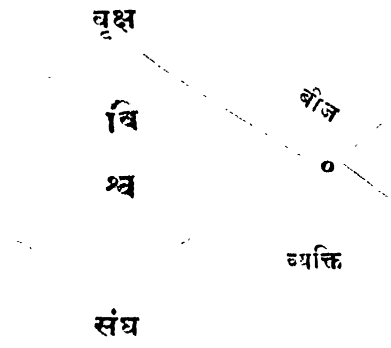
इस चित्रको देखनेसे पाठकोंको पता लगजायगा कि कोई व्यक्ति बिलकुल स्वतंत्र नहीं है। विश्वका एक अंश व्यक्ति है। अतः व्यक्तिको उचित है कि वह अपनी शक्ति बढावे और उसका उपयोग संपूर्ण की भलाईके लिये करे।

विश्वका संकोच होकर व्यक्तिका रूप बना है, और व्यक्तिका परम विकास ही इसका जगत् रूप बनना है। इसविषयके उपनिषदोंके प्रमाण देखिये—

> नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां
> प्राणः प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्ये-
> तामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः॥३०॥
> ऐ० उ० १।४

"नासिका उत्पन्न हुई, उससे प्राण बना और प्राणसे वायु हुआ। आंख बने, आंखोंसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य बन गया।" इसी प्रकार अन्य शक्तियोंसे विश्वकी अन्य शक्तियां बनी। अर्थात् व्यक्तिकी शक्तियोंका परम विकास यह सब विश्व है। इसी प्रकार सब विश्वका बीज एक व्यक्ति है, देखिये—





इस विषयमें प्रमाण देखिये—

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदा—
दित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् ।इ०।
ऐ० उ० २।४

"वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षु बनकर आंखमें प्रविष्ट हुआ।" इसी रीतिसे अन्य विश्वशक्तियोंसे वैयक्तिक सूक्ष्म शक्तियां बनीं। व्यक्ति एक सूक्ष्म बिंदु है और विश्वरूप उसके परमविकासकी अवस्था है,इसका चित्र पूर्व पृष्ठपर दिया है—

इसका ठीक विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि विश्वमें व्यक्ति और व्यक्तिमें विश्व है। एक दूसरेसे पृथक् नहीं है। विश्वका बडापन व्यक्तिमें सूक्ष्म बनकर रहा है और व्यक्तिका सूक्ष्मपन विश्वके बडेपनमें परिणत होता है। बीजका वृक्ष और वृक्षका बीज होनेके अथवा वीर्यबिंदुका पुरुष और उससे फिर वीर्यबिंदु होनेके समानही यह बात है। यही बात इस प्रकार कही है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
तथा—　　　भ० गी० ६। २९

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतस्थमात्मानम्० ॥ ईश उ० ६ ॥

'जो सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।' वही तत्त्वतः विश्वको जानता है। जब यह दृष्टि उत्पन्न होगी तब उसमें कुटुंबका मोह या परिवारका लोभ कहां रहेगा? वह तो समझेगा, कि व्यक्तिके दोषसे संपूर्ण समाज दूषित हो रहा है, इसलिये दोष करनेवालेको उस स्थानसे हटाना चाहिये और यदि दोष करनेवाला एक संघ होगा, तो उसको भी हटाना चाहिये। फिर वह दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ अपने स्वजन हों या परकीय हों। स्वजन होनेपर भी हटाना चाहिये और परकीय होनेपरभी हटाना ही चाहिये। जिस प्रकार व्यक्तिके शरीरमें सदोष अवयवको काट कर दूर करना पडता है, न काटा जाय तो सब शरीर विषमय हो जाता है, ठीक इस प्रकार दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ संपूर्ण मानवी जनताको बिगाड देनेके कारण दण्ड देकर दूर करने योग्य है। आततायी है परंतु वे अपने हैं इसलिये क्षमा करना सर्वथा अयोग्य है। क्यों कि ये स्वजन भी संपूर्ण ब्रह्माण्ड देहके भाग हैं और यदि यह अवयव सडने लगा, तो उससे सब विश्वकी शान्ति बिगड जायगी। अतः कहा है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।

"कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको, ग्रामके हितके लिये एक कुलको, राष्ट्रके हितके लिये एक ग्रामको त्यागना चाहिये।" इसी प्रकार राष्ट्रके हितके लिये साम्राज्यका कुशासन करनेवाले कौरवोंको हटाना चाहिये। क्योंकि इन साम्राज्यवादियोंको कुनीतिसे संपूर्ण विश्वमें अशान्ति फैल रही है।

विश्वरूप।

जिस समय भगवद्गीताके उपदेशका प्रसंग था, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण 'विश्वरूप' थे और अर्जुन 'व्यक्तिरूप अथवा अपने परिवाररूप' था। परिवाररूप होनेसे अर्जुनके मनमें मोह हुआ जिस मोहका निराकरण विश्वरूप बने भगवान् श्रीकृष्णने किया। कई मनुष्य व्यक्तिरूप होते हैं, कई परिवाररूप, कई जातिरूप या राष्ट्ररूप, कई मानवसमाजरूप, कई प्राणिसमष्टिरूप और कई विश्वरूप होते हैं। इनके विचार, उच्चार और आचार विभिन्न होते हैं। जो व्यक्तिरूप हैं वे वैयक्तिक विचार करेंगे तो कोई दोष नहीं है; परंतु यदि राष्ट्ररूप बना हुआ मनुष्य पारिवारिक मोहमें फंस जाय, तो वह गिरता है। अर्जुन राष्ट्रूप होनेकी अवस्थामें था, अतः पारिवारिक बननेसे उसको मोह हुआ, ऐसा कहा जाता है। यदि वह मानवसमाजरूप बननेका यत्न करता तो उसका मोह दूर हो जाता और वह ज्ञानी कहलाता।

जो मनुष्य 'परिवाररूप' होता है वह परिवार के मनुष्यके दुःखसे दुखी होता है, उसका दुःख दूर करनेके लिये यत्न करता है और उस कार्यके लिये स्वयं कष्ट भी भोगता है। इसी कारण यहां अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंको बचानेके लिये स्वयं राज्य त्याग कर भिक्षावृत्ति स्वीकारनेको तैयार हुआ था। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जैसा परमश्रेष्ठ आत्मा 'विश्वरूप' बननेके कारण विश्वकी स्थितिमें बिगाड करनेवालोंकी कभी उपेक्षा कर नहीं सकता, विश्वमें धर्मकी स्थिति सुरक्षित रखनेके लिये कटिबद्ध रहता है और उस कार्यको करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता है। इसकी दृष्टि विश्वरूप होनेके कारण अर्थात् अति विस्तृत होनेके कारण कर्तव्य करनेके समय इसको शोक और मोह कष्ट नहीं देते और यह कभी कर्तव्यभ्रष्ट भी नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीताका संवाद उन दो आत्माओंमें हुआ है कि जिनमेंसे एकका अन्तःकरण पारिवारिक ममतामें मोहित हुआ है और दूसरेका आत्मा विश्वरूप स्थितिमें है।

अर्जुन अपने परिवारको राष्ट्रीय परिवारसे और जगत्के महापरिवारसे अलग समझने लगा, और राष्ट्रका और जगत्का कैसा भी अहित क्यों न हो जाय, मैं अपने परिवारको ही सुखी रखूंगा, मुझे सार्वभौमिक दृष्टिसे विचार करने की कोई जरूरत नहीं है, ऐसा बोलने लगा !! यही उसका बडा दोष इस समय होगया। ये 'स्वजन' हैं इसलिये ये 'आततायी' हैं, तथापि इनको सुरक्षित और सुखी रखना मेरा कर्तव्य है, यह अर्जुनका कथन स्पष्ट बताता है कि, उसकी दृष्टि अत्यंत संकुचित होगई थी। दृष्टिका संकोच होनेसे ही पाप होता है और उस समय यही पाप अर्जुनसे होने लगा था।

यहां अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको 'मधुसूदन, कहा है, इसका अर्थ 'मधु दैत्यको मारनेवाला' है। मधु दैत्य भगवान् श्रीकृष्णका स्वजन, संबंधी, स्वजातीय या स्वदेशीय भी नहीं था। यह विदेशी असुर था। यह कहकर अर्जुनने श्रीकृष्ण को बताया कि 'हे कृष्ण ! तुमने जो मधुदैत्यको मारा, वह कोई तुम्हारा स्वजन नहीं था। वैसा तो मैंने विदेशी शत्रु निवातकवचोंको भी मारा है।'

'कौरवोंका वध करनेकी बात इससे नहीं सिद्ध हो सकती, क्यों कि वे मेरे आप्त हैं। हे भगवन् ! यदि तुम कहोगे कि तुमने अपने मामा कंसको मारा है, वह भी उदाहरण मेरे योग्य नहीं है, क्यों कि एक तो भीष्मद्रोणके समान कंस का प्रेम तुमपर कभी नहीं था और दूसरी बात यह है कि तुम तो 'जनार्दन' (जन+अर्दन) हो अर्थात् सभी जनोंको मारना तुम्हारा धर्म है, उसमें तुम किसीको रखना और किसीको मारना ऐसा विचार ही नहीं करते हैं। जो सभीको मारनेवाले हैं, उन्होंने अपने मामाको मार दिया, तो उसमें विशेष क्या किया ? इसलिये तुम्हारा उदाहरण मेरे लिये लेने योग्य नहीं है। तीसरी बात यह है कि तुम 'माधव' (मा+धव) हो अर्थात् केवल लक्ष्मी अपने पास रखनेकी तुम्हारी इच्छा रहती है। जो लक्ष्मी-धनसंपत्ति-को अपने पास रखनेका इच्छुक होगा, वह मामाको या किसी संबंधीको मार देगा !! ऐश्वर्य या राज्यके लिये अपने पिताको भी लोग मार देते हैं। परंतु मैं वैसा नहीं हूं। मैंने तो इसी कारण त्रैलोक्यका भी राज्य मुझे नहीं चाहिये ऐसा तुम्हें स्पष्ट कहा है, क्यों कि यह लक्ष्मीका मोहही मनुष्यसे स्वजनवध जैसे घोर कर्म कराता है। अतः मैं कहता हूं कि मुझे राज्य, भोग या सुख भी नहीं चाहिये, और अपने सुखके लिये मैं इन आततायी कौरवोंको भी कभी नहीं मारूंगा।'

इस प्रकार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको भी कुछ अंशमें चुभनेवाला भाषण किया और फिर कहने लगा—

(१०) कुलक्षय और मित्रद्रोह।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वय- यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकं, न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥ हे जनार्दन! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

यद्यपि ये कौरव, लोभसे भ्रष्टचित्त होनेके कारण, कुलके क्षय करनेसे होने-वाला दोष, और मित्रद्रोहका पातक, नहीं देखते हैं ॥३८॥ तथापि हे जनार्दन! कुलक्षयका दोष हमें देख पडता है, इस लिये हम इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न सोचें ॥ ३९ ॥

भावार्थ- प्रतिपक्षीने यदि धर्म और अधर्मका विचार छोड दिया है, तो वह उसका दोष है; हमें वैसा दोष नहीं करना चाहिये और धर्ममर्यादाका विचार अवश्यही करना चाहिये।

(३८ ३९) अर्जुन कहता है कि " यद्यपि ये कौरव लोभके कारण कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक नहीं देखते हैं, तथापि उससे यह नहीं सिद्ध होता कि, हम पातकको न देखें और देखकर भी उससे निवृत्त होनेका उपाय न करें। " लोभी मनुष्य किसी भी बुरे कर्ममें दोष या पातक नहीं समझता, समयपर जितना चाहे बुरा कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है, अधिकार प्राप्त होनेपर अपने किये बुरे कर्मकोभी अच्छेसे अच्छा बतलानेकी चेष्टा करता है। यह तो साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिये करते ही हैं। परंतु जो मनुष्य अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, उनको वैसा अन्याय करना उचित नहीं। उनकी दृष्टि तो आत्म-शुद्धिकी ओर होनी चाहिये। अपने आचरणमें कौनसा दोष कैसा होता है इसकी परीक्षा उनको सदा करना उचित है। और जहां दोष और पापकी संभावना हो वहांसे उनको वह दोष दूर करनेका यत्न करना उचित है। कुलक्षय, मित्रद्रोह, पितृद्रोह, बंधुवध, गुरुहत्या, संतानोंका उच्छेद, सभ्यताका लोप ये सब पाप भयानक हैं। छोटीसी पृथ्वीके एक भागके राज्यवैभवके लिये क्या हम ये पाप करें? यदि स्वराज्य प्राप्तिके इच्छुक लोक स्वयं ये पातक करने लग जांय, तो फिर उनको अधिकारही क्या है कि, वे साम्राज्यशासकोंकी इन्हीं दोषों और पातकोंके लिये निन्दा करें? दोनोंके पातक समानही होगये फिर एक पापियोंको हटाना और दूसरे पापियोंको उनके स्थानपर रखनेकी क्या आवश्यकता है? कौरवोंने कुछ पातक तो किये हैं, परंतु इस युद्धके करनेसे हमसे जितने पातक होंगे उतने तो उन्होंने निःसन्देह नहीं किये हैं। कुलक्षय, गुरुहत्या, मित्रद्रोह, बंधुवध, संतानोंका उच्छेद और इनके नाशसे होनेवाला सभ्यताका नाश हमसे होगा, यदि हम युद्ध करेंगे। इनमेंसे कौरवोंने क्या किया है, कौरवोंने ऐसा एक भी दोष नहीं किया है।

कौरवोंने हमारे (पाण्डवोंके) साथ अन्याय किया, एक स्त्रीकी अप्रतिष्ठा की, कुछ और ऐसे थोडेसे पातक भी किये; परंतु क्या हमसे होनेवाले इन पातकोंकी तुलना उनसे हो सकती है? यदि उनके थोडेसे पातकोंके कारण हमारे स्वजनोंको राज्य-गद्दीसे हटाना है, तो उनसे अधिक पातक करनेके कारण हमारा राज्यपर हक कैसा सिद्ध हो सकता है?

दोनोंका दोष।

"हे कृष्ण! तुम कहोगे कि युद्धमें दोनों ओरके वीर एक दूसरेको मारेंगे, अतः पितृहत्या, गुरुहत्या, मित्रद्रोह आदि दोष दोनों ओर समान होंगे, इसमें कोई कौरवोंका दोष कम और पांडवोंका अधिक यह बात नहीं है। यह कथन ठीक है। दोष तो दोनों ओर समान होंगे ही। परंतु यहां प्रश्न होता है कि यदि ये इस युद्धमें दोष नहीं देखते हैं, तो यह उनका बर्ताव सिद्ध करता है कि लोभके कारण उनकी बुद्धि मारी गई है। हमारी बुद्धि तो वैसी मारी नहीं गई है और यदि हम इसमें दोष स्पष्ट देखते हैं, तो हम ऐसे भयानक दोषमय कर्मसे पीछे क्यों न हटें? किसीने लोभ या मोहसे बछडा मार दिया, तो दूसरेको जरूरही गायका वध करना चाहिये, ऐसी तो बात नहीं है। इसीलिये मैंने कहा कि, पृथ्वीके राज्यके लिये क्या, परंतु त्रिभुवनके राज्यके लिये भी मैं गुरुद्रोहादिक घोर पातक नहीं करूंगा।"

कांटेसे कांटा निकालना।

अर्जुनका यह कथन है। युक्तिवाद बडा योग्य है, परंतु एक कांटा शरीरमें चुभ गया है, वह बाहर नहीं निकल आता, इसलिये दूसरा कांटा फिर शरीर में घुसा करही पहिलेको निकालना पडता है। उस समय यह युक्तिवाद करना कि, भला एक कांटा तो पहिले ही शरीरमें घुसगया है, फिर और दूसरा शरीरमें क्यों डालदेते हैं, ठीक नहीं है। क्यों कि दूसरा कांटा शरीर में डालनेके बिना पहिला निकलेगाही नहीं, अतः दूसरा कांटा उपकारक और पहिला अपकारक समझा जाता है। इसी न्यायसे स्वराज्य प्राप्त करनेवालों के द्वारा चलाया युद्ध साम्राज्यशासकोंके दोषको दूर करनेके लिये अत्यंत आवश्यक और अपरिहार्य होनेके कारण निर्दोष है और उसी युद्धमें साम्राज्यशाही की ओरसे जो किया जाता है वह सदोष होता है। इसके अतिरिक्त सर्व साधारण नियम यह है कि जो लोग शासनाधिकार में रहते हैं, उनके हाथमें अधिकार होनेके कारण वे ही अधिक दोष करते हैं, वैसा दोष उनसे कदापि नहीं हो सकता कि जिनके हाथमें अधिकार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि माना जाय कि, इस स्वराज्यप्राप्तिके युद्धमें बंधुवधविषयक दोष और पातक दोनों ओर समान ही हैं, तो उसमें साम्राज्यवादी कौरवोंके पूर्वकालके सब पातक यदि मिलाये जांयगे, तो वे स्वराज्य प्राप्त करनेवाले पाण्डवोंके पापोंसे निःसंदेह अधिक हो जांयगे। अतः पाण्डव तुलनासेभी अधिक निर्दोषी सिद्ध होते हैं। इसलिये अर्जुनका यह युक्तिवाद अज्ञान से पूर्ण ही है।

और भी एक बात है वह यह कि पाण्डवोंने शान्तिकी इच्छासे केवल पांच ही ग्राम मांगे थे। इतनी अल्पसंतुष्टता दिखाई केवल युद्ध टालनेके लिये। पाण्डव आधे राज्यके स्वामी होकर केवल पांच ग्रामोंपर ही संतुष्ट होते हैं, और केवल शान्तिके लिये इतना स्वार्थत्याग करते हैं, इसका विचार करनेसे, इस युद्धका कोई दोष पाण्डवोंपर नहीं आता है। जो कुलक्षय का अथवा बन्धुवधका दोष है, वह केवल कौरवोंपर ही जाता है। "जो अधिकारसे उन्मत्त होते हैं और न्याय्य बातें भी नहीं सुनते, उनपर सब दोष जाता है।" इस नियमानुसार युद्ध करके इतने वीरोंका वध करनेपर भी पाण्डव दोषी नहीं और कौरव ही इस वधके दोषी हैं। अतः अर्जुन का युक्तिवाद भ्रममूलक ही है।

अब आगे अर्जुन क्या कहता है देखिये-

११ कुलक्षयका परिणाम ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अन्वय— कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति, उत धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं कुलं अभिभवति ॥ ४० ॥ हे कृष्ण ! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति । हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते ॥ ४१ ॥ संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति); हि एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति ॥ ४२ ॥ कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते ॥ ४३ ॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन अर्थात परंपरासे चलनेवाले कुलधर्म नष्ट होते हैं, और कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्मका प्रभाव सब कुलपर होजाता है ॥ ४० ॥ हे कृष्ण ! अधर्मसे सब कुल व्याप्त हुआ, तो कुलस्त्रियां दुराचारमें प्रवृत्त होती हैं। हे वृष्णिकुलोत्पन्न कृष्ण ! स्त्रियां दोषयुक्त होनेसे वर्णसंकर होता है ॥ ४१ ॥ वर्णसंकर होते ही कुलघातकी पुरुष और उनका सब कुल नरकवासको प्राप्त होता है; और इनके पितर पिण्डप्रदान और जलतर्पण आदि क्रिया लुप्त होनेसे पतित होते हैं ॥ ४२ ॥ कुलका घात करनेवालोंके इन वर्णसंकर करनेवाले दोषोंसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

(४०—४५) युद्ध करनेके लिये प्रायः दोनों ओरकी सेनाओंमें तरुण लोक ही संमिलित होते हैं । 'आषोडशात्सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम् । (वात्स्यायनः)' सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक युवावस्था होती है और इसी अवस्थाके पुरुष युद्ध करनेके लिये रणभूमिपर उपस्थित होते हैं । भीष्म द्रोण जैसे अतिवृद्ध पुरुष भी क्वचित् युद्ध करते हैं, परंतु वह नियम नहीं है । अर्थात् युद्धसे जो मारे जाते हैं वे राष्ट्रके सत्व रूप तरुणही होते हैं । इसी कौरवपाण्डवोंके भारतीय युद्धमें दोनों ओरकी मिलकर १८ अक्षौहिणी सेना उपस्थित थी । अक्षौहिणीका प्रमाण यह है—

० ७ ८ १ २

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

अर्थात् गज २१८७०; रथ २१८७०; अश्व ६५६१०; मनुष्य १०९३५० सब मिलकर २१८७०० अक्षौहिणीकी संख्या होती है। इसमें प्रत्येक हाथीके साथ रहनेवाले दस बारह मनुष्य, प्रत्येक रथके साथ रहनेवाले बीस पचीस मनुष्य, घोडेके साथ

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अन्वय– हे जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके नियतं वासः भवति, इति अनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥ अहो ! बत, महत्पापं कर्तुं वयं व्यवसिताः, यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः ॥ ४५ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट होते हैं, उन मनुष्योंका नरकमें निश्चयसे वास्तव्य होता है, ऐसा हम सुनते हैं ॥ ४४ ॥ ओ हो ! कितना बडा भारी पाप करनेके लिये हम सिद्ध हुए हैं, जो राज्यसुखकी लालसासे हम अपने भाइयोंको ही मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ! ॥ ४५ ॥

भावार्थ—कुलके बडे पुरुषोंका वध होनेसे स्त्रियां दुराचार करती हैं, और दुराचारसे कुलका संपूर्ण सत्त्व नष्ट होता है, अतः कुलका घात करना बडा अनर्थ कारक है ॥

रहनेवाले दोतीन मनुष्य भी मिलाना उचित है। इनकी गिनती करनेसे अक्षौहिणीमें मनुष्य संख्या आठ दस लाख हो जाती है। महा अक्षौहिणीका प्रमाण १३२१२४९०० गिना है—

० ० २ ४ २ १ २ ३ १
खद्वयं निधिवेदाक्षिचन्द्राक्ष्यग्निहिमांशुभिः ।
महाक्षौहिणी प्रोक्ता संख्यागणितकोविदैः॥

महाभारतीय युद्धमें १८ अक्षौहिणी सैना थी। न्यूनसे न्यून भी गिनती की जाय तो कमसे कम ४० लाख छोटे और मोटे वीर इस युद्धमें संमिलित थे यह बात निश्चित है। ये ४० लाख वीर उस समयकी भारतीय जातीके परिपक फल थे, भारतीय जातीकी सब आशा इनमें इकट्ठी हुई थी। ये भारतीय सभ्यताकी जीवित मूर्त्तियां थे। भारतीय युद्धमें इनमेंसे गिनतीके दसपांच आदमी ही बचे। शेष सब काटे गये। इनके कट जानेसे भारतीय सभ्यता प्रायः नष्टसी होगई। इस युद्धके पश्चात् राष्ट्रमें कुछ बूढे, कुछ बालक और कुछ स्त्रियां बची थी और कुछ पुरुषार्थहीन पुरुष रहे होंगे। युद्धमें जखमी होकर कुछ पुरुष बचते हैं तो, वे हाथपांव कटजानेके कारण राष्ट्रमें निकम्मे होकर रहते हैं।

इस प्रकार महायुद्ध होनेसे राष्ट्रीय सभ्यता, जातीय परंपरा, और कुलपरंपरा टूट जाती है। और राष्ट्रकी दृष्टीसे क्या और जातीय दृष्टीसे क्या अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं। इसी हानिका वर्णन अर्जुन कर रहा है। अर्जुन कहता है कि यदि हमने यह युद्ध किया, तो इस समय तक चली आई सब सभ्यता नष्ट हो जायगी। हमारी आर्य जातीने सहस्रों वर्षोंके प्रयत्नसे बनायी वेदिक संस्कृती लुप्त हो जायगी। युद्धके पश्चात् बचे हुए कुछ बूढे थोडी देरमें मर जांयगे और प्राचीन सभ्यताकी परंपराको बतानेवाला कोई मनुष्य इस जातीमें नहीं रहेगा।

जो बालक बचेंगे वे सभ्यतासे अनभिज्ञ होनेके कारण वे सर्वथा सभ्यताकी रक्षा करनेमें असमर्थ होंगे, और जब वे युवा बनेंगे तब उनकी स्थिति संस्कारहीनसी होगी। क्या उस समय वे आर्यसन्तान कहने योग्य रहेंगे ? कभी नहीं।

जो स्त्रियां बचेंगी, उनमें कुछ गर्भिणी होंगी, उनके बच्चोंपरभी आनुवंशिक शुद्ध आर्यत्वके संस्कार कौन डालेगा ? अतः वेभी संस्कारहीन

हो बनेंगे। जो तरुण युवतियां पति मरनेके कारण विधवाएं होगई होंगी, उनमेंसे कुछ सती बन कर पतिके साथ जल जांयगी, शेष बची स्त्रियों में कुछ थोडी सतीत्वकी रक्षा करेंगी ऐसा मानने पर भी चालीस लाख तरुणोंकी सबकी सब स्त्रियां पतिव्रता धर्मसे रहेंगी और उनसे कोई बुरा आचरण नहीं होगा, ऐसा कहना कठिन है। क्योंकि यह तारुण्यका देहधर्म है और वह पूर्ण स्वाधीन रखना अति कठिन है। इस कारण उनसे व्यभिचार आदि कुपथका व्यवहार हो जायगा और उस कारण कुलकी शुद्धता मारी जायगी।

चालीस लाख वीरोंका संहार होनेसे जो विधवाएं पीछे रहेंगी, उनके व्यभिचार का पातक तो हम युद्ध करनेवालोंपर ही आवेगा। व्यभिचारसे कुलकी शुद्धता नष्ट होगी, कुलपरंपरासे चले आये सदाचार नष्ट हो जांयगे, और ऐसी प्रजा बचेगी कि जिनको पूर्वेतिहास के विषयमें कुछभी अभिमान नहीं और जिनको पुरातन प्रथाओंका थोडाभी ज्ञान नहीं है। जो स्त्रियां व्यभिचारके लिये प्रवृत्त हो जांयगी, वे तो स्ववर्णमें या स्वजातीमेंही व्यभिचार करेंगी, इस विषयमें कोई नियम नहीं होगा। क्योंकि अनाचारमें नियम किस प्रकार रह सकता है? यदि उनमें प्रतिलोम व्यभिचार होगया, अर्थात् हीन वर्ण या हीन जाती अथवा हीन संस्कारोंके मनुष्योंसे व्यभिचार हो जाय, तो वह वर्णसंकरसे बिगडा हुआ कुल जीवित भी रहा, तथापि उसमें कुसंस्कारका बीज घुसनेके कारण, उससे सभ्यताकी इतनी हानि हो जायगी कि, वह किसी प्रकारभी फिर ठीक नहीं हो सकती।

वर्णसंकर से जातिकी जाती नष्ट हो जाती है। आज जो प्रत्येक कुलका अभिमान एक एक वीरमें है, वह पूर्ण रीतिसे नष्ट हो जायगा और आज जो हीन संस्कारके थोडेसे लोग दीख पडते हैं, उनकी ही संख्या देशभरमें बढ जायगी। अर्थात् इस युद्धसे हम आर्य जातिका और परंपरासे चली आई आर्य वैदिक सभ्यताका ही नाश कर रहे हैं !! इस युद्धसे लाभ होनेकी तो कोई आशा दीखतीही नहीं है। इसलिये युद्ध करना बडा भारी पाप है।

राज्य और सुख के लिये जातीका ही समूल नाश करना कदापि योग्य नहीं है, अतः मैं युद्ध नहीं करता, यह अर्जुनके कथन का आशय है।

जो युद्धका भयानक चित्र अर्जुनने अपने भाषणमें खींचा है, वह सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक महायुद्धमें ऐसा हुआही करता है। परंतु महायुद्ध ऐसे समय होते हैं कि, उससे पूर्व एक या अनेक पक्षोंके पातक बहुत ही इकट्ठे हुए होते हैं और उन पातकोंके कारण जनताके अन्तःकरणोंको ऐसी विचित्र गति प्राप्त हुई होती है, कि उस समय उन दोनों पक्षोंको युद्धसे कोई भी रोक नहीं सकता। अर्थात् युद्ध अपरिहार्य होते हैं। भारतीय युद्ध ऐसाही अपरिहार्य था, प्रयत्न करनेपर भी इसको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। ये पातक केवल दुर्योधन के द्वाराही हुए ऐसी बात नहीं है, ये इसके पूर्वसे हो रहे थे, शन्तनुराजा का वृद्धावस्थामें द्वितीय विवाह करना, नवयुवतीके पुत्रको राज्याधिकारी निश्चित करना और सच्चे युवराजका अधिकार स्त्रीवशताके कारण छीना जाना, ये और ऐसे अनेक पातक इससे पूर्व हो चुके थे और क्रमशः हो रहे थे। मानो राज्याधिकारियोंको पातक करनेका अभ्यास हुआ था। राष्ट्रमें ऐसे पातक जमा होते हैं और वे राष्ट्रके मनपर कुसंस्कार डालते रहते हैं, ऐसे कुसंस्कार जमते जमते एक समय ऐसा आता है कि, जिस समय राष्ट्रीय मन अधिक कुसंस्कारोंका भार सहनेमें असमर्थ होजाता है, और थोडेसे निमित्तसे झगडा छिड जाता है, तथा युद्धकी अग्नि भडक उठती है। कोई संधि करने लगा, तो उसका भाषण दूसरा समझ ही नहीं सकता और जो जो प्रयत्न संधिके लिये किया जावे, वही युद्धकी अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये ही कारण हो जाता है !!!

ऐसी अवस्थामें महायुद्ध अपरिहार्य होते हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अन्वय — यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अशस्त्रं अप्रतीकारं मां रणे हन्युः, तत् मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र, मुझ निःशस्त्र हुए और प्रतिकार न करनेवाले को इस रणक्षेत्रमें मार डालेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा।४६।

इस समय यदि अर्जुन जैसा एकाद वीर युद्धसे विमुख हुआ, तो उसके स्थानपर दूसरा खडा होजाता है और युद्ध होता ही है। अतः ऐसे समय अर्जुनके समान युद्धसे भाग जानेका निश्चय करना भी युक्त नहीं होता। क्यों कि वह समय ऐसा होता है कि एक वीरके भाग जानेसे या मर जानेसे युद्ध बंद होना सर्वथा असंभव होता है। युद्ध बंद उस समय होगा कि जब एक पक्ष पूरा कमजोर हो जाय अथवा दोनों पक्ष पूर्ण तया युद्ध करके थक जांय।

अर्जुन ने जो युद्धके भयानक परिणाम वर्णन किये वे सत्य हैं, परंतु युद्ध अपरिहार्य होनेके कारण इस समय अर्जुनको भागना ठीक नहीं था। अर्जुन रणभूमिसे संन्यास लेकर भागभी जाता तो युद्ध कभी बंद नहीं होता। यहां समय को न जानना अर्जुनका दोष है।

भारतीय युद्धके समय जैसा युद्ध अपरिहार्य हुआ था वैसाही परशुरामके समय भी युद्ध अपरिहार्यही हुआ था। उस समय भी सहस्रों क्षत्रिय कुलोंका संहार हुआ। भारतीय युद्धमें भी लाखों क्षत्रिय विनष्ट हुए। द्रोण, कृप, और अश्वत्थामा की बात छोड दी जाय, तो शेष प्रायः सबके सब क्षत्रियवीर ही थे। क्योंकि भारतीय युद्धके समय विशेषकर क्षत्रिय ही युद्ध करते थे। परंतु यदि राष्ट्रके हरएक व्यक्ति को युद्धदीक्षा लेनेका प्रसंग उत्पन्न हो जावे, तो सब लोगोंमें केवल एकही क्षात्रगुणका उत्कर्ष होता है और शान्त विचारशीलता, व्यापार कुशलता और कारीगरी ये ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रोंके गुण प्रायः दब जाते हैं। और इस प्रकार अन्य वर्णोंके दब जानेसे भी राष्ट्रपर आपत्ति ही आती है। यह भी एक प्रकार का वर्णसंकर समझिये अथवा वर्णनाश समझिये, महायुद्धके कारण हो जाता है। ब्राह्मण सदाके लिये क्षात्रकर्म करने लग जांय तो वह भी एक प्रकारसे वर्णसंकरही होजाता है। इसीप्रकार ब्राह्मणके वैश्यकर्म करनेसेभी उसके ब्राह्मणगुण न्यून होते हैं। इसकारण वर्णभ्रष्टता हो जाती है। दीर्घयुद्ध तथा महायुद्ध के कारण ये सब हानियां होती हैं। अर्जुन इन हानियोंका अनुभव कर रहा है, इस लिये वह युद्ध करनेसे निवृत्त होनेका निश्चय करता है।

यहां श्लोक ४१ में श्रीकृष्ण को 'वार्ष्णेय' अर्थात् 'वृष्णीके कुलमें उत्पन्न वीर' कहा है। इस शब्दसे अर्जुनने यहां यह सूचित किया है कि 'तुमभी तो वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए हो। क्या तुम स्वयं चाहते हैं कि, तुम्हारे कुलका ऐसा नाश हो जाय और वर्णसंकर होकर कुलका सत्त्व नष्ट हो जाय? जैसा तुम्हारा कुल तुम्हें प्रिय है, वैसाही हमारा कुल हमें प्रिय है। इसलिये मुझे ऐसा घोर कर्म करनेकी उत्तेजना देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है।'

इसप्रकार अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है और अन्तिम निश्चय कहता है—

(४६) युद्धसे होनेवाला भयानक कुलका नाश अर्जुनने देखा और उससे आगे जाकर होनेवाले सभ्यताके नाशरूपी भयंकर परिणाम का भी उस ने विचार किया, और उसने युद्ध न करनेका ही अन्तिम निश्चय किया। स्वयं युद्ध न करनेपर भी

संजय उवाच— **एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।**
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अन्वय— संख्ये एवं उक्त्वा, शोकसंविग्नमानसः, अर्जुनः, सशरं चापं विसृज्य, रथोपस्थे उपाविशत् ॥ ४७ ॥

संजय बोले— इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर, शोकसे व्याकुल चित्त होकर, अर्जुन, धनुष्यबाण छोडकर, रथमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

विपक्षी शस्त्र चलायेंगे तो अपनी मृत्यु होगी ही, इस विषयमें वह कहता है कि, "यदि मेरे शान्त और निर्वैर रहनेपर शत्रु मुझपर शस्त्र चलायेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा।" क्योंकि जनता कहेगी कि, "अपनी ओरसे अर्जुनने तो शान्ति रखनेका पराकाष्ठाका यत्न किया; सामर्थ्य रहनेपरभी अहिंसाव्रतका अवलंबन किया, तो भी साम्राज्यवादी दुष्ट कौरवोंने अपनी पाशवी शक्तिकी घमंडमें न्याय और अन्याय न देखते हुए, निःशस्त्र और विरोध न करनेवालेका विना कारण वध किया! निःशस्त्र निर्वैर और अहिंसाशील मनुष्योंपर पाशवी बलसे आक्रमण करना और उनपर शस्त्र चलाना बडी अधोगतिको पंहुचे हुए साम्राज्यवादियोंका ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता।" जनता ऐसा कहेगी और जनताके ये शब्द ही मेरे परम कल्याण होनेके सूचक हैं। यहां अर्जुनका भाषण समाप्त होता है।

(४८) संजयने धृतराष्ट्रसे यह सब वृत्तान्त कह कर सूचित किया कि "अर्जुन तो अपना धनुष्यबाण त्यागकर अपने रथमें दुःख करता हुआ बैठ गया।" अर्थात् युद्ध करनेका उसका संपूर्ण उत्साह नष्ट हुआ, उसकी वीरवृत्ती चली गई, उसका हृदय दुःखसे फट गया और वह पूर्ण रीतिसे उदास हो गया है।

संभव है कि यह वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्रको मन ही मनमें अत्यंत आनंद हुआ होगा, क्योंकि संजयद्वारा उसने जो उपदेश पांडवोंको करवाया था, उसका जो परिणाम होना धृतराष्ट्रको अभीष्ट था, वही उसने संजयके मुखसे श्रवण किया।

इस प्रकार स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले पांडवके सन्मुख ऐन आशाके समय पूर्ण उदासीनता और साम्राज्यवादी कौरवके सामने अपना साम्राज्य कंटकरहित होकर चिरस्थायी होनेकी आशा खडी हुई! परंतु होनेवाला कुछ और ही होता है।

स्वराज्य का प्रयत्न करनेवालों की वारंवार होनेवाली निराशासे ही उनकी परमेश्वरपर भक्ति अधिक होने लगती है और उससे उनको नवशक्ति मिलती है और साम्राज्यवादियोंके विजयोंसेही उनकी घमंड बढ जानेके कारण उनका नाश उनके समीप आने लगता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥



विषादयोग का विचार।

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ एक अपूर्व ग्रंथ है, इसी कारण इस की इतनी मान्यता इस देशमें और इस देशके बाहरके देशोंमें भी होगई है। हिंदुमात्रका प्रेम इस भगवद्गीतापर असीम है। पुराने विचारके बहुतसे हिंदु प्रतिदिन गीताका पाठ श्रद्धासे करते हैं। संस्कृतज्ञ हिंदू गीतापर विचार करते हैं और उसका प्रवचन करनेमें अपने आपको धन्य समझते हैं! शास्त्रज्ञानी हिंदू गीतापर टीका-टिप्पणी, रूपान्तर, भाषान्तर अथवा अन्य प्रकारका प्रबंध या निबंध लिखनेमें आनंद मानते हैं। इस कारण इस भारतवर्षमें इस ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ पर इतने ग्रंथ निर्माण हुए हैं कि, उन सबका संग्रह करना किसी साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहरका कार्य है। बहुतसे भारतीय कवियोंने इसका रूपान्तर अपने अपने प्रिय छंदमें किया है, सेंकडों भाषान्तर कर्ताओंने गद्यमें विविध भाषान्तर किये हैं, नवीन ग्रंथकार अपने मतकी पुष्टीके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका प्रमाण दियेविना संतुष्ट नहीं होते। द्विजोंके भोजनके पूर्व उच्चारे जानेवाले संकल्पमें भी भगवद्गीताका एक श्लोक “अहं वैश्वानरो भूत्वा० (भ० गी० १५।१४)” संमिलित हुआ है, जिससे प्रायः ऐसा कहा जा सकता है कि, कोई द्विज भगवद्गीताका श्लोक पढनेके विना भोजन नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीताने इतना महत्त्व का स्थान हिंदूके हृदयमें प्राप्त किया है, इससे इस ग्रंथकी श्रेष्ठता ज्ञात हो सकती है।

भारतवर्षकी भाषाओंसे भिन्न विदेशकी कई भाषाओंमें भी उन देशोंके निवासियोंनेही साठ से अधिक भगवद्गीताके भाषान्तर स्वयंस्फूर्तिसे किये हैं। जिसका जो धर्मग्रंथ है, वह उसका प्रचार करनेकी इच्छासे दूसरी भाषाओंमें भाषान्तर करता है, यह बात स्वतंत्र है। इस प्रकार हिंदू लोगोंने गीताका रूपान्तर अन्यान्य देशभाषाओंमें किया होता, तो कोई विशेष बात नहीं होती; परंतु भगवद्गीताका भाषान्तर जो अन्यान्य भाषाओंमें हुआ है, वह हिंदुओंद्वारा नहीं हुआ है, परंतु अन्य देशके विद्वानोंने इस गीताकी विशेषताका अनुभव किया और स्वयंस्फूर्तिसेही इसके विचार अपनी अपनी भाषामें ग्रथित किये। ग्रंथकी योग्यता का निश्चय करनेमें यह एक बात जैसी ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ के अनुकूल है, वैसी किसी अन्य धर्मग्रंथके विषयमें नहीं है।

इस प्रकार भारतवर्षीय और दूसरे देशके विद्वान् इस भगवद्गीताको विशेष माननीय मानते हैं, ऐसा कहा जाय तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिये इसका विचार करनेका यत्न यहां किया जाता है। सबसे प्रथम इसके नामका विचार करना योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता का नाम।

गीता।

“श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता, अथवा गीता” ये इसके नाम सबके मुखमें स्थिर हो चुके हैं। इन नामोंका अर्थ ‘भगवान् का गीत’ है। साक्षात् भगवान् के मुखारविन्दसे इसके प्रकट होनेके कारण इसका महत्त्व विशेष है, यह बात हरएक मान सकता है, अर्थात् इस विषयमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। क्यों कि श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको यह उपदेश किया, यह बात सबही मानते हैं। ‘धर्मसंस्थापना’ करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान् ने जन्म लिया था, और जो धर्म उन्होंने कहा और आचरण करके दिखाया वही धर्म इस ‘गीता’ में कहा है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस मानवी धर्मका उपदेश किया अथवा धर्मतत्त्वोंका गायन किया, वही “श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता” है। यह नामही इस उपदेशके

भगवान्‌के मुखसे आनेकी बात सूचित करता है, और इसलिये भक्तका आत्मविश्वास बढाता है कि, यदि मैं इस उपदेशके अनुसार चलूं तो निःसन्देह मेरा बेडा पार हो जायगा; क्योंकि, इस उपदेशके अनुसार चलनेका अर्थही यह है कि भगवान्‌के आदेशके अनुसार चलना ।

'गीता' शब्दका अर्थ 'गाई गई' है । इस समय तक अनेक गीत गाये गये हैं, परंतु 'गीता' शब्द सबसे प्रथम इस श्रीमद्भगवद्गीता के लिये प्रयुक्त हुआ, क्योंकि इसकोदेखकर लोगोंका यह निश्चय होचुका कि, यदि कोई सच्चा मानवधर्मका गीत गाया गया हो, तो वह यही है। इसके समान दूसरा कोई गीत नहीं है। जैसा कहते हैं कि इस सुपुत्रको जन्म देनेसे यह माता 'माता' बनी, अर्थात् अन्य माताएं पुत्रका प्रसव करने वाली तो निः सन्देह होती हैं, परंतु सुपुत्रके कारणही माताका नाम यशस्वी होता है, उसी प्रकार गीत तो बहुतेरे हैं, जो शब्द छन्दमें बद्ध होते हैं वे सब गीत ही हैं । परंतु इस गीतासे मनुष्य परम धन्य हो सकता है, इसलिये यही सच्चा गीत है. अतः इसका नाम 'गीता' प्रसिद्ध हुआ। और सबको यही नाम अत्यंत प्रिय हुआ। भगवद्गीता के पश्चात् सैंकडों गीताएं बनी। रामगीता, अनुगीता,आदि सैंकडों गीताग्रंथ हैं, परंतु जनता ने 'गीता' नाम श्रीमद्भगवद्गीता का ही सच्चा नाम समझा है, अतः 'गीता' शब्दसे किसी अन्य गीताका बोध नहीं होता है, केवल इस भगवद्गीता का ही बोध होता है ।

इस गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तका संकल्प इस प्रकार रहता है --

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे [पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽ] ध्यायः ॥ १५ ॥

इसमें आये " श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद " इन पांच शब्दोंमेंसे कोई एक नाम या इनमेंसे हरएक नाम इस ग्रंथका हो सकता है । इसका नाम ' श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता या गीता ' होनेके विषयमें इसके पूर्व कहा ही है । उसी प्रकार इसका नाम 'उपनिषद्' भी है, सभी जानते हैं कि यह गीता उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

" संपूर्ण उपनिषद् रूपी जितनी गौवें हैं, उनका सारभूत यह दूध श्रीकृष्ण भगवान् ने निचोडा है, अर्जुन नामक बुद्धिमान् बछडा उस दूधका सेवन करता है। इस प्रकार यह उपनिषद्‌का सार होनेसे उपनिषद् ही है। अतः भगवद्गीताका नाम उपनिषद् भी हो सकता है। यह 'उपनिषद्' का अर्थ '(उप) समीप (नि) निःसंदेह (सद्) पंहुंचानेवाला ज्ञान ' है । इस गीतामें कहा हुआ ज्ञान मनुष्यको निःसंदेह ईश्वरके समीप जाकर विराजमान होनेका अधिकारी बना सकता है, इस लिये इसका नाम ' उपनिषद् ' है ।

इस गीताका नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। 'ब्रह्म' नाम अति महती शक्ति का है, उस महान् शक्तिका ज्ञान (विद्या) जानना और अपनी शक्ति बढाना इस ब्रह्मविद्याका उद्देश्य है। हरएक मनुष्य अपने अल्पत्वका अनुभव करता ही है, उसको इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान होनेसे अपनी शक्तिका विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हो सकता है। और इस ज्ञानके सहारे साधक अपनी शक्ति अतिविस्तृत कर सकता है ।

इस गीता का नाम 'योग शास्त्र' भी है। इस गीतामें अठारह योग कहे हैं । प्रत्येक अध्यायमें एक एक योग कहा है। सब अठारह योग मिलकर गीताका योगशास्त्र होता है, इस विषयमें आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा, अतः यहां इस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त है।

इस ग्रंथका नाम ' श्रीकृष्णार्जुनसंवाद ' भी है। यह पूर्ण पुरुष और साधक का संवाद है । श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष हैं और अर्जुन (अर्जन) प्राप्त करनेवाला साधक है। पूर्ण पुरुषसे पूर्ण बननेके साधनोंका ज्ञान यह साधक प्राप्त करनेकी

इच्छा करता है, और ज्ञान प्राप्त होते ही वह वैसाही आचरण करता है। इसमें एक साधक का इतिहास होनेसे हरएक साधकको वह अत्यंत उपयोगी हो सकता है। यदि मनुष्यमात्र साधक माना जाय, तो यह संवाद मनुष्यमात्रको मार्गदर्शक होना संभव है।

ये पांच नाम गीताके अध्यायके अन्तिम संकल्पमें हैं। इनमें 'योगशास्त्र' यह एक नाम है। गीतामें 'योग' नाम 'कर्मयोग' के लिये आ गया है ऐसा कह कर स्वर्गीय श्री० लो० बाल गंगाधर तिलक महोदयजीने अपनी भगवद्गीताकी की टीकाको 'कर्मयोगशास्त्र' नाम दिया है। इसीको आपने 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' भी कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्य 'कर्मयोग' ही है, इसमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। कर्म किस प्रकार करनेसे मनुष्यको बंधन नहीं होगा, इसका अपूर्व विवेचन इस गीतामें है, इस लिये इसका नाम 'कर्मयोग का शास्त्र' योग्यही है।

इसके पश्चात् श्री० महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी जीने श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद गुजराती भाषामें प्रसिद्ध किया, जिसका नाम उन्होंने 'अनासक्तियोग' रखा है। इस विषयमें वे स्वयं इस प्रकार लिखते हैं—

"गीताका आशय तो आत्मार्थी को आत्मदर्शन का अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिंदुधर्ममें यत्रतत्र बिखरे हुए रूपमें पाई जाती है उसे गीताने अनेक रूपमें ...भली भाँती सिद्ध की है। कर्मफलत्यागही वह अद्वितीय उपाय है।... जहां देह है वहां कर्म तो है हि ।...पर कर्म मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबंधनसे अर्थात् दोष स्पर्शसे कैसे छुटा जाय? गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें इसका जबाब यों दिया है– निष्काम कर्मसे। यज्ञार्थकर्म करके। कर्मफलको त्याग कर।... ..." "शारीरिक या मानसिक कोईभी चेष्टा कर्म है, तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधमुक्त कैसे रहे? यह पहेलो गीताजीमें जिस तरह बूझीगई है मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एकभी धर्मग्रंथमें यह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है,–"फलासक्ति छोडो और कर्म करो," "निराशी बनो और कर्म करो," "निष्काम बनकर कर्म करो।" यह गीताजी की कभी न भूलने योग्य ध्वनि है, कर्म छोडनेवाला गिरता है और कर्म करते हुए उसके फलको छोडनेवाला चढता है।"

यह गीता की विशेषता है अतः 'अनासक्तियोग' यह नाम महात्मा गांधीजीने इस गीता को दिया है वह सर्वथा योग्य है क्योंकि गीताका यही आशय है।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलकजीने गीताको 'कर्मयोग शास्त्र' नाम दिया और महात्मा गांधीजीने इसीको 'अनासक्तियोग' नाम दिया, उस प्रकारके भिन्नभिन्न नाम गीताको देनेकी परंपरा पहिलेसे नहीं चली आयी है। यह बात नवीन है। श्रीमच्छंकराचार्यजीसे लेकर जो जो टीकाकार हुए हैं, उनमेंसे किसीने भी दूसरा नाम देनेका यत्न नहीं किया। श्रीमच्छंकराचार्य भूमिकामें लिखते हैं—

दीर्घेण कालेन ··· प्रवर्धमाने अधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता···विष्णुः··· कृष्णः किल संबभूव। ··· सः ··· लोकानुग्रहं कुर्वन्··· वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय ··· उपदिदेश। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबंध॥ तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं···। तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निश्रेयसं··· ॥

—गीताभाष्यम्।

"बहुत समय जानेके पश्चात्...अधर्म बढनेके अनंतर जगत् की सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिस्रष्टा···विष्णु···कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। ···उसीने···जनताके ऊपर कृपा करते हुए ···वेदके दोनों—प्रवृत्ति निवृत्तिरूप — धर्मोंका उपदेश अर्जुनको···किया। भगवान् ने जैसा उपदेश किया वैसाही उस धर्मको वेदव्यासजीने···

गीता नामक सातसौ श्लोकोंसे ग्रथित किया। यह गीताशास्त्र मानो समस्त वेदोंका सार ही है...। उस गीताशास्त्रका संक्षेपसे प्रयोजन निश्रेयस है...।"

इसप्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम "गीताशास्त्र" माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और न दूसरा नाम दिया है।

श्री मधुसूदनसरस्वतीभी इसको "गीताशास्त्र" ही कहते हैं देखिये—

परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ २ ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ॥ ४० ॥
—मधुसूदनसरस्वती टीका.

श्रीधरस्वामीभी वही नाम स्वीकारते हैं—

यथामति समालोक्य गीताव्याख्यां समारभे ॥ ३ ॥
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रप्रयत्नतः ॥ ४ ॥
श्रीधरस्वामी-टीका.

इसप्रकार ये दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस ग्रंथका नाम 'गीता' इतनाही स्वीकारते हैं और कोई नया नाम नहीं देते। इसी प्रकार जो जो प्राचीन टीकाएं हैं उन सबमें 'गीता' ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् 'गीता' इतनाही नाम इस ग्रंथका सर्वसंमत और सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता ये नामभी हैं, परंतु जितना 'गीता' शब्द प्रचलित है उतने ये भी प्रचलित नहीं हैं। अन्य नाम जो ऊपर दिये हैं अर्थात् 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' ये कभी प्रचलित नहीं हुए थे। वास्तविक देखा जाय तो 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' इतना इसका नाम होना योग्य है, परंतु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आद्य भाष्यकारनेभी इतना लंबायमान नाम स्वीकारा नहीं है, अर्थात् उनके समयमें भी 'गीता' इतनाही नाम सर्वसंमत हुआ था।

लो० तिलक इसको 'कर्मयोगशास्त्र' कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको 'अनासक्तियोग' कहते हैं। गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म अनासक्तिसे करने की युक्ति इसी ग्रंथमें कही है, अतः ये दोनों नाम नये होनेपरभी योग्य हैं। परंतु ये साधक का मार्ग बतानेवाले नाम हैं। साधक कर्म करे और वह अनासक्तिसे कर्म करे, यह भाव इन नामोंसे सूचित होता है। ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले ग्रंथके नाम बहुतही थोडे होंगे। प्रायः ग्रंथोंके नाम साध्यका निर्देश करनेवाले होते हैं। यहां विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं कि जो साध्यका निर्देश करनेवाले माने जा सकते हैं? पूर्वोक्त संकल्पमें जो 'उपनिषद् और ब्रह्मविद्या' ये दो नाम हैं वे कुछ अंशसे ब्रह्मरूपी साध्यकी सूचना देते हैं। 'योगशास्त्र' यह नाम 'कर्मयोगशास्त्र' माननेपर साधकका मार्ग बताता है, यह सत्य है; परंतु गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ 'कर्मयोग' ही है, यह बात सत्य नहीं है। 'समत्वं योग उच्यते (भ० गी० २।४८)' समत्वका नाम योग है, ऐसी योग की व्याख्या स्वयं गीतामें बताई है, यह गीताका स्वतंत्र सिद्धान्त है, इसलिये गीताके अध्याय समाप्तिके संकल्पके 'योगशास्त्र' शब्दका अर्थ 'समताशास्त्र' (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है। गीताका "समता" ही साध्य है। ईश्वरप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, आदिकाभी यही अर्थ है कि परिघको छोडकर मध्य केन्द्रमें जाना और वहांका समत्व प्राप्त करना। यह समत्व व्यक्तिके मनमें स्थापन होना चाहिये, उसके उच्चार और आचारमें प्रदर्शित होना चाहिये, यह समत्व समाजमें, राष्ट्रमें और जगत्में स्थापन होना चाहिये। संपूर्ण मानवी समाज यदि किसी बातके लिये तडफ रहा है तो इसी समताके लिये तडफ रहा है। यह समत्व कैसा प्राप्त किया जा सकता है, इसका ज्ञान भगवद्गीताने उत्तम रीतिसे दर्शा दिया है, अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वर्थक नाम हो सकता है, तो 'समताशास्त्र' ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' यह शब्द अध्यायकी समाप्तिके संकल्पमें आया है। वहां योगका अर्थ 'कर्मयोग' नहीं है। क्योंकि गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ

समत्व है ऐसा स्वयं गीतारचयिताने कहा है। समता आसक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मसे स्थापन हो सकती है, यह बात निःसंदेह है, परंतु अनासक्तियुक्त कर्मकौशलरूप कर्मयोग (भ. गी. २।५०) साधन है और उसका साध्य 'समता' है।

'योग' शब्दका मूल अर्थ 'जोडना' है, किसीसे अपना संबंध जोडनेका नाम योग है। अर्जुनने अपना संबंध सबसे पहिले 'विषाद' (खेद) के साथ जोडा था। इसीलिये प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' हुआ है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना संबंध 'पुरुषोत्तम (ईश्वर)' से जोडेगा, तो वह उसका 'पुरुषोत्तमयोग' होगा। मनुष्यको खेदसे मुक्त करके उसका संबंध 'उत्तम पुरुष' से कराना भगवद्गीता का साध्य है। इसमें बताया है कि एक मनुष्य जो प्रारंभमें खेदसे युक्त था, वही गीतोपदेश श्रवण करते करते 'उत्तम पुरुष' से युक्त होकर 'नरका नारायण' बननेका अधिकारी हुआ। नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, बनाना गीता का ध्येय है। इसलिये इसका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' अथवा 'नारायणयोग' भी हो सकता है। इसके १५ वे अध्यायमें 'पुरुषोत्तम-योग' कहा है, यही अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है, क्यों कि इसमें मनुष्यका अन्तिम साध्य बताया है, अन्य अध्यायोंमें जो कहा है वह इस एकमात्र साध्यके विविध साधनही हैं।

अर्थात् हमारे मतसे गीताका नाम 'पुरुषोत्तम-योग' है, यह नाम ग्रंथोक्तभी है, और गीतामें जो जो उपाय कहे हैं वे सबके सब इसी साध्यके साधनरूप हैं। यदि दूसरे किसी नामकी कल्पना करनी है तो 'समतायोग'का नाम उसके बाद ध्यानमें आसकता है यह नामभी ग्रंथोक्त ही है।

"योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
(भ० गी० ६।३३)"

"आपने जो समत्वरूपी योग कहा है" यहां साम्ययोग शब्दही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत् में समता और शान्ति स्थापन करनेके लिये ही गीता कही गई है। यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि यह गीता तो युद्धभूमिपर कही गई है और जो युद्ध न करनेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तमें युद्ध कराया है, अतः यह गीता युद्ध करानेवाली है और समता बढानेवाली नहीं है। यह शंका विचार करनेके पूर्व सत्य प्रतीत होती है, परंतु थोडासा विचार करनेपर यह शंका व्यर्थ है ऐसाही प्रतीत होगा। जो युद्ध श्रीकृष्णभगवान् ने अर्जुनसे करवाया वह समता स्थापन करनेके लिये करना अपरिहार्य हुआ था। कौरवोंने विषमता उत्पन्न की थी; वे विषमता के लिये अपनी शक्ति लगा रहे थे, समझानेपर भी वे समझनेकी अवस्थामें नहीं आये, अतः यदि कौरवोंको विषम पथपर से हटाना है तो युद्धके लिये कमर कसना अत्यंत आवश्यक हुआ। अर्थात् भारतीय युद्ध लूटमार के लिये नहीं हुआ था किंतु शत्रुकी लूटमारकी वृत्तिको रोककर जगत्की विषमता दूर करनेके लिये और समताकी स्थापनाके लिये हुआ था। यही कारण है कि युद्धभूमिपर यह 'समताका संदेश' भगवान्ने कहा और अर्जुनके मिषसे जगत्को सुनाया है। ता कि आगेकी जनता जगत् में समता स्थापन करनेका यत्न करे।

अध्यायोंके नामोंका विचार।

गीताके नामके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् अब हम गीताके अध्यायोंके नामोंका विचार करते हैं। इन नामोंका विचार करनेके समय एक बात प्रमुखतासे सामने आती है वह यह है कि, ये अध्यायों के नाम हरएक टीकामें भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। गीता सर्वमान्य ग्रंथ है इस लिये उसके अक्षर अक्षर की सुरक्षा रखना उसके अनुयायियोंका कर्तव्य है, परंतु अध्यायोंके नामोंके विषयमें बडी शिथिलता दिखाई देती है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम कई टीकाकारोंने दिये हुए अध्यायोंके नाम यहां निम्नदर्शित कोष्टकमें देते हैं, इनको देखनेसे पाठकोंको पता

लग जायगा, कि एकहि टीकाकारके ग्रंथमें भी अध्यायोंके नाम मूलमें और टीकामें भिन्न भिन्न दिये हैं! देखिये ये हैं कोष्टक-- [इनमें श्री० शंकराचार्यके समान जो नाम हैं वहां (—) ऐसा चिन्ह है और जहां नाम दिया नहीं वहां (०) ऐसा चिन्ह किया है।]

श्रीमच्छंकराचार्य. मूलग्रंथ	भाष्य	म० वि. प्र. लिमये आचार्य	मूल	मधुसूदनस०	श्रीधरस्वामी	गीतासंग्रह.
१ अर्जुनविषादयोगः	०	--	१ —	०	०	१ —
२ सांख्ययोगः	०	--	२ --	सर्वगीतार्थसूत्रणं	०	२ --
३ कर्मयोगः	—	--	३ —	--	०	३ --
४ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः	--	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	ब्रह्मार्पणयोगः	ज्ञानयोगः	४ ज्ञानविभागयोगः
५ संन्यासयोगः	--	—	५ --	स्वस्वरूपपरिज्ञानं	—	५ —
६ ध्यानयोगः	--	—	६ आत्मसंयमयोगः	अध्यात्मयोगः	अध्यात्म०	६ अध्यात्मयोगः
७ ज्ञानविज्ञानयोगः	--	—	७ ज्ञानयोगः	ज्ञेयध्येयप्रतिपाद्यतत्त्व-ब्रह्मनिरूपणं नाम.	—	७ ज्ञानयोगः
८ ब्रह्माक्षरनिर्देशः	--	—	८ अक्षरपरब्रह्मयोगः	अक्षरपरब्रह्मविवरणं.	महापुरुषयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९ राजविद्याराजगुह्ययोगः	--	—	९ —	—	—	९ —
१० विभूतियोगः	--	—	१० —	—	—	१० —
११ विश्वरूपदर्शनं नाम	--	—	११ —	—	--	११ —
१२ भक्तियोगः	--	—	१२ --	--	--	१२ —
१३ प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	--	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः	--	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१४ गुणत्रयविभागयोगः	--	—	१४ --	--	--	१४ —
१५ पुरुषोत्तमयोगः	--	—	१५ --	--	--	१५ पुराणपुरुषोत्तमयोगः
१६ दैवासुरसंपद्विभागयोगः	--	—	१६ --	--	—	१६ —
१७ श्रद्धात्रयविभागयोगः	--	—	१७ —	-- (विवरणं)	-- (विवरणं)	१७ —
१८ मोक्षसंन्यासयोगः	—	—	१८ संन्यासयोगः	-- (प्रतिपादनं)	मोक्षयोगः	१८ संन्यासयोगः
[अष्टेकर—मुद्रित.]		(श्रीमच्छंकराचार्यजीके समान)		[आनंदाश्रम-मुद्रित]		[अष्टेकर-मुद्रित]

लो० बा. गं. तिलक.			दामोदर सांवळाराम मुद्रित गीतापंचरत्न सार्थ (मराठी)	म० गांधीजी. (गुजराती)	निर्णयसागरमुद्रित.
	मूल.	अर्थ			
१	—	—	१ —	१ —	१ —
२	—	—	२ —	२ —	२ —
३	—	—	३ —	३ —	३ —
४	—	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	४ —	४ कर्मब्रह्मार्पणयोगः
५	—	—	५ संन्यासयोगः	५ कर्मसंन्यासयोग.	५ कर्मसंन्यासयोगः
६	अध्यात्मयोगः	ध्यानयोग	६ आत्मसंयमयोगः	६ —	६ आत्मसंयमयोगः
७	—	—	७ ज्ञानयोगः	७ —	७ —
८	अक्षरब्रह्मयोग	अक्षरब्रह्मयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोग.	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९	—	—	९ —	९ —	९ —
१०	—	—	१० —	१० —	१० —
११	—	विश्वरूपदर्शनयोग	११ — (नाम)	११ विश्वरूपदर्शनयोग.	११ विश्वरूपदर्शनयोगः
			— (योगः)		
१२	—	—	१२ —	१२ —	१२ —
१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	१३ प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोगः
१४	—	—	१४ —	१४ —	१४ —
१५	—	—	१५ —	१५ —	१५ —
१६	—	—	१६ सुरासुरसंपत्तियोगः	१६ —	१६ —
१७	—	—	१७ —	१७ —	१७ —
१८	—	—	१८ संन्यासयोगः	१८ संन्यासयोग.	१८ संन्यासयोगः
(प्रथमवार मुद्रित-मराठी) (तृतीयवार हिंदी)			(इंदुप्रकाशमुद्रित)	(नवजीवनमुद्रित.)	

श्रीमच्छंकराचार्यजीके नामपर छपे ग्रंथमें १३ वें अध्यायका नाम मूलमें "प्रकृतिपुरुषविवेकयोग" छपा है और उसी अध्यायके भाष्य में उसी अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' मुद्रित हुआ है। एकही मुद्रक और एकही प्रकाशक है।

आनंदाश्रममें मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामी की टीकाएं छपी हैं, उनमें मूलमें अध्यायों के नाम और टीकामें अध्यायोंके नाम विभिन्न हैं। ये टीकाकार श्रीशंकराचार्यजीके अनुगामी होने पर भी शांकरभाष्य में दिये अध्यायके नामोंसे भिन्न नाम इनके मूलमें पाये जाते हैं और इनकी टीकाओंमें तो उससेभी अधिक भिन्नता है !! ये तीनों कोष्टक पाठक स्वयं तुलना करके देखें।

लो० तिलक-मुद्रित 'गीतारहस्य'में भी छठे अध्यायमें मूलमें 'अध्यात्मयोग' छपा है और अर्थ में 'ध्यानयोग' नाम छपा है तेरहवें अध्यायका नाम मूलमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' है और अर्थ में 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' छपा है !

अन्य छपे पुस्तकोंके अध्यायोंके नाम पाठक इन कोष्टकोंमें देखकर उनकी विविधताका अनुभव कर सकते हैं। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये नाम एक ही होने चाहियें, और इनमें इस प्रकार विविधता नहीं होनी चाहिये। परंतु इस प्रकारकी शिथिलता चली आती है और अभीतक इसका नियंत्रण नहीं हुआ, यह निःसंदेह खेदकी बात है।

इनमें कई नाम अर्थकी दृष्टीसे एकत्व के बोधक माने जा सकते हैं, परंतु कई नाम विभिन्न ही हैं और उनमें संगति लग नहीं सकती। जैसा-लो० तिलकजीके छठे अध्यायके मूलमें 'अध्यात्मयोग' और अर्थमें उसीका नाम 'ध्यानयोग' छपा है। ये एक अर्थके नाम नहीं हैं। इसी प्रकार श्री० शांकर भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' और मूलमें 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' ये नाम १३ वें अध्याय के दिये हैं, यहां प्रकृतिपुरुषविवेकयोग है या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग है। अर्थात् यहां 'विवेकयोग' इष्ट है वा केवल 'योग' इष्ट है यह शंका रहती है।

चतुर्थ अध्यायके 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, ब्रह्मार्पणयोग, ज्ञानयोग, ज्ञानविभागयोग, कर्मसंन्यासयोग, कर्मब्रह्मार्पणयोग' इतने नाम हैं, इनमें कुछ भिन्न हैं और कइयोंकी संगति अर्थदृष्टिसे लग भी जायगी। इसी प्रकार अन्य अध्यायोंके विषय में कुछ भिन्नता और कुछ समानता भी है।

इतनी विभिन्नता होनेपर भी हम अध्यायोंका तात्पर्य देखकर और अध्यायके श्लोकोंके पदोंका विचार करके अध्यायोंके नाम इस समयमें भी निश्चित कर सकते हैं। इस विषयमें वक्तव्य इस प्रकार है-

१ पहिले अध्यायका सर्वसंमत नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। किसीका इस विषयमें मतभेद नहीं है। वास्तव में यह "विषाद-योग" ही है। 'अर्जुन' नाम अर्जन करनेवालेका है। धनार्जन, ज्ञानार्जन, मोक्षार्जन, ये विषय मनुष्यके द्वारा अर्जन करनेके हैं। अर्जन करनेका भाव प्राप्त करना है। ज्ञान, मोक्ष, अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनेका प्रारंभ विषाद स्थितिमें होता है। (विषीदन्निदमब्रवीत् । भ० गी० अ० १।२८) यह श्लोक इस अध्यायका नाम सूचित करता है।

२ द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' बहुसंमत है। केवल अकेले मधुसूदन सरस्वतीने अपनी टीकामें इसका नाम 'सर्वगीतार्थसूत्रण' दिया है। वस्तुतः द्वितीयाध्यायके श्लोक ३९ तक ही सांख्यमत का सिद्धांत वर्णन किया है। 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु। (भ० गी० २। ३९)' 'यह सांख्यसिद्धांत तुझे कहा अब योगसिद्धान्त सुन।' ऐसा कह कर सांख्यमत बताया और इसके पश्चात् ४० वे श्लोकसे योगमत कहनेका प्रारंभ किया है। इसके अनंतर ५४ वे श्लोक से 'स्थितप्रज्ञके लक्षण' और 'ब्राह्मी स्थिति' के लक्षण वर्णन किये हैं। इस प्रकार सांख्यमत, योगमत, स्थितप्रज्ञलक्षण और ब्राह्मीस्थिति इनका वर्णन इस अध्यायमें है। बहुत अधिक भाग सांख्यमत के प्रतिपादन के लिये गया है, इस कारण इस अध्यायका नाम

'सांख्ययोग' माना है। अथवा इसमें सांख्यमत और योगमत कहा है इसलिये भी इसको 'सांख्य+योग' कहा होगा।

३ तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' सर्व टीकाकारोंको संमत है और इसमें किसीकी विप्रतिपत्ति नहीं है।

४ चतुर्थ अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यास' जो श्रीशंकराचार्यजीने माना है वह ठीक है, क्यों कि अपना ज्ञान और कर्म ब्रह्मार्पण करनेसे, ईश्वरार्पण करनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा इस अध्यायमें कहा है। अनेक प्रकारके यज्ञ इस अध्यायमें कहे हैं, उन सबमें ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता वर्णन करके, वह यज्ञ (ब्रह्मार्पणं। भ० गी०४।२४) समर्पण बुद्धिसे करनेसे दोषमुक्त होकर श्रेष्ठ शान्ति प्राप्त होती है ऐसा यहां कहा है। कई दूसरे इसका नाम 'ब्रह्मार्पणयोग अथवा कर्मब्रह्मार्पणयोग' मानते हैं, ये नामभी पूर्वोक्त नाम के समान अर्थवाले ही हैं। इसलिये ये नाम माननेपरभी कोई हानि नहीं है। परंतु 'ज्ञानविभागयोग' आदि नाम चिन्त्य हैं।

५ पंचम अध्यायका नाम 'संन्यासयोग अथवा कर्मसंन्यासयोग' है। (सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। भ० गी० ५।१३) सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके संयमी मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है ऐसा इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो चतुर्थ और पंचम अध्यायका विषय करीब करीब एकसा ही है।

६ षष्ठ अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इस अध्यायमें मनकी एकाग्रता करके ध्यानयोगका अभ्यास करनेकी विधि कही है। इसीसे आत्मसंयम होता है अतः इसका नाम कई विद्वान् 'आत्मसंयमयोग' मानते हैं वह अयुक्त नहीं है।

७ सप्तम अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' बहुसंमत है। अकेले मधुसूदनसरस्वतीने इसका नाम अलग दिया है। इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें ही 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि' (भ० गी० ७।२) कहा है। इसमें 'ज्ञानविज्ञान' का संबंध इस अध्यायसे है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

८ अष्टम अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' प्रायः सर्वसंमत है। 'अक्षरब्रह्म, ब्रह्माक्षर' इन सब शब्दोंका तात्पर्य एकही है। इस अध्यायके तृतीय श्लोकमें 'अक्षरं ब्रह्म परमं' शब्द है जो इस अध्यायके विषयका सूचक है।

९ नवम अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' सबको संमत है। और ये शब्द 'राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।' (भ० गी०९।२) इस श्लोकमें ही आगये हैं।

१० दशम अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है, इस विषयमें किसीका विरोध नहीं है। (हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।) (भ० गी० १०।१९) इस श्लोकमें विभूतिकथन की बात स्पष्ट कही है।

११ ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शन' है, इसमें सबका एकमत है। इस नामके साथ 'योग' शब्द लगाना या नहीं इसी विषयमें किसी किसीका मतभेद है। भ० गी० ११।१६ में 'विश्वेश्वर विश्वरूप' ये शब्द अध्यायके नामके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त 'ऐश्वरं रूपं' (श्लो०३,९) 'ऐश्वरं योगं (श्लो० ८) 'अनंतरूप' (श्लो. ३८) ये शब्द भी इस अध्यायके नामके सूचक हैं।

१२ बारहवें अध्यायका नाम 'भक्तियोग' एकमतसे सब मानते हैं। इस अध्यायमें 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' (भ० १२।१५) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है, ऐसा कई बार कहा है, इसलिये इसका नाम भक्तियोग होनेमें कोई शंका नहीं है।

१३ तेरहवें अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' है क्योंकि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं' (भ० गी० १३।२) ये शब्द इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमेंही आगये हैं। श्रीशंकराचार्यजीने इसका नाम 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' मूलमें दिया है और भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' दिया है। दोनोंका अर्थ समानही है।

१४ चौदहवें अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभाग-योग' सर्वसंमत है। इस अध्यायमें 'सत्त्व, रज और तम' इन तीन गुणोंका विचार है इसलिये यह नाम सार्थ है।

१५ पंद्रहवे अध्याय का नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है। अकेले गीतासंग्रह कर्ताने 'पुराणपुरुषोत्तम-योग' नाम लिखा है और वह अनावश्यक है।

१६ सोलहवे अध्यायका नाम 'दैवासुरसंपद्वि-भागयोग' है। मुंबईके म० दामोदर सांवळाराम मुद्रित पंचरत्नगीतामें 'सुरासुरसंपत्तियोग' नाम लिखा है। यह भिन्न नाम अनर्थक है। 'दैवी' [संपत्] शब्द अध्याय (भ० गी० १६।३,५,६,)में आगये हैं, वहां एकस्थानपर भी 'सुर' [संपत्] नहीं है।

१७ सतरहवे अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभाग-योग' है। केवल मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामीने 'योग' शब्दके स्थानपर 'विवरण' शब्द रखा है। अन्तमें 'योग' शब्द रखना ही गीताकी परिपाटीके अनुरूप है।

१८ अठारहवे अध्यायके नाम 'मोक्षसंन्यास-योग' अथवा 'मोक्षयोग' तथा 'संन्यासयोग' ये दिये हैं। बंधनसे मुक्त होनेके लिये किस प्रकार संन्यास और त्याग करने चाहिये इसका वर्णन इस अध्यायमें है, अतः पहिला नाम अधिक योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार अध्यायोंके नाम हैं। अध्यायमें आये हुए शब्दोंके और वर्णनोंके साथ जो नाम मिलते हैं वे ही योग्य और आदरणीय हैं। अन्य नाम कल्पित समझने चाहिये। अब इन अठारह अ-ध्यायोंमेंसे प्रथम अध्यायके नामका विचार करके क्या बोध मिल सकता है यह देखेंगे--

प्रथम अध्यायका नाम।

विषादयोग !

पहिले अध्यायका नाम 'विषादयोग' है। यह विषादयोग द्वितीय अध्यायके श्लोक ८ या ९ तक है। वहां तक विषादकी बातें अर्जुन बोल रहा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हठयोग, राज-योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगके समान यह 'विषादयोग' कोई योगशास्त्रका भाग है वा यहां योग शब्दका कुछ और अर्थ है। योगके किसी ग्रंथमें भी 'विषादयोग' नामक कोई योग कहा नहीं है और न यह विषादयोग किसी स्थान-पर अनुष्ठान किया जाता है। हठयोग का अनु-ष्ठान किया जा सकता है, राजयोग का अनुष्ठान होता है, भक्तियोगका अनुष्ठान हो सकता है, वैसा इस 'विषादयोग' का अनुष्ठान नहीं होता। अनुष्ठान करने योग्य यह योग नहीं है। न इसपर कोई प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तक है। फिर इस-को यहां 'योग' क्यों कहा?

खेदका योग !

'विषाद' का अर्थ है 'खिन्नता, खेद, उत्साह-का संकोच होना, अपनी शक्तिकी न्यूनता होना, यह बात कोई अनुष्ठान करके प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ये सब योग ऐसे हैं कि जो अनुष्ठान करने योग्य हैं, लोग स्वेच्छासे उनका अनुष्ठान करते हैं और उस अनु-ष्ठानसे 'मनका उत्साह बढता है, खेद हटता है, सहजानंद प्राप्त होता है, अपनी शक्तिका विस्तार होता है, अपनी शक्ति बढनेका अनुभव होता है।' अर्थात् 'विषादयोग' का परिणाम शक्तिकी न्यूनता है तो अन्य योगोंका परिणाम शक्तिका विकास है।

पाठक यहां देखें कि 'योग' शब्द कैसे विचित्र अर्थमें यहां प्रयुक्त किया है। इसका संबंध भगवद्गीतामें कहे अन्य योगोंसे भी है; देखिये। इसका विचार करनेके लिये मनसे कुछ शब्दों की कल्पना करनी भी पडेगी। [निम्नलिखित कोष्टकमें गीतामें कहे योग स्थूल अक्षरसे दिये हैं और उनके विरुद्ध कल्पनासे रखे योग सूक्ष्म अक्षरसे दिये हैं।] यह विचार इसप्रकार है--

योगोंका सापेक्ष संबंध।

(आनंदयोग)	विषादयोग(अ० १)
पुरुषोत्तमयोग (अ० १५)	(हीनपुरुषयोग)
दैवीसंपद्योग (अ० १६)	आसुरसंपद्योग (अ० १६)
(सत्व)गुणयोग(अ० १४)	(रजतम) गुणयोग (अ० १४)
(सत्व)श्रद्धायोग(अ० १७)	(रजतम) श्रद्धायोग (अ० १७)
मोक्षयोग (अ० १८)	(बंधयोग)
संन्यासयोग (अ० ३)	(भोगयोग)
कर्मयोग (अ० ३)	(आलस्ययोग)
ज्ञानविज्ञानयोग (अ० ७)	(अज्ञानकुज्ञानयोग)
सांख्ययोग(ज्ञानयोग। अ० २)	(अविवेकयोग, मोहयोग)
ब्रह्मार्पणयोग (अ० ४)	(अहंकारयोग)
(ईश्वरार्पणयोग)	(आसुरभावयोग)
ध्यानयोग (अ० ६)	(चांचल्ययोग)
आत्मसंयमयोग (")	(असंयमयोग)
अक्षरब्रह्मयोग (अ० ८)	(क्षरविषययोग)
विभूतियोग (अ० १०)	(अभूतियोग)
विश्वरूपदर्शनयोग (अ० ११)	(व्यक्तिरूपमोहयोग)
राजविद्यायोग (अ० ९)	(कुविद्यायोग)
राजगुह्ययोग (")	(गुह्यहानियोग)
भक्तियोग (अ० १२)	(भक्तिहीनत्वयोग)
प्रकृतिपुरुषविवेकयोग(अ० १३)	(विवेकहीनतायोग)
क्षेत्रयोग (")	(क्षेत्रवियोग)
क्षेत्रज्ञयोग (")	(क्षेत्रज्ञवियोग)

इस कोष्टकमें पाठक देख सकते हैं कि, विषाद-योगके साथभी उतनेही योग हैं कि जितने आनंद योग अथवा पुरुषोत्तमयोग के साथ हैं। यहां प्रथमाध्यायमें जो विषादयोग कहा है, वह अकेला नहीं है, उसके साथी इतने या इससे भी अधिक हैं, अर्जुनके मनको इन सबने घेर लिया था, जिसका परिणाम अर्जुनको विषाद होने में हुआ। इन सब कुयोगोंने अर्जुन के मनको घेर लिया था, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें इतने सुयोग कहे गये और इन सुयोगोंके बलसे शत्रु-रूपी कुयोगोंको दूर किया गया। गीताके हरएक सिद्धान्त के उपदेशका इस प्रकार कारण है, कोई उपदेश व्यर्थ नहीं किया गया है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि प्रायः सब कुयोग विना प्रयत्न किये ही पास आते हैं, और सब सुयोग निरलस प्रयत्नोंसे साध्य करने पडते हैं। असंयम के लिये बहुत प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है परंतु संयम करना हो तोही अनेक नियमों का पालन करना पडता है। शत्रु लानेके लिये बहुत प्रयत्न नहीं चाहिये, परंतु शत्रुको दूर करने के लिये ही सब सायास करने पडते हैं। गिरना आसान है परंतु चढना कठिन है।

विषादयोग का एक महत्त्व भी है। विषाद होनेके विना आनंदका महत्त्व ध्यानमें नहीं आता है; बंधनमें पडनेके विना स्वाधीनता का महत्त्व विदित नहीं होता। निर्बलताके विना बल का महत्त्व ध्यानमें नहीं आसकता। यद्यपि विषाद प्रयत्नसे प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, तथापि उससे ही आनन्द और उत्साह की श्रेष्ठता अधिक उज्वल होती है।

यदि पारतंत्र्यका दुःख अनुभवमें न आवेगा, तो कौनसा वीर स्वातंत्र्यके लिये प्रयत्न करेगा? यदि बंधन न होगा तो मुक्तिके लिये कौन प्रयत्न करता? उसी प्रकार यदि विषाद अथवा खेद न होगा, तो उत्साह और आनंदका रसास्वाद किस-को प्राप्त होगा? जगत्के व्यवहारमें इस सापेक्ष संबंधसे ही कार्य चलता है। यहां ऐन युद्धके प्रसंगमें अर्जुन जैसे वीर को खिन्नता हुई और मोह हुआ, इसी लिये बंधनसे छुडानेवाली यह भगवद्गीता प्रकाशित हुई !!!

शिष्यके मनकी भूमिका योग्य रीतिसे तैयार न हुई तो उसके मनमें कोई उपदेश स्थिर नहीं होसकता। जितनी विषाद, खेद और निराशा मनमें उत्पन्न होती है उतना आनंद, उत्साह और आशावादका उपदेश मनमें जम जाता है। जिस प्रकार खेतमें हल चलाकर भूमिको उखेडा जाता

है और पश्चात् उसमें बीज बोया जाता है; उसी प्रकार मनोभूमिकामें विषाद या खेद रूपी हल चला कर मनको उखेडा जाता है और उसमें आत्मोन्नतिके उपदेशका बीज बोया जाता है।

यह विषाद केवल अर्जुन कोही भारतीय युद्धभूमिपर हुआ था, ऐसी बात नहीं है; हरएक मनुष्यको यह विषाद किसी न किसी अर्जन करनेके समय होताही है। विद्यार्जन, धनार्जन, स्वाधीनताजन आदि जो मनुष्यके श्रेष्ठ प्राप्तव्य होते हैं, उनके प्राप्त करनेके पूर्व यह उदासीनता, खेद या विषाद किसी न किसी रूपमें मनुष्यके मनमें आते ही हैं। इस संसारमें विचरनेवाला मनुष्य कितने प्रसंगोंमें खिन्न होता रहता है, यह देखनेसे इस विषादयोगका मानवी जीवनसे कितना घनिष्ठ संबंध है इसका ज्ञान हो सकता है। और यह ज्ञान होते ही गीताके उपदेश हरएक मनुष्यको ऐसे विषादके प्रसंगमें सहायक होनेवाले हैं, यह बात ध्यानमें आवेगी और उससे यह निश्चय हो जायगा कि, यह गीता मनुष्यमात्रका खेद दूर करके उसको जीवनका आत्मानंद देनेवाली है, अतएव यह ग्रंथ मनुष्यमात्रको उच्च मार्ग दर्शानेवाला ग्रंथ है।

संजयका उपदेश और अर्जुनका मोह.

हमने पहले बता दिया है कि, अर्जुनका मोह संजयके कपटी उपदेशके कारण हुआ था। यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां संजयके कपटी उपदेशके कुछ वचन देते हैं और उसके साथ साथ अर्जुनके मनपर उसका कितना गहरा परिणाम हो गया था। वह बतानेके लिये अर्जुनके भी वचन देते हैं। देखिये—

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं ते वै पुत्राः सुहृदो बांधवाश्च। उपकुष्टंजीवितं संत्यजेयुर्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात् ॥८॥ ते चेत्कुरूननुशिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य। समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं ज्ञातिवधेन साधु ॥९॥ म० भा० उद्योग. अ० २५

"वे लोग धन्य हैं कि जो अपनी जातीका कल्याण करते हैं और वेही सच्चे पुत्र, मित्र और बांधव हैं। वे निंदित जीवनका त्याग सदाके लिये करें, जिससे कौरवोंका वैभव बढ जाय॥ ऐसा न करते हुए यदि तुम पांडव कौरवोंको शत्रु मानकर मारोगे तो तुम्हारा जीवन मरनेके समान ही हो जायगा, क्योंकि ज्ञातिवधके पापसे तुम्हारा जीना कलंकित होगा।"

कैसा कपट है देखिये, जातिहित करनेवालेकी महती वर्णन करता है और अधर्म फैलानेवालोंका नाश करनेसे पाप लगेगा ऐसा कहता है। इसका प्रतिबिंब अर्जुनके भाषणमें हुआ है, देखिये—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
गीता० अ० १

"धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पापही लगेगा।" इत्यादि श्लोक यहां पाठक देखें। तथा और देखिये—

सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाऽधिगच्छामि किंचित् ॥१२॥
म० भा० उ० अ० २५

"मैं हार और जीतमें कुछ भी कल्याण नहीं देखता हूं।" यही संजयका कहना अर्जुनके मनपर कैसा जम गया है यह द्वितीयाध्यायमें देखिये-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
भ० गी० २।६

"हम कौरवोंको जीतेंगे, अथवा वे हमें जीतेंगे, इनमें से क्या होगा और इनमेंसे कौनसा हमारे लिये अच्छा है यह भी मेरे समझमें नहीं आता है।" वेही शत्रुके कपटी उपदेश कैसे मनमें जमगये हैं देखिये। तथा और भी—

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ॥१३॥
म० भा० उ० २५

"पाण्डव धर्मात्मा हैं, वे नीच कुलमें उत्पन्न हुए हीन मनुष्योंके समान (युद्ध करनेका पाप) कर्म कभी नहीं करेंगे।" अर्थात् पाण्डवोंकी प्रशंसा करके उनको युद्धसे हटानेके लिये यह कपटपूर्ण वाक्य संजयने कहा है। अर्जुन यही भाव अन्य शब्दोंमें बोल रहा है, देखिये—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान्॥३७
म० गी० १

"इसलिये हम अपने भाई धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करनेके लिये योग्य नहीं हैं।" अर्थात् यदि हम युद्ध करके उनका वध करेंगे, तो हम नीच हो जायगे। इसी प्रकार और देखिये—

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ॥
महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥ १॥
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो॥
भैक्षचर्यामंधकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्॥ २॥
म० भा० उ० २७

"हे पाण्डवो! आपके सब कर्म धर्मानुकूल ही होते हैं, धर्मके विषयमें आपकी कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध है। मनुष्यका जीवित अनित्य है यह आप जानतेही हैं, अतः इसका विचार कर युद्धसे इन सबका नाश मत कीजिये। हे युधिष्ठिर! यदि कौरव लोग युद्धके विना आपका राज्य वापस न देंगे, तो आप सब पाण्डव भिक्षा मांगकर अंधक और वृष्णी देशमें रहिये। युद्ध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर रहना अधिक अच्छा है।" इसी भीख मांगनेका प्रतिध्वनि अर्जुनके भाषणमें देखिये—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं
भैक्ष्यमपीह लोके॥ भ० गी० २।५

"गुरुजनोंका वध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर इस लोकमें जीविका निर्वाह करना अच्छा है।" इसी प्रकार और देखिये—

निबंधनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात्॥५॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः॥ ६॥
म० भा० उद्यो० २७

"हे युधिष्ठिर! तृष्णा बंधनमें डालनेवाली और धर्मका नाश करनेवाली है। अतः जो धर्म स्वीकारता है वह ज्ञानी कहलाता है। उत्तम धर्म कर्म करनेसे आपका तेज सूर्यके समान फैलेगा। परंतु धर्म छोडकर आपने इस पृथ्वीका राज्यभी प्राप्त कर लिया, तो भी उससे गिरावट ही है।"

पाठक यहां देखें कि यह संजय पांडवोंको ही धर्मका उपदेश कर रहा है, कौरवोंके दुष्ट कर्तृत जानता हुआ भी यह कपटी अधिकारी पांडवोंका स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न सदोष है ऐसा कहता है, यही विचार मनमें रखकर अर्जुन बोलता है-

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३॥
भ० गी० १

"मैं इनको मारनेकी इच्छा नहीं करता। हे कृष्ण! यदि त्रैलोक्यका राज्यभी मिल जाय, तो भी मैं यह पाप नहीं करूंगा, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये कौन करेगा?" शत्रुके कपटी उपदेशोंसे देशके नवयुवक कैसे फंसते हैं इसका यह उत्तम उदाहरण है। और देखिये—

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजहाः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम्।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः॥ १५॥
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।

निवसध्वं वर्षपूगान्वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥
म० भा० उद्यो० अ० २७

"हे पांडव ! सत्य, आत्मसंयम, सरलता तथा मृदुता का मार्ग न छोडिये। अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ करके पश्चात् आप इस युद्धके पापमार्गसे जांयगे ? यदि धर्म छोडकर इस पापमार्गमें आप जाना चाहते हैं तो अनेक वर्ष वनवास में रहिये, इस पापसे वनवास अच्छा है।" देखिये स्वराज्य का प्रयत्न करनेवालोंको ही साम्राज्यवादी वनवास में जानेका उपदेश करतेहैं!!! कौरव दुराचार करें और राज्य भोगें और पांडव धर्म पालन करें और वनवास में रहें। येही संजयके विचार अर्जुन बोल रहा है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
भ० गी० १।४५

"हम जो राज्यके लोभसे अपने बांधवों का वध करना चाहते हैं वह बडाभारी पाप हम कर रहे हैं।" संजयके कपटी उपदेशसे अर्जुन इस प्रकार मतिभ्रष्ट हो गया था। और देखिये--

पापानुबंधं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्यात्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्यात्
यद्विन्देथास्तदनुब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥
लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
एवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
अमात्यानां यदि कामस्य हेतोः
एवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रमेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥२७॥
म० भा० उ० अ० २७

"हे धर्मराज ! कौन बुद्धिमान् पुरुष युद्धरूपी पापको करनेकी इच्छा करेगा ? आपको क्षमा ही शोभा देती है ! भोग भोगना क्या है ? जहां भीष्म और अश्वत्थामासहित द्रोण मारे जांयगे, कृपाचार्य, शल्य, सौमदत्ति, विकर्ण, विविंशति, कर्ण, दुर्योधन मारे जांयगे, वहां तुमको कौनसा सुख मिल जायगा? हे धर्मराज! यदि तुम्हें सब पृथ्वी का भी राज्य मिल जावे, तोभी मृत्यु तो तुम्हें नहीं छोडेगा। फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ होगा ? तुम्हारे मंत्रिगणों के आग्रहसे तुम युद्ध करनेको तैयार हुए होंगे, तो उनको जो चाहे सो देकर तुम देवयान मार्गसे भ्रष्ट न हो जाओ। युद्ध करोगे तो देवयानमार्गसे भ्रष्ट हो जाओगे।"

देखिये यह कौरवोंका उपदेशक पांडवोंको ही देवयान मार्गका उपदेश करता है!! यदि देवयान मार्गपर इसका सच्चा विश्वास है, तो वह अपने साम्राज्य चलानेवाले भाईयोंको ही क्यों नहीं यह उपदेश सुनाता? परंतु पाण्डवोंको इस युद्धसे हटाना इसका प्रयोजन है और उस प्रयोजन की सिद्धिके लिये धर्मका सहारा इसने लिया है ! अर्जुनके भाषणमें इसीकी प्रतिध्वनि देखिये-

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥ भ० गी० अ० १

तथा—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
भ० गी० अ० २

" जिनके लिये हमने राज्यादि कमाना है वे ही यहां मरनेके लिये आगये हैं, अतः इनका वध मैं नहीं करूंगा। पूजा करने योग्य इन भीष्मद्रोणोंके ऊपर मैं बाण कैसे चलाऊं? " इस प्रकार अर्जुन शत्रुके कपटी उपदेशोंका ही अनुवाद करता है!

मन शत्रुके विचारोंसे प्रभावित होनेका परिणाम ऐसाही होता है। अतः जो स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने विचारोंको शत्रुके कपटी उपदेशोंसे न प्रभावित होने दें। विचारोंकी स्वतंत्रता रही तो बाह्य जगत्के व्यवहारोंमें भी स्वाधीनता प्राप्त होसकती है। परंतु यदि मन ही दब गया, तो फिर पराधीनता हटना कठिन है।

संजयका कपटी उपदेश और अर्जुनका खेद देखनेसे और दोनोंके वाक्योंकी इस प्रकार तुलना करनेसे पाठक जान सकते हैं कि शत्रुके उपदेशों-द्वारा किये गये धर्मोपदेशभी राजकीय हेतुको केन्द्रमें रख कर ही किये होते हैं। अतः उनको बडी सावधानीसे सुनना चाहिये और सुननेपरभी बडी सावधानीसे ही उनको स्वीकारना चाहिये। अन्यथा मोह और विषाद जैसा अर्जुनके पल्ले पडा वैसेही उस भोले आदमीके भी पल्ले पडेगा।

इस विषादयोग के अध्ययनसे यह सावधानी की सूचना मिलती है। पाठक इस सूचनाको मनमें धारण करें। अब आगे भगवान् श्रीकृष्ण भूले अर्जुनको क्या उपदेश देते हैं देखिये—

अर्जुन-विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त।



प्रथम अध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक ।

१ अपना और शत्रुका बल ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलम्‌ .... ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम्‌ .... ॥ १० ॥

भ० गी० १ । १०

" हमारा बल अपूर्ण है। और इन (शत्रुओंका) बल पूर्ण है।" अपना बल अपूर्ण है ऐसा मानकर उसको हरएक रीतिसे बढानेका यत्न करना, तथा शत्रुका बल थोडा हुआ तो भी उसको पूर्ण मान कर उसके प्रतिकारका यत्न करना विजयेच्छु पुरुषको योग्य है।

२ प्रवेशद्वारकी रक्षा ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
.... अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

भ० गी० १ । ११

" सब प्रवेशके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दक्षतासे रहते हुए आप अपनी सब ओरसे रक्षा कीजिये।" देहद्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ये शत्रुका प्रवेश अंदर होनेके स्थान होते हैं। यदि इन प्रवेशद्वारोंमें उत्तम रक्षाका प्रबंध रहा तो शत्रुका प्रवेश अंदर नहीं होगा। अतः इन प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षाका प्रबंध करना चाहिये। यह रक्षाका सूत्र है, इससे व्यक्तिकी, घरकी, नगरकी, राष्ट्रकी अर्थात्‌ सबकी रक्षा होसकती है।

३ संयमीसे प्रश्न पूछना ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते .... हृषीकेशं .... आह ॥

भ० गी० १ । २०-२१

" युद्धके समयमें .... इंद्रियोंका जिसने संयम किया है ऐसे संयमी पुरुषसे ही .... (जो कुछ प्रष्टव्य होगा वह) पूछना योग्य है।" असंयमी पुरुषसे पूछा जाय तो अहित होगा। युद्धके समय आत्मसंयम करनेवालेकी ही संमति लेनी योग्य है।

४ शत्रुका निरीक्षण करना ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्‌ ।
कैर्मया सह योद्धव्यम्‌ .... ॥ २२ ॥ भ. गी. १ । २२

" जिनके साथ मुझे लढना है उनको मैं पहिले देखता हूं।" युद्धके पूर्व शत्रुकी वास्तविक अवस्थाको देखना योग्य है। इस जगत्‌में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी युद्धमें खडा है, अतः उसको उचित है कि वह अपने शत्रुओंकी तैयारियां कैसी हैं, इसका पहिले अवलोकन करे और वैसी लडनेकी अपनी तैयारी रखे।

५ स्वजनोंपर शस्त्र न चलाना ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।

भ० गी० १ । ३१

" अपने लोगोंपर शस्त्र चलानेसे कोई कल्याण नहीं होगा।" अपनेही लोगोंपर हथियार चलाकर स्वयं अपने देशभाईयोंका नाश करना किसीको भी योग्य नहीं है। तथा—

.... नार्हा वयं हन्तुं स्वबांधवान्‌ ॥ भ. गी. १ । ३७

" हमें अपनेही भाईयोंका वध करना उचित नहीं है।" और भी देखिये—

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम? ॥

भ० गी० १ । ३७

" अपने ही लोगोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं?" जो लोग समझते हैं कि, अपने लोगोंका नाश अपने हाथसे करके हम सुखी हो जायगे, वे भ्रममें पडे हैं; क्योंकि वे अपने ही प्रयत्नसे अपना नाश कर रहे हैं। शत्रु तो हम दोनोंको खानेके लिये बैठा है। वह जैसा हमको खायेगा वैसा हमारे भाइयोंको भी खा जायगा। ऐसी अवस्थामें यदि हमने अपने ही भाइयोंका वध किया, तो उससे शत्रुका बल बढेगा और हमारा घट जायगा। अतः स्वजनोंपर शस्त्र चलाना अयोग्य है। इसलिये कहा है—

····महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः····। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

भ० गी० १।४५

"जो राज्य सुख और लोभसे अपने ही लोगों का वध करते हैं वे बडा भारी पाप करते हैं।" भूमि, नौकरी, वेतन अथवा धन या मान प्राप्त करनेके लिये जो लोग अपनेही लोगोंपर शस्त्र चलाते हैं वे बडा भयंकर पाप करते हैं।

६ पापसे बचना।

यद्यप्येते न पश्यन्ति····दोषं····पातकम्।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्॥

भ० गी० १।३८-३९

"यदि ये (दूसरे लोग) इसमें दोष अथवा पाप नहीं देखते, तथापि हम इस पापसे दूर होनेका उपाय क्यों न सोचें?" दूसरे लोग किसी दुष्कर्म में दोष या पाप नहीं देखते हैं और पाप करते हैं, यह हेतु नहीं कि, जिससे हम भी वैसाही दोष और पाप करते जांय। यदि हम उसमें पाप देखते हैं, तो उससे निवृत्त होनेका प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

७ कुलक्षयसे धर्मनाश।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।

भ० गी० १।४०

"कुलका नाश होनेसे कुलके साथ सनातन कालसे चले आये धर्म नष्ट हो जाते हैं।" कुल परंपरासे चली आयी विद्या कला आदि कुलके नाशके साथ नाशको प्राप्त होती है, अतः वंशबीज की रक्षा करना उचित है।

८ कुलस्त्रियोंकी गिरावट।

अधर्माभिभवात्····प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः॥

भ० गी० १।४१

"अधर्मप्रवृत्ति बढ जानेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं।"

९ स्त्रीदोषसे वर्णसंकर।

स्त्रीषु दुष्टासु····जायते वर्णसंकरः।

भ० गी० १।४१

"स्त्रियां दोषी होनेसे···वर्णसंकर होता है।" अर्थात् व्यभिचार आदि दोषोंसे वर्णसंकर होता है, अतः स्त्रियोंकी व्यभिचारादि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना समाजकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। व्यभिचारादि दोषसे रक्षा तो जैसी स्त्रियोंकी वैसी पुरुषोंकी भी होनी चाहिये।

१० वर्णसंकरसे नरक।

संकरो नरकायैव····। भ० गी० १।४२

"वर्णसंकरसे नरक अर्थात् मनुष्य अवनत होता है।" नर-क अर्थात् छोटा मनुष्य, हीन मनुष्य। वर्ण शुद्ध रहनेसे मनुष्य उन्नत होता है और वर्णसंकर से अवनत होता है। अतः व्यभिचारादि दोष से वर्णसंकर होने देना योग्य नहीं है।

११ निःशस्त्रका वध।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
····हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ भ०गी० १।४६

"यदि बदला न लेनेवाले मुझ निःशस्त्रका शस्त्रधारी (शत्रु) वध करेंगे, तो मेरा अधिक कल्याण होगा।" निःशस्त्र अहिंसक शान्त और क्रोध न करनेवाले निर्वैर मनुष्यका वध यदि शस्त्रधारी क्रूर शत्रुने किया, तो उस शस्त्रधारी वधकर्ता की निन्दा सब लोग करते हैं, और उस निःशस्त्र निर्वैर के लिये जगत् की सहानुभूति मिलती है। इस प्रकार उच्च भूमिकापर अहिंसक का विजय और हिंसक का पराजय होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी.

प्रथमाध्यायकी विषयसूची.

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

सांख्ययोगः।

संजय उवाच— तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(१) अनार्य कर्मका निषध।

श्रीभगवानुवाच— कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वयः- संजयः उवाच- तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ॥१॥ श्रीभगवान् उवाच— हे अर्जुन! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलं, विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम्? ॥ २ ॥

संजय बोले-- इस प्रकार कृपासे व्याप्त और अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले खिन्नहृदय उस (अर्जुन) को मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने ये वचन कहे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन! (अनार्यही जिसका आचरण करते हैं, किंवा) आर्य जैसा कभी आचरण नहीं करते, जिससे स्वर्गप्राप्तिमें बाधा हो सकती है और जिससे दुष्कीर्ति होती है, ऐसी यह मनकी उदासीनता, इस प्रतिकूल समयमें तुझे कहांसे प्राप्त होगई ॥ २ ॥

अध्याय दूसरा।

सांख्ययोग।

पूर्व अध्यायमें वर्णन हुई रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न होगई और उस कारण वह अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हुआ। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते हैं, यह प्रसंग संजयके मुखसे इस प्रकार धृतराष्ट्रने सुना—

(१) "हे धृतराष्ट्र! अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दयाका भाव उत्पन्न हुआ, क्योंकि उसको इस बातका निश्चय ही था, कि यदि मैं युद्ध करनेके लिये धनुष्यबाण लेकर खडा हुआ, तो इनमेंसे कोई नहीं बचेगा। सबके सब निश्चयपूर्वक मर जांयगे। इस आत्मविश्वास के कारण उन सबकी मृत्युका भयानक चित्र उसके आंखोंके सन्मुख खडा हुआ और उसको देखकर अर्जुनके आंख आंसुओंसे भर गये, हृदय गद्गद होगया, अन्तःकरण दयासे भरा और मन अत्यन्त खिन्न दुःखी और शोकपूर्ण हुआ, और इस कारण युद्ध न करनेका निश्चय उसने किया। युद्ध करनेके निश्चयसे उसको बडा पश्चात्ताप हुआ और उस कारण वह अपने युद्धके निश्चय की ही निंदा करने लगा!"

जब यह अर्जुनकी अवस्था भगवान् श्रीकृष्णने देखी, तब वह आश्चर्यसे चकित होगये, और वे उसे इस प्रकार बोधवचन कहने लगे—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! क्लैब्यं मा स्म गमः। त्वयि एतत् न उपपद्यते। हे परंतप ! इदं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र ! तू नपुंसक मत बन। तेरे लिये यह योग्य नहीं है। हे शत्रुओंको ताप देनेवाले ! अन्तःकरणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोडकर (युद्धके लिये) खडा हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— हीन अथवा अवनत हुए मनुष्योंके समान आचरण करना, किसीकोभी योग्य नहीं है; श्रेष्ठ सज्जन जो कार्य कभी नहीं करते वैसा कार्य भी कोई न करे। जिससे उच्च लोकोंकी प्राप्तिमें बाधा हो और जिससे अपना यश कलंकित हो वैसा करनाभी किसीको योग्य नहीं है। हरएक मनुष्य सदा सावधानतासे अपना कर्तव्य करे, परंतु प्रतिकूल अवस्थामें तो विशेषही दक्षतासे स्वकर्तव्य करे। प्रतिकूल समयमें मनकी उदासीनताको अपनेपास आने न दे। कोई मनुष्य नामर्द न बने। अपने अन्तःकरणमें सदा वीरता धारण करे। और हृदयकी दुर्बलताको पूर्णतासे छोड देवे ॥ २-३ ॥

आर्यत्वकी रक्षा।

(२—३) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आर्यत्वकी रक्षा करनेका उपदेश सबसे प्रथम कर रहे हैं, क्योंकि आर्यत्वकी रक्षामें सब मानवधर्मकी रक्षा आगई है। 'आर्य' शब्दका अर्थ "सुयोग्य, श्रेष्ठ, सन्मान्य, उच्च, उच्चकुलोत्पन्न, स्वामी, सदाचारसे बर्ताव करनेवाला" है। जैसा आचरण इस समय अर्जुन कर रहा है, वैसा कोई आर्य कदापि नहीं करेगा। (अनार्यजुष्ट) जो अनार्य होते हैं, वे ही समयका महत्त्व न जानकर जैसा चाहे वैसा हीन व्यवहार करते रहते हैं। परंतु वैसा करना आर्योंके लिये कदापि योग्य नहीं है। मांधाता, श्रीरामचंद्र, जनक आदि आर्य राजाओंका आदर्श जीवन सन्मुख रखो और यह समय कैसा है, इसका विचार करो।

विषम समय।

(विषमे) शत्रु तो तुम्हारे सिरपर नांच रहा है, तुम्हारा नाश करनेके लिये इस समयतक उसने हजारहां कपटप्रयोग किये थे, इस समयभी शत्रु कमर कसके तुम्हारा नाश करनेके लिये सज्ज हुआ है और तुम्हारे सन्मुख उपस्थित है। तुम्हारा राज्य तुम्हारे शत्रुके आधीन है, उसका सेनाबल, धनबल और अधिकारबल तुमसे कई गुना अधिक है, तुमने इस समयतक इतने कष्ट सहे, सत्यधर्ममें निष्ठा रखी, कभी अधर्मकी ओर रुची नहीं की, उनके अत्याचार करनेपरभी तुमने शान्ति धारण की; तो भी तुम्हारे शत्रुका अत्याचार करनेका स्वभाव कम नहीं हुआ। अन्तिम सन्धिसभामें जब सन्धिकी बातें चलीं, उस समय दुर्योधनने स्पष्ट शब्दोंसे कहा कि "विना युद्ध किये रतिमात्र भूमि तुम्हें प्राप्त नहीं होगी।" इतना शत्रुका दुराग्रह है, वह तुम्हें स्वराज्य कदापि सुखसे नहीं देगा। इस बातका पूर्ण निश्चय होनेके बादही युद्ध करनेका निश्चय सर्वसंमतिसे किया। धर्मराज, भीम, नकुल, सहदेव, सती द्रौपदी तथा तुम्हारे अन्यान्य हितचिंतकोंकी विचारणासे युद्ध करनेका निश्चय किया।

युद्धकी तैयारी।

युद्धके लिये ही तुमने कैलासमें गमन करके भगवान् शंकरसे पाशुपत अस्त्र लाये, और देव-

राज इन्द्रसे दिव्य अस्त्र भी प्राप्त किये। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के भयंकर कष्ट सहन करके अपने सब दुःखों और कष्टोंका परिमार्जन करनेके लिये तुम यहां रणक्षेत्रमें आये हो।

पाशवी बलका नियमन।

इसके अतिरिक्त जगत्‌में अधार्मिक दुष्ट मनुष्य मनमाना अत्याचार पाशवी बलके जोरके कारण न करें और धार्मिक लोग निर्भय होकर जगत्‌में संचार करें, इस प्रकारकी धर्ममर्यादा स्थापन करनेके हेतुसे यह युद्ध हम कर रहे हैं, ऐसे धर्मयुद्धमें तुम्हारे जैसे आर्य वीरको आनंदके साथ अपना कर्तव्य करना चाहिये।

परंतु तुम तो अनार्योंके समान अपने कर्तव्यको न समझते हुए कार्यक्षेत्रसे पीछे हटते हो! क्या यह तुम्हारे जैसे आर्यवीर को योग्य है? तुम्हारे पूर्वज आर्योंमें से कोई भी आर्यवीर इस प्रकार युद्धके समय मोहित भी नहीं हुआ, और नाही युद्ध से पीछे हटा था। उसीके वंशमें तुम उत्पन्न हुए हैं और उनके ही श्रेष्ठ वंशके यशको कलंकित करते हैं!! हाय हाय! इस समय तुम अपने आर्यत्वकी रक्षा करो! अनार्य मत् बनो।

स्वर्गद्वार का मार्ग।

यह युद्ध क्षत्रियोंके लिये मानो स्वर्गद्वार खुला हुआ है, यदि तुम इस रणक्षेत्रसे भाग जाओगे, तो तुम्हारे स्वर्गप्राप्तिमें (अस्वर्ग्य) बडी बाधा आजायगी, युद्धसे भागनेवाले क्षत्रियको कभी स्वर्ग मिल नहीं सकता।

दुष्कीर्ति।

यदि तुम इस प्रकार रणक्षेत्रसे भाग गये तो तुम्हारा यश (अकीर्तिकरं) कलंकित होगा। क्षत्रियकी ऐसी अकीर्ति होना या किसी भी मनुष्यकी ऐसी दुष्कीर्ति होना योग्य नहीं। दुष्कीर्तिसे मरण अच्छा है। अतः दुष्कीर्तिके मार्गसे जाना तुम्हें योग्य नहीं है।

मनकी दुर्बलता।

(कश्मलं) यह मनकी मलीनता है जो अनार्यपथमें मनुष्य को जानेमें प्रवृत्त करती है, मानो यह मन का 'मल' ही है। यह मनकी मलीनता उसका धवल यश फैलानेमें रुकावट उत्पन्न करती है।

हे अर्जुन! तू अर्जुन अर्थात् अर्जन करनेवाला, प्राप्त करनेवाला, अपना स्वराज्य वापस लानेका प्रयत्न करनेवाला है, यह समय तुम पाण्डवों के लिये प्रतिकूलता का समय है। यह समय ऐसा है कि जिस समय तुम्हारे शत्रु हाथमें मट्टी पकडते हैं तो उसका सोना बनता है और तुम लोगोंने हाथमें सोना पकडा तो उसकी मट्टी बनती है। तुम्हारे शत्रु अधर्माचरण और अत्याचार करते हुए बढते जाते हैं, और तुम धर्ममार्गपर पैर रख कर चलते हो तोभी गिरते जाते हो, ऐसे प्रतिकूल समयमें तुम्हें मनकी उदासीनता धारण, किंवा मन की दुर्बलता धारण करना सर्वथा अयोग्य है। मनमें बल धारण करनेका यही समय है। परिस्थिति विपरीत होनेपर ही मनमें बल धारण करना चाहिये, तभी उस विपरीत परिस्थितिसे मनुष्य पार हो सकता है। अतः (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) इस समय यह मनकी दुर्बलता दूर कर और अपने मनमें बलको धारण कर।

वीरवृत्ती।

(क्लैब्यं मा स्म गमः) नपुंसक न बन, नामर्द न हो। हे अर्जुन! हमने सुना है कि जब तू अमरावतीमें देवराज इन्द्र के युद्धविद्यालय में दैवी अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये गया था, उस समय वहां की स्वेच्छासे व्यवहार करने वाली विदेशी सुंदर गौरवर्ण तरुणी उर्वशी का तुम्हारेसे कुछ प्रेमसंबंधका वार्तालाप हुआ था। उस समय आर्य कुमारको शोभा देने योग्य बर्ताव तुमने किया था, यह सुनकर हमने आनंदका

(२) रुधिरसे भरे भोग।

अर्जुन उवाच— कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— हे मधुसूदन! अहं भीष्मं द्रोणं च संख्ये इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि? हे अरिसूदन! (एतौ) पूजार्हौ ॥ ४ ॥ हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा, इह लोके भैक्ष्यं भोक्तुं अपि श्रेयः। गुरून् हत्वा तु, इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले-हे मधुसूदन! मैं भीष्म और द्रोणके साथ युद्धमें बाणों से कैसे लडूं? हे शत्रुके नाश करनेवाले कृष्ण! ये पूजा करने योग्य हैं ॥४॥ अत्यंत उदार अन्तःकरणवाले इन गुरुजनों को न मार कर, इस लोकमें भीख मांगकर खाना भी अधिक कल्याणकारी है। क्यों कि गुरुजनों का वध करके यहां उनके रक्तसे भरे हुए अर्थ और काम रूप भोगही भोगने पडेंगे ॥५॥

लाभ किया था। उस समय उस स्वेच्छाव्यवहारिणी कुमारिकाके जाल में तुम नहीं फंसे, यह तुमने उत्तम किया। परंतु उनके प्रस्तावका तिरस्कार करनेके कारण उसने तुमको 'नपुंसक' बन जानेका शाप दिया था, यह भी हमने सुना है। क्या इस समय तुमपर उसका कुछ परिणाम हो रहा है? फिर ऐसे वीरताके समयमें तुम ऐसे नामर्दके समान आचरण क्यों कर रहे हो? उर्वशी जैसी विदेशी तरुणियां इच्छाभंग होनेपर वैसा बुराभला कहतीं ही हैं, परंतु तुम जैसे वीरोंको उचित है कि वे अपने आत्मिक बलसे उस विचारका प्रतीकार करें। तुम यदि अपना मनोबल बढाओगे और अपने धैर्यपर स्थिर रहोगे, तो उस तरुणीके बुरेभले कहनेका कोई परिणाम तुमपर नहीं होगा। ऐसे विपरीत समय में (एतत् त्वयि न उपपद्यते) ऐसी मनकी दुर्बलता धारण करना तुम जैसे आर्य वीरको शोभा नहीं देता है।

हे अर्जुन! तुम (परं-तप) शत्रुको ताप देनेवाले, शत्रुका नाश करनेवाले प्रचंड महावीर हो! तुम्हारा प्रचंड शौर्य सुनकर शत्रु भाग जायंगे, तुम्हारे अस्त्रशस्त्रोंके प्रभाव के सामने कौन ठहर सकता है? अतः तुम्हें ऐसी मनकी कमजोरी ऐसे विपरीत और प्रतिकूल समयमें धारण करना कदापि योग्य नहीं।

इस प्रकारका उत्साहवर्धक उपदेश सुनकर अर्जुन अपने मनके भाव फिर कहता है—

(४-८) अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेके अपने कारण बता रहा है। हे मधुसूदन श्रीकृष्ण! देखो, मातापिता आदि पूज्यपुरुषोंकी सेवा करना हमारे लिये योग्य है, न कि उनका वध करना। यहां भीष्मपितामह हमारे पूज्य पितामह हैं, द्रोणाचार्य तो हमारे अत्यंत आदरके योग्य आचार्य हैं, जिनसे मैंने सब विद्या प्राप्त की। क्या इनपर ही मैं बाण छोडूं? जिनकी पूजा करनी योग्य है ऐसे गुरुजनोंका ही मैं वध करूं? यह मुझसे कैसा होगा? जिनसे मैं स्वप्नमें भी वैरभाव नहीं रखता, उनका प्रत्यक्ष नाश मैं कैसा करूं? जो

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वयः– नः कतरत् गरीयः? यत् वा (वयं) जयेम, यदि वा (ते) नः जयेयुः, एतत् अपि च न विद्मः। यान् हत्वा न जिजीविषामः, ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ॥ ६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि। यत् निश्चितं श्रेयः स्यात्, तत् मे ब्रूहि। अहं ते शिष्यः। त्वां प्रपन्नं मां शाधि ॥ ७ ॥ हि भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं, सुराणां च अपि आधिपत्यं, अवाप्य, यत् मम इंद्रियाणां उच्छोषणं शोकं अपनुद्यात् तत् न पश्यामि ॥ ८ ॥

हमारे लिये इन दोनोंमेंसे कौनसा श्रेष्ठ है? क्या हम जीतेंगे, या वे हमें जीतेंगे? यह भी समझ नहीं पडता। जिनको मार कर हम जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते, वे ही धृतराष्ट्र के संबंधी हमारे सन्मुख (युद्धके लिये) खडे हुए हैं॥ ६ ॥ दीनता के दोषसे मेरी स्वाभाविक वीरवृत्ती मारी गई है, अतः कर्तव्यनिश्चय करनेमें मेरा चित्त मोहित हुआ है। इस लिये मैं तुमसे पूछता हूं। जो निश्चय से कल्याणकारी हो वह मुझे कहो। मैं तुम्हारा शिष्य हूं। मुझ शरणागत को समझाइये ॥७॥ क्योंकि इस पृथ्वीमें निष्कंटक और संपन्न राज्य अथवा देवोंका स्वामित्वभी मिल जाय, तोभी मेरे इंद्रियोंका शोषण करनेवाले इस शोक को दूर करनेवाला कोई उपाय मैं नहीं देखता॥८॥

शस्त्रास्त्रविद्या मैंने सीखी, क्या वह सब इन सबके विनाश करनेके लिये ही है? जिन्होंने विद्या सिखाई उस गुरुकी क्या यही गुरुदक्षिणा है, कि मैं उनका आज वध करूं? जिन्होंने बचपनसे हमारा पुत्रवत् पालन किया उस पितामह की सेवा करनेके स्थानपर क्या मैं उनके पवित्र शरीरपर बाणोंसे व्रण करूं? ये भीष्मद्रोण दया के सागर हैं, विद्याके निधि हैं, अनेक गुणोंकी मानो खान हैं। ऐसे सच्चे धर्मात्माओंको मार कर, जो भी कुछ भोग प्राप्त होंगे, उनको भोगते हुए हमें कदापि सुख नहीं मिलेगा। किसीके मतसे इस प्रकार प्राप्त किये राज्यभोग सुखदायक हों, परंतु मैं इनको सुखदायक नहीं मानता हूं। मैं तो इससे भीख मांगकर जीवनयात्रा निभाना अच्छा समझता हूं। अथवा पूर्वके समान वनवास भी भोगना पडे, तो भी मैं उसको निर्दोष समझता हूं। जो कुछ हो मैं ऐसे महानुभावोंपर राज्यभोगकी प्राप्ति लिये कदापि शस्त्र नहीं चलाऊंगा।

हे श्रीकृष्ण! आपने तो मधु राक्षस को मारा है, अन्यान्य शत्रुओं को भी मारा है, परंतु वे प्रसंग इस से भिन्न हैं। भीष्म द्रोण जैसे आप्त

(३) अर्जुनका न लडनेका निश्चय।

संजय उवाच--एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अन्वयः— संजयः उवाच- परंतपः गुडाकेशः हृषीकेशं एवं उक्त्वा ' न योत्स्ये ' इति गोविन्दं उक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले--शत्रुको ताप देनेवाले और निद्राको जीतनेवाले (अर्जुन) ने इंद्रियों को स्वाधीन करनेवाले श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा और अन्तमें ' मैं न लडूँगा ' कह कर चुप होगया ॥ ९ ॥

सत्पुरुषों का वध करनेका प्रसंग आपपर कभी नहीं आया था। जिनसे वैरभाव उत्पन्न होने की अवस्थामें हम जीवित भी रहना नहीं चाहते, वेही संग्राममें इस समय मेरे सन्मुख खडे हैं। इनका वध करनेके पश्चात् हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, ऐसे ये पूजनीय पुरुष हैं। इसलिये मेरे सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या मैं इनको मारूं या इस युद्धक्षेत्र को छोड कर जंगल में जाऊं ? इनमेंसे कौनसा कार्य करना उचित है, यह भी मेरे समझमें इस समय नहीं आता है। मैं क्या करूं ?

युद्ध छिडनेपर उसका परिणाम हमारे अनुकूल होगा या प्रतिकूल होगा, यह भी किसको पता है ? निश्चयसे हमारी जीत होगी या उनकी होगी यह इस समय संदेह की ही बात है। अतः ऐसे संदेह की अवस्थामें हम गुरुजनोंका वध करना प्रारंभ करें यह निःसंदेह अनुचित बात है।

इस युद्धमें इन पूज्य पुरुषोंका वध करके हमें जय भी प्राप्त हुआ, तोभी वह पराजयसे अधिक दुःखदायक होगा। क्यों कि इनके रक्तसे भीगे भोग भोगते समय इनका स्मरण होता रहेगा और उससे जो दुःख होगा, वह कई गुणा असह्य कष्ट देगा।

इस प्रकारके विचारसे मेरे अंदर की स्वाभाविक वीरवृत्ती नष्ट हुई है। मैं दीन बना हूं और इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका विवेक करनेकी शक्ति मेरे अंदर नहीं रही है। धम की दृष्टीसे इस समय मेरा कर्तव्य क्या है, यह बात मैं जानना चाहता हूं। हे श्रीकृष्ण ! मैं इस समय आपको शरणागत हुआ हूं, आपही इस समय मुझे योग्य उपदेश-द्वारा सन्मार्ग बताने में समर्थ हैं। परंतु अन्तमें मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि यदि पृथ्वीका निष्कंटक साम्राज्य प्राप्त हुआ, अथवा देवोंके स्वर्गका राज्य अर्थात् इन्द्रपदभी प्राप्त हुआ, तो भी मेरे इंद्रियोंको सुखानेवाले इस शोक को दूर करनेवाला कोई उपाय प्राप्त होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार इस समय मेरी दिशाभूल होगई है, मुझे ठीक मार्ग दीखता नहीं है। अतः प्रार्थना है कि आप योग्य उपदेश करके मुझे उचित मार्ग बताइये। ''

(९-१०) ['गुडाकेश और हृषीकेश' इन दो शब्दोंकी टिप्पणी भ० गी० अ० १ श्लो० २४ के स्थानपर देखिये।] इस प्रकार अर्जुनने अपने हृदयकी दीनता प्रकट की और 'मैं युद्ध नहीं करूंगा ' ऐसा कह कर वह चुप होगया। यह आश्चर्य कारक घटना देख कर श्रीकृष्ण भगवान् आश्चर्यचकित हुए, क्यों कि अर्जुन जैसे आर्य वीर के मनमें ऐसी दीनता उत्पन्न होना संभवही नहीं था !! क्या कभी सूर्य अंधेरे में छिपाया जा सकता है, कभी मेरु पर्वत राईके दानेमें दबाया जा सकता है, क्या आकाश को समेट कर हटाना

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

सांख्ययोग ।

(४) पण्डितोंकी समवृत्ती ।

श्रीभगवानुवाच-- अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अन्वय— हे भारत ! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं (अर्जुनं) हृषीकेशः प्रसन् इव इदं वचः उवाच ॥ १० ॥ श्रीगवान् उवाच— त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः । प्रज्ञावादान् च भाषसे । पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति ॥ ११ ॥

हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओं के बीच खिन्न हो कर बैठे हुए (अर्जुन) से इंद्रिय-संयमी श्रीकृष्ण कुछ हंसते हुए इस प्रकार उपदेश करने लगे ॥ १० ॥ श्रीभगवान् बोले- जिनका शोक करना योग्य नहीं है, उनका ही शोक तू करता है, और ज्ञानकी बडी बडी बातें बोलता है ? परंतु ज्ञानी लोग मरे हुओं का अथवा जीवितों का शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

भावार्थ— जिनके विषयमें शोक करना योग्य नहीं, उनके विषयका शोक करनेमें अपना समय गमाना किसीकोभी योग्य नहीं है । विना आगेपीछे का संबंध समझे बडे ज्ञानियोंके वाक्य बोलकर अपनी खोखली पंडिताई बताना भी किसीको योग्य नहीं है । ज्ञानी लोग कदापि प्राणोंके जाने अथवा रहने का शोक नहीं करते ।

संभव है, क्या कभी महासागर सुखाया जायगा ? जैसा यह कभी नहीं हो सकता है वैसा ही आर्यवीर के अन्तःकरणमें दीनता आना भी कभी संभव नहीं है । परंतु जो कभी होनेवाला नहीं था, वही आज बन गया !!! यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण किंचित् मुस्कराये, और मनमें समझे कि, यह अर्जुनकी अवस्था कोई आगंतुक कारणसे हुई नहीं है । इसके मूलकारणका विचार करनेसे उनको उसी समय पता लगा कि इसका कारण बडा गहरा है । शत्रुपक्षके संजय ने जो विषैला उपदेश अन्तिम समयमें किया था, वही इस दयालु पुरुषके मनपर जमगया है । शत्रुकी शिक्षा जैसी की वैसी स्वीकार करनेसे इसकी मति भ्रष्ट होगई है । अतः इसके अन्तःकरण का यह दोष विना विशेष उपदेश किये, नहीं धोया जायगा । अपना कौन और पराया कौन है, अपना संबंधी कौन और दूर का कौन, इसका तत्त्वज्ञान की दृष्टिसे विचार इसको समझाना चाहिये । ऐसा विचार करके भगवान्ने इसको इस प्रकार उपदेश करना आरंभ किया—

अध्याय का नाम ।

(११) यद्यपि इस द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्य योग्य' है, तथापि पहिले दस श्लोकोंमें सांख्यतत्त्वज्ञान की बात बिलकुल नहीं है । इसी प्रकार इसी अध्याय के ३९ श्लोक तक ही सांख्यतत्त्वज्ञान का उपदेश किया है ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु । भ० गी० २। ३९

'यहांतक तुझे सांख्यज्ञानका उपदेश किया आगे योगका तत्त्वज्ञान श्रवणकर' ऐसा कहा है। वस्तुतः यहांतक ही सांख्य तत्त्व कहा है और इसके आगे योगतत्त्व कहा है। परंतु सांख्य और योग में बहुत भेद नहीं है। दोनों मार्ग कुछ समय के पश्चात् एकरूप हो जाते हैं। कई लोग 'सांख्य' को 'निरीश्वर योग' कहते हैं और 'योग' को 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं। इतनी दोनों तत्त्वज्ञानों की एकरूपता मानी है। भगवद्गीतामें भी—

सांख्य और योग।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥
भ० गी० अ० ५

"मूढ लोग कहते हैं कि कि सांख्य और योग पृथक् हैं, इनमेंसे एक का अनुष्ठान करनेसे दूसरे का फल मिलजाता है। जो स्थान सांख्योंको मिलता है वही योगियोंको भी प्राप्त होता है। अतः सांख्य और योग एक हैं ऐसा जो जानता है वही ठीक बात जानता है।"

इस कथनसे स्पष्ट होता है कि सांख्यमार्ग और योगमार्ग परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं, इतना ही नहीं, परन्तु बहुत अंशोंमें एकरूपही हैं। इसी कारण इस अध्याय का नाम 'सांख्ययोग' रखा है, यद्यपि इसमें जैसा सांख्यमत कहा है उसी प्रकार योगमत भी कहा है। इस नामसे भी दोनोंकी एकरूपता ही सिद्ध होती है।

सांख्य शब्दका अर्थ।

'सांख्य' किसको कहते हैं, इसका यहां विचार करना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानको 'सांख्य' नाम क्यों दिया गया, इसका हेतु देखिये 'संख्या' शब्दसे 'सांख्य' शब्द बना है और इसका अर्थ यह है—

चर्चा संख्या विचारणा। (अमरकोशः)
संख्यैकादौ विचारे च। (हेमकोशः)
संख्या सम्यगात्मबुद्धिः। (मधुसूदनसरस्वती=गी० टीका. ३।३; ५।४)
सम्यक्ख्यानं संख्या क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम्।
(शब्देन्दुशेखर १४५)
पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम् (मधुसूदन० गी० १८।१३)

"संख्या शब्दका अर्थ (सम्यक् ख्यानं) विचार करना, तत्त्वनिश्चय के लिये वादविवाद करना है। संख्या शब्दका दूसरा अर्थ आत्मविषयक निश्चित ज्ञान है। क्रमपूर्वक युक्तियों को दर्शाकर जिसमें सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है उसको सांख्य कहते हैं, इस जगत् में जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंकी संख्या बताकर उनका यथावत् ज्ञान जिस शास्त्र में कहा होता है उसको सांख्य कहते हैं।" यह सांख्य शब्दका अर्थ है। इसी विषयमें महाभारतका एक श्लोक देखिये—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥
म० भा० शान्ति० अ० ३२०। ८२

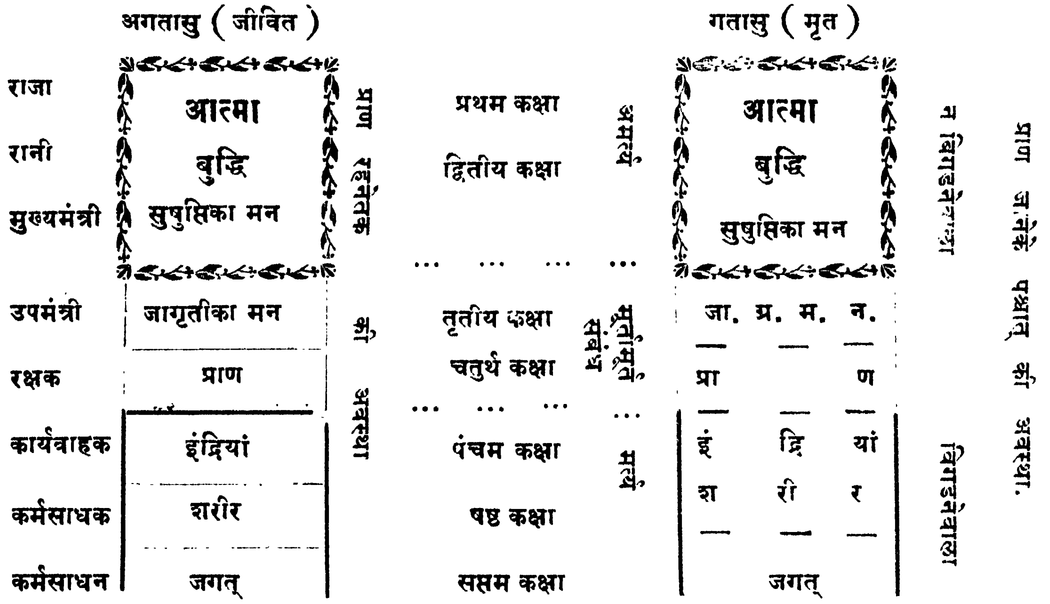
"किसी सिद्धान्त के विचार में दोषों और गुणों के प्रमाणका विचार करनेका नाम संख्या है।" अर्थात् इसमें दोष पांच हैं और गुण दस हैं, तो यह अच्छा है, दोषोंकी संख्या जिसमें अधिक है वह ठीक नहीं, इस प्रकार का निश्चय करना, इसका नाम 'संख्या' है। इस तरह संख्यानिश्चय जिस शास्त्र में किया होता है उसको सांख्य शास्त्र कहते हैं। सांख्य शास्त्रमें सबसे प्रथम विश्वके अंदर के जडचेतन पदार्थोंकी संख्या निश्चित की, जडपदार्थोंके कार्यों और चेतन के कार्योंका निश्चय किया, इस प्रकार संख्यानिश्चय करनेसे इस शास्त्र का नाम 'सांख्य' हुआ। इस सांख्यशास्त्रके अनुसार उपदेश सबसे प्रथम श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को दे रहे हैं। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञानके विना दूसरा साधन कोई नहीं है। और 'अपना और पराया'

इस संबंधका मोह दूर करने के लिये सांख्य शास्त्र जैसा उपयोगी है, वैसा दूसरा कोई शास्त्र नहीं है, क्यों कि इस शास्त्रमें जगत् के संपूर्ण तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान दिया है। जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यका मोह दूर होता है।

दो प्रकारके लोग।

जगत् में दो प्रकारके लोग, प्राणी अथवा पदार्थ होते हैं। (१) एक "अ-गतासु" और (२) दूसरे "गतासु"। जिनके प्राण चले जाते हैं उनको गतासु कहते हैं, और जिनके प्राण शरीर में कार्य करते हैं उनको अगतासु कहते हैं। भाषामें 'गतासु' का अर्थ 'मृत' और 'अगतासु' का अर्थ 'जीवित' होता है। 'पण्डित लोग जीवित और मृत इनमें से किसी का शोक नहीं करते।' यह एक पण्डितोंका स्वभावधर्म इस श्लोकमें कहा है। यहां पण्डित वे कहे गये हैं जो इस सांख्यतत्त्वज्ञानको यथावत् जानते हैं, ये सांख्य-तत्त्वज्ञानी मनुष्य मरे हुओं का अथवा जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते।

जगत् में सबके सब लोग पण्डित नहीं हुआ करते। पण्डित उनको कहते हैं कि जिनको (पण्डा) आत्माके विषयमें यथार्थ ज्ञान (इत) प्राप्त हुआ है। अर्थात् आत्माका यथार्थज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी जीवितों या मृतोंके विषयमें शोक नहीं करते। यदि गीताका यह श्लोक ठीक प्रकार समझनेकी पाठकों की इच्छा है तो 'गतासु और अगतासु' शब्दोंका उपयोग करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवानजीका आशय समझमें आसकता है, इनके स्थानपर 'मृत और जीवित' शब्द रखनेसे या इस आशयके अन्य शब्द रखने से वह आशय समझमें नहीं आसकता। सांख्य-शास्त्रके अनुसार 'मृत और जीवित' ऐसा भेद नहीं है, परंतु 'गतासु और अगतासु' ऐसा भेद जगत् में है। अब इस विषयमें बात यह है—



अगतासु और गतासु का चित्र

एक बडे मंदिर की कल्पना कर लीजिये। राजारानी अंदरकी प्रथम कक्षामें बैठती हैं। रातके समय का एक और दिनके समयका एक ऐसे दो प्रधान मंत्रीयोंका कार्यालय द्वितीय और तृतीय कक्षामें है। चतुर्थ कक्षामें रक्षक प्राणका कार्यालय है, दशविध प्राण इसके कार्यवाहक मुख्य प्राण की आज्ञासे सब शरीर भरमें जाकर विविध कार्य करते हैं। इसके बाद तीन कक्षायें हैं। इन सब कक्षाओंमें आत्माका राज्यशासन चल रहा है।

इस राज्यशासनमें प्राण द्वाररक्षक, या पहारेदार का कार्य करनेवाला है, यही 'असु' है। यह कुछ काल तक शरीरमें रहता है, और कुछ कालके पश्चात् शरीरको छोडकर बाहर चला जाता है। जब चला जाता है तब इंद्रियां और शरीर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, क्योंकि प्राणके ही आधीन रहकर वे कार्य कर सकते हैं। यह प्राण गया या रहा, तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें रहनेवालों पर कोई परिणाम नहीं होता है। प्राण चला जानेसे तृतीय कक्षासे सप्तम कक्षा तक के जो कार्यवाहक हैं उनपर परिणाम होता है, परंतु प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें रहनेवालों पर प्राणके चले जानेका या रहनेका कोई बुरा या अच्छा परिणाम नहीं होता है।

उदाहरणार्थ देखिये, राजाके महलपर पहारा करनेवाले द्वारपालक एक दिन चले गये तो राजाकी शक्तिमें, बुद्धीमें या महत्तामें कोई न्यूनता नहीं होती। अधिकसे अधिक यही होगा कि राजारानी और मुख्य दीवान अपने दूसरे मंदिरमें जाकर निवास करेंगे, अथवा इसी मंदिरमें दूसरे द्वारपालक को रखेंगे। यहांभी यही होता है, प्राण जाने लगा तो मणिमंत्रऔषधीके प्रयोग से प्राणकी स्थापना शरीरमें की जाती है और इस उपायसे प्राण स्थिर न रहा, तो आत्मा, बुद्धी और मन दूसरे मंदिरमें रहने लगते हैं और वहां अपना वैसाही कार्य शुरू करते हैं, जैसा पहिले मंदिरमें शुरू था।

धनी पुरुषोंके घरमें अनेक द्वारपालक होते हैं। उनमेंसे चतुर्थ कक्षाका द्वाररक्षक नौकरी छोडकर चला गया, तो कोई रोते पीटते नहीं; क्योंकि मुख्य धनी पुरुष वैसाका वैसाही होता है। उसी प्रकार जिन ज्ञानियोंको पता है कि, प्राण चले गये तो भी आत्मा, बुद्धी और मन वैसेके वैसेही हैं और उनमें कोई न्यूनता नहीं हुई, वे क्यों शोक करेंगे? क्योंकि जिनके लिये शोक करना है वे तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें जैसेके वैसे ही हैं। चतुर्थ कक्षा टूट भी गई तो भी पूर्वकी तीनों कक्षाएं जैसीकी वैसीही रहती हैं। इस विषयका निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान पण्डितोंको होता है, अतः वे (गतासु) मृत और (अगतासु) जीवित दोनोंमेंसे किसीभी अवस्थाके विषयमें शोक नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि जिसका आनंद या शोक करना है, वह दोनों अवस्थाओंमें जैसाका वैसाही है।

यहां कोई कहेगा कि इंद्रियों और शरीरके नष्ट होनेका शोक ज्ञानियोंको क्यों न होगा? इसके विषयमें शोक न होनेके कई कारण हैं देखिये—

१ ज्ञानी जानते हैं कि यह शरीर प्राप्त होनेके पूर्व भी कई वार शरीर प्राप्त हुआ था और हरएक वार वह नाशको भी प्राप्त हुआ। अतः कितने शरीरोंके विषयमें शोक करें? यही एक शरीर मिला है ऐसी बात नहीं है। हरएक वार शरीर मिलता है और वह नाश को प्राप्त होता रहता है। यह उसका स्वभाव ही है। फिर स्वभाव के लिये क्या रोना है।

२ शरीर तो अवश्य नाशको प्राप्त होगा ही; शरीर उसीको कहते हैं कि जो (शीर्यते) नाश होता है। फिर नाश होनेवाले का नाश हुआ तो उस विषयमें शोक किसका करना है?

पहारेदार पहारेपर आते हैं और बीच बीचमें कार्य छोड कर या नौकरी छोडकर चले भी जाते हैं। अतः वे रहे या गये तोभी किसी

प्रकार शोक करना उचित नहीं। यहां घरका स्वामी नाश को प्राप्त हुआ तो वह शोक का विषय हो सकता है; परंतु 'आत्मा' अविनाशी होनेसे न वह कभी जन्म लेता है और न कभी वह मरता है, अतः उस विषयमें शोक करनेका कदापि कोई कारण ही नहीं है।

ज्ञानी लोग पूर्ण रीतिसे यह बात जानते हैं अतः जीवित या मृत अवस्थाके कारण वे कभी शोक नहीं करते। परंतु जो लोग पण्डित नहीं होते हैं, परंतु मूढ या साधारण लोग होते हैं, वे इस ज्ञानको नहीं जानते हैं और वे समझते हैं कि प्राण जानेके पश्चात् आत्मा भी मरता है, और इस कारण प्राण जाते ही रोने लगते हैं। परंतु घरका मालिक जीवित रहनेतक, पहारेदार नौकरी छोड कर चला गया, तो घरके मालिकके कारण रोनेपीटनेकी क्या जरूरत है? जब उसको दूसरा पहारेदार निश्चयपूर्वक मिलनेवाला है?

यदि यह विचार पाठक समझेंगे, तो "जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डित जन क्यों शोक नहीं करते" इस बातका ज्ञान पाठकोंके ध्यानमें आवेगा। इस प्रकार इस श्लोकार्धसेही भगवान ने अर्जुन का मोह दूर करनेका ज्ञान दिया, परंतु इतने संक्षेपसे कहा ज्ञान साधारण जनके समझमें नहीं आसकता; अतः आगे इसका स्पष्टीकरण होगा।

(गतासु) मृत किंवा (अगतासु) जीवित लोग ये सबके सब (अ-शोच्य) शोक करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि जो मुख्य आत्मतत्त्व है उसकी स्थितिकी दृष्टीसे उक्त दोनों अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार घरका स्वामी जाग्रत रहा किंवा सोगया, तो कोई शोक का विषय नहीं होता है। उसी प्रकार यह है। अतः मृत या जीवित कोई अवस्था हो, किसी अवस्थाके लिये शोक करना योग्य नहीं है।

अर्जुन बडी बडी ज्ञानी जैसी बातें तो बोलता है, परंतु ये सब आप्त जन मरेंगे ऐसा मानकर शोक कर रहा है। अर्थात् जो ज्ञानके वाक्य वह बोल रहा है, उनका भाव उसके समझमें बिलकुल नहीं आया है यह सत्य है। इसी कारण यह तत्त्वज्ञान उसको सबसे प्रथम समझाना चाहिये। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं--

'अरे अर्जुन! ऐन युद्ध के समय तूने यह क्या प्रारंभ किया है। तू अपने को बडा ज्ञानी मानता है, परंतु अपना अज्ञान छोडना नहीं चाहता, अच्छा, तुमको कोई सिखलाने का विचार करे तो तू स्वयं स्यानेपन की बातें बोलने लगता है! जैसा जन्मान्ध पागल होता है और उस पागलपनमें इधर उधर नाचने लगता है, वैसी तेरी अवस्था बन गयी है!! अरे, तू अपने आत्माका स्वरूप तो नहीं जानता, परंतु कौरवोंके लिये शोक करता है, कितना आश्चर्य है। इस विश्वकी रचना अनादि कालसे चली है और उसका संचालक प्रभु सर्वसमर्थ है यह सब तू भूल गया! तू ही इस सब जगत् का उत्पादक तो नहीं है? जगत् के पालनेवाले प्रभुने ये सब प्राणिमात्र उत्पन्न किये और उसीने उन सबकी जन्ममृत्यु की योजना की है, तूने तो यह योजना नहीं की है? क्या तू ही अकेला इनका नाश करनेवाला है और तूने इनका नाश नहीं किया तो ये अमर रहेंगे? तू ही इनको मार सकता है और तेरे प्रयत्नसेही ये मर सकते हैं? क्या यही तेरा विश्वास ठीक है? तूने इनका वध नहीं किया तो ये चिरंजीव रहेंगे? यही तेरा विश्वास है ना? जरा अनादिसिद्ध विश्वकी महती रचना कैसी चल रही है और उसमें उत्पत्ति-विनाश ये स्वयं कैसे चल रहे हैं, इसका जरासा विचार तो कर, तो तुझे पता लगेगा कि इनका जीना या मरना तुम्हारे प्रयत्नके आधीन नहीं है। वह किसी अन्य प्रचण्ड शक्तिके आधीन है। अतः तूने इनको न मारा और उस प्रचण्ड शक्तिके मनमें इनको मारनेका विचार हुआ तो ये यहां खडे नहीं हो सकेंगे। अतः किसीके जीने या मरनेके कारण ज्ञानी लोग शोक नहीं करते, और तेरे जैसे मोहित भी नहीं होते। तुझको अब यहां

(५) हम सब सनातन हैं ।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अन्वयः— अहं जातु न आसं (इति) न तु एव, त्वं (जातु न आसीः इति) न, इमे जनाधिपाः (जातु न आसन् इति) न, अतः परं च सर्वे वयं न भविष्यामः (इति) न एव ॥ १२ ॥

मैं किस कालमें नहीं था (ऐसा) नहीं, तू (कभी नहीं था ऐसा) नहीं, ये राजा लोक (कभी नहीं थे ऐसाभी) नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे (ऐसा) भी नहीं है । (अर्थात् हम पहिले भी थे, इस समय हैं, और आगे भी होंगे) ॥ १२ ॥

भावार्थ— सब देहधारण करनेवाले आत्मा, (वे देह धारण करें या न करें,) नित्य हैं । वे देहधारण करनेके पूर्व थे, देहधारणके पश्चात् भी वैसे ही होंगे और देहपातके पश्चात् भी रहेंगे ॥ १२ ॥

इसी बातका विचार करना चाहिये कि, उस नियामक प्रभुके विश्वव्यापक प्रचण्ड कार्यका भागी बनकर यहांका तेरे ऊपर आया हुआ कार्य करना है अथवा उसके विरुद्ध होकर जैसा चाहे वैसा मनमाना व्यवहार करके उसका परिणाम भोगना है । हम सब इसी समय इस जगत्में देह-धारण करके आगये हैं, पहिले कभी नहीं थे और आगेभी कभी नहीं होंगे, यह बात नहीं है ।

(१२) जगत्में पदार्थ दो हैं । (१) एक देह, जिसको शरीर कहते हैं, और (२) दूसरा आत्मा जिसको जीवात्मा कहा जाता है, शरीर उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी और अजन्मा है । देहकी उत्पत्तिके साथ आत्मा जन्मता नहीं और शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश भी नहीं होता है । शरीर मिला या न मिला तो भी आत्मा अनादि अनन्त अर्थात् नित्य है और अपनी शक्तियोंके साथ जैसा का वैसाही रहता है । शरीरकी शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं, शरीरका जन्म होता है और नाश भी होता है । साधारण लोग शरीर को ही मनुष्य कहते हैं और यह मनुष्य जन्मको प्राप्त हुआ, तरुण या वृद्ध हुआ और अन्तमें मरा ऐसा भी मानते हैं, इन साधारण जनोंको पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है और संबंधीकी मृत्यु से दुःख होता है । परन्तु जो ज्ञानी लोग मनुष्य को स्थूल शरीरकी ओरसे देखते नहीं, परन्तु आत्माकी ओरसे देखते हैं, उनको तो उसमें जन्म और मृत्यु होनेवाला कोई पदार्थ दीखता ही नहीं, क्योंकि उनके सन्मुख सदा नित्य आत्मा ही रहता है । यह श्लोक उन ज्ञानियोंके दृश्यबिन्दु से लिखा है । पूर्व चित्रमें दर्शाया ही है कि ' आत्माबुद्धिमन ' ये अविचल हैं और ' इन्द्रियां और शरीर ' ये चल हैं । और प्राण दोनोंका संबंध करनेवाला है, मनुष्यके ये दो भाग हैं, एक मर्त्यभाग है और दूसरा अमर भाग है ।

साधारण मनुष्य अपने मर्त्यभाग को जानता है, और अपने अन्दर की अमर सत्ताको नहीं जानता, इस कारण वह मरा और यह जन्मा ऐसी भाषा बोलता है । यदि यह अपनी अमर सत्ताको जानेगा, तो यह किसीके जन्मसे आनंदित नहीं होगा और किसीकी मृत्युसे दुःखी भी नहीं होगा, क्यों कि वह जन्म, जीवन और मरण इन तीनों अवस्थाओंमें समानतया रहनेवाली इसकी अमर सत्ताको जानता है ।

अमूर्त, अमर्त्य,	द्युलोक	आत्मा बुद्धि मन	स्वर्ग, स्वः, अमरभाग
	अन्तरिक्षलोक	प्राण	अन्तरिक्ष, भुवः (स्वर्गका भूलोकसे संबंध करनेवाला)
मूर्त, मर्त्य,	भूलोक	इंद्रिय शरीर	मृत्युलोक, भूः, मर्त्यभाग

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।
कठ उप० ५ । ५

"प्राण और अपानसे मनुष्य जीवित नहीं रहता, किसी अन्य शक्तिके कारण जीवित रहता है जिसमें ये प्राण और अपान आश्रित होते हैं।" इस उपनिषद्के वचनमें भी वह अमर सत्ता कही है, जो इस गीताके वचनमें कही है। इसको ही आत्मा कहते हैं, इसके आश्रयसे प्राण, इंद्रियां और शरीर इनकी स्थिति होती है। इसी विषयमें और देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च० ॥ १ ॥ ...... इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणात्० ॥ ४ ॥ अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतं० ॥ ५ ॥
छांदोग्य उ० २ । ३ । १

"ब्रह्मके दो रूप हैं, (१) एक अमूर्त और अमर और (२) दूसरा मूर्त और मर्त्य। प्राणसे भिन्न जो इंद्रियां और शरीर आदि हैं वह मूर्त अर्थात् साकार है, यह मर्त्य अर्थात् मरनेवाला है। जो अमूर्त प्राण आदि (मन बुद्धि आत्मा) है वह अमूर्त अर्थात् निराकार है और यह अमर है।"

इस उपनिषद्वचनमें स्पष्ट कहा है कि, मनुष्यके अंदर "मरनेवाला एक भाग है और दूसरा अमर भाग है।" मरनेवाला भाग साकार और स्थूल है तथा न मरनेवाला जो अमर भाग है वह निराकार और सूक्ष्म है। यहां हमें पता लगा कि जो अमर भाग जिसको हम यहां आत्मा कहते हैं वह शरीरके नाशके पश्चात् रहनेवाला है और शरीरके जन्मके पूर्व भी वह होता है। जो शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व होता है और शरीरके मरनेके पश्चात् भी रहता है वही अमर कहने योग्य है।

इस युद्धभूमिमें जो कौरव पाण्डव वीर युद्धके लिये उपस्थित हैं, उनके अन्दर भी एक अमर आत्मा और मरनेवाला एक शरीर ऐसे दो भाग हैं। इन सबका आत्मा अमर होनेसे वह उन सबके जन्मके पूर्व भी था और इसी कारण इनके मरनेके पश्चात् भी रहेगा। यही दर्शानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा कि "तू, मैं, और ये सब पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी रहेंगे।" अर्थात हममेंसे कोई भी शरीरके जन्मके साथ जन्मा है और शरीरकी मृत्युसे मरेगा वह बात नहीं है, अतः हम सब नित्य हैं। और यदि नित्य हैं तो नित्य पदार्थके लिये शोक करनेका किसीको क्या कारण है ?

वायुके चलनेसे जलपर तरंग उठते हैं, वायु स्तब्ध होनेसे तरंग भी मरजाते हैं। जलके तरंग बनने या नाश होनेसे जिस प्रकार जलमें कोई

(६) पुनर्जन्म।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३

अन्वयः– देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः। तत्र धीरः न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहधारी (आत्मा) को इस देहमें जिसप्रकार बालपन, तरुणपन और वृद्ध-पन प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे उसी आत्माको दूसरी देह भी प्राप्त होती है। (इस कारण) इस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

भावार्थ— बालपन, तारुण्य और वृद्धावस्था ये जैसी तीन अवस्थाएं हैं उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति भी एक चतुर्थ अवस्था है। अतः पूर्व तीन अवस्थाओंके पश्चात् क्रमसे चतुर्थ अवस्था प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं ॥

न्यूनाधिकता नहीं होती है, उसी प्रकार प्राणवायु के चलनेसे प्रकृतिके समुद्रमें यह शरीररूपी एक तरंग उत्पन्न हुआ और प्राणवायु स्तब्ध होनेसे वह तरंग शान्त हुआ। उससे देहधारी आत्मा-की अनित्यता नहीं मानी जा सकती। जैसे वायु स्तब्ध होनेपर जल और जलका आधार जैसेके वैसेही हैं। उसी प्रकार कुछ अंशमें पाठक यहां आत्माके विषयमें समझें।

सबका तात्पर्य यही है कि शरीरमें रहनेवाला आत्मा अमर है और शरीर नाशवन्त है। शरीर के मरनेपरभी वह जैसा का वैसाही रहता है। शरीरके नाशके साथ आत्माका कुछ भी बिगडता नहीं, यह बात यहां स्पष्ट होगई। अतः अर्जुनके बाणसे ये भीष्मादि कौरव मरेंगे ऐसी जो अर्जुन की शंका थी, उसका यह शास्त्रीय उत्तर है कि वे नहीं मरेंगे, शरीर कितनी वार भी जन्मे या मरे, उनकी आत्माकी अवस्थामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है।

इतना विचार जाननेके पश्चात् यह शंका उपस्थित होती है कि "आत्मा नित्य है, और देह अनित्य है, यह सत्य है; परंतु जीवित रहने तक देहके साथ आत्मा है यह हम देखते हैं। देहका नाश होनेके पश्चात् उस आत्माका क्या होता है यह हमें पता नहीं चलता, अतः मरनेका शोक होना योग्य है।" इस शंकाका उत्तर अगले श्लोकमें देते हैं —

(१३) शरीर की तीन अवस्थाएं यहां कहीं हैं, परंतु वस्तुतः यहां छः अवस्थाएं होती हैं। (जायते) उत्पन्न होना, (अस्ति) होना, रहना, (वर्धते) बढना, (विपरिणमते) परिणाम होना, (अपक्षीयते) क्षीण होना और (नश्यति) नाशको प्राप्त होना। इन पांच अवस्थाओंमें बाल-पन, तारुण्य और वृद्धपन क्रमशः होता है। बालपन के पश्चात् तरुणपन, और तारुण्य के पश्चात् बुढापा क्रमपूर्वक होता है। किसी शरीर का मरण तारुण्यमें हुआ, तो उसको वार्धक्य नहीं आवेगा, और किसी की मृत्यु बालपनमें हुई तो उसको तारुण्य और वार्धक्य नहीं आवे-गा, यह सत्य है; परंतु यदि किसीकी दीर्घायु हुई और उसको तीनों अवस्थाएं प्राप्त होनी हैं, तो पहिली आयुमें बालपन, मध्य आयुमें तरुणपन और पश्चात् की आयुमें वृद्धपन आवेगा। इसका तात्पर्य यह है कि यह क्रम कदापि नहीं बदलेगा एक के पीछे ही दूसरेने और दूसरे के पीछे तीसरेने आना है। यह बात सबके प्रत्यक्ष अनु-भवमें होनेसे इस विषयमें किसीको संदेह नहीं

पूर्वदेह			वर्तमानसमयका देह					दूसरा देह				
वार्धक्य	मृत्यु	जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु	जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु	जन्म

आ त्मा आ त्मा आ त्मा

हो सकता। इस देहकी तीनों अवस्थाएं होनेमें देहधारी आत्मामें कोई हेरफेर नहीं होता है। देहके बालपनसे आत्मा बाल नहीं होता, इसी प्रकार देहके तारुण्य और वृद्धपन के साथभी आत्मा तरुण या वृद्ध नहीं होता है। वह सदा एक जैसा रहता है। जैसी ये तीनों अवस्थाएं हैं उसी प्रकार इस देहकी समाप्तिपर दूसरा देह प्राप्त होना भी एक चौथी अवस्था है। आत्मा जैसा पहिले तीन अवस्थाओंमें रहता हुआ एक जैसा रहता है, उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति होनेपर भी वैसाही रहता है। और इसी प्रकार इस जन्मके पूर्वभी पूर्व देहकी अन्तिम अवस्थामें वह था। इस प्रकार ये चारों या पांचों अवस्थाएं क्रमपूर्वक आत्माको देह के कारण प्राप्त होती हैं ऐसा साधारणतः समझनेसे आत्मा कैसा नित्य है और देह कैसे अनित्य हैं, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है।

जितने निश्चयसे बालपनकेअनंतर तारुण्य आता है, उतने ही निश्चयसे उसके बाद वार्धक्य आता हैं और उतने ही निश्चयसे मृत्युके बाद दूसरा देह भी प्राप्त होता है। पुत्रने बालपन का त्याग किया और तारुण्यको प्राप्त किया, तो कोई रोते पीटते नहीं; इसी प्रकार उसने इस देहका त्याग करके दूसरा देह प्राप्त किया, तोभी उसमें दुःख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्यों कि उसकी चार अवस्थाओंमें यह भी एक अवस्था है और वह यथाक्रम प्राप्त होनी ही है। वेदमें यह बात अन्य रीतिसे कही है देखिये—

सनातनमेतदाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः ॥२३॥ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥

अथर्ववेद १०।८

"यह सनातन है, यह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन जैसा होता है ॥ २३ ॥ तू स्त्री है और पुरुषभी है, तू कुमार है और कुमारी भी है, वृद्ध होनेपर तू हाथमें सोटी लेकर चलता है, और जब तू नवीन जन्मता है तब तू सर्वत्र देखता है ॥ २७ ॥ तू इनका पिता है और इनका पुत्र है, इनमें ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है। मनमें प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है। जो पहिले जन्मा था वही अब गर्भ में पुनः आगया है॥२८॥"

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है, वह स्त्रीके शरीर में स्त्री और पुरुषशरीरमें पुरुष होता है। वह कुमारकुमारी वृद्धतरुण जरा-पीडित होता है, वह शरीरकी अवस्थाके कारण ही होता है ऐसा मानते हैं। उसी प्रकार यह किसीका पिता, किसीका पुत्र, किसीका बडा भाई और किसीका छोटा भाई होता है। यह मनमें प्रविष्ट हुआ एक ही देव है, मनके अंदर बुद्धि और आत्मा विराजमान रहता है और यही एकवार जन्म लेनेपर भी पुनः पुनः गर्भमें आता है अर्थात् वारंवार जन्मता है।

इसका सच्चा मतलब यही है कि यह आत्मा नित्य है अतः यह पुरुषके शरीरमें पुरुष होनेपर भी वस्तुतः यह पुरुष नहीं, परंतु शरीरका गुणधर्म इसपर माना गया है। स्त्रीके शरीरमें स्त्री माना जानेपर भी उसी कारण यह स्त्री नहीं। बालकके शरीरमें यह बालक और कुमारीके शरीरमें यह कुमारी होता है परंतु ये भी शरीरके

धर्म हैं वस्तुतः यह न कुमार है और न कुमारी है। इसको कोई पिता कहते हैं, कोई पुत्र और कोई बडा या छोटा भाई कहते हैं, यह कहना भी शरीरकी अपेक्षासे है। वस्तुतः यह किसीका पिता नहीं, किसीका पुत्र या भाई अथवा बहिन भी नहीं है। यह पहिले एकवार जन्मा था और अब पुनः गर्भमें आया है, इसका अर्थ स्पष्ट है कि इसका पहिला शरीर छूट गया है और यह दूसरा शरीर प्राप्त करनेकी तैयारीमें है।

इस प्रकार इसको बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य जैसा प्राप्त होता है उसी प्रकार नवीन शरीर भी प्राप्त होता है, यह बात वेदमंत्रों द्वारा भी उक्त प्रकार कही गई है। वेदमें जीवात्माका जन्म, तारुण्य, क्षय और पुनर्जन्म बतानेके लिये 'चन्द्रमा' का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदामें जन्मता, शुक्ल अष्टमीतक बालकसा रहता है, पूर्णिमातक पूरा जवान होता है, पश्चात् कृष्ण अष्टमीसे क्षीणता आती है और अमावास्याकी रात्रीमें इसका देहपात होता है, और यह पश्चात् पुनः जन्म लेता है। चद्रमाकी जैसी सोलह कलाएं हैं वैसीही जीवात्माकी भी सोलह कलाएं मानी हैं। इस प्रकार साम्य वेदमें वर्णित है, यह इसी लिये है कि जनताको पता लगे कि जीवात्मा भी (पुनः नवः=पुनर्णवः) पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन जैसा होनेवाला है। इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा है—

वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते।

ऐ० उ० ४।४

पुनःपुनर्वशमापद्यते मे॥ कठ उ० २।६

" वडी आयु होनेके पश्चात् इस लोकसे जाता है और पुनः जन्म लेता है। वह पुनः पुनः (जन्म लेकर मुझ मृत्युके) वशमें होता है।"

पूर्वोक्त स्थानमें 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि०' इत्यादि मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषदमें (४।३में) आगया है, पाठक वहां उसका संबंध अवश्य देखें। इस श्वेताश्वतर उपनिषद्‌का एक मंत्र यहां विशेष रीतिसे देखने योग्य है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः॥ स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ श्वे० २।१६

वा० य० ३२।४

" यही (देवः) प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओंमें है वह (पूर्वः जातः) पहिले जन्मा था, (सः गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भमें आया है, (सः जातः) वह एक वार जन्मा हुआ (जनिष्यमाणः) भविष्यमें पुनः जन्म लेगा। यह हरएक मनुष्यमें रहता है इसका मुख सब ओर है अर्थात् जितने मनुष्य अथवा प्राणी हैं उतने सब इसके मुखही हैं।

इसी कारण इसको 'मातरिश्वा' अर्थात् 'माताके गर्भ में रहने वाला' कहते हैं, क्यों कि यह वारंवार माताके गर्भमें जाता है और जन्म-धारण करता है। पहिला जन्म लेकर देह प्राप्त करता है, उस देहकी समाप्तिपर उस देहका त्याग कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, वहां नया देह धारण करता है। इस प्रकार यह वारंवार माताके गर्भ में रहकर वारंवार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है।

इत्यादि स्थलोंपर पुनर्जन्मके विषयमें उपनिषदोंके अंदर लिखा है। अर्थात् जीवात्मा निःसंदेह पुनर्जन्म प्राप्त करता है, इस विषयमें संदेह नहीं। इसी प्रकार इष्ट, मित्र, संबंधी, गुरु आदि नातेका जो संबंध है वह भी शरीरकी अपेक्षासे ही है। वह संबंध आत्माकी अपेक्षासे नहीं है। अर्थात् इस तत्त्वज्ञानके उपदेशसे अर्जुनको यह ज्ञान दिया कि जिनको अर्जुन गुरू, पिता, दादा, मामा आदि आप्तजन समझता है वह नाता केवल इस समयके अनित्य शरीरके संबंधसे उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः उनके अंदर जो नित्य आत्मा विद्यमान है, उसकी दृष्टीसे इस प्रकारका कोई नातेका संबंध नहीं है, क्योंकि वह न कभी किसीका गुरु है और न दादा, मामा होता है। अतः यह संबंध अनित्य है। अर्थात् इस अनित्य संबंधके कारण

(७) अमर बननेका सामर्थ्य ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः, आगमापायिनः, अनित्याः । हे भारत ! तान् तितिक्षस्व ॥ १४ ॥ हे पुरुषर्षभ ! हि यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति, सः अमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (इंद्रियोंके) बाह्य सृष्टीके साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले हैं, वे कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते; अतः वे अनित्य हैं। इस कारण, हे भरतकुलमें उत्पन्न ! उनको तू सहन कर ॥ १४॥ हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! क्यों कि जिस सुख दुःखको समान माननेवाले धीर पुरुष को ये पीडा नहीं देते, वह अमरपन के लिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ- शीत उष्ण सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अन्दर बढाना मनुष्यको योग्य है; क्योंकि जिसको ये द्वन्द्व कष्ट नहीं दे सकते, वही मनुष्य अमर होने का सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ १४-१५ ॥

शोक मोहमें फंसना किसीको भी योग्य नहीं है ।

यहां प्रश्न होता है कि वर्तमान शरीर संबंधसे उत्पन्न होनेवाला यह दादा, मामा, भाई आदि संबंध भलेही अनित्य हो, यह संबंध इस शरीरके पूर्व भलेही न हो, तथा आगे प्राप्त होनेवाले शरीर के समय भी न रहे, परंतु इस समय तो है ना ? फिर यह प्रत्यक्ष इस जन्मका संबंध नाश होते देखनेसे शोक क्यों न किया जाय ? अर्जुनका मोह भी इसी कारण था, अतः इसका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

(१४—१५) जिससे शोक या आनन्द होता है। वह संबंध नित्य नहीं है। इन्द्रियोंका संबंध जगत् के साथ होनेसे सुख दुःख, शीत उष्ण, शोक या आनंद इत्यादि द्वन्द्व भासमान होते हैं। यह संबंध न होनेपर ये नहीं होते। यह संबंध कभी होता है कभी नहीं भी होता है। अर्थात् यह संबंध अनित्य है। इस कारण इन से मोहित होने की अपेक्षा इन द्वन्द्वोंको सहन करना अधिक लाभ दायक है।

'मात्रा'का अर्थ !

'मात्रा' का अर्थ है ' प्रकृति, प्राकृतिक जगत्, प्राकृतिक तत्त्व,' [इसी ' मात्रा ' शब्द से अंग्रेजी Matter मैटर शब्द बना है और ऊर्दूका ' माद्दा ' शब्द भी बना है।] गीतामें—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि
यत् सुखं भ० गी० अ०५।२१

अर्थात् "बाह्यस्पर्श के विषयमें जो आसक्ति नहीं धारण करता, उसको आत्मिक सुख मिलता है।" ऐसा कहा है। यहां का " बाह्य-स्पर्श " और इस श्लोक का 'मात्रा-स्पर्श' ये दोनों शब्द प्रायः एकही भाव बतानेवाले हैं। बाह्यस्पर्श का अर्थ है " बाह्य जगत् के विषयों का भोग " यही अर्थ " मात्रास्पर्श "काभी है। इस विषयमें अनासक्ति भी इसी लिये धारण करना है, कि ये बाह्य

स्पर्श सुख दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाले हैं। मनुस्मृतिमें कहा है-

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगविवर्जितः॥
म० स्मृ० ६।५७

“ लाभ न होनेपर खेद न करे और लाभ होने पर हर्ष न करे। इस प्रकार (मात्रा-संग-विवर्जितः) प्राकृतिक भोगोंसे अपना संबंध छोडकर जीवन-यात्रा चलावे।” यह कथन भी भ० गीता के समदुःखसुखी होनेके उपदेश के समान ही है। यहां "मात्रासंग" शब्द है, यहां “ मात्रा ” शब्दका अर्थ "प्राकृतिक भोग साधन" स्पष्ट है। मात्रा का यही अर्थ यहां अपेक्षित है। कई लोग मात्रा शब्दका अर्थ इंद्रिय करते हैं,यद्यपि यह इस शब्द का अर्थ है, परंतु वह यहां अभीष्ट नहीं है ऐसा हमें प्रतीत होता है। मात्रा शब्दका इंद्रिय अर्थ करनेपर "मात्रास्पर्श" का अर्थ इंद्रियों का स्पर्श जो प्राकृतिक भोगोंसे होता है वह सुखदुःख देनेवाला है इत्यादि प्रकार अर्थ करना होगा।

इस प्राकृतिक जगत् के साथ जिस समय मनुष्य की इंद्रियों का संबंध होता है, उस समय शीत उष्ण, सुखदुःख आदि का भास होता है। जिस समय यह संबंध नहीं होता, उस समय सुख दुःखादि द्वन्द्वों का भास भी नहीं होता। संबंध होनेपर ही केवल सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका भास होता है, परंतु उस समय सच्चा सुख या सच्चा दुःख होता है वा नहीं, यही एक विचारणीय बात है।

'मात्रा'का स्पर्श।

पृथ्वी, आप, तेज, वायु आकाश इन पांच महाभूतोंके गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये गुण हैं। इन गुणोंका ग्रहण क्रमशः नासिका, जिव्हा नेत्र, त्वचा व कान इन पांच इंद्रियों द्वारा होता है और उससे सुख दुःख हानि लाभ हुआ करता है। इंद्रियोंका महाभूतों से (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होता है, स्पर्श होते ही तत्त्वों के गुणोंसे संबंध होता है और इससे शीत उष्ण आदि की प्रतीति होती है।

नासिका गंध का ग्रहण कर सकती है। इस कारण पृथ्वीमें रहे सब प्रकारके गंध अर्थात् सुगंध या दुर्गंध उसके अनुभवमें आते हैं। सुगंधसे इसको सुख और दुर्गंधसे दुःख होता है। जिह्वा रसका ग्रहण करती है, आपृतत्त्वसे अनेक रसोंकी प्राप्ति होती है, मधुर रससे इसको आनन्द होता है और कडुवे रससे इसको दुःख होता है। प्रकृतिभेदके अनुसार किसीको खटाई प्रिय होती है, तो किसीको नमकीन चीज पसंद होती है। जिसको जो रस प्रिय होता है उसको उससे सुख और अप्रिय रससे दुःख होता है। नेत्र रूपका ग्रहण करती है, तेजसे रूपकी प्राप्ति होती है। सुंदरतासे इसको आनन्द और कुरूपतासे दुःख होता है। त्वचासे यह स्पर्शका ग्रहण करता है, वायुसे इसको बहुविध स्पर्श अनुभव होते हैं। मृदुस्पर्शसे इसको सुख और कठोर स्पर्शसे दुःख होता है। कानसे इसको शब्द सुनाई देते हैं, आकाशका शब्द गुण है, वहांसे इसको मंजुल और कर्कश शब्द श्रवणपथमें आते हैं। मधुर शब्दसे यह प्रसन्न होता है और कठोर शब्दसे अप्रसन्न होता है। इस प्रकार यह सुखदुःखके अनुभव का विचार है।

इंद्रियोंका प्राकृतिक तत्त्वोंसे (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होनेपर (शीतोष्ण-सुख-दुःख-दाः) शीत उष्ण, सुख दुःख, आदिकी प्राप्ति होती है। प्राकृतिक तत्त्वोंसे इंद्रियोंका स्पर्श न हुआ, तो शीत उष्ण, सुख दुःख, आदि नहीं प्राप्त होते। उदाहरण के लिये देखिये, एक मनुष्य जन्मान्ध है, उसकी नेत्र इंद्रिय जगत् के रूपका ग्रहण करही नहीं सकती, इसलिये न उसको सुंदर रूपसे संतोष होता है, ना ही कुरूपतासे दुःख होता है। इसी प्रकार बहिरे मनुष्यको कोमल आलापसे सुख भी नहीं होता और कठोर गालियोंसे दुःख भी नहीं होता। इससे सिद्ध है कि, जगत्के साथ इंद्रियों

का संबंध हुआ, तो ही सुख दुःख होना संभव है, अन्यथा नहीं।

द्वंद्वोंकी अनित्यता ।

इसमें और एक बात है कि, एकही संबंध देर तक होनेसे उसका सुख जाता रहता है। जैसा जिलेबीका स्वाद प्रारंभमें सुखदायक लगता है, परंतु घण्टा दो घण्टे केवल एकही जिलेबी ही जिलेबी खाई जाय, तो वह पहिले स्वाद देनेवाला पदार्थ ही आगे दुःखदायक होता है। इसीप्रकार मृदुस्पर्श भी वारंवार और लगातार मिलनेसे पहिले जैसा सुख नहीं देता। इसी तरह सब ही स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें है। इसमें दूसरी बात यह है कि सुख लेनेवालेकी आन्तरिक तैयारी भी चाहिये। स्वादुभोजन आनन्द देता है, परंतु पेटमें भूख रही, तो ही स्वादु अन्नसे आनन्द मिलता है। जिसकी पाचन शक्ति बिगडी है और जिसके मुखमें स्वाद नहीं है, उसको उत्तमोत्तम अमृततुल्य अन्नसे कोई सुख नहीं होता। इसी प्रकार संपूर्ण स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें जनना योग्य है। इसमें तीसरी बात यह है कि, एकही पदार्थसे सबको सर्वदा एक जैसा सुख या दुःख का अनुभव नहीं होता है। मनुष्य विष्ठाको त्याग कर सुखका अनुभव करता है. तो उसीकी प्राप्ति से सूवरको परम आनन्द होता है। मनुष्योंमें भी यह रुचिभेदका अनुभव सार्वत्रिक है।

इस जगत्में जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सुख कहा जाता है, वह भी लेनवालेकी आंतरिक अवस्था, इंद्रियकी योग्यता, और अनुकूल बाह्य परिस्थिति, इतनी बातें रहनेपर ही मिलता है, अन्यथा नहीं मिलता। अंदर क्षुधा प्रदीप्त रहनी चाहिये, मुख ठीक अवस्थामें चाहिये, अन्न भी उत्तम चाहिये, इनका संयोग होनेसे सुख होगा और इनमें से किसी एक का बिगाड होनेसे दुःख होगा।

$$\frac{\text{आन्तरिक स्थिति} + \text{इंद्रियकी अवस्था}}{\text{बाह्य जगत् का संबंध}} = \text{सुखदुःख आदि०}$$

यह सुख दुःख (आगम-अपायिनः) आता है और जाता भी है। यह हमने ऊपर देखा ही है कि एकही पदार्थसे प्रारंभमें सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है, परंतु कुछ कालके पश्चात् नहीं होता है। सर्दीके दिनोंमें गर्मीसे सुख अनुभव होता है, परंतु गर्मी आनेपर वही गर्मी दुःखदायक होती है, और उस समय सर्दी सुख देने लगती है। इस विचारसे सुख दुःखकी अनित्यता (अनित्याः) स्वयं सिद्ध होती है। किसीसे नित्य सुख और नित्य दुःख होगा, ऐसा पदार्थ इस प्राकृतिक जगत्में एकभी नहीं है।

शीत उष्ण, सुख दुःख, हानिलाभ, जयपराजय, उत्क्रान्ति अपक्रान्ति आदि सब द्वन्द्व हैं और इन सब द्वन्द्वोंकी अनित्यता उक्त कारणसे सिद्ध है। मनुष्य इनमेंसे एकका स्वीकार करे और दूसरे का न करे, ऐसा नहीं हो सकता। देखिये मनुष्यके आंख जब तक खुले हैं, तब तक सुरूप या कुरूप जो सामने आ जायगा, वह उसको देखना ही होगा। कान जबतक खुले रहेंगे, तब तक उसको बुरे भले शब्द सुननेही होंगे। यह मनुष्यकी विवशता है। यदि उसको जगत्के अनुकूल पदार्थोंका ग्रहण करना है, तो प्रतिकूल का न्यूनाधिक अनुभव उसको मिलेगा ही। जगत्से संपूर्ण प्रतिकूल पदार्थोंको हटाना सर्वथा अशक्य है; और यह अशक्यता तब बढ जाती है, जब यह बात अनुभवमें आती है कि, एकही वस्तु एकके अनुकूल हुई, तो दूसरेके प्रतिकूल रहती है और एकके लिये भी एक समय जो अनुकूल होती है, वही थोडे समयके पश्चात् प्रतिकूल हो जाती है!! इसलिये बाह्य जगत्के प्रतिकूल पदार्थोंको सर्वथा हटाना अशक्य है।

तितिक्षा ।

यदि बाह्य जगत्से प्रतिकूलता नहीं हटाई जाती, तो जिस आन्तरिक अवस्थाके कारण बाह्यजगत्में प्रतिकूलताका अनुभव होता है, वह अपने अंदरकी अवस्था सुधारना योग्य है; इसी उद्देश्यसे (तितिक्षस्व) 'सहन कर' ऐसा कहा है।

अपनी सहन शक्ति बढानेसे बाह्य जगत्की सबकी सब प्रतिकूलता हट जाती है। देखिये, मनुष्य घरमें रहता है और सदा वस्त्रोंमें वेष्टित रहता है, इस कारण शीत और उष्ण सहन करनेकी इसके शरीरको शक्ति न्यून होती जाती है। यदि यह शनैः शनैः कपडे कम पहननेका अभ्यास करेगा, और घरके बाहर जितना रहना संभव होगा, उतना रहेगा, धूपमें और सर्दीमें विना कपडे पहने रहनेका अभ्यास बढायेगा, ठंढे पानीसे स्नान करेगा और सूर्यकी धूपसे शरीर तपावेगा, तो उसकी शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति बढ जायगी। किसान सर्दी गर्मीमें खेतोंमें काम करते हैं, क्योंकि वे शीत और उष्ण सहन कर सकते हैं। जो शहरोंमें बाबू रहते हैं वे थोडी देर धूपमें घूमे तो उनका सिर चक्कर खाने लगता है और थोडी सर्दीमें भ्रमण करने लगे, तो कई दिन शीत ज्वरसे रोगी होते हैं। उसी सर्दी और गर्मीमें किसान आनंदसे रहते हैं। क्यों कि उनका द्वंद्व सहन करनेका अभ्यास बढा हुआ होता है। यहि 'तितिक्षा' है। इसीका अवलंबन करनेका उपदेश इस श्लोकसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको किया है।

जो तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता शीतोष्ण के विषयमें आवश्यक है, वही सुखदुःख, हानि-लाभ, जयपराजय, आदि अनेक द्वन्द्वोंके विषयमें आवश्यक है। सहन शक्तिसे ही इन द्वन्द्वोंके कष्ट दूर किये जा सकते हैं। शीतोष्ण सहन करते मनुष्य ऐसे बनते हैं कि सर्दी गर्मी और वृष्टीमें सदा घरके बाहर रहते हुए बिलकुल कपडा नहीं पहनते, और पूर्ण आरोग्य संपन्न रहते हैं। इसी प्रकार अन्य द्वन्द्वोंके सहन करने की शक्ति भी मनुष्य अपने अन्दर बढा सकता है। यही तप है। इस द्वन्द्व सहन करने की शक्तिसे मनुष्य बडा सुख प्राप्त कर सकता है।

धीर पुरुष।

जिस पुरुषने इन द्वन्द्वोंके सहन करनेकी शक्ति अपने में बढाई है, अर्थात् (एते यं न व्यथयन्ति) ये शीतोष्णादि द्वन्द्व जिस पुरुषको व्यथा नहीं पहुंचा सकते; सर्दीका भी जिसके शरीर पर कोई क्लेशकारक परिणाम नहीं होता है और गर्मीका भी नहीं होता, तथा अन्य द्वन्द्वों का भी नहीं होता; उसको (समदुःखसुखः धीरः) सुख दुःख को समान समझनेवाला धीर कहा जाता है। सुख से भी वह लुब्ध नहीं बनता और दुःख से भी वह हताश नहीं होता, हरएक अवस्था प्राप्त होने पर वह समानतया कर्तव्यनिष्ठ रहता है, उसको 'धीर' कहते हैं। सुख प्राप्त होने पर घमंड न करना, और दुःख आनेपर हताश न होना, यही बडा धैर्य का कार्य है। इसी प्रकार धनी या निर्धन बननेपर मन को समान रीतिसे रखना बडे धैर्य का कार्य है। अन्य द्वन्द्वोंके सहनेके विषयमें भी यही बात है।

जिसके मनकी समवृत्ति कोई भी द्वन्द्व हटा नहीं सकते, वही पुरुष (समदुःखसुखः) अनुकूलता और प्रतिकूलताके समय मनका समभाव रख सकता है। यह एक बडी भारी शक्ति है, जो प्राप्त करनेसे मनुष्यका असाधारण सामर्थ्य हो जाता है। यही मनुष्य (धी-रः) बुद्धी देनेमें अर्थात् दूसरों को योग्य सलाह देनेमें योग्य होता है। जो थोडेसे लाभसे घमंड करता है और थोडीशी हानी हुई तो प्राण देनेको तैयार होता है, वह अस्थिर मनका मनुष्य जगत् में क्या कार्य कर सकता है और उसकी मंत्रणासे किसका लाभ होना है?

अमरपन की प्राप्ति।

परंतु जो मनुष्य अपनी अनुकूल परिस्थितिमें अथवा प्रतिकूल परिस्थितिमें अपने मनको स्वाधीन रखता है और परिस्थितिके प्रवाहसे बहा नहीं देता, वही बडा सामर्थ्यवान् है। यही धीर मानसिक समता रखनेवाला मनुष्य (अमृतत्वाय कल्पते) अमृतत्वको प्राप्त करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर रखता है। वह जिस समय चाहे उस समय अमरपन प्राप्त कर सकता है। द्वन्द्वोंके आघातोंसे अपने मनको चञ्चल होने न

देना ही अमर बननेका सामर्थ्य प्राप्त करना है। इस विषयमें एक उदाहरण देखिये- छोटासा दीप थोडीसी वायु चली तो कांपने लगता है, और बुझ भी जाता है। क्योंकि इस वेगको सहनेकी शक्ति उसमें नहीं होती। परंतु वही ज्योती जब बढती है और बडे जंगलको जलाने लगती है, उस समय वायुका कोई डर उसको, नहीं होता इतनाही नहीं परंतु वायु चली, तो वह उसको सहायकारी होती है। इसी प्रकार हानि लाभ आदि द्वंद्वोंके वेगसे जो कांपता नहीं, परंतु विपरीत परिस्थितिमें भी धैर्यसे अपने प्रगतिके पथ पर स्थिर रहता है, उसका सामर्थ्य विपरीत परिस्थितिसे ही अधिकाधिक बढता जाता है। परिस्थितिके कारण वह दबता नहीं, परंतु वह विपरीत परिस्थितिको दबाता है। यही मनुष्य अमर बननेकी शक्ति अपनेमें बढाता है।

मृत्यु और अमरपन ।

मृत्यु क्या है और अमरत्व किसका नाम है, इसका विचार यहां करना आवश्यक है। परिस्थितिके अन्दर दब जाना मृत्यु है और परिस्थितिके दबावको हटा देना अमरत्व है। विभक्त होना मृत्यु है और अविभक्त रहना अमरत्व है; नाशवान के साथ रहनेसे मृत्युका भय होता है और अविनाशीके साथ रहनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। मनुष्यके पास जो उच्च साधन हैं उनका आश्रय करनेसे अमरपन प्राप्त होता है और उसीके मर्यादित साधनोंमें रहनेसे मृत्यु के वश होना पडता है देखिये-

क्रम-उन्नतिका पथ ।

साधारणतः सामान्य अवस्थामें मनुष्य अपनी शरीरस्थितिमें ही रहते हैं, उनको उच्च अवस्थाका कोई अनुभव नहीं होता। ये लोग समझते हैं कि 'मैं शरीरके साथ जन्मता हूं और उसीके साथ मरता हूं।' इससे थोडे उच्च बने मनुष्य शरीरसे भिन्न इंद्रिय शक्तियां हैं ऐसा अनुभव करते हैं। ये लोग इंद्रियोंके वेगोंके साथ बहते जाते हैं, सुख दुःख, शोक मोह आदि द्वन्द्वों के वशमें ये रहते हैं। इससे ऊपरकी श्रेणीके मनुष्य प्राणायामादि साधन करके अपने प्राणके शरीरपर प्रभुत्व पाते हैं, ये अनुभवसे जानते हैं कि यह एकही प्राण सब शरीरके अवयवों और इंद्रियोंमें जाकर विभक्तसा दीखता है। यहां एक ही वस्तु विभक्त स्थानोंपर विभक्तसी किस प्रकार दीखती है, इस बातका अनुभव ये लोग लेते हैं। इस समय इनको विभक्तोंमें व्यापनेवाली अविभक्त वस्तुकी कल्पना आने लगती है। इनसे निचले दोनों मनुष्य शारीरिक विभक्तता और इंद्रियोंकी विभक्तता ही देखते हैं, परंतु प्राणशरीरको स्वाधीन करनेवाला और उसके व्यापारको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य विभिन्न पदार्थोंमें व्यापनेवाली अभिन्न वस्तुका थोडासा अनुभव करने लगता है।

यहां यह योगी मरनेवाले शरीरको और इंद्रियोंको अपनेसे भिन्न देखता है और अपनी शक्तिसे उन मरनेवालों का देह और इंद्रियोंका जीवन होता है, इस बातका निश्चय करता है।

द्युलोक	आत्मा	की स्थितिमें	स्वाभाविक आनंद।	अमृत
	बुद्धि	,, ,,	,, ज्ञान	
	सुषुप्तिके दिक्कालातीत मन	,, ,,	कालातीत और स्थलातीत अनुभव	
अन्तरिक्ष	जागृतिके दिक्कालावच्छिन्न मन	,, ,,	देशकालादि भेदोंका अनुभव	मृतामृत
	प्राण	,, ,,	अपनी नियामक शक्तिका अनुभव	
भू	इंद्रियों	,, ,,	द्वन्द्वोंका अनुभव	मृत
	शरीर	,, ,,	जन्ममरण का अनुभव	

तथापि इसमें प्राणापानके भेद का अनुभव होता है।

प्राणायामसे प्राणकी स्थिरता प्राप्त होकर मन स्थिर होने लगता है। और मनके स्थिरीकरणके साथ यह मनके रथपर सवार होता है। इस अवस्थामें भी संकल्प विकल्प इसके चलते ही हैं और इसका आन्दोलन चलता ही रहता है। इस समय इसको बडी शक्ति प्राप्त होती है। यह इसके इन्द्रत्व प्राप्तिकी अवस्था है। यह इस समय जो कल्पना करता है सिद्ध होती है, मानो यह कल्पवृक्ष-कल्पनाके वृक्ष के नीचे बैठा होता है। इतना होनेपरभी इसको स्थिरताका अनुभव नहीं होता है।

साधन इस समय मनको अशुभ कल्पनाओंसे हटाकर शुभ कल्पनाओंमें स्थिर करता है,ध्यानधारणामें इसकी प्रगति होती है और अन्तमें इसका संकल्पविकल्प करनेवाला तथा दिक्कालमें कार्य करनेवाला जागृतिका मन स्थिर या स्तब्ध हो जाता है। जिस क्षणमें यह मन स्तब्ध होता है, उसी क्षणमें सुषुप्तिका मन (दिक्कालातीत मन) कार्य करने लगता है। भगवद्गीतामें ही कहा है-

जाग्रति और निद्रा।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
भ० गी० २।६९

"जो सब प्राणियोंकी रात्री होती है उसमें संयमी जागता है, और जिस में सब प्राणी जागते हैं वह देखनेवाले मुनिकी रात्री होती है।" अर्थात् साधारण जन या प्राणी अपने जाग्रतिके मनके साथ जागते हैं, इनका तो वह उच्च मन निद्रित रहता है। परंतु योगी मुनि उसी उच्च मनसे सदा जागते हैं और इस व्यावहारिक मनसे, मानो, सोते हैं। यहां पाठक यह समझें की मुनियोंकी जो जाग्रति है, वह सामान्य जनोंकी गाढ निद्रा है, और उनकी जो निद्रा है, वह सामान्य जनोंकी जाग्रति है। इतना विपरीत अनुभव-जाग्रति और गाढनिद्रा जैसा इन दो मनों के साथ अनुभवमें आता है। जब ध्यानसे यह संकल्प विकल्पात्मक मन थक थक कर सोता है, तब वह समरस मन जागता है।

इस समय मनुष्य 'समत्व' स्थितिमें पहुंचता है। उसको जगत् के संकल्प विकल्प, हानिलाभ, शोकमोह क्षुद्र हैं, ऐसा अनुभव होता है। जगत के लोग क्यों लडते हैं, क्यों मोहित होते हैं, क्यों दुःखी होते हैं, क्यों नहीं इस अवस्थामें आकर काल और देश की मर्यादा का उल्लंघन करते, और साम्यावस्था का आनंद लेते हैं ऐसा वे कहते होंगे!!!

यहां पाठक स्मरण रखें कि अर्जुन काल और देशके भेदके अन्दर था, अतः उसको बाप दादाओंके मोह में फंस कर दुःखी होना पडा। इस दुःख की निवृत्ती और इस मोहको दूर करनेके लिये भगवान श्रीकृष्ण उस को कालातील और देशातीत अवस्थाकी कल्पना बता रहे हैं। आत्मा नित्य और देह अनित्य कह कर, इस देह से भिन्न इनके आत्माकी जो कालातीत और देशातीत स्थिति है, उसकी कल्पना इस से पूर्व बतायी। यहां द्वन्द्वातीत स्थिति की कल्पना बताते हैं। इस उच्च मन की भूमिका पर काय करनेवाले मनुष्य किसी स्थानपर बैठकर किसी अन्य स्थान की बात प्रत्यक्ष जैसी देखते हैं, इसी प्रकार अन्य काल की बात भी उनको प्रत्यक्ष होती है। मानो यह नित्य वर्तमान कालमें रहने लगते हैं। इसके ऊपर की दो भूमिकाएं इससे ऊंची और अवर्णनीय हैं। जो 'सर्वदुःखसुख' की साम्यावस्था है, उसकी पूर्णता इस अवस्थामें होती है, इसका प्रारंभ तो शारीरिक अवस्थामें भी होता है, परंतु उसकी पूर्णता यहां होती है।

हठयोग और राजयोग।

हठ योगी यम नियम आसन प्राणायाम द्वारा प्राण स्थिर करके इस अवस्थाको प्राप्त करते हैं और राजयोगी सुविचार से मनकी स्वाधीनता

(८) अविनाशी सत्।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अन्वयः—असतः भावः न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते। तत्वदर्शिभिः तु उभयोः अपि अनयोः अन्तः दृष्टः ॥ १६ ॥

जो 'असत' है उसका भाव नहीं हो सकता, और जो 'सत्' है उसका अभाव नहीं होता। तत्त्वज्ञानी लोगोंने इस प्रकार इन दोनों का अन्तिम निश्चय किया है ॥ १६ ॥

प्राप्त करके इस भूमिकामें जाते हैं, दोनों यहां आकर समान स्थानमें बैठनके अधिकारी होते हैं। इस स्थितिमें जो होते हैं, उनको ही 'समदुःखसुखी, धीर' आदि शब्द पूर्णतासे लगते हैं। प्राणयोगिको 'योगमार्गी' और राजयोगी या मनोयोगीको 'सांख्यमार्गी' अथवा 'ज्ञानमार्गी' कहते हैं। आगे (भ०गी० ५।४-५ में) कहेंगे कि 'सांख्य और योग एकही है' उसका भाव यही है। जन्ममृत्युसे परे जानेका नाम इस भूमिकामें जाना और कार्य करना है। हरएक मनुष्य सुषुप्तिमें अनजान रीतिसे इस अवस्थामें जाता ही है, परंतु अपने सामर्थ्यसे जिस समय चाहे उस अवस्थाका जाग्रति जैसा अनुभव लेना श्रेष्ठ सामर्थ्यका दर्शक है।

जिसको इस भूमिकाका थोडाभी अनुभव होगा वह तो किसीकी मृत्युसे या जन्मसे दुःखी या सुखी नहीं होगा। जो लोग इस जगत्‌में रहते हुए अन्योंसे अधिक समदुःखसुखी दिखाई देते हैं, उनका यह कालातीत मन कुछ अंशमें उनके आधीन हुआ होता है, यह सत्य है। इसके लक्षण ये हैं कि, अन्योंसे पहिले इनको कर्तव्य कर्मका निश्चित ज्ञान होता है, किसी विषयका निश्चयभी इनका अन्योंकी अपेक्षा अति शीघ्र हो जाता है, और ये तर्कवितर्कके विना अपनी हृदयकी वृत्तिसेही निश्चित परिणाम तक अति शीघ्र पहुंचते हैं, अर्थात् ये पहिले निश्चित सिद्धांत बोलते हैं और पीछेसे वही तर्कसे युक्तिसे और प्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है !! जिनके व्यवहारमें जिस प्रमाणसे ये लक्षण दिखाई देते हैं, उस प्रमाणसे समझना चाहिये कि, उनके अंदर यह दिक्कालातीत मन विशेष रीतिसे कार्य करने लगा है।

इस प्रकार मनकी दिक्कालातीत अवस्थाका विचार करने पर उससे परे रहनेवाला आत्मा भी इसी प्रकार दिक्कालातीत होना चाहिये, इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। परंतु इतना मानने पर भी एक शंका आती है कि, जिस प्रकार यह शरीर साधारणतया १०० वर्ष जीवित रहता है, योगसाधनादि द्वारा ३०० वर्ष या अधिक भी रह सकेगा, पश्चात् नाशको प्राप्त होगा; उसी प्रकार यह आत्मा भी कुछ विशेष अवधिके पश्चात् नाशको प्राप्त होगा या नहीं। इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं-

(१६-१७) जो सत्य है उसको किसी भी प्रकार असत्य बनाना असंभव है। यह कभी न बननेवाली बात है। इसी प्रकार जो असत्य है उसकोभी सत्य बनाना असंभव है। इस जगत्‌में मनुष्य अपना व्यवहार करते समय सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बतानेका प्रयत्न करते हैं, और ऐसे व्यवहारसे अपना लाभ होता है, ऐसा वे मानते भी हैं। परंतु यह उनका भ्रम है। 'सत्यमेव जयते नानृतं' अर्थात् सत्यका ही

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्वयः- विद्धि, येन इदं सर्वं ततं, तत् तु अविनाशि। अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्तुं, कश्चित् न अर्हति॥१७॥

यह तू जान, कि जिसने यह जगत् फैलाया है, वह अविनाशी है। इस अव्यय का विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सत्य कभी असत्य नहीं होता, और जो असत्य है उस का कभी सत्य नहीं बन सकता। तत्वज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है।

विजय होता है क्यों कि वही सदा रह सकता है। जो असत्य है वह देरतक टिक नहीं सकता।

सत् और असत्

'सत्' उसीको कहते हैं कि जो 'है' किंवा जिसका अस्तित्व है, जिसकी सत्ता या हस्ती है। जिसका अस्तित्व नहीं है, परंतु किंचित् काल जिसका अस्तित्व भासमान होता है, उसको असत् कहते हैं। जो भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंमें एकसा रहता है उसको 'सत्' कहते हैं और इन तीनों कालोंमें जिसकी सत्ता एक जैसी नहीं रहती, उसको शास्त्रकार 'अ-सत्'(सत् नहीं) अर्थात् पूर्वोक्त 'सत्' से भिन्न पदार्थ कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस जगत् में केवल दो ही पदार्थ हैं, एक 'सत्' और दूसरा 'असत्'। ये परस्पर भिन्न हैं, अलग हैं और विभिन्न गुणधर्मोंसे भी युक्त हैं।

इस विषयका सिद्धान्त (अन्तः तत्वदर्शिभिः दृष्टः) तत्त्वज्ञानी लोगोंने अनुभव किया है। अर्थात् 'सत् और असत्' ये दो पदार्थ भिन्न हैं इस विषयमें ज्ञानी लोगोंको सदेह नहीं है। यहां 'अन्त' शब्द है। इसका अर्थ 'अन्तिम निर्णय' है। 'सिद्धान्त (सिद्ध+अन्त), राद्धान्त (राद्ध+अन्त) और अन्त' ये तीनों शब्द अन्तिम निर्णय के ही वाचक हैं।

जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, उसका कालान्तरसे भी अभाव नहीं हो सकता और जो असत् है अर्थात् जिसकी हस्ति नहीं उसका कभी भाव नहीं हो सकता। यह अटल सिद्धान्त तत्त्वज्ञानी लोगोंने निश्चित किया है।

जगत्का निर्माता।

(तत् अविनाशि, येन सर्वं ततम्) वह सत्ता अविनाशी है, जिसने इस सब जगत्का विस्तार किया है। इसका कारण यह है कि यह जगत् बननेके पूर्व इसका निर्माण करनेवाला था और इस जगत्का नाश होनेपर भी वह रहेगा; अतः वह तीनों कालोंमें रहता है इस लिये वह 'सत्' है। परंतु जगत् भूतकालमें नहीं था, अब बना है परंतु नाशको अवश्य प्राप्त होगा और नाश होने के बाद कभी नहीं रहेगा; अर्थात् इसका अस्तित्व केवल वर्तमान कालमें ही है और वह चञ्चल अस्तित्व है, अतः इसको 'अ-सत्' कहा जाता है।

रचना करनेवाला रचित पदार्थ के पूर्व काल में रहता ही है। घडा बननेके पूर्वकालमें कुम्हार का अस्तित्व अवश्य होता है। इसी प्रकार इस जगत्के फैलनेके पूर्वकालमें इसके फैलाने वालेका अस्तित्व अवश्य था। यदि वह पूर्वकालमें न होता, तो इस जगत्को बनाही नहीं सकता था। इससे जगद्रचना करनेवालेका अस्तित्व जगत् के पूर्वकालमें सिद्ध होता है।

जगत् का प्रत्येक पदार्थ बनता है और नाशको प्राप्त होता है, कोई भी पदार्थ ऐसा नजर नहीं

आता कि, जो है परंतु जो न बना हो और जो न बिगडता हो। बनने बिगडने का धर्म प्रत्येक पदार्थ का होनेसे सब पदार्थोंके समूहरूप इस जगत् का भी यही धर्म स्वयं निश्चित होता है। इस जगत्के नाशके पश्चात् जगत् नहीं रहेगा यह निश्चित है, परंतु उसका कर्ता रहेगा या नहीं रहेगा, इस विषय में किसीको संदेह हो सकता है। अतः इस विषयमें विचार करना आवश्यक है।

पूर्वके समान रचना।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

ऋ० १०।१९०।३

" विधाताने इस जगत् के सूर्य चन्द्र, द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि आदि सब पदार्थोंको (यथा पूर्व) पूर्व के समान ही बनाया है।" अर्थात् यह सृष्टी अनेक वार बनी है और हर-एक वार पूर्व के समान बनायी गई है। जिस प्रकार दिन रात पूर्व के समान होते हैं, उसी प्रकार जगत् बनना यह दिन और प्रलय होना रात्री के समान है; अतः ये विधाता के दिन रात सदा समानही होते हैं, क्यों कि परमेश्वर के गुण सदा समान रहते हैं, इस कारण वह जो कुछ बनाता है वह पूर्ण ही बनाता है, पूर्ण बननेके कारण उसमें हेरफेर करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अतः वह जो बनावेगा वह एकसा ही होगा।

पूर्णकी पूर्ण कृति।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

(उपनिषच्छान्ति)

" वह (विधाता) पूर्ण है, यह (जगत्) पूर्ण है, क्यों कि पूर्णसे जो बनता है वह पूर्ण ही होता है। पूर्णसे इस पूर्णकी उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण जैसा का वैसाही रहता है।" इसी प्रकार—

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
अथो तदस्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते॥

अथर्व० १०।८।२९

" पूर्णसे पूर्णका उदय होता है, पूर्णसे पूर्णको जीवन मिलता है। अतः इसके उस कारणको हम जानेंगे कि जिससे इसको जीवन मिल रहा है।"

इत्यादि मंत्रभागोंमें स्पष्ट कहा है कि, इस जगत का निर्माण करनेवाला 'पूर्ण' है, उसमें अपूर्णता नहीं है, अतः उसकी जगत् रूपी कृति भी पूर्ण अर्थात् जैसी चाहिये वैसी है। इस प्रकार जगन्नि-र्माताकी पूर्णता और उसकी कृतीकी पूर्णता सिद्ध होनेपर वह इसी प्रकार जगत् वारंवार बनाता है यह सिद्ध होगा, क्यों कि उसकी जगन्निर्माण करनेकी शक्ति उसके पास सदा रहती है, अतः उसने जिस कारण के लिये इस जगत्का निर्माण किया, उसी कारण के लिये उसने इससे पूर्व भी जगत् निर्माण किया होगा और आगेभी वह वैसाही निर्माण करेगा। अर्थात् वह निर्माण कर्ता जगत्के पूर्व, जगत्की स्थिति के समय, तथा इसके विनाशके पश्चात् एक जैसा रहेगा। वह पूर्ण होनेसे उसमें घट वध होना असंभव है। आत्माके जगन्निर्माण या जगत् का फैलाव करने के संबंधमें भगवद्गीताके निम्न लिखित वचन भी यहां देखने योग्य हैं—

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

भ० गी० ८।२२

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना॥

भ० गी० ९।४

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ भ० गी० ११।३८

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥

भ० गी० १८।४६

" जिसके बीचमें सब भूत हैं जिसने इस सबका फैलाव किया है। मैं अव्यक्तमूर्ति(आत्मा) ने यह सब फैलाया है। हे अनन्तरूप देव! तूने यह विश्व फैलाया है। जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जिसने यह सब फैलाया है।"

यहां (मैं, तू, वह इन) तीनों सर्वनामोंसे एकही बात कही है। इससे वही सिद्धान्त सुदृढ हुआ कि, एक अद्वितीय आत्माने इस जगत्‌का विस्तार किया है।

(अस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति) इस आत्मा का विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। कोई कितनाभी सामर्थ्यवान् क्यों न हो, वह इसका नाश नहीं कर सकेगा। इसलिये इसको ' अ-व्यय ' कहा जाता है। जिसका व्यय नहीं होता, जिसमेंसे कुछ खर्च नहीं होता, उसको ' अ-व्यय ' कहते हैं। इसने इतने बडे विश्वकी रचना करनेपरभी इसकी शक्तिका व्यय नहीं हुआ, क्योंकि यह ' अ-व्यय ' है। इसीलिये पूर्वोक्त उपनिषच्छान्ति मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि- " पूर्ण (आत्मा) से इस पूर्ण (जगत्)की उत्पत्ति होनेपरभी वह पूर्ण (आत्मा) जैसाका वैसाही रहता है।" उसमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता है। ' अ-व्यय ' शब्दकी ही यह व्याख्या है।

इन दो श्लोकोंका विचार करते हुए पाठकोंके मनमें यह बात आजायगी और आगेके कुछ श्लोक देखकर वह दृढ हो जायगी कि, अर्जुनकी शंका तो भीष्मद्रोणादिके जीवोंके नाश होनेके विषयमें थी। उनके देह और उनके आत्मा युद्धमें नष्ट हो जांयगे ऐसा अर्जुन मानता था। इसका उत्तर इस १७ वें श्लोकमें ऐसा दिया है कि, " जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अव्यय का कोई विनाश कर नहीं सकता।" यह उत्तर विश्वकी रचना करनेवालेके अविनाशी होनेके विषयमें योग्य है। परंतु अर्जुन तो 'विश्वरचक परमात्मा इस भारतीय युद्धसे नाशको प्राप्त होगा ' ऐसा मानता नहीं था। उसको तो अपने संबंधियोंके विनाशकी चिन्ता थी। ऐसी अवस्थामें इस उत्तरसे उसकी चिन्ता कैसे दूर होगी ? देखिये—

अर्जुनका प्रश्न – भगवन् ! इस युद्धसे भीष्मद्रोणादिकों का नाश होगा, इस लिये मैं यह युद्ध कैसे प्रारंभ करूं ?

भगवान् का उत्तर— अरे अर्जुन! जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अविनाशीका नाश कोई नहीं कर सकता। (श्लो०१७)

क्या यह उत्तर ठीक है ? भीष्मद्रोणादिकोंने तो (इदं सर्वं ततं) यह सब विश्व फैलाया नहीं था। 'ततं' का अर्थ ' फैलाना, ढांपना, व्यापना और सुरक्षित रखना' होता है। कोई अर्थ लेनेपर यह अर्थ भीष्मद्रोणोंपर घट नहीं सकता। जिसने इस विश्वको फैलाया, ढांपा, व्यापा या सुरक्षित रखा है, वह अर्जुन के संबंधियों में से कोई एक भी नहीं है, वह इन सबसे भिन्न है।

प्रश्न करनेवाला अर्जुन किं-कर्तव्यता-मूढ हुआ है, उसका मोह दूर करके उसको कर्तव्य पथपर लाना है। इस कार्यके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं, उसमें प्रसंगको छोडकर उत्तर श्रीकृष्णके मुखसे कदापि आ नहीं सकता। इस लिये इस उपदेश का अन्य रीतिसे मनन करना चाहिये।

पिण्ड ब्रह्माण्ड का एक नियम।

पिण्ड ब्रह्माण्ड का नियम एक है। यदि ब्रह्माण्ड का उत्पत्तिकर्ता ब्रह्माण्ड का विस्तार करके नित्य रह सकता है तो उसी नियम से पिण्ड का चालक भी पिण्ड बननेके पूर्व और पिण्ड के नाशके पश्चात् अवश्य रहेगा। जैसा जीवात्माका शरीर यह पिण्ड है उसी प्रकार परमात्मा का शरीर ब्रह्माण्ड है। जीवात्मा परमात्मा का अंशांशी संबंध भी है, देखिये—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
भ० गी० १५।७

हे अर्जुन ! "इस जीवलोक में मेराही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति की पांच इंद्रियों और मन को आकर्षित करता है।" यहां जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है। अग्निका अंश अग्निके समान होता है, पिताका अंश पुत्र है और वह पिताके समान होता है। यह समानता देखिये-

(९) नित्य आत्माके अनित्य देह ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्वयः— अ-नाशिनः अ-प्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः । हे भारत ! तस्मात् युध्यस्व ॥ १८ ॥

अविनाशी, अमाप, नित्य, शरीरधारी (आत्मा) के ये देह नाशवान् हैं, ऐसा कहते हैं । हे भरतकुलोत्पन्न ! अत एव तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

भावार्थ-आत्मा का कभी नाश नहीं होता, उसका माप या वर्णन नहीं किया जा सकता। वह नित्य है । इस आत्माके देह अनेक होते हैं इसलिये धर्म युद्ध करनेमें कोई दोष नहीं है ॥ १८ ॥

जीवात्मा	परमात्मा
पुत्र	पिता
पिण्डदेही	ब्रह्माण्डदेही
देह [अंश]	ब्रह्माण्ड [अंशी]
मन	विद्युत्
पांच इंद्रियां	पंच महाभूत
नासिका	पृथ्वी
जिह्वा	आप्
नेत्र	तेज
त्वचा	वायु
कर्ण	आकाश

अब पाठकों के मन में बात आगई होगी कि दोनों स्थान के नियम एक जैसे किस कारण हैं। ये पिता पुत्र एक ही नियमसे कार्य करते हैं। पिता का वर्णन करनेसे पुत्र का वर्णन स्वयं होता है, क्योंकि यह पुत्र भी पिताके समान बननेवाला है। देखिये—

मत्कर्मकृन्मत्परमो......मामेति सोऽर्जुन ॥
भ० गी० ११।५५

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
भ० गी० १४।२

' मेरा कार्य करनेवाला, मुझे परम श्रेष्ठ माननेवाला...मुझे प्राप्त होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करके मेरे साधर्म्यको प्राप्त होते हैं ।' इस प्रकार आगे कहा जायगा। इस से यह पुत्र इस समय छोटा होनेपर भी आगे पिताके समान पिताके गुणधर्मवाला निःसंदेह बनेगा। पुरुषका पुरुषोत्तम अवश्य बनेगा। अतः दोनों के नाम, गुण, धर्म और कर्म वेद और शास्त्रोंमें एक जैसे कहे हैं। अतः परमात्माका वर्णन ही अल्प कार्यक्षेत्रमें जीवात्मपरक होता है। यह सनातन नियम है, इसीलिये इस उत्तर से अर्जुन की शंका दूर हुई। और अर्जुन समझने लगा कि, इन भीष्म द्रोणादिकों के आत्मा अजर और अमर हैं और इनके देह ही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं।

यही आशय अन्य शब्दोंसे आगेके श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(१८-१९) आत्मा कैसा है और शरीर कैसा है, इसका अधिक वर्णन इन श्लोकोंमें करते हैं— आत्मा (अ-विनाशी) कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, कितनेभी शरीर मर चुके और कितने नये प्राप्त हुए, तो भी आत्मा जैसा का वैसा रहता है। इसी लिये इसको ' नित्य ' अर्थात् सदा एकसा रहनेवाला कहा जाता है। यह 'अ-प्रमेय' है, अर्थात् इसका माप नहीं लिया जा सकता, इसका यथार्थ वर्णन करना असंभव है. इसको प्रत्यक्ष बताना अशक्य है, तथा इसको किसी अन्य प्रकार समझाना भी अशक्य है। यह 'अ-व्यय'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः— यः एनं हन्तारं वेत्ति, यः च एनं हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः, अयं न हन्ति, न हन्यते ॥ १९ ॥

इस (आत्मा) को जो मारनेवाला जानता है, या जो इसको मारा गया मानता है; वे दोनों नहीं जानते हैं। यह (आत्मा) न मारता है और ना ही मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जो समझता है कि आत्मा किसीका वध करता है अथवा वह स्वयं मारा जाता है, उसको सच्चा ज्ञान नहीं है। यह आत्मा न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥ १९ ॥

है अर्थात् इसमेंसे कुछभी खर्च नहीं होता, अतः यह अनादि कालसे एक जैसा है।

परंतु इसके देह 'नाशवान्' हैं, ये देह जन्मते, बढते, क्षीण होते और नाशको प्राप्त होते हैं। अतः उनको 'अ-नित्य' कहते हैं। ये 'प्रमेय' हैं अर्थात् इनका माप—लंबाई चौडाई, मोटाई आदि-किसी प्रमाणसे लिया जाता है। शरीरका वर्णन किया जा सकता, शरीरको प्रत्यक्षरूपसे बताया जा सकता है। इसका स्पर्श करना, सूंघना, आदिसे भी ज्ञान होता है इस का 'व्यय' होता है, प्रतिदिन इसका व्यय हो रहा है, इसी कारण अन्नादिसे इसकी पुष्टी करना प्रतिदिन आवश्यक होता है। यह शरीर पूर्वकालमें नहीं होता, भविष्यमें भी नहीं होता, मध्य समय में रहता है।

नाशवाले देहका नाश हुआ तो उसमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है, आत्माका किसी अवस्थामें—[अर्थात देह रहने पर अथवा नाश होनेपर]—नाश नहीं होता, इस कारण उस के विषयमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है। इसलिये हे अर्जुन! जिस कार्यके लिये इतनी तैयारी तूने की, वह युद्ध कर और विजय प्राप्त करके अपने स्वराज्यको प्राप्त कर और प्रजा कल्याण करनेके यशका भागी बन।

केवल आत्मा किसीका वध नहीं कर सकता, और केवल शरीर भी जड होनेसे किसीका वध नहीं कर सकता। वध करने करानेवाला इनसे भिन्न है। आत्मा अकर्ता है। इस आत्माको यदि तू मारनेवाला या मरनेवाला समझता है, तो तुझे कुछभी ज्ञान नहीं हुआ, यह सत्य है। हे अर्जुन! तू इन शत्रुओंको मारनेवाला नहीं और ये शत्रू तेरे शस्त्रास्त्रोंसे मरनेवाले भी नहीं हैं। इन सबका आत्मा अविनाशी और नित्य है। उसका नाश करनेमें तू अथवा दूसरा कोई किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकते। अतः तू अपना कर्तव्य कर।

इस प्रकारका वर्णन उपनिषद्में है, व उपनिषद्वचन अब देखिये—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

कठ उ० २। १८-१९

"यह आत्मा न जन्मता है और न मरता है, यह कहां नहीं है ऐसाभी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुराणा है। शरीरका नाश होनेपर भी इसका वध नहीं होता है। वधकर्ता यदि इसका वध करनेकी इच्छा करे और मरनेवाला भी यदि अपने आपको मारा गया माने,

(१०) पुराण पुरुष ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अन्वयः— अयं कदाचित् न जायते, न वा म्रियते, (अयं) भूत्वा भूयः अभविता न। अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः, शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥ २० ॥

यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है, और न मरता ही है। यह होकर फिर अभावको प्राप्त होगा ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है ॥२०॥

तो उन दोनोंको सत्य-ज्ञान नहीं है। यह न मारता है और न मारा जाता है।"

आत्माके अमरत्व के विषयमें उपनिषद् का यह वचन यहां मनन करने योग्य है। मरने मारनेके लिये 'काल' कारण है यह विषय महाभारत शान्तिपर्व अ० २५ में विस्तारपूर्वक कहा है वहां के कुछ श्लोक अब देखिये—

काल का कार्य ।

नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः ॥११॥
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥१४॥
घ्नन्ति चान्यान्नरान्राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः ।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥१५॥
आत्मापि चायं न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥१९॥
म० भा० शां० अ० २५

"कालके विना कोई नहीं जन्मता है और ना हि मरता है। काल से ही बालक बोलने लगते हैं। कालसे परिपक्व हुए राजा लोग मरते हैं। एक दूसरे को मारता है और वह मरता है यह लौकिक अर्थात् अज्ञानी लोगोंकी भाषा है। वस्तुतः आत्मा न मरता है और न मारा जाता है। जिस प्रकार यह पृथ्वी मेरी है और सब अन्य प्राणियों की भी है, उसी प्रकार यह आत्मा मेरा है और अन्योंका भी है।'

यहां काल से प्राणी जन्मते और मरते हैं ऐसा कहा है और यही मत भ० गीता में भी कहा है-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
भ० गीता ११।३२

"मैं लोकोंका नाश करनेवाला महा काल हूं। लोकोंका नाश करनेके लिये यहां आया हूं। जो प्रतिपक्षी यहां आये हैं वे तेरे विनाभी जीवित नहीं बचेंगे।" अर्थात् ये कालसे परिपक्व होकर मरनेवाले ही हैं। अतः हे अर्जुन! तू अपने आपको इनका वधकर्ता न मान। इतनेसे समझमें न आया तो और देखो—

(२०-२१) [बीसवां श्लोक कुछ पाठ भेदके साथ कठोपनिषद्में आगया है, वह पूर्व श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिया है। पाठक उसको वहां देखें।]

यह आत्मा कभी जन्मको नहीं प्राप्त होता है। यह कभी मरताभी नहीं। (भूत्वा अभविता न) यह एकवार होकर पुनः इसका अभाव नहीं होगा। जो जन्मता है और मरता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है कि, (भूत्वा अभविता) यह होकर कुछ कालके पश्चात् अभावको प्राप्त होगा, जैसा देह; यह एकवार जन्मता है अर्थात् जन्म कर 'भाव' को प्राप्त होता है, और पश्चात् (अ-भविता) यह देह अभावको प्राप्त होता

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

(११) वस्त्र बदलना।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

अन्वयः हे पार्थ! यः एनं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति कं हन्ति?॥ २१॥

हे अर्जुन! जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसा किसको मरवाता है और किसको मारता है?॥ २१॥

भावार्थ— अजन्मा आत्माका जन्म नहीं होता, अमरकी मृत्यु नहीं होती, अव्ययका कुछभी व्यय नहीं हो सकता, नित्य वस्तुका कभी अभाव नहीं होगा।

है। संपूर्ण देहोंके विषयमें ऐसाही कहा जाता है। परंतु आत्मा का कभी अभाव नहीं होता।

इसी प्रकार (अ-भूत्वा भविता न) पहिले न होता हुआ भी पीछेसे बनता है, ऐसीभी बात नहीं है। जो जन्मता है उसके विषयमें ऐसा कहा जासकता है, परंतु जिसको जन्म नहीं है उसको 'न होकर भी पीछेसे होनेवाला' ऐसा कहा नहीं जासकता।

यदि इसका जन्म शरीरके साथ होता है और शरीर के साथ इसकी मृत्यु होती है ऐसा माना जायगा, तोही (भूत्वा भविता) होकर फिर होनेवाला यह आत्मा है ऐसा माना जा सकेगा। परंतु यह बात तभी होगी जब देहके धर्म इसपर आरोपित किये जांयगे। परंतु एकके धर्म दूसरे पर आरोपित करना यह अज्ञान का द्योतक है, इसलिये यह आत्मा एक वार होकर फिर वारंवार होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(न भूत्वा न भविता) वस्तुतः देखा जाय तो यह एकवार न हो कर फिर होनेवाला भी नहीं। तात्पर्य किसी प्रकार यह आत्मा जन्म मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस बीसवें श्लोक के द्वितीय पाद के विषयमें बहुत टीकाकारों में मत भेद है। यहां कई 'भूत्वा भविता' ऐसा पद मानते हैं और कई 'भूत्वा अभविता' ऐसा मानते हैं। यहां टिप्पणीमें दोनों प्रकारके पदों की संगति बतायी है। पाठक इसका विचार करें।]

यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत अर्थात् चिरकाल रहनेवाला है। यह 'पुराण' (पुरा+नवः=पुरा-नवः=पुराण) पूर्व कालसे होता हुआ भी इस समय नवीन जैसा है। यह अत्यंत पुराणा होता हुआ भी अत्यंत नवीन जैसा सदा रहता है। यह कभी जीर्ण क्षीण या दुर्बल नहीं होता।

इसका शरीर जन्मवाला, अनित्य, अशाश्वत है और जब यह शरीर पुराण अर्थात् वृद्ध होता है, तब नवीन जैसा नहीं रहता है। अर्थात् शरीर के गुणधर्म उसके गुणधर्मों के साथ बिलकुल विपरीत हैं। इस शरीर के काटे या मारे जानेपर भी वह आत्मा मारा नहीं जाता अर्थात् शरीर मरनेपर भी वह अमर रहता है।

हे अर्जुन! जो इस आत्माको इस प्रकार अविनाशी, अव्यय, अजन्मा अतएव नित्य जानता है, वह किस को मार सकता है और ऐसा आत्मा मारनेका यत्न करनेपर भी कैसे मर सकता है? अर्थात् आत्मा के मरने मारनेकी कल्पना असत्य है। इस विषयमें और देखिये—

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वयः-यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय, अपराणि नवानि गृह्णाति; तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय नवानि संयाति ॥ २२ ॥

जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रोंको त्याग कर, दूसरे नये वस्त्रोंका ग्रहण करता है; उसी प्रकार देहधारी आत्मा जीर्ण शरीरोंका त्याग करके नये शरीरोंको धारण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- जैसा मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, वैसाही आत्मा अपने देहोंको बदलता है।

(२२) किसीने फटे पुराने वस्त्र फेंक दिये और नये उत्तम वस्त्र धारण किये, तो उसमें शोकका कोई विषय नहीं है। किसीने पुराना जीर्ण मकान छोडकर नये घरमें प्रवेश किया तो भी आनंदका विषय है। इसी प्रकार आत्माने पुराना, जीर्ण या फटा शरीर फेंक दिया और नया शरीर धारण किया, तो उसमें शोक का क्या कारण हो सकता है? इस विषयमें बृ० उपनिषद्में निम्न लिखित वचन देखने योग्य है-

यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुप संहरति ॥ ३ ॥
तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते० ॥ ४ ॥

बृ० उ० ४।४।३-४

"जिस प्रकार घासपर रहनेवाला कीडा पहिले घासके तिनकेके अग्रभागपर जाता है, वहां अपना आधा भाग पहिले तिनकेपर रखकर अपने देहका आगेका भाग दूसरे तिनकेपर रखता है। वहांका आधार स्थिर हो जानेपर अपने शरीरका शेष भाग उस दूसरे तिनके पर लेता है; इसी प्रकार यह आत्मा शरीरके नाश होनेके समय अनजान रीतिसे दूसरे देहका आश्रय करनेके पश्चात् पूर्व देहसे अपने आपको समेटता है ॥ ३ ॥ जैसे चित्रकार चित्र करनेके मसालेका आश्रय करके नया चित्र तैयार करता है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरका नाश होते ही कुछ अनजान रीतिसे दूसरा नया उत्तम शरीर धारण करता है ॥ ४ ॥"

नया वस्त्र परिधान करनेवाले भी नवीन सुंदर वस्त्र बनाते या मोल लाते हैं और पुराना अलग करते हैं अर्थात् नया तैयार होनेके या मिलनेके बाद जीर्ण वस्त्र फेंकते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा नवीन देह तैयार होनेके बाद उसमें एक पांव रखकर पहिले देहसे अपनेको समेटता है। बीचका जो समय है वह (अविद्या) अज्ञान का है, उसमें इसको कुछ ज्ञान नहीं होता है। घरका स्वामी भी नया घर बनाता है और पुराना छोड देता है। किरायापर रहनेवाला मनुष्य नया अधिक अच्छा मकान देखता है। उसपर अपना संबंध जोडता है और पहिले मकानसे अपना सामान हटाता है। इसी विषयमें महाभारतमें कहा है—

यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥५७॥
देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्संप्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥५८॥

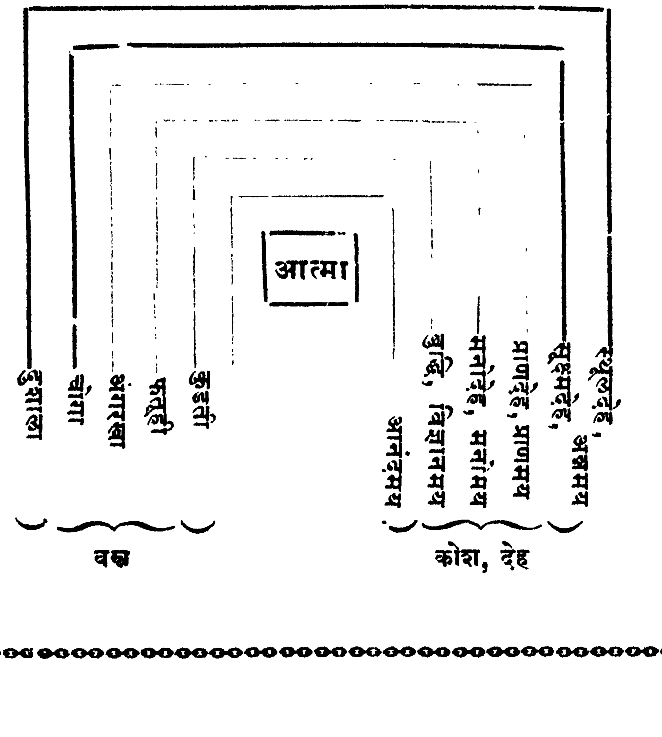
म० भा० शां० अ० १५

"जैसा मनुष्य नये घरमें प्रवेश करता है,

वैसाही जीवात्मा नये नये शरीरोंको प्राप्त करता है। पुराने देहोंको छोडता है और नये देहोंको प्राप्त होता है।'' इस प्रकार आत्मा अनादि अनन्त तथा नित्य है और देह अनित्य हैं। देहके नाशसे आत्माका कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। अतः हे अर्जुन! यदि भीष्मादि धर्मशील पुरुषोंके देहोंका नाश इस युद्धमें हो जाय, तो उनको (नवतरं कल्याणतरं रूपं) नवीन और अधिक सुखकर दिव्य देह प्राप्त होगा, जिससे वे अभौतिक सुखका भोग लेनेमें समर्थ होंगे। इसी प्रकार जो दुर्योधनादि पापी पुरुष हैं जिनके पास पुण्यसंचय विशेषसा नहीं है, उनकी मृत्यु युद्धभूमिपर होनेसे स्वर्गप्राप्ति होगी। इस प्रकार उनका लाभ ही है। अतः धर्म युद्ध करना योग्य है। इस श्लोकमें (नवानि शरीराणि संयाति) नवीन शरीरोंको (सम्यक् रीत्या याति) उत्तम रीतिसे प्राप्त होता है, ऐसा जो कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि इस युद्धभूमिपर मरनेसे उनको उच्च अवस्था निःसंदेह प्राप्त होगी, उनका कल्याण होगा। इस विषयमें संदेह नहीं है।

पुराने पुस्तक की नयी जिल्द बनायी गयी, तो नयी बननेकी तैयारी होते ही पुरानी जिल्द फाडकर फेंकनी पडती ही है। इस समय पुरानी जिल्द फाडकर फेंकना उपकारक है, न कि अपकारक। इसी प्रकार द्वितीय शरीर की प्राप्ति उपकारक होती है, कमसे कम भीष्मद्रोणादि पुण्यात्माओंके विषयमें तो निःसन्देह उपकारक होगी, इस में शंका करनेका कोई कारण नहीं है।

इस श्लोकमें (जीर्णानि वासांसि विहाय) पुराने कपडे फेंकर (नवानि गृह्णाति) नये लेनेके समान ही (जीर्णानि शरीराणि विहाय) अनेक जीर्ण शरीरोंको त्याग कर (नवानि संयाति) अनेक नये देहों को प्राप्त करता है, ऐसा बहुवचन में प्रयोग करके बताया है, कि मनुष्य के पास तीन या तीन से अधिक देह हैं। मनुष्य जैसा कुडती, (वासकट) फतूही, अंगरखा और ऊपर से कश्मीरी चोगा पहनते हैं, अर्थात् तीन वस्त्र कमसे कम पहनते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर आदि अनेक शरीर एक के ऊपर दूसरा धारण करता है।



(१२) आत्मा का वर्णन ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अन्वयः— एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति, एनं पावकः न दहति, एनं आपः न क्लेदयन्ति, एनं च मारुतः न शोषयति ॥ २३ ॥

इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काटते, इसको अग्नि नहीं जलाती, इसको पानी नहीं भिगोता और इसको वायु नहीं सुखाती ॥ २३ ॥

इस विषय में भगवद्गीता में ही कहा है—

इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
भ० गी० ३।४२

'शरीर से इंद्रियां परे, इन्द्रियोंसे मन परे, मन से बुद्धि परे है और जो बुद्धिसे भी परे है वह आत्मा है।' इस प्रकार ये शरीर एक के ऊपर दूसरा ऐसे हैं। जो मृत्यु करके कहा जाता है, उससे संपूर्ण देहोंका एकदम नाश नहीं होता है। केवल एक स्थूल देहकाही नाश होता है, परंतु सूक्ष्म देह वैसाही रहता है, कालान्तर से सूक्ष्म देह भी नष्ट हुआ तो भी मनोदेह अथवा कारण देह जैसा का वैसाही रहता है। अर्थात् इस लोक में जिसको मृत्यु कहा जाता है, उससे बाहर के वस्त्र फटते हैं, अन्दर के वस्त्र उसीपर रहते हैं। यह स्थिति ध्यानमें धारण करनेसे मृत्युकी वास्तविक कल्पना होगी और मृत्यु का भय इस विचार से दूर होगा।

आवश्यक कार्य करनेके समय यदि अंगरखा फट गया, तो अंगरखा के बचाव के लिये कोई सज्जन कर्तव्य कर्म करनेसे पीछे तो नहीं हटते; उसी प्रकार अत्यंत आवश्यक कर्तव्य कर्म करने के समय स्थूल देह फट गया, या फट जानेका संभव हुआ, तो कर्तव्य कर्मसे तो पीछे हटना नहीं चाहिये। कर्तव्य कर्म करनेके समय देह-पात होनेसे जो हानि होगी, उससे अधिक हानि कर्तव्य कर्मसे पीछे हटनेसे होगी। अतः हे अर्जुन ! तू पीछे न हट। युद्धरूपी यह प्राप्त कर्तव्य कर्म कर। युद्धके शस्त्रास्त्र आत्माको काट नहीं सकते, इस विषयमें कहते हैं—

(२३-२५) इस आत्माको शस्त्रास्त्र नहीं काट सकते, क्यों कि यह निरवयव है। अतः इसके ऊपर शस्त्रास्त्र छेदन का कार्य कर नहीं सकते। इसको अग्नि नहीं जला सकती, इसको पानी भिगा नहीं सकता और वायुसे इसको शुष्क करना भी असंभव है। इसी प्रकार पृथ्वीका गंध गुण इसमें नहीं, अतः सूंघ कर इसका नाकसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आप तत्त्वका रसगुण इसमें नहीं है, अतः जिह्वासे यह चखा नहीं जाता, और रुचीसे इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अग्नितत्त्वका रूप गुण इसमें नहीं है अतः आंखसे यह देखा नहीं जा सकता। वायुतत्त्वका स्पर्श गुण इसमें नहीं है, इस कारण स्पर्शसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्णसे इसका शब्द सुनना भी अशक्य है। अतः पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे इस आत्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस कारण इसको 'अव्यक्त' कहते हैं। मनसे भी इसका चिन्तन होना कठिन है, क्यों कि जिसका मनसे ग्रहण हो सकता है, उसीका मनसे चिन्तन हो सकता है, अतः इसको 'अचिन्त्य' कहते हैं।

इसपर किसी अन्य वस्तुका कोई परिणाम नहीं होता, इसमें न्यूनाधिक नहीं होता, छेदन

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अन्वयः— अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः, अयं अक्लेद्यः, (अयं) अशोष्यः एव । अयं नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः सनातनः ॥ २४ ॥ अयं अव्यक्तः, अयं अचिन्त्यः, अयं अविकार्यः उच्यते । तस्मात् एनं एवं विदित्वा, (त्वं) अनुशोचितुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

यह (आत्मा) छेदा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह भिगोया नहीं जा सकता और सुखाया भी नहीं जा सकता । यह नित्य, सर्व स्थानमें गत, स्थिर, अचल और सनातन है ॥२४॥ यह अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित है ऐसा कहते हैं । इसलिये इसको ऐसा जान कर, तुझे शोक करना योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

भेदन आदि नहीं होता, इसको जलाना भिगोना सुखाना अशक्य है, इसमें घटवध नहीं हो सकती, अतः इसको 'अविकारी' कहते हैं । यह नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल, और सनातन है ।

इस आत्माकी सत्तासे ही मन, चित्त आदि सब मनन और चिन्तन के कार्य कर सकते हैं, मन और चित्त अपनेसे अधिक स्थूल पदार्थोंका मनन किंवा चिंतन कर सकता है, अतः वे अपने से सूक्ष्म किंवा निरवयव आत्माका मनन कैसा कर सकेगा? आत्मा से स्फूर्ति प्राप्त होकर संकल्प विकल्प उठते हैं, अतः वे संकल्प विकल्प आत्मा का ग्रहण कैसे कर सकते हैं? आंखोंपर शीशा लगाया तो आंखोंमें दर्शन शक्ति रहनेपर शीशोंसे देखा जाता है, परंतु वह आयनक स्वयं आंखोंको देखनेमें असमर्थ होती है । इसी प्रकार आत्मा के ऊपर मन आयनक के समान है, उससे बाह्य सृष्टी देखी जाती है, परंतु उससे अंदरके आत्मा का दर्शन होना असंभव है । अतः मन आत्माका ग्रहण कर उसका मनन नहीं कर सकता । इसलिये आत्मा को 'अचिन्त्य' कहा है ।

यह आत्मा ऐसा है, यह जानकर इस विषयमें शोक करना योग्य नहीं है । आत्मा 'सर्वगत' अर्थात् सर्वव्यापक है, वह जैसी, हे अर्जुन ! तुम्हारे देहमें है उसी प्रकार भीष्मद्रोणादिकोंके देहोंमें भी है । एकही आत्मा सर्वगत होनेसे सब के अनेक देहोंमें व्यापक है, अतः किसी एक देशी देहके नाश से सर्वगत आत्मा में कोई हानि नहीं हो सकती । इसलिये भीष्मद्रोणादिकों के मरणसे आत्मामें कोई क्षति नहीं हो सकती; क्यों कि जो आत्मा भीष्म द्रोणादिकों में है वही 'सर्वगत' होनेसे तुम्हारे अंदर भी है । कई जीवित रहे या कईयों की मृत्यु हो गई; तो उस एकरस आत्मामें कोई अपूर्णता नहीं होती, इस हेतु युद्ध करनेके समय शोक करनेका कोई कारण नहीं है।

इस समय तक पूर्वोक्त श्लोकोंमें आत्माके कई गुण बोधक नाम आगये हैं, उन सबका एक स्थानपर विचार होनेसे आत्मा का ज्ञान हो सकता है और साथ साथ उसके विरुद्ध गुण धर्मवाले देहका भी ज्ञान होनेमें सुविधा होगी, अतः ये शब्द नीचे देते हैं—

आत्मावाचक शब्द	देहवाचक शब्द
आत्मा	देह, अनात्मा
पुरुष	प्रकृति
अमर	मर
सत्	असत्
देही	देह
अविनाशी	विनाशी
अनन्त	अन्तवान्
अनादि	सादि
नित्य	अनित्य
अज	जन्मवाला
न जायते	जायते
शाश्वत	अशाश्वत
पुराणः(पुरा अपि नवः)	बदलनेवाला
न हन्यते	हन्यते
न म्रियते	म्रियते
अप्रमेय	प्रमेय
अव्यय	व्यय
अच्छेद्य	छेद्य
(एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति)	(शस्त्राणि छिन्दन्ति)
अदाह्य	दाह्य
(एनं पावकः न दहति)	(पावकः दहति)
अक्लेद्य	क्लेद्य
(एनं आपः न क्लेदयन्ति)	(आपः क्लेदयन्ति)
अशोष्य	शोष्य
(एनं मारुतःन शोषयति)	(मारुतः शोषयति)
सर्वगत	एकदेशीय
स्थाणु (आधार)	आधेय
अचल	चल
सनातन	नश्वर
अव्यक्त	व्यक्त
अचिन्त्य	चिन्त्य
अविकार्य	विकार्य

पूर्वोक्त श्लोकोंमें ये शब्द आगये हैं। इनमें से कुछ शब्द पूर्वापर अनुसंधानसे बाहरसे लिये हैं। पाठक स्वयं उनको अर्थ के अनुसंधानसे वहां देख सकते हैं। इन शब्दोंका विचार करनेसे आत्माके गुणधर्म क्या हैं और देहके गुणधर्म उनसे कैसे भिन्न हैं, इसका ज्ञान पाठकों को हो सकता है। गीताके 'सांख्य सिद्धान्त' का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करनेकी यदि पाठकों के मनमें इच्छा हो तो, वे इन शब्दों को कण्ठ करें और इनका खूब मनन करें। इन शब्दों के मनन से गीतामें कहे सांख्यतत्त्व का ज्ञान हो सकता है।

इन शब्दोंमें (श्लोक २४ में कथित) 'सर्वगत' शब्द आत्माका वाचक है। यह शब्द विशेष महत्त्व का है। 'सर्वव्यापक आत्मा है' ऐसा इसका आशय है। सब स्थानोंमें आत्मा है कोई स्थान उससे खाली नहीं है। इसी कारण उसको 'अ-चल' भी कहा है। क्यों कि सब स्थानमें उपस्थित होनेसे वह चल नहीं सकता। यदि गीता के सांख्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अणु होता या अल्प परिमाणवाला होता, तो वह 'सर्वगत और अचल' नहीं हो सकता। अणुपरिमाणवाली वस्तु एक स्थानसे दूसरे स्थान में जा सकती है और उसको "चल" कहा जायगा और वह एकदेशी भी होगी। अर्थात् 'सर्वगत और अचल' ये दो शब्द स्पष्ट बता देते हैं कि गीतामें कहे सांख्य सिद्धान्त के अनुसार एक आत्मा सर्वस्थानमें परिपूर्ण है और वही सब जीवोंका आत्मा है, जिसके ये पूर्वोक्त नाम हैं। इस प्रकार आत्माकी दृष्टिसे सबकी एकता और देहोंकी दृष्टिसे सबकी भिन्नता यहां दर्शाई है। सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा किसी एक या अनेक देहोंके नाश होनेसे नाशको प्राप्त नहीं हो सकता, यह ठीक ही है।

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक अग्नि किसी स्थान पर प्रज्वलित होगई और बुझ गई, तो उसके जागने और बुझनेसे सर्वव्यापक तैजस तत्त्वमें कुछ भी घटबढ नहीं होता। अथवा एक नगरमें बिजुलीके लाखों दीप जलाये हैं। उनमें कोई

लाल हैं और कई पीले नीले, हरे आदि विविध रंगोंके हैं। कई छोटे हैं और कई बडे हैं। उनमें से कुछ टूट गये या फट गये अथवा बुझ गये, तो सब जगत्में व्यापक बिजुलीके समुद्रमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता है। इसी प्रकार आत्मा का सर्वव्यापक बडा विद्युत्समुद्र है और उससे कुछ अज्ञात कलायन्त्रसे अनेक शरीररूपी विद्युद्दीप लगाये हैं, जो इनमेंसे सात्त्विक हैं उनका श्वेतवर्ण, राजसिक प्रकृतिवालोंका पीला और लाल रंग है और तमोगुणी प्रकृतिवालों का नीला या काला रंग है इनमेंसे कुछ किसी कारण बुझ जाते हैं और कई नये प्रज्वलित होते हैं। बुझनेसे या जलनेसे उस आत्माके समुद्रमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता। भीष्मद्रोणादि बडे लोग इस शरीरसे वियुक्त हुए और कई नये लोग जन्मको प्राप्त हुए, तो विश्वव्यापक सर्वगत आत्मामें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं हो सकता। इस प्रकारके विचार से ही इस ' सर्वात्मवाद ' की कल्पना हो सकती है। यही बात भ० गीतामें अन्यत्र कही है—

१ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः॥
भ० गी० ६।३१

२ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
भ० गी० १०।२०

३ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
भ० गी० १५।१४

(१) ' सब भूतों में स्थित मुझको जो भजता है। (२) मैं आत्मा संपूर्ण भूतोंमें रहा हूं। (३) मैं वैश्वानर रूपसे सब प्राणियों के देहों में हूं।' भगवान इन श्लोकोंमें कहते हैं कि मैं ही सब भूतोंका एक आत्मा हूं। यह अन्तिम सिद्धि है ऐसा निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट कहा है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
भ० गी० ५।७

' योग का आचरण करनेवाला, शुद्धात्मा, जिसने अपने आत्मा और इंद्रियोंपर विजय पाया है, ऐसा श्रेष्ठ पुरुष जब (सर्व-भूत-आत्मा-भूत -आत्मा) सब भूतों का आत्मा हुआ है जिसका आत्मा, ऐसा बनता है, तब वह कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।' कर्मका लेप न होने के लिये इस सर्वात्मभाव की सिद्धी प्राप्त होनी चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् ' सर्वात्मभाव ' की स्थितिपर थे और अर्जुन ' देहात्मभाव ' की स्थिति पर था। कर्म का लेप न होने के लिये सर्वात्मभाव की अवस्था प्राप्त होना आवश्यक है। गत १५ वे श्लोक की टिप्पणी में उच्च मन की भूमिका में पहुंचे महात्मा का वर्णन किया है, उस से दो अवस्था ऊंची यह ' सर्वात्मभाव ' की अवस्था है। अतः यह पूर्ण पुरुष की अवस्था है, यह बात पाठक ध्यान में धारण करें।

'सर्वगत आत्मा' परमात्मा है और वैयक्तिक 'देहगत' आत्मा जीवात्मा है, यह परिभाषा व्यावहारिक है; परिभाषा सबके समझ में आनेवाली है इस में संदेह नहीं। परंतु जिस अनुभव के दृश्य बिन्दुसे गीतामें ' सर्वगत ' आत्मा है ऐसा कहा है और उपनिषदोंमें भी कहा है, वह अनुभव का दृश्यबिन्दु भी अधिक विवेकसे अनुभवमें आनेवाला है।

गीताके 'सर्वगत आत्मभाव' और 'सर्वात्मभाव' की कल्पना अथवा ' सर्वभूतात्मभूतात्मा' बननेकी कल्पना यदि पाठक समझना चाहें तो इस प्रकार समझ सकते हैं। मनुष्यके अनुभव की चार अवस्थाएं हैं और उन चार अवस्थाओं का अनुभव विभिन्न है, देखिये—

१ जाग्रति = द्वैतका अनुभव, भेदका अनुभव, सृष्टीकी विविधताका अनुभव।

२ स्वप्न = द्वैतकाही अनुभव, परंतु भासमान होते हुए सत्य जैसा प्रतीत होता है।

३ सुषुप्ति = अद्वैतका अनुभव। द्वैतके अनुभव का अभाव। इस अवस्थामें ब्रह्मरूप स्थिति होती है।

४ तुर्या = [उक्त तीन अवस्थाओंका अनुभव लेनेवालेकी शुद्ध अवस्था चतुर्थ ही मानी जाति है] इसका अनुभव साधारण मनुष्यों को नहीं है।

पहिली तीन अवस्थाएं हरएक मनुष्य को अथवा प्राणीको प्रायः प्रतिदिन प्राप्त होती हैं। इस लिये हम कह सकते हैं कि हरएक मनुष्य जाग्रति में पूर्ण शुद्ध द्वैत का अनुभव करता है और सुषुप्तिमें अद्वैतका अनुभव करता है। सुषुप्तिमें अद्वैत का अनुभव होता है उस समय उसको ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त होती है, देखिये—

समाधिसुषुप्तिमुक्तिषु ब्रह्मरूपता।

"सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है।" यह शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है। सुषुप्त में तमोगुणप्रधान ब्रह्मरूपता, समाधि में रजोगुणप्रधान ब्रह्मरूपता और मुक्तिमें सत्त्वगुणप्रधान ब्रह्मरूपता होती है, इसप्रकार माननेसे इन अवस्थाओंकी कुछ कल्पना पाठकोंको हो सकती है। जाग्रतिका मन स्थिर होनेसेही सुषुप्ति या समाधि अवस्था प्राप्त होना संभव है और जाग्रतिका मन ही द्वैत का अनुभव करनेवाला है, यह १५ वे श्लोक की टिप्पणीमें बता दिया है। यह संकल्पविकल्पात्मक मन स्थिर हुआ, तो द्वैतका अनुभव हट जाता है और जब तक वह मन स्थिर रहता है तब तक द्वैतका अनुभव नहीं होता। किसी द्वन्द्वका अनुभव मनकी स्थिरता के पश्चात् नहीं होता। मनकी स्तब्धता होनेके पश्चात् जो अनुभव आता है वह अद्वैतका, ब्रह्मरूप अवस्थाका ही अनुभव है। इसका वर्णन उपनिषदोंमें इसप्रकार किया है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं ॥१॥ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्० ॥ २ ॥

छां० उ० ७।२३-२४

सुपूर्णभूमाऽहमिति भावय। मुक्ति०उ०२।७४

"जो भूमा अवस्था है वह सुख है और जो अल्प अवस्था है, उसमें सुख नहीं। निश्चयसे भूमा सुखकी अवस्था है॥ जहां दूसरेको देखता नहीं, दूसरेको सुनता नहीं, दूसरेको जानता नहीं वह भूमा अवस्था है, और जहां दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है और दूसरेको जानता है वह अल्प अवस्था है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है॥ मैं पूर्ण भूमा हूं ऐसी भावना करो॥"

यहां दो अवस्थाएं कहीं हैं (१) एक 'भूमा' अवस्था जिसमें देखना, सुनना, जानना आदिका कार्य हो नहीं सकता, अर्थात् जिसमें ये स्पर्श भोग नहीं लिये जाते। यह अवस्था सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति की अमर अवस्था है। इसमें अभौतिक सुख निजशक्तिसे ही मिलता है। (२) दूसरी 'अल्प' अवस्था है जिसमें मनुष्य देखता, सुनता और जानता है और जिसमें प्राकृतिक स्पर्शभोग लिये जाते हैं। यह मनुष्यकी जाग्रति और स्वप्नकी अवस्था है, यही मर्त्य अवस्था है। 'भूमा (भू मन्)' शब्दकाही अर्थ (बहोः भावः) बहुत या विपुल होनेका भाव है। मनुष्य का आत्मा सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें ऐसी विपुल व्यापक अवस्थामें जाता है कि जो अवस्था इस जागृतिकी संकुचित अवस्थासे कहीं उच्च अवस्था है। पाठक यहां ये शब्द देखें—

भूमा	अल्प
सुषुप्ति, समाधिका अनुभव	जाग्रतिका अनुभव
अमर्त्य	मर्त्य
सुख	दुःख
पूर्णता	अपूर्णता
सर्वगत	एकदेशीय
अभेद	भेद
व्यापकता	अव्यापक
अचल	चल
सर्वभूतात्मभूतात्मा	भिन्नात्मा

सर्वभूतस्थिति	देहस्थिति
सर्वात्मभाव	देहात्मभाव

जिस प्रकार जाग्रति का अनुभव सत्य है, उसी प्रकार सुषुप्तिका अनुभव भी सत्य है। सुषुप्तिमें यदि भूमा अवस्था होती है तो वह अद्वैत की अवस्था है। इस अवस्था को अद्वैत इसलिये कहते हैं कि वहां द्वैत, भेद या द्वन्द्व का अनुभव नहीं होता, इस विषयमें उपनिषदों का कथन यहां मनन करने योग्य है, देखिये —

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति; यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं रसयेत्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं स्पृशेत, तत्केन कं विजानीयाद्, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते ... विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ... ॥ बृ० उ० ४।५।१५

'जहां द्वैतसा होता है वहां एक दूसरे को देखता, सूंघता, चखता, बोलता, सुनता, विचार करता, स्पर्श करता और जानता है; परंतु जहां इसका सब आत्मा ही होता है उस समय कौन किसको देखे, सूंघे, चखे, बोले, सुने, विचार करे, और स्पर्श करे? जिससे सब जाना जाता है वह भला कैसे जाना जायगा? 'यह नहीं, यह नहीं' इस रीतिसे इस आत्मा का वर्णन होता है; इसका ग्रहण करना कठीन है ... जो सब को जानता है, उसको किस साधन से भला हम जानें?'

जाग्रति और सुषुप्तिमें कैसा अनुभव आता है इसका उत्तम वर्णन इस उपनिषद्वचनमें हुआ है। यही वचन और एक वार बृहदारण्यक उपनिषद् (अ० २।४।१४ के स्थान) में भी आगया है अर्थात् एक ही उपनिषद् में दो बार है। शतपथ ब्रा० कां० १४।५।४।१५-१६ और कां० १४।७।३।२४—२५ इन दो स्थानों में है। जिस समय जाग्रतिका द्वैतका अनुभव होता है उस समय एक दूसरेसे द्वैतका व्यवहार करता है, परंतु सुषुप्ति दशामें वैसा द्वैत का अनुभव नहीं है; क्यों कि उस समय (सर्व आत्मा एव अभूत्) सब आत्मा ही हुआ होता है। दूसरा कोई आत्मासे भिन्न नहीं होता, अतः वहां कौन किससे व्यवहार करेगा। जो आत्मा सबको देखता है उसको कौन देखे, अर्थात् उस समय आत्मरूप, ब्रह्मरूप, भूमा, ब्राह्मी सर्वगत आत्मस्थिति, सर्वात्मभावस्थिति किंवा अद्वैतस्थिति होती है। ये सब शब्द उस एक अवस्थाके वाचक हैं।

जो पाठक द्वैत और अद्वैत के झगडोंमें फंसे हों उनको प्रथम उपनिषदोंकी दृष्टिसे जाग्रति और सुषुप्तिके अनुभव का यथायोग्य रीतिसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् द्वैताद्वैतके झगडोंमें फसना चाहिये। वास्तविक रीतिसे हरएक मनुष्य जाग्रतिमें शुद्ध द्वैतका अनुभव लेता है और सुषुप्तिमें शुद्ध अद्वैत का अनुभव करता है। दोनों अनुभव सत्य हैं। परंतु उनमेंभी जाग्रतिके अनुभव को 'अल्प' और सुषुप्तिके अनुभव को 'भूमा' अर्थात् बडा कहा है।

जिस रीतिसे द्वैताद्वैत के झगडे झगडे जाते हैं, वह परिश्रम व्यर्थ है। जो उपनिषदोंने कहा है उसका खंडन नहीं हो सकता। पंथाभिमान मर्यादासे अधिक प्रबल करके द्वैती लोग अद्वैत-वचनोंको खींचते हैं और अद्वैती द्वैतवचनोंको खींचते हैं। हम तो दोनों प्रकारके वचनोंको पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें पूर्वोक्त रीतिसे यथार्थ देखते हैं; अतः हमें किसी वचन की खींचातानी करनेकी बिलकुल आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जो पाठक इसप्रकार मनन द्वारा इन वचनोंको

समझनेका यत्न करेंगे उनको भी द्वैत और अद्वैत के वचन, पूर्वोक्त दृष्टि उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेसे, खटकेंगे नहीं और योग्य रीतिसे ग्रंथवचनोंकी संगति लग सकती है।

गीता, उपनिषद् और वेद में भी द्वैत और अद्वैत के वचन स्थान स्थानपर हैं। कोई ग्रंथ इन वचनोंसे खाली नहीं है। और होना भी ऐसा ही चाहिये। उदाहरण के लिये कठोपनिषद् का भाग देखिये। नचिकेताने यम से पूछा कि 'मरनेके पश्चात् क्या अवशेष रहता है?' इस का उत्तर यम ने इस प्रकार दिया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥२०॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२१
कठ उ० व० २

'सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महानसे भी महान आत्मा इस प्राणी के हृदयमें है। अनित्य शरीरोंके अन्दर रहनेवाले शरीर रहित महान विभु आत्मा को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता।'

यहां भी नचिकेता के प्रश्नके उत्तरमें अर्थात मरण के पश्चात रहनेवाला विभु आत्मा है, विभु होनेसे यह गीता के वचन के अनुसार 'सर्वगत' है ऐसा स्पष्ट कहा है। नचिकेता का प्रश्न 'शरीर के नाश के पश्चात् क्या शेष रहता है' यह है। उत्तर में कहा है कि जो हृदयमें महान् आत्मा है वही विभु आत्मा रहता है। मरणोत्तर की स्थिति निद्राके समान ही 'महा निद्रा' शब्द से जानी जाती है इसलिये वह 'भूमा' अवस्था ही है, जिसको गीतामें 'सर्वगत' शब्दसे वर्णन किया गया है।

अर्जुन की शंका थी कि "भीष्मद्रोणादिक मेरे पूजनीय गुरुजन युद्धमें मारे गये, तो उनका पूर्णनाश होगा, अतः युद्ध करना अयोग्य है।" इस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उसे समझाया कि, "भीष्मद्रोणादिकों के शरीर तो नाशवान् हैं ही, और आत्मा (सर्वगतः) विभु, अचल और (स्थाणुः) आधारस्तंभ है, वह जैसा भीष्मद्रोणादिकों के शरीरोंमें है उसी प्रकार अर्जुन धर्म आदि पाण्डव वीरोंके शरीरोंमें भी है, वह सबमें व्याप्त है। अतः किसी के शरीरका नाश होनेपर भी इस सर्वगत आत्माका नाश नहीं होता। अतः आत्माके रूपसे भीष्मद्रोणादिकोंकी स्थिति जैसी इस शरीरके पूर्व थी, वैसी ही इस शरीरकी प्राप्ति होनेपर है और इस शरीर के नाश होनेपरभी वैसीही स्थिति रहेगी, उसमें कोई विकार नहीं होगा। अतः हे अर्जुन! तू यह अपना प्राप्त कर्तव्य कर।"

प्रायः यहां सांख्य तत्त्वज्ञान समाप्त हुआ है। सब प्राणिमात्रोंका आत्मा एक है और वह (सर्वगत) विभु है, वह नाशवान् शरीरोंसे भिन्न है और तीनों कालों में अविनाशी है। यह सिद्धांत यहां प्रतिपादन किया गया है।

इस से भिन्न और भी आत्मवादी कई प्रकार के हैं। उनमें से एक मत के आत्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक का आत्मा अलग अलग (सर्वगत) विभु है, इनके मतसे अनंत विभु आत्मा हैं। दूसरे मतके आत्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक जीवका आत्मा अणु प्रमाणवाला है और पृथक है। इन दोनों मतों में जीवात्माओंकी संख्या अनंत स्वीकृत है। ये सब मतवादी आत्माको अविनाशी आदि विशेषणोंसे युक्त मानते हैं। परंतु अणुप्रमाणवादी ऐसा मानते हैं कि जीव अणु प्रमाण होता हुआ भी अपने प्राप्त शरीर तक अपनी शक्तिसे व्यापता है।

इन से भिन्न और एक आत्मवादी हैं जो मानते हैं कि आत्मा तो शरीर के साथ जन्मता और शरीर के साथ ही मरता है, इस प्रकार आत्मा वारंवार जन्मता और मरता है। इस मत को माननेवाले ऊपर दिये अविनाशी आदि आत्मा के विशेषण स्वीकारते नहीं। उनके मत से तो शरीर के साथ नाश होनेवाला आत्मा है। यदि अर्जुन इस प्रसंग में यह मत स्वीकार करने

(१३) नित्य जनन और नित्य मरण।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अन्वयः— अथ च एनं नित्यजातं, नित्यं वा मृतं मन्यसे, तथापि, हे महाबाहो! त्वं एनं शोचितुं न अर्हसि॥२६॥ हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः, मृतस्य च जन्म ध्रुवं; तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥२७॥

और यदि तू ऐसा मानता है कि, यह आत्मा नित्य जन्मता है और नित्य ही मरता है, तो भी, हे महाबाहो अर्जुन! तुझे इसका शोक करना उचित नहीं ॥२६॥ क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित ही है; इस लिये इस अपरिहार्य बात का शोक करना तुझको उचित नहीं ॥२७॥

भावार्थ— जो उत्पन्न होता है, उसका नाश निश्चित है, यह नाश अपरिहार्य है; अतः इसका शोक करना किसीको उचित नहीं है।

लगेगा,तो इस मत का विचार करना भी भगवान श्रीकृष्णको योग्य है, अतः वे इस मत का अनुवाद करके विचार करते हैं—

(२६-२७) जो लोग मानते हैं कि शरीरके साथ आत्मा नित्य जन्म लेता है और शरीर के साथ ही मरता है; उनके पक्ष में भी युद्ध में मरने वालों या अन्यत्र मरनेवालों का शोक करना अयोग्य है। क्यों कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरेगा ही, आज मरे या कल मरे यह बात भिन्न है, परंतु उसकी मृत्यु अपरिहार्य है। इसी रीतिसे जो मरता है उसको जन्म लेना भी अनिवार्य है। अर्थात् जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्युके पश्चात् जन्म; फिर मृत्यु और फिर जन्म, इस क्रमसे यह चक्र मुक्ति प्राप्त होने तक चलता ही रहेगा, इसमें खंड नहीं होगा' अतः यह अपरिहार्य है और इसमें कोई हानि भी नहीं; क्यों कि यह यथाक्रम होता ही रहेगा। जो अनिवार्य है और किसी प्रकार भी टल नहीं सकता उसके विषयमें शोक करना मूर्खता का कार्य है।

सूर्योदय होता है, पश्चात् अस्त होता है, अस्तके नंतर उदय और फिर अस्त, ये जैसे क्रमपूर्वक होते हैं; उसी प्रकार इस आत्माके जन्मरूपी उदय और मरण रूपी अस्त क्रमपूर्वक होते हैं। जो यथाक्रम होनेवाले हैं उनके विषय में शोक करना व्यर्थ है।

यथाक्रम जन्म और मरण होता है ऐसा माननेवालों का यह पक्ष है। वस्तुतः इस पक्ष को आर्य शास्त्रों की अनुमति नहीं है, क्योंकि यह मत अवैदिक है। तथापि आपत्कालमें वादके लिये यदि यह पक्ष किसीने स्वीकृत किया, तो उसका यह उत्तर है। यह पक्ष स्वीकृत करनेपर भी युद्ध से पराङ्मुख होना अयोग्य है। अपरिहार्य बात का आश्रय करके अपना कर्तव्य छोडना अयोग्य है। दिनके बाद रात्री आती है और रात्रीके

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अन्वयः— हे भारत ! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव, तत्र परिदेवना का?

हे भरतकुलमें उत्पन्न ! उत्पत्तिके पूर्व सब भूत अव्यक्त, मध्यसमयमें व्यक्त, और मृत्युके पश्चात् फिर अव्यक्त होते हैं; ऐसी अवस्थामें शोक करने का क्या कारण है?

पश्चात् दिन आता है, ये टलते नहीं, अतः मैं अपने उद्धारका कार्य नहीं करता; ऐसा यदि किसीने कहा तो जैसा उसको लोग मूर्ख कहेंगे और उसके कथन का स्वीकार नहीं करेंगे, उसी प्रकार इस आत्माकी उत्पत्ति विनाश माननेवाले नास्तिकोंके मत का स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथापि उनका मत दुर्जनतोष-न्यायसे स्वीकार करनेपर भी उससे अर्जुनका युद्धरूप कर्तव्यसे विमुख होना समर्थनीय नहीं होता, परंतु शोक छोडकर प्राप्त कर्तव्य करनाही योग्य है, ऐसा सिद्ध होता है।

अपने कर्मके अनुसार यथाक्रम जन्म और मृत्यु होनेवाले हैं, जिसका जैसा कर्म होगा वैसा ही ठीक उसको जन्म या मृत्यु होगा। अर्थात् ये यदि अपने कर्मानुसार मरनेवाले हैं, तो उनकी मृत्युका दोष तुझपर नहीं है। यदि तू निमित्तमात्र हुआ तो भी मुख्य कारण उनका कर्म है। और यदि उनकी मृत्यु हुई तो उनको यथायोग्य दूसरा देह अवश्य प्राप्त होगा ही। इसलिये उनकी उत्तर गतिमें कोई हानि नहीं होती। फिर शोकका कारण ही क्या है? मृत्यु तो उनके कर्मानुसार उनको ऐसे समय आती है कि जिस समय उनको इस देहसे कार्य न रहेगा। फिर तूने उनकी रक्षा की इच्छा भी की तौभी उनका बचाव नहीं होगा। ऐसी अवस्था में तुझे उनका शोक करना उचित नहीं है।

यहां शंका ऐसी होती है कि जिन देहोंके साथ हमारा प्रेमसंबंध हुआ है, उनका नाश होते हम प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः उनका नाश देखकर मनमें खेद होता है। इसकी निवृत्ति करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(२८) जो जो उत्पन्न होता है उसको 'भूत' कहते हैं। यहां भूत शब्दसे जगत् में दिखाई देने वाले सब पदार्थ लेनेयोग्य हैं। पंच महाभूत, सूर्यादि सब गोल, सब प्राणी आदि सब भूत हैं, क्यों कि ये सब उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि भी भूत हैं, क्यों कि ये उत्पन्न हुए हैं। इन सब की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। 'जो उत्पन्न होता है उसका नाश निश्चित है' (भ० गी० २।२७)। हर एक पदार्थ की उत्पत्ति होनेके पूर्व की स्थिति 'अव्यक्त' होती है, मरण के पश्चात् भी 'अव्यक्त' हो जाती है। बीचमें कुछ समय व्यक्त स्थिति प्राप्त होती है। फिर जो पहिले अव्यक्त स्थितिमें था वही कुछ समय के पश्चात् उसी अव्यक्त स्थितिमें गया, तो उस विषयमें शोक करनेका क्या प्रयोजन है? यह तो इस जगत् का नियम ही है, इसको टालने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है, यह अपरिहार्य है। अतः इस विषयमें शोक करने का क्या प्रयोजन है? ये तेरे पूजनीय भीष्म द्रोणादिक उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त स्थितिमें थे, थोडे समय के पूर्व व्यक्त स्थितिमें आगये हैं, इनको हमेशाके लिये इस व्यक्त स्थिति में रखना तुम्हारे आधीन नहीं है; ये अपने स्वभावसेही कुछ समयके पश्चात् अव्यक्त

अवस्था को प्राप्त होंगे ही। यदि यह बात कोई भी टाल नहीं सकता, तो उस विषयमें तू शोक क्यों करता है? क्या तू शोक करने लगा तो ये लोग सदा के लिये इस व्यक्त स्थितिमें रहेंगे? जो तू उनके विषय में इतना शोकातुर हुआ है, वह तू भी क्या अन्तमें अव्यक्त स्थितिको नहीं प्राप्त होगा? फिर इस शोक मोह से लाभ कौनसा होगा?

यही भाव भ० गीतामें आगे दूसरे शब्दोंमें कहा जायगा;—

व्यक्त और अव्यक्त।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भ० गी० ८।१८

"(ब्रह्मा के) दिन के प्रारंभ में अव्यक्त से सब पदार्थ व्यक्त होते हैं और उसी की रात्री प्रारंभ होने पर वे सब पदार्थ उसी अव्यक्तमें लीन होते हैं।" अर्थात् ब्रह्माके दिनके प्रारंभ में सब की उत्पत्ति होकर सबकी व्यक्तता होती है और ब्राह्मी रात्रीके समय सबकी फिर अव्यक्त स्थिति हो जाती है। कोई इससे छूटता नहीं, इसलिये यह अपरिहार्य है, अतः अपरिहार्य बात का शोक करना सर्वथा अयोग्य है, क्यों कि इस से कोई लाभ नहीं है। महाभारत स्त्रीपर्वमें यही विषय अन्य शब्दोंसे स्पष्ट किया है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥३॥
अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते॥५॥
अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥६॥
म० भा० स्त्रीपर्व अ० २

" सब संचय क्षय होने तक रहनेवाले हैं, सब ऊपर चढना पतन होने तक ही है, सब संयोग वियोग होने तक रहते हैं, और मृत्यु आनेतक जीवन होता है। युद्ध न करनेवाला मर जाता है और युद्ध करने वाला भी जीवित रहता है। हे महाराज! काल प्राप्त होनेपर कोई बचता नहीं। सब भूत उत्पत्तिके पूर्व अभावरूप होते हैं, मध्यसमयमें भावरूप दीखते हैं, मृत्युके पश्चात् फिर अभाव को प्राप्त होते हैं, उस में शोक करनेका कारण क्या है?"

इस स्थानमें श्रीमद्भगवद्गीताके 'अव्यक्त' शब्द के स्थान पर 'अभाव' शब्द है। अर्थात् यह श्लोक गीताके श्लोक के अर्थ को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार और एक श्लोक है—

अदर्शन और दर्शन।

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥
म० भा० स्त्री० अ० २।१३

" सब भूत पहिले अदर्शन (अदृष्ट) अवस्थामें थे, पश्चात् दर्शन (दृष्ट) स्थितिमें होगये, नंतर पुनः अदर्शन (अदृष्ट) स्थिति में पहुंच गये ऐसी अवस्थामें शोकके लिये कारण क्या है। वास्तविक देखा जाय तो ये तेरे नहीं हैं और उनका तू नहीं है।

यहां 'अदर्शन' शब्द उसी अर्थमें आगया है अर्थात् ये शब्द एक दूसरेका अर्थ स्पष्ट कर सकते हैं। देखिये—

आदि	मध्य	अन्त
अव्यक्तादीनि	व्यक्तमध्यानि	अव्यक्तनिधनानि
		(भ०गी०२।२८)
अव्यक्तात्	व्यक्तयः	प्रलीयन्ते
प्रभवन्ति		(भ०गी०८।१८)
अभावादीनि	भावमध्यानि	अभावनिधनानि
		(म०भा०स्त्री०२।६)
अदर्शनात्	(दर्शनं गताः)	अदर्शनं गताः
आपतिताः		(म०भा०स्त्री०२।१३)

इसप्रकार ये शब्द एक दूसरेके अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं। अतः नाश देखनेसे शोक करने का कोई कारण नहीं, ऐसा कहकर आत्माका अविनाशित्व पुनः कहते हैं—

(१४) आश्चर्यपूर्ण अवध्य आत्मा ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अन्वयः— कश्चित् एनं आश्चर्यवत् पश्यति, तथा एव च अन्यः एनं आश्चर्यवत् वदति, अन्यः च एनं आश्चर्यवत् शृणोति; श्रुत्वा अपि च कश्चित् एनं न वेद ॥२९॥ हे भारत! सर्वस्य देहे अयं देही नित्यं अवध्यः, तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥३०॥

कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है, वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्यसे सुनता है, परंतु सुनकर भी कोई इसको नहीं जानता ॥२९॥ हे भरतकुलमें उत्पन्न ! सबके देह में रहनेवाले इस शरीरके स्वामी आत्मा का कभी वध नहीं हो सकता; इसलिये तुझे सब भूतमात्रके विषयमें शोक करना योग्य नहीं है ॥३०॥

भावार्थ— यह आत्मा एक अद्भुत पदार्थ है, इसका वर्णन सब करते और सब सुनते भी हैं परंतु इसको यथार्थ रीतिसे जानना कठीन है । सबके देहोंमें यह रहता है, परन्तु इसका वध कोई कर नहीं सकता। यह आत्मा अमर होने के कारण इसके विषयमें शोक करना किसी को उचित नहीं है ।

(२९-३०) आत्मा अत्यंत अद्भुत पदार्थ है। वस्तुतः देखा जाय, तो इसका यथार्थ वर्णन करनाही अशक्य है। इस समय तक इसका यथार्थ वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ, अतः सब लोग इसको देखकर अपने ही अन्दर आश्चर्यसे चकित हो जाते हैं और इसको देखते देखते सब जगत् का भान भी भूल जाते हैं। जब महात्मा लोग स्वानुभवसे इसका वर्णन करने लगते हैं, तब वे भी वर्णन करते करते, उसीमें तन्मय होते हैं और शेष बातोंको भूल जाते हैं। कोई लोग यह वर्णन सुनते ही इसकी अद्भुतता का विचार कर चकित हो जाते हैं। इसप्रकार सब लोग जो कोई इसका विचार करते हैं, वे सब आश्चर्यसे स्तब्ध होते हैं। आगे उनकी मति कुंठित हो जाती है। इतना होनेपरभी कोई इसको यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता, इतनी इसकी अगाध महिमा है।

सब मरण-धर्मवाले देहोंमें सर्वगत होकर रहनेवाला यह आत्मा स्वयं सदा अमर अथवा अवध्य है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तो इसका वध कोई भी करही नहीं सकता। हे अर्जुन! किसीके आत्माका वध करना तेरी शक्तिके आधीन नहीं है। जब तेरे युद्ध करनेसे तेरे शस्त्रप्रयोग द्वारा किसीका आत्मा मारा या काटा नहीं जा सकता, तो फिर तू किसका शोक कर रहा है ?

हरएक मनुष्य अपने अन्दर इस अमर आत्मा की सत्ता है ऐसा मानकर विचार द्वारा उस सत्ताका अनुभव अपने अन्दर करे। और मैं स्वयं ऐसा अजन्मा, अजर, अमर, अशरीरी, देहका

स्वामी, नित्य, शाश्वत, पुराण पुरुष, अवध्य, अच्छेद्य, अशोष्य, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी और सर्वगत तथा अणुसे अणु और महानसे महान हूं, ऐसा विचार से देखे और मनन करके अपने अन्दर इसका अनुभव लेनेका यत्न करे। इस से अपना आत्मिक बल बढेगा और जैसा जैसा यह बल बढेगा वैसा वैसा उसको उच्च भूमिका के ऊपर स्थान प्राप्त होगा। अस्तु। यही वर्णन कठोपनिषद् में निम्नलिखित प्रकार आया है —

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८॥
कठ उ० व० २।७-८

" बहुत लोगोंको जिस आत्माका वर्णन सुननेका अवसरभी नहीं मिलता, सुननेपरभी जिसका ज्ञान बहुतोंको नहीं होता, कुशलता पूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाला और उत्तम रीतिसे उस ज्ञानको समझनेवाला प्राप्त होना एक आश्चर्य की ही बात है। तथा निपुण गुरुके पाससे जिसने ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा ज्ञाता गुरु मिलना भी एक आश्चर्यकी ही बात है। जिसका बहुत प्रकार से विचार किया जाता है, ऐसा यह आत्मा साधारण उपदेशक द्वारा समझाया जानेपर समझमें नहीं आ सकता। दूसरे ज्ञानीके द्वारा उपदेश होनेके विना इस ज्ञानमें गति नहीं होती। क्योंकि यह सूक्ष्मसे सूक्ष्म होनेके कारण अतर्क्य है।"

इस रीतिसे उपनिषदोंमें कहा है, हजारों मनुष्योंमें कुछ थोडे मनुष्य इस आत्मज्ञानके विषयको सुननेकी इच्छा करते हैं, इच्छा होनेपर उत्तम रीतिसे समझानेवाला गुरु मिलना कठीन है, उपदेशक मिलनेपर भी जो उत्तम गुरुके पास रहकर पूर्ण ज्ञानी हुआ है ऐसा सद्गुरु मिलना तो अत्यंतही कठिन है, इतना सब अनुकूल होनेपर भी सुने हुए ज्ञान को समझना और उसको आत्मसात् करना अत्यंत कठिन कार्य है। क्योंकि यह विषय सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। भ० गीता में भी आगे यही बात कही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।
भ० गी० ७।३

" हजारों मनुष्यों में से कोई एखाद मनुष्य सिद्धि के लिये यत्न करता है और प्रयत्न करने वाले सिद्धों में से भी विरलेहि मुझ (आत्मा) को वास्तविक रीतिसे पहचानते हैं।" इस विषयकी अत्यंत सूक्ष्मता होने के कारण इतनी कठिनता इसमें होती है। जो समझता है कि मैंने इसको जान लिया, उसको भी यह समझा नहीं होता, यह एक आश्चर्य की बात यहां है, देखिये-

यस्य अमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥
केन उ० खं० २

" जो समझता है कि इसका मनसे आकलन नहीं होता, वही इसको जानता है; परंतु जो समझता है कि मैंने इसको ठीक प्रकार जान लिया उसको कुछ भी समझा नहीं है। जो समझ गया ऐसा जानता है उसको इसका ज्ञान नहीं हुआ है परंतु जो अभी ठीक नहीं समझा ऐसा जानता है उसको ज्ञान हुआ होता है।" क्यों कि यह अतर्क्य अचिन्त्य और अज्ञेय है इसलिये समझना बडा कठिन है। इसी लिये इसका वर्णन करना और समझना एक अद्भुत आश्चर्यकारक बात है ऐसा गीतामें कहा है।

आश्चर्य।

यह आश्चर्य अद्भुत क्या है ऐसा यहां कोई पूछेगा, उसको कुछ दिशा बतानेके लिये यहां

इस विषय के आश्चर्यकारक भाग का कुछ अंश बताते हैं—

जो विचार करता है और आत्माकी शक्तिके चमत्कार देखता है उसको आश्चर्य ही आश्चर्य प्रतीत होता है। जब बालक जन्मता है उस समय वह स्तन पीने लगता है, न सिख सिखाये स्तन-पान कर सकना कितना आश्चर्य है? मनुष्य देखता, सुनता, स्पर्श करता, चखता और सूंघता है और समझता है, यह कितना आश्चर्य है? ये सब व्यापार कितने शीघ्र होते हैं और कैसे होते हैं यह देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है। मनुष्य के मन में कुछ भाव होता है और उसका प्रदर्शन करनेके लिये वह बोलता है, बोलनेमें कैसे एकके पीछे दूसरा ऐसी शब्द परंपरा धारा-प्रवाह के समान चलती है, जो इस बातका विचार करेगा वह आश्चर्य में दंग होगा। मन में आते ही मनुष्य उठता है, दौडता है जो मर्जी आये कार्य करता है.यह मनकी शक्ति कितनी आश्चर्य-मयी है। मनुष्य का शरीर उठाने के लिये चार मनुष्य लगते हैं, ऐसा भारी बोझवाला शरीर विना आयास केवल इच्छाशक्तिसे उठाया जा रहा है, इतनाही नहीं प्रत्युत सरकसवाले उसको तारपर नचाते हैं और छलांग मारनेवाले छलांगें मारते हैं, यह अद्भुत शक्ति जिसको है, उसकी आश्चर्यमयी शक्तिका क्या वर्णन हो सकता है।

यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरीन्।

"यह आत्मा मूकको वाचाल बनाता है, पंगुको पहाडोंकी सैर कराता है।" अर्थात् यह शरीर स्वयं वक्तृत्व कर नहीं सकता, इस गूंगे शरीरसे वक्तृत्व हो रहा है! इसीप्रकार यह शरीर स्वयं हिल नहीं सकता वही पहाडोंकी चोटीपर चढ रहा है !! यह चमत्कार आत्माकी अद्भुत शक्तिसे ही हो रहा है।

जलका प्रवाह नीचेकी दिशासे चलता रहता है, परंतु इस शरीरमें रुधिरका प्रवाह नीचेसे भी ऊपरकी ओर चलता है, जलको ऊर्ध्वगतिसे चलानेवाला यह आत्मा कितनी अद्भुत सामर्थ्य-वाला होगा? जगत्के पदार्थोंकी गर्मीके दिनोंमें गर्मी अधिक होती है और सर्दीके दिनोंमें शीतता अधिक होती है. परंतु यह शरीर देखिये यहां सर्दी गर्मीमें एकही उष्णताका प्रमाण रहता है, अर्थात् इसके अंदर ऐसी शक्ति है कि जो बाहेर की सर्दीगर्मीकी पर्वाह नहीं करती है, यह कितना आश्चय है? वायुको सम प्रमाणसे अंदर लेना और बाहर छोडना और उसको शरीर में विविध प्रकारसे घुमाना आदि जो कार्य यहां हो रहे हैं वे कितने आश्चर्यकारक हैं? इस प्रकार पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि महाभूतोंके ऊपर प्रभुत्व चलानेवाली जो शक्ति अंदर बैठी है वह कैसी आश्चर्य करने योग्य है?

जगत्के दो पदार्थ एक दूसरे पर घंसीटे जांयगे तो वे दोनों घसीटनेसे न्यून होते हैं. परंतु यहां शरीरमें देखिये जहां रगड होती है वहां की चमडी बढती है और अधिक सक्त हो जाती है, व्यायामसे पुट्ठ पुष्ट होते हैं. जोडोंके संधि हल-चलसे मजबूत होते हैं, इस प्रकार बाह्य जगत्के विरुद्ध अनुभव यहां आता है, यह आश्चयकारक घटना जो शक्ति कर रही है उसके विषयमें विचारी लोगोंमें अद्भुत आश्चर्यका भाव क्यों नहीं रहेगा?

शरीपर घाव, अथवा व्रण हो जाय अथवा शरीर में रोग हो जाय, तो उसको ठीक करनेका उपाय शरीर के अन्दर से ही एक शक्ति कर रही है, यह कितनी आश्चर्य की बात है। ऐसे सहस्रों आश्चर्य यहां भरे हैं, इनकी गिनती करना अशक्य है।

ऐसे अनेकानेक आश्चर्य इस शरीर में हो रहे हैं, परंतु उनको विचारकी आंखसे देखनेवाला चाहिये। पाठक इस प्रकार अपने अंदर देखें और अपनी आत्माकी शक्ति कैसी विलक्षण कार्य कर रही है, यह जानें, और अपनी शक्तिका ही अनुभव करें।

(१५) क्षात्रधर्म।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अन्वयः— स्वधर्मं च अपि अवेक्ष्य विकम्पितुं न अर्हसि। हि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते ॥ ३१ ॥ हे पार्थ! यदृच्छया च उपपन्नं ईदृशं अपावृतं स्वर्गद्वारं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ॥ ३२ ॥ अथ त्वं इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि चेत्, ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ अपि च भूतानि ते अव्ययां अकीर्तिं कथयिष्यन्ति। संभावितस्य च अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

स्वधर्मकी ओर देखकर भी इस प्रकार कांपना तुझे योग्य नहीं है। क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढकर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य नहीं हो सकता ॥३१॥ हे पृथापुत्र अर्जुन! अनायास प्राप्त हुए, खुले हुए स्वर्ग के द्वार-रूप ऐसे युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियही प्राप्त करते हैं ॥३२॥ अतएव यदि तू इस धर्मयुद्ध को न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पापकोही प्राप्त करेगा ॥३३॥ इतनाही नहिं, परंतु सब लोक बहुत काल रहनेवाली तेरी दुष्कीर्तिको ही कहते रहेंगे! और संमानयोग्य पुरुष की दुष्कीर्ति मरणसे भी बढकर होती है ॥३४॥

यहां तक सांख्यतत्त्वका उपदेश करके अर्जुन को उस समय करने योग्य कर्तव्यका उपदेश किया। आगे स्वधर्म अर्थात् क्षत्रियके धर्मके अनुसार विचार करके उसका कर्तव्य बताते हैं—

(३१-३८) अब क्षात्रधर्म की दृष्टिसे विचार करके अर्जुन को समझाते हैं कि, इस प्रकार युद्ध देखकर कांपना, युद्धमें होनेवाले प्राणिवध से डरकर स्वकर्तव्यसे पीछे हटना, सामने शत्रुको युद्धके लिये खडा हुआ देखकर स्वयं डरकर उसको पीठ दिखाना, भीरुतामें परिणत होनेवाली हीन दया का अवलंबन करना, ये सब बातें क्षत्रिय का नाम कलंकित करनेवाली हैं।

धर्म के पक्षमें रहकर सत्यके लिये लडना क्षत्रियका परम धर्म है। (क्षतात्) दुःखसे प्रजाओंकी (त्रायते) रक्षा करना क्षत्रिय का परम धर्म है। हे अर्जुन! तू ऐसे उत्तम प्रशस्त क्षात्र कुलमें उत्पन्न हुआ है। क्षत्रियको तो ऐसे धर्मयुद्ध से बढकर अधिक कल्याणकारक कोई कर्म नहीं है। तू धर्म के ही पक्ष में है, और धर्म की रक्षा के लिये ही लड रहा है। तेरे शत्रु धर्म

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अन्वयः— महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते; येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा, लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥ तव सामर्थ्यं निन्दन्तः तव अहिताः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति । ततः किं नु दुःखतरम् ? ॥ ३६ ॥ हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि, जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे, हे कौन्तेय ! तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ समे कृत्वा, ततः युद्धाय युज्यस्व । एवं पापं न अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सब महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे भागा हुआ मानेंगे, और जिन्हें इस समय तू बडा माननीय है, उनकीही दृष्टीमें तू तुच्छ हो जायगा ॥३५॥ तेरी सामर्थ्य की निंदा करते हुए, तेरे शत्रु बहुतसे न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे। इससे और अधिक दुःखकारक क्या होगा ? ॥३६॥ मर गया तो स्वर्गको जावेगा, और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इसलिये, हे अर्जुन! युद्धका निश्चय करके उठ ॥३७॥ सुख दुःख, लाभ हानि और जय पराजय को समान समझ कर, फिर युद्धमें लग जा। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा॥३८॥

के शत्रु हैं, वे कितने भी बडे साम्राज्य का शासन कर रहे हों, कितने भी धनी हों, और कितने भी साधनसंपन्न हों, वे धर्म और सत्यके विरोधी हैं। उन्होंने असत्य और कपट से अपना साम्राज्य बढाया है, इस कारण अन्दर अन्दरसे उनकी निंदा करनेवाले तथा उनकी नीतिका विरोध करनेवाले उनके पक्ष में भी बहुत हैं, अतः उनके पापसेही उनका पक्ष कमजोर होगया है।

तुम्हारा पक्ष धर्मका है, सत्यके विजयके लिये तुम सब तैयार हुए हो, अतः तुम्हारे पक्ष के लिये लोकमत अनुकूल हुआ है। इस प्रकार यह धर्मयुद्ध प्राप्त हुआ है, सच्चे क्षत्रिय तो ऐसेहि युद्धोंको पसंद करते हैं। ऐसे धर्मयुद्धसे अधिक श्रेयस्कर क्षत्रिय के लिये कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

ऐसा युद्ध मानो स्वर्गका खुला हुआ द्वार ही है। यह स्वर्ग के द्वार के समान युद्ध प्राप्त हुआ तो उसमें क्षत्रिय आनन्द से प्रवेश करते हैं। कोई क्षत्रिय इस युद्धरूपी स्वर्गद्वार को छोडकर कभी नहीं भागेगा। आनन्द से युद्ध करेगा और उसमें आत्म समर्पण करेगा।

धार्मिक सज्जनों की रक्षा, दुष्ट दुर्जनोंका नाश और मानवी व्यवहार की सुव्यवस्था करनेके लिये जो युद्ध किये जाते हैं उनको धर्मयुद्ध कहते हैं। इसी प्रकारका यह धर्मयुद्ध है। इस समय ये

कौरव नामक जो साम्राज्यवादी शत्रु तेरे सामने खडे हैं वे धर्मपुरुषोंको कष्ट दे रहे हैं, इन्होंने दूसरों के राज्य कपटसे छीने हैं,अपनी शक्तिकी घमंडसे दूसरोंको लूटा है,योग्य पुरुषों को अधिकारसे उतारा है, सत्पुरुषोंको देशसे बाहर निकाला है, स्त्रियोंकी बेइज्जत की है और क्या क्या कहा जाय,इनके कुकर्मोंसे तो इनके ही लोग तंग आगये हैं। अतः इन दुष्टोंको दण्ड देना अत्यंत आवश्यक है।

ऐसे युद्धमें कइ लोग मर जांयगे, कई घायल होंगे, कईयोंको अन्य प्रकारके कष्ट होंगे, यह सब होगाही; परंतु वह अपरिहार्य है और आवश्यक भी है। इस समयतक जो इस जातीद्वारा बडा पाप हुआ है, उसको धोने और उसके द्वारा आत्मशुद्धि करनेका यही एकमात्र उपाय है।

यदि ऐसा यह धर्मयुद्ध तू न करेगा, तो तू स्वधर्मसे च्युत होगा और यशकोभी खो बैठेगा। इतनाही नहीं, परंतु बडे पापका भागी बनेगा। क्षात्रधर्मसे च्युत हुआ तू क्षत्रिय नहीं रहेगा। जैसे उष्णतारहित होनेपर अग्नि अग्नि नहीं रहती, वैसेही स्वधर्मसे पतित हुए मनुष्यके विषयमें समझो। धर्मसे ही जगत् की स्थिति है। तू इस प्रकार युद्धसे भाग गया, तो तू क्षात्रधर्मसे पतित हो जायगा, फिर तेरा मूल्य क्या रहेगा? आज जो तेरा संमान हो रहा है और आज जो तेरे नामसे ही तेरे शत्रुको भय होता है, वह तेरे अन्दर वैसा अप्रतिम क्षात्रतेज है, इस कारण ही है। एक वार तूने अपना धर्म छोड दिया, तो फिर तेरा इस प्रकार संमान कोई नहीं करेंगे ' सब लोग खुली तौर पर तेरे सन्मुख तेरा उपहास करेंगे। वह उपहास सुनकर तुझे मृत्युसेभी अधिक दुःख होगा। हाय हाय, ऐसी दशा तो शत्रुपर भी न आवे!

'अर्जुन युद्धसे डरके मारे भाग गया।' ऐसा सब जगत् में सब लोग कहते फिरेंगे। फिर उनको रोकना तेरे आधीन नहीं होगा। जो महारथी, अतिरथी और अतिमहारथी तेरा आज संमान करते हैं; वेही तेरा ऐसा उपहास करेंगे कि उसका वर्णन न करनाही अच्छा है। परमेश्वर करे और ऐसा दिन न आवे। जो तुम्हें इस समय 'बडा' समझते हैं वे ही तुम्हें 'क्षुद्र' मानेंगे। तेरे शत्रु तो जो मर्जी आजाय वह तेरे विषय में कहेंगे उसे सुनने अयोग्य कटु वचनोंको सुनकर जो तुम्हें दुःख होगा, क्या उसकी कभी सीमा हो सकती है? अतः इस भीरुताके मार्ग को छोडकर वीरताके मार्गमें स्थिर हो जा।

ऐसे धर्मयुद्धमें तू मर जायगा, तो स्वर्गको प्राप्त होगा, और जीतेगा तो अपना स्वराज्य प्राप्त करेगा। तात्पर्य तुम्हारे लिये तो इस युद्ध की हार और जीत दोनों लाभदायक हैं और यश बढानेवाली भी हैं। इस कारण युद्धका निश्चय करके उठ खडा हो।

सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय आदिका विचार ही न कर, जो होगा वह होने दो, दोनों को समान समझो और तुम्हारे स्वराज्यरूपी घरपर बलात्कारसे अधिकार चलानेवाले इन शत्रुओंको दूर करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक हुए इस धर्मयुद्धमें दत्तचित्त होकर अपने आपको लगा दो। इस समय दूसरा विचार मनमें न घुसने दो। इस अवसरपर युद्ध करनाही तुम्हारा धर्म है। युद्धही तुम्हारा आवश्यक कर्तव्य है। अतः यह धार्मिक कर्तव्य करनेसे तुमको तथा इस धर्मयुद्धमें संमिलित हानेवाले अन्यान्य वीरों को किसी प्रकार पाप नहीं लगेगा। पापसे मुक्त होने का उपायही इस समय यह धर्मयुद्ध करना है। तुम इस धर्मयुद्ध के करनेसे पापसे मुक्त होकर पवित्र बनोगे और युद्ध न करनेसे पापके भागी बनोगे।

इसप्रकार युक्तिवादसे क्षात्रधर्मका तत्व समझाकर अर्जुनको बतलाया कि इस समय धर्मयुद्ध करना ही परम कतव्य है। सांख्यसिद्धान्त और युक्तिवाद का उपदेश करनेके पश्चात् अब 'योगसिद्धान्त' के अनुसार क्या करना चाहिये इसका विचार करते हैं—

(१६) योगविचार ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! एषा ते सांख्ये बुद्धिः अभिहिता; योगे तु इमां (बुद्धिं) शृणु। यया बुद्ध्या युक्तः (त्वं) कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते, अस्य धर्मस्य स्वल्पं अपि (अनुष्ठानं) महतः भयात् त्रायते ॥ ४० ॥ हे कुरुनन्दन ! इह व्यवसायात्मिका एका एव बुद्धिः। अव्यवसायिनां हि बुद्धयः अनन्ताः बहुशाखाः च ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! यह तुझे सांख्यमतानुसार विचार कहा; अब योगमतानुसार विचार सुन। जिस विचार के आश्रयसे तू कर्मबन्धनको दूर करेगा ॥३९॥ यहां आरंभ किये हुए का नाश नहीं होता, इसमें विघ्नभी नहीं होते, इस धर्मका थोडासाभी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयसे बचाता है ॥ ४० ॥ हे अर्जुन ! इस मार्गमें व्यवसायमें स्थिर रहनेवाली एकही बुद्धि होती है। व्यवसाय न करनेवालोंकी अनेक बुद्धियां और उनकी शाखाएं भी बहुत होती हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थ- इससे पूर्व सत् और असत् का विचार करके कर्तव्य का निश्चय किया, अब इसके पश्चात् आचार-धर्मका विचार करके कर्तव्य का निश्चय करनेका उपदेश कहते हैं। इस मार्गमें जो किया जाय वह व्यर्थ नहीं जाता, जमा रहता है; इसके आचरणमें विघ्नोंसे रुकावटें नहीं होतीं, और इसका थोडासा भी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयको दूर करता है। यहां एकाग्रतासे कर्म करनेकी तत्परता ही केवल चाहिये, जिससे सिद्धि प्राप्त होती है। जो उद्योग न करनेवाले होते हैं उनकी मति चञ्चल होती है और कभी एकाग्र नहीं होती, अतः उनको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥

(३९—४१) यहां तक युक्तिवाद की दृष्टिसे विचार हुआ। जो इससे पूर्व कहा गया, उसको "सांख्य, सांख्यमत, सांख्यतत्त्व, सांख्यज्ञान, ज्ञान, ज्ञानमार्ग" कहा जाता है। 'आत्मा अविनाशी है, जगत् नाशवान् है. जगत् के नाश होनेसे आत्मामें घटवध कुछ भी नहीं होता' इत्यादि विचार इस मतमें मुख्य हैं। यद्यपि सांख्यमत का यह सिद्धान्त है, तथापि यहां जो कुछ कहा गया है, वह सब सांख्याचार्य का मत या सांख्य मार्गियोंका सिद्धान्त है, ऐसा नहीं है। यहां 'सांख्यबुद्धि' शब्द आया है, इस सांख्यबुद्धिका अर्थ 'युक्तिवाद अथवा तर्कवाद' यहां अपेक्षित है। (सं+ख्या) उत्तम रीतिसे जो समझाया जाता है, युक्ति प्रमाणोंसे जो दूसरोंको कहा

जाता है, उस युक्तिवादकोभी 'सांख्यवाद' कहते हैं। यह अर्थ यहां विशेषतया अभीष्ट है। अर्जुन की शंका थी कि, 'युद्ध करनेसे भीष्म-द्रोणादि मारे जायंगे।' इसका निराकरण पूर्वोक्त युक्तिवाद से किया गया और दर्शाया गया कि, युद्ध से शरीरनाश होनेपर भी उन शरीरों में निवास करनेवाला आत्मा अमर रहता है और उसका नाश कोई कर नहीं सकता। इस प्रकार सांख्यसिद्धान्तका आश्रय करके युक्तिवाद से आत्माका अमरत्व दर्शाया गया। परंतु इस परभी एक शंका रहती है कि, "युद्धरूप हिंसापूर्ण पापकर्म करनेसे जो दोष लगता है वह कभी न कभी बाधा करेगाही। अतः हिंसामय युद्ध करना अयोग्य है।" अर्जुन के मनमें यह शंका उठी, जिसका उत्तर देना अत्यंत आवश्यक है। यह उत्तर देनेके लिये ही योगमार्ग अथवा उद्योगमार्ग का विचार करना अत्यंत आवश्यक हुआ। अतः यह विचार यहां प्रस्तुत किया जाता है—

जिसप्रकार 'सांख्यबुद्धि' का अर्थ कपिल ऋषिका सांख्यमत ही केवल नहीं, उसी प्रकार 'योगबुद्धि' का अर्थभी पतञ्जलिमहामुनिका योग ही केवल नहीं। भगवद्गीतामें ये दोनों शब्द विशेष व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किये हैं। पाठक इस व्यापक अर्थको अच्छी प्रकार स्मरण रखें। यहां 'योगबुद्धि' का अर्थ 'निष्काम कर्म का अनुष्ठान करनेवाली मति' है। इसी अध्याय में आगे 'योग' का अर्थ 'कर्मकुशलता (भ० गी० २।५०) और समत्व (भ० गी० २।४८), कहा जायगा। भगवद्गीताके योग शब्दका अर्थ 'कर्मप्रवीणता और सिद्धि, असिद्धिके विषयमें समबुद्धि' है। प्रत्येक कर्म योग्य रीतिसे होनेके लिये कुशलता और तत्परता अवश्य चाहिये। यहां इसीका नाम 'योगबुद्धि' है। यह पतञ्जलिमहामुनिका कहा योग नहीं है, यह वैदिक 'कर्मयोग' है और इसीको भगवद्गीताने आगे निष्काम कर्मयोग नामसे कहा है। वाजसनेयी संहितामें कहा है कि—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥ वा० यजु० ४०; ईश० उ० १,२

"(१) अतः दान देकर भोग कर, (२) मत ललचा, (३) भला धन किसका है ?, (४) ऐसे (निष्काम) कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर, (५) यही एक मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं है, (६) इसप्रकार (किया हुआ निष्काम) कर्म कर्ताको कलंकित नहीं करता।"

यह वैदिक निष्काम कर्मयोग है, इसीका विस्तार यहां भगवद्गीतामें किया जायगा। इस व्यापक वैदिक कर्ममार्ग का पातञ्जल योग एक छोटासा भाग है। यद्यपि 'योग' शब्द दोनों स्थानोंपर प्रयुक्त होता है, तथापि उसका आशय प्रकरणानुसार भिन्न भिन्न है। पाठक आगे देखेंगे, कि पूर्वोक्त वैदिक कर्मयोगका ही भगवद्गीताका निष्काम कर्मयोग विस्तार है। "लालच छोडकर दान भावसे यावज्जीव कर्म करना" ही 'योगबुद्धि' है। इसको योगबुद्धि कहिये अथवा 'उद्योगबुद्धि' कहिये; इसको 'निष्कामकर्मबुद्धि (गीता)' अथवा 'श्रेष्ठतम कर्मबुद्धि' (वा० यजु० १।१) भी कह सकते हैं। इस रीतिसे कर्मका बन्धन दूर किया जासकता है। इस विषयमें गीता के कथन के साथ वेद के उपदेश की तुलना कीजिये-

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
भ० गी० २।३९

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
वा० यजु० ४०।२

"इस बुद्धिसे युक्त होनेपर कर्मबन्धन नहीं होता।" "यही मार्ग है दूसरा नहीं, इसप्रकार कर्म बन्धनकारक नहीं होता।" ये दोनों कथन कितने सदृश हैं, यह देखिये। इनकी तुलनासे दोनों

को एकही प्रकारके कर्ममार्ग का उपदेश करना अभीष्ट है यह बात इस विवरणसे सिद्ध होगी।

मान लिया जाय, कि यह निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है और इसके अनुसार कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। इतना माननेपर भी इस में तीन शंकाएं आतीं हैं। ये शंकाएं इस प्रकार हैं-

(१) यदि किसीने कर्म प्रारंभ किया और वह समाप्त होनेके पूर्व ही उस कर्ताकी मृत्यु हुई, तो वह अधूरा कर्म निष्फल होगा या नहीं ?

(२) बीचमें विघ्न आनेपर कर्म का विपरीत परिणाम तो नहीं होगा ? और—

(३) थोडासा कर्म हुआ और आगे न हो सका तो उससे क्या बनेगा ?

ये तीन शंकाएं हरएक कर्मकर्ताके मनमें उत्पन्न होती हैं, अर्जुन के मनमें भी ये तीनों शंकाएं उत्पन्न होगई, इनका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

इह अभिक्रमनाशः न अस्ति। (भ०गी०२।४०)

"यहां आरंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता है।" इस मार्ग में रहते हुए, इस मार्गके मुख्य नियमोंके अनुसार जो लोग कर्म करते हैं, उनके प्रारंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता है। जिसने जो कर्म जितना प्रारंभ किया होता है, उसका उतना कर्म उसके कार्यक्षेत्रमें रहता है। मान लीजिये, कि एक मनुष्य कर्मयोग के अनुसार कुछ कर्म करते हुए मर गया, तो भी वह किया हुआ कर्म उतना ही संस्काररूपसे उसके साथ रहता है, वेद भी यही बात कहता है देखिये—

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ वा० यजु० ४०।४; काण्व यजु० ४०।४; ईश उ०४

"(मातरि-श्वा) माताके गर्भ में रहनेवाला अर्थात् पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाला जीव (तस्मिन्) उस आत्मा में (अपः दधाति) सब कर्मोंको धारण करता है।" पहिला देह छोडकर दूसरा देह धारण करनेकी तैयारीमें लगा हुआ जीव दूसरी माताके गर्भमें रहता है, उस समयमें भी उसके पूर्व जन्मके सब कर्म परमात्माके अटल नियमके अनुसार उसी आत्मा में रहते हैं। कोई मनुष्य आज सायंकाल तक कुछ कार्य करता है, रात्रीमें सोजाता है और कल सबेरे उठकर पुनः कलका अधूरा कार्य आगे पूर्ण करने लगता है, रात्रीका समय व्यतीत होनेसे पूर्वदिन का किया कार्य नष्ट नहीं होता; इसी प्रकार कोई मनुष्य इस जन्म में कुछ कार्य करता है, मृत्युकी महारात्री आती है, उस समय वह महानिद्रामें सो जाता है, जब जगत् निर्माणका दिन शुरू होता है तब उसको जाग आती है और वह पूर्वजन्मका अधूरा कार्य आगे करके समाप्त करता है। दोनों स्थानों में रात्रीकी लंबाई में भेद है, कर्मकी उपस्थिति में भेद नहीं है। पाठकोंको यहां स्मरण रखना चाहिये, कि आगे छठे अध्याय में यही विषय आगया है—

"हे अर्जुन! ऐसे लोगोंका नाश न इस लोक में होता है और न परलोक में। कल्याणमार्गपर जानेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस योग-मार्ग में अधूरे साधन करनेवाले लोग पवित्र व्यक्तिके घर जन्म लेते हैं। किंवा वैसे ज्ञानवान योगीके ही कुलमें जन्म लेते हैं। वहां उसको पूर्व जन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वहांसे वह मोक्षके लिये आगे प्रगति करता है। पूर्व अभ्यास के कारण उसकी प्रवृत्ति उसी मार्गमें होती है। इस प्रकार दत्तचित्त होकर प्रयत्न करनेवाला योगी अनेक जन्मोंसे शुद्ध बनकर परमगति को प्राप्त करता है।" (भ० गीता० ६।४०-४५)

इस रीतिसे भगवद्गीतामें आगे यही विषय विस्तारसे कहा जायगा। इससे स्पष्ट है कि, आरंभ किया हुआ कर्म नाश नहीं होता। इस बातकी सत्यता हम अपने अन्दर भी देखते हैं जो पूर्व आयुमें योग्य रीतिसे ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक विद्याभ्यास करते हैं, उनको उत्तर आयुमें उत्तम सुखका लाभ होता है। यहां यह बात विचार में लेना योग्य है, कि पूर्व आयुमें शरीरके कार्य करने

वाले अणुजीव भिन्न होते हैं और उत्तर आयुके सुख भोगनेवाले अणुजीव भिन्न होते हैं,इसीप्रकार जिस राष्ट्रके लोग अपने प्रयत्न से अपना स्वतंत्र स्वराज्य अपने आधीन रखते हैं उनके आगे की संतान भी उस स्वातंत्र्यका अनुभव करके सुखी रहती है। यहां राष्ट्रको एक व्यक्ति (पुरुष) मानकर पूर्वसमयके राष्ट्रपुरुष का कार्य उत्तर समय के राष्ट्रपुरुषको प्राप्त होता है, कार्य करनेवाले मरजानेपर भी वह कार्य स्थिर रहकर उत्तराधिकारियोंको सुख देता रहता है, इतनी ही बात देखनी चाहिये। यहां शरीरकी और राष्ट्रकी समता पाठक देखें। अर्थात् किया हुआ कार्य संस्कार रूपसे रहता है, उसका नाश नहीं होता। अब दूसरी शंका का निराकरण करते हैं—

प्रत्यवायः न विद्यते। (भ० गी० २।४०)

'इसमें विघ्न नहीं होते।' अर्थात् सत्कर्म करते रहनेसे विघ्न दूर होते जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि योगमार्ग के अनुसार कर्म करते रहनेसे विघ्न स्वयं दूर होते जाते हैं, और इस मनुष्य का अधिकार अथवा पुण्यसंचय बढता जाता है। अथवा विघ्न आनेसे इसके किये हुए सत्कर्मका विपरीत फल भी नहीं होता है।

सत्कर्ममें रत रहनेवाले सज्जन को प्रारंभ में दुर्जन उपद्रव करते हैं, और कभी कभी ऐसा भी होता है कि, इसका कार्यक्षेत्र प्रतिसमय व्यापक होता जाता है, इसलिये इसको उपद्रव देनेवाले दुर्जनोंकी संख्या कदाचित् बढती भी जाती है। परंतु इसमें तप अर्थात् कष्ट सहन करनेकी शक्ति बढ जानेके कारण उन दुर्जनोंके खडे किये विघ्न इसके सत्कर्मके फैलानेमें प्रतिबंधक नहीं होते। इतनाही नहीं, परंतु इस सत्पुरुषका वध किया जानेपरभी उसका प्रारंभ किया हुआ प्रशस्ततम कर्म जगत्में फैलताही जाता है। अर्थात् जो प्रतिबंध दूसरोंको रुकावट करनेवाले होते हैं वेही इस सत्पुरुषका कार्य फैलानेवाले अर्थात् इसके कार्यके पोषक होते हैं। अतः वे विघ्न इसके लिये विघ्न नहीं होते। अब तीसरी शंकाके विषयमें देखिये-

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(भ० गी० २।४०)

"इस धर्मका थोडासा भी पालन हुआ तो वह बडे भयसे बचाता है।" सत्कर्म का पालन थोडा भी हुआ, तो भी उससे बहुतसे लाभ होते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति आदि अनेक सत्कर्म हैं, और इनके योगसे अनेक व्यवहारोंमें किये हुए कर्म सत्कर्म ही होते हैं। इस सत्कर्मयोग रूप मानवधर्मका थोडा भी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयसे बचाता है। उदाहरण के लिये देखिये, एक मनुष्य बहुत आयुतक असत्य बोलता है, परंतु यदि किसी समयसे नियम करके सत्य भाषण करने लग जाय, तो उसका संमान होने लगता है और जनता उसके पूर्व दोषों को भूल जाती है और वह उस नियमपर दृढ रहा, तो उसको वंदनीय मानने लगती है। इसी प्रकार अन्यान्य सदाचारके विषयमें जानना योग्य है। इस लिये ही कहा है कि 'इस धर्मका थोडा भी आचरण किया जाय तो बडे भय से बचाव होता है।' अतः सब लोगोंको उचित है कि, वे इस कर्मयोग के मार्गपर आजांय और अपने आपको कृतार्थ करें।

कई लोग यहां पूछेंगे कि, इस मार्गसे जाने के लिये जो अनेकानेक साधन आवश्यक होंगे, वे हमारे पास न होनेपर हम कैसे इस मार्गसे चल सकेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि, यहां तो बहुत साधनों की आवश्यकता ही नहीं है। केवल व्यवसायात्मक एकमात्र बुद्धि यहां आवश्यक है-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
(भ० गी० २।४१)

इस सत्कर्मयोग के मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले मनुष्य के लिये केवल एकमात्र "व्यवसा-

यात्मक बुद्धि चाहिये।" यह बुद्धि जिसके पास होगी, वह इस मार्ग का आक्रमण कर सकेगा। व्यवसायात्मक बुद्धि का अर्थ है 'प्रयत्न करने की निष्ठा धारण करनेवाली बुद्धि, उद्योगतत्पर बुद्धि, पुनः पुनः प्रयत्न करनेका उत्साह धारण करनेवाली बुद्धि।' 'व्यवसाय' का अर्थ 'प्रयत्न, उद्योग, निरलस यत्न, उत्साह, कर्मण्यता, पुनः पुनः अथक प्रयत्न करनेका स्वभाव, निश्चय, व्यापार, व्यवहार, आचार, सदाचार, युक्ति, उपाययोजना, कर्मकुशलता, चातुर्य' इत्यादि है। जिसकी बुद्धिमें ये स्वभावधर्म होंगे, उस को 'व्यवसायात्मिक बुद्धि' है ऐसा कहा जायगा। व्यवसाय करना जिसका आत्मा है उसका नाम है 'व्यवसायात्मक बुद्धि।' जो प्रयत्न किये विना रह नहीं सकता, उसकी बुद्धि व्यवसायात्मक है। जो पुरुष अखंड प्रयत्नशील होते हैं और अपनी कर्मकुशलतासे महान् महान् कार्य करके दिखाते हैं उनकी बुद्धि व्यवसायात्मक समझना योग्य है। ऐसे व्यवसायात्मक बुद्धिवाले पुरुष इस योगमार्गमें सुयोग्य कार्य करके दिखा सकते हैं। बुद्धिकी एकाग्रता इसमें मुख्य है। एक विषयमें सुदृढ रहनेवाली बुद्धि सिद्धि के लिये अवश्य चाहिये। जिनकी बुद्धि व्यवसायात्मक नहीं होती वे किसी भी कर्म में कौशल्य प्राप्त कर नहीं सकते। इनके विषय में आगे कहा है-

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
(भ० गी० २।४१)

'निरलस प्रयत्न न करनेवालों की अनेक बुद्धियां और प्रत्येक की अनेक शाखाएं भी हैं।' अनेक बुद्धि का अर्थ 'चञ्चल अथवा अस्थिर बुद्धि' है। जो लोग अव्यवसायी होते हैं वे आज एक कार्य करेंगे, थोडासा कष्ट हुआ तो कल दूसरा प्रारंभ करेंगे, उसमें थोडी हानि की संभावना हुई तो परसूं तीसरा शुरू कर देंगे, इस प्रकार किसी भी प्रयत्न में स्थिर वृत्तिसे कार्य नहीं करेंगे। तथा एकही कार्य में एक रीतिका अवलंबन करके सबेरे कार्य करेंगे, दूसरी रीतिसे दोपहरको करेंगे और तीसरी ही पद्धति से शामको करेंगे। परंतु किसीएक मार्गपर स्थिर नहीं रहेंगे। इस चंचल मनकी अवस्था के कारण इनको हरएक कार्य में निश्चयसे हानि ही हानि होती है। किसी मार्गपर इनका विश्वास नहीं होता, किसी ज्ञानीपर इनकी श्रद्धा नहीं होती, किसी ग्रंथका आश्रय करने योग्य इनके मनकी भावना भी नहीं होती। सर्वत्र अविश्वास, अश्रद्धा और अस्थिरता होती है। इसका परिणाम ऐसा होता है कि, इनकी श्रद्धा तो अपने ऊपरसे भी उडजाती है, अतः इनमें आत्मविश्वास नहीं रहता और अन्त में ये अश्रद्ध लोक न इस लोक के और न परलोक के हो जाते हैं। इसलिये श्रद्धाका महत्व इस प्रकार कहा है कि-

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
भ० गी० १७।३

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
भ० गी० ६।४७

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
भ० गी० १२।२

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
भ० गी० १२।२०

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
भ० गी० ३।३१

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः॥
भ० गी० ४।३९

'जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है। परमश्रद्धासे जो भजन करते हैं वे अधिक योग्य हैं। परमश्रद्धावाले भक्त मुझे प्रिय होते हैं, श्रद्धावान् और निर्वैर भाव धारण करनेवाले कर्मबंधनसे छूटते हैं। श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।' यहां जो श्रद्धा का माहात्म्य वर्णन किया है वह अश्रद्धासे चित्त अस्थिर होता है, इसी लिये है। अश्रद्धा से संशयवृत्ति बनती है, जो श्रद्धाहीन

(१७) भोगवादियोंकी स्थिति।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अन्वयः- हे पार्थ! वेदवादरताः, अन्यत् न अस्ति इति वादिनः, अविपश्चितः, कामात्मानः, स्वर्गपराः, भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां जन्मकर्मफलप्रदां यां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति, तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका (भूत्वा) समाधौ न विधीयते ॥४२-४४॥

हे अर्जुन! वेदके विषयमें वादविवाद करनेमें बडी रुची रखनेवाले और इस (वादविवाद) को छोडकर दूसरा कुछ (भी कर्तव्य) नहीं है ऐसा कहने वाले अज्ञानी लोग स्वार्थकी कामना करते हुए, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ मानकर भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति की विशेष क्रियाओंका वर्णनही जिसमें बहुत है और जिससे

पुरुषोंका समूल नाश करती है, अतः कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
भ० गी० ४।४०

"अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयी मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। संशयी मनुष्य के लिये न यह लोक है न परलोक; उसे कहींभी सुख नहीं।"

अव्यवसायी चञ्चल मतिवालेका यह परिणाम है। अतः इस दुर्गतिसे अपना बचाव करना हरएक का कर्तव्य है। अर्जुनका व्यवसाय क्षात्र-धर्मका पालन करना और युद्ध करना था। इस व्यवहारमें उसकी मति स्थिर थी। परंतु शत्रुके मायाजालके उपदेशसे उसके मनमें चञ्चलता आगई और उसकी बुद्धि अपने स्वाभाविक व्यवसायपर स्थिर नहीं रही, युद्ध करूं या वान-प्रस्थ या संन्यास लूं, ऐसी अनेक चञ्चल वासनाएं उसके मनमें खडी होने लगीं। उसके मनमें अनेक विचार और अनेक कल्पनाएं उठने लगीं; किसी विचार पर मन स्थिर न रहा, भगवान् श्रीकृष्ण उसके सहायकारी थे, परंतु उनपरभी उसका अढळ विश्वास उस समय न रहा। अर्थात् जो अर्जुन पहिले 'व्यवसायात्मक बुद्धिसे युक्त' था वही शत्रुका उपदेश श्रवण करनेके पश्चात् 'अव्यवसायी' बना!! शत्रु सदाही जित राष्ट्रके व्यवसायी लोगोंको अव्यवसायी, चञ्चल, अश्रद्ध, झगडालू और आपसमें भिन्न बनाना चाहते हैं। अतः यह वर्णन अंशतः अर्जुन का है और सामान्यतः सब चञ्चल प्रकृतिवाले मनुष्योंका भी है। अतः पाठक इस वर्णन को पढें और इन प्रमाणोंसे अपनी परीक्षा करें, और निश्चय करें कि अपने अन्दरकी बात कैसी है।

अव्यवसायी चञ्चल प्रकृतिवाले मनुष्य सुख की लालसासे कैसे भ्रान्तचित्तसे भटकते रहते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(४२-४३) भोगवाद और त्यागवाद ये दो वाद अनादि कालसे प्रचलित हैं। वैदिक धर्म 'त्यागवाद' का सन्देश जगत् को देता है इस-

केवल जन्ममरण रूप कर्मफल ही प्राप्त होते हैं, ऐसी प्रफुल्लित वाणी बोलते हैं, उससे जिनका चित्त आकर्षित होता है, उन भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हुए मनुष्योंकी बुद्धि (कभी) व्यवसायात्मक होकर एकतामें स्थिर नहीं होती ॥४२-४४॥

भावार्थ- केवल वादविवाद करनेवाले, कुछभी कर्तव्य न करनेवाले, स्वार्थी, भोगी, ऐश्वर्यकी लालसा करनेवाले, अज्ञानी लोगोंके मोहक भाषणसे जिनकी मति ऐश्वर्यभोगोंमें आसक्त होती है, उनकी बुद्धि किसी सत्कर्म में एकाग्र होकर स्थिर नहीं होती, सदा चंचल ही रहती है ॥४२-४४॥

लिये "(त्यक्तेन भुञ्जीथाः। यजु० ४० । १) दान देकर यज्ञशेषका भोग कर" यह वेदने आज्ञा दी है। जडवादिके लोग कहते हैं कि, जीवित रहने तक सुखका भोग करो। इसप्रकार ये दो वाद जगत् में प्रचलित हैं, इनमें भी भोगवाद पशुपक्षियों में जन्मसिद्ध है और पाशवीवृत्तिवाले लोगोंमें भी फैला हुआ है। त्यागवाद जगत्में प्रचलित करना और मनुष्यों के जीवनमें इस को ढालना वैदिक धर्मका अभीष्ट है। भगवद्गीता भी यहां इस वैदिक सिद्धान्त का प्रचार करती है और इसका बहुत ही वर्णन आगे भी आनेवाला है। उस उपदेशका ग्रहण करनेकी पाठकोंकी तैयारी करानेके उद्देश्यसे भोगवादियोंकी चञ्चल वृत्तीका भयानक चित्र इन श्लोकोंमें खींचा है। पाठक इसका अच्छी प्रकार विचार करें और ये गुण यदि किसीमें हों तो उनको हटानेका यत्न करें। इन श्लोकोंमें जिन भोगवृत्तिवालोंका वर्णन है उनका वर्णन अब क्रमशः करते हैं—

१ अविपश्चित्= (अ- वि- पश्- चित्=न विशेषेण पश्यन् चिन्तयते)= जो विशेषरीतिसे देखता है और देखे हुए विषयपर अच्छी प्रकार विचार करता है उसको (विपश्चित्) ज्ञानी कहते हैं। और जो किसी विषयको विशेष दृष्टीसे देखता भी नहीं और देखे हुए विषय पर जो कभी विचार नहीं करता, उसको (अ-विपश्चित्) अज्ञानी कहते हैं। मनुष्यका धर्म है कि, वह विषयोंको देखे और विचार करे। जो मनुष्य इस धर्मका पालन नहीं करता वह द्विपाद पशुही है, क्यों कि पशुही आंख खुले रहनेपर भी देखते नहीं और कभी किसका विचार करते भी नहीं। जो मनुष्य न देखने और न सोचने के कारण पशुवत् आचरण करता है और पशुके समानही आहारनिद्रा और मैथुनमें ही रत रहता है, उसको मनुष्य किस प्रकार कहा जा सकता है? वह यदि मनुष्य है तो पशुकोटीका मानव है। इसी कारण वह भोगवादी होता है।

२ वेदवादरत = पूर्वोक्त अज्ञानी मनुष्य वेद का वाद करनेमें बडा चतुर होता है। वेदविषयपर शास्त्रार्थ करनेमें बडा पण्डित है। वेदके सबके सब सिद्धान्त ज्ञात हैं ऐसी जिसको घमंड है। आद्योपान्त वेदवचन न पढनेकी अवस्थामें भी जो कहता रहता है, कि मैं वेदके तत्त्व को यथावत् जाना है। स्वयं वैदिक भाषासे अनभिज्ञ होने परभी जिसको वैदिक सिद्धान्त समझने की घमंड हुई होती है। यह तो अनाडोसे भी सर्वथा अज्ञानी रहता है, इसके अज्ञान की कोई सीमाही नहीं है।

३ न अन्यत् अस्ति इति वादिनः= वैदिक सिद्धान्तोंपर शास्त्रार्थ करने और खंडनमंडन का शाब्दिक युक्तिवाद करने के अतिरिक्त अपने लिये कोई विशेष कर्तव्य है, ऐसा वह घमंडी मानता ही नहीं। वेदका वादविवाद करनेसे ही अन्तिम सिद्धि मुझे मिलेगी अथवा सब प्राप्तव्य सिद्धियां मुझे प्राप्त ही हैं, मैं मुक्ति की अवस्था

भी जानता हूं, प्रलय का भी देखे हुए समान वर्णन करता हूं, प्रलय की पूर्व स्थिति मुझे मालूम है, मुक्तिके पश्चात् क्या होगा वह भी मुझे ज्ञात है, परमेश्वर के विषयमें सब ज्ञातव्य मैं जानता हूं, इस प्रकार वह सर्वज्ञ जैसी बातें कहता जाता है, और अपने उद्धार के लिये आवश्यक कर्तव्य तक नहीं करता। वेदमंत्रोंके सिद्धान्त बोलनेसेही मानव जातीका उद्धार होगा, वेद सिद्धान्त जाननेके पश्चात् और कुछ कर्तव्य मनुष्य के लिये अवशिष्ट नहीं रहता ऐसा यह मानता है। इस प्रकार इसका अज्ञान भयानक होता है।

४ कामात्मा = (काम+आत्मा) काम अर्थात् विषयभोगकी इच्छाही जिसका आत्मा है। जो जन्मस्वभावसे भोग भोगने में तत्पर रहता है. कामभोगोंको छोडकर दूसरा जिसको कुछ सूझता नहीं है। अज्ञानी लोगोंको ज्ञानकी बातें तो सूझतीं नहीं है, अतः वे शरीरके पाशवी धर्ममें ही तत्पर रहते हैं और गिरते जाते हैं।

५ स्वर्गपरः= स्वर्गके भोग प्राप्त करनाही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है ऐसा जिसका विचार निश्चित हुआ है। स्वर्गके भोग प्राप्त करनेके लिये यहां जो कुछ करना हो वह करता रहता है। उसके सिवाय अन्य कुछभी नहीं करता। यहांकी सामाजिक, राजकीय अथवा वैयक्तिक सुस्थिति के लिये अत्यन्त आवश्यक बातें भी करता नहीं, इस कारण वह इहलोक के जीवनमें कष्टमय अवस्थाको प्राप्त होता है, इस कारण इहलोकके सुखसे वह वञ्चित रहता है। परलोकका सुख तो अनिश्चित ही है अतः वह न इस लोकका और ना ही परलोक का रहता है। इसको पता नहीं है कि, स्वर्गके स्त्रीभोगोंकी कल्पना अथवा अन्यभोगोंकी कल्पना यहां के भोगों के समान ही अवनतिकारक है। ऐहिक विषयभोग और स्वर्गके विषयभोग, दोनों ही भोग होनेके कारण दोषमयही हैं, अतः आत्मोन्नति चाहनेवाले मनुष्यको इन दोनों भोगोंपरकी आसक्ति छोडना उचित है। अतः योगदर्शनके भाष्यमें भगवान् व्यासमुनि इस प्रकार कहते हैं—

> स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये विरक्तस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः ......वशीकरणसंज्ञा वैराग्यम् ॥ यो० द० १।१५

'स्त्रियां, अन्नपान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं, स्वर्गादि उपभोग अदृष्ट विषय हैं। इन दोनों विषयभोगोंसे विरक्त होना और अपने इंद्रियों का संयम करना वैराग्य कहलाता है' जो योगाभ्यास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जो मनुष्य इस योगमार्गपर चलना और वहां की उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं उनको उचित है कि, वे इह लोक के भोगों और स्वर्गलोक के भोगों के विषयमें अपने मनका संयम रखें। भोगोंपर आसक्त न हों। भोगोंमें न फंसें। जो भोगलालसामें फंसते हैं वे योगमार्ग की उन्नति प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं।

६ भोगैश्वर्यगतिं प्रति जन्मकर्मफलप्रदां क्रियाविशेषबहुलां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति=भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति करनेके लिये जन्ममरणादि फल देनेवाली विविध क्रियाएं करते हैं और उन क्रियाओंका समर्थन करने के लिये बडा लंबा चौडा शब्दावडम्बरयुक्त जोशीला भाषण करते हैं। अपने भाषणसे अन्य अज्ञ लोगोंको अपने मतमें आकर्षित करते हैं और इस प्रकार अपना अपना भोगप्रधान मत जगत् में फैलाते हैं, अर्थात् ये स्वयं अन्ध होते हुए भी दूसरे अन्धोंको अपने साथ जमा करते हैं और दोनों पतित होते हैं।

७ तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका समाधौ न विधीयते= पूर्वोक्त लोगोंके जोशीले वक्तृत्वसे उनके पन्थमें कई मूढ लोग आकर्षित होते हैं। ये लोग प्रतिदिन भोग और ऐश्वर्य में आसक्त होते हैं और प्रतिसमय भोगोंमें फंसते जाते हैं। भोगोंके

अतिसेवन से रोगी होते हैं, और विविध दुःख भोगते हैं। इस प्रकार के मूढोंके अनुयायी हुए अतिमूढों को बुद्धि सत् और असत् का विचार करनेमें असमर्थ होती है, किसी एक व्यवसाय में स्थिर नहीं होती और किसी स्थानपर एकाग्रभी नहीं होती। इनकी वृत्ति सदा चञ्चल होती है और चञ्चलता के कारण वे कुछ भी कार्य योग्य रीतिसे समाप्त करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

भोगवृत्तिवाले लोग इस कारण सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करनेके लिये असमर्थ हो जाते हैं, इस कारण उनका जीवन निरर्थक हो जाता है। ऐसे जीवन से क्या लाभ है? मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेसे इन्होंने क्या कमाया? पशुओंसे अपनी अवस्था उच्च है, ऐसा इन्होंने किस रीतिसे सिद्ध किया? जो मनुष्य पशुवृत्तिसे हि जीवित रहते हैं उनके जीवन को धिक्कार है।

इन श्लोकोंमें 'वेदवादरत' पद है, इसको देखनेसे कई लोग मानते हैं कि, इस से गीता ने वेदके धर्मका खंडन किया है। परंतु यह भूल है। क्यों कि इसी भगवद्गीता में अन्यत्र कहा है कि –

वेदानां सामवेदोऽस्मि ॥ भ० गी० १०।२२
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥ भ० गी० १५।१५
वेदविदेव चाहम् ॥ भ० गी० १५।१५
(अहं) ऋक्सामयजुरेव च ॥ भ० गी० ९।१७

'वेदोंमें मैं सामवेद हूं। सब वेदोंसे मेरा (आत्माका) ज्ञान होता है। मैं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूं।'

यदि भगवद्गीताकारको वेदोंका खंडन अभीष्ट होता तो उस ग्रंथमें ऐसे कथन कदापि न आते। इन कथनोंसे स्पष्ट होता है कि, भगवद्गीतालेखक वेदों को परमधर्मका ग्रंथ मानता है, अन्तिम गुह्य ज्ञान देनेवाला वेद है यही भगवद्गीताका सिद्धान्त है। इस से स्पष्ट है कि यहां 'वेदवादरत' पदसे वैदिक सिद्धान्तों का केवल शाब्दिक वादविवाद और शास्त्रार्थ करनेवालों का ही खंडन किया है, न कि वैदिक धर्मका। जो वेदवाद करते हैं परंतु वैदिक उपदेश के अनुसार आचरण नहीं करते, उनको निन्दा यहां की है और वह योग्य ही है। उपनिषदों में भी कहा है कि ऋग्वेदादि चारों वेद 'अपरा' विद्या है और 'परा' विद्या दूसरी है जिससे सत्यज्ञान होता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि ऋग्वेदादि वेदोंमें शब्दोंसे ज्ञान दिया है, वह सत्य ज्ञान तब होगा, जब वह क्रियात्मक होगा। जैसा 'अन्न' शब्द भोजन का वाचक है परंतु जिसने अन्न स्वयं देखा न हो और खाया न हो, उसको अन्न शब्द जानने मात्र से क्या लाभ होगा? अतः जो विद्या केवल शब्दमात्र है वह 'अपरा' अर्थात् निचली विद्या है, परंतु जो विद्या अनुभवसिद्ध है वही श्रेष्ठ (परा) विद्या है। इसी उद्देश्य से यहां वेद का केवल वाद-विवाद करनेवालोंकी निन्दा की है, यह निन्दा वेदके उपदेशके अनुसार आचरण करनेवालोंकी स्तुति करनेके लिये ही है। केवल शब्दवाद मचानेवालोंकी निन्दा तो स्वयं वेदही कर रहा है, देखिये–

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ऋ० १।१६४।३९
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

ऋग्वेद १०।७१

"वेदमंत्रों के अक्षरोंमें सब देवोंकी शक्तियां निवास करती हैं। जो इस ज्ञानको अनुभव से नहीं जानता, उसको वेदमंत्र से क्या लाभ होगा? परंतु जिसको वह सत्यज्ञान प्राप्त होता है वही उच्च स्थानपर विराजता है॥ कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि जो ग्रंथको देखते हैं परंतु न देखनेके समान ही उनका देखना होता है, कई लोग ग्रंथपाठको सुनते हैं, परंतु उनका श्रवण न श्रवण करनेके समानही व्यर्थ होता है। (परंतु

(१८) द्वन्द्वातीत होना ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः । त्वं निस्त्रैगुण्यः नित्यसत्त्वस्थः निर्द्वन्द्वः निर्योगक्षेमः आत्मवान् भव ॥ ४५ ॥ यावान् अर्थः उदपाने (तावान्) सर्वतः संप्लुतोदके (भवति । तथा यावान् अर्थः) सर्वेषु वेदेषु, तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति) ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! वेद तीन गुणोंके विषयोंसे युक्त हैं । इससे तू तीनों गुणोंके परे अर्थात् नित्य सत्त्वगुणमें स्थित, द्वन्द्वोंसे मुक्त, वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षा का विचार न करनेवाला और प्रशस्त आत्मबलसे युक्त हो ॥ ४५ ॥ जो कार्य छोटे कुंएसे होते हैं वे सब कार्य जलसे परिपूर्ण बडे सरोवरसे सहजहीमें बनते हैं; इसी तरह जो संपूर्ण वेदोंमें है वह सब ब्रह्म जाननेवाले विशेष ज्ञानी को सहजही में प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ— सत्त्व रज तम ये तीन गुण हैं, इन तीनों गुणोंका वर्णन वेदमें है । यह वैदिक ज्ञान प्राप्त कर तू तीन गुणोंसे परे अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त, द्वन्द्वोंसे दूर, भोगसंग्रहके झंझाटमें न फंसनेवाला, और श्रेष्ठ आत्मिक बलसे युक्त बन । तात्पर्य तू बडा बन, क्यों कि जो कार्य छोटे जलाशयसे बनते हैं वे तो बडे सरोवरसे स्वयं बन जाते हैं, इसी रीतिसे वेदोंके उपदेशसे जो लाभ होगा, वह तो ब्रह्मको जाननेवाले आत्मानुभवी ज्ञानीको सहजहीसे प्राप्त हो सकता है ॥ ४५-४६ ॥

जो लोग ग्रंथ को देखकर अथवा सुनकर उसका तात्पर्य अपनाते हैं) उनके लिये उस विद्यासे ऐसा अद्भुत सुख प्राप्त होता है, जैसा कि गृहस्थीको उत्तम पतिव्रता स्त्री से प्राप्त होता है ।''

इन मंत्रोंमें वेदने स्वयं वेद न जानने वालों, परंतु शब्दवाद करनेवालों की बहुत ही निन्दा की है । यही बात भगवद्गीताके इन तीन श्लोकोंमें कही है । अतः यह निन्दा वेद की प्रशंसा करनेके लियेही है । पाठक इन श्लोकोंका मनन करें और इस प्रकार के अकर्मण्यताके कई दोष यदि अपने अंदर होंगे, तो उनको दूर करनेका यत्न करें। अर्जुन भी बडी बडी ज्ञानकी बातें बोल रहा था, परंतु स्वकर्तव्य करनेसे भाग रहा था, अतः उसको बताया कि यह शब्दवाद कुछ काम का नहीं है । इससे तो बडी अवनति होती है अतः इस शब्दवादमें रुचि न रखो, और जो हो सकता है अपना कर्तव्य दत्तचित्तसे करो। सबको ऐसा ही करना चाहिये। अब आगे क्या कहते हैं देखिये—

(४५-४६) पूर्वोक्त भोगवादियोंकी चंचल वृत्ति दूर करके द्वन्द्वातीत बननेका उपदेश अब करते हैं । द्वन्द्वातीत और गुणातीत स्थिति का परिचय होनेके लिये गुण कितने हैं और द्वन्द्व क्या है इस का ज्ञान प्रथम होना चाहिये।

गुण तीन हैं सत्त्व, रज और तम। इन तीनों गुणों का वर्णन वेदमें है। इस वर्णन का सारांश यह है-

सत्त्व	रज	तम
देवपूजा	राक्षसपूजा	प्रेतपूजा
स्निग्ध भोजन	रूक्ष भोजन	अपवित्र भोजन
कर्तव्यतत्परता	दांभिकता	श्रद्धाहीनता
देशकालोचित-दान	प्रत्युपकारे-च्छासे दान	देशकालके अ-योग्य दान
अविभक्तभाव	पृथग्भाव	तुच्छभाव
निष्काम कर्म	सकाम कर्म	मोहमय कर्म
निर्विकार	विकारी	स्तब्ध
अहिंसक	हिंसक	आलसी
यथार्थबुद्धि	अयथावद्बुद्धि	विपरीत बुद्धि
उच्चगति	मध्यस्थिति	अधोगति

साधारणतया सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों का स्वरूप इस कोष्ठक से पाठक जान सकते हैं। जो विशेष देखना चाहते हैं, वे भ० गीताके १७वें और १८ वें अध्यायमें देख सकते हैं। वेद में सत्त्वगुण की देवताएं ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, ब्रह्म, आत्मा आदि हैं; रजोगुण की देवताएं इन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि हैं और तमोगुण के प्रतिनिधि वेद में वृत्र, असुर आदि हैं।

इन वेदमंत्रोंके उदाहरण इस प्रकार हैं। तमोगुण का उदाहरण सबसे प्रथम देखिये—

दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ ऋ० १।३२।१०

अहीनामाम्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः॥

ऋ० १।३२।४

'इन्द्रके शत्रु वृत्र असुर ने दीर्घ तम अर्थात् गाढ अंधकार फैलाया है। इन कपटी शत्रुओंके कपटी मायाजाल इन्द्रने दूर किये।' इस प्रकार तमोगुणी असुरोंका वर्णन वेद में आया है। इनका अन्तमें नाश और अधोगति होना स्वाभाविक है। वेदने तमोगुणी असुरोंका नाश हुआ है ऐसा दर्शाया है। वृत्रवध देखनेसे तमोगुणी असुरोंकी अन्तमें क्या अवस्था होती है इस का पता लग सकता है। इन असुरोंका नाश देखनेसे कौन मनुष्य तमोगुणको अपनानेका यत्न करेगा? अर्थात् इस प्रकार वेद का उपदेश श्रवण करनेसे सुनने वाले की प्रवृत्ति अपनेमें से तमोगुणको दूर करने की ओर होती है।

तमोगुणको दूर करके मनुष्य अधोगतिसे बचता है और भोगप्रधान रजोगुण को अपनाता है। इस समय इसके सामने इन्द्र देव आते हैं। इन्द्रदेवका वर्णन वेदमें इस प्रकार है—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ १॥ अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष॥ २॥

ऋग्वेद १।३२

'वज्रधारी शूर इन्द्रने जो पराक्रम किये उन पराक्रमोंका वर्णन मैं करता हूं। इन्द्रने शत्रुको मारा, पर्वतोंपर के कीलोंको तोड दिया, पर्वतके आश्रय से रहे शत्रुका वध किया। इस समय त्वष्टाने इन्द्र को उत्तम वज्र दिया था।' इन्द्र देव का ऐश्वर्य, प्रभाव, पराक्रम, राज्यवैभव, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य आदि श्रेष्ठ गुण देखनेसे यह मनुष्य इनपर मोहित होता है और स्वयं इन्द्र जैसा बननेका यत्न करता है। इन्द्र का एक एक गुण अपनाता है और रजोगुण के कारण परम पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्राप्त करता है। ऐश्वर्य के साथ इसके भोग बढते हैं और भोगोंके कारण रोगोंसे व्याप्त होना पडता है। (भोगे रोगभयं) भोग भोगनेसे रोगका भय स्वीकारना पडता है। इस रीतिसे शारीरिक रोग, राष्ट्रवैभव में विविध शत्रु, इस प्रकार अन्दर और बाहर दुःख शोक, रोग, शत्रु और भय से व्याप्त होता है। प्रयत्नशक्ति बढाता है, इस कारण इसके झंझट और भी बढ जाते हैं और उस प्रमाणसे इसकी चिन्ता बढती है। अन्तमें यह वेदमें पढता है, कि इन्द्र भी अपने इन्द्रपदसे च्युत होता है, पराजित होता है, दुःख भोगता है, उसके राज्य-

पद्पर दूसरा इन्द्र आ बैठता है। तब उसके मनमें निश्चय होता है कि यह रजोगुणी वैभव कुछ कामका नहीं है। जहां इस प्रकार का दुख नहीं वह स्थान प्राप्त करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर वह रजोगुणसे विरक्त हो, सत्त्वगुणकी प्राप्तिमें यत्नवान् होता है। इस समय इसके सामने ऐसे मंत्र आते हैं —

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्नबिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व १०।८।४४

'निष्काम, धैर्यशाली, अमर, स्वयंभू, रससे तृप्त, कहां भी न्यून नहीं-सर्वत्र परिपूर्ण-अजर तरुण आत्माको जानकर मृत्युसे डरता नहीं।'

ये मंत्र पढनेसे अमर और सर्वत्र परिपूर्ण शुद्ध आत्माके अस्तित्व का बोध उसे होता है और मानो वह नश्वर जगत् से अमर जगत् में प्रविष्ट होता है।

इसके आगे शुद्ध आत्मा, ब्रह्म, ज्येष्ठ ब्रह्म स्थाणु, आदि देवता के मंत्र पढता है और इनके अध्ययनसे उसके अन्दर सत्त्वगुणका प्रकाश होता है। इसके बाद उसको रजोगुण और तमोगुण के दोष और सत्त्वगुण का महत्त्व विदित होता है। तब वह नित्य सत्त्वगुण में स्थिर रहनेका यत्न करता है।

वेदमें इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणोंका वर्णन है और इन वेदमंत्रोंके पढनेसे मनुष्य तमोगुणसे ऊपर चढ कर क्रमपूर्वक सत्त्वगुणमें आकर स्थिर रहता है। वेदमंत्रों के यथायोग्य अध्ययन से इस प्रकार मनुष्य तमोगुणसे सत्त्व गुणमें प्रवेश करता है।

इसलिये गीताके इस श्लोकमें कहा है कि '(त्रैगुण्यविषया वेदाः) 'वेद तीन गुणोंके विषयों का वर्णन करते हैं, परंतु उस के अध्ययनसे मनुष्य (निस्त्रैगुण्यः भव) तीन गुणोंसे परे पहुंचने का यत्न करे।' तीन गुणोंका वर्णन वेदमें है तू तीनों गुणों के परे हो, यह वर्णन पढते ही बहुत लोग ऐसा विचार करते हैं कि, वेदमार्ग को छोड देनेका उपदेश गीता करती है!! परंतु ऐसा भाव गीताका कदापि नहीं है [इस विषयमें गीताके ४२-४४ श्लोकोंकी टिप्पणीमें विशेष रीतिसे कहा है वह पाठक अवश्य देखें] यहां गीताका आशय यही है कि वेद का तीन गुणोंका वर्णन पढकर ही मनुष्य पहिले तमोगुण छोडता है; पश्चात् रजोगुण त्यागता है और अन्तमें केवल अकेले सत्त्वगुणमें स्थिर रहता है। त्रिगुणातीत होनेका अर्थ सत्त्व रज और तम गुणोंको छोडना नहीं है. केवल सत्त्वगुणका अपनेमें उत्कर्ष करने-का ही नाम गुणातीत होना है। जब तक तमोगुण और रजोगुण अपनेमें रहते हैं तबतक सत्त्व गुण भी इनसे दूषित होता है, रज और तम गुण थोडे भी हुए तो भी अन्दर का सत्त्वगुण योग्य रीतिसे प्रकाशित नहीं होता। जैसा शुद्ध दर्पण पर थोडा भी मल लगा तो भी उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है उसी प्रकार शुद्ध सत्त्वगुण के साथ थोडे भी रजोगुण या तमोगुण रहे तो वह उस सत्त्वगुण का जैसा प्रकाश होना चाहिये वैसा नहीं फैलाता। अतः तमोगुण और रजोगुण पूर्णतया दूर करके सत्त्वगुण ही अपनेमें पूर्णतया प्रकाशित होने देना चाहिये। मनुष्य की यही उच्च अवस्था है और इसी को गुणातीत अवस्था कहते हैं। (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। गी० १४। १८) सत्त्वगुणी लोग उच्च होते हैं ऐसा गीतामें ही कहा है। गुण तीत होनेका वर्णन गीतामें इस प्रकार आया है—

"अर्जुन बोले— हे प्रभो! इन गुणोंसे परे रहनेवालेके क्या लक्षण हैं? उसके आचार कैसे होते हैं? और वह इन तीन गुणोंसे परे किस तरह होता है?" (भ० गी० १४।२१)

"श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन! प्रकाश प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होते हुए भी जो दुःख नहीं मानता, और इनके न प्राप्त होनेपर इनकी इच्छा

नहीं करता. उदासीन के समान जो स्थिर है जिसे गुण हिलाते नहीं, गुणही अपना काम करते हैं- यों मानकर जो स्थिर रहता है और हिलता नहीं, जो सुखदुःखमें समता रखता है, स्वस्थ रहता है मिट्टीके ढेले पत्थर और सोनेको समान मानता है, प्रिय या अप्रिय वस्तु के मिलनेपर एकसा रहता है, अपनी निन्दा या स्तुति जिसके मन समान है ऐसा बुद्धिमान, जिसके मन मान और अपमान एकसे हैं, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनोंके प्रति समान भाव रखता है और जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है।" (भ० गी० १४।२२-२५)

इसीका नाम "निस्त्रैगुण्य" यहां कहा है, इसीको तीन गुणोंसे परे कहते हैं। शुद्ध सत्त्वगुण अपनेमें स्थिर रहनेपरही इस स्थितिकी प्राप्ति होना संभव है। इसी हेतुसे आगे कहा है कि (नित्य-सत्त्व-स्थः नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर रह। क्यों कि सत्त्वगुण में स्थिर रहनेसे ही वह उच्च अवस्था प्राप्त हो सकती है। यदि 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ सत्त्वरजतम इन तीनों गुणोंको छोडना होता, तो इसी श्लोक में 'नित्य-सत्त्व-स्थ' (नित्य सत्त्वगुणमें निवास करनेवाला) यह शब्द निरर्थक होजाता। यदि नित्य सत्त्वगुणमें रहना उन्नतिके लिये आवश्यक है तो 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ तम और रजो गुणकोही छोडनेवाला और केवल सत्त्वगुण में स्थित ऐसाही करना उचित है। पाठक यहां समझें कि—

निस्त्रैगुण्यः, गुणातीतः,
नित्य-सत्त्व-स्थः

इन शब्दोंका अर्थ एकदूसरे शब्द के अनुसंधानसे ही करना चाहिये। श्रीमच्छंकराचार्यजीने 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ (निष्कामो भव) निष्काम हो अर्थात् स्वार्थ की कामना छोड दो ऐसा अर्थ किया है। और 'नित्यसत्त्वस्थः' का अर्थ (सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव) सदा सत्त्वगुणका आश्रय कर ऐसा किया है। ये दोनों शब्द साथ साथ होनेसे सत्त्वगुण का त्याग दोनों स्थान में अभीष्ट नहीं यह बात स्पष्ट हो जाती है। सत्त्वगुणका त्याग करनेसे वहां स्वारस्य कुछ भी रहता नहीं है। उच्च अवस्था तो सत्त्वगुण से ही होती है, अतः उसको त्यागना किसी समय में भी इष्ट नहीं है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
नित्यसत्त्वस्थः।   (गी० २।४५)

'तीन गुणों का विषय वेदमें है, उस को देख कर तू तीन गुणों से परे हो, अर्थात् नित्य सत्त्वगुणसे युक्त होकर रह।' इस प्रकार ये कथन एक दूसरे के स्पष्टीकरण के लिये आगये हैं। 'निस्त्रैगुण्य' शब्द से कदाचित् किसी के मन में सत्त्वगुणको दूर करनेका संदेह उत्पन्न हो जायगा अतः उस संदेह की निवृत्ति करनेके उद्देश्य से ही आगे 'नित्य-सत्त्व-स्थः' यह पद उसी श्लोकमें रखा है। पाठक इस योजना को देखें और समझें की सत्त्वगुण का परिपोष करना ही यहां अभीष्ट है। तात्पर्य सत्त्वगुणी मनुष्यको ही 'गुणातीत' कहते हैं।

'निर्द्वन्द्व' अर्थात् 'सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त' होना भी सत्त्वगुणी होनेके पश्चात् ही संभवनीय है। इससे पूर्व जो गुणातीत के लक्षण बताये हैं, उनमें 'समदुःखसुखः समलोष्टाश्मकाञ्चनः' तुल्यप्रियाप्रियः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः, मानापमानयोस्तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः। (भ० गी० १४।२४, २५) ये गुण हैं। सुख दुःख, मट्टी सोना, प्रिय अप्रिय, निन्दा स्तुति, मान अपमान, मित्र शत्रु ये सब द्वन्द्व जिसको सम प्रतीत होते हों वह गुणातीत है, उसीको यहां 'निर्द्वन्द्व' कहा है। अर्थात्—

निर्द्वन्द्व द्वन्द्वातीत, गुणातीत, निस्त्रैगुण्य

ये सब शब्द एकदूसरेका अर्थ स्पष्ट करनेवाले शब्द हैं। सब द्वन्द्व जिसको सम होते हैं वही निर्द्वन्द्व है, इसी को द्वन्द्वातीत कहते हैं। द्वन्द्वोंके परे होने का उपाय इसी अध्याय के श्लोक १४-१५

की टिप्पणी में अधिक विस्तारसे कहा है, पाठक वह टिप्पणी यहां पुनः देखें और वह भाव मन में धारण करके इन श्लोकोंका अधिक मनन करें।

'निर्योगक्षेम' अर्थात् योगक्षेमका झंझाट अपने पीछे न रखनेवाला मनुष्य हो, ऐसा यहां कहा है। किसी पदार्थ की प्राप्तिका नाम 'योग' है और उसकी रक्षा करने का नाम 'क्षेम' है। संसारमें रहनेवाले सभी मनुष्य इस योगक्षेमके झंझाट में फंसे रहते हैं। अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करना और प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेके कार्य में सब रातदिन लगे हैं। इसी प्राप्ति और रक्षा के कार्य के कारण मनुष्य सदा सुखदुःख और हानिलाभ में फंसता है। यदि किसी युक्ति से यह प्राप्ति और रक्षा का झंझाट मनुष्य से दूर हो जायगा, तो उसको द्वन्द्वातीत होना सहज हो सकता है। द्वन्द्वातीत होनेके लिये योगक्षेम का झगडा दूर होना चाहिये। योगक्षेम का अर्थ सामान्यतया संसारसुख है। जगत्‌के निर्वाह के लिये जिन चीजोंकी आवश्यकता होती है उनका अन्तर्भाव योगक्षेम में होता है। द्वन्द्वातीत, गुणातीत और सत्त्वस्थ हुआ मनुष्य ही योगक्षेम के झगडेसे परे हो सकता है।

'आत्मवान्' होनेको इस श्लोक के अन्तमें कहा है। 'आत्मवान्' का अर्थ विशेष प्रभावित आत्मबलसे युक्त। वैसा तो हर एक प्राणी आत्मावाला होता ही है। आत्मा न हो तो मनुष्य अथवा कोई प्राणी जीवित हो नहीं रह सकता। अतः वस्तुतः सभी प्राणी आत्मवान् हैं। इसका यह सामान्य अर्थ यहां अपेक्षित नहीं है। जिनके अन्दर आत्माका बल विशेष प्रभावित हुआ होता है, उनको आत्मवान् कहते हैं। प्रशस्त आत्मिक बलसे युक्त कौन हो सकते हैं? इसका उत्तर इसी श्लोकने दिया है। यही श्लोक जरा भिन्न दृष्टीसे देखा जाय, तो आत्मवान् बननेका उपाय भी इसी से ज्ञात हो सकता है—

'जो मनुष्य वेदमें (त्रैगुण्यविषया वेदाः) तीनों गुणोंका वर्णन पढते हैं, पढनेके पश्चात् तम और रजो गुण को छोडकर (निस्त्रैगुण्यः) गुणातीत होकर, अर्थात् (नित्य-सत्त्वस्थः) सदा सत्त्वगुणमें स्थिर रहता है, (निर्द्वन्द्वः) सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे होता है, (निर्योगक्षेमः) वस्तुप्राप्ति और वस्तुरक्षाके झंझाट में नहीं फंसता, वह (आत्मवान्) प्रशस्त आत्मिक बल से युक्त होता है। जो मनुष्य चाहते हैं कि अपने अंदर आत्मिक बल विशेष रीतिसे प्रकाशित हो, वे इन नियमों को अपने जीवन में ढालनेका यत्न करें। भगवद्गीता यद्यपि अर्जुनसे कही है, तथापि वह हरएक मनुष्य के लिये ही कही है। गीताके कथन कुछ थोडे फर्कसे पढे गये तो उनमेंसे हरएक मनुष्यको लेनेयोग्य बोध मिलता है। जिसको लेकर मनुष्य उन्नतिके पथमें चल सकता है। इस दृष्टिसे यह श्लोक देखनेसे मनुष्यको इसीसे आत्मविकास का उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार 'आत्मवान्' अर्थात् विशेष आत्मशक्ति से युक्त बना हुआ मनुष्य कितना श्रेष्ठ होता है, इस विषयका वर्णन आगेके श्लोकमें कहा है उसको अब देखिये-

"जो कार्य छोटे कुंएसे होता है वह सहजहीमें बडे सरोवरसे हो सकता है; इसी तरह जो कार्य वेद के जानने से होता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को सहजही में प्राप्त होता है।" यह योग्यता 'आत्मवान्' मनुष्य की है। आत्मवान् मनुष्य के लिये यहां (विजानतः ब्राह्मणः) विज्ञानी ब्राह्मण ये शब्द आये हैं। ब्रह्म जाननेवाला विशेष ज्ञानी पुरुष ही ब्राह्मण कहलाता है और उसीको आत्मवान् भी कहते हैं। कई लोग इस श्लोक का अर्थ ठीक रीतिसे समझते नहीं और मानते हैं कि यहां भी वेदका हीनत्व दर्शाया है और ब्रह्मप्राप्ति वेदसे नहीं होती, ऐसा भी इसीसे अनुमान निकालते हैं!! वस्तुतः देखा जाय तो श्लोकके पदोंका अर्थ यह है- "जो लाभ संपूर्ण वेदों के पढनेसे होता है वह ब्रह्मज्ञानी को स्वयं होता है।"

(१९) कर्मयोग।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अन्वयः- ते अधिकारः कर्मणि एव; कदाचन फलेषु मा। कर्मफलहेतुः मा भूः; ते सङ्गः च अकर्मणि मा अस्तु ॥ ४७ ॥

तेरा अधिकार कर्म करने में है; कदापि फलोंपर नहीं। कर्मों के फल का हेतु धारण करनेवाला न बन और तेरी रुची कर्म न करने में न होवे ॥४७॥

भावार्थ— मनुष्यको केवल कर्म करनेकाही अधिकार है, कर्म के फलोंपर उसका अधिकार नहीं। कोई मनुष्य कर्म के फलों का सदा ध्यान करनेवाला न बने। और कर्म न करने में भी किसी की प्रवृत्ति कभी न हो ॥ ४७ ॥

इसमें वेद की निन्दा बिलकुल नहीं है। ब्रह्मज्ञानी होनेका साधन वेदाध्ययन है। इस कारण वेदका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् जब वह ज्ञान ठीक ठीक अनुभव में आता है तब वह मनुष्य ब्रह्मज्ञानी, ब्राह्मण, ज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ, आत्मवान् आदि कहलाता है। अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् पहिले किया हुआ अध्ययन गौण होता है। जैसा कोई कहे कि 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण मनुष्य को वह ज्ञान सहज ही में होता है, जो प्रथमश्रेणी में वर्णमालाके शिक्षकसे शास्त्रीपरीक्षा के अध्यापक तक सब गुरुजन अपने अपने विद्यार्थियोंको देते हैं। यह तो त्रिकालाबाधित सत्य है, क्यों कि शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण मनुष्य उन अध्यापकोंके अध्ययनक्रमसे गुजरा हुआ होता है। इससे पूर्वके अध्ययनक्रमकी निन्दा तो नहीं होती, प्रत्युत उसी अध्ययन क्रममें से गुजरने से यह मनुष्य शास्त्री बना है, अर्थात् वह अध्ययनक्रम मनुष्यको शास्त्रीकी योग्यता देनेवाला है. यह उसकी प्रशंसा ही है। इसी प्रकार संपूर्ण वेदोंका यथावत् अध्ययन करनेसे मनुष्य ब्रह्मज्ञानी होता है, और जब उसको ब्रह्मज्ञान होता है, जब वह ब्रह्मपरायण होता है, ब्रह्मका अनुभव लेता है; तब फिर उसको वेदका ज्ञान सहज प्राप्त सा होता है; यह कथन तो वेदोंकी अत्यंत प्रशंसा करनेवाला है। हमें आश्चर्य होता है कि जो श्लोक वेदप्रशंसापर लिखे हैं उन्हींसे वेदनिन्दा किस प्रकार ये लोक मानते हैं? इसीलिये अन्यत्र भी कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। कठ उ० २।१५

"सब वेद जिस पदका वर्णन करते हैं और सब प्रकारके तप जो कहते हैं।" वह श्रेष्ठपद है। इस प्रकार उपनिषदों में वेदका माहात्म्य वर्णन किया है। भगवद्गीतामें भी (भ० गी० १५।१५) यही कहा है अतः इसमें वेदकी निन्दा कोई नहीं करता। जहां वेदको गौणत्व दिया होता है, वहां 'शब्दज्ञान और अनुभवज्ञान' का भेद करके, अनुभवज्ञानसे शब्दज्ञान का गौणत्व कथन किया होता है और वह योग्य ही है। कौन कहेगा कि अनुभवज्ञानसे केवल शाब्दिक ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है? पाठक भगवद्गीताके वचनोंको इस रीतिसे समझेंगे तो उनको सब बातें स्पष्ट हो जायगी। इस प्रकार इन श्लोकोंमें साधारण मनुष्यकी परम उन्नति होनेका उपाय अतिसंक्षेपसे कहा है। हरएक मनुष्य इस मार्गसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। अब इस के आगे कर्ममार्गका उपदेश करते हैं—

(४१) प्रत्येक मनुष्य कर्म करने का अधिकारी है। इतनाही नहीं, परंतु हरएक प्राणीका

स्वभाव ही कर्म करना है। इसी लिये भ० गीतामें आगे जाकर कहा है कि—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
भ० गी० ३।५

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
भ० गी० ३।८

"वस्तुतः कोई प्राणी एक क्षणभर भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणोंके वश होकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता है॥ तेरे (मनुष्य के) शरीर का व्यवहार भी कर्म किये विना नहीं चल सकता।" इतना प्राणी का संबंध कर्म के साथ है। एक क्षणभर भी जीवन धारण करना कर्म किये विना असंभव है। मानो जीवनका आधारही कर्म है। हरएक प्राणी श्वास उच्छ्वास करता है, मूत्र पुरीष त्यागता है, अन्न खाता और जल पीता है, निमेष उन्मेष करता है, इन्द्रिय व्यापार करता है, अन्य शरीरके व्यापार चलते हैं, ये सब कर्मही हैं। केवल जीवित रहनेके साथ इतने अनेक कर्मोंका संबंध आता है। ये न किये जांय तो जीवित रहनाही असंभव है। आहार निद्रा भय और मैथुन ये सब प्राणिमात्रोंके स्वाभाविक धर्म या कर्म हैं। केवल स्वाभाविक अवस्थामें रहनेवालोंके लिये भी ये कर्म करना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य तो सबसे ऊंचा प्राणी है, अतः उसका कर्तव्यक्षेत्र बडा ही विस्तृत है। मनुष्यको वैयक्तिक, कौटुंबिक, गृहस्थधर्मसंबंधी, संतानविषयक, बुजुर्गोंके संबंधमें, जातिके, समाजके राष्ट्रके और संपूर्ण जनता अथवा प्राणिसमष्टिके विषयमें अनेकानेक कर्तव्य करने होते हैं। इतनी कर्मक्षेत्रकी व्याप्ति अन्य प्राणियों के लिये नहीं है। उनकी शक्ति अल्प, उनका अधिकार छोटा अतः उनका कार्यक्षेत्र भी मर्यादित है। मनुष्यको शक्ति बडी अधिकार भी बडा अतः इसका कार्यक्षेत्र भी बडा विस्तृत है। मनुष्यको अपने स्वभावधर्मसे और अधिकार की दृष्टिसे भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है, इसी कारण वेदका आदेश यह है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ वा० यजु० ४०।२

'यहां मनुष्य प्रशस्त कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। यही एकमार्ग है दूसरा नहीं, कर्मका कलंक मनुष्यमें नहीं लगता।' वेदकी यह आज्ञा प्रत्येक मनुष्यको कर्मकी प्रेरणा कर रही है। वेदकी दृष्टीसे तो मनुष्यका उपास्य देव 'विश्वकर्मा' परमेश्वर ही है, जो विश्वका कर्म करता है अथवा जो सब कर्म करता है। उपास्य देवके समान बनना उपासक का कर्तव्य है, अतः प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारक्षेत्रमें 'विश्वकर्मा' बने, अर्थात् जो जो कर्तव्य उसको करना आवश्यक हो जांय, वे सब कर्तव्य वह करे, और उनके करनेमें संकोच न करे। जब मनुष्य इस प्रकार कर्म करेगा, तभी विश्वकर्मा देव उसको मुक्तिका मार्ग बतायेगा। इसी विषय में वेद का नियम यह है—

ये भक्षयमाना मनसा चक्षुषा च। अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः। अथर्व० २।३४।३

"जो तेजस्वी लोग बद्ध मनुष्योंको अपने मन और चक्षु द्वारा अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें ही प्रजाजनों के साथ रममाण होनेवाला विश्वकर्मा देव सबसे प्रथम मुक्त करता है।" जनताके हितके कर्म जो करता है वह मनुष्य शीघ्र मुक्त होता है और जो इन कर्मोंको करनेसे हिचकता है वह पीछे पडता है। इसका सीधा भाव यह है कि परमेश्वर 'विश्वकर्मा' होनेसे वह उन मनुष्योंपर प्रेम करता है कि जो 'विश्व का हित करनेके कर्म' निरालस वृत्तीसे करते हैं। यह कभी संभवही नहीं है कि, विश्वकर्मा देव आलसी लोगों पर कभी प्रेमदृष्टी करेगा।

शतक्रतु इंद्र।

मनुष्यके शरीरमें अनेक इंद्रियां हैं। प्रत्यक इंद्रिय में इन्द्र अपनी शक्ति रखता है, मानो इन्द्र अपनी शक्ति इंद्रिय द्वारा प्रकट करता है। इस इन्द्र का नाम 'शत-क्रतु' वेदमें और लौकिक संस्कृतमें है,'शत-क्रतु'का अर्थ'सैंकडों कर्म करने वाला' है। अर्थात् मनुष्य का जीवात्मा जो इस के शरीरके मध्य केन्द्रमें बैठकर कार्य करता है वह स्वभावतः सैंकडों कर्म करनेवाला है। 'विश्वकर्मा' बननेका आशय भी यही है। इसी लिये कहा है—

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः।

अथर्व० ४।२४।६

'जो प्रथम स्थानमें रहनेवाला आत्मा यहां कर्म करनेके लिये ही प्रकट हुआ है।' तथा—

कर्म कृण्वन्ति मानुषाः।

अथर्व० ६।२३।३

'मनुष्य कर्म करते हैं।' क्यों कि कर्म करना उनका स्वभाव है। कर्म किये विना वे जीवित नहीं रह सकते। इसी उद्देश्यसे गीताके इस श्लोकमें कहा है कि—

कर्मणि एव ते अधिकारः।

(भ० गी० २।४७)

'हे मनुष्य! कर्म करना ही तेरा अधिकार है।' कर्म करना ही तेरे अधिकार में है। जो जिसका स्वभाव होता है वही उसका अधिकार भी होता है। प्रकाश करना सूर्य का धर्म है और वही उसका कर्म और अधिकार भी है। इसी प्रकार मनुष्यका अधिकार, कर्म, और धर्म 'कर्म करना' है। परंतु—

मा फलेषु कदाचन। (भ० गी० २।४७)

'फलोंपर तेरा अधिकार नहीं है।' कर्म के अनेक फल होते हैं, परंतु किसी भी फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है। उदाहरण के लिये देखिये सूर्य प्रकाशदान रूप कर्म करता है, परंतु प्रकाशपर उसका अधिकार नहीं है, क्यों कि उसका प्रकाश दूसरों के लिये है। अपने लिये नहीं है।

यह श्लोक कर्म मार्गके चार सूत्र कहता है, इस लिये गीतामें इस श्लोक का महत्त्व विशेष है। संपूर्ण गीता 'कर्मयोग' प्रतिपादक है अतः मानो कि यह श्लोक सब गीताधर्म का सिद्धांत अतिसंक्षेपसे कह रहा है। इस श्लोकमें कहे चार सूत्र ये हैं—

१ मनुष्य को कर्म करनेका अधिकार है, अर्थात् उसको कर्म करना चाहिये, किंवा कर्म करना अनिवार्य है,

२ फलके ऊपर उसका अधिकार कदापि नहीं.

३ फलका हेतु मनमें धरना योग्य नहीं, और

४ कर्म न करने की ओर मनुष्यकी रुची न हो।

अर्थात् मनुष्य सदा शुभकर्म करे, फलकी इच्छा मनमें प्रबल होने न दें, फल के लिये ही कर्म करना है अन्यथा नहीं ऐसा भाव मनमें धारण न करे और कभी आलस में अपनी आयु न गमावे।

जगत् में देखिये पृथिवी दूसरों का धारण करने के लिये स्थिर है, जल दूसरोंको शान्ति देनेके लिये वह रहा है, अग्नि और सूर्य जगत् का अंधेरा दूर करनेके लिये प्रकाशित हो रहे हैं, वायु सब प्राणियोंको जीवन प्रदान करनेके लिये चल रहा है, आकाश दूसरोंको अवकाश देनेके लिये सर्वत्र उपस्थित है, चन्द्रमा दूसरोंको आल्हाद देनेके लिये प्रकाशता है, इस प्रकार यह संपूर्ण दैवत जगत् जो कर्म कर रहा है वह अपने लिये नहीं, परंतु स्वभावसेहि सब जगत् के लिये कर रहा है। यदि उसने अपना कर्म करना छोड दिया तो जगत् की स्थिति हि नहीं रहेगी, और उन देवताओंका देवतापन भी नष्ट होगा, यदि सूर्य न प्रकाशेगा तो उसको सूर्य कौन कहेगा, जो

दीप न जलेगा उसको दीप कैसा कहा जायगा, इसी प्रकार स्वकर्म करनेपरही उनका-देवोंका-देवत्व और जगत् की स्थिति निर्भर है।

इसीप्रकार मानवी शरीरके अंदर भी देखिये, आंख देखता है वह अपने लिये नहीं अपि तु सब शरीरकी भलाई के लिये, कान सुनते हैं वे अपने लिये नहीं परंतु सब शरीरकी भलाई के लिये। जिह्वा रसग्रहण करती है वह अपने लिये नहीं, परंतु सब शरीरकी पुष्टीके लिये, इसीप्रकार अन्यान्य अवयव अपने अपने कार्य कर रहे हैं, वे अपने लिये नहीं, परंतु सब शरीर की भलाई के लिये ही कर रहे हैं। यदि इनके कार्य केवल अपनेहि लिये होने लगे, तो उसीक्षण शरीरका नाश प्रारंभ होगा। देखिये, पेट यदि मुखद्वारा प्राप्त हुआ अन्न अपनेमें ही रखेगा और उसका रस बनाकर सब शरीरभर भेजनेका उपकार न करेगा, तो उदर रोगी होकर मनुष्य मरने लगेगा। इसी प्रकार ये इंद्रियगण जब अपने लिये विषय भोगने लगेंगे, भोग में तत्पर होंगे और संपूर्ण शरीर की भलाई करनेका विचार छोड देंगे, उस समय शरीरका नाश होने लगेगा। जो नियम शरीरके अंदर कार्य करता है और जगत्में कार्य करता है, वही नियम मानवी समाज में कार्य कर रहा है।

मानवीसमाजमें कुछ लोग मस्तिष्क का कार्य करते हैं, कुछ बाहुबल का कार्य करते, कुछ लोग पेट पालन का कार्य करते और कुछ अन्य कार्य करते हैं। यदि ये अपना कार्य मानव समाजकी भलाई की दृष्टीसे नहीं करेंगे और अपने सुख बढानेके लियेही करेंगे, तो स्वार्थ की मात्रा बढ जानेके कारण जनतामें अशान्ति बढेगी। इस लिये आंख जैसा केवल आंखके लिये नहीं देखता परंतु शरीरके लिये देखता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपना कर्म अपने स्वार्थ के लिये न करे, अपि तु अपना कर्तव्य समझके समाजकी भलाई के लिये निःस्वार्थभाव से करे। जैसा सूर्य अपने स्वभावसे प्रकाशता है और उसके प्रकाशसे जगत्का उपकार स्वयं होता है, सूर्यमें परोपकार रूप कर्मफल की अपेक्षा नहीं, परोपकार होगा तोही मैं प्रकाशूंगा ऐसा भी वह नहीं कहता और कभी प्रकाश न करनेका भी यत्न नहीं करता। उसी प्रकार मनुष्य स्वभावसे सत्कर्मशील बने, कर्मफलकी इच्छा न करे, फलके हेतुसे कर्म न करे और कदापि कर्म न छोड देवे।

कर्ममार्गके ये चार सूत्र हैं और ये चार सूत्र पालन करने से ही मनुष्य कर्म करनेसे बद्ध नहीं होता और क्रमसे उन्नत होता जाता है। इन चार सूत्रोंमें " कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको है, " यह पहिला सूत्र है, जो जिसके अधिकारमें होता है वह उसका कर्तव्य ही होता है, वह करने से उन्नति और न करनेसे अवनति होती है, अतः कहा है—

कर्मणा देवानपि यन्ति। तै० उ० २।८।१
कर्मसु चामृतम्। मुं० उ० १।१।८
पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति।
म० ना० उ० ८।२

" कर्म करके देवत्व प्राप्त करते हैं। कर्मों में अमृत है। पुण्य कर्मका सुगंध दूरतक जाता है " और वहां दूरस्थोंको भी आनंद देता है।

इसप्रकार कर्मका अधिकार मनुष्यको है इस लिये शुभकर्म करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। कर्म मार्गका दूसरा सूत्र ' फलपर अधिकार नहीं है ' यह है। जैसा आमका वृक्ष लगाना मनुष्य के अधिकारमें है, परंतु उसका फल प्राप्त होना और आम खाना उतना मानवी अधिकार में नहीं, क्योंकि उसके साथ कई बाह्य कारणोंका संबंध आता है, अकाल पडा, वृष्टी न हुई, कूवेका पानी सूखा, बिजली गिरकर वृक्ष जलगया, किसीने तोड दिया तो फल खाना असंभव हो जाता है। इसलिये फलपर मनुष्यका वैसा अधिकार नहीं है जैसा कर्म करनेपर अधिकार है। इसी कारण तीसरे सूत्रमें कहा है कि ' फलका हेतु धर कर

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अन्वयः— हे धनंजय ! सङ्गं त्यक्त्वा, सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा, योगस्थः कर्माणि कुरु । समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! आसक्ति छोडकर, सिद्धि और असिद्धि के विषय में सम बुद्धि रख कर, योगमें स्थिर होकर कर्म कर । समत्व को ही योग कहते हैं ॥४८॥

भावार्थ— फलकी आसक्ति छोड कर, सिद्धि हुई या न हुई तो भी मनकी वृत्ती समान रखनी चाहिये । इस प्रकार की चित्तकी समवृत्ती को योग कहते हैं । इस योग से युक्त होकर मनुष्य अपने सब कर्म करे ॥ ४८ ॥

कर्म न कर । ' इसका कारण स्पष्ट है कि जिसपर अपना अधिकार नहीं उसका हेतु मनमें धारण किया तो क्या लाभ होगा ? जो बात अपने अधिकार क्षेत्रके बाहरकी है, उसको अपना उद्देश्य बनाना योग्य नहीं है ।

देखिये यदि किसीने फलको अपना उद्देश्य बनाया तो वह बडे अनर्थमें फंसता है । जो विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करना अपना जीवनोद्देश्य बनाते हैं वे परीक्षा अनुत्तीर्ण हुई तो पागल बनते हैं अथवा आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होते हैं । परंतु जो लोग परीक्षाके उद्देश्यसे अध्ययन नहीं करते वे विद्वान भी होते हैं, परीक्षाभी उत्तीर्ण करते हैं, और कदाचित किसी समय अनुत्तीर्ण हुए तो शान्तिसे पुनः यत्न करते हैं । फलपर आसक्त होनेवालोंके समान पागल नहीं बनते । फलपर आसक्त न होनेसे यह प्रत्यक्ष लाभ है ।

कर्मयोग का अन्तिम सूत्र 'कर्म न करनेकी ओर रुची न रख' यह है । कर्म न करनेकी रुची किंवा आलस्य में रुवी रहनेसे मनुष्य की उन्नति की कोई आशा नहीं है । क्यों कि इस आलसी मनुष्य ने अपना निज स्वभावधर्म ही छोडा होता है । निजधर्म छोडनेवाले की उन्नति कैसी होगी । निजधर्म छोडना अपना अस्तित्व ही खोना है । जो अग्नि अपना उष्णतारूप निजधर्म खोती है वह अग्नि नहीं रहती । इसी प्रकार जो मनुष्य अपना कर्म करनेका अधिकारही त्यागता है और आलसी बनता है, वह मनुष्यत्वसे गिरता है । अतः कर्महीनताकी ओर रुची रखना मनुष्यको सर्वथा अयोग्य है । इस प्रकार कर्म करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है ऐसा कहनेके पश्चात् मनुष्य कर्म किस रीतिसे करे और उसके बुरे परिणामसे किस प्रकार बचे, इसका उपदेश करना अत्यंत आवश्यक है । वह उपदेश आगे करते हैं—

(४८) इस श्लोक में योगकी निर्दोष पद्धतिसे कर्म करनेकी युक्ति कही है । योग की रीतिके अनुसार कर्म करनेसे कर्मके दोष कर्ताको नहीं लिपटते । योग किसका नाम है ? 'समत्व' का नाम योग है । समत्व का अर्थ समानभाव, समभाव, वृत्तीकी एकरूपता, चित्तवृत्तीकी एकरूपता । पातंजल योगदर्शन में भी—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । यो० द० १ । १

"योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध" कहा है । चित्तकी वृत्तियोंकी सदा चञ्चलता अनुभवमें आती है । प्रत्येक मूहूर्तमें यह वृत्तियोंकी चञ्चलता मनुष्य अनुभव कर सकता है । प्रत्येक मनुष्य जिस समय जगत्में कार्य करता है उस समय शीतउष्ण, हानि लाभ, जय पराजय, सुख दुःख आदि द्वन्द्व उस के सन्मुख आते हैं और द्वन्द्वोंकी उपस्थितिके कारण इसकी चित्तवृत्ती भी वैसीही

विभिन्न होती है। सुख होनेपर आनन्द और दुःख होनेपर कष्ट की वृत्ति बनती है। लाभ होने पर मनुष्य गर्व करता है और हानि होनेपर वह निरुत्साहित होता है। जय होनेसे इसको घमंड होती है और पराजयसे यह हताश होता है। इस प्रकार मनुष्यकी वृत्ती चञ्चल होती है। इस वृत्तीकी चञ्चलता के कारण मनुष्य निर्दोष रीति से कर्म करनेमें असमर्थ हो जाता है। जो वीर किसी युद्धमें जय आनेसे गर्व करेगा अथवा किसी युद्धमें पराजित होनेसे दुःखी होकर प्राण त्यागने लगेगा, वह वृत्तीकी चञ्चलताके कारण किसी कार्यको यथायोग्य रीतिसे कर नहीं सकता। जो मनुष्य जय प्राप्त होनेपर घमंड नहीं करता और पराजय होनेपर भी अपना सिर शान्त रखता है। अर्थात् इन दोनों अवस्थाओंमें अपने मनकी समता स्थिर रखता है, वही कुछ कर सकता है। साधारण मनुष्य द्वन्द्व प्राप्त होनेपर अपने मनको भी वैसे ही द्वन्द्व रूप बना देते हैं, वे कदापि योगमार्गसे कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकते। शुभाशुभ स्थिति प्राप्त होनेपर जो अपने मनकी समवृत्ती स्थिर रखता है, उस को योगी कह सकते हैं, अथवा उसका मन सम है ऐसा कह सकते हैं।

कई लोग गर्मी होने लगी तो 'हाय हाय' करते हुए कर्तव्य छोड बैठते हैं, सर्दी लगी तो सुकड कर बिस्तरेमें ही पडे रहते हैं, वृष्टी होने लगी तो बडे नाराज होते हैं और आंधी चलने लगी तो भी बडे बेचैन बनते हैं; उनसे कोई विशेष कार्य होनेकी आशा नहीं है। क्योंकि उनकी मनोवृत्ती बाह्यपरिस्थितिके कारण बदलती रहती है। बाह्य परिस्थिति जैसी चाहे बने, जिसकी वृत्ति में चञ्चलता नहीं होती, वह कुछ कर्तव्य पालन कर सकता है।

मनोवृत्तीकी चञ्चलताके अनेक कारण और भी हैं। मनुष्य आंखसे सुंदर रूप देखना चाहता है, कुरूप देखनेसे क्रुद्ध होता है; कानसे मधुर शब्द सुनना चाहता है कठोर शब्द सुननेसे गर्म होता है; जिह्वासे मीठे पदार्थ खाना चाहता है वैसे न मिले तो रुष्ट होता है। ऐसेही अनुकूल भोग भोगनेकी इच्छा करता है और प्रतिकूल परिस्थितिमें कष्टका अनुभव करता है। इसप्रकार जैसी बाह्य अवस्था होगी, वैसीही इसकी चित्त-वृत्ती बनजाती है; और बाह्य अवस्था क्षणक्षणमें बदलती रहती है। इसकारण इसकी मनोवृत्तीभी उसी प्रकार क्षणक्षणमें बदलती रहती है। इस रीतिसे मनोवृत्तीकी चंचलता मनुष्यको स्वकर्तव्यसे भ्रष्ट करती है और गिराती भी है। इस लिये मनुष्यको योगमार्ग का अवलंबन करना चाहिये और योगाभ्याससे अपने चित्तको सम रखना चाहिये। बाह्य परिस्थिति बदलनेपर भी जिसका चित्त चंचल नही होता, उसने समत्वकी स्थिति प्राप्त की है, ऐसा कह सकते हैं। चित्तवृत्तियोंके निरोधसेभी यही साध्य होता है। चित्तवृत्तिको बाह्य परिस्थितिके आधीन न रखकर अपनी चित्तकी वृत्ती अपने आधीन रखनेका नाम योग है। इसीका नाम 'समत्व योग' है।

इस श्लोकमें (समत्वं योग उच्यते) 'समत्वका नाम योग है' ऐसा कहा है। इस 'समत्व' शब्द का अर्थ द्वन्द्वकी बाधा जहां नहीं होती वह स्थिति है। इसी का स्पष्टीकरण इसी श्लोकमें (सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा) सिद्धि और असिद्धि के विषयमें मनकी समवृत्ती रखना, इन शब्दोंसे किया है। द्वन्द्वोंसे दूर रहने की यह स्थिति है। जिसको द्वन्द्वोंकी बाधा नहीं होती, उसको समत्वकी स्थिति प्राप्त होती है। 'सिद्धि और असिद्धि' इस एक द्वन्द्वके संकेत से अन्य संपूर्ण द्वन्द्व यहां लेने योग्य हैं। कैसी भी अवस्था प्राप्त हो, मनकी वृत्ति सम रखकर अपने कर्तव्य को उत्तम रीतिसे करना चाहिये।

(संगं त्यक्त्वा) फलकी आसक्ती भी त्यागनी चाहिये। संगसे ही अनेक आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। इसी लिये कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३
भ० गी० २

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनासे क्रोध हो जाता है, क्रोधसे मूढता होती है, मूढता से भ्रम होता है, भ्रमसे बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धिका नाश होने से मनुष्य नाशको प्राप्त होता है।' विषयोंके संगसे अथवा आसक्तिसे हि ऐसा नाश होता है, इसलिये आसक्ति छोडना चाहिये। आसक्ति छोडकर चित्तवृत्तिकी समता धारण करके जो कर्म किये जाते हैं, वे अपनी पवित्रता करनेवाले होते हैं, इस विषयमें भ० गीतामें ही कहा है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥ कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥११॥ भ० गीता० ५

'जो मनुष्य आसक्ति छोडकर ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्मोंको करता है, वह पानीमें कमलपत्र की भान्ति, पापसे लिप्त नहीं होता। योगी लोग आसक्ति छोडकर शरीरसे मनसे बुद्धिसे अथवा केवल इंद्रियोंसे भी आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं।' इस रीतिसे आसक्ति छोडकर अर्थात् परमेश्वर को समर्पण करके जो कर्म किये जाते हैं, वे आत्माकी उन्नति के लिये साधक होते हैं। इस लिये आगे कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥ कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥९॥ भ० गीता० १८

'हे पार्थ! मेरी निश्चित और उत्तम संमति यह है कि, ये सब कर्म आसक्ति छोड कर और फलेच्छाका त्याग करके करनेही चाहियें। कर्तव्य समझ कर जो नियत कर्म आसक्ति और फलकी इच्छा छोडकर किया जाता है उसी को सात्विक त्याग कहते हैं।'

यहां ब्रह्मार्पण अथवा ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनेका अर्थ क्या है, इस बातका विचार करना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कर्म करता है वह स्वार्थसे करता है, स्वार्थका अर्थ (स्व+अर्थ) अपने लिये, अपने एक जीव आत्माके सुखके लिये करता है,जब एक आत्माके सुखको प्रधानता दी जाती है, उस समय स्वयंही सर्वात्मा किंवा परमात्मा का विचार गौण होता है। अर्थात् सकाम कर्म करनेवाला मनुष्य अपने अंशरूप आत्माको प्रधान और सर्वव्यापक पूर्ण परमात्मा को गौण मानता है॥ वस्तुतः परमात्मा मुख्य सर्वगत परमपूर्ण है और व्यक्तिगत आत्मा उसीका अंश होनेसे गौण है। संपूर्ण सूर्य परमात्मा है तो उसका एक किरण जीवात्मा है। किरणको प्रधान मानना और सूर्यका विचार न करना अज्ञान का कार्य है, इसी लिये कहते हैं कि कामनातृप्ति के लिये कर्म करना अज्ञान का द्योतक और ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कार्य करना ज्ञान है। यह ज्ञान है इसी लिये इसका नाम यहां 'बुद्धियोग' कहा है। इस विचार से पाठक जान सकते हैं, सकाम कर्मसे क्यों दोष होता है और निष्काम कर्मसे क्यों उन्नति होती है।

इस प्रकार प्रारंभसे अन्ततक श्रीमद्भगवद्गीतामें संगत्याग अर्थात् आसक्ति का त्याग और फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेका उपदेश है। और यही कर्मयोग है। इस प्रकार किये हुए कर्म कर्ता को बाधक नहीं होते, प्रत्युत कर्ता की उन्नति करते हैं। भ० गीतामें जो 'समत्वयोग' कहा है वह यही है। 'आसक्तिका त्याग कर, सिद्धि असिद्धि के विषयमें सम भावना रख कर, इस समत्वयोगसे कर्म कर' यह उपदेश अर्जुन को

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वयः— हे धनंजय ! कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरं हि । बुद्धौ शरणं अन्विच्छ । फलहेतवः कृपणाः ॥ ४९॥ इह बुद्धियुक्तः उभे सुकृतदुष्कृते जहाति । तस्मात् योगाय युज्यस्व । योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

हे अर्जुन ! (केवल सकाम) कर्म (समत्व रूप) बुद्धियोगसे बहुत कनिष्ठ है। अतः (समत्व) बुद्धिका आश्रय कर। फलके हेतुसे कर्म करनेवाले (लोग) निकृष्ट होते हैं ॥ ४९ ॥ इस जगत्में (समत्व) बुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और दुष्कृत को दूर करता है। इसलिये (तू समत्वरूप बुद्धि) योग का साधन कर। (समत्व बुद्धि) योग कर्मोंमें कुशलता है ॥ ५० ॥

भावार्थ— केवल सकाम कर्म करनेकी अपेक्षा समभावकी बुद्धिसे निष्काम कर्म करना बहुत ही उत्तम है, अतः मनुष्य समत्वबुद्धि धारण करे। केवल फलेच्छासे कार्य करना मनुष्यकी निकृष्ट अवस्थाका सूचक है ॥ ४९॥ इस जगत्में फलाशा छोड कर समताबुद्धिसे कर्म करनेवाला मनुष्य पापपुण्यसे दूर रहता है। इसलिये मनुष्य इस समत्वबुद्धिसे उद्योग करे। कर्म करनेकी कुशलता को ही 'समत्वबुद्धि योग' कहते हैं ॥ ५० ॥

भगवान् यहां दे रहे हैं। हे अर्जुन! तू युद्धभूमिपर खडा है, इस समय युद्ध कर्तव्य रूपसे तुम्हारे पास उपस्थित है, अतः तू इस युद्धको ईश्वरार्पण कर, इसकी सिद्धि अथवा असिद्धिका विचार न कर और अपना कर्तव्य समझकर कर। युद्ध करना तुम्हारे अधिकार में है, इस युद्ध का फल तुम्हारे अधिकार में नहीं है, युद्ध के फल की इच्छासे युद्ध न कर और युद्ध न करनेमें भी रुची न रख। यह उपदेश जैसा अर्जुन के लिये है वैसा ही सब जनता के लिये भी है। इस प्रकार कर्मयोग का उपदेश देनेके पश्चात् इसीका अधिक स्पष्टीकरण करते हैं—

(४९-५०) यहां 'कर्म' और 'बुद्धि अथवा बुद्धियोग' शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुए हैं। यहां कर्म शब्दका अर्थ 'सकाम कर्म' है और 'बुद्धि अथवा बुद्धियोग' का अर्थ 'समताभावसे किये निष्काम कर्म' है। इन दोनोंकी तुलना करके यहां बताया है कि सकाम कर्मकी अपेक्षा निष्काम कर्म अत्यंत श्रेष्ठ है। अतः सकाम कर्म और निष्काम कर्मका स्वरूप यहां स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक है।—

अयोग,	योग, बुद्धियोग,
सकाम कर्म	निष्काम कर्म
	(२।४७)
	(कर्मण्येवाधिकारः)
	अपना कर्ममें अधिकार।
	(मा फलेषुकदाचन)
फल अपने लिये चाहना।	फलपर अधिकार न रखना।
	(मा कर्मफलहेतुः भूः)
फल हेतुसे कर्म करना।	फल हेतुसे कर्म न करना
	(मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि)
आलस्य में रुची रखना।	आलस्य में रुची न रखना।
	(२।४८)
	(संगं त्यक्त्वा)
फलासक्तिसे कर्म करना।	आसक्ति छोडकर कर्म करना

	(सिद्ध्यसिद्ध्योःसमः)
सिद्धिसे घमंड और असिद्धि से विलाप करना।	सिद्धि असिद्धिके विषयमें समबुद्धि रखना।
	(योगस्थः कर्माणि कुरु)
योग छोडकर कर्म करना।	योगसे कर्म कर।
	(५।१०) (ब्रह्मण्याधाय कर्माणि)
स्वार्थसे कर्म करना।	ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करना।

इस कोष्टकसे सकाम और निष्काम कर्म का ज्ञान पाठकोंको हो सकता है। फलपर आसक्त न होते हुए समता भावसे परमेश्वरको समर्पण करनेकी इच्छासे जो सब कर्म किये जाते हैं वे बुद्धियोगसे हुए कर्म हैं और फलप्राप्तिकी तीव्र इच्छासे, विषम भावनासे प्रेरित होकर अपने भोग बढानेके हेतुसे जो किये जाते हैं, उनको सकाम कर्म, केवल कर्म या तुच्छ कर्म कहते हैं।

कामनासे जो किये जाते हैं उनका नाम सकाम कर्म है। यहां कामनाका अर्थ अपने भोग बढाने की कामना ही है। इस कामनावालोंका वर्णन १६ वें अध्याय में निम्नलिखित प्रकार आ गया है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

भ० गीता० अ० १६

"वे कहते हैं, कि जगत् असत्य है, निराधार है, और इसका नियन्ता कोई नहीं है, यह जगत् एक दूसरेके क्रमसे नहीं हुआ अपितु स्वयं हुआ है, विषयभोग भोगनेके सिवाय इसका कोई दूसरा हेतु नहीं है। इस प्रकार के विचारों को धारण करनेवाले, भयानक कर्म करनेवाले, मन्द-बुद्धि दुष्ट लोग जगत् का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। कभी तृप्त न होनेवाली वासनाओंसे भरे पूरे, दम्भी, मानी, मदान्ध, अशुभ-निश्चयवाले, मोहसे दुष्ट इच्छाओंको धारण करके दुष्कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। प्रलयतक समाप्त न होने-वाली अपरिमित चिन्ताका आश्रय करके काम-भोग में तत्पर, भोगकोही सर्वस्व माननेवाले, सैंकडों आशाओं के जाल में फंसे हुए, कामी, क्रोधी, अपने विषयभोग बढाने की इच्छा से अन्यायपूर्वक धनसंचय करना चाहते हैं। आज मैंने यह प्राप्त किया है, इसके पश्चात् यह मनोरथ पूर्ण करूंगा, इतना धन आज मेरेपास है, कल इतना होजायगा, इस शत्रुको मैंने मारा है, दूसरों को भी ऐसा ही मार दूंगा, मैं सामर्थ्यवान् हूं, मैं भोग भोगनेवाला हूं, मैं सिद्ध हूं, बलवान् हूं और सुखी हूं। मैं श्रीमान् और कुलीन हूं, मेरे जैसा दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, आनन्द मनाऊंगा, अज्ञानसे मूढ बने लोग इस प्रकारके विचार किया करते हैं। वे अनेक भ्रमों में पडते हैं, मोहजाल में फंसते हैं, विषयभोग में आसक्त होकर अपवित्र नरकमें गिरते हैं। अपने

को बडा माननेवाले, घमंडी, धन और मानसे मस्त बने लोग दंभसे विधिहीन यज्ञ करते हैं। ये लोग अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय करनेवाले, निन्दा करनेवाले, और उनके और दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी निन्दा करते हैं। इन नीच द्वेषी क्रूर अमंगल नराधमोंको ईश्वर इस संसार की अत्यंत हीन आसुरी योनियोंमें बार बार डालता है ॥"

पाठक इन श्लोकोंका मनन करेंगे तो सकाम कर्मोंसे अन्तमें कैसा अनर्थ होता है इसका ज्ञान उनको हो सकता है। स्वार्थ, अपना सुख बढाने की लालसा, अपने लिये दूसरोंके गलोंपर छुरी चलानेकी प्रवृत्ति आदि सब पाप कामनासे कर्म करनेसे होते हैं। एक वार कामना तृप्तिके पीछे पडा हुआ मनुष्य असुर बनने तक गिरता ही जाता है। हरएक इंद्रियका सुख मुझे चाहिये, मैं वह सुख प्राप्त करूंगा, उसका भोग करूंगा, उस सुखके लिये हरएक प्रकारका यत्न करूंगा, जो उस में मेरा विरोध करेंगे उनका नाश करूंगा, यदि धर्मानुकूल रहते हुए सब सुख मुझे नहीं मिले, तो मैं जिस प्रकार के व्यवहार करनेसे सुख मिलेंगे वैसे व्यवहार करूंगा, यदि दूसरों की कतल करके मुझे सुख मिलेंगे तो भी वह क्रूर कर्म मैं करूंगा। इस प्रकार प्रवृत्ति कामनाके पीछे पडे हुए मनुष्यकी क्रमशः बन जाती है। इस प्रकार गिरनेवालेकी गिरावट क्रमशः होती रहती है। इसी लिये गीतामें फल की इच्छा का त्याग करके कर्म करनेका विधान किया है। (कृपणाः फलहेतवः) फलकी कामना से कर्म करनेवाले दीन और हीन हैं, वे अतिनिकृष्ट दर्जे के मनुष्य हैं। जिन कर्मोंसे बंधन होते हैं वे येही सकाम कर्म हैं।

कामना छोडकर, फलकी इच्छा का त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये कर्म कर्ता का दोष नहीं लगाते, इसी विषयमें वेद और उपनिषदों में निम्नलिखित उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य हैं—

तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।
बृ० ४।४।२३

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
ईश० १। २

'उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य पापकर्म से लिप्त नहीं होता ॥ इस लिये दान करके-परोपकार करके-भोग कर, मत ललचाओ, धन (कस्य = प्रजापतेः) प्रजा पालन कर्ता का है, सब प्रजाजनों के हितके कार्य करनेके लिये ही सब धन है। इस कार्य की सिद्धि के लिये आवश्यक विविध कर्म करते हुए मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे, ऐसा करनेसे कर्म का दोष नहीं लगता।' ये वेद और उपनिषदों के कथन हैं, इसके अनुसार गीताका उपदेश देखिये—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
भ० गी० ४।१४

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
भ० गी० ५। ७

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥
भ० गी० ५। १०

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँलोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
भ० गी० १७।१८

'मेरी कर्म के फलकी कामना नहीं है अतः मुझे कर्म का दोष नहीं लगता। समत्व बुद्धिरूप योग करनेवाला, पवित्रात्मा, संयमी और इंद्रियनिग्रही तथा सर्व भूतमात्रको अपने समान माननेवाला कर्म करता हुआ भी दोषोंसे अलिप्त रहता है ॥ जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्तिरहित होकर करता है वह कर्म के दोषोंसे

दोषी नहीं होता, जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ नहीं भीगता ॥ जिसको अहंकार नहीं और जिस की बुद्धि मलीन नहीं है, वह इन लोकोंको मारता हुआ भी नहीं मारता और उस कर्म के कारण बंधनमेंभी नहीं पडता।।'

यहां ईश्वरार्पण कर्म करनेका अर्थ क्या है, निष्काम कर्मका आशय क्या और आसक्ति छोडनेका भी क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट हुआ है। इसका आशय यह है-'(यस्य नाहंकृतः भावः) जिसके अन्दर अहंकार घमंड नहीं, मैं करता हूं और मैं भोगूंगा यह स्वार्थभाव जिसमें नहीं है, जो जितेंद्रिय, आत्म-संयम करके, शान्त वृत्तिसे कार्य व्यवहार करता है,और जो(सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा) सब भूतोंका आत्मा जिसका अपना आत्मा बना है, सब प्राणिमात्रोंको जो अपने आत्मा के समान प्रिय मानता है, सब प्राणिमात्रोंका हित हुआ तो जिसको अपने हित होनेके समान आनन्द होता है, साधारण मनुष्यको अपने भोग बढानेसे जैसा संतोष होता है उस प्रकार सब भूतमात्रोंका हित साधन करनेमें जिसे समाधान होता है, जो सब प्राणिमात्रोंका हित साधनका कार्य करना अपना कर्तव्य कर्म मानता है, वह मानो ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म करता है। सब भूतोंको अपने आत्माके समान मानने की कल्पना पाठकों के मनमें स्थिर हुई तो ही वे जान सकेंगे कि निष्काम और आसक्तिरहित कर्म कैसे किये जाते हैं। जो सब भूतोंको अपने आत्माके समान नहीं मान सकता, वह निष्काम कर्म कर नहीं सकता।

कई मनुष्य कहते हैं कि फलासक्ति न रहनेपर उत्तम तत्परतासे कर्म नहीं हो सकता। परंतु वस्तुस्थिति इससे बिलकुल विरुद्ध होती है। फलासक्ति छोडनेपर ही उत्तमसे उत्तम रीतिसे कर्म होना संभवनीय होता है। इस जगत् में साधुसंत सत्पुरुष देश और धर्म के लिये कार्य करनेवाले जितने महात्मा होगये हैं वे सबके सब स्वार्थकामना को छोडकर ही कार्य करते रहे, इसीसे उनसे विशेष कार्य हो सके और इसी कारण उनका यश इस समयतक चला आता है। आजभी हम देखते हैं कि साधारण स्वार्थपरायण लोगोंकी अपेक्षा स्वार्थ छोडनेवाले ही विशेष कार्य कर रहे हैं।

जब मनुष्य अकेला होता है और जबतक उसके मनमें स्वार्थत्यागकी भावना नहीं जाग्रत होती, तबतक वह केवल अपने लिये ही कार्य करता रहता है। जब वह गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होता है तबसे अपनी अर्धांगी धर्मपत्नीके लिये स्वार्थत्याग करता है, यदि स्त्री पुरुषके लिये और पुरुष स्त्रीके लिये आत्मत्याग नहीं करेगा, तो वे गृहस्थाश्रमका सुख प्राप्त करने में असमर्थ होंगे। यहां स्वार्थत्याग, आत्मसमर्पण अथवा दूसरेके लिये स्वत्वत्याग करनेका पहिला पाठ मिलता है। जब पुत्र उत्पन्न होता है तब मातापिता दोनों उस पुत्रके लिये आत्मसमर्पण करते हैं और पुत्रप्राप्तिका सुख प्राप्त करते हैं। अपने परिवार में जिस प्रमाणसे पारिवारिकोंकी संख्या बढती है उसी प्रमाणसे आत्मसमर्पण की मात्रा बढती है। इसके पश्चात् जातीकी रक्षाके लिये और राष्ट्ररक्षाके लिये आत्मत्याग करते हैं। इनमें स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण है। स्वार्थका विस्तार और आत्मसमर्पणका भी विस्तार होता जाता है और अपने अंदरके निष्काम भावका भी साथ साथ विस्तार होता जाता है। अर्थात् मनुष्य इस रीतिसे निष्काम कर्मका पाठ सीखता जाता है।

पाठक यहां अनुभव करें कि जो गृहस्थ का घरमें जीवन होता है और जो केवल कुटुंबियोंकी ओर ही देखता है, वैसा स्वार्थी मनुष्यभी यदि अपने कौटुंबिक जीवन में सुख प्राप्त करना चाहे, तो उसको आत्मसमर्पण करना चाहिये। जिस कुटुंबमें एक व्यक्ति दूसरेके लिये समर्पण करती है उसीमें आनंद प्राप्त हो सकता है। स्वार्थकी कामना छोडनेसे सुख और स्वार्थ बढानेसे दुःख

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वयः- हि बुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबंधविनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति ॥५१॥

इसलिये (समत्व) बुद्धिसे युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल का (त्याग) दान करके जन्मबन्धनसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थान को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

भावार्थ— मनुष्य ज्ञान प्राप्त करे, समतारूप बुद्धिको अपने अन्दर धारण करे, और कर्म करे तथा उस कर्मके फलका सर्वभूतोंका हित करनेके लिये दान करके, जन्म और बंधन से मुक्त होवे और दुःखों और क्लेशोंसे रहित परम पदको प्राप्त करे ॥५१॥

होनेका अनुभव हरएक स्थानपर आता है। फिर जब मनुष्य 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होता है अर्थात् सब भूतमात्रोंको आत्मवत् मानकर उनके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब उसका आनन्द असीम होगा, इस में संदेह ही क्या हो सकता है? इसी लिये इन श्लोकोंमें कहा है कि, (कृपणाः फलहेतवः) फल की कामना करनेवाले कृपण दीन हीन अथवा अनुकंपनीय होते हैं। क्यों कि आनन्द प्राप्त करनेकी संभावना होते हुए भी वे दुःखके मार्ग से जाते हैं।

कर्म करनेका अधिकार मनुष्यमात्र को है, परंतु वह कर्म ऐसी युक्तिसे करना चाहिये कि जिससे मनुष्यको दोष न लगे और आनन्द प्राप्त होकर साथ साथ उन्नति भी हो। इसके साधन का नाम ही योग है, देखिये- (योगः कर्मसु कौशलं) कर्म करनेमें जो कुशलता है उसका नामही योग है। जो मनुष्य कुशलतासे कार्य करता है वह उसको उत्तम निर्दोष रीतिसे बनाता है। अर्थात् निर्दोष रीतिसे कार्य करनेका नाम योग है। यह निर्दोष रीति इन श्लोकोंमें कही है कि- 'आसक्ति छोडकर, समत्वबुद्धिसे, सिद्धि और असिद्धि के विषयमें समवृत्ति रखकर, कार्य करना और उस कार्य को सब भूतमात्र के हित के हेतुसे ईश्वरार्पण करना।' इस युक्ति से मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है। भगवद्गीता की विशेषता इस कर्मयोगकी युक्तिमें है। निष्काम भावसे कर्म करने का वैदिक उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। इसी विषयमें आगेके श्लोकमें अधिक स्पष्टीकरण है। वह अब देखिये—

(५१) इस श्लोकमें सारांशसे वही बुद्धियोग कहा है कि जो पूर्वस्थानपर कहा था। यहां तीन नियम कहे हैं- (१) बुद्धियुक्त होना, (२) मनीषी बनाना, और (३) कर्मफल का दान करना।

इन तीन नियमोंके पालन करनेके दो फल कहे हैं (१) एक जन्म आदि बन्धनोंसे छूटना और (२) दूसरा क्लेशरहित स्थानको प्राप्त करना। क्रमशः अब इनका विचार करते हैं—

(बुद्धियुक्ताः) बुद्धियुक्त होना। 'बुद्धि' का यहां प्रकरणानुकूल अर्थ 'समत्व भावनासे युक्त बुद्धि' है जो इस कर्मयोग में अत्यंत आवश्यक है। जाती के भेद, रंगके भेद, और देशके भेद न देखकर मानवसमाज की जो विशेष समता है, उसको मनमें स्थिर करनेसे यह समत्व बुद्धि प्राप्त की जा सकती है। शीत उष्ण, हानिलाभ, सुख दुःख, जयपराजय होनेपर भी उनसे बुद्धिमें कलुषितता न लाकर अपने कर्तव्य कर्मपर निष्ठा रखना, यह भी एक प्रकारकी बुद्धिकी समता ही है। इस

प्रकारकी बुद्धिसे जो मनुष्य युक्त होते हैं, अर्थात् जिनकी ऐसी बुद्धि होती है उनको यहां बुद्धियुक्त कहा है। कर्मयोगके नियमोंके अनुसार चलनेके लिये इस समता रूप बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है।

(मनीषिणः= मनस ईष्टे इति मनीषी) अपनी मनकी शक्तिपर जो प्रभुत्व रखता है उसको मनीषी कहते हैं, मन आदि संपूर्ण इंद्रियोंको अपने आधीन रखनेवाला मनीषी कहलाता है। इन्द्रियोंका स्वैर संचार जिसनेबंद किया है और अपने सब इंद्रियों को जो विशेष मार्गपर से ही चलाता है, वह इंद्रियसंयमी मनुष्य यहांके मनीषो शब्द से लेना योग्य है। इस श्लोक में जो फल कहे हैं वे ऐसे ही मनुष्यको मिलते हैं। मनीषी शब्दका दूसरा अर्थ 'ज्ञानी' है, परंतु यह भाव पूर्वोक्त 'बुद्धियुक्त' शब्दसे व्यक्त हुआ है, अतः यहां मनीषी शब्दसे केवल ज्ञानी अभीष्ट नहीं है, परंतु अपने ज्ञानसे जिसने अपने इंद्रिय स्वाधीन किये हैं ऐसा आत्मसंयमी यहां अभीष्ट है।

समत्व बुद्धिसे युक्त बन कर अपने इंद्रियों को स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य(कर्म-जं फलं त्यक्त्वा) कर्मसे उत्पन्न हुआ फल त्यागकर बन्धनोंसे मुक्त होता है। अब यहां विचार करना चाहिये कि कर्मफलत्यागका अर्थ क्या है? त्याग का अर्थ 'अस्वीकार'प्रसिद्ध है, परंतु केवल अस्वीकार अर्थ लेनेसे यहां पूर्णता नहीं होती है। मान लीजिये कि एक किसान है जिसने अपना खेत बोया है, इसके कृषीरूप कर्मसे उसको बहुत धान्य प्राप्ति रूप अच्छा फल प्राप्त हुआ है। इसके इस फलको यह कृषीवल त्यागना चाहता है वह कैसे त्यागदे? यह प्रश्न यहां है। भूमिसे धान्य न लाया तो एक त्याग होता है, भूमि पर स्थित धान्य जला दिया तो दूसरा त्याग होता है, प्राप्त धान्य गरीबों को योग्यरीतिसे दान देनेसे तीसरा त्याग होता है। ऐसे अनेक प्रकारके त्याग संभवनीय हैं, इनमेंसे कौनसा त्याग करना योग्य है, और किस प्रकार के त्यागसे वह किसान अथवा हरएक मनुष्य जन्मबन्धनसे मुक्त होकर दोषरहित स्थानको प्राप्त कर सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारे मतसे यहां 'त्याग' शब्दसे 'दान' अर्थ अभीष्ट है, और जब अपने कर्मफलको कोई मनुष्य लोगोंकी भलाई के लिये समर्पण करता है, उसी समय वह बंधनोंसे मुक्त होकर आनन्द लाभ कर सकता है। इसलिये यहां त्याग कितने प्रकारका है इसका विचार करते हैं, भगवद्गीतामें तीन प्रकारके त्यागोंका वर्णन है—

त्यागो हि पुरुष व्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजत्।
स कृत्वा राजसंत्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥ भ० गी० १८

'त्याग तीन प्रकारका है, मोहवश होकर जो त्याग होता है उसको तामस त्याग कहते हैं। दुःखदायी समझकर शरीरके कष्टके डरसे जो त्याग होता है उसको राजस त्याग कहते हैं और इसलिये उसे त्यागका फल नहीं मिलता। कर्तव्य समझ कर नियत कर्म फलत्याग के साथ किया जाता है उसका नाम सात्विक त्याग है।' इस स्थानपर प्रधानतया कर्मत्याग के तीन भेद कहे हैं तथापि सामान्यतः हम ऐसा बोध इस से ले सकते हैं कि (१) मोहसे होनेवाला त्याग अधम है, (२) कष्टोंके डरसे होनेवाला त्याग मध्यम और (३) कर्तव्यबुद्धिसे होनेवाला त्याग उत्कृष्ट है। इस कसौटीसे यदि हम देखेंगे तो हमें पता लगेगा कि पहिले दोनों प्रकारके त्याग कुछ लाभ देनेवाले नहीं हैं, केवल तीसरा सात्विक त्याग श्रेयस्कर है। इसी के साथ यदि हम दानों के तीन भेद यहां देखेंगे, तो इस का आशय हमें

ठीक पता लगेगा, अतः दान के तीन भेद अब देखिये-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥२०
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥
भ० गी० १७

'यह समझ कर कि दान देना योग्य है, वह दान जब बदलेकी आशा न रख कर, देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, वह सात्विक दान है॥ जो दान बदलेकी आशासे या फल विशेष की इच्छासे और दुःखी होकर दिया जाता है वह दान राजसिक है॥ देशकाल और पात्र का विचार किये विना, तथा आदर सत्कार के विना तथा तिरस्कारपूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहा जाता है॥''

यहां तीन प्रकारके दान कहे हैं। इनमें कर्तव्य बुद्धिसे देशकाल पात्रके विचार से दिया हुआ दान श्रेष्ठ, बदले की और फलकी आशासे तथा बडे दुःख के साथ जो दिया जाता है वह मध्यम, और जो देशकाल पात्रापात्र का विचार न करके तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह अधम दान हैं। उत्कृष्टका फल उत्तम और अधम का अधम फल होता है। इसलिये जो त्याग और दान श्रेष्ठ होगा उसीका फल जन्मबन्ध से मुक्ति और क्लेशहीन अवस्था की प्राप्ति होना स्वाभाविक है।

इतने विचार से हम कह सकते हैं कि जो कर्म के फल का त्याग अथवा दान करना है वह (१) कर्तव्य समझकर, (२) निरपेक्षतासे (३) लोभ छोडकर, (४) प्रत्युपकार की इच्छा न रख कर, (५) योग्य दशामें, (६) योग्य समयमें, (७) योग्य सत्पात्र देख कर और (८) योग्य रीतिसे जो किया जाता वही बन्धनसे मुक्ति करनेवाला और आनन्द देनेवाला होता है।

कर्म का फल अपने लिये न रखना, परंतु वह सब जनता की भलाईके लिये योग्य रीतिसे समर्पण करना चाहिये। यही एक युक्ति है जिस से मनुष्य पारतंत्र्यसे मुक्त होकर आनंद प्राप्त कर सकता है, त्याग का अर्थ यह है और यही मनुष्य की उन्नति करनेवाला है। एक कृषीवल प्रयत्न करके उत्तम खेतीका कार्य करे, जो इस कर्मका फल धान्यरूपसे प्राप्त होगा, उसका सत्पात्रमें जनताकी भलाईके लिये समर्पण करे। इसीप्रकार अन्यान्य कर्मफलोंके त्याग करने के विषय में जानना योग्य है। पाठक इस फलत्याग विषयको इस ढंगसे समझने का यत्न करें। अब इसके पश्चात् इस त्यागसे होनेवाले दो फलोंका विचार करेंगे। बन्धमुक्तता और अनामय स्थानकी प्राप्ति ये दो फल इसके हैं। इनसे क्या भाव मिलता है इस का अब हम विचार करते हैं—

साधारणतः मनुष्य अनेक बंधनों में पडे हैं, और बंधनोंके कारण विविध दुःख भोगते हैं। बंधन, पारतंत्र्य, परवशता, पराधीनता ही दुःख है। इस दुःखको दूर करनेके लिये ही यह कर्मयोग है और इस कर्मयोगको यथावत् करनेके लिये 'कर्मफल का त्याग' करनेकी युक्ति यहां कही है। अर्थात् बंधन अथवा पारतंत्र्य दूर करने के लिये 'कर्मफल का त्याग' करना अत्यंत आवश्यक है। कर्मका फल अपने लिये रखनेसे बंधन होता है और वह फल सब जनताके लिये दान करनेसे बंधन की निवृत्ति होती है। इसके लिये एक उदाहरण हम लेते हैं।

एक ग्राम है, और उसमें सौ कुटुंब रहते हैं और उस ग्राममें हजार बीघे भूमी है। अर्थात् प्रत्येक कुटुंबके विभागमें दस बीघा भूमि आगई। यह विभाग दर्शानेके लिये दस बिघाकी मर्यादा बतानेवाली बाढ लगानी चाहिये। प्रत्येक का स्वार्थ अलग अलग होनेके कारण प्रत्येक की

मर्यादा का दर्शानेवाला बन्धन हर एकके चारों ओर होना अनिवार्य है। परंतु यदि हरएक मनुष्य ने अपनी भूमिका दान सब ग्राम की भलाई के लिये दिया, अथवा सब ग्रामीण लोग अविभक्त रहे और अविभक्त रहकर सब मिल कर संपूर्ण ग्रामका खेती आदि व्यवहार यथान्याय करने लगे, तो उस समय विभक्त अवस्था के कारण होनेवाली मर्यादाके बंधन लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं होगी। एक ग्राम अविभक्त होनेके कारण, किंवा हरएकका स्वार्थ समुदाय के हित के लिये समर्पित होनेके कारण, अथवा व्यक्तिका स्वार्थ समुदाय जितना बढनेके कारण वैयक्तिक मर्यादा का बंधन रखना अनावश्यक हो जाता है। इसीप्रकार जितनी अहंकार की, वैयक्तिक स्वार्थ की मर्यादा हट जायगी, उतनेही बंधन दूर होंगे। मेरे कर्मका फल मैं भोगूंगा यह वैयक्तिक अभिमान जब समुदायके हितके लिये नष्ट होगा, इस प्रकार एकएक अहंकार नष्ट होते होते अन्तिम मर्यादा जो परमेश्वर की अमर्याद स्थिति है उस अमर्याद सत्ताके लिये ही सब कर्म और कर्मके फल समर्पित होंगे, तब पूर्वोक्त कारणसे ही कोई बंधन अवशिष्ट नहीं रहेंगे, क्यों कि उस समय एक भी वैयक्तिक अहंकार बंधन उत्पन्न करनेके लिये स्थानपर नहीं होता।

वैयक्तिक सत्ता का अभिमान और उसकी भोगवासना अवशिष्ट रहनेके कारण जन्म लेना आवश्यक होता है, और जन्मके पश्चात् विविध दुःख भोगना भी अपरिहार्य होता है। परंतु जब पूर्वोक्त प्रकार जन्मका मूल कारण वैयक्तिक अभिमान समूल लय को प्राप्त होता है, किंवा आत्मसर्वस्व का पूर्णतया समर्पण परमेश्वर के लिये हो जाता है, तब जन्म और बंधन का कोई कारण शेष नहीं रहता और वह जन्मबंधनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार बन्धनसे परे होना ही उस अनुपम आनन्द के स्थान को प्राप्त करना है। जहां दुःख का लेश भी नहीं है और केवल निज आनन्दही जहां है वह स्थान उसी को प्राप्त होता है, जिसका वैयक्तिक अहंकार का भाव समूल नाश को प्राप्त होता है।

इसी अध्यायके श्लोक २३-२५ की व्याख्या के प्रसंग में बता दिया है कि जाग्रतिमें 'अल्प अवस्था' रहती है और सुषुप्तिमें 'भूमा अवस्था' जीवात्मा को प्राप्त होती है। [यह सब टिप्पणी पाठक यहां देखें।] जाग्रत अवस्थामें व्यक्तिगत अभिमान जाग्रत रहनेके कारण आत्मा 'अल्प अवस्था' में रहता है और शरीरके दुःख भोगता है; परंतु जब इसीकी जाग्रति नष्ट होती है, और साथ साथ अल्पावस्था भी नष्ट होती है और जब यह सुषुप्तिमें पहुंचकर 'भूमा अवस्था' का अनुभव लेने लगता है, तब इसको शरीरके कोई दुःख कष्ट नहीं पंहुंच सकते। अल्प अवस्था के 'पद' को छोडने और भूमा अवस्थाके अनामय अर्थात् दुःख रहित 'पद' को प्राप्त करने से ही मनुष्य को अनुपम आनन्द मिलता है। ये दो (पद) स्थान भिन्न भिन्न हैं।

मनुष्यका शरीर अनंत फोडे फुन्सीयोंसे युक्त होनेपर भी जब वह जाग्रति के पद को छोडकर सुषुप्ति के पदको प्राप्त करता है, उस समय शरीर के प्रत्यक्ष क्लेशोंसे मुक्त रहता है। यह अनुभव हरएक को प्राप्त है। यहां पाठक यह भी जान सकते हैं कि जैसा जाग्रतीके पद में निवास करने तक वैयक्तिक अहंकार जाग्रत रहता है वैसा सुषुप्तिके पदमें निवास होनेपर नहीं रहता, अतः यह कहना अयोग्य नहीं है कि वैयक्तिक अभिमान जाग्रत रहने तक ही दुःख का अनुभव है और जिस समय यह अहंकार लीन हो जाता है, तब उस अहंकार के साथ सब दुःख भी दूर हो जाते हैं और वह मनुष्य उस पद पर पंहुंचता है कि, जहां निज आनंद ही आनंद है और दुःखका लेश भी नहीं है। यह अवस्था मनुष्य तब प्राप्त कर सकता है, जब कि वह—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अन्वयः- यदा ते बुद्धिः मोह-कलिलं व्यतितरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गंतासि ॥५२॥ यदा श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः निश्चला (भूत्वा) समाधौ अचला स्थास्यति, तदा योगं अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब तेरी मति मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता को दूर करेगी, तब तुझे सुने हुएके और सुननेके विषयोंके संबंधमें उदासीनता प्राप्त होगी।॥५२॥ जब अनेक प्रकारके वक्तव्य श्रवण करनेसे तेरी घबराई हुई मति निश्चल होकर एकाग्रतामें स्थिर होगी, तब तू इस समत्वयोग को प्राप्त होगा ॥५३॥

भावार्थ— साधारण मनुष्यकी मतिपर मोहके मल लगे रहते हैं, उनको धोकर मतिको पवित्र करना चाहिये। मति इस प्रकार पवित्र होनेसे ही विषयभोगोंके संबंधमें विरक्तता होती है। इस वैराग्य से मति की चञ्चलता दूर होती है और वह स्थिर होती है, तत्पश्चात् मनुष्य इस समत्वरूप योग का आचरण करने में समर्थ होता है ॥ ५२—५३ ॥

१ (बुद्धियुक्तः) समबुद्धिसे युक्त,

२ (मनीषी) मन आदि इंद्रियों का दमन करनेहाला, और

३ (कर्मजं फलं त्यक्त्वा=दत्त्वा) कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को सब भूतमात्रों के हितके लिये समर्पण करनेवाला

बनता है। जब ये इसके निज स्वभाव बनते हैं, तब उसको यह सहज आनन्द स्वभावतः प्राप्त होने लगता है। यही मानवी उन्नतिकी अन्तिम सीमा है। इस सीमातक कौन मनुष्य पंहुंच सकते हैं अर्थात् इस परम पदको प्राप्त करनेकी तैयारी किस प्रकार करना चाहिये इसका मार्ग आगेके दो श्लोकोंमें बताया है—

(५२-५३) इन श्लोकोंमें साधारण मनुष्य की बुद्धि उन्नत होनेका क्रम बताया है।

(१) [मोहकलिलं बुद्धिः व्यतितरिष्यति]= मोहके कीचड से बुद्धिका पार होना,

(२) [निर्वेदं गन्तासि] = विरक्त होना।

(३) [निश्चला बुद्धिः] = बुद्धिका चञ्चलता-रहित होना,

(४) [समा-धौ अचला स्थास्यति] = समत्व बुद्धिमें स्थिर रहना और अन्तमें—

(५) [योगं अवाप्स्यसि] = इस योग को प्राप्त होना।

साधारण मनुष्यकी बुद्धि इन चार अवस्थाओं में से गुजर कर पांचवी योगावस्थामें स्थिर होती है। इन चारों अवस्थाओंका विचार अब करना चाहिये—

सबसे पहिली ' मोह-कलिलावस्था ' है। इस अवस्थामें स्थित मनुष्य मोहके कीचडमें फंसा रहता है। सब ओर से यह मलिनताकी अवस्था समझिये। मोहके कारण यह विषयोंके कीचड में फंसता रहता है। शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये पांच विषय कर्ण त्वचा नेत्र रसना और नासिका इन इंद्रियोंके हैं। जब मनुष्य मोहसे इन इंद्रियों द्वारा इन विषयोंके कीचड में फंसता है

तब उसका बल क्षीण होता है, उसको मलीनता प्राप्त होती है और परतंत्रता का दुःख भोगना पडता है। इस अवस्थामें रहा मनुष्य मानता है कि, बाह्य विषयोंके उपभोगसे ही मुझे आनन्द मिलता है, इस भ्रमके कारण वह बाह्य विषय बढाता जाता है और जैसे उसके विषय बढ जाते हैं, वैसा उसका दुःख भी बढता जाता है। इस रीतिसे जब वह दुःख शोक और घबराहट में फंसा हुआ तडफता है और अन्तमें किसी सत्पुरुषकी प्रेरणासे उसको विदित होता है कि, इस मोहजाल से दूर होनेके विना दूसरा कोई उपाय आनन्द प्राप्त करनेके लिये नहीं है। जब यह उसका निश्चय हो जाता है, तब वह मोहके कीचड को दूर करने का यत्न करता है।

यहां पाठकोंको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि, यह कीचड या मल किस रीतिसे धोया जाता है ? यहां हम संक्षेपसे उदाहरण के लिये इसकी रीति बताते हैं। सबसे बडा कीचड 'काम'का है, विशेषतः स्त्रीविषयक भोगेच्छाका धर्ममर्यादा का अतिक्रमण करके होना बहुतही भयानक है। इसमें फंसा हुआ मनुष्य अनेक तरहसे गिरता है। इससे बचनेका उपाय 'ब्रह्मचर्य' पालन है। ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठासे वीर्यलाभ होता है, शारीरिक बल बढता है, मनका उत्साह अखंड रहता है और काम के कीचडसे मुक्तता होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ '(ब्रह्म) महती शक्ति प्राप्त करनेके लिये (चर्य) विशेष प्रकारका आचरण करना।' ब्रह्म का अर्थ 'ज्ञान, महत्व, श्रेष्ठशक्ति, आत्मा, परमात्मा।' ईशप्राप्ति करनेके लिये आवश्यक सदाचरण करना। मनुष्यके अन्दर जो दिव्य आत्मशक्ति है, उसका पूर्ण विकास करनेके लिये करने योग्य आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। संपूर्ण इंद्रियोंका संयम करनेसेही इस ब्रह्मचर्य की पालना होती है और इसके पालन करनेसे 'काम' के कीचड से मुक्तता होती है।

दूसरा कीचड 'लोभ' का है, इसको धोनेके लिये अपरिग्रहका पालन करनेकी आवश्यकता है। अपरिग्रहका अर्थ अपने पास संग्रह न रखना है। घर, घरके पदार्थ, धनसंचय आदि अनेक प्रकारके संग्रह मनुष्य अपने पास बढाता है और क्रमशः लोभ के कीचड में फंसता है। अतः अपरिग्रह व्रत के पालन से मनुष्य लोभ-रूपी दोष को दूर करे। तीसरा दोष 'क्रोध' का है, इसको दूर करने के लिये अहिंसा व्रत का पालन करना चाहिये। अहिंसा का अर्थ दूसरे की हिंसा न करना ही केवल नहीं है, परंतु विचार,उच्चार और व्यवहार से दूसरे को दुःख होगा ऐसा कोई कार्य न करना, इतनाही नहीं, परंतु अपने विचार से,भाषणसे और आचरणसे दूसरों को सुख हो, ऐसा आचरण करना। इस अहिंसा से क्रोध का मल दूर हो जाता है। इसके साथ साथ 'सत्यपालन, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना,शरीर,वाणी, मन आदिकी पवित्रता रखना, संतोष की वृत्ती धारण करना, शीतोष्ण सहन करनेका तप आचरण करना, उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन करना और सदा परमेश्वर की भक्ति करना, ये और ऐसे अनेक उपाय हैं कि,जिनके द्वारा मनुष्य अपने मलोंको दूर कर सकता है और मोह के कीचड से अपने आपको बचा सकता है।

मनुष्य के पास कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये इंद्रिय हैं और इनसे शब्द,स्पर्श,रूप, रस और गंध का भोग लिया जाता है। इन भोगोंमें फंसनेवालों को रोगादिकों का दुःख भोगना पडता है, अतः भोगोंमें न फंसनेका यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। इस लिये मनुष्य नियम करे कि 'मैं अच्छे शब्दों का ही प्रयोग करूंगा, अच्छे ग्रंथ ही पढूंगा और अच्छे शब्द ही सुनूंगा; रसना की स्वाधीनता के लिये स्वाद में न फसूंगा और अ-स्वाद व्रत का पालन करूंगा। स्वास्थ्य के लिये जिस अन्न की आवश्यकता है, वैसा ही अन्न लूंगा और स्वाद बढाने का यत्न न करूंगा। स्पर्श के विषयमें तथा रूपा-

दिके विषयमें इसी प्रकार अन्यान्य प्रलोभनों के विषयमें भी मैं यत्न पूर्वक संयम का मार्ग स्वीकारूंगा।' इस रीतिसे प्रयत्न करनेपर मनुष्य मोहके आवरण को तोड सकता है, कीचड को धो सकता है और आवरक अन्धकारको दूर कर सकता है। इस रीतिसे व्यवहार करनेपर मनुष्य अपनी बुद्धिके मोह रूप आवरण को (बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति) हटा सकता है और अपनी बुद्धिको स्वच्छ, पवित्र और मलहीन कर सकता है।

इसी यत्न में मनुष्य की बुद्धि जैसी जैसी शुद्ध होती जाती है वैसा वैसा वह मनुष्य भोगोंसे विरक्त होता जाता है, (निर्वेदं गन्तासि) भोगोंके विषयमें उदासीन होनेके विना मनुष्य कदापि ब्रह्मचर्यादिका पालनही नहीं कर सकता। अतः बुद्धि का मल धोना और विषयभोगोंके संबंधमें उदासीनता धारण करना ये दोनों कार्य साथ साथ होते जाते हैं। ये एक दूसरेपर अवलंबित हैं। जितनी भोगविषयमें विरक्ति होगी उतनाही (मोहकलिल) मोह का कीचड धोया जायगा।

इस प्रकार इन दो बातों में प्रगति होनेपर (निश्चला बुद्धिः) बुद्धिकी चंचलता दूर होती जायगी। भोगी लोगोंकी बुद्धि ही चञ्चल होती है, क्योंकि एकही भोग अनंत कालतक भोगा नहीं जाता, थोडे समय के पश्चात् उसकी घृणा आजाती है और दूसरे भोगमें रुची उत्पन्न होती है,इस कारण भोगी लोग चंचल वृत्तिवाले होते हैं। इसी अध्याय में पूर्व स्थल में कहा है कि—

बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
भ० गी० २।४१

"अव्यवसायी अर्थात् भोगी लोगोंकी बुद्धियां अनन्त और उनको भी अनन्त शाखाएं होती हैं।" इसकारण उनका चित्त समाधी के लिये योग्य नहीं होता है। (इस प्रसंगमें भ० गी० अ० २ श्लो० ४०-४४ तक टिप्पणीसहित देखने योग्य हैं, पाठक उनको यहां अवश्य देखें।) तात्पर्य यह है कि, भोगी लोगों की चित्तवृत्ती चञ्चल होती है अर्थात् भोगसे निवृत्त हुए विरक्त लोगों की चित्तवृत्ति (बुद्धिः निश्चला)शान्त होती जाती है। पूर्वोक्त प्रकार विरक्त हुआ मनुष्य अपनी चित्तवृत्ति शान्त होरही है, इस बात का अनुभव करता है।

चित्तवृत्तिकी शान्ति जब बहुत देरकत स्थिर रहने लगती है अथवा जब वह अपना स्वभाव बनता है, तब इसकी बुद्धि (समाधौ अचला स्थास्यति) समत्व भावमें स्थिर रहती है,यहां ये दो श्लोक साथ साथ देखने योग्य हैं—

अयोगवृत्ती	योगबुद्धि
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (भ० गी० २।४४)	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।...तदा गन्तासि निर्वेदं ...। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (भ० गी० २।५२,५३)
भोगी लोगोंकी बुद्धि समाधिके लिये योग्य नहीं होती।	जब बुद्धि भोगमोहसे दूर होगी, तब विरक्ति होगी और तत्पश्चात् समाधि में बुद्धि स्थिर होकर योग के लिये योग्य होगी।

इन दो श्लोकोंमें परस्पर विरुद्ध बुद्धियोंका वर्णन है। 'भोगोंमें आसक्त हुए मनुष्यों की चञ्चल बुद्धि समाधिमें स्थिर नहीं रहती' और 'भोगसे विरक्त मनुष्यों की बुद्धि निश्चल होकर समाधिमें स्थिर रहती है और समत्वरूप योगमार्ग का आक्रमण करती है।' इन दो श्लोकोंका साथ साथ मनन करने से बडा बोध प्राप्त हो सकता है।

इस रीतिसे साधारण मोहके कीचड में फंसा हुआ मनुष्य क्रमशः उन्नत होता हुआ, अपना चित्त स्थिर करके योगसाधनसे परम उन्नति को

(२०) स्थितप्रज्ञके लक्षण ।

अर्जुन उवाच— स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वयः– अर्जुन उवाच हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ? स्थितधीः किं प्रभाषेत ? किं आसीत ? किं वज्रेत ? ॥५४॥

अर्जुनने पूछा– समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? स्थितप्रज्ञ किस तरह बोले, कैसे बैठे और कैसे चले ? ॥ ५४ ॥

प्राप्त कर सकता है । इन श्लोकोंमें जो उन्नतिका क्रम बताया है वह हरएक साधकको बडा बोध-प्रद हो सकता है, अतः पाठक इन श्लोकोंका उत्तम प्रकार मनन करें ।

यहां 'श्रुति-विप्रतिपन्ना बुद्धि' ये शब्द संदेह उत्पन्न करनेवाले हैं । 'श्रुति' शब्द का अर्थ 'श्रवण से प्राप्त ज्ञान' यह एक होता है और 'वेद' यह इसका दूसरा अर्थ है । कई लोग यहां के श्रुति शब्दसे वेद अर्थ लेकर इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं कि— 'वेद ज्ञानसे बिगडी या चञ्चल हुई मति जिस समय चञ्चलता छोड देगी, तब वह समाधी के लिये योग्य होगी ।' यह अर्थ इस श्लोक का नहीं है और यहां 'श्रुति' शब्दसे वेद अर्थ अभीष्ट नहीं है । इस के पूर्वके श्लोकमें 'श्रुत, श्रोतव्य' ये दो शब्द जिस अर्थ मे पडे हैं, उसी अर्थका 'श्रुति' शब्द यहां है, ये तीनों शब्द 'श्रुत, श्रुति और श्रोतव्य' एकही धातुसे बने हैं और उनका यहां अर्थ 'भोगोंके वर्णनोंका श्रवण' इतनाही है । विविध मतवाले लोग अपने अपने मतमें आनेसे उनको फलाने भोग मिलेंगे, ऐसा श्रवणमधुर भाषण करते हैं, यह भाषण श्रवण करनेसे त्याग का योगमार्ग आचरणमें लानेकी प्रवृत्ति हट जाती है और उन भोगोंको प्राप्त करनेमें रुची बढती है । ऐसे बेढंगे उपदेश श्रवण करनेसे बिगडी बुद्धि जब विरक्ति से शान्त होगी, तब वह समाधिके लिये तथा समत्वरूप योग साधन के लिये योग्य होगी । यह आशय यहां है । यहां वेदकी निन्दा नहीं है क्योंकि (त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः । यजु० ४०।१) 'त्यागसे भोग कर मत ललचाओ ।' यही वेद का उपदेश विस्तार से यहां कहा है, जो इस कर्मयोग का मूल सूत्र है । अतः श्रुति शब्द का अर्थ यहां 'सामान्य उपदेशोंका श्रवण' लेना योग्य है ।

अर्जुन का मन सञ्जयादि शत्रुके उपदेशकों के उपदेश श्रवण करनेसे चञ्चल हुआ था, वह उस कारण अपना स्वाभाविक कर्म छोडनेको और विपरीत मार्ग पर चलने को तैयार हुआ था, अतः यहां भगवान् कहते हैं कि, ऐसे "विपरीत उपदेशकों के व्याख्यान सुननेसे तुम्हारा मन चञ्चल हुआ है, जब उसकी वह चञ्चलता दूर होगी. तब इस समत्वरूप योग का आचरण करने के लिये वह स्थिर होगा ।"

इतना उपदेश भगवान् के मुखारविन्दसे सुननेके पश्चात् अर्जुन जानना चाहता है कि स्थिरबुद्धि होनेसे क्या लाभ होता है, वैसा मनुष्य क्या करता है, उसका चालचलन कैसा होता है, इत्यादि । देखिये अर्जुन के प्रश्न—

(५४) श्रीमद्भगवद्गीताका आदर्श मनुष्य 'स्थितप्रज्ञ' शब्दसे बताया है । मनुष्योंके दो भेद होते हैं, एक 'स्थितप्रज्ञ' और दूसरे 'चञ्चलप्रज्ञ'। जिनकी प्रज्ञा चञ्चल होती हैं वे हीन अवस्थाको

प्राप्त होते हैं और जिनकी प्रज्ञा स्थिर होती है वे उच्च अवस्था में विराजते हैं। चञ्चलप्रज्ञ मनुष्य सब जगत् में भरे हैं, स्थितप्रज्ञ ही विरला हैं। उन्नति चाहनेवाले हरएक मनुष्य को बुद्धि की चञ्चलता छोडना और स्थिरता प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ बना मनुष्य एक तो समाधिमें रहता है अथवा जाग्रति में व्यवहार करता है। जाग्रतिके व्यवहार में भी उसकी पुनः तीन अवस्थाएं होतीहैं, एक बोलना अथवा विचार प्रकट करना, दूसरी किसी अवस्थामें स्थिर रहना और तीसरी व्यवहार करना। इन चारों अवस्थाओंके प्रश्न अर्जुनने यहां पूछे हैं।

[१] (समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?) समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं? अर्थात् जिस समय यह स्थितप्रज्ञ समाधिमें ब्राह्मी स्थिति का अनुभव लेता रहता है, उस समय यह कैसे होता है, उस समय इसके क्या लक्षण होते हैं, उस अवस्थामें यह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, किन लक्षणोंको देखनेसे यह स्थितप्रज्ञ ज्ञानी समाधिमें है, ऐसा जाना जा सकता है? 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इस स्थान में 'भाषा' शब्दका अर्थ 'भाष्य' अथवा 'व्याख्या' है। यहां लक्षण अर्थमें 'भाषा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भाषा शब्दका अर्थ 'भाषण, वक्तृत्व' ऐसा होता है, परंतु वह यहां अभीष्ट नहीं है। अर्थात् यहां प्रथमावस्थाके लक्षण पूछे हैं।

जब समाधि अवस्था छोडकर जाग्रतिमें आना होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कैसा आचरण करता है? जाग्रतिमें सभी मनुष्य समान दिखाई देते हैं, सभी बोलते हैं, सभी बैठते हैं और सभी व्यवहार चलाते हैं। इन संपूर्ण मनुष्यों में इस जाग्रतावस्था में कार्य करनेवाले सब मनुष्योंमें जो स्थितप्रज्ञ मनुष्य है, वह कैसे व्यवहार करता है? [२] (स्थितधीः किं प्रभाषेत?) स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, किस प्रकारके शब्द उच्चारता है, किस प्रकार के विचार प्रकट करता है? समाधि अवस्थासे जाग्रतिमें आया मनुष्य किन भावों को प्रकट करता है? क्या वह सामान्य मनुष्यों के समानही बोलता है अथवा कुछ विशेषता उसमें रहती है? समाधिका अनुभव करनेवाले और न करनेवाले के भाषणोंमें कौनसा भेद है? हम भाषणसे कैसे पहचानें कि यह समाधिसुख लेनेवाला मनुष्य है और यह मनुष्य समाधि तक नहीं पहुंचा है?

जब जाग्रतिमें रहा हुआ मनुष्य समाधिमें जाना चाहे, तब [३] (किं आसीत?) कैसे बैठे? कैसे आसन लगावे? किस अवस्थामें स्थिर रहे? किस स्थितिमें स्थिर रहनेसे जाग्रतिकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य समाधि अवस्थामें आ सकता है? हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य समाधिकी तैयारी कर रहा है?

[४] (व्रजेत किं?) वह मनुष्य अपना चालचलन कैसा रखता है? स्थितप्रज्ञ मनुष्य जब जाग्रतिमें रहता है तब वह कैसे व्यवहार चलाता है? किस प्रकारके व्यवहार देखनेसे हम जानें कि यह मनुष्य स्थितप्रज्ञ है?

स्थितप्रज्ञ मनुष्य अन्य मनुष्योंके लिये आदर्श होता है। अन्य चञ्चलप्रज्ञ सामान्य मनुष्य यदि उन्नत होना चाहें, तो इस स्थितप्रज्ञ मनुष्य का आचरण देखें और वैसा अपना आचरण करें, वह कैसा आसनादिका अनुष्ठान करता है यह देखकर स्वयं वैसा करें, वह किस प्रकारके भाव अपने भाषणोंसे व्यक्त करता है यह देख कर वैसे भाव स्वयं बोले, अपनी वाणी वैसी बनावे। इस रीतिसे यह आदर्श मनुष्य दूसरों का मार्गदर्शक होता है। अतः अर्जुन पूछ रहा है कि, इस प्रकारके स्थितप्रज्ञके लक्षण क्या हैं?

स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धि ये दोनों शब्द एकही भाव बताते हैं। चञ्चल प्रज्ञावाला मनुष्य किसी कार्य के करनेमें समर्थ नहीं होता। परंतु स्थिर मनवाला मनुष्य महानसे महान कार्य

श्रीभगवानुवाच– प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वयः– हे पार्थ ! यदा (नरः) मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति, आत्मनि एव आत्मना तुष्टः (भवति) तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ॥५५॥ दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः, वीतराग-भय-क्रोधः, मुनिः स्थितधीः उच्यते ॥५६॥ यः सर्वत्र अनभिस्नेहः,तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य, न अभिनन्दति,न द्वेष्टि,तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥ कूर्मः अङ्गानि इव, यदा च अयं इंद्रियार्थेभ्यः इंद्रियाणि सर्वशः संहरते, (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

हे अर्जुन ! जब मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंका त्याग करता है, और अपने आत्मामें आत्मा द्वारा हि सन्तुष्ट रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५५॥ दुःखोंमें जिसका मन उदास नहीं होता और सुखोंमें जिसकी आसक्ति नहीं होती, प्रीति भय और क्रोधसे जो रहित होता है, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं ॥५६॥ जो पुरुष सर्वत्र आसक्ति-रहित होकर, शुभ तथा अशुभ को प्राप्त करनेपर न आनंदित होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई होती है ॥५७॥ जिस प्रकार कछुआ अपने सब अवयव समेट लेता है, उसी तरह जब यह पुरुष इंद्रियों के विषयोंसे अपने सब इंद्रियों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई होती है ॥५८॥

भावार्थ— जो मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न सब कामनाओंको छोडता है और अपने आत्माके निज आनन्दसे हि आनंदित होता है; जो दुःखोंसे उदास नहीं होता और सुखोंमें आसक्त नहीं होता, जो किसीपर आसक्त नहीं होता, किसीसे डरता नहीं और किसपर क्रोधभी नहीं करता; जो असंगवृत्तिसे रहता है और शुभकी प्राप्तिसे आनंदित नहीं होता और अशुभका द्वेषभी नहीं करता, जो अपने सब इंद्रियोंको उनके भोगोंसे हटाता है उसकी बुद्धि स्थिर हुई ऐसा कह सकते हैं ॥ ५५-५८ ॥

योग्य रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ होता है। स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य की इतनी योग्यता होनेसे हि यहां उसके लक्षण पूछे हैं।

अर्जुनके यह चार प्रश्न सुनकर भगवान श्रीकृष्ण विस्तार से उत्तर देते हैं—

(५५-५८) इन श्लोकों में स्थितप्रज्ञके लक्षण कहे हैं। इन में पहिला लक्षण (मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति) मनोगत सब कामनाओंका त्याग

करना है। यहां केवल अशुभ कामनाओंका त्याग करना और शुभ कामनाओंको पुष्ट करना अभीष्ट नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों कामनाओंका त्याग यहां अभीष्ट है। साधकावस्थामें हि शुभ कामनाओंका पोषण करके अशुभ कामनाओंका परित्याग करना होता है। मनको सुशिक्षा देनेके लिये यह अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यासावस्थामें अशुभ कामनाओंका त्याग करनेसे सौंमें पचास अथवा अधिक वासनाओंका त्याग हुआ। इस अभ्यासमें अशुभ वासनाओंके त्याग के मिषसे वासना का त्याग करनेकी शिक्षा मिलती है। इस वासनात्यागकी शिक्षासे हि शुभवासनाओंको भी मनसे हटाने का अभ्यास होता है। मनुष्यका मन शुभाशुभ वासनाओंके कारण जाग्रतिके प्रत्येक क्षणमें व्यग्र होता रहता है, उसकी व्यग्रता दूर करना अभीष्ट है। मनुष्य स्थितप्रज्ञ तब हो सकता है जब उसके मनकी व्यग्रता पूर्णतया हटती है। सामान्य मनुष्यका मन शुभ और अशुभ वृत्तियोंसे सदा व्यग्र रहता है, वह चित्तवृत्तियोंका निरोध करने और मनकी व्यग्रता दूर करनेसे स्थिर होता है। अभ्यासकी प्रथमावस्था में अशुभवृत्तियोंको हटानेसे आधी अस्थिरता दूर होती है, परंतु आगे चलकर पता लगता है कि, शुभवृत्तियोंसेभी मनकी चञ्चलता होती है, उस समय वह शुभवृत्तियोंको हटानेका यत्न करता है। इस यत्नकी सफलता होनेसे मनुष्य निश्चल वृत्तिवाला होता है, इसीका नाम 'स्थित-प्रज्ञ' है। शुभ और अशुभ कामनाओं को हटाने की सूचना देनेके लिये हि इस श्लोकमै (सर्वान् कामान् प्रजहाति) सब कामनाओं को हटानेका उपदेश किया है। सब कामनाओंमें जैसी शुभ वैसीहि अशुभ कामनाएं भी आती हैं। मनकी शान्तिके लिये इन दोनों कामनाओं को हटाना आवश्यक है।

यहां बहुत लोगोंको यह शंका आना संभव है कि, मनुष्यके मनसे शुभ कामनाओंके हटानेसे क्या लाभ होगा? अशुभ कामनाओंके हटानेमें किसीका विरोध होना संभव नहीं है, जो आशंका है वह शुभवृत्तियोंके हटानेके विषयमें है। अतः इस बातका विचार करना यहां आवश्यक है। मुक्ति समाधि और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में ब्रह्मरूपता होती है। हम केवल सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्राकाहि विचार करेंगे, क्योंकि यह गाढ निद्राकी अवस्था सबके अनुभवकी है। यदि गाढ निद्रामें प्राप्त निकृष्ट अवस्थाकी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी है, तो मनके अशुभ विचार जैसे दूर करने चाहियें, वैसेहि शुभ विचार भी दूर करने चाहियें। मन में शुभ विचार जब तक चलते रहेंगे, तब तक निद्रा नहीं आती। निद्राके लिये जैसे अशुभ विचार हानिकारक हैं वैसेहि शुभ विचार। अशुभ विचारों से अन्य प्रकार की हानि होगी, यह बात और है; परंतु दोनों विचार स्तब्ध होने तक निद्रा नहीं आती, यह सत्य है। इससे स्पष्ट बोध होगा कि, निद्रा जैसी तमोगुणी निकृष्ट ब्राह्मी अवस्था का अनुभव लेनेके लिये भी शुभाशुभ वृत्तियोंका त्याग करना आवश्यक है, फिर उससे उच्च समाधि अवस्था और उससे भी सर्वोत्कृष्ट मुक्ति अवस्था जिनको क्रमशः रजोगुणी मध्यम, और सत्वगुणी उत्तम ब्राह्मी स्थिति कह सकते हैं, प्राप्त करनेके लिये शुभाशुभ वासनाओंका त्याग करना चाहिये, इसमें संदेह हि कैसे होसकता है? अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये जैसी अशुभ वासनाओंका त्याग अभीष्ट है, वैसा हि शुभवासनाओंका भी त्याग आवश्यक है।

व्यवहार की दशामें मनका अभ्यास बढानेके लिये अथवा मनको समस्थितिमें रखनेके लिये अशुभ वासनाओंका हि त्याग करनेका प्रारंभ करना योग्य है, परंतु अभ्यास बढनेके पश्चात् एक अवस्था ऐसी आती है कि, जिसमें शुभवासनाएं भी छोडनी पडती हैं। निद्रा के लिये तथा समाधिके लिये जैसी स्वार्थकी वासना बाधक

है, उसी प्रकार परोपकार की इच्छा भी बाधक हि है। चित्तकी एकाग्रता करनेका अभ्यास करनेवालों को यह अनुभव प्रतिक्षण आसकता है। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा है—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः॥
भ० गी० ९।२८
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः
भ० गी० १२।१७
तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं। नाभिनन्दति न द्वेष्टि
भ० गी० २।५७

"बन्धन करनेवाले शुभ और अशुभ फलों से मुक्त होगा। जो शुभ का और अशुभ का त्याग करनेवाला है वह भक्तिमान मुझे प्रिय है। जो शुभ प्राप्तिसे आनंदित नहीं होता और अशुभ प्राप्त होनेपर उसका द्वेष नहीं करता०।" इत्यादि स्थानोंमें शुभ और अशुभ दोनों का त्याग आवश्यक है यह बात स्पष्ट कही है। यहां स्पष्ट हुआ है कि जैसा अशुभ बंधनकारक है, वैसाहि शुभ कर्म भी बंधन कारक है, परंतु अशुभ अवनति करनेवाला होनेके कारण प्रारंभसे छोडना चाहिये और शुभ उन्नतिमें सहायक होनेके कारण कुछ अवस्थाके बाद छोडना योग्य है, इतनाहि इसमें विवेक है।

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसीका मकान जलने लगा है और घरके मनुष्य अन्दर हैं, यदि वे शीघ्र बाहर न आंयगे, तो अन्दरहि अन्दर जल मरेंगे। यदि ऐसी अवस्थामें घरके लोग घरमें स्थित अशुभ पदार्थों को संभालनेमें अपना समय खर्च करेंगे तो जैसे वे जल जांयगे, उसी प्रकार शुभ पदार्थोंके लोभमें फंसेंगे तो भी जल मरेंगे। अतः यदि उनको अपना बचाव करना अभीष्ट है तो अपने दोनों शुभाशुभ पदार्थों का मोह दूर करना चाहिये। यही बात संसारके सामाजिक और राजकीय बंधन दूर करनेके विषयमें सत्य है। अस्तु। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि शुभाशुभ कामनाओंका परित्याग करनेसेहि मनुष्य श्रेष्ठ बन सकता है।

यहां (मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति) सब मनोगत कामनाओं का त्याग अभीष्ट है प्रारंभमें त्याग इच्छापूर्वक होता है। प्रयत्नसे त्याग करते करते आगे मनका वैसा त्यागमय स्वभाव बनता है। जब मनुष्यका यह स्वभाव बनता है तब उसकी स्थितप्रज्ञता स्वभावसेहि सिद्ध होती है।

मनोगत कामनाएं अपने अन्दरकी न्यूनता दूर करनेके लिये उत्पन्न होती हैं। प्यास लगनेपर जलकी कामना, भूख लगनेपर अन्नकी कामना, सहवासके लिये स्त्रीकी कामना इस प्रकार अनंत कामनाएं होती हैं। प्रतिक्षण इस प्रकार न्यूनता की पूर्ति की जाती है। परंतु शरीरकी न्यूनताएं कभी दूर होनेवाली नहीं हैं, अतः शारीरिक न्यूनताओंकी पूर्ति करनेका यत्न कभी सिद्ध नहीं होगा। यह सिद्ध न होनेवाली बात है। शरीरकी एक एक कामना पूर्ण करनेके कारण मनुष्य को अपने आत्माका विचार करनेके लिये फुरसतहि नहीं रहती। और मनुष्यको अपने आत्माकी उन्नतीका विचार करनाहि मुख्य कार्य है। शरीर तो एक साधनमात्र है। परंतु आश्चर्य की बात यह है कि, मनुष्य इस शरीररूपी साधनकी परिचर्या में सब समय गमाते हैं और जिस आत्माको प्रकाशित करनेके लिये यह शरीर मिला है उस आत्माका विचार तक कोई नहीं करता। अतः कहा है कि जब मनुष्य शुभाशुभ कामनाओं का त्याग करेगा, तभी उसको अपने आत्मामें स्थित आनंद स्वयं प्राप्त होगा।

आत्माकी शक्ति अनंत है, उसकी थोडीसी शक्ति इस शरीरमें आगई है और वह अनेक इंद्रियोंमें विभक्त होगई है। यदि मनुष्य इंद्रियतुष्टीमें लगेगा, तो उसको थोडीसी शक्ति का अनुभव आवेगा; परंतु यदि वह आत्माके असीम स्रोतमें गोता लगावेगा, तब उसको अपार शान्ति

मिलेगी, क्यों कि आत्मा की शक्ति अपार है। इस लाभ की दृष्टिसेभी मनोगत कामनाओंके फंदे में फंसना मनुष्यको उचित नहीं है, परंतु अकाम बनकर आत्माकी शक्ति प्राप्त करना योग्य है। आत्मा 'अकाम' है इसलिये अकाम बनकर हि उसकी प्राप्ति हो सकती है। देखिये-

> अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
> अथर्ववेद १०।८।४४

"आत्मा (अकामः) कामनारहित, (धीरः) धैर्यवान् किंवा (धी-रः) बुद्धिप्रदाता, अमर, स्वयंसिद्ध, रससे तृप्त, कहां भी न्यून नहीं, (अ-जर) जरारहित, तरुण जैसा है, उसीको जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य मृत्युसे डरता नहीं।" यहां आत्माको 'अ-काम' कहा है, यह कामनारहित होने से कामनाओं को छोडनेवाले हि इसको प्राप्त कर सकते हैं। कामनाओंको छोडने वाले 'अकाम' बनते हैं, अतः 'अकाम' के साथ उनका मेल होना सुगम होता है। 'अकाम' की प्राप्ति 'सकाम' को कैसी हो सकती है? अतः कहा है—

> उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥ मुण्डक उ० ३।२।१
> तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम्॥ बृ० उ० ४।३।२१
> योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति॥ बृ० ४।४।६
> यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ बृ० ४।४।७

"जो कामना छोडनेवाले धीर मनुष्य परमपुरुषकी उपासना करते हैं वे विशेष वीर्य लाभ करते हैं॥ वही इसका रूप है जो कामनातृप्त, आत्माकी कामना वाला अथवा कामनारहित है वही शोकरहित है॥ जो कामनारहित है वही आप्तकाम, आत्मकाम, निष्काम अथवा अकाम कहा जाता है। उसके प्राण नहीं जाते, वह ब्रह्म बनकर ब्रह्ममें हि रहता है॥ जब हृदय की सब कामनाएं दूर होती हैं, तब यह मरण धर्मवाला अमर बनता है और वहांहि ब्रह्म प्राप्त करता है।।"

यहां इन उपनिषद्वाक्यों में अकाम होनेका महत्व वर्णन किया है। यहां 'अकाम' का अर्थ 'निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम' कहा है, यह अर्थ ध्यानमें धरने योग्य है। जिसकी सब कामनाएं शान्त होगई हैं, कोई कामना शेष रही नहीं, जिसकी केवल आत्माका अनुभव करनेकी हि कामना रही है, उसको अकाम या निष्काम कहते हैं। उक्त बृहदारण्यक वचनमें तो स्पष्ट कहा है कि हृदयकी सब कामनाएं नष्ट होतेहि मर्त्य अमर बनता है। मनुष्य तबतकहि मर्त्य कहलाता है कि जब तक उसमें कामनाएं भरीं रहती हैं। कामनाओंके मनमें रहनेसे मृत्युका भय होता है। कामनाएं मनसे दूर हुईं तो मृत्युका भय दूर हुआ। परमात्मा अकाम होनेसे मृत्युभयसे दूर है, जीवात्मा सकाम होनेसे वारंवार मृत्युके भयसे भयभीत होता है। अतः मनोगत संपूर्ण कामनाओंको दूर करनेसेहि मृत्युका भय दूर होता है यह बात सिद्ध हुई। अमर बननेके इच्छुक इसका विशेष विचार करें।

इसी को (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) अपने अंदर अपने आत्मासे संतुष्ट हुआ कहते हैं। अकाम या निष्काम बना मनुष्य (आत्मना तुष्टः) आत्मासे सन्तुष्ट होता है, और सकाम या भोगी मनुष्य जगत् के भोग भोगनेमें सदा अतृप्त रहता है। अकाम और सकाम की कल्पना निम्नलिखित कोष्टक से सुबोधतया हो सकती है—

अकाम	सकाम
निष्काम	वर्धमानकाम

आप्तकाम	कामोपभोगपरम
आत्मकाम	विषयभोगकाम
आत्मतुष्ट	असन्तुष्ट
अमर	मर्त्य
धीर	भीरु, धैर्यहीन
शोकरहित	शोकयुक्त
दुःखमें शान्त	दुःखमें उदास
सुखमें निस्पृह	सुखमें लुब्ध
भयक्रोधरहित	भयभीत और क्रोधी
विरक्त	भोगलुब्ध

अकाम और सकाम मनुष्य ऐसा होता है। पाठक इसका विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि, अकाम होनेमें कौनसा सुख है और सकाम होनेमें कौनसा दुःख है। सब जानते हैं कि, वासनाक्षय से सुख होता है; जैसा प्यास लगी तो जल प्राप्ति की वासना उठती है, इस वासना का क्षय जल प्राप्त होनेसे होता है, अतः जल प्राप्तिसे सुख होता है। जब तक जल प्राप्ति की वासना का क्षय न होगा तब तक सुख भी नहीं होगा। जितना जिस वासना का क्षय होता. है उतनाही सुख होता है। इसी प्रकार अन्य वासनाओंके क्षयके विषयमें समझना चाहिये। वासना बनीरही तो सुख नहीं होता। वासनाका क्षय होनेकाही नाम 'आप्त-काम' है। जिसकी कामना तृप्त हुई है वह आप्तकाम कहलाता है। वही सुखी है। इसीको अकाम, निष्काम अथवा आत्मकाम कहते हैं।

जब बाह्य जगत् के किसी पदार्थ की कामना नहीं होती, तब वह आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है। जैसा छोटा, नीरोग और हृष्टपुष्ट बालक माताका दूध पीनेके पश्चात् अपनेहि आनन्दमें मस्त रहता है, उस समय उसको किसी बाह्यपदार्थसे आनन्द प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इस समय उसकी एकही आवश्यकता होती है, वह भूख लगनेपर माताके दूध की है। उतनी कामना पूर्ण होते हि वह अकाम बनता है और अपने आत्मा के निजानन्दसे उल्हसित होता है। यह स्वाभाविक ब्राह्मी स्थिति दो तीन वर्षतक अधिकसे अधिक रहती है, पश्चात् जैसी जैसी मनोगत कामनाएं बढती हैं, उसी प्रमाणसे यह स्वर्गीय उद्यानका विहार करनेवाला देवदूत दुःखमय मर्त्यलोक में गिरता है।

कामना उत्पन्न होतेहि जीव परमात्मासे दूर होकर जगत्के विषयोंमें फंसता है और कामना तृप्त होते हि फिर परमात्मामें वापस जाकर विराजता है और वहां वापस आनेसे हि सुखी होता है। अर्थात् जगत् की ओर आकर्षित होनेसे दुःखी और आत्मामें वापस आनेसे सुखी होता है। सुखदुःखका सारांशसे यह स्वरूप है। यहां पाठक अनुभव करें कि अकाम होनेका संबंध आत्मप्राप्तिसे और सुखी होनेसे कितना घनिष्ठ है। अतः इस श्लोकमें कहा है कि सब मनोगत कामोंको हटानेसे वह (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें हि निज शक्तिसे संतुष्ट होता है। यही स्थिप्रज्ञ है।

(आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें आत्मासे हि सन्तुष्ट होना श्रेष्ठ अवस्था है। परंतु यहां प्रश्न हो सकता है कि आत्मामें ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिससे निष्काम मनुष्य केवल आत्मासेहि सन्तुष्ट हो सकता है? इस का विचार करनेके लिये निम्नलिखित वचन देखिये-

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः
आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः
सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यानादरः॥२
...एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो
लोकेभ्यः॥ ३॥ ...एतद् ब्रह्म॥ ४॥

छांदोग्य उ० ३। १४

"मन रूप, प्राणरूप शरीरवाला, प्रकाश स्वरूप, जिसके संकल्प सत्य होते हैं, ऐसा यह आकाशवत् आत्मा है। यह कर्म शक्ति से और कामनासे युक्त, सर्वगन्ध

युक्त, तथा सब रसोंसे परिपूर्ण है। यह आत्मा मेरे हृदयके अन्दर है, यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक से भी बडा है, सब लोकों से बडा है, यह यह ब्रह्म है।" अर्थात् इस आत्माकी शक्ति बडी है, सब शक्तियां पूर्णतासे इसमें निवास करती हैं, जो जगत् में सत्त्व है वह सब इसमें है; जो इस में है उसका अल्प अंशहि जगत् में है, इतनी इस की महती शक्ति है, और देखिये—

आत्मनः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर
आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप
आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्न-
मात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-
मात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन
आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा
आत्मतः कर्माण्यात्मत एव इदं सर्वम् ॥
छां० उ० ७।२६।१

" आत्मासे प्राण आशा, स्मर, आकाश, तेज जल, अन्न, बल, ज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म तथा यह सब जगत् उत्पन्न होता है। जगत् का प्रकट होना और पुनः लय होना आत्मासेहि होते हैं।" यह आत्मा जो संकल्प करता है वह उसका संकल्प सत्य होता है। इतनी शक्ति इसमें है। इसी लिये आत्माकी प्राप्ति करनेका उपदेश सब शास्त्रकारोंने किया है। आत्मा की प्राप्तिका अर्थ सबसे बडी शक्ति की प्राप्तिहि है। जगत् के विषयोंमें आत्मा की अपेक्षा अत्यंत अल्पशक्ति है, जगत् में अल्पता का अनुभव क्षण क्षणमें है और आत्मामें (भूमा) विपुलता का अनुभव है। कौन ज्ञानी मनुष्य अल्प शक्ति में संतुष्ट होगा? वह तो विशाल शक्तिहि प्राप्त करने की इच्छा करेगा। सब शक्ति आत्मामें होनेसे हि आत्माकी प्राप्ति अन्तिम ध्येय कहा गया है। आत्मामें अपनी विशाल शक्ति के अनुभव से हि संतुष्टि होती है। आत्मामें सभी आनन्द इसको इच्छामात्रसे प्राप्त होते हैं। अतः यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था है। (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें हि आत्मासे तृप्त होता है, क्यों कि इस समय सुख के लिये इसको बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं होती। इसी के अन्दर इसको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण वह सदा तृप्त रहता है और तृप्त रहनेके कारण कोई कामना इसको हिला नहीं सकती, इस लिये इस की प्रज्ञा स्थिर रहती है। अर्थात् स्थितप्रज्ञ विशेष शक्ति से संपन्न होता है।

साधारण लोग 'संपूर्ण मनोगत कामनाओंके छोड देने का अर्थ 'कुछभी कार्य न करना' करते हैं; वे समझते हैं कि मन में कामना रहनेसे हि मनुष्यसे कुछ न कुछ कार्य होता है, और कामना न रहनेसे कुछ कर्म नहीं होता है। साधारण दृष्टि से देखा जाय तो यह विचारसरणी ठीक प्रतीत होती है, परंतु विशेष विचार करनेपर इसमें सत्यता नहीं है यह बात स्पष्ट होगी। श्रीकृष्ण भगवान् जो कि इस उपदेश के वक्ता हैं, वे अपने विषयमें कहते हैं कि—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
भ० गी० ३।२२

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
भ० गी० ३।२५

'हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकोंमें कुछभी करनेका नहीं है। जो प्राप्त करनेयोग्य है, जो नहीं मिला हो, सो भी नहीं, पर फिरभी मैं कर्म में लगाही रहता हूं॥ २२॥ जिस तरह अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं उसी तरह ज्ञानी लोगों को आसक्तिरहित होकर-निष्काम भावसे-लोककल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिये॥ २५॥'

यहां ज्ञानी स्थितप्रज्ञको भी निष्काम भावसे परोपकारके कार्यमें लगना चाहिये, ऐसा स्पष्ट कहा है। सकाम मनुष्य स्वार्थसे अपने हि हितके कर्म करता है, और निष्काम मनुष्य संपूर्ण

जनताकी भलाईकी दृष्टिसे जनताके हितके कार्य में दत्तचित्त होकर कार्य करता है। सकाम मनुष्य का कार्यक्षेत्र संकुचित और निष्काम मनुष्य का अति विस्तृत कार्यक्षेत्र होता है। इसी लिये उसको ब्रह्म प्राप्त करके विशेष विशाल शक्ति प्राप्त करनी होती है। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् योगी, आप्तकाम, स्थितप्रज्ञ और पूर्ण पुरुष होनेपर भी उस समय के राजकीय और धार्मिक कार्यक्षेत्रमें उतर कर सबसे अधिक कार्य करते रहे, यह बात इतिहासमें प्रसिद्ध है। जनकादि राजाओंका भी उदाहरण उसी प्रकारका है। वामन, नारद, याज्ञवल्क्य आदिकोंके उदाहरणभी इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। इसका विचार करनेपर पाठकों का निश्चय होगा कि निष्काम, अकाम, आत्मकाम, स्थितप्रज्ञ, आत्मतुष्ट होनेपर उसका कार्यक्षेत्र अतिविस्तृत होता है। उसके पास बडी विस्तृत शक्ति जीवित और जाग्रत होती है, उस कारण उसके शब्दसे जनता शीघ्र आकर्षित होती है, और वह ऐसे महान् कार्य कर छोडता है, जैसे साधारण मनुष्यसे कदापि नहीं बन सकते। इस विषयमें गीताके निम्नलिखित श्लोक अवश्य देखने चाहिये—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९॥
भ० गी० ३

"जो मनुष्य आत्मामें रममाण होता है, और जो आत्मामें हि तृप्त होता है और आत्मासे हि सन्तुष्ट होता है, उसे कोई भी (निज) कर्तव्य नहीं होता। कर्म करने और न करनेमें उसका जरा भी स्वार्थ नहीं होता। और भूतमात्रसे उस का कोई (निजी) स्वार्थ साध्य करना नहीं रहता। इस हेतुसे तू आसक्ति छोडकर निरंतर कर्तव्य कर्म करता रह। आसक्ति छोडकर कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है॥"

आत्मतृप्त, निष्काम मनुष्यको निजी स्वार्थ कुछभी नहीं रहता, कर्म करने और न करनेमें उस का जरा भी स्वार्थ नहीं होता, यही हेतु है कि वह निष्काम भावसे लोकसंग्रहके—अर्थात् जनताके हितके कार्य करता रहे। ऐसे कार्य करनेका अधिकारी यही होता है। यहां भ० गीतानेहि निष्काम मनुष्यको परोपकारके कर्म सतत करनेकी आज्ञा दी है, अतः इस विषय में अब किसीको संदेह नहीं रह सकता।

सकाम और निष्काम मनुष्यों के कर्मोंमें भेद यह है, सकाम मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थसे अल्प क्षेत्रमें कार्य करता है; और अकाम मनुष्य संपूर्ण मानवी समाजके हित के लिये अति विस्तृत क्षेत्र में कार्य करता है। सकाम मनुष्य स्वार्थी है और निष्काम मनुष्य परमार्थी है। अतः कामना छोडने वाला पत्थर जैसा कर्महीन होता है, ऐसा मानना अयुक्त है। कामना छोडने का अर्थ विस्तृत कार्यक्षेत्रमें प्रवेश करनेकी तैयारी करना है।

स्थितप्रज्ञका तृतीय लक्षण (दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः) दुःखोंमें उदास न होना, (सुखेषु विगतस्पृहः) सुखोंमें लुब्ध न होना, (वीत-राग-भय-क्रोधः) आसक्ति, भय और क्रोध छोडना और (मुनिः) मौन धारण करना है। प्रायः सामान्य मनुष्य दुःखसे भागते हैं, डरते हैं और वारंवार दुःख होनेपर उद्विग्न होते हैं, यह उनकी निर्बलता का लक्षण है। इसी प्रकार मनुष्यमें दूसरी निर्बलता यह रहती है कि, वह सुख प्राप्त होनेपर गर्व करता है, उन्मत्त होता है, घमंडी बनता है धर्माधर्मकी पर्वाह नहीं करता और सुखमें हि लुब्ध होकर कर्तव्यभ्रष्ट होता है। सामान्य मनुष्यमें ये दोनों निर्बलताएं रहती हैं। जिस प्रकार वायुके प्रवाहसे कपास जिधर उधर अवश होकर चलता है, अपने स्थानमें स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार सामान्य निर्बल मनुष्य दुःखकी हवासे

कंपित होकर उदासीनताके कीचडमें गिर जाता है अथवा सुखकी लहरसे मोहित होकर रागके वशमें होता है। अर्थात् इसके पांवके तले कोई अपना स्थान नहीं रहता!! दुःखसे भयकी भूमिकामें जाकर भयभीत होना अथवा सुखसे रागकी भूमिकामें जाकर वहां आसक्त होना, यही इसकी निर्बलताके कारण इसके भाग्यमें होता है। इसकी पराधीनता यहांहि समाप्त नहीं होती, आगे जाकर यदि वारंवार दुःख आने लगे, तो दुःख देनेवालोंपर यह क्रोधित होता है और सुख न मिले अथवा कम प्राप्त होने लगे, तो भी इसको क्रोध चढता है। इसप्रकार यह दोनों अवस्थाओं में क्रोधके वशमें होता है। यह सब इसकी निर्बलताके कारण होता है। निर्बलता ही अवनति-कारक है। मनुष्य निर्बलता के लिये उत्पन्न नहीं हुआ। मनुष्य तो अपना आत्मिक बल विकसित करनेके लिये हि इस जगत् में प्रकट हुआ है। इस लिये यदि मनुष्य ने इस जन्म में आत्मिक बल प्राप्त करके सुखदुःख की लहरियों से कंपायमान न होनेकी शक्ति अपने अंदर स्थिर न की, तो इसके जन्म लेनेसे क्या बना? जन्म व्यर्थ गया! जन्म की सार्थकता होने के लिये इस को उचित है कि, यह दुःखसे उदासीन न हो और सुखमें लुब्ध भी न बने। इसी प्रकार निर्भय बने, क्रोध और लोभ किंवा आसक्ति छोडे। यह तो केवल आत्मिक बलसेहि साध्य हो सकता है।

जगत् में तो इंद्रियविषयों की अनेक लहरें हैं, कल्पना की लहरें भी प्रबल हैं, भोग लालसा भरीपडी है। यहां तो लोभ, मोह और क्रोध पद-पद पर इसे विवश करनेके लिये बैठेहि हैं। इस लिये जब यह इंद्रियोंके विषय भोगोंकी ओर न झुकेगा और (आत्मनि आत्मना तुष्टः) अपने आत्मामें अपनी निजशक्तिसे संतुष्ट होगा, तभी इसको कोई दुःख अपने स्थानसे हिला नहीं सकते और कोई सुख इसको मोहित कर नहीं सकते। इसी से यह राग भय और क्रोध से दूर रहेगा।

पूर्व श्लोक में जो मनोगत कामनाओं को दूर करनेका उपदेश किया है, उसीसे यह सिद्धि मिल सकती है। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति यही तो मनोगत कामना मनुष्यके अन्दर होती है। सुखके विषयमें प्रीति और दुःखका द्वेष मनुष्यके मनमें रहता है। इन दोनोंके विषय में निर्विकार मन होनाहि आत्माकी शक्ति प्रकट होनेका चिन्ह है। कितनेभी बडेसे बडे दुःख आजांय, अथवा कैसेभी सुखके प्रलोभन सन्मुख खडे हों, मनुष्यको अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होना चाहिये, इसी को नाम नर होना है। जो सुखों में नहीं रमता उसी को "नर" (न+रम्) कहते हैं।

मनुष्यमें सुखकी इच्छा न हुई तो इसको दुःख भी नहीं सता सकते। यदि यह सुख के विषयमें निस्पृह बनेगा, तब एक भी दुःख इसको सता नहीं सकेगा। बाहरसे सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा धरनाभी एक बडी भारी कमजोरी है, क्यों कि इसकी आत्मामें हि सब आनन्द का भण्डार है, बाह्यसुख उसके सामने तुच्छ हैं। परंतु सम्राट् भ्रांत होकर भिकारी होनेके समान यह स्वयं आनन्दका मूल स्रोत होनेपर भी बाहरके दुःखसे दुखी होता है और बाह्यसुखसे सुख प्राप्त करने का इच्छुक है। शास्त्रके विचारोंसे यही इसकी भ्रान्ति दूर करनी है और इसके अन्दरकी अद्वितीय आत्मशक्तिको जाग्रत करना है। जिसकी यह अंतःशक्ति जाग्रत होती है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

इस समय यह 'मुनि' अर्थात् मौनावलंबी होता है। यह बोलता नहीं। मौन का अर्थ अपनी शक्तिका व्यय न करना है। मनुष्य जैसा अन्य इन्द्रियोंद्वारा अपनी शक्तिका व्यय करता है वैसा हि वक्तृत्वके द्वारा भी अपनी बहुत शक्ति खर्च करता है। अन्य इन्द्रियोंद्वारा शक्तिका व्यय कर-

नेमें मनुष्य और पशुपक्षीयों की समानता है; वाणीद्वारा अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक व्यय करनेवाला एकहि मानव प्राणी है, अतः मनुष्यको अपनी शक्तिका अपने अंदर संग्रह करनेके लिये मौन धारण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इससे अन्य इन्द्रियोंद्वारा होनेवाला शक्तिका नाश न करनेकी भी सूचना मिलती है। इसी का नाम संयम है। प्रायः देखा जाय तो मनुष्य अपनी वाक्शक्तिका बहुतसा अपव्यय करता है, बुरा उपयोग करता है। इस जगत्में जो झगडे और कलह हो रहे हैं, वे सबके सब इसकी वाणीके दुरुपयोगसे हि होते हैं। यदि यह मनुष्य वाणीका सदुपयोग करेगा अथवा मौन धारण करेगा, तो जगत् के बहुतसे झगडे मिट जांयगे, और लोग अधिक आनंदमें रहेंगे। मनुष्य दिनभर जो शब्द बोलता और जो लेख लिखता है,उसमें शांति फैलानेवाले कितने और अशान्ति पैदा करनेवाले कितने होते हैं, इस का विचार करनेसे मौनावलंबन का महत्त्व ध्यानमें आसकता हे।

मन को स्वाधीन करनेके लिये भी मौन की बडी सहायता होती है। मन को स्थिर करनेमें मौन बहुत ही सहायक होता है। मौन धारण करना बडा कठिन कार्य है, पाठक एक दो दिन मौन धारण करके देखेंगे, तो उनको इसकी कठिनताका पता लग जायगा। वस्तुतः मौन सहज साध्य होनेवाला है, परंतु मनुष्यको बोलनेका अभ्यास इतना अधिक हुआ है कि उसको यह सहज साध्य मौन भी असाध्यसा प्रतीत होता है। स्थितप्रज्ञ होनेके लिये कम बोलना अथवा कुछ मर्यादा तक मौन धारण करना आवश्यक है।

जो स्थितप्रज्ञ होना चाहता है वह (सर्वत्र-अनभिस्नेहः)सब पदार्थोंपर या किसी पर स्नेह, प्रीति या आसक्ति न रखे। यहां 'स्नेह' शब्द का अर्थ 'आसक्ति' लेना चाहिये, जो पूर्वोक्त 'राग' शब्दका अर्थ है वही यहां इसका अर्थ है। पूर्व श्लोक में 'वीतराग' शब्द है, उसी का स्पष्टीकरण 'सर्वत्र— अनभिस्नेह' शब्दसे इस श्लोकमें किया है। इसी प्रकार इस श्लोकमें (शुभं प्राप्य न अभिनन्दति। शुभको प्राप्त करके आनंदित नहीं होता और (अशुभं न द्वेष्टि) अशुभ का द्वेषभी नहीं करता, कहा है। यह सब कथन पूर्व श्लोक की व्याख्याहि है, देखिये—

(श्लोक ५६)	(श्लोक ५७)
वीतरागः।	अनभिस्नेहः।
सुखेषु विगतस्पृहः।	शुभं न अभिनंदति।
दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः	अशुभं न द्वेष्टि।
वीतक्रोधः, वीतभयः	,,

इन वाक्यों का तुलनासे विचार करने से पता लग जायगा कि पूर्व श्लोक का अधिक स्पष्टीकरणहि दूसरे श्लोकमें है और यह सुबोधताके लिये किया गया है। ५५ वे श्लोकमें 'संपूर्ण मनोगत कामनाओंको दूर करने और अपने आत्मामें हि संतुष्ट होने' की बात कही है, यही बात अगले ५७ वे श्लोकमें कछुवेके उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं। कछुवा जैसा अपने अंग अपने अंदर समेट लेता है, उस प्रकार जो मनुष्य अपने इंद्रियों को विषयोंसे समेटता है, अथवा विषयोंसे पीछे हटाता है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। प्रत्येक इंद्रिय अपने अपने विषयमें स्वभावसेहि जाता है, उसकी वह प्रवृत्ति स्वाभाविक है, उसको विषयसे निवृत्त करने और वापस लानेका नाम संयम है और अपने मनोगत कामनाओंको दूर करना भी इसी का नाम है। जो कछुवेके अवयव समेटनेके दृष्टान्तसे भ० गीताके इस श्लोकमें कहा है, वही सात नदियोंके दृष्टांतसे यजुर्वेद में कहा है, वह मंत्र यहां देखिये—

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति
सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
वा० यजु० ३४।५५

"सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें रखे हैं, मानो

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अन्वयः- निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तन्ते। अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

देहधारी मनुष्यके निराहार होनेपर विषय तो निवृत्त होते हैं, परंतु उन विषयोंका रस अर्थात् विषयोंकी लालसा बनी रहती है। यह लालसा परब्रह्म का साक्षात्कार होनेपर हि निवृत्त होती है ॥ ५९ ॥

यह शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम हि है। ये सातों ऋषि इस आश्रम की रक्षा भूल न करते हुए करते हैं। सात नदियां सोनेवालेके स्थानको वापस जाती हैं उस समय उस यज्ञमें दो देव निद्रा न लेते हुए जागते रहते हैं।" नाक, रसना, नेत्र, त्वचा, कर्ण, वाणी और मन ये सात इंद्रियां मानो सात ऋषि हि हैं। शरीर रूपी आश्रममें ये सात ऋषि तपस्या करते हैं। इनको ऋषि, तपस्वी, योगी अथवा मुनि बनाना चाहिये। वस्तुतः ये ऋषि होते हुए व्यसनाधीन असंयमी मनुष्यने इनको राक्षस बनाया है। अतः इनको ऋषि बनानेका यत्न करना आवश्यक है। यदि इनको संयमके पथपर चलाया जायगा, तो ये मार्गदर्शक श्रेष्ठ ऋषि बन सकते हैं। ये सात ऋषि इस शरीररूपी क्षेत्र में शतसांवत्सरिक यज्ञ-सत्र-करते हैं, सौ वर्षोंमें यह सत्र पूर्ण होनेवाला है, परंतु रोगादि विविध राक्षस इस पवित्र यज्ञभूमिका नाश करना चाहते हैं, इसमें अपवित्रता करना चाहते हैं। विघ्नकर्ता राक्षस इसमें कुविचार, दुराचार आदि उत्पन्न करते हैं और सौवर्षके पूर्व हि इस यज्ञका विध्वंस करते हैं। इस यज्ञके रक्षणार्थ दो कुमार निद्रा न लेते हुए तैयार रहते हैं. ये कुमार प्राण और अपान हैं। ये न भोग लेते हैं और न विश्राम करते हैं, केवल इस शरीररूपी यज्ञक्षेत्रकी रक्षा राक्षसोंका नाश करके करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। ये सप्त ऋषि जिस समय सोते हैं, उस समय (स्वपतः) सोनेवाले आत्मासे बाहर बहनेवाली सात नदियां इसके सोनेके समय वापस उसीमें बहती हैं। अर्थात् ये सात नदियां जाग्रतिके समय आत्मासे बाहरकी ओर बहती हैं, इस समय इनका प्रवाह बाहरकी ओर होता है, और सोनेके समय ये हि सात नदियां वापस अन्दरकी ओर बहने लगती हैं। इसका अर्थ यह है कि नेत्रादिक सात इंद्रिय-प्रवाह जाग्रतिके समय बहिर्मुख होते हैं और जब ये प्रवाह अन्तर्मुख होते हैं उसी समय सुषुप्ति, समाधि अथवा मुक्ति होती है।

इस अलंकारमें भी संयमद्वारा इन इंद्रियोंको ऋषि बनानेका उपदेश है। इंद्रियोंका प्रवाह बहिर्मुख न करने और अन्तर्मुख करनेका महत्त्व-पूर्ण उपदेश है। ये सब उपदेश आत्माको और इन्द्रियोंकी शक्तियोंमें अद्भुत बल है यह भाव बताते हैं। स्थितप्रज्ञ बननेके लिये इन सातों को संयमी ऋषि बनाना चाहिये और अन्तर्मुख करना चाहिये। इनके प्रवाहोंको अन्तर्मुख करने का हि अर्थ अपने सब मनोगत कामनाओंको छोडना, वीतराग होना, निष्काम बनना और अपने आत्मामें अपनी आत्मशक्तिसे हि संतुष्ट होना है। पाठक इसका इस दृष्टिसे अधिक विचार करें। अब अधिक स्पष्टशब्दोंसे इन्द्रियसंयम का महत्त्व बताते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! प्रमाथीनि इंद्रियाणि यततः विपश्चितः अपि पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति हि ॥ ६० ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः आसीत्। हि यस्य वशे इंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

हे अर्जुन ! मथनेवाली इंद्रियां प्रयत्न करनेवाले ज्ञानी पुरुषके मनको भी बलात्कारसे खींच लेती हैं ॥ ६० ॥ इन सब इंद्रियोंको वशमें रखकर, योगी योग का अवलंबन करके मुझमें तन्मय होवे। क्योंकि जिसके वशमें इंद्रियां होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६१॥

भावार्थ- मनुष्य जब भोगोंसे निवृत्त होता है तब उससे सब भोगके विषय तो दूर होते हैं, परंतु भोगेच्छा जैसी की वैसी बनी रहती है। यह भोगेच्छा परमात्मा का साक्षात्कार होनेके बाद हि हट जाती है ॥ इंद्रियोंका वेग इतना प्रबल है कि वे इंद्रियां विशेष प्रयत्न करनेवाले दक्ष मनुष्यके मनको भी समयपर विषय भोग की ओर खींच लेती हैं ॥ इस लिये योगी उन सब इंद्रियोंका संयम करके योग का अवलंबन करता हुआ, परमात्मामें मन लगाकर तन्मय होवे। क्योंकि जिसके वशमें इंद्रियां होती हैं उसी को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५९-६१॥

इंद्रियोंका प्रबल वेग।

(५९-६१) देहधारी मनुष्य के देहमें अनेक इन्द्रियां होती हैं और इनमेंसे प्रत्येक इन्द्रिय का वेग बहुत ही बडा है। साधारण प्रयत्नसे इंद्रियोंका संयम करना कठीन है। जो इंद्रियोंका संयम करनेका यत्न करते हैं, उनकोहि पता होता है कि इंद्रियोंका वेग कितना प्रबल है। जो संयम का यत्न हि नहीं करते, उनको इंद्रियोंके वेगका ज्ञान कैसे हो सकता है? प्रवाहमें बह जानेवालोंको प्रवाहके वेगका पता नहीं लगता, परंतु प्रवाहको रोकनेवाले कोहि उसका ज्ञान हो सकता है।

साधारण मनुष्य समझते हैं कि, विषयोंको अपने पास न रखनेसे किंवा विषयोंका भोग न भोगनेसे इंद्रियोंका संयम हो सकता है। परंतु यह भ्रम है। उदाहरण के लिये—अन्नका भोग लेना रसना का विषय है। कोई मनुष्य उपवास करता है। इस के उपवास करनेसे अन्न इससे दूर होता है अथवा अन्नसे यह दूर रहता है; परंतु अन्न की वासना मनमें बनी रहती है। हर एक इंद्रियके उपवास के विषयमें यही बात है। विषयोंसे दूर रहनेसे विषय तो दूर हो जाते हैं, परंतु उसके रसके विषयमें प्रीति मनमें बनी रहती है। पथ्य करनेवाला मन ही मनमें मिष्ट पदार्थों के स्वादका विचार करता है, उपवास करनेवाला तो भूख की प्रबलता के कारण उपवास के समय ही अन्न के स्वाद का विचार करता रहता है। अर्थात् संपूर्ण इंद्रियोंके उपवास का वारंवार प्रयत्न करनेसे मनुष्यसे भोग के विषय दूर हो जाते हैं, परंतु विषयोंकी चाह दूर नहीं होती। जबतक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता तब तक यह चाह नहीं हटती। परमात्म साक्षात्कार होते हि उसको परम अमृत रस का आस्वाद मिलनेसे विषयोंके क्षुद्र रसों

(२१) विषयोंके ध्यानसे नाश।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अन्वयः— विषयान् ध्यायतः पुंसः सङ्गः तेषु उपजायते। सङ्गात् कामः संजायते। कामात् क्रोधः अभिजायते। क्रोधात् संमोहः भवति। संमोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६२-६३॥

विषयोंका ध्यान करनेवाले मनुष्यको उन विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनासे क्रोध होता है, क्रोधसे विवेकहीनता पैदा होती है, विवेक नष्ट होनेसे स्मृतिमें भ्रम होता है, स्मृतिभ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धि का नाश होनेसे उसका पूर्ण नाशहि होता है॥६२-६३॥

भावार्थ— जो मनुष्य सतत विषयभोगोंका चिन्तन करता है, उसके मनमें विषयभोग भोगनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, इस इच्छाकी तृप्तीके लिये वह बहुत विषयभोग प्राप्त करनेका यत्न करता है। विषयभोग प्राप्त करनेमें किसीने प्रतिबंध किया अथवा देरी लगी, तो उस कारण वह बडा क्रोधित होता है। क्रोधके समय कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार उसके मनमें नहीं रहता और उसका चित्त मोहित भी होता है; इस मोहके कारण उसकी पूर्व स्मृति नष्ट होती है, स्मृतिके साथ उसके ज्ञानका भी नाश होता है। जिस मनुष्यका ज्ञान नष्ट होता

की लालसासे वह सदाके लिये मुक्त होता है। परमात्माका साक्षात्कार होने तक जो विषयों के भोग की चाह बनी रहती है, वह किस समय उसको विषयोंके कीचड में फंसा देगी, इसका कोई नियम नहीं है। इंद्रियोंका वेग बडा भयानक है। प्रत्येक इंद्रिय अपने अपने विषयों की ओर मनुष्यको खींचना चाहता है। थोडीसी असावधानी हुई तो बडे ज्ञानी के मन को भी इंद्रियां विषयोंके जालमें खींच लेती हैं और जब इस प्रकार मनुष्य गिरने लगता है तब उसके गिरनेकी कोई सीमा नहीं रहती। इस लिये मनुष्य को सदा अत्यंत सावधान रहना चाहिये।

इंद्रियोंका संयम करनेके लिये मनुष्य ऐसा यत्न करे कि वह पहिले तो विचार से और युक्तिसे विषयोंसे इंद्रियोंको दूर रखे, योगमार्ग का अवलंबन करके विशेष दक्षतापूर्वक अपना दैनिक व्यवहार धर्मपूर्वक चलावे और मनको परमात्मा में निमग्न करे। इस प्रकार दृढनिश्चयपूर्वक निरंतर प्रयत्न करनेसे इंद्रियां वशमें होती हैं और जिसके वशमें इंद्रियां होती हैं, उसी को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। इंद्रियां वशमें होनेसे इसकी शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती, इसके अंदर संग्रहित होती है; इस कारण ऐसा संयमी मनुष्य अपनी संग्रहित शक्ति किसी उत्तम कर्म में लगा कर उसकी सिद्धि कर सकता है और बडे यश का भागी बन सकता है।

अब आगे बताते हैं कि विषयोंका ध्यान करनेसे मनुष्य कैसा गिरता है और उसको किस उपायसे अपने आपका बचाव करना चाहिये—

(६२-६३) इन श्लोकोंमें विषयोंका ध्यान करने वाले की कैसी अधोगति होती है और

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्वयः- विधेयात्मा तु रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति । प्रसादे अस्य सर्व दुःखानां हानिः उपजायते । प्रसन्नचेतसः हि बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते ॥ ६४-६५ ॥

परंतु जिसका मन अपने आधीन है वह प्रीति और द्वेषसे रहित अपने स्वाधीन इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है। चित्त प्रसन्न रहनेसे उसके सब दुःख दूर होते हैं और प्रसन्नचित्त होनेसे उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६४-६५ ॥

हैं, उसका मानो सर्वस्व हि नष्ट होता है ॥ ६२-६३ ॥ परंतु जिसका मन स्वाधीन है वह किसी पर आसक्त नहीं होता और किसीका द्वेष भी नहीं करता। वह अपने सब इंद्रियोंको स्वाधीन रख कर उनके द्वारा विषयभोग लेता हुआ भी चित्तकी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त करता है, इस प्रसन्नताके कारण उसके सब दुःख दूर होते हैं और उसीकी बुद्धि भी स्थिर होती है ॥ ६४-६५ ॥

संयमी पुरुष की कैसी उच्च अवस्था होती है, इसका उत्तम वर्णन है। पहिले दो श्लोकोंमें विषयी पुरुष की अधोगतिका क्रम बताया है।

विषयी मनुष्य अपने मनही मनमें विषयोंका ऐसा ध्यान करता रहता है— "मुझे ये विषय भोगने हैं, आज इस का भोग करूंगा, कल ये विषय मुझे मिलेंगे, मैं अधिकसे अधिक भोग प्राप्त करके अधिक सुख भोगूंगा। इस प्रकार वह मन ही मनमें भोगोंकी कल्पना करता रहता है, कल्पनासे विषय भोग भोगनेके चित्र अपने सामने खडे करता है। ऐसा सतत ध्यान करने से उसके मनमें भोगों के विषय मेंआसक्ति जम जाती है। भोगोंके विना अपना जीवित नहीं चल सकता ऐसा वह समझता है। इस समय उसके सन्मुख भोग प्राप्ति ही एक ध्येय रहता है। प्रतिक्षण भोगों की वासना उसके अन्तःकरणमें बढ जाती है। वह हरएक इंद्रियके भोग बढाने का यत्न करता है। इस भोगवृद्धिके उद्योगमें वह प्रथम धर्मानुकूल बर्ताव करता है, परंतु आगे जाकर अधर्म, अत्याचार और अनाचार करने में भी प्रवृत्त होता है। धर्म से भोग प्राप्त न हुए तो अधर्म से, किसी रीतिसे भोग चाहिये, यह एकमात्र तृष्णा उसमें बढती है।

भोगोंके विषयमें भी यह नियम है कि एकहि भोग बहुत देर तक भोगते रहने से सुख नहीं होता। एकहि मिष्ट पदार्थ बहुत देर खानेसे दुःखदायक प्रतीत होता है, इसी प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें है। अतः भोगी मनुष्य भोगोंमें विविधता चाहता है। भोगोंकी विविधता प्राप्त होनेपर कुछ समय तक यह भोगोंमें रमता है, परंतु आगे एक समय ऐसा आता है कि जिस समय भोगोंकी विविधताभी उसको आनंद नहीं देती। देखिये, रसनाके भोग के लिये मीठा, कडुवा, तीखा, खट्टा, नमकीन, कषाय इन छः रसोंमें विविधता उत्पन्न करने के बाद भी जिह्वा इनका रस लेते लेते थक जाती है, और कितना

भी उत्तम पदार्थ बनाया जाय तोभी इसको रुचिकर प्रतीत नहीं होता। भोगी मधुर पदार्थों के बनाने के लिये आज्ञा देता है, सेवक उत्तमोत्तम पदार्थ बनाते हैं, परंतु स्वामी की जिह्वा पदार्थों की रुची लेनेमें असमर्थ होनेके कारण, स्वामी को वे पदार्थ रुचिकर प्रतीत नहीं होते!! जो पदार्थ अन्योंको बडे रुचिकर प्रतीत होते हैं वेहि इसको अस्वादु लगते हैं। इस कारण यह सेवकोंपर क्रोध करता है। जो अवस्था खानेके पदार्थोंकी है वही अन्य इंद्रियोंके भोगों के विषयमें है। भोग लेते लेते प्रत्येक इंद्रिय भोग ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है। इस कारण भोगी को कुछ समय के बाद भोगसे सुख नहीं होता और इस से इसको क्रोध चढता है।

भोगीको क्रोध अन्यान्य कारणोंसे भी आता है। इसके भोग प्राप्त करनेमें जिससे रुकावटें उत्पन्न होती हैं उसपर यह क्रोधित होता है। इसके भोगोंके विषयोंपर दूसरा आसक्त हुआ तो दोनों को क्रोध चढता है, क्यों कि एकहि वस्तु दोनोंको चाहिये, सो कभी मिल नहीं सकती, अतः क्रोध आना स्वाभाविक है। पहिले समयमें स्त्रीके कारण खून, रक्तपात, अत्याचार, और लडाइयां होती थीं, भूमिके कारण भी होती रहीं हैं; देशदेशांतरों में व्यापार व्यवहार करनेके लिये इस समय युद्ध छिडते हैं। सब में 'मुझे भोग चाहिये और मेरे भोगके बीचमें विघ्न करनेवाले का नाश मैं करूंगा' यही भावना है। इस तरह सब विषयोंकी प्राप्तीमें रुकावटें खडीं करनेवाले के कारण भोगीको क्रोध चढता है। यह बात सामान्य व्यवहार से बडे बडे व्यवहारों में सत्य है। पाठक इसकी सत्यता सर्वत्र देख सकते हैं।

वस्तुतः भोग भोगनेमें भोगीकी शक्तिका व्यर्थ व्यय होता है, अतः इसके यकृतादि अवयव बिगड जाते हैं और जिसके ये अवयव बिगडते हैं, उसमें क्रोध आना अत्यंत स्वाभाविक है। क्रोध जिस समय चढता है, उस समय खून के जीवन-अणु मरते हैं, खूनका दौरा शरीरमें अत्यधिक होता है, मस्तिष्कमें रक्तप्रवाह अधिक होनेसे मस्तक बिघड जाता है, और शरीर का ऐसा कोई भी अवयव नहीं कि जो क्रोधके कारण नहीं बिगडता। अतः आरोग्य चाहनेवालोंको क्रोधसे दूर रहना चाहिये। क्रोधी मनुष्य प्रायः अल्पायु होते हैं और शान्त, गंभीर मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं। इस दृष्टीसेभी क्रोधसे दूर रहना मनुष्यके लिये अत्यंत लाभदायक है।

क्रोधके कारण मनुष्यका मस्तिष्क बिगडता है और इसकी विवेकशक्ति नष्ट होती है। इसका मन मोहित, भ्रांत, और कर्तव्याकर्तव्य-विवेक-हीन बन जाता है। इस कारण इसकी स्मरण-शक्ति भी नष्ट होती है। अतः इस समय यह क्रोधी मनुष्य स्त्री, बाल, वृद्ध, आप्त संबंधी, पिता, माता, गुरु, गुरुपत्नी, राजा, पुरोहित, जिसने पहिले उपकार किये हैं, इत्यादिकों के संबंध में अपना कर्तव्य क्या है, इनके साथ हमारा कैसा व्यवहार होना चाहिये, इत्यादि विवेक भूल जाता है और जो सामने आजाय उसपर अत्याचार करने लगता है। जब यह क्रोध प्रमाणसे अधिक होजाता है, तब इसका मस्तिष्क बिगडता है, यह पागल-सा बनता है और कुछका कुछ कर बैठता है!! जब क्रोध की मात्रा अत्यधिक होती है तब क्रोधावेशसे मनुष्य मर भी जाता है।

सामान्यतः क्रोधके समय मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। और बुद्धिभ्रंश होनेसे मनुष्य पूर्णतया नष्ट होनेके समान बन जाता है। बुद्धि शान्त और गम्भीर होनेके समय मनुष्य अपने मनुष्यत्वसे युक्त रहता है, परंतु यही मनुष्य जब क्रोधावेगसे पागल बन जाता है, तब बुद्धिहीन होने के कारण पशुत्व या राक्षसत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् क्रोधसे मनुष्य मनुष्य नहीं रहता इतना अनर्थ क्रोधके कारण होता है, अतः सब शास्त्रकार कहते हैं कि, क्रोध को दूर रखना चाहिये। देखिये—

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
भ० गी० ३।३७

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
भ० गी० ३।४१

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
भ० गी० ५।२६

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
भ० गी० ५।२३

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
भ० गी० १६।२१

"रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध बहुत खानेवाले और बडे पापी हैं, इनको अपने शत्रु समझ॥ इस कारण तू अपने इंद्रियोंको स्वाधीन करके ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी (क्रोध और काम) का त्याग कर॥ जिसने काम और क्रोध को दूर किया है, जो अपनेको पहचानता है, और जिसने मन स्वाधीन रखा है, ऐसे यतीको सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है॥ देहान्तसे पूर्व इसी देहसे जो मनुष्य काम और क्रोधके वेगोंको सहन करने की शक्ति प्राप्त करता है, वह योगी है और वही सच्चा सुखी है॥ काम क्रोध और लोभ ये आत्माका नाश करनेवाले नरक के तीन द्वार हैं, इस लिये मनुष्य को इन तीनों का त्याग करना चाहिये॥"

इस प्रकार क्रोध के विषयमें भ० गीता की संमति है। विषयों के ध्यानसे इस क्रोधकी उत्पत्ति होती है, इस कारण विषयोंको दूर करना चाहिये, अन्यथा पूर्वोक्त क्रमसे नाश निश्चित होगा। यह तो विषयोंका ध्यान करनेवालोंकी अधोगति कैसी होती है इस का विचार हुआ। अब बुद्धि की स्थिरता किस रीतिसे होती है, इसका विचार देखना चाहिये—

(६४-६५) बुद्धि की स्थिरता और प्रसन्नता के लिये पहिला उपाय (राग-द्वेष-वियुक्तः) विषयोंपर आसक्ति अथवा काम और द्वेषभाव अर्थात् क्रोध, इन दोनों को छोडना है। मनुष्य के मनसे रागद्वेष जब तक छूटते नहीं, तब तक इसकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। रागद्वेष छोडना यह उन्नतिका पहिला अभ्यास है। दूसरा अभ्यास (आत्मवश्यानि इंद्रियाणि) अपने स्वाधीन संपूर्ण इंद्रियोंको रखना है। ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि, किसी भी कारण इंद्रियोंमेंसे एक भी इंद्रिय विषयाधीन न बने और अपने ऊपर अधिकार चलाने न लगे।

इंद्रियोंको रागद्वेषरहित करने, और उनको अपने आधीन करनेके साथ साथ (विधेय-आत्मा) अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को विशेष प्रकार बना कर, शिक्षित करके अपने आधीन करना चाहिये। मन अपनी उन्नतिकेहि विचार करे, अन्तःकरणमें कभी गिरावट के विचार न आवें, कोई इंद्रिय स्वैर व्यवहार न करे, किसीपर आसक्ति और किसी का द्वेष न किया जावे; इस प्रकार करनेसे इंद्रियोंसे विषयोंका उपभोग लेनेपर भी उसका चित्त प्रसन्न रहता है।

पाठक यहां समझ गये होंगे कि यह संयमी मनुष्य मन और इंद्रियोंको अपने आधीन रख कर और अन्तःकरण को सुशिक्षासे युक्त करके जो विषयोपभोग लेता है, वे अत्यंत मर्यादित और अल्प ही होंगे। अत्यधिक विषयसेवन तो उससे कदापि होना अशक्य ही है। धर्ममर्यादा के अनुकूल अत्यंत अल्प विषय सेवन करने में जो संयम होता है और जो उससे ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उसी से यह चित्त की प्रसन्नता होती है। विषय भोगसे चित्तकी प्रसन्नता नहीं होती। विषय तो चित्त को दूषित करते हैं। विषय सेवन को मर्यादित करनेसे जो विषयोंसे दूर

(२२) असंयमीका घोर दुःख।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अन्वयः— अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति, अयुक्तस्य च भावना न (अस्ति)। अभावयतः शान्तिः न (अस्ति)। अशान्तस्य सुखं कुतः? ॥६६॥

(समत्वरूपी) योग का अभ्यास न करनेवाले की बुद्धि (स्थिर) नहीं होती, और उसमें श्रद्धाभक्ति भी नहीं होती। श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको सुख कहांसे होगा? ॥६६॥

भावार्थ— मनुष्यमें स्थिरबुद्धि और श्रद्धाभक्ति रही तोहि उसको सुख मिलता है। पूर्वोक्त समत्वयोग के अभ्याससे हि मनुष्य की बुद्धि स्थिर होती है और उसके मनमें श्रद्धा भक्ति भी बढती है। जिसकी बुद्धि चञ्चल है और जिसके मनमें श्रद्धा नहिं उसका मन अशान्त रहता है, अतः उसको कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

रहने का यत्न होता है, उसीसे चित्त की प्रसन्नता होती है। यहां ब्रह्मचर्य और संयम का महत्त्व वर्णन किया है। नहीं तो (इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति) इंद्रियोंसे विषयों में विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है, इस वाक्य के पूर्व के (रागद्वेष-वियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः) "रागद्वेषरहित स्वाधीन इंद्रियोंसे" ये विशेषण भूले जांय तो अर्थ का अनर्थ होगा। जिस प्रकार कैदी और अधिकारी ये दोनों कारागृहमें होते हैं, परंतु एकहि स्थानपर रहते हुए भी कैदी बंधनमें रहता है और अधिकारी स्वतंत्र रहता है, उसी प्रकार भोगी और त्यागी दोनों विषयभोग लेते हैं, परंतु भोगी उनमें आसक्त होकर भोग लेता है अतः चित्त को दूषित करता है और त्यागी असंग वृत्तिसे अति अल्प प्रमाणमें विषयसेवन करता है, अतः चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है।

चित्तकी प्रसन्नता होनेसे सब दुःख दूर होते हैं और शीघ्रहि बुद्धि भी स्थिर होती है, अर्थात् यह स्थितप्रज्ञ होता है। इस प्रकार भोगी और त्यागी का वर्णन करके बताया कि त्यागी को हि सच्चा आनंद प्राप्त होता है। अब आगे बताते हैं कि जो इस स्थितप्रज्ञ बननेके लिये संयमादिका साधन नहीं करता उसकी अवस्था कैसी भयानक बनती है—

(६६-६८) यहां 'अ-युक्त' शब्द 'अ-योग-युक्त' इस अर्थमें और 'बुद्धि' शब्द 'स्थिर-बुद्धि' के अर्थमें प्रयुक्त है। अतः 'अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति।' का अर्थ 'जो योगाभ्यासी नहीं है, उसकी बुद्धि स्थिरताको प्राप्त नहीं होती' इस प्रकार समझना योग्य है। श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ 'समत्वयोग' है यह बात इसी अध्यायमें (श्लोक ४८-५० की व्याख्याके प्रसंगमें) स्पष्ट हो चुकी है। पाठक एक बार पुनः इन श्लोकोंकी व्याख्या पढें और मननपूर्वक समझें कि, यहां योगशब्दका विशेष हो अर्थ है। इस समत्वरूप योग के जो अभ्यासी हैं, वे ही अपनी बुद्धिको सम अर्थात् स्थिर कर सकते हैं। जो अयुक्त अर्थात् योगाभ्यासी नहीं हैं, उनकी बुद्धि चंचल और बहुशाखावाली होती है।

जिनकी बुद्धि चंचल होती है, उनकी बुद्धि क्षणक्षणमें अन्यान्य विषयोंपर दौडती है और

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वयः-चरतां इंद्रियाणां हि यत् मनः अनुविधीयते, तत् अस्य प्रज्ञां हरति, वायुः अंभसि नावं इव ॥६७॥
तस्मात्, हे महाबाहो ! यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

विषयों में भटकनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन दौडता है, वह इसकी बुद्धिको वैसा खींच लेता है, जैसे वायु जलके अन्दर नाव को (खींचता है)॥६७॥ इस लिये, हे महाबाहु अर्जुन ! जिसकी सब इंद्रियाँ विषयोंसे सब प्रकार हटकर अपने वशमें होती हैं, उसकी बुद्धी स्थिर होती है ॥६८॥

क्योंकि सुखके लिये शान्त मनकी आवश्यकता रहती है। जिस मनुष्यका मन विषयोंके पीछे दौडनेवाली इंद्रियोंके साथ दौडता रहता है, उसका मन कभी शान्त नहीं हो सकता। अपार अशान्त महासागर में प्रचंड वायुवेगसे नौका जिधर चाहे उधर भटकती है, इस नौकाके यात्रियों की उस समय जो अवस्था होती है वैसीहि अवस्था विषयसमुद्रमें फंसे मनुष्यके मनकी होती है। इसलिये जिसके इंद्रिय विषयोंमें नहीं फंसते और पूर्णतया स्वाधीन रहते हैं, उसकी हि बुद्धि स्थिर होती है, उसीके मनमें श्रद्धाभक्ति निवास करती है और उसीका मन शान्त होता है। इसी मनुष्यको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥६६—६८॥

किसी एकपर स्थिर नहीं होता। इस चंचलताके कारण मनुष्य बेचैन होते हैं। यह बेचैनीहि दुःखकी जननी है। चंचल मन किसीपरभी श्रद्धा विश्वास या भक्ति नहीं रख सकता। यदि रखेगा तो उसकी चञ्चलता हि नहीं रहेगी। चञ्चल मन अश्रद्ध, अविश्वासी और भक्तिभावहीन होता है। और श्रद्धाहीन मन चञ्चल हुआ करता है। दोनों दुर्गुण एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं।

यहां 'भावना' का अर्थ श्रद्धा, विश्वास अथवा भक्ति है। बहुत लोक परमेश्वर पर विश्वास रखते हैं, कई लोग अपने आत्मापर विश्वास रखते हैं, कईयोंका विश्वास कर्म पर होता है, कई धर्मवचनोंपर विश्वास करते हैं, कई लोग सत्पुरुषोंपर श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार श्रद्धा भक्ति और विश्वास वालों के भेद हैं। सब विश्वास के अंदर यह भाव है कि "जो धर्मका आचरण मैं यहां करता हूं, उससे मेरा कल्याण यहां होगा और परलोक में भी होगा।" इस प्रकार धर्मपर विश्वास होना भी एक बडी बात है। इनमें से कोई एक विश्वास हुआ, तो उसके साथ साथ अन्य विश्वास स्वयं आ जाते हैं। इस प्रकारकी श्रद्धा और भावना मनुष्य के मनको शान्ति देती है, वह विश्वाससे बडे कार्य करता है और अन्तमें माननीय होता है। अश्रद्ध और भक्तिभावनाहीन मनुष्य अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण कदापि उच्च अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकते। ऐसे चञ्चल वृत्तीवाले अशान्त मनुष्यको सुख कहां से प्राप्त होगा?

पाठक अपने आसपासके क्रोधी और चञ्चल वृत्तीवाले लोगोंकी अवस्था यहां मनमें लावें। ऐसे लोगोंका किसी रीतिसे भी समाधान नहीं होगा। वे सदा अशांत, उदास, क्रोधी और

दुःखी होते हैं। भला अशान्त मनवालोंको सुख का लाभ कैसे होगा? क्यों कि अशांति का फल दुःख और शान्तिका फल हि सुख है।

यहां स्मरण रहे कि जिस प्रकार चञ्चल मनुष्य कर्म करता है, उसी प्रकार शान्त और गंभीर मनुष्य भी कर्म करताही है। दोनों का दिन का सब समय किसी न किसी कार्य में चला जाता है। परंतु चञ्चल वृत्तीवाला मनुष्य सब कर्म अधूरे छोडता है, दिल लगाकर नहीं करता, एक को अधूरा छोडकर दूसरेको प्रारंभ करता है, करनेका कार्य श्रद्धा से नहीं करता, अतः सब में असफलता प्राप्त करता है और असफलता के कारण अत्यंत दुःखी होता है। परंतु शान्त गंभीर सश्रद्ध मनुष्य श्रद्धाभक्तिसे जो उद्योग करता है, दिल लगाकर करता है अतः हरएक कार्य में सफलता प्राप्त करता है। अतः सफलतासे उसका आनन्द मिलता है और किसी कार्य में सफलता न भी हुई तो भी उसका ईश्वर पर विश्वास होनेसे उसका मन शान्त रहता है और विफलता की अवस्था में भी वह मनकी शान्तिका अनुभव करता है। इसलिये हरएक अवस्थामें भावनायुक्त व्यवसायी उद्यमी मनुष्य श्रेष्ठ होता है।

दोनों प्रकारके मनुष्य अपना सब समय किसी न किसी कर्म में खर्च करते हैं, परंतु चञ्चल वृत्तीवाला अश्रद्ध मनुष्य सदा दुःखका भागी बनता है और शान्तवृत्तीवाला सश्रद्ध मनुष्य सदा सुख का अनुभव लेता है। इससे "समत्व-रूप योग" का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

चञ्चल वृत्तिवाले मनुष्यके मन को अशान्त अपार समुद्रमें प्रचण्ड वायुवेगसे जिधर उधर खींची जानेवाली नौका की उपमा दी गई है। अगाध महासागर में एक छोटीसी नौका वायुके महान वेगसे बही जाती हैं। पहिले तो महासागर में चारों ओर कोई आश्रय का स्थान नहीं होता, जहां जाकर नौका के यात्री विश्राम लेसकें। समुद्रका जल अगाध होनेसे पानीके नीचे जानेका नाम डूब मरना है, चारों ओर कोई स्थान न होनेसे उन यात्रियों को तो चारों दिशाएं भयानक ही प्रतीत होती हैं। ऊपर की दिशामें तो जाना अशक्य है, अतः वे किस दिशामें जांय और कहांसे आधार प्राप्त करें? ऐसी अवस्थामें यदि प्रचण्ड झंझावात चल पडा, और महासागर उछलने लगा तो उनके सामने महामृत्युका करालरूप आ खडा होगा। वायुका वेग तो उस नौका को किस ओर ले जायगा इसका पता भी नहीं होता। किसीसमय ऐसा भी होना संभव है कि जिस ओर नौकाके यात्री जाना चाहते हैं, उसको विरुद्ध दिशाको हि वायुके वेगसे नौका जायगी, अथवा बीचमें हि जलमें डूब जायगी। हरएक अवस्थामें विना कर्णधारके नौकासे प्रवास करना बडा कष्टदायक है।

इसीप्रकार विना धर्मरूपी कर्णधारके संसार-सागरमें चलाई हुई मानवी जीवनकी नौका विषयोंके झंझावात से डालमडोल होती हुई किस कष्टके पत्थर पर जाकर टूटेगी, इसका कोई पता नहीं है। यदि बीचमें हि टूटगई तो काम-क्रोधादि भयानक नक्र अपने करालमुख फैलाये हुए इन यात्रियोंको खाजाने के लिये बैठे ही हैं। चारों ओर भयानक दुःखका महासागर अपने भयानक रूपमें सब यात्रियों को हडप करनेके लिये तैयार हि है। मनुष्य अपने आपको ऐसी नौकाका यात्री समझेगा तो विषयाधीन इन्द्रियों से क्या विपत्ति होगी इसकी कल्पना उसको हो सकती है।

इन्द्रियां अपने अपने विषयोंकी ओर मनको खींचती हैं। एक एक इन्द्रियका वेग वायुवेगसे कई गुणा अधिक है। इस विषय प्रवृत्तिरूपी वेगसे मन एक क्षणमें इस ओर खींचा जाता है और दूसरे क्षणमें दूसरी ओर खींचा जाता है। अनेक इन्द्रियोंके विविध विषयोंमें इसप्रकार खींचा गया मन एक स्थानमें स्थिर रह नहीं सकता। सदा

चंचल बना रहता है। ठीक ऊपर वर्णन की हुई नौका की स्थिति इसकी होती है। यही मनकी परवशता है और सब प्रकार की परवशता दुःख का हेतु है। जो मन इंद्रियाधीन होकर विषयोंके पीछे पडा है, वह पराधीन ही है। पराधीन (पर +आधीन) होने का अर्थ शत्रुके आधीन होना है। कौन शत्रुके वशमें होकर सुख भोगनेकी अभिलाषा कर सकता है। शत्रुके वशमें होनेवाले के लिये तो सदा दुःख प्राप्त होता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मन को विषयोंके आधीन न करे और अपने हि आधीन रखे।

जिसके इंद्रिय (इंद्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि) विषयोंसे सब प्रकार निवृत्त होते हैं, उसी की (प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) बुद्धि स्थिर, शान्त, गंभीर और प्रतिष्ठावाली होती है और इसी को सब सुख प्राप्त होते हैं।

इंद्रियोंको विषयोंमें स्वैर वृत्तीसे छोडनेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है और इसी अशक्ततासे मनुष्यको दुःख भोगना पडता है। परंतु जो मनुष्य अपने इंद्रियों का संयम करता है और उनको विषयोंके जंगलमें भटकने नहीं देता, उसकी शक्ति उसके अंदर भरी रहती है। इसी अपनी निज शक्तिसे मनुष्य सुख लाभ करता है। शक्ति की क्षीणता दुःख है और शक्तिकी वृद्धि सुख है। जिस दिशामें जो अशक्तता होगी उस दिशा में उतनाहि दुःख होगा। यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि किसी को सुख होना है तो वह अपनी निज शक्तिसे हि होगा। दूसरेसे प्राप्त की शक्तिसे कदापि नहीं होगा। अतः यदि प्रत्येक मनुष्य सुखका अभिलाषी है तो प्रत्येक को अपने इंद्रियों को विषयोंसे निवृत्त करके अपने आधीन रखनेका अवश्य यत्न करना चाहिये। इस विषयमें उपनिषदोंमें एक उत्तम उपमा दी है वह यहां विचार करने योग्य है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इंद्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येंद्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥७॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥८॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्९
कठ उप० अ० १ व० ३

"आत्मा रथमें बैठनेवाला है, शरीर उसका रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम हैं। इन्द्रियरूपी घोडे इस रथको जोते हैं जो अपने अपने विषयोंमें जानेकी वृत्ती रखते हैं। आत्मा, इंद्रिय और मन मिलकर जो होता है, उसको ज्ञानी लोग भोक्ता कहते हैं। जो मनुष्य ज्ञानहीन होता है, और जो अपने मनको योगसे शान्त नहीं करता, उस के ये इंद्रिय स्वाधीन नहीं होते। उसकी स्थिति वैसी भयानक होती है जैसी अशिक्षित घोडोंवाले रथमें बैठे किसी सारथी की होती है। परंतु जो ज्ञानी है और जो योगद्वारा अपने मनका संयम करता है, उसके इंद्रिय उसके आधीन होते हैं, और इसको वैसा सुख प्राप्त होता है जैसा उत्तम शिक्षित घोडोंवाले रथ में बैठे मनुष्यको होता है। जो मनुष्य स्वयं ज्ञानहीन, मन को स्वाधीन न रखनेवाला और अपवित्र होता है वह उस उच्च स्थानको कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, वह गिरता हि जाता है। परंतु जो ज्ञानी, मनको स्वाधीन रखता है और पवित्र रहता है वह उस स्थानको प्राप्त करता है, जहां से वारंवार गिरना नहीं होता है। जिसका सारथी ज्ञानसे संस्कृत हुआ है, जिसके मन रूपी

(२३) मुनिकी जाग्रति और निद्रा।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

अन्वयः— या सर्वभूतानां निशा, तस्यां संयमी जागर्ति। यस्यां भूतानि जाग्रति, सा पश्यतः मुनेः निशा॥६९

जो सब भूतोंकी रात्री होती है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिस अवस्थामें सब प्राणिमात्र जागते हैं, वह आंखें खोल कर देखनेवाले मुनिकी रात्री होती है ॥ ६९ ॥

भावार्थ— साधारण लोग और संयमी स्थितप्रज्ञ ज्ञानी इन दोनोंके व्यवहार दिन और रात्रीके समान परस्पर भिन्न होते हैं। साधारण लोग जिसको ज्ञान मानते हैं वह ज्ञानीयोंकी दृष्टीसे अज्ञान होता है और साधारण लोग जिसके विषयमें अज्ञान रखते हैं वह विषय ज्ञानियोंको सुस्पष्ट होता है ॥ ६९ ॥

लगाम स्वाधीन हैं, वही मार्गके पार हो जाता है और भगवान् का परमपद अर्थात् श्रेष्ठ आनंद का स्थान प्राप्त करता है।"

ये उपनिषद्वचन अत्यंत स्पष्ट हैं, अतः इनकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवद्गीतामें नौकाके उदाहरणसे जो बात बताई है वही बात इन उपनिषद्वचनोंमें रथ के दृष्टान्तसे बताई है। पाठक यहां स्वयं विचार करके जान सकते हैं कि जिस रथके घोडे शिक्षित नहीं हैं, और जो सारथी की इच्छानुसार नहीं चलते, जो मार्ग छोडकर जिधर चाहे उधर दौडते हैं, उस रथमें बैठे रथी की जो अवस्था होगी वही अवस्था स्वैरसंचारी इंद्रियोंवाले मनुष्यकी होगी। वह किस गढेमें पडेगा, इसका किसी को भी पता नहीं होगा।

जो वीर शिक्षित घोडोंवाले रथमें बैठा होता है, जिसके घोडे ठीक मार्गसे केवल इशारे मात्रसे जाते हैं, उसको जैसा सुख होता है और जिस प्रकार वह विना आयास अपने स्थान को सुखसे प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह संयम से इंद्रियों को स्वाधीन रखने वाला मनुष्य सुखपूर्वक श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त कर सकता है।

पाठक यहां श्रीमद्भगवद्गीता के वचनोंकी तुलना पूर्वोक्त उपनिषद्वचनों के साथ करेंगे, तो वे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। अब आगे संयमी और असंयमी मनुष्य का भेद स्पष्ट करते हैं—

(६९) सर्व साधारण जनता का आचरण कैसा होता है और विचारवान ज्ञानी लोगोंका कैसा दिव्य आचरण होता है, यह इस श्लोकमें बताया है। दिन और रात्री के समान इन दोनोंके आचरणों में भेद होता है। उदाहरण के लिये "भोगी" और "त्यागी" लोगोंके जीवन देखिये। भोगी लोग तो अपने भोग बढानेके लिये अन्य लोगों पर मन माने अत्याचार करते रहते हैं, दूसरोंका खून चूस कर अपना पेट भरना अपना कर्तव्य मानते हैं और अपनी चैन के लिये दूसरों के गलोंपर छूरी चलाते ही हैं। परंतु जो त्यागी लोग होते हैं वे सब लोगोंका भला करनेके लिये अपने प्राणोंतक न्यौछावर करने को तयार होते हैं, जनताकी भलाई के लिये अपना समर्पण करते हैं, इतनाही नहीं, परंतु जनसमाज के हितके कर्तव्य करनेके समयमें यदि अपना जीवन चलागया तो भी वे अपने आपको कृतकार्य

समझते हैं। देखिये, दोनोंके दृष्टिकोन में कितना भेद है।

सामान्यतः देखा जाय तो भी साधारण लोग नाचरंग, नाटक, खेलकूद आदिमें व्यर्थ समय बिताते हुए रात्री में दिन के समान जागते हैं, और कर्म करनेके लिये बनाये दिनमें रात्रीके जागरण के कष्ट दूर करनेके लिये सोते हैं। इस प्रकार इनके लिये रात्रीका दिन होता है और दिनकी रात्री बनती है। अतः ये भोगी रोगी होकर अकालमें हि मृत्यु के अतिथि बनते हैं। परंतु संयमी योगी पुरुषार्थी धार्मिक सज्जन दिनके समय विविध पुरुषार्थ करते हैं और यश कमाते हैं तथा रात्रीके समय योग्य निद्रा का सुख लेकर आरोग्य कमाते हैं और दीर्घायु तथा बलवान होते हैं।

कई योगी लोग उत्तर रात्रीमें जिस समय सामान्य लोग सोते रहते हैं, उस समय उठकर परमेश्वर का ध्यान करते हैं और उससे अतुल शान्ति प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिस अध्यात्म के विषयमें सब लोग अज्ञान रखते हैं, उसीके विषयमें तत्त्व ज्ञानी मनुष्य उत्तम ज्ञान प्राप्त करते हैं। और इन ज्ञानी मुनिजनोंको विषय भोगोंके संबंधमें ऐसा अज्ञान रहता है कि जैसा विषयी लोगों को परमार्थ के विषयमें अज्ञान होता है।

साधारण लोग विदेशी वस्त्र तथा अन्यान्य विदेशी पदार्थ लेकर अपने पडोसी कारीगरोंको बेकार बनाकर उनको भूखे मारनेके लिये सिद्ध होते हैं;इसी प्रकार विदेशी वस्त्रादिका व्यापार व्यवहार करते हुए अपनेहि देशवासियोंके खूनसे भरे धनसे धनी बनना चाहते हैं। परंतु जो संयमी और ज्ञानी होते हैं वे स्वदेशी व्रतका आचरण करते हुए, स्वेच्छासे स्वयं स्वीकृत दारिद्र्यमें रहते हुए अपने लोगोंको आर्थिक कष्टोंसे बचाने का उद्योग करते हैं, इस कारण इनका सन्मान बढता है। अर्थात् इनके दारिद्र्यमें देशकी सधनता है और पूर्वोक्त व्यौपारियों की धनिकता में देशका परम दारिद्र्य है। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्रमें दोनों दृष्टिकोन एक दूसरेसे भिन्न होते हैं।

संयमी मनुष्य अपने संपूर्ण इंद्रियोंको स्वाधीन रखता है, किसी इंद्रियको विषयोंमें भटकने नहीं देता, इस कार्यके लिये नियमपालन, व्रताचरण और आत्मदण्डन करता रहता है और विषयसेवन को न्यून करनेसे अपने आपको धन्य मानता है और सचमुच धन्य होता है। परंतु विषयी मनुष्य अपने संपूर्ण इंद्रियोंको स्वैरगतिसे छोडता है, हरएक इंद्रिय को यथेच्छ भोगों में फंसाना अपना कर्तव्य समझता है, न किसी नियमका पालन करता है और न अपने आपको स्वाधीन रखने का यत्न करता है, विषयोंके भोगों को बढानेका यत्न करता है अतः विविध रोगोंसे ग्रस्त होकर ऐसा दुःखी बनता है कि अन्तमें बडी विपत्तीमें पडनेपर भी संयमके मार्गपर नहीं आता। इस प्रकार ये दोनों परस्पर विभिन्न मार्ग प्रकाश और अन्धकारके समान विभिन्न हैं।

एक 'जगत्की सेवा करनेके लिये मैं हूं' ऐसा मानता है और दूसरा मेरी सेवा करनेके लिये जगत् निर्माण हुआ है ऐसा समझता है। एक अपने आपको परमेश्वरका सेवक मानता है, तो दूसरा परमेश्वरको भी नहीं मानता है!! इस प्रकार सामान्य मनुष्य और संयमी मुनिका दृष्टिकोन परस्पर भिन्न होता है।

सामान्य मनुष्य अपने कुटुंबियोंकी भलाईके लिये अपने कर्तव्यकर्मसे विमुख होता है, जैसा कि अर्जुन अपने संबंधियोंके मोहसे अपने कर्तव्य रूप युद्धसे विमुख हुआ था। परंतु उसी समय जो संयमी विचारी और ज्ञानी होता है, वह अपने कुटुंबियों की सुरक्षितता की दृष्टीसे कदापि कर्तव्यभ्रष्ट नहीं होता। यहां अर्जुन सामान्य जनोंकी भूमिका दर्शाता है। अपने सगे संबंधी मारे जायंगे केवल इसी कारण स्वकर्तव्य रूप युद्ध से परावृत्त हो रहा है। इसी युद्धभूमिमें

(२४) ब्राह्मीस्थिति।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अन्वयः- आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आपः प्रविशन्ति, तद्वत् यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, सः शान्तिं आप्नोति; कामकामी न ॥७०॥ यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय, निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः (भूत्वा) चरति, सः शान्तिं अधिगच्छति ॥ ७१॥

चारों ओर से पानी भर जानेपर भी अचल रहनेवाले समुद्र में जिस प्रकार सब नदियां चलीं जातीं हैं, उसी प्रकार जिस में सब विषय प्रवेश करते हैं, उसे ही सच्ची शान्ति मिलती है ॥७०॥ जो पुरुष सब कामनाओंको छोडकर, निस्पृह, ममत्वरहित और अहंकाररहित हो कर व्यवहार करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

भावार्थ— चारों ओरसे नदी नाले समुद्रमें जा रहे हैं, इतना जल भरजानेपर भी समुद्र गंभीर रहता है और अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता; इसी प्रकार जो मनुष्य विषयभोग भोगता हुआ भी अपनी धर्म-मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता उसीको शान्ति प्राप्त होती है ॥७०॥ जो मनुष्य अपनी मनोगत स्वार्थ की कामनाओंको छोडता है, निरिच्छ होकर 'मैं और मेरा' इस मोहजालमें नहीं फंसता, घमंड छोडता है, संबंधियोंके मोहको दूर करता है और इस असंगवृत्तीसे जगत् के सब व्यवहार करता है, उसको ही शान्ति मिलती है ॥७१॥

भगवान् श्रीकृष्ण संयमी स्थितप्रज्ञकी भूमिका दर्शाते हैं, इस लिये वे संबंधी और इष्ट मित्र मरते हैं या जीते रहते हैं, इसका विचार न करते हुए अपना जो कर्तव्य है, उस की पूर्तता करनेकी पराकाष्ठा करते हैं। कौरवोंके पक्षमें इन दोनोंके संबंधी और इष्टमित्र तो थेहि। परंतु मनके संकोच के कारण अर्जुन मोहित हो गया, और भगवान् श्रीकृष्ण कर्तव्यको जाग्रत रहकर करते रहे। इसी प्रकार जो कर्तव्य करेंगे और मोहित नहिं होंगे वे धन्य बनेंगे और जो लोभमोहमें फंसेंगे वे हीन होते जांयगे। अर्थात् जो अपने आपको भोगोंसे भरपूर करना चाहते हैं वे अन्दर ही अंदर से खोकले होते जाते हैं, और जो त्यागसे आत्मशुद्धी के मार्ग से जाते हैं वे अपने आपको अन्दर से बलवान होनेका अनुभव करते हैं। इस प्रकार इन दोनोंका अनुभव परस्पर भिन्न होता है। भोगों को अन्दर भरनेसे खाली होनेका अनुभव और विषयोंको अन्दरसे हटानेसे परिपूर्ण होनेका अनुभव आता है। यह एक विरोधानुभव का विलक्षण उदाहरण है। इससे हि स्थितप्रज्ञ मुनि और सामान्य मनुष्यकी अवस्था का ज्ञान हो सकता है।

आगे ब्राह्मी स्थिति का उत्तम वर्णन है वह अब देखिये—

(७०-७२) मनुष्यको जो उत्तमसे उत्तम अवस्था प्राप्त करनी है वह ब्राह्मी स्थिति है, इस

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अन्वयः— हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एनां प्राप्य न मुह्यति, अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति ॥७२ ॥

हे अर्जुन! यही ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर कोई मोहित नहीं होता है । अन्तकालमें भी इस स्थितिमें रहकर ब्रह्मनिर्वाण को पाता है ॥७२॥

भावार्थ— हे अर्जुन ! ब्रह्मप्राप्त हुए, ब्रह्मरूप बने मनुष्यका यह चालचालन है, एकवार यह स्थिति प्राप्त हुई तो उसको कदापि मोह नहीं होता है । यदि किसीको यह स्थिति मरने के अन्त समयमें भी प्राप्त हुई, तो भी उसको ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष मिलता है ॥ ७२ ॥

ब्राह्मी स्थिति का स्वरूप इन श्लोकोंमें वर्णन किया है, इस का अब विचार करेंगे—

समुद्रकी उपमा ।

ब्राह्मी स्थिति समुद्रके समान है । समुद्रमें गंभीरता है, गहराई है, शान्ति है, इसके साथ साथ पूर्णता भी है । पूर्णता उसको कहते हैं कि जिसमें न्यूनता और अधिकता नहीं होती । समुद्रभी इसी प्रकार पूर्ण है, क्योंकि उसमें प्रतिदिन अनंत नदियां मिलती हैं तथापि वह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, तथा सूर्य के आतपसे उसकी भांप होकर ऊपर जाती है, तथापि वह न्यून नहीं होता । जिसमें से व्यय होनेसे न्यूनता न हो और जिसमें भरनेसे अधिकता न हो, वह पूर्ण है । इस पूर्णताका ज्ञान उपमासे देनेके लिये समुद्र की उपमा सर्वोत्कृष्ट है ।

ब्रह्म भी इसी प्रकार पूर्ण है । इस ब्रह्म की शक्ति जगत् की उत्पत्ति के कार्य में लगती है, तथापि जगत् उत्पन्न होनेसे उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती । इसी प्रकार जगत् की वृद्धि और क्षय होनेसे उस की शक्तिमें घटबध कुछ भी नहीं होता । अतः कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है । ब्रह्म में गंभीरता, गहरई और शान्ति है । यह गंभीरता, गहराई और शान्ति उसको प्राप्त होती है कि जिसको ब्रह्मप्राप्ति होती है, अथवा जिसकी ब्राह्मी स्थिति होती है । इस स्थिति की तुलना पूर्वोक्त प्रकार समुद्र के साथ की जाती है ।

समुद्रमें जिस प्रकार नदियोंका पानी पहुंचने पर भी समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार जगत् के अनंत भोग प्राप्त होनेपर भी जो पुरुष अपनी धर्ममर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, उस की स्थिति समुद्रवत् गंभीर होती है । और वही मनुष्य ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ है ऐसा कहा जाता है । इतना बडा विस्तीर्ण जगत् बनने और बिगडनेपर भी जिस प्रकार ब्रह्ममें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती, उसी प्रकार जगत् का सुखदुःख प्राप्त होनेपर भी जिसमें थोडीसी भी चंचलता नहीं होती, उसकी ब्राह्मी स्थिति होती है । साधारण मनुष्य तो थोडेसे सुख प्राप्त होनेपर धमंड करता है और थोडासा दुःख हुआ तो आत्महत्या करनेको तैयार होता है!! मनुष्यकी हीन स्थितिका यही लक्षण है । जो सुख दुःखों की लहरियोंसे इधर उधर दोलायमान होते हैं और अपने स्थानपर

स्थिर नहीं रह सकते वे हीन हैं, परंतु जो उक्त वेगोंको सहन करके अपनी मर्यादा के अन्दर रहते हैं, वे धीर गंभीर कहलाते हैं। इनको 'पूर्ण पुरुष' कहते हैं।

शरीर सुंदर और बलवान रहा, नीरोग रहा, धन प्राप्त हुआ, उत्तम परिवार रहा, गृहसौख्य बढ गया, लोगों से मान्यता और आदर मिलने लगा, अधिकार हाथमें आगया, लोगोंका भला-बुरा करनेका साधन हाथमें हुआ; तो मनुष्य घमंडी बनता है, उछलने लगता है, दूसरों की पर्वाह नहीं करता, अन्याय भी करता है और दूसरोंको कष्ट देता है। इससे पता लगता है कि वह मनुष्य अभी उच्च कोटीमें नहीं पहुंचा है। जो उच्च कोटीमें पहुंचा होता है, वह उक्त साधन और सुख प्राप्त होनेपर भी धर्ममर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करता और जितना अधिकार अधिक मिलता है, उतना वह अधिक परोपकार करता जाता है और उतनी अधिक आत्मशुद्धि करता है। पाठक यहां इन दोनों उच्च और नीच मनुष्यों की अवस्थाका विचार करें और जानें कि, इस मंत्रमें समुद्रकी उपमा देकर भगद्गीताने कौनसा उपदेश दिया है और उसका ग्रहण मनुष्योंने किस प्रकार करना चाहिये।

भोगप्राप्ति।

इस श्लोकमें (सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति) जिस में सब कामोपभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं (सः शान्ति आप्नोति) वह शान्ति प्राप्त करता है, ऐसा कहा है। सब कामोपभोग एक साथ स्वयं प्रवेश करते हैं, इसका अर्थ यह ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मनुष्य सब कामोंको एकहि समयमें प्राप्त करता हुआ भी नहीं चञ्चल होता ऐसा है।

साधारण मनुष्य एक समयमें एकहि भोग प्राप्त कर सकता है, क्यों कि इसका मन जिस समय एक इंद्रियके साथ संलग्न होता है, उस समय दूसरा विषय ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है। परंतु ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मनुष्य एक समयमें सब भोग प्राप्त कर सकता है, इसका कारण यह है कि यह भोगोंके पास नहीं जाता, परंतु इसके अन्दर (सर्वे कामाः प्रविशन्ति) संपूर्ण काम स्वयं घुसते हैं। जिस प्रकार समुद्र नदियोंके पास नहीं जाता, परंतु नदियां स्वयं समुद्रमें घुसती हैं, यहां समुद्रप्राप्ति यह नदियों का ध्येय है। इसीप्रकार आप्तकाम पुरुषमें प्रविष्ट होकर कृतार्थ होना यह भोगोंका ध्येय बनता है, विना मांगे सब भोग इसमें एकहिसमय घुसते हैं, अर्थात् इसको अनायास प्राप्त होते हैं। जब यह भोगोंका इच्छुक होता था, तब यह एक समय एक एक भोगको प्राप्त होता था, परंतु जिस समय यह भोगोंके विषयमें निस्पृह हुआ, तब सब भोग उसकी प्राप्तिकी इच्छा करने लगे और इसी कारण स्वयं इसके पास उपस्थित होने लगे, अतः एक समय में विना आयास इसके पास सब भोग उपस्थित होने लगे।

कामकामी और आत्मकामी।

इस श्लोकमें दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन है, एक मनुष्य (कामकामी) कामोपभोग प्राप्त करनेका इच्छुक है, अतएव अपने आपको अपूर्ण समझता है, अतः अपनी पूर्णता करनेकी इच्छासे भोगोंको प्राप्त करनेका यत्न करता है, इसीको (पूर्यमाण) बाहरसे भोग लाकर पूर्णता किया जानेवाला कहते हैं, भोगप्राप्तिके लिये इसको इधर उधर भटकना पडता है इसलिये इसमें (चल) चञ्चलता रहना स्वाभाविक है। इसी चञ्चलता के कारण इसकी अप्रतिष्ठा भी होती है। साथ ही साथ जो 'आप्तकाम' होता है वह (आपूर्यमाण) भरा जानेपर भी वैसाहि पूर्ण जैसा भरनेके पूर्व पूर्ण था, (अचल) स्थिर क्योंकि वह सदा तृप्त होनेसे भोगोंकी ओर जानेकी इसको आवश्यकता नहीं होती, अपने स्थानमें स्थिर रहनेके कारण (अचलप्रतिष्ठ) जिसकी प्रतिष्ठा स्थिर होती है। जो द्वारोद्वार मांगता फिरता है उसको

प्रतिष्ठा कैसी प्राप्त होगी? जो अपने घरमें रहता है और जिसको मांगनेकी आवश्यकता नहीं है उसकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार आप्तकामी और कामकामी की स्थिति विचार करके जानने योग्य है, देखिये—

आप्तकामी	कामकामी
आत्मकामी	भोगकामी, विषयी
अकाम, निष्काम	सकाम
पूर्ण	अपूर्ण
स्थिर, अचल	चञ्चल, अस्थिर
प्रतिष्ठावान्	अप्रतिष्ठ
परिपूर्ण	पूर्यमाण
इसके पास भोगोंका आना.	इसका भोगोंके पास जाना.
ब्राह्मी स्थिति	संसारस्थिति
शान्त	अशान्त
तृप्त	अतृप्त

इस रीतिसे विचार करनेपर 'आप्तकामी' और 'कामकामी' की स्थिति जानी जा सकती है। हरएक मनुष्यको दुःख बढानेवाली कामकामी की स्थितिसे दूर होकर आत्मकामी की शान्त स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। हरएक मनुष्य इसी मार्ग में है। यहां अब विचार करना है कि आत्मकाम मनुष्यको एकहि समय सब भोग स्वयं कैसे प्राप्त होते हैं? और कामकामी को एक समय एकहि भोग क्यों प्राप्त होता है, देखिये इस का विचार इस प्रकार है—

साधारण मनुष्य अपने अन्दर किसी विषय की न्यूनता अनुभव करता है और उसकी पूर्णता करनेकी इच्छासे किसी विषय को प्राप्त करना चाहता है। जैसा तृषित मनुष्य अपने अंदर जल की न्यूनता का अनुभव करता और जल प्राप्तिका यत्न करता है। इसी प्रकार अन्यान्य भोगोंके विषय में समझना चाहिये। न्यूनता के अनुभव से दुःख और पूर्णता के अनुभव से सुख है। अब देखिये जो मनुष्य सदा तृप्त है वह अपने अन्दर सब प्रकारकी पूर्णताका अनुभव करता है, अतः वह किसी बाह्य विषयको नहीं चाहता, मानो सब विषय और सब काम उसको प्रतिक्षण प्राप्त हैं, कोई विषय उसको कभी अप्राप्त नहीं। जिसके घरमें सब आवश्यक पदार्थ भरपूर हों, उसको किस बातकी चिन्ता होगी? वह तो सदा तृप्त हि रहेगा। इसी प्रकार आप्तकाम सदा सुखी रहता है और उसकी इच्छामात्रसे सब भोग जो उसीमें उपस्थित रहते हैं मिलते हैं। सब काम सदा प्राप्त होनेके समान रहनेका नाम हि आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम आदि है। पाठक यहां कल्पना करें कि यदि किसीको अन्दर हि अन्दर सब कामनाओंके भोग स्वयं प्राप्त होते हों, और उनके लिये किसी बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता न होती हो, तो उसको अशान्त और चञ्चल होनेका कारणही क्या होगा? वह तो सदा शान्त, गंभीर, अचल, स्थिर, प्रतिष्ठायुक्त और सदा तृप्त जैसा होगा। यही बात इस श्लोकमें कही है। समुद्रमें नदियोंके प्रविष्ट होनेके समान जिसमें विविध कामनाभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं वही शान्तिका अनुभव करता है; यह शान्ति कामभोगोंके पीछे पडे हुए मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार 'कामकामी' और 'आत्मकामी' मनुष्यके व्यवहार में महत् अन्तर है, दोनोंका जीवन भिन्न होता है। मनुष्यको 'कामकामी' बनना नहीं चाहिये और 'आत्मकामी' बनना चाहिये। मनुष्य आत्मकामी कैसा बने, इसका उपाय अगले श्लोकमें कहा है—

कामना-त्याग।

जो मनुष्य (कामान् विहाय) सब कामनाओंको छोडता है, सब स्वार्थके भाव दूर करता है अर्थात् (निस्पृहः) निरिच्छ होता है, निष्काम बनता है, अकाम होता है तथा (निर्ममः) 'मैं और मेरा' यह भावना छोडता है, यह मेरा है अतः इसको मैं पास करूंगा और यह पराया है

अतः इसको दूर करूंगा ऐसा नहीं कहता, परंतु सबके साथ सम भावनासे बर्ताव करता है और (निरहंकारः) अहंकार अथवा घमंड कभी नहीं करता उसको शान्ति मिलती है। अर्थात् शान्ति प्राप्त करनेके लिये सब कामनाओंका त्याग करना चाहिये, यह पहिला अनुष्ठान है। जब तक मनके अन्दर कामना रहेगी, तब तक शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। यह तो स्पष्ट हि है कि कामना उत्पन्न होतेहि मनुष्य उस कामनाके पीछे पीछे दौडता है और इस दौडनेके कारण अशान्त रहता है। मनुष्यको अशान्त करनेवाली ये विविध कामनाएँ हैं। प्रत्येक इंद्रियका एक एक विषय होता है और मनुष्य प्रत्येक इंद्रियकी तुष्टिके लिये एक एक विषयकी कामना करता रहता है। हरएक कामनाके कारण यही विभिन्न विषयोंके क्षेत्रोंमें खींचा जाता है। क्षणमें इस विषय-क्षेत्रमें, दूसरे क्षणमें दूसरे विषयक्षेत्रमें भ्रमण करना इसको आवश्यक होता है। और इसी भ्रमणसे उसको अशान्त होना पडता है। अर्थात् यदि अशान्तिको दूर करके शान्तिकी प्राप्ति करना है तो पहिले इन विषयों की कामनाओं को छोडना चाहिये।

अकामका कर्म।

यहां कई लोग शंका उठायेंगे कि यदि सब कामनाओंका त्याग मनुष्यने किया, तो उसकी हलचल हि बंद होगी, फिर मनुष्यके इस लोकमें जन्म लेनेसे क्या लाभ हो सकता है? यह शंका ठीक है,परंतु भगवद्गीताके उपदेशानुसार कामनाओंका त्याग करनेसे मनुष्य पत्थर जैसा स्तब्ध नहीं बनता, यह दर्शानेके लियेहि इस श्लोकमें (निस्पृहः चरति) 'निष्काम होकर व्यवहार करता है' ऐसा कहा है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि सब कामनाओंका त्याग करनेपर भी मनुष्य कुछ विशेष रीतिसे (चरति) आचार व्यवहार करताहि है। वह पत्थर जैसा नहीं बनता। सामान्य मनुष्य ऐसा मानते हैं कि कामना छोडनेपर मनुष्य कर्म करने में असमर्थ होगा, परंतु यह ख्याल अशुद्ध है। कामनाओंका (विहाय) त्याग करनेपर हि मनुष्य विशेष कर्म करनेमें समर्थ होता है। कामनाओंके जालमें बंधा हुआ मनुष्य हि विशाल शुभकर्म करनेमें असमर्थ होता है। कामनाओंके बंधनमें फंसा मनुष्य अपनी सुखवृद्धि करनेका यत्न करेगा, इससे विस्तृत कर्म इससे नहीं हो सकते। परंतु स्वार्थकी कामनाओंका त्याग करनेवाला परमार्थके विशाल कार्यक्षेत्र में कार्य करेगा, यही भाव दर्शाने के लिये इस श्लोकमें 'चरति' पद है। 'चरति' का अर्थ व्यवहार करता है। 'निस्पृहः चरति' निस्पृह अथवा निरिच्छ बना हुआ मनुष्य व्यवहार करता है, ऐसा जो इस श्लोकमें कहा है। वह पूर्वोक्त कुशंकाको दूर करनेके हेतुसेहि कहा है। निष्काम बनकर जो व्यवहार होते हैं वे अधिक शुद्ध होते हैं और अधिक उच्च होते हैं, अतः इनका महत्त्व विशेष है।

अहंकार और ममत्व।

'निस्पृह, निर्मम और निरहंकार' ये तीन शब्द एक दूसरे के साथ संबंधित हैं। अहंकार से ममत्व होता है और ममत्व के कारण स्पृहा अर्थात् इच्छा होती है। यदि किसी के मनसे अहंकार हटगया तो उसके मनसे ममत्व भी हट जायगा और ममत्व के दूर होनेसे स्वयं हि कामनाओंका त्याग भी होगा।

'अहंकार' का अर्थ है 'मैं-पन'। जगत्में मैं हूं, मैं इस जगत का भोग लूंगा, मैं इसमें विजयी हूंगा, मैं ऐसा करूंगा और वैसा करूंगा, यह सब 'मैं-पन' का खेल है। यदि 'मैं-पन' हट गया तो 'मैं' से उत्पन्न होनेवाला 'मेरा-पन' कैसा रहेगा? 'ममत्व' का अर्थ है 'मेरा-पन'। 'मैंपन' के साथहि 'मेरा-पन' संबंधित है। एक के चले जानेसे दूसरा भी दूर होता है। पाठक यहां ऐसे मनुष्यकी कल्पना करें कि जिसके मन से यह (अहंकार) मैं-पन और (ममत्व) मेरापन पूर्णतासे हटगया है, ऐसे मनुष्यके अंदर

कोई कामना उत्पन्नहि नहीं होती। क्यों कि कामना उत्पन्न होनेके लिये अहंकार की अत्यंत आवश्यकता रहती है। इस विचार से पाठकोंके अन्दर यह बात आगयी होगी, कि अहंकारके नाशसे ममत्व का नाश होगा और ममत्व के नाशसे कामनाका नाश होगा। इस प्रकार निष्काम होकर मनुष्य किस प्रकारके कर्म कर सकेगा, इसका विचार अब करना चाहिये।

स्वार्थ और परमार्थ।

यहां स्वार्थ और परमार्थ का भेद ध्यानमें लाना योग्य है। स्वार्थी मनुष्य अपने हितकी कामना करता है और अपने सुख के लिये दूसरों का नाश भी करना आवश्यक हो तो भी कर लेता है। इसी प्रकार परमार्थी मनुष्य "परम—अर्थ" अर्थात् सबसे श्रेष्ठ हेतुसे प्रेरित होता है। परमार्थी मनुष्यके सन्मुख सब जनता की भलाईका प्रश्न होता है, सत्य, अहिंसा आदि श्रेष्ठतत्त्वोंका ध्येय उसके सन्मुख होता है। यह सब जनताकी भलाईके लिये आवश्यक हुआ तो आत्मसमर्पण करता है। यह स्वार्थी और परमार्थी मनुष्य के अंदर का भेद है। स्वार्थी मनुष्य अपने सुख बढानेके लिये दूसरोंका बलि लेता है और परमार्थी मनुष्य जनताके सुख बढानेके लिये अपना बलि अर्पण करनेको तैयार होता है। दोनोंके व्यवहारोंमें यह भेद होता है। स्वार्थी मनुष्यको सकाम कहते हैं और परमार्थी मनुष्य को निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम किंवा अकाम कहते हैं, (यह बात इसी अध्यायके श्लोक ५५-५८ की व्याख्या के प्रसंगमें स्पष्ट कर दिखाई है।) स्वार्थी मनुष्य अपनी सेवा करता है और परमार्थी मनुष्य ईश्वरकी सेवा करता है। स्वार्थ छोटा है और परमार्थ बडा विस्तृत है। अतः निष्काम मनुष्य छोटे अर्थको छोडकर विस्तृत अर्थ की सिद्धिमें दत्तचित्त होता है। इसी कारण निष्काम कर्मका महत्त्व बडा भारी होता है।

संकुचित वायुमंडलमें मनुष्यको आनन्द नहीं होता, जब वह विस्तृत वायुमंडलमें जाता है तब वह आनन्दका भागी बनता है। पर्वतकी चोटीपर चढा मनुष्य खुले विस्तृत वायुमंडलमें पहुंचनेके कारण आनंदित होता है, परंतु पर्वत को पाद-स्थलिमें पडा मनुष्य संकुचित वायुमंडलमें पडने के कारण दुःखी होता है। यही बात स्वार्थके कार्य में है। यह बात कई वार इससे पूर्व बतायी है कि स्वार्थके कारण जगत् में अशान्ति, द्वेष और युद्ध होते हैं और परमार्थ के कारण शान्ति, मित्रता और प्रेम बढता है। अशान्ति द्वेष और युद्धसे शक्तिकी क्षीणता होती है और शान्ति मित्रता और प्रेम के कारण शक्तिकी वृद्धि होती है। प्रेममें और मित्रतामें जो शक्ति है वह किसी अन्यभावना में नहीं है। यद्यपि मनुष्य लडता और झगडता है तथापि वह सचमुच प्रेमका प्यासा है। यदि उसको प्रेमका अमृत मिलनेकी आशा न होगी, तो वह कदापि जीवित भी नहीं रहेगा। कोई प्राणी अशान्ति के लिये जीवित नहीं रहते। शान्तिकी आशासेहि सब जीवित रहते हैं। यह शान्ति परमार्थ साधनसेहि मिलेगी, कभी स्वार्थ के भावसे नहीं मिलेगी। इसीलिये इस श्लोकमें कहा है कि, "स्वार्थको सब कामनाओंका तथा अहंकार, ममत्व और भोगेच्छाओंका त्याग करके परमार्थ के विस्तृत कार्यक्षेत्रमें निष्काम भावसे कर्म करो, ऐसा करनेसेहि शान्ति प्राप्त होगी।" दूसरा कोई मार्ग शान्तिके लिये नहीं है।

यः कामान् विहाय निस्पृहः चरति स शान्तिं अधिगच्छति ॥७१॥

आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति ॥६४॥

इसी अध्याय के ये दोनों श्लोक समान भाव बताते हैं। पहिले में कहा है कि "कामना छोड-कर व्यवहार करनेवाला शान्तिको प्राप्त करता है" और दूसरेमें कहा है "अपने स्वाधीन रहने-वाले इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ प्रसन्नता

प्राप्त करता है।" इन दोनों श्लोकोंका भाव तात्पर्य दृष्टीसे समानहि है। कामना का त्याग करने और अपने आधीन इंद्रियोंको रखने का मूल उद्देश्य एक हि है। अर्थात् कामना का अर्थ इंद्रियोंको विषयाधीन करना है। जिसके इंद्रिय स्वाधीन हैं वह सुखी और जिसके इंद्रिय स्वेच्छाचारी हैं वह दुखी होता है। इंद्रियों को स्वैर रखनेवाले को कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार कामनाओंका त्याग करने और निःस्पृहवृत्तिसे व्यवहार करनेसे मनुष्य ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मी स्थितिका अर्थ स्थितप्रज्ञ की ज्ञानपूर्ण अवस्था है। इसी अध्यायमें स्थितप्रज्ञका वर्णन (श्लोक ५५ श्लोकसे) चल रहा है। इस श्लोकमें—

सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति (श्लोक५५)

"सब मनोगत कामनाओंका त्याग करना" यह स्थितप्रज्ञ का पहिला लक्षण कहा है। यहां इस श्लोक में (सर्वान् कामान् विहाय) सब कामनाओंको छोडनेका उपदेश किया है। कामना छोडनेकी एकहि बात इस अध्याय में अनेकवार कही है,वह इस लिये कि यह ज्ञान पाठकोंके मन में दृढताके साथ स्थिर हो जाय।

सब कामनाओंको मनसे हटानेसेहि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। मनुष्यको यह ब्राह्मी स्थिती प्राप्त हुई, तो समझो कि उसकी परम उच्च उन्नति होगई। मनुष्य जिस उच्चतम भूमिका के ऊपर पंहुच सकता है, वह यही अवस्था है। यहां हि वह 'नरका नारायण' होता है। 'जीवका शिव' बनना इसीको कहते हैं। अपने आपको ब्रह्म माननेकी यही स्थिति है अतः इसको ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मरूप स्थिति कहा करते हैं। इसी का नाम पूर्व स्थानमें "भूमा" अवस्था कहा है। (देखो श्लोक २३-२५ की व्याख्या।) सामान्य स्थितिमें मनुष्य अपनी अल्प और अशिव अवस्था है ऐसा मानता है, परंतु पूर्वोक्त रीतिसे उन्नत होनेपर इसको अनुभव होता है कि अपनी अवस्था भूमा, ब्राह्मी अथवा शिवा अवस्था है। सामान्य मनुष्यके अनुभवसे इस अवस्थामें विलक्षण अनुभव आता है, अतः कहा है कि—

एनां प्राप्य न मुह्यति।

"इस अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य मोह वश नहीं होता।" मोह तो इस अवस्थाको प्राप्त होनेतकहि रहता है। एकवार मनुष्यने इस स्थिति का अनुभव लिया, तो वह कभी भ्रममें नहीं फंसता। अन्तकालमें भी इस अवस्थाको प्राप्त किया, तो उसको ब्रह्मपद प्राप्त हो सकता है, अर्थात् अल्प समय तक इसको प्राप्त करने से भी विशेष लाभ हो सकता है। अब इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का वर्णन वेदमंत्रोंमें किस ढंगसे आया है वह देखिये—

ऊर्ध्वोऽनुसृष्टाः स्तिर्यङ् नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आबभूव।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुःप्राणं प्रजां ददुः॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा प्रविवेशापराजिताम्॥३३॥

अथर्ववेद १०।२

"ऊपर और तिरछे आदि सब दिशा विभागोंमें यह पुरुष फैला है, ब्रह्म नगरीको जो जानता है, उस पुरिमें वसने के कारण इस का पुरुष नाम प्रसिद्ध हुआ है॥ अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मकी नगरी को जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न सब अन्य देव चक्षु, प्रजा और प्राण देते हैं॥ जो ब्रह्मनगरी को जानता है उसकी चक्षु और प्राण उसको वृद्धावस्थाके पूर्व नहीं छोडते,

उस पुरीमें वसनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं॥ आठ चक्रों और नौ द्वारों से युक्त यह देवों की अयोध्या अर्थात् युद्ध करके जीतने अयोग्य नगरी है। उसमें सुवर्णमय कोश है जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्गहि है॥ तीन आरे जिसमें लगे हैं और तीन आधारोंपर जो विराजमान है, उस सुवर्णमय कोशमें पूज्य और चैतन्यपूर्ण देव है उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं॥ जिसका कभी पराजय नहीं हुआ ऐसी सुवर्णमय तेजस्वी, मनोहर और यशस्वी ब्रह्मकी नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है॥ २८—३३॥"

इन मंत्रोंमें ब्रह्मपुरी का वर्णन है और उसको प्राप्त करनेवालेकी स्थिति अर्थात् ब्राह्मी स्थिती का भी वर्णन है। अतः ये मंत्र विशेष विचार करने चाहिये। इस ब्रह्मपुरी का वर्णन इस प्रकार है—

ब्रह्मपुरी।

इस ब्रह्मकी नगरी को (नव-द्वारा) नौ द्वार हैं, इन द्वारोंके नाम दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख ये सिरमें सात द्वार और गुदद्वार और मूत्र-द्वार ये दो मिलकर नौ द्वार हैं। ये द्वार बडे प्रसिद्ध हैं इस लिये इसके "द्वारावती, द्वार-का" आदि भी अनेक नाम हैं। इसमें आठ चक्र हैं, (१) मूलाधर पृष्ठवंशके मूलमें, (२) स्वाधिष्ठान जननेंद्रियके पीछे, (३) मणि पूरक और (४) सूर्यचक्र नाभिस्थान में, (५) अनाहत हृदयमें, (६) विशुद्धि गलेमें, (७) आज्ञाचक्र भ्रूमध्यमें, (८) सहस्रारचक्र मस्तिष्कमें है। इस प्रकार ये आठ चक्र इस पृष्ठवंशमें मज्जातंतुके केन्द्ररूप हैं। इन चक्रोंमें अनंत शक्ति हैऔर वह शक्ति मज्जा-तन्तुके जालसे शरीर भर फैलाई जाती है, जिस से यह शरीर चलरहा है। यह ब्रह्मपुरी मनुष्य का शरीर है, ब्रह्मलोक, ब्रह्मनगरी, ब्रह्मपुरी, अयोध्या, द्वारिका, ये सब नाम इसी अद्भुत शरीरके हैं। इसी शरीरमें ब्रह्मका अंश रहता है इस लिये इसका इतना महत्त्व है। अतः कोई यह न समझे कि यह शरीर हीन दीन और मलिन है। यह तो ब्रह्मका निवासस्थान है। जिसको ब्रह्माने अपना निवास स्थान बनाया उसको मलिन कौन कह सकता है? तथापि मनुष्य को उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे इसमें राक्षस और पिशाच घुसने न दे और इसमें ब्रह्मकाहि प्रकाश होने दें। इस प्रयत्नका नामहि धर्माचरण है।

यह ब्रह्मकी नगरी (प्रभ्राजमाना) तेजस्वी है, (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है, इस प्रभुत्वके साथ रहनेवालोंको कभी दुःख नहीं होता, (यशसा संपरीवृता) यशसे युक्त है इसमें रहनेवालेको यश प्राप्त होता है, पुरुषार्थके साथ रहनेवाले इसमें रहकर यश प्राप्त करते हैं, (अ-पराजिता) इसका पराजय कोई कर नहीं सकता, न (अ-योध्या) युद्ध करके इसका नाश कोई कर सकता है, यह युद्ध करके जीतने योग्य नहीं है, अर्थात् एक वार ब्रह्मरूप बनकर जो इस में रहता है वह कभी मोहरूप अन्धकार में नहीं फंसता। इस प्रकारकी ब्रह्मपुरीमें जो ब्रह्म बनता है, जो ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होता है वह (प्रविवेश) प्रविष्ट होता है। अन्य लोग गुलाम दास भावसे इसमें रहते हैं, राजा होकर दास रूपसे रहते हैं, परंतु जो ब्रह्मरूप बनते हैं वेइसमें सम्राट् बनकर प्रविष्ट होते हैं। अतः इसमें कोई दास बन कर न रहे, परंतु सम्राट् बनकर विराजे।

इस ब्रह्मनगरीमें एक (कोश) खजाना है, सब शक्तिका मुख्य स्थान है, यह स्थान (त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते) तीन आरोंपर और तीन आधारों-पर रहा है। यह कोश (हिरण्यय) सुवर्ण जैसा तेजःपुंज है,इसकी कान्तिका वर्णन करना कठिन है। यही (स्वर्गः) स्वर्ग है, इस स्थानपर जो प्रभु बनकर जाते हैं उनको हि स्वर्गसुख मिलता है, अपने अन्दर हि यह स्वर्ग स्थान है, यहां (देवानां पूः) देवोंका वसति स्थान है, देवोंके अंशोंसे यह परिपूर्ण है और यहां (ज्योतिषा

आवृतः) इतना तेज है कि मानो सब तेजोंका पुञ्ज हि यह है। इसी स्थानमें (आत्मन्वत् यक्ष) चैतन्य का स्वरूप एक पूजनीय देव है, इस का ज्ञान सामान्य मनुष्योंको नहीं होता, उसे तो केवल (तत् ब्रह्मविदः विदुः) ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं, ज्ञेय वस्तु यही है, यही ब्रह्म है, यही अद्भुत शक्ति है,यही ध्येय और प्राप्तव्य भी यही है।

इस पुरीमें रहनेके कारण इस आत्माको 'पुरुष' कहते हैं। (यस्याः) इस पुरीमें वसनेवालेको (पुरुषः उच्यते) पुरुष कहते हैं। इस पुरीमें अधिकारपूर्वक वास्तव्य करनेका फल यह है—

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
अथर्व १०।२।२९

" उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न हुए सब अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। " ब्रह्म-नगरी को जानना, ब्रह्मपुरीमें प्रविष्ट होना, ब्रह्म प्राप्त करना अथवा ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचना एक हि है। इस स्थितिमें पंहुचे हुए को ब्रह्म स्वयं कुछ पारितोषिक देता है और ब्रह्मसे बने सूर्यादि सब देवभी इसकी उचित सहायता करते हैं। इस मंत्रमें ब्रह्म और ब्राह्म ये दो शब्द हैं। ब्रह्मशब्द परमात्माका वाचक और ब्राह्म शब्द अग्नि वायु रवि विद्युत् आदि अन्यान्य सब देवताओंका वाचक है। अग्नि सूर्यादि सब देव और उनका अधिष्ठाता परमात्मा ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्यको 'चक्षु, प्राण और प्रजा' देते हैं।

चक्षु, प्राण और प्रजा।

'प्रजा' शब्द संतानवाचक प्रसिद्ध है। ब्रह्म-ज्ञानी अथवा ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त मनुष्य को ब्रह्म प्रसन्न होकर संतान, सुसंतान देता है, इस से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी स्थितिको पंहुचा मनुष्य गृहस्थधर्मसे रहकर सुप्रजा उत्पन्न करता है। ब्रह्मकी कृपासे प्राप्त होनेवाली संतान औरस हि होगी, दत्तक पुत्रके लिये ब्रह्मकी कृपाकी कोई आवश्यकता नहीं है। औरस संतान उत्पन्न होने के लिये स्त्रीके साथ रहना आवश्यक है और धर्मानुकूल गृहस्थधर्म का पालन करना भी आवश्यक है। पुत्र उत्पन्न होने योग्य शरीरकी तरुणावस्था भी चाहिये। इससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मी स्थिति तारुण्यमें प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी पाठ्यप्रणाली बननी चाहिये कि युवा अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मपुरी को जाने और उसमें अधिकार से प्रविष्ट हो सके और पश्चात् सुप्रजा निर्माण कर सके। सुप्रजा निर्माण करना या होना ब्रह्मज्ञान का एक फल यहां वेदमंत्र में वर्णन किया है, यह बात पाठक यहां देखें।

ब्रह्मकी प्रसन्नतासे दूसरी चीज जो प्राप्त होती है वह "प्राण" है। प्राण की प्राप्तिका अर्थ प्राण की स्वाधीनता, प्राणको अपने आधीन रखना, अथवा सारांशसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति है। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेसे मनुष्य को दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, अर्थात् अल्पायुमें मृत्यु नहीं होता। दीर्घ जीवन प्राप्त होनेका अर्थ वह है कि वह उस दीर्घ आयुमें विशेष महत्त्व के पुरुषार्थ करता रहे। वह पुरुष पत्थर जैसा स्तब्ध नहीं रहता, परंतु ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करता है कि जो जनताके लिये मार्गदर्शक हो जावे।

ब्रह्म प्राप्तिसे जो तीसरा लाभ होता है वह 'चक्षु' की प्राप्ति है। चक्षु शब्द का अर्थ नेत्र है, परंतु यह शब्द यहां उपलक्षण है, यहां चक्षु शब्द से नेत्र आदि संपूर्ण इंद्रिय और अवयव लेना चाहिये। ये सब इंद्रिय और अवयव उत्तम अवस्थामें रहते हैं, वृद्धावस्थाके पूर्व क्षीण नहीं होते, यह इसका तात्पर्य है। इसी को अधिक स्पष्ट स्वयं मंत्रनेहि किया है–

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥

"जिसमें रहनेके कारण इस आत्माको पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरी को जो जानता है, उसका नेत्र और उसका प्राण जीर्ण अवस्थाके

पूर्व उसको नहीं छोडते।" अर्थात् अतिवृद्ध अवस्थातक उसके संपूर्ण इंद्रिय और अवयव कार्यक्षम रहते हैं और वह सुदृढ अवयवोंके साथ उत्साहपूर्ण दीर्घ जीवन का अनुभव लेता है।

सुप्रजानिर्माण करना, दीर्घजीवन प्राप्त होना और अन्ततक संपूर्ण अवयव सुदृढ अवस्थामें रहना, ये तीन लाभ ब्रह्मज्ञान के हैं, ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचे हुए मनुष्यको ये तीन लाभ मिलते हैं। भगवद्गीतामें (यः कामान् विहाय निःस्पृहः चरति) कामना छोडकर निस्पृह होकर व्यवहार करता है, ऐसा कहा है। इस में (चरति) व्यवहार करनेका अर्थ, इन मंत्रोंके साथ संगति देखनेसे, स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी मनुष्य अतिदीर्घ आयु तक अपने सुदृढ अवयवों के साथ उत्तमोत्तम पुरुषार्थ करता है। वेदमंत्र और गीताका उपदेश इन दोनों की संगति इस प्रकार है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए,
योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें,
सांख्ययोग नामक द्वितीय अध्याय
समाप्त हुआ ॥२॥

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायपर विचार।

सांख्य और योग।

सांख्य तत्त्वज्ञानका महत्त्व।

आर्य तत्त्वज्ञान में "सांख्य" और "योग" ये दो मार्ग विशेष महत्त्व के हैं, उनमें भी सांख्य का मान विशेष है। सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल महामुनि अपनीहि विभूति है, ऐसा "सिद्धानां कपिलो मुनिः।" (भ० १०।२६) इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वयं कहा है। सांख्य-शास्त्रका इतना महत्त्व है। इसी कारण अन्य-सिद्धान्तों का उल्लेख करनेकेपूर्व इस श्रीमद्भगवद्गीतामें भी "सांख्यसिद्धान्त" सबसे प्रथम कहा है। श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्याय का नाम हि "सांख्ययोग" है और भगवद्गीताके इसी अध्यायसे उपदेशका प्रारंभ होता है। इस द्वितीय अध्यायमें ११ वे श्लोकसे वस्तुतः उपदेश का प्रारंभ है। इसमें श्लोक ११ से ३० तक के करीब२०श्लोकोंमें सांख्य तत्त्व ज्ञान कहा है,श्लोक ३१ से ३९ के नौ श्लोकोंमें क्षात्रधर्मबोधक सामान्य उपदेश है और श्लोक ४० से श्लोक ५३ तक योगमार्गका तत्त्वज्ञान कहा है, और अन्तमें श्लोक५४ से७२ तक स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं यही ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है। इस प्रकार देखा जाय, तो केवल इस अध्याय के २० श्लोकों में हि सांख्य तत्त्वज्ञान कहा है। यह तत्त्वज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होनेके कारण इसका यहां सारांश रूपसे पुनः मनन करनेका विचार है—

सांख्यसिद्धान्त।

सांख्य तत्त्वज्ञान (सम्यक् ख्यायते) युक्तियों से उत्तम प्रकार समझाया जा सकता है, इसी लिये इसको सांख्य (सम्यक् ख्यानं) कहा है। अपने आर्यतत्त्वज्ञानके ग्रंथोंमें अधिकतर ग्रंथ इसी तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करने वाले हैं। उपनिषदों में सनत्कुमार आदिकोंने जो प्रतिपादन किया है वह यही तत्त्वज्ञान है। इस सांख्य-शास्त्रका मुख्य सिद्धान्त "एकात्मवाद" है। आत्मा एक है और वह सर्वत्र व्याप्त है, इस बात की सूचना देनेवाले शब्द ये हैं—

१ सर्वगतः(श्लो० २४)

आत्मा एक है और वह सर्वगत अर्थात् सर्व-व्यापक है। जितने भी पदार्थ जगत् के अन्दर हैं, उन सबमें (सर्वगत) पूर्णतया उसके अणुरेणु में और बाहर भी वह पहुंचा है। कोई पदार्थ अथवा किसी पदार्थ का कोई अवयव इसके विना नहीं है। जगत् के पदार्थ हमें ज्ञात हों वा न हों, उनमें वह पूर्णतया व्यापक है। मनुष्यादि प्राणियोंके अनन्त देह हैं, परंतु उनमें यही एक आत्मा व्यापक हुआ है, इसी प्रकार संपूर्ण जड पदार्थों में भी वह व्यापक है।

२ अचलः(श्लो० २४)

यह एक आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक होनेसे हि 'अ-चल' अर्थात् न चलनेवाला है। जो सर्वत्र उपस्थित होगा वह एक स्थानसे दूसरे स्थानको चलकर नहीं जा सकता, क्योंकि जहां वह नहीं है ऐसा स्थानहि नहीं है,जहां वह जाने-का यत्न करे। पहिलेसे हि वह वहां उपस्थित है, इसी लिये वह अचल, अचंचल, किंवा अचर है।

यहां एक शंका ऐसी आती है कि, यह जो सर्वगत आत्मा है, वह सबका मिलकर एक है अथवा हरएक का आत्मा अलग अलग सर्वगत किंवा सर्वव्यापक है? अनंत जीवोंके अनन्त आत्मा हैं, वे सबके सब सर्वव्यापक अथवा विभु मानना

असंभव है।

इस द्वितीयाध्यायमें कहे सांख्य मतानुसार अनंत आत्मा सर्वव्यापक नहीं हैं। सबका एकहि सर्वव्यापक आत्मा है यह इस अध्यायके सांख्य तत्त्वज्ञानका सिद्धान्त है। इस विषयके प्रमाण यहां देखिये—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
(श्लो० १८)

इस श्लोकमें शरीरधारी (नित्यस्य) नित्य एक आत्माके (अन्तवन्तः देहाः)नाश होनेवाले अनेक देह हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् अनेक शरीरधारियोंका मिलकर सबमें व्यापक एक आत्मा है,ऐसा इस स्थानपर भगवान् श्रीकृष्ण को कहना है। इसी प्रकार अगला श्लोक इसी विषयमें देखिये-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत॥
(श्लो० ३०)

"यह देहधारी अवध्य नित्य आत्मा सबके देहमें उपस्थित है।" इस श्लोकमें भी सबके देह में एक आत्मा है ऐसाहि कहा है। यहां यद्यपि 'सबके देहोंमें' ऐसा नहीं कहा है, तथापि आत्मा (सर्वगत) सर्वव्यापक है और वह सब के देहमें है इतना कहनेसे एक सर्वव्यापक आत्मा अनंत देहोंमें है ऐसा स्वयं सिद्ध होगा। इसके सिद्ध करने के लिये अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है, यदि किसी को प्रमाण चाहिये, तो भगवद्गीताका निम्नलिखित श्लोक देखिये—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
भ० गी० १०।२०

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
भ० गी० १५।१४

"मैं एक आत्मा सर्व भूतोंके अन्दर रहा हूं। मैं विश्वका नेता होकर सब प्राणियों के देह का आश्रय करके रहा हूं।" यहां एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है ऐसा कहा है। इन श्लोकोंका विचार करनेसे पूर्वोक्त शंकाका निराकरण हो जाता है और भ० गीताके तत्त्वके अनुसार एक आत्मा सब देहोंमें है यह बात स्पष्ट होजाती है।

यहां कई पूछेंगे कि यदि सबका एक आत्मा है और वह भूमा है,तो एकका सुखदुःख दूसरेको कैसा नहीं होता? इस शंका का उत्तर भगवद्गीतामें किसी श्लोकमें नहीं दिया है। उपनिषदोंमें इस विषयमें इतनाहि कहा है कि सुषुप्तिमें भूमा अवस्थाका—एकत्त्वावस्थाका—अनुभव मनुष्य करता है, इस लिये उसको उस समय किसी दूसरेका भान नहीं होता, वही एकत्व का अनुभव करनेवाला आत्मा जाग्रतिकी अवस्थामें द्वैतका अनुभव करता है। अर्थात् एकहि मनुष्य जाग्रतिमें द्वैत स्थितिमें और सुषुप्ति—समाधि—मुक्तिमें अद्वैत स्थितिमें रहता है। यदि यह सत्य है, तो सुषुप्तिमें उसको सबके सुखदुःख का अनुभव होना चाहिये। परंतु इसमें बात यह है कि जो शारीरिक सुखदुःख हैं वे भी सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल शरीरका संबंध छूट जाने के कारण किसी को भी नहीं होते। अपने शरीर के फोडे फुन्सीयोंका दुःखभी निद्रामें मनुष्यको अनुभवमें नहीं आता, तो दूसरेके शारीरिक दुःखका कैसा अनुभव होगा? इस लिये शारीरिक सुखदुःख का अनुभव तो भूमावस्थामें नहीं होगा। परंतु शुद्ध मनके प्रेरित विचार काल और स्थान का अन्तर न मानते हुए दूर देशमें सुषुप्ति अवस्थामें स्थित मनुष्यके मन तक पहुंचते हैं, इस अनुभव से पता लगता है कि मनुष्यको यह भूमावस्था के अद्वैतका अनुभव होनेका संभव है। उपनिषदोंमें यहां तक ये विचार स्पष्ट रीतिसे कहे हैं, गीतामें भी उसीका अनुवाद "सर्वगत आत्मा" है ऐसा कहकर किया है।

मनुष्यका अनुभव निःसंदेह द्वैतका है, भिन्न आत्मा होनेका है। साथहि साथ मनुष्य अपने आपको अशक्त, अल्प, अल्पज्ञ, क्षीण, परिमित, क्षुद्र, मरनेवाला, जीर्ण और वृद्ध होनेवाला अनुभव करता है। परंतु शास्त्र कहता है इसके विरुद्ध। शास्त्रानुसार आत्मा ब्रह्म, विभु, ज्ञानी,

अपरिमित, महान्, भूमा, अमर, अजर, अदाभ्य, सदा तरुण, अव्यय आदि रूप है। साधारण मनुष्यके अनुभव और शास्त्रका कथन इसमें इतना महदन्तर है। वेद में भी जीवात्मा परमात्माके सब नाम एक जैसेहि हैं। दोनोंके एक जैसे नाम होनेसेहि दोनोंके गुणधर्मों की एकता सिद्ध होती है। गीतामें भी—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
भ० गी० १५।७

"मेरा (परमात्माका) एक सनातन अंश जीवलोक में जीव बना है।" ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसा अग्निका अंश अग्नि रूप होता है वैसा हि परमात्माका का अंश परमात्मरूप होता है। इस प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि सर्वव्यापक एक आत्मा है, यह यहां कहे सांख्यमत का निश्चित सिद्धान्त है। इस आत्माके गुणबोधक विशेषण ये हैं—

३ नित्यः (श्लो०१८;२०;२१;२४;२५;३०)

"नित्य अर्थात् सदा एक जैसा रहनेवाला, तीनों कालों में एकसा रहनेवाला, जिसका कभी नाश नहीं होता है," अत एव उसको—

४ शाश्वतः (श्लो०२०) सनातनः (श्लो० २४)

"सदा रहनेवाला, हमेशासे जो एक जैसा है, जो अनादि काल से है, वह शाश्वत और सनातन कहते हैं।" यह कल नहीं था, आज है और कल नहीं रहेगा, ऐसी बात नहीं, यह सब काल में एकसा विद्यमान है। इस कारण इसके निम्नलिखित नाम सार्थ होते हैं—

५ अजः (श्लो० २०; २१)

"यह जन्मता नहीं, नहीं यह उत्पन्न होता है," यही भाव व्यक्त करनेके लिये निम्नलिखित वाक्य कहे हैं—

न जायते। (श्लो० २०)

"यह जन्मता नहीं, इस को कभी उत्पत्ति नहीं होती।" यहां कई कहेंगे कि यद्यपि यह जन्मता नहीं तथापि इसका नाश होता होगा, इस शंका की निवृत्ती करनेके लिये निम्नलिखित शब्द कहे हैं

६ अनाशी (श्लो०१८) अविनाशी (श्लो०२१)
अव्ययः (श्लो०२१) नित्यं अवध्यः (श्लो०३०)
अच्छेद्यः (श्लो० २४)

"इसका नाश नहीं होता, इसका व्यय नहीं होता, इसमें न्यूनाधिक नहीं होता, इसका वध नहीं होता, इसको छिन्न भिन्न किया नहीं जा सकता, यह हमेशा अवध्य है।" ये सब शब्द इस का नाश नहीं है यह बात व्यक्त कर रहे हैं। यही भाव अधिक स्पष्ट करनेके लिये निम्नलिखित वाक्य कहे गये हैं—

न म्रियते (श्लो०२०) न हन्यते (श्लो०१९)
हन्यमाने शरीरे न हन्यते। (श्लो० २०)
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि (श्लो० २३)

"यह मरता नहीं, यह मारा नहीं जाता, शरीर काटा जानेपर भी यह काटा नहीं जाता, इसको शस्त्र काट नहीं सकते" ये सब स्पष्टीकरण पूर्वोक्त शब्दोंके भाव को अधिक स्पष्ट कर रह हैं। इन सब कथनों का विचार करनेसे इसके अमर और अजन्मा होनेका स्पष्ट ज्ञान होता है। कई कहेंगे कि यह एकवार शरीर धारण करता होगा, परंतु पश्चात् शरीर नाश होनेके बाद इसकी कैसी स्थिति होती होगी? इस विषयका पता कैसा लगेगा? इसका उत्तर देनेके लिये गीतामें कहा है कि—

भूत्वा अभविता न। (श्लो० २०)

'एकवार शरीरधारण करनेपर फिर कभी शरीर धारण नहीं करेगा ऐसा नहीं' एक बार जैसा हुआ है वैसाही आगेभी होगा। इसी का अधिक स्पष्टी करण अगले श्लोक में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥
भ० गी० २

"मैं किस कालमें नहीं था ऐसा नहीं, तू कभी नहीं था ऐसा नहीं, ये राजा लोग कभी नहीं थे ऐसा भी नहीं और इसके बादभी हम सब न होंगे ऐसा भी नहीं है। अर्थात् हम पहिले थे, इस समय हैं और आगे भी होंगे। देहधारी आत्मा को इस देहमें जिस प्रकार बालपन, तरुणपन, और वृद्धपन प्राप्त होता है, उसी प्रकार आगे उसी आत्माको दूसरी देहभी प्राप्त होती है। इस कारण इस विषय में ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता।" इस प्रकार इसका अजन्मापन, अविनाशीपन कथन करनेके साथ साथ यह वारंवार देह धारण करता है ऐसाभी कहा है। देह धारण करते हुएभी यह अजन्मा है, देह मरनेपरभी यह अमर है, देहको बाल्य और वार्धक्य होनेपरभी यह सदा तरुण है। नूतन देह प्राप्त होनेपर भी उसमें यही पुराणपुरुष निवास करता है अतः इसको-

७ पुराणः (श्लो० २०)

"पुराणपुरुष कहते हैं।" (पुरा अपि नवः पुराणः) यह पुराना होता हुआ भी नवा जैसा है. यह कभी पुराना नहीं होता, यह सदा एक जैसा तरुण युवा रहता है। अतः कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
भ० गी० २।२२

"जैसे कोई मनुष्य पुराने कपडे फटनेपर नये लेता है वैसेहि देह जीर्ण होनेपर देही आत्मा नये देह लेता है।" इस रीतिसे यह पुराना होता हुआ नया बनता है। देह मरनेपरभी यह नहीं मरता, देह जीर्ण होनेसे यह जीर्ण नहीं होता। इस विषय में और देखिये—

८ अदाह्यः,अक्लेद्यः अशोष्यः (श्लो० २४)

अर्थात् यह जलाया, भिगोया अथवा सुखाया नहीं जाता। इसी का स्पष्टीकरण निम्नलिखित वाक्योंमें है—

न एनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापः।
न शोषयति मारुतः। (श्लो० २३)

"अग्नि इसको जला नहीं सकता, जल इसको भिगा नहीं सकता, और वायु इसको सुखा नहीं सकता।" इन पञ्चभूतोंका इस पर कोई परिणाम नहीं होता। इसी लिये—

अविकार्योऽयमुच्यते। (श्लो० २५)

"इसको अविकारी कहते हैं।" अविकारी वह होता है जिसपर कोई परिणाम नहीं होता। जो एक ही स्वरूपसे सदा रहता है। य

९ स्थाणुः (श्लो० २४)

"स्थिर" है, न हिलनेवाला, न बदलनेवाला और न विकृत होनेवाला तथा सबको आधार देनेवाला है। परंतु यह—

१० अव्यक्तः, अचिन्त्यः (श्लो० २४)
अप्रमेयः (श्लो० १८)

" व्यक्त नहीं, यह दिखाई नहीं देता, इसका चिन्तन नहीं किया जा सकता, इसका परिमाण भी नहीं हो सकता। इस प्रकार का यह आत्मा है, परंतु सब इस के विषय में—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं...
वेद न चैव कश्चित्। (श्लो० २९)

"हर कोई इस को आश्चर्यचकित होकर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है, परंतु कोई इसको यथार्थ रीतिसे जान नहीं सकता।" इसकी शक्ति सब आश्चर्योंसे भी बढकर आश्चर्य है। यह ऐसा गूढ आश्चर्य है कि इस का पूर्ण ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। बडे विशेष ज्ञानियोंको इसका ज्ञान होता है परंतु वे दूसरोंको वह ज्ञान बता नहीं सकते, क्योंकि शब्दोंसे उसका वर्णन करना

कठिन है। इस कारण इसको "स्वसंवेद्य" अर्थात् स्वयं जानने योग्य कहते हैं। अस्तु, इस प्रकार का एकात्मवाद भगवद्गीतामें उपदेशके प्रारंभमें कहा है इस ज्ञान को आचार में लाना चाहिये।

सांख्याचार।

जो आत्मा मेरे अन्दर है वही अन्य मनुष्योंके अन्दर और वही कीट, पिपीलिका, पतंग आदि-कोंमें भी है, यह तत्त्व स्वीकारनेपर आत्मिक दृष्टीसे सबकी एकता है ऐसा मानना पडता है। इसका सरल अर्थ यह है कि यदि मैं किसी की हिंसा करूं तो वह मेरीहि हिंसा होगी, किसी के साथ मैं असत्य बोलूं तो मेरे साथ हि असत्य बोलनेके समान होगा, किसी की चोरी मैं करूं तो वह मेरी हि चोरी मैंने की ऐसा होगा, यदि किसी के साथ व्यभिचार किया तो वह अपने साथहि व्यभिचार होगा, जो जो अत्याचार मैं दूसरेके साथ करूंगा वह सब अत्याचार मेरे आत्माके साथ अर्थात् मेरे साथ होगा। अत्याचारी मनुष्य इस बातको चाहे न समझे, न माने किंवा इस बातकी ओर ध्यान न दे, परंतु यदि सबका आत्मा एक होगा, तो 'दूसरे के साथ करता हूं' ऐसा मानकर किया हुआ अत्याचार और अपकार कभी न कभी अवश्यहि अपने ऊपर आजायगा, क्योंकि इस जगत् में 'दूसरा' कोई नहीं है, इसलिये कहा है कि—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति। य इह नानेव पश्यति कठ०४।१०,११; बृ०उ०४।४।१९

"जो यहां भिन्नता देखेगा वह मृत्युसे भी बडे मृत्युको प्राप्त होगा।" दूसरेके साथ किया अत्याचार अपने ऊपर लौट आवेगा और दूसरे पर किया उपकार भी अपनेको प्राप्त होगा, यह ज्ञान जनताके मनमें स्थिर होगा, तो निःसंदेह जनताका व्यवहार सुधर जायगा।

कौरव जो मरनेवाले हैं वे अपनेहि अत्याचार के कारण मरते हैं, दूसरेके मारनेसे कोई नहीं मरता; सब मरते या दुरवस्थाको प्राप्त होते हैं; वे अपनेहि कर्म के कारण होते हैं। यह निश्चित रीतिसे श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को बताया। यही बात सबको ध्यानमें धारण करना योग्य है।

कोई मनुष्य दूसरेके ऊपर अत्याचार क्यों करता है? कौनसी बुद्धि इसके अन्दर है जिसके कारण वह अत्याचार में प्रवृत्त होता है, बुराई करने लगता है अथवा अनाचार के पथमें जाने लगता है? यह समझता है कि मैं अलग हूं और वह दूसरा मेरे से भिन्न है, मैं अधिक सुखी होना चाहता हूं इसलिये उसपर मैं अत्याचार करके उसके भोग मैं लूंगा और सुख भोगूंगा। यह अपने सुख बढाने की बुद्धि मनुष्यको बुरे मार्ग की ओर जाने में प्रवृत्त करती है। यदि इस समय उसको ज्ञात होगा कि मेरे अत्याचार करनेसे अन्तमें मेराहि दुःख बढेगा, तो निःसन्देह वह ठीक मार्ग पर चलेगा। तथा दूसरोंका भला करनेसे मेरा सुख बढेगा ऐसा यदि उसका निश्चय हुआ, तो निःसन्देह वह दूसरों की सेवा करेगा। परंतु साधारण मनुष्यको सीधा मार्ग 'सीधा है' ऐसा प्रतीत नहीं होता, विपरीतहि ठीक प्रतीत होता है, इसी लिये शास्त्र के उपदेशों की आवश्यकता होती है। शास्त्र क्या कहता है देखिये—

सुखदुःखकी समानता।

इस अध्यायमें जो विशेष महत्त्व की बात कही है वह 'सुख और दुःख को समान मानना' यह है। सुख को पास और दुःखको दूर करने की लालसासेहि मनुष्य अत्याचार करनेकी ओर झुकता है। परंतु यदि उसके मनमें सुख और दुःख के विषयमें समान भाव रहा, तो वह सुख को पास और दुःख को दूर करने में यत्नहि क्यों करेगा? जिसके मनमें सुख और दुःख समान हैं वह किसको दूर और किसको पास करेगा? और वैसा क्यों करेगा? देखिये—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।(३८)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। (१५)
शुभाशुभं नाभिनंदति न द्वेष्टि। (५७)
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। (५६)

"सुख दुःख, लाभ अलाभ, जय पराजय और शुभ अशुभ को समान मानने, शुभसे आनन्द न मानने और अशुभका द्वेष न करने, शुभपर प्रेम न करने और अशुभपर क्रोध न करने से मनुष्य अमृत की प्राप्तिके लिये योग्य होता है।" मनुष्य क्या और अन्य प्राणी क्या स्वभावतः सुखका प्रेमी और दुःखका द्वेषी है। स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसी है, परंतु शास्त्र कहता है कि सच्चा अविनाशी सुख तो तब मिलेगा कि जब मनुष्य सुख दुःख को समान मानेगा। यह बात इतनी कठिन है कि बहुत मनुष्योंको सुखदुःख, हानि-लाभ, जय पराजय, शुभ अशुभ, मंगल अमंगल आदि द्वन्द्वोंको समान मानना ही अशक्यसा प्रतीत होता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने आपको अशक्त अनुभव करता है और शास्त्र कहता है कि 'तू शक्तिमान् है।' इसी प्रकार द्वन्द्वोंके विषय में है। अपनी मूढतासे एक को चाहता और दूसरे को नहीं चाहता, परंतु होता है यह कि इसके न चाहनेपर भी दुःख इस पर आता है और चाहनेपर भी सुख इसको नहीं मिलता। यदि मनुष्य विचार करके देखेगा कि अपने चाहनेके साथ या न चाहने के साथ सुखदुःखादि द्वन्द्वोंकी प्राप्ति का कोई संबंध नहीं है, वे तो अन्य कारणोंसे प्राप्त होते या नहीं होते हैं, तो उसको पता लगेगा कि सुखदुःखोंको समान माननेकी जो शास्त्रकी आज्ञा है, वही अधिक लाभकरी है। इतना अनुभव आनेके पश्चात् वह मनुष्य शास्त्रकी आज्ञा अवश्य पालन करेगा और द्वन्द्वों को समान मानने लग जायगा।

द्वन्द्वोंको समान माननेका अर्थ क्या है? सुख को और दुःखको समान कैसे मानना? कभी लाभ और हानि समान हो सकती है? क्या कभी पुत्रजन्म और पुत्रमरण समान हो सकते हैं? जगत् की सृष्टी और जगत् का प्रलय ये क्या कभी समान भावसे देखे जा सकते हैं? क्या इनमें कोई भेद नहीं है? और यदि इतना अन्तर है तो जन्म मृत्युको समान देखना कैसे हो सकता है? क्या कभी कोई मान सकता है कि मनुष्यका जीवित रहना और मरना समान हि है?

इस प्रकार शंका करना साधारण मनुष्य के लिये योग्यहि है। परंतु द्वन्द्वोंको समान मानने का भाव पहिले समझना चाहिये और पश्चात् शंका करना चाहिये। इसलिये उक्त प्रकार शंका करनेवाले सबसे प्रथम द्वन्द्वोंको समान माननेका तात्पर्य निम्नलिखित प्रकार समझें—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः।(५६)
सर्वत्रानभिस्नेहः। (५७)

'दुःख आनेपर मन उद्विग्न होने न दें, और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर उनमें लुब्ध न हों, तात्पर्य किसी विषयमें अधिक स्नेहभाव न धारण करें।' यह सुखदुःखको समान माननेका भाव है। इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिये ऐसा कहा जा सकता है कि जय होनेपर घमंड न करे और पराजय होनेपर हताश न होवे, लाभ होनेपर उन्मत्त न होवे और हानि होनेपर उदास न होवे, शुभकी प्राप्ति होनेपर आनंदसे स्वकर्तव्य न भूले और अशुभ प्राप्त होनेपर दुःखसे मूढ न बने, जन्मसे सुख न माने और मृत्युसे दुःख भी न माने। इसीको सुखदुःख समान मानना कहते हैं।

सामान्य मनुष्य धन मिलनेपर इतना उन्मत्त होता है कि किसी की पर्वाह न करता हुआ मनमाने अत्याचार करने लगता है; तथा धननाश होनेपर वही मनुष्य इतना रोता पीटता है कि अन्तमें पागल बनकर व्यवहार के लिये निकम्मा हो जाता है। परंतु जो सुखदुःखको समान माननेवाला है, लाभहानिको एक जैसा माननेवाला है, वह बहुत धन प्राप्त होनेपर भी मनकी समानता

दूर होने नहीं देता अथवा धन नष्ट होनेपर भी दुःख नहीं करता, परंतु दोनों अवस्थाओं में अपने मनको समानतया कर्तव्यदक्ष बना रखता है। इसीको द्वन्द्वोंको सम मानना कहते हैं।

मनुष्यको सुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये, परंतु सुख मिलनेपर कर्तव्यभ्रष्ट नहीं होना चाहिये, तथा मनुष्यको दुःखनिवृत्ति के लिये यत्न करना चाहिये, परंतु दुःख प्राप्त होनेपर हताश बनकर कर्तव्यमूढ नहीं होना चाहिये; तात्पर्य सुख मिले अथवा दुःख मिले, दोनों अवस्थाओंमें अपने कर्तव्यकर्म को भूलना नहीं चाहिये। बाह्य सुखदुःख क्षणिक हैं और अपना कर्तव्य पालन करना अपना श्रेष्ठ धर्म है। क्षणिक बातों के लिये श्रेष्ठधर्मको दूर करना अयोग्य है। सुख दुःखको समान माननेका यह अर्थ है। इस के लिये कुछ उदाहरण देखिये- पत्थर सर्दी में और गर्मी में अपने स्थान पर स्थिर रहता है, समुद्र अतिवृष्टी और अनावृष्टीमें अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वृक्ष अपनी छाया जैसी तोडनेवालेको देता है वैसीहि जल सिंचन करने वालेकोभी देता है, मनुष्य भी इसी प्रकार सुख-दुःख, हानिलाभ, जय पराजय और सर्दी गर्मी प्राप्तहोनेपर अपनी धर्ममर्यादा का उल्लंघन न करे।

आज सर्दी है इसलिये मैं आज अपना कर्तव्य नहीं करूंगा, आज बडी गर्मी है इस कारण मैं अपना कर्तव्य नहीं कर सकता, आज मुझे बहुत धन प्राप्त हुआ अतः मुझे अब कर्तव्य पालन की क्या आवश्यकता है? आज तो मेरा धन सब नष्ट हुआ है मैं उदास हुआ हूं और मुझसे कर्तव्य पालन नहीं हो सकता, आज पुत्रजन्म का महोत्सव है इस लिये आज कर्तव्य करनेके लिये फुरसत नहीं है, आज तो पुत्रकी मृत्यु होगई अतः दुःख के कारण कर्तव्य पालन कैसे हो सकता है? इस प्रकार जो लोग कहते हैं वे द्वन्द्वोंके आघातोंको सह नहीं सकते। वे द्वन्द्वोंसे पराभूत होते हैं। परंतु पूर्वोक्त अवस्थाएं होनेपर भी जो अपने कर्तव्य पालन करनेमें दत्तचित्त होते हैं वे ही द्वन्द्वों के आघातों को सह सकते हैं और वेहि द्वन्द्वोंको सम मानते हैं। और जो द्वन्द्वोंको सम मानते हैं वे हि शान्ति और अमरत्वको प्राप्त होते हैं।

इसका दूसराभी एक अर्थ है। 'सम' शब्द का अर्थ, परब्रह्म, परमात्मा किंवा ईश्वर है, क्यों कि वह सर्वत्र सम है, सबमें समानतासे व्याप्त है, उसकी सर्वत्र सम अवस्थिति है। देखिये—

निर्दोषं हि समं ब्रह्म। भ० गी० ५।१९
समं पश्यति योऽर्जुन। भ० गी० ६।३२
समोऽहं सर्वभूतेषु। भ० गी० ९।२९
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
भ० गी० १३।२७
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
भ० गी० १३।२८

"ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्दोष है। जो सर्वत्र सम ब्रह्मको देखता है (वह परम योगी है।) मैं आत्मा सर्व भूतों में सम हूं। सब भूतोंमें सम परमेश्वर को देखे।" इस प्रकार सर्वत्र सम अवस्थित होनेके कारण परब्रह्म, परमात्मा अथवा परमेश्वरको 'सम' कहते हैं। इस अर्थ को लेनेसे—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।(३८)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। (१५)

" सुखदुःख, हानि लाभ, जयपराजय (समे) सम अर्थात् परमात्मरूप मान कर अपना कर्तव्य कर। (सम-दुःखसुखं धीरं) सम अर्थात् परब्रह्मरूप सुखदुःखको माननेवाले धैर्यशाली मनुष्यको अमृत की प्राप्ति होती है।" यहां शंका होगी कि सुख तो परमात्मरूप होगा, परंतु दुःख परमात्मरूप कैसे होगा? इस शंका के उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त है कि जिसको हम सुख या दुःख कहते हैं वस्तुतः वह सच्चा सुख भी नहीं होता और सच्चा दुःखभी नहीं होता है। देखिये कोई विद्यार्थी खेलनेमें सुख और पढाई में दुःख

मानता और अनुभव भी वैसाहि करता है, परंतु वस्तुतः बात उलटी है। कोई राष्ट्र जो पराभूत होता है वह दुःख करता है, परंतु पराभूत होनेके कारण उसको अपनी शक्ति से स्वातंत्र्य कमानेका अवसर प्राप्त होता है, इससे उसके यश की वृद्धि होती है, फिर उसमें दुःखके लिये स्थान कहां है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि जिसको हम सुख दुःख, अथवा हानिलाभ मानते हैं वे वैसे हैं इस विषयमें निश्चय नहीं है। परमेश्वर मनुष्यों के कर्मानुसार सबको यथायोग्य अवस्थाएं देता है, जिन अवस्थाओंमें रहकर मनुष्य अपनी आत्मोन्नति कर सकते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ होनेसे और उसका वर्ताव सबके साथ सम होनेसे वह हरएक अवस्था मनुष्यको उन्नत होनेके लिये जैसी आवश्यक होती है वैसीहि देता है, चाहे हम उसको सुखावस्था समझें, चाहे दुःखावस्था समझें, वह परमेश्वर की योजनासे प्राप्त होनेके कारण मनुष्यकी उन्नति के लिये आवश्यक है। इसलिये मनुष्य उसको परमात्मरूप समझे। और दोनों अवस्थाओंके साथ सम भावसे अपने मनको रखे। किसीपर प्रीति न रखे और किसीका द्वेष न करे। परंतु दोनों अवस्थाओं में अपना कर्तव्य दक्षतासे करता रहे। इस दृष्टिसे पाठक निम्नलिखित उपदेशों का मनन करें—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः
भ० गी० २।४८

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।
भ० गी० ४।२२

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ॥
भ० गी० १२।१९

"सिद्धि असिद्धि, शत्रु मित्र, मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दुःख,निन्दास्तुति आदि द्वंद्वोंके विषयमें सम भावनारखना चाहिये। किसी एक की संगति करना और दूसरेका द्वेष करना अयोग्य है। इस प्रकार सम वृत्ति रखनेसे बंधन से मुक्तता हो जाती है।" कोई अवस्था प्राप्त हो, उस समय परमेश्वर की भक्ति मनमें दृढ रखकर अपना कर्तव्य पालन करनेसे निःसन्देह उन्नति और इससे विपरीत भावना से अधोगति होती है।

व्रत लेनेवालोंको इन द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखना अत्यंत आवश्यक है,अन्यथा थोडीसी विपरीत अवस्था प्राप्त होतेहि व्रतभंग होनेकी संभावना होगी। जितने भी वडे कर्तृत्ववान् पुरुष होगये हैं, उनके चरित्र देखे जांय, तो पाठकों को पता लगेगा कि वे सुखदुःखादि द्वन्द्वोंको सम माननेवाले थे। इस समयतक कोई ऐसा पुरुष यशस्वी नहीं हुआ है कि जो सुखदुःखोंसे मोहित होकर कर्तव्यभ्रष्ट होता हुआ महत्त्वके स्थानपर आरूढ हो सका है। अर्थात् मनुष्यको उन्नत होने की इच्छा होगी तो उसको अवश्यहि द्वन्द्वोंको सहना चाहिये। दूसरा कोई मार्ग उन्नति के लिये नहीं है।

मनुष्यको इच्छा रहती है कि अपनी कामना तृप्त हो। और मनुष्यको कामना भी कौनसी होती है? एकही कामना होती है कि शुभ अपने पास आवे और अशुभ दूर होवे। यहीं कामना सब प्रकारसे मनुष्य को द्वन्द्वोंके जालमें अटका देती है और सदा उसको भ्रान्त बना देती है। अतः कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। (७)

"मन की सब कामनाओंका त्याग करके जो निरिच्छ, अहंकाररहित और ममत्वरहित होकर व्यवहार करता है वह शान्ति प्राप्त करता है।" मनकी सब कामनाओं का त्याग करना ही इस सिद्धिका अनुष्ठान है। द्वन्द्वोंके आघातोंसे छूटने की जिसको इच्छा होगी उसको उचित है कि वह अपने अन्तःकरणसे सब कामनाओंका त्याग करे।

कामना त्याग करनेका अभ्यास जिसने किया है और जो अपने मनको निष्काम बना सकता है, अथवा जो अपने मनको निर्विकार कर सकता है, उसकी मानो उच्चतम अवस्था हो चुकी है। जिस उच्चतम अवस्थाकी प्राप्ति करनेकी सूचना सब शास्त्रोंमें कही है, वह मन निष्काम होनेसे हि प्राप्त हो सकती है। इसका अनुष्ठान कैसा किया जा सकता है, इसका विधान निम्नलिखित श्लोकोंमें किया है—

इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते। (५८)
यस्य इंद्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः
निगृहीतानि। (६८)

"इंद्रियोंको विषयोंसे हटाना" यह अनुष्ठान है। इंद्रियोंके विषय निश्चित हैं। उन विषयोंकी ओर इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इस प्रवृत्तिसे इंद्रियोंको पीछे हटानेका नाम अनुष्ठान करना है। ये इन्द्रिय शान्त और स्तब्ध होनेके पश्चात् ही उच्च अवस्थाका अनुभव आता है। द्वन्द्वोंको सहनेका अनुष्ठान भी तब होगा जब कि इंद्रियां विषयोंसे हटेंगी और—

आत्मनि एव आत्मना तुष्टः। (५५)

'अपना आत्मा अपने आत्मासेहि संतुष्ट होगा।' इस समय बाह्य पदार्थोंकी प्राप्तिसे संतोष होता है ऐसा हरएक मनुष्य का ख्याल है। परंतु यह भ्रम है। बाह्यविषयोंसे मन हटगया तोहि संतोष होता है। मनुष्यमात्र जिस विषयानन्दके लिये प्रयत्न करता है, उससे कई गुणा यह निर्विषय आनन्द है और आत्मासे आत्माकी तुष्टीका आनन्दभी सर्वोपरि है। इसप्रकार निर्विषयता प्राप्त होनेसे मनसे कामना करनीहि नहीं पडती, उपभोग स्वयं इसके पास आते हैं, वे इसके संकल्पमात्रसे इसके पास उपस्थित होते हैं।

कामाः आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं प्रविशन्ति। ७०

"जो स्वयं पूर्णताका अनुभव करता है और स्थिर रहता है उसके पास सब काम उपभोग स्वयं पहुंचते हैं।" उसको कामोंके पास यत्नसे जाना आवश्यक नहीं होता। उसको इस समय संकल्पसिद्धि होती है। यह संकल्पसिद्धि तब प्राप्त होती है, जब इसके मनसे सब काम पूर्णतया दूर होते हैं। यहां देखिये कि जब यह सुखोंकी कामना करता है तब इसके पास दुःख पहुंचते हैं और सुख दूर भागते हैं। परंतु जब यह कामनाओंका त्याग करता है, निरिच्छ, निःस्पृह, निष्काम, और शान्त बनता है, तब विनामांगे संपूर्ण आनन्द इसके पास स्वयं चलकर आते हैं। देखिये निष्काम होनेका महत्त्व कितना है !!

सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त और उसका अनुभव करनेका अनुष्ठान जो इस द्वितीय अध्यायमें कहा है, उसका सारांशसे यह स्वरूप है। इस अध्याय में कहा दूसरा मार्ग 'योगमार्ग' है उसका स्वरूप अब देखिये—

योगमार्ग।

सांख्यमार्ग इस समय तक कहा, अब योगमार्ग का स्वरूप सारांशसे बताते हैं। योगकी व्याख्या इस अध्यायमें इस प्रकार कही है।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा
समत्वं योग उच्यते। (४८)
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम्॥ (५०)

"सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव रखना चाहिये। इस समताका नाम योग है। इस प्रकारकी समबुद्धिसे युक्त मनुष्य सुख और दुःख इन दोनोंको दूर करता है, अतः तू इस योगका आचरण कर, कर्म करनेमें कुशलता का ही नाम योग है।" इस प्रकार योगकी व्याख्या करते हुए भी सुखदुःखके विषयमें समभावना रखनेका नाम योग कहा है। सिद्धि असिद्धि, हानिलाभ, जयपराजय के विषयमें मन सम रखना और हरएक कर्तव्य कुशलताके साथ करने का नाम योग है। यहां इस योगका अर्थहि

'समत्वयोग' है। सब कर्म इस योग के द्वारा करने चाहिये ऐसा निम्नलिखित श्लोकमें कहा है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। ४८

"योग का आश्रय करके सब प्रकारके कर्म कर और कामना का संग छोड दो।" सब कर्म करनेके समय इस उपदेशका स्मरण रखना चाहिये। द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखनेका नाम योग है। इसप्रकारका समभाव रखते हुए अर्थात् सुखदुःखका विचार मनसे हटाकर कर्तव्य करना चाहिये। सुख हुआ तोभी कर्तव्य करूंगा और दुःख हुआ तो भी कर्तव्य करता रहूंगा, ऐसा मनका निश्चय करके अपने कर्तव्यपर सदा स्थिर रहनेका नाम योग है। यहां योग का तात्पर्य 'कर्तव्य के साथ अपना संबंध जोडना' है। कैसी भी अवस्था प्राप्त हुई तो भी कर्तव्यकर्म न छोडनेका भाव यहां है। साधारण मनुष्य सुखदुःख होते हि कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। परंतु समत्वरूप योग करनेवाले हर एक अवस्थामें कर्तव्यदक्ष रहते हैं। 'समबुद्धि' का अर्थ परमेश्वर में स्थिर बुद्धि ऐसा भी होता है, क्यों कि 'सम' शब्द का अर्थ परब्रह्म है, इस विषयका विवरण इसके पूर्व आचुका है। द्वन्द्वोंके आघात होनेपर भी ईश्वरका विस्मरण न होनेका भी नाम समबुद्धि है। प्रायः दुःखके समय परमेश्वर का विचार जाग्रत होता है, परंतु सुख, लाभ, जय, विशेष धनप्राप्ति, विशेष अधिकारलाभ होनेपर वह अपना महत्व है ऐसा मनुष्य मानता है, और परमेश्वर को भूलता है। इस भूलनेके कारण विषम बुद्धि होती है। योगी लोग जैसे दुःखके समय वैसेहि सुखके समय ईश्वरमें श्रद्धा रखते हैं और कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होते। इस समत्वयोग के अनुसार मनुष्यको अपना आचरण रखना चाहिये। इस विषयका सुवर्ण नियम यह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते।
मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूः।
मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (४७)
कृपणाः फलहेतवः। (४९)

"मनुष्यका अधिकार कर्म करनेमें है, कदापि फलपर नहीं, कर्मके फल का हेतु मनमें धारण न कर और कर्म न करनेमें तेरी रुची न हो। फल का हेतु मनमें धारण करनेवाले अनुदार होते हैं।"

यह सुवर्णनियम है। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह इस नियमको अपने अन्तःकरणमें स्थान दें। कर्म करना अपने अधिकार में है ऐसा समझे, क्यों कि कोई प्राणी कर्म किये विना एक क्षण भर भी नहीं रह सकता, इसकी इच्छा हो वा न हो, प्राणीके द्वारा कर्म होनाहि है। यदि ऐसा है तो मनुष्य योग्य रीतिसे श्रेष्ठ कर्म क्यों न करे? इसी लिये कहा है कि मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है। इसको कर्म करनाहि चाहिये। परंतु फलपर इसका कोई अधिकार नहीं है। इसके कर्म का फल इसको मिलेगा हि। जो कर्म करेगा उसको उस का फल अवश्य मिलेगा। परंतु उसपर उसका अधिकार नहीं। देखिये एकने आमका वृक्ष लगाया, उसका अच्छा पालन किया, यह तो उसके अधिकारमें था, परंतु उसका फल खाना उसके अधिकार में अवश्य होगा ऐसी कोई निश्चित बात नहीं। किसीने घर बनवाया, वह उसके अधिकारमें था, परंतु उसमें रहना उसके अधिकारमें निःसंदेह है ऐसा नहीं कहा जासकता। किसीने पाठशाला चलाई और उसमें विद्यार्थियोंको पढाना प्रारंभ किया, यह तो उसके अधिकारमें था, परंतु हरएक विद्यार्थीको पूर्ण विद्वान् बनाना उसके अधिकारमें नहीं है। क्योंकि फल का संबंध तो कई अन्य बातोंके साथ होता है, अतः वह इसीके अधिकारमें नहीं होता। इस कारण कहा है कि फल पर कर्मकर्ताका अधिकार नहीं है।

जब फलपर इसका अधिकारहि नहीं है, तब केवल हेतु मनमें धारण करके कार्य करना निःसंदेह अयोग्य है। यहां कोई पूछेंगे कि फलका हेतु मनमें न धारण किया तो मनुष्यकी प्रवृत्ति कर्म की ओर कैसी होगी? यह प्रश्न ठीक है। साधारण मनुष्यकी प्रवृत्ति फलके हेतुके विना कर्म करनेकी ओर नहीं होगी यह सत्य है, इसीलिये साधारण मनुष्य कर्म करते हैं और फलाशासे बद्ध होते हैं। विना फलप्राप्तिके हेतुके स्वभावसे हि कर्म होना चाहिये। जैसा दीप प्रकाश देता है वह किसी फलेच्छासे नहीं, परंतु उसका स्वभावहि दूसरोंको प्रकाश देना है। इसप्रकार स्वभावहि शुभ कर्म करनेका बनना चाहिये। और उस में कोई फलेच्छा की प्रवृत्ती नहीं रखनी चाहिये।

मनुष्यमें जो फलेच्छा रहती है वह स्वार्थकी इच्छा ही है, जो कर्म मैं कर रहा हूं, उसका फल मुझे मिले और मैं उसके भोगसे सुखी बनूंगा। इस वृत्तीसे किये कर्म बंधनकारक रहते हैं। यदि मनुष्यके मन से यह स्वार्थकी प्रवृत्ती हटजायगी, और यदि वह जाति और राष्ट्रहित की भावनासे कार्य करेगा, तो उससे अधिक निर्दोष कर्म होंगे। परंतु व्यक्तिका स्वार्थ एक व्यक्तितक परिमित रहता है और राष्ट्रका स्वार्थ राष्ट्रकी मर्यादा तक सीमित होता है, यद्यपि वैयक्तिक स्वार्थसे राष्ट्रीय स्वार्थ अधिक विस्तृत है तथापि वह स्वार्थ हि है और जो दोष वैयक्तिक स्वार्थमें अल्प प्रमाण में होते हैं, वेही दोष राष्ट्रीय स्वार्थ में विस्तृत प्रमाणमें होते हैं। इसलिये संपूर्ण मानव जाती के अर्थात् जनता के कल्याण की दृष्टिसे अथवा संपूर्ण प्राणिसमष्टी के कल्याण करनेके विचार से सत्यदृष्टीसे जो कार्य होते हैं वेही निर्दोष होते हैं। यही परमेश्वरसेवा है और विश्वरूपमें परमेश्वरकी पूजा करनेकी विधि यही है। इस रीतिसे ही मनुष्य से निर्दोष कर्म होते हैं। इस प्रकारके कर्मोंमें मानवजातीकी या प्राणिमात्रकी भलाई के लिये कर्मोंके फल का त्याग करना होता है। अतः इसमें कर्मफल मुझे प्राप्त होना चाहिये, यह भावना नहीं रहती।

अन्तमें कहा है कि 'कर्म न करनेमें तेरी प्रवृत्ति न हो।' अर्थात् तू आलसी न बन। क्योंकि शरीरकी स्थितिभी कर्म करनेके विना नहीं होगी। अतः कर्म न करनेकी ओर प्रवृत्ती कदापि करना उचित नहीं है। 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' इस का और भी एक अर्थ होता है- 'तेरा संग अकर्म अर्थात् अयोग्य कर्ममें न हो।' अनुचित कर्म करनेकी ओर तेरी प्रवृत्ती न हो। क्योंकि अयोग्य कर्म करनेसे मनुष्यकी निःसंदेह अधोगति होगी। तात्पर्य यह है कि मनुष्य सुयोग्य कर्म निःस्वार्थबुद्धिसे करे। कर्म करनेके लिये मनुष्यको व्यवसायात्मिक बुद्धि चाहिये—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। (४१)

"व्यवसाय करनेकी एकहि बुद्धि इस कर्मयोगमें चाहिये।" अव्यवसायी लोगोंकी कुमार्गमें प्रवृत्त बुद्धियां अनंत होती हैं और वे सबको सब गिरावटके लिये साधन बनती हैं। अतः मनुष्य इनसे सावध रहे। इस योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य व्यवसायी तो बने, परंतु उसको आत्मविश्वासी भी बनना चाहिये, अतः कहा है—

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम
आत्मवान्। (४५)

"मनुष्य द्वन्द्वोंसे मुक्त हो, नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर रहे, किसी वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षाका विचार करनेवाला न हो और आत्मिक बलसे युक्त हो।" इस प्रकारके मनुष्यसेहि योगमार्गसे उत्तम कर्म होते हैं। क्योंकि इसमें आत्मिक बल और आत्मविश्वास होता है। मैं शुभकर्म करूंगा, मुझसे यह कर्म होगा, इस प्रकारका आत्मविश्वास उसमें रहता है, अतः उससे शुभ कर्म होते हैं। मुझसे कर्म होगा या न होगा, ऐसा संदेह इसके मनमें नहीं होता। आत्मिक बलभी उसमें बडा होता है। इससे उसमें बडाभारी

सामर्थ्य होता है ।

द्वन्द्वोंसे वह मुक्त होनेसे उसमें भोगकी आसक्ति और अभोगसे द्वेष नहीं होता है। न वह किसीपर प्रीति करता है और न किसीका द्वेष करता है। इसप्रकारके द्वन्द्वभावसे रहित होनेके कारणही उसके कर्म निर्दोष होते हैं। जो मनुष्य किसीपर प्रीति करेगा उसके लिये वह पक्षपात करेगा और जो जिसका द्वेष करेगा उसके प्रतिकूल वह कार्य करेगा। इस प्रकार उससे दोनों अवस्थाओंमें सदोष कार्य होंगे। परंतु जो मनुष्य रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित होगा,उससे प्रेममूलक अथवा द्वेषमूलक कोई दोष होनेका कारण न रहनेसे उससे निर्दोष कर्म होंगे। द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेका यह महत्त्व है।

सांख्य और योग ।

इस रीतिसे योगमार्गका उपदेश इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः इन वचनोंकी तुलना करके देखनेसे इन दोनों मार्गों में बहुत अन्तर है ऐसी बात नहीं, सांख्यमार्ग और योगमार्ग में बहुत अन्तर नहीं है, यह बात स्वयं गीताकारने भी कही है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

भ० गी० अ० ५

"सांख्य और योग ये दो पृथक् हैं ऐसा मूढ लोग कहते हैं, ज्ञानी नहीं कहते, क्यों कि इनमें से एक का ठीक रीतिसे अनुष्ठान करनेसे दोनों-का फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्यों को प्राप्त होता है वही योगियोंको मिलता है, अतः सांख्य और योग एक है ऐसा जो देखता है वही ठीक देखता है।" इस ढंगसे सांख्य और योग ये दो मार्ग भिन्न नहीं, एकहि हैं ऐसा भगवद्गीता का कथन है। अतः 'सांख्ययोग' नामवाले इस द्वितीयाध्यायमें 'योग' काभी उपदेश किया है। यदि इन में बहुत बडा भेद होता, तो दोनोंका उपदेश इस प्रकार साथ साथ न होता।

योग का उपदेश आगे आनेवाला है, उस समय इसका अधिक विचार करेंगे। अतः इस विषयमें यहां इतनाहि पर्याप्त है।

द्वितीय अध्याय का विचार समाप्त ।

द्वितीयाध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक ।

(१) क्लीबत्व छोड

क्लैब्यं मा स्म गमः ।

"क्लीबत्वको न प्राप्त हो।" मनुष्य पुरुषार्थ करे, पराक्रम करे और यश का भागी बने, परंतु कभी उदास और निरुत्साही न बने। भ० गी० २।३

(२) हृदयकी दुर्बलता छोड।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ ।

"क्षुद्रत्व उत्पन्न करनेवाली हृदयकी दुर्बलता फेंक दो और परम पुरुषार्थ करनेके लिये उठकर खडा हो।" हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनसे क्षुद्र विचार दूर करे और उच्च विचार धारण करे। भ० गी० २।३

(३) शोक न कर ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।

"मरे हुओं और जीवितोंके विषयमें ज्ञानी लोग शोक नहीं करते।" ज्ञानी लोग तो कदापि शोक नहीं करते। वे प्राप्तअवस्थामें योग्य कर्तव्य कर्म करते हुए उन्नतिका मार्ग आक्रमण करते हैं।वे अपना समय शोकमें नहीं व्यतीत करते। भ० गी० २।११

(४) मोह न करना ।

धीरस्तत्र न मुह्यति ।

"धीर कभी मोहयुक्त नहीं होता।" उसको बुद्धियुक्त कहते हैं कि जो कभी मोहवश नहीं होता। भ० गी० २।१३

(५) भाव और अभाव ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

"जो है उसका अभाव नहीं होता और जो नहीं है उसका भाव नहीं होता।" यह शास्त्र का महासिद्धान्त है। भ० गी० २।१६

(६) जन्मवाले का नाश ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ।

"जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका नाश निश्चयसे होगा।" अतः किसीका नाश हुआ तो उस बात के लिये रोने पीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भ० गी० २।२७

(७) क्षत्रियका धर्म ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।

"धर्मसे प्राप्त युद्धकी अपेक्षा दूसरा कोई श्रेयस्कर मार्ग क्षत्रिय के लिये नहीं है।" अतः क्षत्रियको उचित है कि वह धर्मयुद्ध करनेके लिये सदा तैयार रहे। भ० गी० २।३१

(८) युद्ध न करनेसे अकीर्ति ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।

"यदि तू इस धर्मयुद्धको न करेगा, तो स्वधर्मसे भ्रष्ट होगा, तेरा अयश जगत्में होगा और स्वधर्मसे पतित होनेसे पापभी लगेगा।" अतः धर्मयुद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य होगा। भ०गी० २।३३

(९) अकीर्ति मरणसे बडी है ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।

"संभावित-प्रतिष्ठित-मनुष्यको अकीर्ति मरण से भी बढकर होती है।" अतः कोई मनुष्य अयश के अधर्म पूर्ण कार्य न करे। भ०गी० २।३४

(१०) निन्दाका दुःख ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्?।

"तेरे सामर्थ की निन्दा होने लगी तो उससे अधिक दुःखकारक कौनसी अवस्था है?" अपने सामर्थ्य की निन्दा होना ही सबसे अधिक दुःखकारक है। अतः कोई मनुष्य धर्मयुद्ध से पीछे न हटे। भ० गी० २।३६

(११) अव्यवसायी की चंचलता ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् !

"उद्योग न करनेवालों की बुद्धि चंचल और अनिश्चित होती है।" अतः मनुष्यको उचित है कि वह व्यवसायशील बने। भ० गी० २।४१

(१२) कर्मका अधिकार ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।

"कर्मकरनेमें तेरा अधिकार है, उसके फलपर नहीं। कर्म के फल का हेतु मनमें धारण न कर। अकर्म करनेमें तेरी रुची न हो।" मनुष्य प्रशस्त कर्म करे। फलकी आकांक्षा न धरे। कर्मफल का समर्पण करे। कर्म न करनेमें रुची न धरे आलसी न बनें। भ० गी० २।४७

(१३) कर्मयोग ।

योगस्थः कुरु कर्माणि ।

"योगके अनुसार कर्म कर।" सिद्धि और असिद्धि के विषयमें समभाव धारण करके कर्म कर। यही योगमार्ग है। भ० गी० २।४८

कृपणाः फल हेतवः ।

"फल का हेतु धारण करके कर्म करना हीनता का द्योतक है।" फल मुझे प्राप्त हो इस विचारसे किया हुआ कर्म हीन है। भ० गी० २।४९

समत्वं योग उच्यते ।

योगः कर्मसु कौशलम् ।

"समता का नाम योग है, भ० गी० २।४८
कर्म में कुशलता का नाम योग है।" भ०गी०२।५०
इस समत्व योगके साथ कर्म करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता–पुरुषार्थ–बोधिनी।

द्वितीयाध्याय की विषयसूची।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

कर्मयोगः ।

(१) अर्जुनकी शंका ।

अर्जुन उवाच-ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अन्वयः-- हे जनार्दन ! कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी ते मता चेत्, तत्, हे केशव ! घोरे कर्मणि मां किं नियोजयसि ? ॥ १ ॥ व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव । तत् निश्चित्य एकं वद, येन अहं श्रेयः आप्नुयाम् ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! कर्मकी अपेक्षा (सम) बुद्धि श्रेष्ठ है, (ऐसा यदि) तुम्हारा मत है, तो, हे केशव ! (इस प्रकारके युद्धरूप) घोर कर्म में मुझे क्यों लगाते हो? ॥ १ ॥ संदिग्ध जैसे भाषणसे मेरी मतीको तुम मोहित जैसी कर रहे हो। इसलिये निश्चय करके एकहि बात मुझे कहो, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ- इससे पूर्व कर्ममार्ग और समबुद्धिका ज्ञानमार्ग ये दो मार्ग कहे हैं । इनमेंसे किस मार्गसे जानेसे निश्चयपूर्वक कल्याण होगा, इसका विचार करके, जो अपने लिये अधिक योग्य होगा, उसीसे जाकर, कल्याण प्राप्त करना चाहिये । अनेक मार्गों से जाने का यत्न करनेसे कोई लाभ नहीं होगा ।

अर्जुनकी शंका ।

(१-२) पूर्व अध्यायमें 'कर्मयोग' और 'समत्व-बुद्धि-योग' ये दो योग कहे हैं, और यह भी कहा कि, ' समत्व बुद्धियोगसे कर्म बहुतहि कनिष्ठ है ' (भ० गी० अ० २।४९) अर्थात् ' कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है ' यह बात निश्चित रीतिसे कही गई । इतना होनेपरभी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि " हे अर्जुन ! तू युद्ध का निश्चय करके उठ । तू युद्धमें लग जा । " (भ० गी० २।३७,३८) और युद्ध तो बडा घोर कर्म है !! यदि केवल समबुद्धि करनेसे कार्य चल सकता है, समबुद्धि होनेसे मनुष्यको ब्राह्मी स्थिति भी मिल सकती है और इस समबुद्धिसेहि परम उच्च अवस्था भी मनुष्यको प्राप्त हो सकती है, तो फिर युद्ध जैसे घोर कर्म करनेकी प्रेरणा भगवान् क्यों कर रहे हैं ? समबुद्धि की प्राप्ति करनेका अनुष्ठान करनेकी प्रेरणा करनाहि उनको योग्य है, अतः अर्जुनकी यह शंका यथार्थ है ।

दूसरी बात यह है कि समत्व बुद्धियोगसे स्थितप्रज्ञ होनेके पश्चात् ब्राह्मी स्थिती प्राप्त होने का निश्चय पूर्व अध्याय (भ० गी० २।७१,७२) में कहा, इस प्रकारका कोई अद्भुत फल कर्मयोग से होता है, ऐसा वहां नहीं कहा । इस लिये

(२) दो साधन मार्ग।

श्रीभगवानुवाच– लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अन्वयः– हे अनघ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा पुरा मया प्रोक्ता, सांख्यानां ज्ञानयोगेन, योगिनां कर्मयोगेन॥३

हे पापरहित! इस लोकमें दो प्रकारकी साधनकी वृत्तियां हैं, यह मैंने पहिले हि कह दिया था, सांख्यों की ज्ञानयोग में और योगियोंकी कर्मयोगमें ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस जगत् में धार्मिक लोगोंकी दो प्रवृत्तियां हैं, कई मनुष्य ऐसे हैं कि जो सत्य ज्ञान प्राप्त करनेमें तत्पर होते हैं और दूसरे कई ऐसे होते हैं कि जो सत्कर्म करनेमें दत्तचित्त रहते हैं॥

अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यदि बुद्धियोगसे निश्चयपूर्वक ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है और वैसी स्थिति कर्मयोग से होनेका वर्णन नहीं किया जाता, तो फिर क्यों कहा जाता है कि 'तू युद्ध कर'? ऐसी अवस्था में अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि, निश्चयपूर्वक ब्राह्मीस्थितिको देनेवाला बुद्धियोग क्यों न किया जाय? और जिस को कनिष्ठ करके स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाता है उस कर्मयोगका अनुष्ठान क्यों किया जाय? क्या कनिष्ठमार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठमार्गसे जाना अच्छा नहीं है?

अर्जुनकी मति स्वकर्तव्यके विषयमें संशयित होगयी थी, युद्ध करनेसे उच्च गति होगी अथवा युद्ध न करनेसे होगी, इस विषय में उसको संदेह हुआ था। अपनी शंका दूर करनेके लिये अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्णजीसे सलाह पूछी। भगवान् ने उत्तर में कहा कि 'बुद्धियोगसे ब्राह्मी स्थिति मिलती है तथापि तू कर्म कर, तू युद्ध कर।' इस उत्तर से अर्जुन की शंका दूर होनेकी अपेक्षा और भी बढ गयी!! उपदेश करनेका यह कैसा ढंग है कि शिष्यकी शंका मिट जानेकी अपेक्षा बढ जाय!! अतः अर्जुनने पूछा कि 'यदि कर्म की अपेक्षा समबुद्धि श्रेष्ठ है, तो मुझे कहो कि समबुद्धि की धारणा कर। ऐसा उपदेश न करते हुए हे भगवन्! आप मुझे घोर युद्ध करनेकी प्रेरणा क्यों कर रहे हैं? यह घोर युद्ध पाप की खान है, इसमें डूब मरनेका उपदेश आप मुझे क्यों कर रहे हैं? यह आपका कथन ऐसा है कि जैसा एक रोगी किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने के लिये उसके पास गया, उसे वैद्यने कहा कि 'विष मृत्यु लानेवाला है और यह औषध निःसंदेह आरोग्य देनेवाला है, तथापि तू इस विषको पी जा' ऐसी अवस्थामें जो अवस्था उस रोगी की होगी, वही इस समय मेरी बनी है। यदि किसी अन्धेने सीधा मार्ग पूछा, तो उसको सीधा मार्ग ही बताना चाहियेः उसको ऐसा नहीं कहना चाहिये कि, 'यह सरल मार्ग है, परंतु इस तेढे मार्ग से हि तू जा।' भगवन् आपने तो ऐसाहि मुझे भ्रममें डाल दिया!! अतः प्रार्थना है कि मुझे इस समय जो कुछ करना चाहिये, उस का निश्चय करके कोई एक मार्ग मुझे बताइये, जिससे मुझे शीघ्रहि कल्याण प्राप्त हो जाय।

अर्जुन की यह शंका भगवान् श्रीकृष्णने श्रवण की, और उसकी भ्रांति अधिक ही बढ गई यह जानकर, उसका समाधान करनेकी इच्छासे वे कर्मयोगका तत्त्व कहने लगे—

दो प्रवृत्तियां।

(३-४) इस जगत्में धार्मिक मनुष्योंमेंड प्रतिका

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अन्वयः- कर्मणां अनारम्भात् पुरुषः नैष्कर्म्यं न अश्नुते । (कर्मणां) च संन्यसनात् एव सिद्धिं न समधिगच्छति॥४

केवल कर्मका प्रारंभ न करनेसे हि मनुष्य निष्कर्मता को नहीं प्राप्त होता और केवल कर्म को त्यागनेसेहि सिद्धिको नहीं पा सकता ॥४॥

भावार्थ- इस विषयमें यहां कोई यह न समझे कि कर्मका प्रारंभ न करनेमात्रसेहि केवल कर्मके दोष दूर होसकते हैं,अथवा कर्मका त्याग करनेसेहि केवल किसी सिद्धिकी प्राप्ति होना संभव है । ये दोनों विचार अशुद्ध हैं ॥३-४॥

साधन करने की दो निष्ठाएं अर्थात् दो प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। यहां 'निष्ठा' शब्द का अर्थ (नि-स्था) 'किसी बातमें अत्यन्त स्थिर रहना' है। ज्ञानमार्ग में अत्यंत स्थिर रहना और वहांसे विचलित न होनेका नाम 'ज्ञान-निष्ठा' है और कर्ममार्ग में अत्यन्त तत्परता के साथ स्थिर रहने का नाम 'कर्म-निष्ठा' है। ज्ञान और कर्म ये दो साधन निश्रेयस की सिद्धिके लिये निश्चित हैं। कई मनुष्य ज्ञाननिष्ठावाले होते हैं और दूसरे कई कर्मनिष्ठावाले होते हैं। ज्ञाननिष्ठावाले कर्म को तुच्छ मानते हैं और कर्मनिष्ठावाले ज्ञान को अगम्य अर्थात् कठिन मानते हैं। इस प्रकार इन दोनोंमें सहकारिता कम दिखाई देती है। सांख्य लोग ज्ञानपर श्रद्धा रखनेवाले और योगी कर्म पर श्रद्धालु होते हैं। प्रायः लोगोंका यह ख्याल है कि ये दोनों मार्ग बिलकुल भिन्न हैं और उनमें परस्पर मेल नहीं है।

शरीरमें ज्ञान और कर्मसाधन।

अपने शरीरमें भी आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा,और मन ये ज्ञाननिष्ठावाले इंद्रिय हैं। और हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये कर्मनिष्ठ इंद्रिय हैं। येभी एक दूसरेका कार्य प्रायः नहीं करना चाहते, ये सदा अपने हि सामर्थ्य में मस्त रहते हैं। यहां विचार यह करना है कि, उक्त इंद्रियों में कर्मशील इंद्रिय श्रेष्ठ हैं या ज्ञानशील इंद्रिय श्रेष्ठ हैं? बालक विशेष विचार न करनेपर भी कहेगा कि हाथ पांवकी अपेक्षा आंख नाक कान श्रेष्ठ हैं। जो लाभ शरीर में ज्ञानेंद्रियोंसे हो सकता है, वह लाभ कर्मेंद्रियोंसे नहीं हो सकता, यह बात नितान्त सत्य है। आंख अपनी दर्शन शक्तिसे सूर्यलोकसे भी परे प्रवास करती है, परंतु कर्मयोगी हाथ पांव पृथ्वी छोड कर बहुत दूर जा नहीं सकते। आंख दृष्टिक्षेपसे निमेषार्धमें सूर्यको घेर सकता है, वैसा हाथ या पांव भूमिकी प्रदक्षिणा करना चाहें तो कई वर्ष लगेंगे। शरीर स्थानीय इन ज्ञानदेवों और कर्मदेवों में शक्तिकी इतनी न्यूनाधिकता एवं विभेद है। यह भेद कदापि मिट नहीं सकता।

कर्मदेव और ज्ञानदेव।

वाचक यहां ज्ञानदेवोंकी शक्तिका विचार करें अपना मन यह इंद्रशक्तिसे और चान्द्रशक्तिसे युक्त है। इसमें इन्द्र-विद्युत-की चञ्चलता है और सोम की शान्ति भी है। यह मन कल्पना के वेग से बिजली के समान क्षणाधर्ममें कहां का कहां दौड सकता है। आंख कितनी दूरस्थ पदार्थोंका दर्शन कर सकते हैं, कान कितनी दूर के शब्द सुनता है और नाक भी केवल वास ग्रहण करके पदार्थ का स्वभावधर्म जान सकता है। इतनी शक्ति इन शरीरस्थानीय कर्म देवों में निःसन्देह नहीं है। पांव दौडने लगे तो कहां तक दौड-लगायेंगे। हाथ तो कुछ यंत्रादि साधन बनाकर

दौडका वेग बढा भी सकते हैं। मुख शब्दोच्चार और उपदेश आदि द्वारा कुछ विशेष कार्य कर भी सकता है, परंतु इतना होनेपर भी ज्ञानदेवोंका सामर्थ्य इन कर्मदेवोंमें नहीं है। इस रीतिसे विचार करनेपर इस बातका निश्चय हो जाता है कि, ज्ञान निष्ठावालों की योग्यता कर्मनिष्ठावालों की अपेक्षा बहुत ऊंची है। अतः कहा है—

अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः ।
स एक आजानदेवानामानन्दः ॥
बृ० उ० ४।३।३३

स एको ब्रह्मण आनन्दः। तै० उ० २।८

कर्मदेवोंके सौ आनन्दों के बराबर देवोंका एक आनन्द है और देवोंके हजारों आनन्दों के बराबर ब्रह्मका-ज्ञान-का एक आनन्द है। स्थूल कर्मेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द, ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलनेवाला आनन्द, सूक्ष्म अन्तःकरणसे होनेवाला आनन्द और आत्मानुभवसे प्राप्त होनेवाला आनन्द इनमें बहुत अन्तर है और वह अन्तर उक्त प्रमाणसे बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि, कर्म साधनोंकी अपेक्षा ज्ञानसाधन कई गुणा श्रेष्ठ हैं और उसी प्रमाणसे उनसे होनेवाले फलोंमें भी भद है। अर्थात् कर्म और ज्ञानके साधन, मार्ग, फल आदिमें भी इसी प्रकारका भेद है। तथापि कर्मेंद्रिय और ज्ञानेन्द्रिय एक हि मज्जाप्रवाह से ज्ञानतन्तुओंसे और आत्मशक्तिसे प्रेरित होनेके कारण दोनोंमें एक हि शक्ति कार्य कर रही है, इस दृष्टिसे दोनों में समानता भी है। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में श्रेष्ठ कनिष्ठ होनेका भेद दर्शानेके लिये अपने शरीरके ज्ञानमार्गी और कर्म मार्गी निसर्ग प्रवृत्त इंद्रियों में जो स्वाभाविक उच्चनीचता है, वह यहां हमने देखी और उनमें सामान्यता भी देखी।

परंतु यह विचार भी कोई अन्तिम निर्णय नहीं है, क्योंकि आंखने देखा और रूप ग्रहण किया, यह ज्ञानेन्द्रिय होते हुए भी देखनेका कर्म करता है, मन अन्तर्ज्ञानका इंद्रिय होते हुएभी मनन का कर्म करता ही है, इस प्रकार ये सब ज्ञानेन्द्रिय एक रीतिसे कर्मेंन्द्रिय हि हैं। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी सब को आन्तरिक प्रेरणा देनेका कर्म करताहि है। इस रीतिसे सभी कर्म मार्गी हैं। इसलिये दोनों में इस दृष्टिसे अभेद भी है। पाठक यहां देखें कि दोनोंमें भेद कहां है और अभेद किस रीतिसे है।

मनुष्योंके प्रवृत्तिभेद।

सांख्यमतवाले लोग ज्ञाननिष्ठ हैं और योगमतवाले कर्मनिष्ठ हैं। जगत् में धार्मिक लोगोंमें ये दो प्रकार की बुद्धियां हैं। कई लोग तत्त्वज्ञानमें रमते हैं और कई लोग अनुष्ठानपर बल देते हैं। कई कहते हैं कि बहुत शब्दज्ञान प्राप्त करनेसे क्या लाभ होगा? जो भी कुछ थोडा ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसको अपने आचरणमें ले आओ। दूसरे कोई ऐसा कहते हैं शरीरको कर्ममें घसीटनेसे क्या लाभ होगा, भाई, ज्ञानसे अपने मनको शुद्ध करो। मन चंगा हुआ तो सब चंगा हो जायगा। ये इस प्रकार दोनों मत जगत् में प्रचलीत हैं। इस विवाद का विचार करके निश्चय करना चाहिये कि इनमें सत्य क्या है?

कर्मसे दोषकी संभावना।

कर्म करनेसे मनुष्यको कुछ न कुछ दोष लगता है और यदि पूर्वोक्त कथनके अनुसार ज्ञानमें भी कुछ न कुछ कर्म होनेका संभव हुआ, अथवा ज्ञानके साथ साथ कर्म होनेकी भी संभावना माननेकी आवश्यकता हुई, तब तो दोनों हालतों में कुछ न कुछ कर्म होगा और कर्मके साथ कुछ न कुछ दोष भी होगाहि। यहां प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार सर्वत्र दोषकी संभावना है, तो दोषसे बचना किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें दो विवादियोंने दो युक्तियां सन्मुख रखी हैं, वे युक्तियां ये हैं—

१ कर्मका प्रारंभ न करनेसे कर्म न होगा और मनुष्य निर्दोष रहेगा, अथवा—

२ कर्मका प्रारंभ हुआ हो, तो आगे कर्मका त्याग करनेसे दोषसे भी मुक्ति होगी।

ये दो युक्तियां विवाद कर्ताने प्रस्तुत की हैं। और उसके मनमें ऐसा विचार आया कि, कर्मके दोषसे छूटनेकी युक्ति मुझे हस्तगत हो चुकी है। परंतु इस भ्रम को दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि- "कर्मका प्रारंभ न करनेमात्रसेहि मनुष्य निष्कर्मी नहीं हो सकता और कर्मका त्याग करनेसेहि मनुष्यको सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।" यह भगवान् की घोषणा सुनतेहि विवाद कर्ताकी पूर्वोक्त दोनों स्थापनाएं उसको अपने मनसे दूर करनीं पडीं। और फिर कर्मका दोष हटानेके लिये क्या किया जाय, इसकी चिन्ता उसके पीछे जैसीकी वैसी लगी रही।

भगवान् कहते हैं कि 'कर्मका प्रारंभ न करने से मनुष्य कर्महीन नहीं हो सकता।' क्यों कि मनुष्यने कुछभी कर्म नहीं किया तो भी वह 'कर्म न करना' किंवा 'स्तब्ध रहना' भी एक कर्म ही है। कर्म न करनेपर भी यह कर्म बनता हि है; इससे कैसे छूट सकते हैं ? अर्थात् कर्मका प्रारंभ न करनेसे कर्मरहित होना असंभव है।

अच्छा, कर्म करके उसका त्याग करनेसे मनुष्य कर्मरहित होगा या नहीं? भगवान् कहते हैं कि, यह भी नहीं होगा। क्योंकि कोई मनुष्य किसी समय में चुपचाप बैठा, उसने कुछ भी हलचल नहीं की, तो यह उसका चुपचाप बैठनेका जो कर्म है, वह किस प्रकार त्यागाजायगा? क्यों कि वह तो गत समयमें हो चुका है। जो तो हो चुका है वह अपने पल्ले पड गया, उसको त्यागना कैसे हो सकता है? अतः कृत कर्म का भी त्याग असंभव है। कृत कर्म तो हो चुका है और वह अपने ऊपर आचुका है। अर्थात् कर्म का प्रारंभ न करना भी अशक्य और कर्मका त्याग तो उससे भी अशक्य है,क्योंकि कर्म का त्याग भी एक कर्म ही है, फिर उसको त्यागना कैसे संभव हो सकता है?

यहां कई लोग पूछेंगे कि कर्म से इतना क्यों डरा जाता है? कर्मसे दोष लगता है ऐसा जो कहा जाता है वह कैसे सत्य है? कर्मसे दोष क्यों लगता है और कैसे लगता है? इस का विचार अब यहां करेंगे—

मनुष्य का कोई कर्म लीजिये। मान लीजिये कि मनुष्य चुपचाप बैठा है, बिलकुल हलचल नहीं करता, ऐसी अवस्थामें उससे कालका निरर्थक व्यय होनेका दोष हो रहा है। इस प्रकार कर्म न करनेसे, चुप बैठनेसे किंवा कर्म न करनेका जो उसने कर्म किया उससे ही यह दोष बन गया !! अब दूसरा कर्म देखिये कोई मनुष्य अन्नदान करनेके लिये अन्न पकाता है,उस पकानेमें अनन्त जीवोंकी हत्या होती है, यह दोष अनिवार्य है। तीसरा कर्म देखिये एक मनुष्य गुरुके पास विद्या पढ रहा है, उसमें अनेक प्रकारसे गुरुको कष्ट देनेका दोष अनिवार्य है। इस रीतिसे कोई कर्म कितनाभी उत्तम क्यों न हो, उसमें किसी न किसी रीतिसे कोई दोष अवश्य होता हि है। दोषरहित कर्म करना प्रायः अशक्य है। कई कर्मोंके दोष हम देख सकते हैं और कई कर्मोंके दोष बहुत विचार करने पर हमें ज्ञात हो सकते हैं। परंतु दोषरहित कर्म नहीं हो सकता, यह बात सत्य है। पाठक भी अनेक कर्मों के उदाहरण अपनी विचारकी दृष्टिके सामने रखकर उनके गुणदोषोंका विचार करें और कर्मके साथ दोष और गुण कैसे लगे हैं, इसका विचार करें। यहां कोई यह न समझे कि, कर्म से केवल दोषहि होते हैं और गुण नहीं होते। गुणभी होते हैं और दोष भी होते हैं। परंतु गुणोंका फल अच्छा होनेके कारण मनुष्य सदा उसको चाहताहि है; परंतु दोषोंकी बात वैसी नहीं है। दोषोंसे बुरा फल होता है, वह भोगनेके समय उसको दुःख होता है, अतः उसको दूर करनेका विचार मनुष्य सदा करता रहता है। अतः कर्मके दोषोंसे बचनेका उपाय

(३) प्रकृतिधर्म।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वयः- कश्चित् जातु क्षणमपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। प्रकृतिजैः गुणैः सर्वः हि अवशः कर्म कार्यते ॥५॥

कोई कभी एक क्षणभर भी विना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न गुण पराधीन बनाकर सबसे कर्म कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- प्राणिमात्र की प्रवृति ऐसी है कि उसकारण एक क्षणभर भी वह विना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृतिके गुणोंसे पराधीन बना हुआ हरएक प्राणी कर्म करताहि रहता है ॥ ५ ॥

कथन करने के लियेहि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। इस गीताशास्त्रने कर्मके दोषोंसे बचनेका सबसे उत्तम उपाय कहा है, यही गीताशास्त्र की विशेषता है। यह अत्यंत आवश्यक विषय क्रमसे आगे आजायगा। इसी विषयका उपक्रम करनेकी इच्छासे शरीरके स्वभाव का वर्णन भगवान् करते हैं—

कर्म अनिवार्य है।

(५) प्राणिमात्र का सहज प्रकृतिधर्म यहां कहा है। प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति ऐसी है कि, वह क्षणमात्रभी विना कर्म किये रह नहीं सकता। इछासे करे, अनिच्छासे करे, स्वभावसे करे अथवा कैसी भी वृत्तीसे करे, उससे कर्म होनाहि है। कुछभी करो कर्म छूटता नहीं। मनुष्य स्तब्ध रहा तोभी उस समय उससे स्तब्ध रहनेका कर्म होता है। अछा, स्तब्ध रहना या चुप बैठना यह कर्म न माना जाय, तो भी स्तब्ध रहा मनुष्य विना आयास दूसरे के शब्द सुनता है, यह उसका श्रवण रूप कर्म है। उसके नाक में सुगंध या दुर्गंध गया, तो उसका ग्रहण स्वयं होता हि है, वह वासग्रहण का कर्म हुआ। आंख खुले रहनेपर बाहरका दृश्य दीखताहि है, इस रीतिसे उससे दृश्य देखनेका कर्म होता है। बाहरकी हवामें सर्दी और गर्मी रही, तो कुछ भी किये विना उसके शरीरको उस सर्दी और गर्मी का भास होता है, अर्थात् चुप बैठा मनुष्य सर्दीगर्मी लेनेका कर्म करता रहता है। और मलत्याग, मूत्रका उत्सर्ग, पसीना आना, छींके आदि अनेक स्वाभाविक कर्म उससे स्वभावतया होते रहते हैं। मनुष्यका शरीर स्तब्ध रखा गया, तो भी उसके मनके व्यापार बंद नहीं होते; वह मनसे मनन करके अनेक कर्म करता रहता है। निद्रा लेनेका कर्म होताहि है, तथापि उसमें स्वप्न आने लगे, तो वह स्वप्न देखनेका भी कर्म करता है, यह कर्म कैसे रोका जाय ? स्वप्न अवस्थापर किसका नियंत्रण है ? और देखिये, यह सब न हुआ, ऐसा भी क्षणभरके लिये मान लीजिये; परंतु हरएक प्राणी जीवित रहनेका कार्य तो करता ही है, श्वास प्रश्वास, हृदयकी धुकधुक्, आंखोंका खोलना और मूंदना, ये कर्म शरीरके स्वभावसेहि होते हैं; इसके अतिरिक्त, शरीरका जीर्ण होना, रोगी होना, नीरोग रहना आदि कर्म होते हैं; अन्तमें यदि मर गया, तो मरनेका भी एक कर्म उससे होता है !! जन्म लेने का कर्म और मरनेका कर्म ये दो बडे भारी कर्म हैं, जो हरएक प्राणी करता है। इसप्रकार विचार करनेपर पाठकोंको पता लगेगा कि, कुछ कर्म न करने का निश्चय करनेपर प्राणिमात्रसे इतने असंख्य

कर्म प्रकृतिके स्वभावसेहि होते रहते हैं। अतः मनुष्यका कर्मोंका प्रारंभ न करनेका निश्चय और कर्मोंके त्याग करनेका निश्चय ये दोनों निश्चय अव्यवहार्य हैं। कर्म न करना तो एक क्षणमात्र भी संभवनीय नहीं है।

परवशता।

कर्म करनेके विषयमें जैसे सब प्राणी वैसा मनुष्य भी पराधीन है। उसकी प्रकृतिके आधीनहि वह रहता है और उसकी प्रकृति उससे कर्म कराती है। जिस प्रकार इसको प्रकृतिके गुणधर्म नचाते हैं, उस रीतिसे यह नाचता रहता है। प्रकृतिके तीन गुण हैं, सत्त्व रज और तम। तमोगुणसे आलस्य, रजोगुणसे प्रवृत्ति और सत्वगुणसे समता रहती है। इन गुणों के न्यूनाधिक प्रमाणसे इसमें विविध कर्मवृत्तियां उत्पन्नहोती हैं। अतः इस ने कहा कि 'मैं कर्म नहीं करूंगा,' तो भी वह प्रतिज्ञा व्यर्थ है। प्रकृतिका बल इसको परवश करके इस से विविध कर्म करावेगाहि। इसी कारण कहा है कि— हर एक प्राणी क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। अतः गीतामें आगे कहा है कि—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
भ० गी० १४।५

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
भ० गी० १४।२०

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
भ० गी० १४।२६

"प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। ये तीन गुण अविनाशी देहधारी जीव को शरीरमें बांध देते हैं॥ देहसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंसे पार होकर देहधारी जीव जन्म मृत्यु और जरासे छूटता है और मोक्ष प्राप्त करता है॥ इन तीन गुणोंको लांघ कर जीव ब्रह्मरूप बननेके योग्य होता है॥" तथा और देखिये—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥२
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धमयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३।
भ० गी० १७।२-३

"मनुष्यमें स्वभावसेहि सात्विक, राजसी और तामसी इन तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। इस विषयमें मैं कहता हूं सो तू सुन॥ सब की श्रद्धा अपने स्वभावके अनुसार हुआ करती है। मनुष्य में कुछ न कुछ श्रद्धा तो अवश्य होती है। जिस मनुष्यमें जैसी श्रद्धा होती है वह मनुष्य वैसा बनता है।"

देहधारी जीवको प्रकृतिके गुण कैसे परवश करते हैं और उससे विविध कर्म कैसे कराते हैं, इस विषयमें ये श्लोक मनन करने योग्य हैं। इन तीन गुणोंसे (तीन रस्सियोंसे) यह जीव इस देहमें बांधागया है। यह अव्यय और स्वतंत्र है तथापि इसको प्रकृतिने इन तीन रस्सियोंसे बांध रक्खा है, यही बात वेदमें भी कही है—

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्॥ ऋ० ४।५८।३-४

"तीन स्थानों में बंधा हुआ यह बलवान् आत्मा बडा शब्द करता है, यह बडा देव मर्त्य शरीरमें प्रविष्ट होकर बडा आवेश उत्पन्न करता है॥ (पणिभिः) पण अर्थात् व्यवहार करनेवाली इंद्रियोंने तीन प्रकार से (गवि गुह्यमानं हितं) प्रकृतिमें गुप्त रखा हुआ यह है। इस (घृतं) स्नेहपूर्ण तेजस्वी आत्माको दिव्य गुणी लोगहि प्राप्त करते हैं।" दूसरे कोई इसको प्राप्त नहीं कर सकते। तीन गुणोंसे बांधकर इस जीव को प्रकृतिने पारतंत्र्यमें रखा है और इसको पराधीन बनाकर यह प्रकृति इससे जैसे चाहिये वैसे कर्म कराती है, और यह परवश होकर प्रकृति गुणोंके अनुसार कर्म करता जाता है। जो इन तीन बंधोंका

(४) मिथ्याचारी।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अन्वयः— यः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते, सः विमूढात्मा मिथ्याचारः उच्यते ॥ ६ ॥

जो कर्मेन्द्रियोंको बलसे रोक कर, मनसे इन्द्रियोंके भोगोंका स्मरण करता है, उस मूढबुद्धिको मिथ्याचारी कहते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो हट से कर्मेन्द्रियोंका निरोध तो करता है, परंतु अन्दरहि अन्दर मनसे भोगों का चिन्तन करता है, उस मूर्खको मिथ्याचारी अर्थात् दाम्भिक कहते हैं ॥ ६ ॥

अतिक्रमण करता है, जो इन तीनों बंधनों को तोड देता है, वही स्वतंत्र होकर स्वानंदसे विचरता है, ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य को कर्म का लेप नहीं लगता। इस विषयका विशेष वर्णन आगे योग्य प्रसंगमें आजायगा। अतः यहां इतनाहि पर्याप्त है।

यहां इतनाही बताना है कि 'जीव प्रकृतिके गुणोंसे बंधा जानेके कारण परतंत्र होकर, गुण जैसी प्रेरणा करते हैं वैसे कर्म यह जीव करता जाता है। इसलिये कोई जन्तु एक क्षणभर भी विना कर्म के नहीं रहता।' आन्तरिक प्रवृत्ति होनेपर भी शरीर से कर्म न किये, तो उसका परिणाम क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर आगेके श्लोक में देखिये—

(६) दाम्भिक लोग।

(६) इस श्लोकमें दाम्भिक लोगोंकी मूढताका वर्णन किया है। ये लोग कर्मेन्द्रियोंको तो स्तब्ध रखते हैं, परंतु ज्ञानेंद्रियोंसे और विशेषतः मनसे भोगोंका मजा उडानेका विचार करते रहते हैं, ये लोग रातदिन विषयोंकी प्राप्तिके लिये तडफते हैं, परंतु बाहरसे शरीरको साधुके समान सजाकर स्तब्ध रखते हैं! येमूढ और मिथ्या व्यवहार करनेवाले हैं। इनकी अधोगति होती है। ये समझते हैं कि 'शरीरसे कर्म न करनेमात्रसेहि सिद्धि होती है।' परंतु यह भ्रम है। शरीर से, हरएक कर्मेंद्रियसे किंवा ज्ञानेन्द्रियसे कर्म नभी किया जाय परंतु मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे, तो अवश्य दोष होता है। कर्मेन्द्रियोंको और शरीरको स्तब्ध रखने के साथ साथ यदि मन शुद्ध न रहा, तो दोषोंसे मुकता नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ देखिये जो लोग किसीको वाणीसे गालियां तो नहीं देते, परंतु मनमें गाली देनेका विचार करते हैं अथवा मन ही मन गालियां देते भी हैं; उनके वाणीको स्तब्ध रखनेसे क्या लाभ हो सकता है? उनके मनने जो दोष करना था वह कियाहि है, केवल व्यक्त शब्दोच्चारण उसने किया नहीं। परंतु इससे वह निर्दोष नहीं हो सकता।

कामविषयक प्रवृत्तिके लोग बाह्य शरीरसे न भी कामोपभोग करें, परंतु मनसे यदि काम का विचार वारंवार करेंगे, सुंदरताका वर्णन वारंवार पढेंगे, वैसे चित्र वारंवार देखेंगे, मनमें उनसे संगति होनेकी कल्पना करेंगे, तो निःसंदेह कामातिसेवन का दोष उनको होगा, उस दोषका परिणाम उनके शरीरपर होगा, वे शरीरसे क्षीण और वीर्यहीन बनेंगे और अन्तमें क्षयविकार के शिकार बन जांयगे। केवल मनसे विचार करनेसे

(५) अनासक्तियोग।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः-हे अर्जुन! यः तु मनसा इंद्रियाणि नियम्य, असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते, सः विशिष्यते॥७॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य मनसे इंद्रियोंको वशमें रख के, आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

कितनी हानि होती है, इसकी स्पष्ट कल्पना यहां पाठकोंको हो सकती है। काम मनमें हि उत्पन्न होता है, अतः उसका नाम 'मनसि-ज' है और शरीरसे कुकर्म हो या न हो, वह मनहि मन में रहकर वहां और शरीरमें बडे दोष उत्पन्न करता है, जिसका परिणाम कुसंगतिमें रहे अनेक दुःशील तरुणोंको आयुभर भोगना पडता है।

शरीरकी स्तब्धता।

यहां कोई यह न समझे कि शरीरको स्तब्ध रखनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो है। जो दोषोंसे बचना चाहता है वह शरीर को स्तब्ध अवश्य रखे, परंतु साथहि साथ मन को भी शुद्ध रखनेका यत्न करे।

योगासनों के अभ्यास में शरीर को स्तब्ध और निश्चल रखनेकाहि अभ्यास मुख्य है। कुछ समय शरीर बिलकुल शांत रखा जाय और यदि वह शरीर सचमुच निश्चल रहा, तो, मनकी स्वाधीनता होनेमें बडी सहायता होती है। योग के आसन शरीर को अचञ्चल करने के लिये, प्राणायाम प्राणको स्थिर करनेके लिये और ये दोनों मनको स्थिर करनेके लिये अनुष्ठेय हैं। यह हठयोगका क्रम है जो शरीरको स्थिर करता हुआ मनको स्थिर करनेकी अभिलाषा करता है। परंतु इसमें यह बात है कि शरीरके स्थिर करने के अनुष्ठानके साथसाथ मनको शुद्ध, पवित्र और स्थिर करनेका अनुष्ठान होना चाहिये। शरीरको स्तब्ध रखना और मनको विषयोंमें भटकने देना कभी इष्ट नहीं। ऐसा करना तो दांभिकता है। हठयोगमें इस प्रकारकी दांभिकता का लेशभी नहीं है।

राजयोग में मन को विचार से और ज्ञान से शांत करनेका अनुष्ठान करना होता है। राजयोगियोंकी रीतिसे मनको शांत करनेसे प्राण शान्त होता है और इन दोनोंकी शान्तिसे शरीर शान्त और अचञ्चल होता है। राजयोगी ऊपरसे नीचे आता है और हठयोगी नीचेसे ऊपर जाता है। परंतु यहां इन दोनों योगोंमें किसी एकको स्तब्ध रखना और दूसरेको विषयोंमें फंसा देनेका बिलकुल भाव नहीं है। प्रयत्न तो कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण और मनको शान्त, शुद्ध, गंभीर और अचञ्चल करनेके लिये दक्षतासे करना चाहिये। केवल कर्मेन्द्रियोंको स्तब्ध रखकर मन में विषयों का मजा उडानेसे कार्य न चलेगा। यह दांभिकता भलेहि अन्धसमाज में आडंबर मचानेमें सहायता देवे, परंतु इससे किसीप्रकार आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। इससे निश्चयपूर्वक गिरावट ही होसकती है। पत्थर स्तब्ध रहता है, परंतु उस स्तब्धताका नाम शान्ति नहीं है और इसप्रकारकी स्तब्धतासे कुछ उन्नतिकी भी कोई आशा नहीं है। मनुष्य कर्म करता हुआ शान्तिका अनुभव करे, यह ध्येय है। मनुष्यपर विपत्तियां आनेपर वह न डरे, यह अभीष्ट है। कर्म करता हुआ न करनेके समान शान्त रहे, यह सिद्धि किस प्रकार आचरण करनेसे हो सकती है; इसका विचार आगेके श्लोकोंमें किया है वे श्लोक अब देखिये-

कर्मयोगका आचरण।

(७-९) इन श्लोकों में कर्मयोग का अनुष्ठान

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वयः-त्वं नियतं कर्म कुरु, अकर्मणः हि कर्म ज्यायः । ते शरीरयात्रा च अपि अकर्मणः न प्रसिद्ध्येत् ॥८॥ यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः । हे कौन्तेय ! मुक्तसंगः तदर्थं कर्म समाचर ॥ ९ ॥

इसलिये तू नियत कर्म कर, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीर का निर्वाह भी विना कर्म किये नहीं होगा ॥ ८ ॥ यज्ञ के लिये किये गये कर्मोंके सिवाय अन्य कर्मोंसे इस लोकमें बन्धन होता है। इसलिये हे कुन्तीपुत्र! आसक्ति छोडकर यज्ञके निमित्त कर्म कर॥९॥

भावार्थ— मनुष्य अपने इंद्रियोंको अपने आधीन रखे, उसको इधर उधर भटकने न दें और आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मको करे। जो इस रीतिसे कर्म करेगा वही श्रेष्ठ होगा ॥ विहित कर्म मनुष्यको करनाहि चाहिये। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है। कर्म न करनेसे शरीर का जीवन भी चल नहीं सकता॥ यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धनकारक नहीं होते; यज्ञ का हेतु छोडकर जो किये जाते हैं उनसेहि कर्ताको बन्धन होता है, इस लिये आसक्ति छोडकर मनुष्य यज्ञके लिये कर्म करे ॥७--९॥

किस रीतिसे करना चाहिये, इसका उपदेश दिया है। कर्मयोग का आचरण करनेवाले लोग इन श्लोकोंका उत्तम मनन करें। इस कर्मयोगके अनुष्ठान के कुछ सिद्धान्त इन श्लोकोंमें वर्णन किये हैं, इनका क्रमशः विचार करते हैं—

नियत कर्म करना ।

अष्टम मंत्रमें "नियतं कुरु कर्म त्वं" अर्थात् तू नियत कर्म कर ऐसी आज्ञा की है। इस के दो अर्थ होते हैं। देखिये—

१ 'त्वं नियतं कर्म कुरु'=तू [अपने धर्म के अनुसार तुम्हारे लिये कर्तव्य रूपसे] निश्चित हुआ कर्म कर। अथवा—

२ 'त्वं कर्म नियतं कुरु'= तू कर्म सदा कर।

पहिले अर्थ में 'नियत' शब्द 'कर्म' शब्दका विशेषण है। और दूसरे अर्थ में 'नियत' शब्द कालवाचक अव्यय है। इस वाक्य का अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये 'नियत' शब्दके अर्थ का अधिक विचार करना चाहिये। कोशोंमें इसके निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—

नियत– (१) मर्यादासे युक्त, जो मर्यादामें है, जो मर्यादाओंसे मर्यादित हुआ है, जो अपने अधिकारमें है, नियमानुसार जो कर्तव्य हुआ है, आत्मसंयमसे जो निश्चित हुआ है, जिसमें मर्यादाका अतिक्रमण नहीं हुआ है, निश्चित, अनुशासनसे निर्णीत, नित्य, सनातन, स्थिर, सदा से प्राप्त, टालने अयोग्य, अवर्जनीय, स्पष्टतासे निर्णीत या निश्चित, स्वीकृत व्रतके अनुसार कर्तव्य। (२) सदा, हमेशा, निरंतर। निश्चय से, अचूक रीतिसे, स्थिरतासे, अचंचल रूपसे, अवश्य।

'नियत' शब्द के ये अर्थ हैं। दूसरा अर्थ लेनेपर इस अष्टम श्लोकका ऐसा अर्थ होता है

कि—"(त्वं कर्म नियतं कुरु) तू कर्म सदा करता रह, क्यों कि (हि अकर्मणः कर्म ज्यायः) कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अच्छा है, आलसी बैठनेकी अपेक्षा सदा कुछ न कुछ कर्म करना उत्तम है। (अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्धयेत्) खाली बैठे रहोगे, तो तेरे शरीरकी स्थिती भी ठीक रीतिसे नहीं होगी।" अर्थात् शरीका स्वास्थ्य उत्तम अवस्थामें रहनेके लिये शरीरके अवयवोंसे कुछ न कुछ कर्म करालेना चाहिये। शरीरको कर्महीन, आलसी अथवा हलचल रहित रखा जाय, तो इस शरीरका स्वास्थ्य भी आलस्य के कारण बिगड जायगा। अतः आलस्यमें समय गमानेकी अपेक्षा कुछ न कुछ कर्म करना बहुतही अच्छा है। कमसे कम शरीर यात्रा भी तो चलती रहेगी। इस हेतुसे मनुष्य सदा कुछ न कुछ प्रयत्न करता रहे। प्रयत्नहीन मनुष्यकी अपेक्षा प्रयत्नशील मनुष्य बहुत अच्छा है।

ऐच्छिक और स्वाभाविक कर्म।

पञ्चम मंत्रमें कहा है कि "कोई एक क्षण के लिये भी तो खाली नहीं रह सकता, प्रकृतिके गुण बलात् उससे कर्म कराते रहते हैं।" इस स्वभावसिद्ध नियम के अनुसार कोई कर्महीन नहीं रह सकता। यह सत्य है, तथापि ये कर्म स्वाभावधर्मसे होनेवाले हैं। जैसा रेलमें बैठा मनुष्य पैदल न चलता हुआ भी सैंकडों मीलोंकी सफर करता है, रेलके स्वभाव के आधीन होनेसे रेलके गुणधर्म इससे बलात् सफर करवाते हैं। इसी प्रकार जीव प्रकृतिके आधीन होनेसे प्रकृति के गुणधर्म उससे कर्म कराते हैं। परंतु जिस प्रकार रेलकी सफर और पैदल सफर में भेद है; उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म और ऐच्छिक कर्ममें भी भेद है। पैदल सफर करनेवालेका शरीर सुदृढ होता जाता है और रेलसे सफर करनेवालेका शरीर अकड जाता है। इसी तरह प्रकृति स्वभावसे होनेवाले कर्मोंसे जीवकी शक्तियाँ अकडजाती हैं, परंतु ऐच्छिक सत्कर्म करनेसे जीवकी शक्तियाँ विकसित होती हैं। इसलिये स्वाभाविक कर्मोंकी अपेक्षा ऐच्छिक विशेष कर्म कई दर्जेसे श्रेष्ठ हैं।

पञ्चम मंत्रमें शरीरधर्मसे होनेवाले कर्मोंका वर्णन है। वे कर्म तो जीवमात्रसे होतेहि रहते हैं। उनसे न किसीकी उन्नति होगी और न अवनति। वे कर्म न करनेसे खराबी अवश्य होगी। परंतु मनुष्यको ऐच्छिक श्रेष्ठ कर्म अपनी उन्नतिके लिये अवश्य करने चाहियें। ये ऐच्छिक कर्म उत्तम रीतिसे किये, तो उनका अच्छा फल कर्ताको प्राप्त होगा; कर्म करनेमें अशुद्धि हुई तो दोष होकर अवनति होगी; परंतु दोनों अवस्थाओंमें कुछ न कुछ दोष अवश्य बनेगा (अ०३ श्लोक३-४ का विवरण देखिये)। इसलिये कई लोग बल से शरीरको रोकते हैं, उनके विषयमें छठे मंत्रमें कहा है कि- "जो ऊपर ऊपरसे इंद्रियोंको रोक कर भीतरहि भीतर विषयों का मजा उडाने का विचार करता है वह मिथ्याचारी किंवा ढोंगी है।" इसप्रकार बलसे शरीरको रोकनेसे कोई लाभ नहीं है,इस तरह शरीरको रोकनेसे"कुछ न कुछ कर्म करना अच्छा है,आलसी रहनेसे उद्योग करना अच्छा है" ऐसा मनुष्यकी कर्मकी ओर प्रवृत्ति करनेके उद्देश्यसे अष्टम मंत्रमें कहा है।

परंतु (त्वं कर्म नियतं कुरु) तू सदा कर्म कर, इतनाहि इसका अर्थ करनेकी अपेक्षा 'नियत' शब्दका पहिला अर्थ लेकर इसका (त्वं नियतं कर्म कुरु) "तू [धर्ममर्यादाके अनुकूल तुह्मारे लिये] निश्चित हुआ कर्म कर" ऐसा अर्थ करना अधिक योग्य है। अथवा 'तू अपने लिये निश्चित हुआ कर्म सदा कर' ऐसा अर्थ करना भी अधिक योग्य है। इसमें दोनों अर्थोंका आशय आ जाता है। मनुष्यको कर्म करना आवश्यक है अतः वह नियत कर्म हि सदा करता रहे। यहां नियत कर्म कौनसा है इस विषयका विचार करना चाहिये—

नियत कर्म।

'नियत कर्म' का आशय दो प्रकार से व्यक्त हो सकता है। एक नियत कर्म वह है कि, जो धर्मशास्त्र के द्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये निश्चित हो चुका है। शमदम तप आदि ब्राह्मण के लिये; शौर्य, युद्धसे अपलायन, दान आदि क्षत्रिय के लिये; कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य वैश्यके लिये और कारीगरी तथा परिचर्यादि कर्म शूद्र के लिये धर्मशास्त्र द्वारा निश्चित हुए कर्म हैं। चार वर्णों में उत्पन्न हुए मनुष्योंके इस प्रकार के चतुर्विध कर्म धर्मशास्त्र द्वारा निश्चित हैं। ये हि कर्म नियत कर्म हैं और जिस वर्ण में जो उत्पन्न हुआ है उसके लिये येहि नियत कर्म हैं। अपने वर्ण और अपने आश्रम केलिये जो कर्म धर्मशास्त्रसे नियत हुआ है,वह उस मनुष्य को सदा करना चाहिये। 'नियतं कर्म कुरु' अपने लिये नियत हुआ कर्म कर इसका एक आशय यह है। भगवद्गीतामें आगे इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

शास्त्रप्रमाण।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
भ० गी० १६।२४

'कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करनेके समय तुझे शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये, और शास्त्रोंमें जो कुछ कहा है, उसको समझकर, तदनुसार इस लोकमें कर्म करना तुझे उचित है।' यहां शास्त्र का अर्थ आप्त तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा रचित मानवी धर्म के ग्रंथ है। यदि धर्मनियमों में बदल करना हो, तो मनुष्य समाज की परि-स्थिति देखकर आप्तपुरुष वैसा बदल धर्मग्रंथोंमें करें। वह अधिकार सामान्य मनुष्य को नहीं है। धर्मशास्त्रकी रचना आप्त पुरुष करें, और अन्य लोग उन नियमों के अनुसार आचरण करें। इस प्रकार करनेसे कोई मनुष्य अयोग्य कर्म कर हि नहीं सकता, किसी मनुष्यसे अधर्म हो नहीं सकता, मनुष्य समाज सदा सन्तुष्ट और आनन्द से रह सकता है और आत्मोन्नति करनेके लिये उसको बहुत अवसर मिल सकता है।

यहां अर्जुन के विषयमें इसका आशय यह है कि, अर्जुन क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होने के कारण उसका धर्म 'शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धसे पीछे न हटना, दान और प्रभुत्व का भाव ये हैं।' (भ० गी० १८।४३) इन क्षत्रियके धर्मोंमें (युद्धे अपलायनं) युद्धसे पीछे न हटना यह एक धर्म है, शौर्य, धैर्य, तेजस्विता, प्रभुत्व का भाव ये भी धर्म उसके साथ हैं। क्षत्रिय के कुलमें उत्पन्न हुए एक मनुष्य के लिये ये 'नियत कर्म' हैं अर्थात् ये उसको सदा करने अत्यंत आवश्यक है। यदि किसी क्षत्रिय को अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषयमें भ्रम उत्पन्न हुआ तो इस शास्त्रवचन को देखे-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
(भ० गी० १८।४३)

इस प्रकारके अन्यान्य वचन वेद और शास्त्र में देखे और अपने कर्तव्य का निश्चय क्षत्रिय करे। वेद में इन्द्र, मरुत्, रुद्र आदि क्षात्र देवताओंके मंत्रोंमें क्षत्रियके धर्म और कर्म कहे हैं, मनु आदि स्मृतियोंमें ये ही धर्म वेदके अनुसार स्वतंत्र प्रकरणोंमें कहे हैं,पुराणोंमें क्षत्रियोंके उत्तम चरित्र हैं जिनके पढनेसे क्षत्रियके धर्म विदित हो सकते हैं, इसमें और विचार के लिये आधुनिक युगके श्रेष्ठ क्षत्रियोंके जीवन चरित्र लिये जा सकते हैं, तथा आधुनिक विचारकोंके सद्विचार भी विचार के लिये लिये जा सकते हैं। श्रुति स्मृति सदाचार और आत्मतुष्टि ये धर्म के चार लक्षण हैं। और इन से जो निश्चित होता है वह मनुष्य का नियत कर्म है।

अर्जुन क्षत्रिय है अतः उसका धर्मशास्त्रके अनुसार कर्तव्य "युद्ध से न भागना" अर्थात् "युद्धमें स्थिर रहकर शत्रुके साथ युद्ध करना" है। यह कर्तव्य अर्जुन नहीं करता,प्रत्युत शास्त्रके

विरुद्ध आचरण करता है। इस समय अर्जुन नियत कर्म का त्याग कर रहा है, यह बडा भारी पाप उस से हो रहा है। इस पापसे बचानेके लिये भगवान् कह रहे हैं कि 'हे अर्जुन! तू नियत कर्म कर। अन्य हीन कर्म करनेसे अथवा आलस्य में सडनेसे नियत कर्म करना बहुत अच्छा है।' वर्णाश्रमधर्म के अनुसार क्षत्रिय कुलोत्पन्न वीर का जो नियत कर्म है वह उसको करनाहि चाहिये। न करनेसे दोष होगा। यह दोष कितना भयानक है देखिये—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
भ० गी० १६।२३

'जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोडकर स्वेच्छासे व्यवहार करता रहता है, वह न तो सिद्धि को पाता है, न सुख कमाता है और न परम गतिको प्राप्त कर सकता है।' इस प्रकार उसकी सब प्रकारकी उन्नति मारी जाती है। शास्त्र विधिका उल्लंघन करनेका कितना घोर परिणाम है यह देखिये। अर्जुन इस समय शास्त्र से निश्चित हुआ नियत कर्म छोडकर स्वेच्छासे व्यवहार करना चाहता है, ऐसा करनेसे उसको न किस प्रकार की सिद्धि मिल सकती, न सुख प्राप्त हो सकता और न परलोक में उच्चगति मिल सकती। फिर किस आशा से यह मनुष्य स्वेच्छाचार में प्रवृत्त होवे?

पाठक यहां 'नियत कर्म' करनका यह संदेह ठीक रीतिसे समझें। श्रेष्ठ दूरदर्शी विचारी निःपक्षपाती महाज्ञानी आप्त पुरुषोंने चार वर्णों और चार आश्रमों में रहनेवाले मनुष्योंको जो कर्म करने चाहियें ऐसा कहा और जहां उनका वर्णन किया है, उसका नाम शास्त्र है। प्रत्येक मनुष्य का इस शास्त्रके अनुसार नियत कर्म निश्चित हुआ है। हरएक मनुष्यको यह कर्म अवश्य करना चाहिये। इस विषयमें गीता में कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥४५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥४६
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८
भ० गी० १८

"अपने अपने नियत कर्ममें रत रहकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है। जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने यह संसार फैलाया है, उसकी पूजा जो मनुष्य अपने निज कर्मसे करता है वह सिद्धिको प्राप्त करता है॥ सुकर परधर्म की अपेक्षा अपना गुणरहित निज धर्महीं अधिक कल्याणकारी है। स्वभावसे नियत हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता॥ सहज कर्म सदोष होता हुआ भी नहीं छोडना चाहिये। क्योंकि दोष तो सब कर्मोंके साथ रहते हि हैं॥"

सहज कर्म।

इस वर्णनसे नियत कर्मका अर्थ निश्चित होगा। "स्वकर्म, स्वधर्म, स्व-भाव-नियत कर्म, सहज-कर्म" ये शब्द नियतकर्म का अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वके हैं। 'सह-ज कर्म' का अर्थ है 'अपने जन्मके साथ जन्मा हुआ कर्म'। प्रत्येक मनुष्यके साथ उसका कर्म निश्चितरूपसे जन्मता है। इसी प्रकार 'स्व-भाव-नियत कर्म' का अर्थ 'अपने भाव अर्थात् सद्भाव किंवा जन्मके साथ नियत हुआ कर्म'। इन दोनों शब्दोंका अर्थ प्रायः एकहि है। यहां 'स्वभाव' का अर्थ शील नहीं है प्रत्युत 'स्वजन्म' है। चार वर्णोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके जन्मके साथ ही उनके कर्मभी उत्पन्न होते हैं। और वे उनको करनेहि चाहियें। इस प्रकार अर्जुन का 'सह-ज अथवा स्व-भाव-नियत' कर्म 'युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करना' था। यह (सदोषं) हिंसारूप दोषसे युक्त हो, (विगुण) गुणरहित हो, सत्त्वगुणरहित हो, इससे

(परधर्म) ब्राह्मणादिकोंका शमदम रूप धर्म कितना भी (स्वनुष्ठित) करनेको सुकर क्यों न हो और कितनाभी गुणवान् क्यों न हो, अर्जुन का क्षत्रिय होनेके कारण कर्तव्य था कि वह (स्वकर्मणा तं अभ्यर्च्य) युद्धरूप स्वकर्मके द्वारा हि परमेश्वरकी पूजा करे और परम सिद्धि प्राप्त करे। युद्धसे निवृत्त होना ब्राह्मण और वैश्यके लिये अधर्म न होवे, परंतु क्षत्रिय के लिये युद्ध-भूमि से भागना बडा घोर अधर्म होगा, और उससे उसका पतन होगा। प्रत्येक वर्ण का इस प्रकार नियत कर्म उसके जन्मके साथ निश्चित हुआ है और वह उसको करना हि चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को जो नियत कर्म कर-नेका उपदेश कर रहे हैं उसका यह तात्पर्य है।

'नियत कर्म' का अर्थ 'इंद्रियसंयम से किया हुआ कर्म' ऐसा भी होता है। यह अर्थ स्वीकारने पर इस श्लोक को यह अर्थ होगा कि 'हे अर्जुन तू (नियतं कर्म कुरु.) अपनी इंद्रियोंको नियमन में रखकर कर्मों को कर, (अकर्मणः कर्म ज्यायः) क्यों कि 'कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है।'' यह अर्थ इस के पूर्व श्लोक के आशय के साथ संगत भी है, तथापि यह अर्थ यहां अपेक्षित है या नहीं इस विषयमें मुझे बडी शंका है। यदि केवल 'इंद्रिय संयमसे किये हुए कर्म' हि यहां अपेक्षित हैं, तब तो अर्जुन आत्म-संयमपूर्वक तपस्या करनेकी तैयारी करके हि बैठा था। वह वनवासी होकर कन्दमूल फलाहारी होता हुआ भिक्षावृत्तिसे शमदम का मार्ग अव-लंबन करना चाहता था। यह ब्राह्मधर्म का अनु-यायी होकर अधिक से अधिक आत्मसंयमके मार्ग से जानेका इच्छुक था। अतः यदि भगवान् को केवल 'इंद्रियसंयम से किया हुआ नियत कर्म' हि अभीष्ट था, तो वे उसको क्यों रोकते, और क्यों युद्ध में प्रवृत्त करते? इस रीतिसे विचार करनेपर विदित होगा कि यह अर्थ इस स्थानपर संगत नहीं है। यहां तो अर्जुनको जन्म के साथ प्राप्त सहज और स्वभाव नियत युद्ध-रूप कर्म संयम से करनेका उपदेश भगवान् कर रहे हैं। और अन्यान्य मनुष्योंको भी वर्णाश्रम के अनुसार प्राप्त कर्म करनेका उपदेश कंठरव से दे रहे हैं। मनःसंयमसे दिल चाहे सो कर्म करनेका भाव यहां नहीं है, क्यों कि अर्जुन भी किसी प्रकार अधर्मपथमें प्रवृत्त नहीं था, क्षत्रियसे भिन्न वर्ण के कर्म में तो निःसन्देह प्रवृत्त था। अतः भगवान् चाहते थे कि, वह अपने निजधर्म में प्रवृत्त होवे और अन्य वर्णके धर्म से उसकी प्रवृत्ती हटे।

परिस्थितिसे प्राप्त कर्म।

'नियत कर्म' का अर्थ और भी एक है। 'जो परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य होता है और टालने अयोग्य होता है वह नियत कर्म है।' जगत्की परिस्थिति ऐसी बनती है कि उस समय वह कर्म अवश्य करने योग्य होता है। देश काल वर्तमान की परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य है वह भी 'नियत कर्म' कहा जा सकता है। यह नियत कर्म मनुष्य को करना अत्यंत आवश्यक है। यह अपरिहार्य कर्म है। जैसा राष्ट्रपर बडी भारी आपत्ति आगई, शत्रुकी बडी सेना आगई और उसके सन्मुख केवल अकेले क्षत्रिय ठहर नहीं सकते, ऐसी अवस्था प्राप्त होनेपर ब्राह्मण, वैश्य आदि लोगोंने भी राष्ट्रके स्वयंसेवक बनकर, अपने स्वयंसेवक पथक बनाकर शस्त्र धारण करके युद्धभूमिमें जाकर शत्रुपर चढाई करना चाहिये, अतः कहा है—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ३४८
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ३४९
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥३५०॥

मनु० अ० ८

जब, धर्म में साहसी लोग बाधा उत्पन्न करेंगे तब सब द्विजातियोंको शस्त्र लेकर युद्धके लिये तैयार होना चाहिये । जब सब वर्णोंपर आपत्ति आवे, आत्मरक्षा की शंका हो, सबको युद्ध करना आवश्यक हो, स्त्री की रक्षा और ज्ञानीकी रक्षा करनेका प्रसंग हो, उस समय हर एक मनुष्यको शस्त्र धारण करना चाहिये । आततायीका वध हरएक मनुष्य करे, उससे दोष नहीं लगता ।' इस प्रकार की जब राष्ट्रपर आपत्ति आती है तब हरएक के लिये शस्त्र धारण करना और युद्धके लिये समरभूमिमें जाना आवश्यक होता है । इस प्रकारके अनेक प्रसंगों में जो भी कर्तव्य कर्म उपस्थित होवे, वह उस समयके लिये 'नियत कर्म' कहा जा सकता है और वह उसके वर्णाश्रमके अनुकूल न भी हुआ तो भी वह उसको करना चाहिये ।

'नियत कर्म' का यह अर्थ निःसन्देह है, परंतु अर्जुन के लिये ऐसी कोई आपत्ति नहीं थी । उसकेपास जो नियत कर्म आया था, वह उसका सहजप्राप्त वर्ण के अनुकूल हि युद्धरूप कर्म था । इस लिये अर्जुन के प्रसंगमें यह अर्थ संगत नहीं होगा, तथापि किसी अन्य मनुष्यके लिय किसी विशेष प्रसंगमें यह अर्थ योग्य होगा। तथा आजकल जहां प्रायः वर्णाश्रमधर्म लुप्त हुआ है, और लोग शास्त्रमर्यादा के अनुसार नहीं चलते हैं, उस समय इस प्रकार का अर्थ 'नियत कर्म' का मानकर बोध प्राप्त करना योग्य है ।

कोई मनुष्य किसी ओहदेपर अथवा स्थानपर होता है, उस ओहदे अथवा स्थान के कारण उसके लिये कुछ कर्म नियत होते हैं । वे कर्म उनको करने चाहिये । 'नियतं कुरु कर्म त्वं' इस का यह आशय पाठक ध्यानमें धारण करें ।

आलस्य और प्रयत्न ।

इसके आगे 'हि अकर्मणः कर्म ज्यायः' कहा है । इसका अर्थ ऐसा होता है कि 'कर्म न करने से कर्म करना अच्छा है ।' आलस्य से पुरुषार्थ प्रयत्न अधिक अच्छा है। आलसी रहनेकी अपेक्षा उद्योगी होना बहुत उत्तम है । कर्महीन होनेसे कर्मयुक्त होना अच्छा है । यहां 'अकर्म' का अर्थ कर्म न करना, आलस्य आदि है । इसी 'अकर्म' शब्दका अर्थ 'निर्दोष कर्म' ऐसा आगे आनेवाला है । उसी समय उस अर्थका विचार करेंगे। यहां आलस्य इतनाहि इसका अर्थ है । इसी लिये आगे इसी श्लोक में कहा है कि (शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः) आलस्यसे तेरे शरीरका भी निर्वाह नहीं होगा । क्योंकि शरीर की सुस्थितिके लिये भी मनुष्य को उद्योग करना चाहिये । अतः कहते हैं कि आलस्य रोग है और उद्यमशीलता स्वास्थ्य का चिन्ह है। इस लिये मनुष्य समझे कि जिस समय सुस्ती आजाय उस समय उसमें कुछ रोगबीज घुसे हैं और जिस समय उसमें उद्योग करनेका उत्साह बढ रहा हो, उस समय वह स्वास्थ्यसंपन्न है। अस्तु । यहां तक इस आठवे मन्त्रने कहा कि ' मनुष्यको नियत कर्म करना चाहिये, आलसी रहनेकी अपेक्षा कर्मण्यता कल्याणकारिणी है, आलस्य से शरीरका स्वास्थ्य भी ठीक तरह नहीं रह सकता ।' इस आज्ञाके अनुसार कर्म करना आवश्यक हुआ, अब विचारना चाहिये कि यह कर्म किस तरह किया जावे? इसका उत्तर सप्तम मंत्रने इस प्रकार दिया है—

विशेष श्रेष्ठ मनुष्य ।

१ 'मनसा इंद्रियाणि नियम्य'= मनसे इंद्रियोंका संयम करे और

२ 'असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते'= आसक्तिरहित होकर कर्मेंद्रियोंसे कर्मयोग का आचरण करे ।

३ 'सः विशिष्यते'= जो ऐसा कर्मयोग करता है उसकी योग्यता विशेष होती है ।

इस मन्त्रमें 'विशेष मनुष्य' किस प्रकारका आचरण करनेसे होता है यह दर्शाया है । मनसे अपने इंद्रियोंका संयम करना और आसक्ति

छोडकर कर्मयोग का आचरण करना, इससे मनुष्य की योग्यता वरिष्ठ दर्जेकी होती है। अर्थात् इस विशेष मनुष्यके लक्षणसे हमें तीन प्रकारके मनुष्य हैं यह बात विदित होती है, देखिये—

१ विशेष मनुष्य— जो इंद्रियसंयम करता है और आसक्तिरहित होकर नियत कर्म करता है,

२ सामान्य मनुष्य- जो इंद्रियदमन का विशेष सा विचार नहीं करते, परंतु सकाम कर्म धर्मानुकूल करते हैं,

३ अधम मनुष्य- जो अपने इंद्रियोंको विषयों में फंसाते हैं, अपने भोगों को बढानेके लिये जो मर्जी आये करते जाते हैं। किंवा जो बिलकुल आलसी होते हैं, बिलकुल यत्न नहीं करते।

मनुष्यको उचित है कि वह 'विशिष्टता' प्राप्त करनेका यत्न करे। सामान्य और अधम कोटी में अपने आपको रखनेका कभी यत्न न करे। हर-एक मनुष्य 'विशेष' बननेका यत्न करे, इस प्रकार का उत्साह मनुष्य में उत्पन्न करनेके हेतुसे हि इस सप्तम मंत्रमें 'विशेष' बननेका मार्ग कहा है। इसीका नाम 'अनासक्तिका कर्मयोग' है।

इंद्रियोंका संयम।

इस 'अनासक्ति के कर्मयोग' के लिये सबसे पहिली आवश्यक बात इंद्रियोंके संयम की है। (मनसा इंद्रियाणि नियम्य) मनसे इंद्रियों का दमन करना चाहिये। मनके आधीन सब इंद्रियां हैं, इसीलिये मन को इंद्रियोंका राजा कहते हैं, इस राजाके आधीन ये सब इंद्रियाँ रहें, यह राजा भी धर्मपथमें स्थिर रहे अर्थात् मनके सहित संपूर्ण इंद्रियां धर्ममार्ग में संयम के साथ विचरें। कोई इंद्रिय स्वेच्छाचारी न बने।

इंद्रियोंका संयम होनेके पश्चात् कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग का आचरण आसक्ति छोडकर करे। इसी कर्मयोग के विषयमें पूर्व स्थानमें (भ० गी० अ० २ श्लो० ४७-५१ तक) विशेष रीतिसे कहा है, वह उपदेश पाठक यहां अवश्य पढें।

'आसक्ति छोडकर, सिद्धि और असिद्धि के विषयमें समबुद्धि रखकर, योगमें स्थिर होकर कर्म कर। इस समत्व को हि योग कहते हैं। फल के हेतुसे कर्म करनेवाले निकृष्ट होते हैं, अतः तू समत्व बुद्धि का आश्रय कर॥ इस जगत् में समत्व बुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और दुष्कृत को दूर करते हैं। इस लिये तू समत्वरूप बुद्धियोग का साधन कर। कर्मोंमें जो कुशलता है उसको योग कहते हैं॥ इसलिये समत्व बुद्धि से युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल का दान करके जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःख-रहित स्थान को प्राप्त होते हैं॥ (भ० गी० २।४८-५१)'

इस रीतिसे अनासक्तिरूप कर्मयोग का वर्णन इससे पूर्व आगया है। कर्म का फल अपने भोग के लिये नहीं रखना, कर्म के फल को जगत् की भलाई के लिये समर्पण करना; इसी को कर्मफल का त्याग अथवा दान कहते हैं, इसी का नाम अनासक्ति और इसी का नाम कर्मयोग है। जो इस रीतिका कर्मयोग करता है वही विशेष उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है।

एक राजा उत्तम राज्यशासन चलाता है, जो कर प्रजासे लेता है उसको अपने भोग बढाने में खर्च न करता हुआ वह प्रायः सब कर का धन प्रजाकी सच्ची उन्नति करनेमें खर्च करता है। यह राजा कर्मयोगी है। परंतु जो राजा राष्ट्रका धनकोश अपनी चैन के लिये खर्च करता है वह भोगी है। कर्मयोगी राजा राष्ट्रशासन का धनरूपी फल जनता की सच्ची उन्नतिके लिये समर्पित करता है, परंतु भोगी राजा सब धन अपनी चैन और अपने विलासोंके लिये खर्च करता है। इसी कारण पहिले राजा को 'विशेष श्रेष्ठ राजा' कहते हैं और दूसरे को 'अधम पापी' कहते हैं। इस रीतिसे अनासक्ति से विशेषता की प्राप्ति होती है। अनासक्ति, कर्मफलत्याग, निष्कामता आदि शब्दोंका

(६) सहयोगी यज्ञ ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

भाव यही है, और यही भाव अगले नवम श्लोक में अधिक स्पष्ट हुआ है—

कर्मयोग।

(यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्म-बन्धनः) यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन यज्ञ कर्मोंसे मनुष्यको बंधन नहीं होता; परंतु जो दूसरे कर्म मनुष्य करता है उनसे मनुष्यको बन्धन होता है। इस कारण (तदर्थं कर्म मुक्तसंगः समाचर) यज्ञ के लिये कर्म आसक्ति छोडकर कर। अर्थात् यज्ञकर्म से मनुष्य बन्धनसे छूटता है, मनुष्य निर्दोष होता है और यज्ञरहित अन्य कर्मोंसे मनुष्यको बन्धन होता है। यहां यज्ञ शब्दका केवल होमहवन अर्थ नहीं है। आगे भ० गीता अ० ४ में श्लोक २५ से ३२ तक विविध यज्ञ कहे हैं। उनमें ये मुख्य हैं- इंद्रियसंयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, इत्यादि यज्ञोंमें होमहवन रूप एक यज्ञ है, परन्तु उससे भिन्न अनन्त यज्ञ हैं, मानो मनुष्यके जीवन व्यवहारमें क्षणक्षणमें यज्ञ हो सकते हैं, मनुष्यकी आयु यज्ञमय होनी चाहिये। मनुष्यका बोलना, चालना, खाना, पिना, सोना और जागना सब यज्ञरूप होना चाहिये। भगवद्गीता का यही उपदेश प्रारंभसे अन्ततक स्पष्ट रीतिसे दीखता है।

अतः यज्ञ का अर्थ क्या है, इसका यहां विचार करना चाहिये। "यज्" धातुके देवपूजा-संगतिकरण-दान ये तीन अर्थ हैं। निर्भयता, पवित्रता, ज्ञान में निष्ठा, दान, शम, दम, स्वाध्याय, तपश्चर्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, भूतदया, निर्लोभवृत्ति आदि दैवी संपत्तिवाले लोगोंका नाम देव है, इनका सत्कार करना, संगतिकरण करना अर्थात् संगठन करना और दान करना; ये तीन बातें जहां होती हैं उस कर्म का नाम यज्ञ है। सत्कार-संगठन और उपकार ये तीन लक्षण यज्ञ के हैं। जिस कर्मसे सन्मान्य मनुष्योंका सत्कार होता है, जनता का संगतिकरण-संगठन-होता है, जिससे विभक्तता नहीं होती, तथा जिससे दीनोंपर उपकार किया जाता है, वह यज्ञ कहलाता है। अपने कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल जनताकी भलाई के लिये त्यागने की तैयारी के विना कोई यज्ञ नहीं होता। इसी यज्ञसे मनुष्य उच्च होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस समय तक जितने मनुष्य उच्च कोटीके होचुके हैं, उन्होंने किसी न किसी रूपसे अपनी आयु यज्ञरूप बनायी थी।

इस प्रकारके यज्ञके हेतुसे जो कर्म होते हैं, उनसे कर्ताको कोई दोष नहीं लगता, परंतु जो कर्म अपने स्वार्थ के लिये होते हैं, अपनी चैन बढाने के लिये होते हैं, उनसे मनुष्य दोषी बनते हैं। इस प्रकारके यज्ञ कर्म आसक्ति रहित होकर निःस्वार्थ भावसे मनुष्य करे।

यहां 'अनासक्तियोग' के अनुष्ठान के लिये (१) इंद्रियोंका दमन, (२) मनका संयम, (३) फलपर आसक्ति न रखना, (४) नियत कर्म करना, (५) यज्ञरूप कर्म करना, इन पांच मर्यादाओं की आवश्यकता है ऐसा कहा है। मनुष्यके लिये यह यज्ञ स्वाभाविक है वा नहीं यह शंका यहां हो सकती है, इसका उत्तर देनेकी इच्छासे श्रीकृष्ण भगवान् मनुष्यके साथ हि यज्ञकी उत्पत्ति होनेका वर्णन करते हैं, वह उत्तम बोध अब देखिये—

सहज यज्ञ ।

(१०-१३) यहां जो मुख्य बात कही है वह

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्वयः- पुरा प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा 'अनेन यूयं प्रसविष्यध्वम्, एषः वः इष्टकामधुक् अस्तु' इति उवाच ॥१०॥ अनेन (यूयं) देवान् भावयत, ते देवाः वः भावयन्तु, (एवं) परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥११॥ यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते । तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय, यः भुङ्क्ते, सः हि स्तेनः एव ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते । ये तु आत्मकारणात् पचन्ति, ते पापाः अघं भुञ्जते ॥१३॥

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न करके 'इस यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे, यह तुम्हें इच्छित कामनाओंको देनेवाला होवे' ऐसा कहा॥१०॥ इस यज्ञसे तुम लोग देवोंको सन्तुष्ट करते रहो, और वे देव तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें । इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम सब परम कल्याण को प्राप्त करो ॥११॥ यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे, उन्हीं का दिया हुआ उन्हें कुछ भी न देकर, उसका भोग जो स्वयं करता है, वह सचमुच चोर है॥१२॥ यज्ञ करके शेष बचे हुए भागको खानेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । परंतु जो तो अपने लिये ही अन्न पकाते हैं, वे पापी लोग पापहि खाते हैं॥१३॥

भावार्थ— परमेश्वरने प्रजाको यज्ञके साथ उत्पन्न किया है, और ऐसी जगत् की रचना की है कि, जो यज्ञ करेंगे उनकीहि वृद्धि होगी और उन्हीं की कामनाएं तृप्त होंगी । जो यज्ञ नहीं करेंगे, वे नाश को प्राप्त होंगे और उनकी इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होंगी॥ यज्ञसे मनुष्य देवोंकी सन्तुष्टी करेंगे, तो देवभी मनुष्योंको तृप्त करेंगे । इस रीतिसे एक दूसरे की सहायता करते हुए सब कल्याण को प्राप्त होंगे ॥ यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देव मनुष्योंको इष्ट भोग अवश्य देंगे, परन्तु उन इष्ट भोगोंमेंसे कुछ भाग यदि मनुष्य उन्हें श्रद्धासे वापस नहीं देंगे और सब अपने लिये हि रखेंगे, तो वे निःसन्देह चोर होंगे ॥ यज्ञ करनेके पश्चात् जो अवशिष्ट बचता है, उस का ही जो मनुष्य अपने लिये स्विकार करते हैं, वे पुण्यके भागी होते हैं । परंतु जो अपने भोगोंकी हि सिद्धता करते हैं, वे पापका भोग करते हैं ॥ १०-१३ ॥

यह है कि 'यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ है।' यहां कोई यह न समझे कि केवल मनुष्यों के साथहि यज्ञ उत्पन्न हुआ है, नहि । यह यज्ञ तो प्राणियों और वृक्षादिकों के साथ भी उत्पन्न हुआ है । परंतु मनुष्य ज्ञानसंपन्न प्राणी है इस लिये उसको उचित है कि इस यज्ञकी अपने साथ उत्पत्ति हुई है यह जाने और उसका अनुष्ठान करे । पशुपक्षी, वृक्ष वनस्पति, पृथ्वी आदि

पंचमहाभूत तथा अन्यान्य सजीव अथवा निर्जीव वस्तुमात्र, अपने साथ यज्ञकी सहज उत्पत्ति हुई है यह बात न जानते हुए स्वभावसेहि यज्ञ करते रहते हैं, मानो उनका यज्ञ स्वभावसे हि हो रहा है, परंतु मनुष्यको यह यज्ञ बुद्धिपूर्वक करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य ज्ञानवान है और वह अपने धर्मसंबंधी कर्तव्य ज्ञान के साथ करता है।

जगत् में यज्ञ।

यहां कई पाठक पूछेंगे कि सब स्थिरचर पदार्थोंके साथ यज्ञ उत्पन्न हुआ है इस विषयमें प्रमाण क्या है? इस विषयमें उत्तर इतनाहि है कि पाठक अपने आंख खोलकर जगत् के अन्दर देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, सब जगत् के स्थिरचर पदार्थ न जानते हुए स्वभावसेहि यज्ञ कर रहे हैं। देखिये, इस जगत् में द्युलोक निवासी भगवान् सूर्य प्रकाशता है, वह जगत् की भलाई के लिये अपनी शक्तिका समर्पण कररहा है, आत्मसमर्पण कर रहा है, अपने तेजसे दूसरोंका सत्कार कर रहा है, सब को संगठित होने के लिये प्रकाश देता है, निशाचरों और दुष्टोंको दूर करता है, सज्जनोंका मार्ग खुला करता है, जगत् को जीवनशक्ति देकर उन को जीवित रखता है, यह सब सूर्य का यज्ञ ही है। सूर्य के नंतर अन्तरिक्ष निवासी वायु सब जीवोंका और वृक्षादिकोंका भी प्राण बना है, यह अपना समर्पण करके दूसरों को जिलाता है, यदि क्षणमात्र यह वायु आत्मसमर्पण करना बन्द करे, तो उसी क्षण सब प्राणी मरजायंगे। इसी प्रकार अन्तरिक्ष स्थानीय मेघ को प्रजापति भी कहते हैं और इस प्रजापतिके यज्ञसे आर्योंके वाङ्मयका बहुत सा भाग भरा पडा है। यह मेघ केवल परोपकार के लिये हि जीवित रहता है, केवल परोपकार के लिये जगत् में विचरता है और जगत् की भलाई के लियेहि वृष्टिसे वर्षता है, मानो अपने प्रत्येक अंश का समर्पण यह परोपकार के लिये करता है। परोपकार के लिये आत्मसर्पण करनेमें मेघ की बराबरी कोई कर नहीं सकता। मेघमें जितने भी जलबिंदु होते होंगे, उन सबका वह यज्ञ करता है, निःस्वार्थ भाव की और पूर्ण परोपकारके भाव की इस में परमसीमा है। अपने लिये कुछ भी न रखते हुए अपनी सब सत्ता परोपकारार्थ समर्पण करने में मेघ की बराबरी कोई अन्य कर नहीं सकना। परोपकार रूपी यज्ञ की परमसीमा मेघमें पाठक अनुभव कर सकते हैं।

इस ढंगसे द्युलोक और अन्तरिक्ष की देवताओंका स्वभावसे होनेवाला यज्ञ देखनेके पश्चात् पाठक इस पृथ्वीपर अवलोकन करेंगे, तो उनको यहां भी सर्वत्र यज्ञ चल रहा है, यह अनुभव स्थान स्थानमें प्रत्यक्ष होगा। पहिले भगवती पृथ्वीको हि देखिये, यह सबको आधार देती है, सब को आधार स्थान देनेके लिये हि जिसका अस्तित्व है, कितनी इस मातृभूमि की सहनशीलता है। हम उसपर चलते हैं, खोदते हैं, ठोकते हैं, परंतु वह रुष्ट नहीं होती और हमें आधार देतीहि रहती है, इस विषयमें वेद स्वयं ऐसा उपदेश दे रहा है—

> उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
> पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥
> अथर्व० १२।१।२८

'उठनेवाले, बैठनेवाले, खडे होनेवाले और चलनेवाले हम सब दायें और बाये पांवोंसे भूमि के अन्दर हम अधिक दुःख उत्पन्न न करें॥' इस रीतिसे यहां दक्षता धारण करने को कहा है कि अपने चाल चलनसे भूमिपर अधिक दुःख उत्पन्न न होवे। सब का दिया हुआ दुःख सहन करती हुई यह भूमिमाता हम सबको आधार दे रही है, यह तो इसके परोपकार की पराकाष्ठा है, परोपकारमें इसकी बराबरी कौन कर सकता है? इतनाही नहीं, परंतु यह भूमि हमें हरएक ऋतुमें कन्द मूल फल शाक और विविध अन्न तथा रस देकर तृप्त कर रही है, ये इस माताके कितने उपकार हैं? यह मातृभूमि हमारे कष्ट सहती है और—

ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥ अथर्व० १२।१।२९

'यह भूमि पुष्टि देनेवाला अन्नभाग हमारे लिये धारण करती है।' वारंवार हमें अन्न देती है, ये इस मातृभूमिके हमपर अनंत उपकार हैं। इनका कितना वर्णन करें? इसी प्रकार जल के हमपर उपकार हो रहे हैं, जलदेव अपने मधुर रससे हमारी तृप्ति करता है, अपने अमृतरससे हमारे अनंत दोष दूर करता है,अतः इसको अमृत कहते हैं। यह जल स्वयं स्थान स्थानमें जाकर वृक्षों वनस्पतियों पशुपक्षियों और मानवोंको जीवन व्यतीत करनेमें सहायक होता है। यह इसका महान यज्ञ है। इसी प्रकार वृक्षों और वनस्पतियों को देखिये। ये तो अपने मधुर रसवाले फलों और फूलों से जो हमारी सहायता कर रहे हैं उसके लिये तो कोई मर्यादाहि नहीं है। इनका यज्ञ तो ऐसा है कि ये अपने आपको पूर्णतासे स्वाहा करके हमारा सुख बढाने में अपनी शक्तिकी पराकाष्ठा कर रहे हैं। देखिये घास अपना समर्पण करके गौ आदि पशुओंका पोषण करता है,यह इसका कितना स्वार्थत्याग है अथवा स्वार्थका पूर्ण समर्पण है? धान्य खा खाकर हम अपने शरीर बढाते हैं, एकहि हमारे भोजनमें कितने धान्य का स्वाहाकार होता है। देखये इस प्रकार विचार करके कि अकेले मनुष्यके लिये किस रीतिसे यह सब जगत् यज्ञ कर रहा है और यहां अनुभव करियेकि इसके लिये जगत् के सब भूतमात्र कितना त्याग कर रहे हैं?

यहां पाठक सब जगत् की ओर इस दृष्टीसे देखें और इस जागतिक यज्ञका अनुभव करें। इस जागतिक यज्ञसे अपना अस्तित्व है यह बात इस विचार से जानें और मनमें बहुत विचार करके समझें कि अपने अस्तित्व के लिये संपूर्ण जगत् में कितना त्याग हो रहा है,अपने अस्तित्व के लिये इस त्रिलोकी द्वारा कितना बडा यज्ञ हो रहा है, इसी यज्ञपर अपना अस्तित्त्व है। यदि यह यज्ञ न होगा,तो मनुष्योंका जीवित रहना भी असंभव है। यदि मनुष्य के लिये सब अन्य जगत् से इस प्रकार यज्ञ हो रहा है, तो क्या मनुष्यको जगत् के लिये कुछ समर्पण करना नहीं चाहिये? अवश्य करना चाहिये, क्यों कि इसी यज्ञ पर सब जगत् की स्थिति है, यज्ञसेहि सब जगत् चल रहा है, यज्ञ करनेके विना सुख भोगना चोरी करना है। अतः कोई मनुष्य चोर न बने। यज्ञ करनेसे हि मनुष्य का चोरी का अपराध दूर हो सकता है,इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शरीर में यज्ञ।

जैसा पाठकोंने संपूर्ण जगत् में यज्ञ देखा,उसी दृष्टिसे अपने शरीरमें यज्ञ चल रहा है,इस का अनुभव पाठक विचार की दृष्टिसे करें। यदि यहां यज्ञ न होगा तो यह शरीर क्षणमात्र भी जीवित नहीं रहेगा। इसका जीवन पूर्णतया यज्ञपरहि निर्भर है। देखिये, आंख देख रही है वह सब शरीरकी भलाई के लिये देख रही है, मानो अपनी दर्शन शक्तिका वह सब शरीर की भलाई के लिये समर्पण कर रही है। इसी तरह कान सुनता है, नाक सूंघता है, हाथ कार्य करते हैं, पांव इस शरीर को उठाकर स्थान स्थानपर ले जाते हैं, ये सब इन अवयवोंके यज्ञ इस सब शरीर की भलाई के लिये हो रहे हैं, मानो ये अपनी सब शक्तियोंका शरीरके लिये यज्ञ कर रहे हैं। आंख किसी फलको देखता है, नाक उसका वास सूंघकर निश्चय करता है कि यह शरीरके लिये हितकारी है वा नहीं, पश्चात् पांव शरीरको उस के पास ले जाते हैं, हाथ उसको लेते हैं और मुखके आधीन करते हैं, मुख चबाता है और पेटके पास भेज देता है, पेट भी उसको पचाता है और रस बनाता है,वह रुधिरमें परिणत होता है और सब शरीर के अणुरेणुके पास उस फलका अंश पहुंचाया जाता है। इसमें एक का भी स्वार्थ नहीं, प्रत्येक अवयव अपनी शक्ति की पराकाष्ठा करता है और सब शरीर की भलाई

के लिये अपने शक्ति सर्वस्व का समर्पण करता है। यही यज्ञ है, जब तक यह यज्ञ यहां चलता है तब तकहि यह शरीर जीवित रहता है और जिस समय इनमें कोई एकाद अवयव स्वार्थी बनता है, उसी समय शरीर की मृत्यु होती है।

इसका उदाहरण देखना हो तो कल्पना करिये कि अपने पेट ने अपना यज्ञ करना बंद किया और जो अन्न पेटमें आजाय, उसको पाचन करके सब शरीर भर उसका रस पहुंचाने का यज्ञ-रूप कार्य करना बंद किया, और जो अपने पास आजाय उसको अपने पासहि रख देना आरंभ कर दिया, तब पेट फूल जायगा, पेटमें गुफारा बढ जायगा, वायु कुपित होगा और अन्तमें मरण होगा। अर्थात् जब तक इस पेट का यज्ञ चल रहा है, तभी तक शरीरका जीवन है और जब यह यज्ञ बंद होगा, तब इस की मृत्यु होगी। इस प्रकार यज्ञ से जीवन और अयज्ञसे मरण होता है।

इस शरीरमें ३३ करोड अणुजीव हैं, वे जीवित हैं, वे जन्मते, खाते पीते, कार्य करते और क्षीण होकर मर जाते हैं। हरएक अंगमें और अवयवमें इनमें से लाखों कीटाणु निवास करते हैं। मानो यह इन का संघ है। मानो यह शरीर रूपी इन तैतीस करोड कीटाणुओंका एक प्रचण्ड राष्ट्र है। प्रत्येक अवयवमें जो कीटाणु-ओंका संघ है, उस के पास विशेष प्रकार का कार्य दिया हुआ होता है, कोई भी कीटाणु खाली बेकार बैठा नहीं है, हरएक कीटाणु किसी न किसी कार्य में निमग्न है, और वह सब शरीरकी भलाई के लिये अपने कर्म का समर्पण कर रहा है। आंख में निवास करनेवाले कीटाणु अपने देखनेके कार्य को सब शरीर की भलाई के लिये समर्पण करते हैं, इसी प्रकार पेट के प्रदेशमें निवास करनेवाले कीटाणु अपने पाचन रूपी कर्म को सब शरीर की सुस्थितिके लिये समर्पित कर रहे हैं। इसी प्रकार हरएक अणुजीवका कर्म संपूर्ण शरीरके ३३ करोड अणुजीवोंकी भलाई के लिये हो रहा है। इनमें से कोई भी अपने यज्ञ को योग्य रीतिसे न करेगा, तो उसी स्थानमें रोग की उत्पत्ति होगी और सब शरीरपर मृत्यु-की आपत्ति आवेगी।

किसी शरीरके भागमें विजातीय रोगकृमि आकर निवास करने लगे, और उनको यदि उस प्रदेशके अणुजीवोंने योग्य समयमें नहिं हटाया, तो शरीरके सब कीटाणुओंको उस रोगके आधीन होना पडता है और पश्चात् चिकित्सा का बडा प्रयास करनेसे नीरोगता प्राप्त हुई तो होती है, नहीं तो रोगकी वा मृत्युकी परवशता स्वीकारनी पडती है।

यहां पाठक देखें कि यज्ञ से शरीरका जीवन कैसा होता है और अयज्ञसे शरीरका नाश कैसा होता है, जब ये अवयव शरीरकी भलाई के लिये आवश्यक कार्य करना छोड देते हैं, और अपने अपने हि विषयों में लुब्ध होते हैं, 'शरीरका कुछ भी बनजाय, उसकी मुझे क्या पर्वाह है, मैं यथेछ सुख भोगूंगा।' ऐसा स्वार्थयुक्त निश्चय करते हैं, तब शरीर पर अनर्थ आजाता है। एक एक इंद्रियके स्वार्थ से शरीर का नाश हो सकता है, फिर अनेक इंद्रियाँ भोगवश होगईं, तो शरीरके नाश की कोई सीमाहि रह नहीं सकती। यहां इस ढंगसे विचार करके पाठक जानें कि यज्ञ से शरीरकी स्थिति कैसी हो रही है और अयज्ञसे उसका नाश कैसा होता है।

राष्ट्रमें यज्ञ।

जो यज्ञ हमने शरीरमें देखा, वही विस्तारसे राष्ट्रमें देखा जा सकता है। राष्ट्रमें ज्ञानी लोग सिरके स्थानमें, वीरलोग बाहुओंके स्थानमें, वाणिज्यादि व्यवहार करनेवाले लोग नाभि स्थानमें और कारीगर या श्रमोपजीवि लोग पांव के स्थानमें हैं ऐसी कल्पना कर लीजिये। यह कल्पना होगई तो शरीरका न्याय राष्ट्रमें और राष्ट्रका न्याय शरीरमें स्पष्ट रूपसे दिखाई देगा और

राष्ट्रीय महायज्ञ के विषयमें कोई शंका किसी के मनमें खडी नहीं रहेगी। जो ज्ञानी लोग हैं उनको उचित है कि वे अपने ज्ञानका यज्ञ राष्ट्रकी भलाई के लिये करें, जो वीर लोग हैं वे अपनी वीरता से राष्ट्रका संरक्षण करके अपनी शक्ति राष्ट्र के लिये समर्पित करें, इसी प्रकार अन्यान्य लोग अपनी शक्ति का समर्पण राष्ट्रकार्य के लिये करें। जब तक इस प्रकारका यज्ञ होता रहेगा, तब तक ही उस राष्ट्रका तेज फैलेगा, उसका वीर्य बढेगा, संपत्तिसे संपन्नता होगी और अन्यान्य सुख होंगे, जनता आनन्दमें रहेगी और सर्वत्र कल्याणहि कल्याण होगा।

परंतु यदि किसी जातीमें, वर्ग में अथवा वर्ण में किंवा संघ में स्वार्थ उत्पन्न होगा, और वह जाति,वर्ग अथवा वर्ण अपने हित के लिये राष्ट्र-का घात करनेके कार्य में प्रवृत्त होगा, अथवा अपनी शक्ति राष्ट्र के हितके लिये समर्पित नहीं करेगा, अथवा अपनी स्वार्थ साधना के लिये राष्ट्रका घात करनेको प्रवृत्त होगा,तो उस राष्ट्रका नाश होगा। राष्ट्रमें और शरीरमें नियम एक जैसाहि है। अपना शरीर संकुचित राष्ट्र है और अपना राष्ट्र विस्तृत देह हि है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि राष्ट्र में यज्ञका भाव रहनेसे राष्ट्रकी सुस्थिति और राष्ट्रके लोगोंमें अयज्ञ की ओर प्रवृत्ति होनेसे राष्ट्रकी दुःस्थिति होगी। जो राष्ट्रकी जनता की बात है,वही संपूर्ण जनता के विषयमें समझना चाहिये;अतः उसका विचार अलग करनेकी आवश्यकता नहीं है। अस्तु,इस प्रकार यज्ञ का महत्त्व है अतः कहा है-

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।

भ० गी० ४।३१

'यज्ञ न करनेवालेके लिये जब यह लोक भी नहीं है, तब परलोक तो कहां से प्राप्त हो सकता है?' अर्थात् यज्ञ न करनेवालेकी इस लोकमें निःसन्देह दुर्गति होती है, फिर उसकी परलोकमें क्या अवस्था होगी, यह तो पाठक समझ ही सकते हैं। यह गीता का वचन निम्नलिखित वेद वचनोंके साथ पढने योग्य है—

१ अयज्वानः सनका प्रेतिमीयुः॥

ऋ० १।३३।४

२ परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः। प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥ ऋ० १।३३।५

३ प्रास्य पारं नवतिं नाव्यानामपि कर्तमवर्तयोऽयज्यून्॥ ऋ० १।१२१।१३

४ शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते॥

ऋ० १।१३१।४; अथर्व० २०।७५।२

(१) [अ-यज्वानः सनकाः] यज्ञ न करनेवाले लोग दानकर्ता होनेपर भी [प्रेतिं ईयुः]नाश को प्राप्त होते हैं (२) [अ-यज्वानः यज्वभिः स्पर्धमानाः] यज्ञ न करनेवाले लोग यज्ञ करनेवालों के साथ स्पर्धा करने के कारण [शीर्षा परा ववृजुः] अपने सिर नीचे करके भागनेके लिये बाधित हुए। हे उग्र प्रभु! तू [रोदस्योः] द्यावा पृथिवी के अन्दर से [अ-व्रतान् अधमः] व्रत पालन न करनेवालों को हटा देता है अर्थात् अयाजकों को यहां सुखसे रहनेका स्थान भी नहीं प्राप्त होता। (३) यज्ञ न करनेवालों को ९९ नदियोंके परे तूने फेंक दिया। (४) हे प्रभो! तू यज्ञ न करनेवाले मनुष्यको दण्ड देता है।

इस रीतिसे यज्ञ न करनेवाले की दुर्दशा का वर्णन वेदमें किया है, तथा और देखिये—

ऋजुरिच्छंसो वनवद्वनुष्यतो देवयन्निददेवयन्तमभ्यसत्। सुप्रावीरिद्वनवत्पृत्सु दुष्टरं यज्वेदयज्योर्विभजाति भोजनम्॥

ऋ० २।२६।१

(ऋजुः शंसः इत्) सरल आचरण करनेवाला भक्त हि (वनुष्यतः वनवत्) घातक शत्रुओंका नाश सकता है, (देवयन् इत्)देवोपासक हि (अदेवयन्तं अभ्यसत्) देवविरोधक का नाश करेगा। (सु-प्र-अवीः इत्) उत्तम रक्षा

करने में समर्थ हि (पृत्सु दुष्टरं वनवत्) संग्रामोंमें उग्र शत्रुका नाश कर सकता है और (यज्वा इत्) यज्ञ करनेवालाहि (अ-यज्वोः,) यज्ञ न करने वाले के भोजन आदि भोग प्राप्त कर सकता है।

इस मंत्रमें सरलता के द्वारा कुटिल शत्रुका नाश,आस्तिकतासे नास्तिक का नाश,आत्मरक्षासे दुस्तर शत्रुका नाश तथा यज्ञ से अयज्ञको दूर करनेका उपदेश स्पष्ट है। इस रीतिसे यह मंत्र बडा बोधप्रद है तथा इसी प्रकारका एक मंत्र और देखिये—

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्र प्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वाश्चकारापराँ अयज्यून्॥ ऋ० ७।६।३

(अ-क्रतून्) आलसी, (ग्रथिनः) केवल पुस्तक पढनेवाले, (मृध्रवाचः) असत्य भाषण करने वाले, (पणीन्) सूदका व्यवहार करने वाले, (अश्रद्धान्) श्रद्धाहीन, (अ-वृधान्) वृद्धिका उपाय न करनेवाले, (अयज्ञान्, अयज्यून्) यज्ञ न करने वाले, सत्कर्म न करनेवाले ये सब लोक समाजके (दस्यून्) शत्रु हैं, अतः इनको तेजस्वी देव (प्र प्र विवाय) निःशेषतासे अवनत करता है और (अपरान् चकार) नीचे करता है। उनकी उन्नति नहीं होती।

इस श्लोकमें अयज्ञ लोगोंके साथी देखिये कितने हैं। आलसी, केवल पुस्तकें पढनेवाले परंतु उस के अनुसार व्यवहार न करनेवाले, बहुत बातें करनेवाले परंतु कुछ भी कर्म न करने वाले, असत्यभाषी किंवा घातपातके विचार प्रकट करनेवाले, (पणी) असत्य व्यापार करने वाले, सूद लेनेवाले,ये स्वयं कार्य नहीं करते परंतु भारी सूद लेकर अन्योंका नाश करते, धर्ममार्गपर श्रद्धा नहीं रखते, अपनी उन्नतिका उपाय नहीं करते; कुछ भी सत्कर्म नहीं करते; इन सब की अवनति होती है। इसी प्रकार निम्न लिखित मंत्र देखिये—

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥ ऋ० ८।७०।११

(अन्य-व्रतं) अपना कर्तव्य छोडकर दूसरा हि कर्म करनेवाला, (अमानुषं) अमानुष क्रूर कर्म करनेवाला, (अ-यज्वानं) यज्ञ न करनेवाला (अदेवयुं) देव की उपासना न करनेवाला जो होता है, उस (दस्युं) शत्रुको (पर्वतः सखा स्वः दुधुवीत) पर्वत निवासी मित्र स्वर्गसे दूर करता है। इस मंत्रमें भी अयज्ञ के साथी कितने हैं यह देखिये। अपना कर्तव्य छोडता है और दूसराहि कुछ करता है, अमानुष अर्थात् मनुष्यको शोभा न देनेवाला कर्म करता है और यज्ञ नहीं करता; वह समाज का शत्रु है, इस को स्वर्ग कदापि नहीं मिलता, वह स्वर्गसे भ्रष्ट होता है। इस प्रकार अयज्ञ मनुष्योंकी अधोगति होनेका वर्णन है, तथा और देखिये—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति॥
अथर्व० १२।२।३७

'जो यज्ञ नहीं करता उसका तेज नष्ट हो जाता है।' वह निस्तेज होता है। इस विषयमें और यह मंत्र देखिये—

यो अन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून्। तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः॥
अथर्व० ११।२।२३

'जो अन्तरिक्षमें रहता है वह देव, यज्ञ न करनेवाले देवविरोधियोंका नाश करता है, अतः उस देव को हम अपनी दस शक्तियोंके साथ नमस्कार करते हैं।'

इस प्रकार वेदमें यज्ञ न करने वालोंकी बहुत बुरी अवस्था होती है ऐसा वर्णन है। इसी के आधारपर गीता (अ० ४।३१) में 'यज्ञ न करने वालों को इस लोक में भी शुभगति नहीं होती, फिर उनको दूसरे लोक की सद्गति कैसी प्राप्त होगी?' ऐसा कहा है। पाठक इन मंत्रोंके उपदेश के साथ गीताके उपदेशका मनन करें। और यह मनमें ठीक रीतिसे धारण करें कि यज्ञ न करने

से किसी भी रीतिसे मनुष्यको सुख प्राप्त नहीं हो सकता। क्यों कि यज्ञ तो मनुष्यके साथ उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्यका साथी है। यज्ञ तो मनुष्यका 'सह-धर्म' है अतः उसका त्याग नहीं हो सकता।

इस के पूर्व हमने जागतिक यज्ञ, शरीरमें यज्ञ, मानवी समाजमें यज्ञ, ये देखे। जगत् में और शरीरमें जो यज्ञ हो रहा है वह स्वयं हो रहा है, स्वभावसे हो रहा है, उस स्वाभाविक यज्ञको देखकर और उससे यज्ञ की स्वाभाविकता जानकर मनुष्य को उचित है कि वह अपनी बुद्धिके अनुसार निश्चय करके सुयोग्य रीतिसे अपनी आयु भर यज्ञ करता रहे। मनुष्यकी आयु ११६ वर्षकी है, ऐसा मानकर उस आयुमें यज्ञ करनेकी कल्पना निम्न लिखित प्रकार वर्णन की है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं०। अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनं०। अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनं०। स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद॥

छां० उ० ३।१६।१—७

'मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, उसमें २४ वर्षों का प्रातः सवन, ४४ वर्षोंका माध्यंदिन सवन और ४८ वर्षोंका सायंसवन होता है, इस प्रकार जो अपनी आयुमें यज्ञ करता रहता है, वह ११६ वर्ष जीवित रहता है।' इस पूर्ण आयुमें १६ वर्ष बालपन के जाते हैं, शेष १०० वर्षोंकी आयुमें मनुष्यको १०० यज्ञ करने चाहिये। इसी लिये जीवात्मा का नाम 'शत-क्रतु' है। सौ वर्ष की आयुभर यज्ञ करनेवाला यही यज्ञ पुरुष है।

घरमें यज्ञ।

हमने इससे पूर्व शरीरमें यज्ञ देखा, जगत् का यज्ञ देखा और राष्ट्रमें भी यज्ञ देखा। इसी प्रकार घर घरमें भी यज्ञ हुआ करता है। सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो घरमें भी मनुष्यको स्वार्थत्याग का पाठ मिलता है। माता अपने पुत्र के लिये स्वार्थ त्याग करती है, पति पत्नी के लिये और पत्नी पतिके लिये आत्मसमर्पण करते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कुटुंबके लोक एक दूसरे के लिये आत्मसमर्पण करते हैं। ऐसा गृहस्थका कुटुंबहि सच्चा गृह होता है, परंतु जहां ऐसा आत्मसमर्पण नहीं करते, वहां कुटुंबियोंको गृहसौख्य नहीं मिलता। आत्मसमर्पणसे सुख है। यदि पत्नी पति के लिये समर्पण न करे, आत्मयज्ञ न करे तो वह सुखी नहीं हो सकती, इसी प्रकार यदि पति अपना अन्तःकरण पूर्णतया पत्नी को नहीं देता, तो वह भी सुखी नहीं हो सकता। जो माता पिता पुत्र के लिये आत्मसमर्पण नहीं करते, वे पुत्रलोक का सुख नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार त्यागसेहि सुख मिलता है। अतः वेदमें कहा है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥३॥

अथर्व० ३।३०

'प्रेमपूर्ण हृदय, शुभ विचारोंसे परिपूर्ण मन, और परस्पर निर्वैरता, तुम्हारे अंदर रहे। तुम्हारे अन्दर एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम करे जैसा कि गौ नवजात बछडेके ऊपर प्यार करती है। पुत्र पिता के अनुकूल कर्म करे, वह माता के साथ उत्तम मनसे वर्ताव करे। पत्नी पतिके साथ मीठी और शान्तिपूर्ण वाणी बोले॥ भाई भाई का द्वेष न करे, बहिन बहिन का वैर न करे, सब एकमतवाले होकर एक कर्म में दत्तचित्त होकर परस्पर उत्तम प्रेमसे वार्तालाव करें।'

यहां गृहमें यज्ञ कैसा किया जाता है, यह उत्तम रीतिसे कहा है। मातापिता समझे कि अपने घर में जो बालक उत्पन्न हुआ है वह देवताओं का

अंश है, उसका वैसा आदर करना चाहिये जैसा उपासक अपने उपास्य देवका करता है। पति अपनी धर्मपत्नी को अपनी उपास्य 'देवी' माने और धर्मपत्नी अपने पति को अपना उपास्य 'देव' माने। इसी प्रकार परस्पर की पूजा करते हुए, एकमतसे रहकर, परस्पर की सहायता करें यही 'सत्कार—संगति—दानात्मक यज्ञ' घरमें हो सकता है। पशुपक्षी भी अपने बालबच्चोंके साथ स्वाभाविक रीतिसे ऐसा ही सत्कार का भाव रखते हैं, मनुष्य उनसे ऊंचा होनेके कारण उसको तो उनसे भी अधिक उच्च भाव के साथ 'सत्कार संगति दान' रूप यज्ञ करना चाहिये।

पाठक इस प्रकार विचार करके संपूर्ण जगत् में कैसा यज्ञ चल रहा है यह जानें, पशुपक्षीयों में, शरीरमें, विश्वमें वह यज्ञ कैसा हो रहा है इसका ज्ञान विचार से प्राप्त करें। और उस अपने साथ उत्पन्न हुए यज्ञको, अपनी बुद्धिकी और शक्तिकी पराकाष्ठा करके, जहां तक हो सके वहां तक यत्न करके, पूर्ण रीतिसे निभानेका प्रयत्न करें। यज्ञ मनुष्य के जीवन के साथ लगा है, अतः यज्ञका महत्त्व है; इसी लिये यज्ञ के विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
छां० उ० २।२३।१

यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः
छां० उ० ४।१६।१

यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्।
छां० उ० ८।५।१

त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः। बृ० उ० १।५।१७
अहं ब्रह्मा अहं यज्ञः। कठश्रु० २
अहं क्रतुरहं यज्ञः। भ० गी० ९।१६
विज्ञानं यज्ञं तनुते। तै० उ० २।५।१
यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः। मैत्री० ६।१६
यज्ञेन देवाः दिवं गताः। महाना० २१।२

'धर्म के तीन स्कंध हैं यज्ञ, अध्ययन और दान। सबकी पवित्रता करनेवाले कर्मका नाम यज्ञ होता है। ब्रह्मचर्य हि यज्ञ है। तू ब्रह्म और तू यज्ञ है। मैं ब्रह्म और मैं यज्ञ हूं। मैं क्रतु और मैं यज्ञ हूं। विज्ञान रूप यज्ञ फैलता है। यज्ञ प्रजापालक सर्वव्यापक देव है। यज्ञ से हि देव स्वर्गधाम को प्राप्त हुए।

इस प्रकार सर्वसामान्य यज्ञका वर्णन उपनिषदोंमें है। यही यज्ञ अपने अंदर देखनेका उपदेश उपनिषदोंमें हि कहा है, वह वचन अब देखिये—

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि। प्राणाग्नि० उ० २
शरीरं यज्ञः। महाना० उ० २०।१२
वाग्वै यज्ञस्य होता। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः। प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।
बृ० उ० ३।१।१—६

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुः, तपोऽग्निर्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग् होता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा, श्रोत्रमग्नीध्रावद्ध्रियते सा दीक्षा, यदश्नाति तद्धविः, यत्पिबति तदस्य सोमपानं०॥ म० नारायण उ० ८०

'अब अपने शरीरमें यज्ञ का परिवर्तन करते हैं। शरीर यज्ञ है। इस यज्ञमें वाणी, चक्षु, प्राण और मन ये क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा हैं। इस शरीर स्थानीय यज्ञमें आत्मा यजमान, श्रद्धा पत्नी, शरीर इध्म, उर वेदी, लोम बर्हि-दर्भ, वेद शिखा, हृदय यूप, काम घृत, क्रोध पशु, तप अग्नि, दम क्रोधका शमन करनेवाला, दक्षिणा वाक् होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, श्रोत्र अग्नि प्रदीप्त करनेवाला, जीवित रहनेतक इस यज्ञकी दीक्षा है, जो खाया जाता है वह हवि है, पीया जाता है वह सोमरस है०''

इस प्रकार यह यज्ञ चल रहा है। यही शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम है—

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । यजु० ३४।५५

'सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं, वे सात इस यज्ञस्थान की रक्षा कर रहे हैं।' यह शरीर सात ऋषिरूप सप्त इंद्रियोंसे युक्त है। इन इन्द्रियों को ऋषिमुनियों के समान तपस्वी, शमदमसंपन्न, ब्रह्मनिष्ठ बनाना चाहिये। जब ये हमारी इंद्रियां ऋषि बनेंगी तभी यह शरीरका यज्ञ सच्चा यज्ञ होगा। नहीं तो वह बूचडखाना भी बन सकता है।

हरएक मनुष्यको इसी बात की चिन्ता करनी चाहिये कि अपने शरीरमें रहनेवाली ये सब इंद्रियां ऋषिमुनि के समान तपस्वी बन जांय और मेरा जीवन क्रतुमय बने, और (अहं यज्ञः भ० गी० ९।१६) मैं सचमुच 'यज्ञ हूं' यह प्रत्यक्ष स्थितिमें अनुभव आवे। बनावटी नहीं, स्वभावहि बने। जिस प्रकार उष्णता अग्निका स्वभाव धर्म है उसी प्रकार यज्ञ अपना स्वभावधर्म बने। क्योंकि यज्ञ सहज है, परंतु मनुष्य के जीवन में उलटा अभ्यास होनेके कारण सहज बात भी अस्वाभाविकसी प्रतीत होती है। अस्तु। इस तरह यज्ञ मनुष्य के जन्म के साथ उत्पन्न हुआ है और उसके साथ वह मृत्युतक रहेगा। उससे मनुष्य अलग होनेका यत्न करेगा, तो मनुष्यत्वसे गिरेगा। इस लिये कहा है कि—

यज्ञसे उन्नति ।

अनेन प्रसविष्यध्वम् ।
एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।
भ० गी० ३।१०

'इस यज्ञसे तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होवो,यह यज्ञ तुम्हें इच्छित मनकामनाओंको देगा।' अब पाठकोंके ध्यानमें आया होगा कि यज्ञसे वृद्धि किस तरह प्राप्त होगी और मनोवांछित कामनाओं की भी किस तरह सिद्धता होगी। यज्ञसे ये बातें सिद्ध होती हैं इस विषयमें वेद और ब्राह्मणग्रंथों के वचन अब देखिये—

अध्वरो वै यज्ञः। श० ब्रा० १।२।४।५; १।४।१।३८
यज्ञो वै नमः। यजु० १३।८; श० ब्रा० ७।४।१।३०
यज्ञो वै भुज्युः। यजु० १८।४२
यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति ।
श० ब्रा० ९।४।१।११
यज्ञो भगः। यजु० ११।७; श० ब्रा० ६।३।१।१९
यज्ञो वा ऋतस्य योनिः। यजु० ११।६; श० ब्रा० १।३।४।१६
यज्ञो वै मधुसारघम्। श० ब्रा० ३।४।३।१३
यज्ञो वै महिमा। यजु० ११।६; श० ब्रा० ६।३।१।१८
यज्ञो वै स्वः। यजु० १।११
यज्ञो वै सुम्नम्। यजु० १२।६७; श० ब्रा० ७।२।२।४
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यजु० १।१; श० ब्रा० १।७।१।५
यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
श० ब्रा० ८।७।३
ब्रह्म हि यज्ञः। श० ब्रा० ३।१।४।१५
यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः। कौ० ब्रा० २५।११
यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। तै० ब्रा० ३।९।५।५
रेतो वा अत्र यज्ञः। श० ब्रा० ७।३।२।९
यज्ञो वा अवति। तां० ब्रा० ६।४।५
भैषज्ययज्ञा वा एते तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते। गो० ब्रा० उ० १।१९,
कौ० ब्रा० ५।१

'(अ-ध्वर) अहिंसा यज्ञ है। नम्रता यज्ञ है। यज्ञ अन्न देनेवाला है। यज्ञ सब भूतोंको भोजन देता है। यज्ञ ऐश्वर्य है, सौभाग्य है। यज्ञ सत्यका मूल है। यज्ञ मधुरता है। यज्ञ महिमा है यज्ञ आत्मतेज है। यज्ञ सुख है। यज्ञ अतिश्रेष्ठ कर्म है। यज्ञमें सब भूत रहते हैं। यज्ञ ज्ञान है। यज्ञ भुवनमें श्रेष्ठ है। यज्ञ सब सृष्टिका केन्द्र है। यज्ञ वीर्य-पराक्रम—है। यज्ञ रक्षा करता है। ये यज्ञ औषधियोंसे किये जाते हैं…अतः ऋतुसंधिके समय किये जाते हैं, क्यों कि ऋतुसंधिमें रोग उत्पन्न होते हैं।'

इस तरह इन ग्रंथोंमें यज्ञ की महिमा वर्णन की है, इस से सिद्ध हो सकता है कि यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति अवश्य होती है, यह इन लेखकोंकी संमति है।

इन वचनोंमें अहिंसा, नम्रता, सत्य, सौभाग्य, मधुरता, ज्ञान, वीर्य, रक्षा ये यज्ञके रूप हैं ऐसा जो कहा है वे वचन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। आगे जिस समय यज्ञका स्वरूप देखनेका प्रसंग आजायगा, उस समय येही वचन हमें सहायक होंगे। अस्तु, इतने लेखकोंकी संमति है कि यज्ञ मनुष्योंका सौभाग्य बढानेवाला है, यही बात भगवद्गीतामें (अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। ३।१०) इस श्लोक में कही है। निःसन्देह यज्ञ से मनुष्यों की सब प्रकार की वृद्धि और शुभ कामनाओंकी पूर्ति हो सकती है। आगे हम देखेंगे कि यह कैसे हो सकता है; परंतु यहां भी हमने देखा कि यज्ञ में 'सत्कार संगति दान' अथवा 'आदर संगठन और उपकार' ये तीन भाव होते हैं, और जहां ये भाव होंगे वहां व्यावहारिक दृष्टिसे भी उन्नति का संभव हो सकता है। आगे इस यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
भ० गी० ३।११

'तुम देवों को संतुष्ट करो और देव तुम्हें सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करो।' तुम देवोंकी सहायता करो और देव तुम्हारी सहायता करें; इस तरह परस्पर की सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करो; इसमें परस्पर की सहायता करना ही परम कल्याणप्राप्तिका हेतु है। परस्पर संभावना से परमकल्याण प्राप्त हो सकता है। 'भावयन्तः'-(भावयति) इसमें भाव् का अर्थ 'विचार करना, मिलना और शुद्ध करना है।' इसी का नाम संभावना है, किसी की कोई संभावना करता है तो उस के हितके विषयमें वह विचार करता है, उसके पास जाकर बैठता है और उसकी पवित्रता करनेमें सहायक होता है, इतना आशय है। इसी का दूसरा नाम 'पूजा, सत्कार या समादर' है। यज्ञ शब्द के जो तीन अर्थ 'सत्कार, संगति और दान' ये उपर कहे हैं, उनमें से सत्कार का भाव इस संभावना में है, संगतिका भी भाव वहां है और उपकार करनेका भी आशय है। इसलिये 'परस्परं भावयन्तः' ये शब्द यज्ञका शुद्ध स्वरूप दर्शाते हैं। 'परस्परका संमान करना, परस्परका मेल मिलाप करना और परस्परकी सहायता करना, ये भाव इस 'परस्परकी संभावना' में हैं। मनुष्यमात्रका परम कल्याण इसी परस्परसंमानसे होगा।

यज्ञसे उन्नति।

(अनेन देवान् भावयत, ते देवाः वः भावयन्तु) यज्ञ में देवोंका आदर करो, और वे देव आपका आदर करें, इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए उन्नतिका साधन करो। जगत् में इसी रीतिसे उन्नति हो रही है। पक्षी अपने घोसले में रहे छोटे छोटे बच्चों के लिये दूर दूर देशसे आवश्यक भक्ष्य लाकर उनकी पूजा करते हैं। मनुष्य भी करीब करीब ऐसा ही करते हैं। ऊपरके श्लोक में 'देव' शब्द के स्थान पर 'पिता' शब्द रखिये। 'पितृदेवो भव, मातृदेवो भव' यहां पिता माता देव हि हैं। यह अर्थ यहां लेनेसे उक्त श्लोक का भाव गृहस्थ धर्म के संबंधमें हमें ऐसा मिलता है- 'घरमें पुत्र माता-पिता का आदर करें और माता पिता पुत्रोंका आदरपूर्वक संभाल करें, इस रीतिसे दोनों एक दूसरे का आदरसत्कार करते हुए दोनों सुखप्राप्तिपूर्वक गृहस्थाश्रम का परमश्रेष्ठ सुख प्राप्त करें।' भाई भाई का आदर करे, बहिन बहिन की सहायता करे, पति पत्नीका और पत्नी पति का आदरसत्कार करें, इस तरह परस्पर की सहायता करते हुए गृहस्थाश्रममें रहनेवाले सब लोग अभ्युदय और निःश्रेयसको उत्तम प्रकार प्राप्त करें।

उक्त श्लोक से यह उपदेश गृहस्थियोंको प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान यज्ञ।

'शिष्य अध्यापकोंका सत्कार करें और अध्या, पक शिष्योंको आदरपूर्वक पढावें, शिष्य गुरु की प्रतिष्ठा बढावें और गुरु शिष्योंकी योग्यता बढावें, इस रीतिसे परस्पर की सहायता करते हुए सब गुरु और शिष्य परम उन्नति प्राप्त कर सकते हैं।' जो उन्नति परस्पर प्रेमका बर्ताव करनेवाले गुरु-शिष्योंकी होना संभव है वैसी उन्नति परस्पर विद्वेष करनेवाले पढने और पढानेवालोंकी कभी नहीं हो सकती। 'आचार्यदेवो भव' इस वचन के अनुसार पढानेवाला देव है और उसकी संभावना का यह फल होता है।

राष्ट्रयज्ञ।

राजा को भी देव कहते हैं और राष्ट्रके सब छोटे बडे ओहदेदारों को भी देव संज्ञा है। सब लोग राजा और राजपुरुषों का संमान करें और आदर करें, तथा राजा, तथा राजपुरुष सब प्रजाजनोंका सत्कारपूर्वक पालन करें। इस ढंगसे राजा और प्रजा परस्पर का आदर और परस्परकी सहायता करते हुए परस्पर की परम उन्नति करें। प्रजापति ने यज्ञ किया, इस तरह के वाक्य स्थान स्थानपर आते हैं, प्रजापतिका यज्ञ प्रजापालन रूपहि है, कोई दूसरा नहीं। प्रजापालन रूप यज्ञ राजा और राजपुरुष करें और राजनिष्ठासे प्रजा राजाका सत्कार करे! इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए दोनों उन्नत हो सकते हैं।

पुरुषयज्ञ।

मनुष्य के शरीरमें भी इंद्रियगण देव हैं, आत्मा भी देव अथवा महादेव है। इंद्रियाँ आत्माकी सहायता करें और आत्मा इंद्रियादिकों की सहायता करे। इस प्रकार परस्पर की सहायतासे स्थूल शरीर और उसके अन्दर की संपूर्ण शक्तियां सहकार्य करती हुई उन्नति को प्राप्त हों। परस्पर सहकार्य से यहां जड चेतन की उन्नति होनेका वर्णन है।

देवयज्ञ।

इसी तरह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, नक्षत्र, वृक्ष वनस्पति आदि अनेकानेक देवताएं हैं। इनसे विविध रीतिसे मनुष्यको लाभ हो रहा है, भूमिसे अन्न, जलसे जीवन, वायुसे प्राण, आकाशसे स्थान, सूर्यसे जीवनविद्युत् आदि की प्राप्ति होकर मनुष्य यहां सुखसे रह सकता है। इन सब देवताओंके ऊपर मनुष्यका सुख सब प्रकारसे निर्भर है, अतः मनुष्यको उचित है की वह भी इनको प्रसन्न करे, इनका आदर करे और इनकी पूजा करे। मातृभूमिकी सेवा करनेसे उस की उपासना होती है, जल की शुद्धतासे प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी प्रसन्नता करनेके मार्ग विभिन्न हैं। मनुष्य को उचित है कि वह योग्य रीति से इन देवताओंका सत्कार करे, और देवताओंकी प्रसन्नता से अपनी उन्नति प्राप्त करें

इस प्रकार व्यक्तिमें, कुटुंबमें, राष्ट्रमें और विश्वमें यज्ञका रूप कैसा है इसका विचार पाठक करें, और इस बातको ठीक तरह समझें। यही विषय (भ० गी० ४। २३-३३ तक) आवेगा और वहां द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि अनेकविध यज्ञ कहेंगे, उनका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेकेलिये इस विवरणकी अत्यंत आवश्यकता है, इसलिये यह यज्ञप्रकरण इतने विस्तारसे यहां लिखा है। अतः पाठकोंको निवेदन है कि वे इसका अधिक मनन करें, और व्यापक दृष्टिसे यज्ञकी सर्वव्यापकता अनुभव करें और यह सार्वभौमिक यज्ञ सृष्टिके साथ कैसा उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न हुएके साथ कैसा रहता है और इस यज्ञसे इसकी उन्नति कैसी होती है, यह बात ठीक प्रकार समझें। मनुष्यसे

भिन्न सृष्टिमें यह यज्ञ स्वभावसे हो रहा है, वही मनुष्यको ज्ञानपूर्वक प्रयत्न के साथ करना चाहिये। इत्यादि बातें पाठक समझकर अपने मनमें स्थिर करेंगे, तो उनको आगेका विषय सुबोध होगा।

(यज्ञभाविताः देवाः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते) यज्ञसे संमानित देव सबको इष्टभोग देंगे। यह कथन अब हरएक स्थानमें अर्थात् व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वमें कैसा देखना चाहिये, यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी। सचमुच संमानित हुए देव इष्टभोग सर्वत्र देते हि हैं। और असंमानित होनेपर क्रोधित हुए देव कष्टभी देते हैं। व्यक्तिमें ब्रह्मचर्यादि सुनियमपालनसे प्रसन्न हुए इंद्रियगण स्वास्थ्यसुख अर्पण करते हैं और अनियम के कारण अवमानित हुए येही देव अकालमृत्यु देते हैं। इसी प्रकार यज्ञसे सब प्रकारकी उन्नति और अयज्ञसे हानि होती है।

(तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुंक्ते स स्तेनः) उन देवोंका दिया हुआ उन्हें कुछभी न देकर जो स्वयं भोगता है वह चोर है। इसके उदाहरणके लिये हम राज्यव्यवस्थाका उदाहरण लेंगे। राजा और राजपुरुषोंके कारण जनताके धनभोग सुरक्षित रहते हैं, अतः प्रजाजनोंको उचित है कि वे भी राजाको करभार देकर अपना आदर व्यक्त करें। अच्छे स्वराज्य शासनमें जो लोग कर नहीं देते वे चोर होंगे और दण्डनीय बनेंगे। इसी प्रकार शरीरस्थानीय प्रसन्न हुए इन्द्रियरूप देवताओंने जो स्वास्थ्ययुक्त आयु दी है, उसका कुछ हिस्सा उनकी सुस्थिति रखनेके उपायोंके लिये लगाना चाहिये। अन्यथा सब बिघाड हो जायगा। इसी तरह सर्वत्र देवोंको यज्ञभाग समर्पण करनेकी कल्पना का प्रभाव देखना चाहिये। सब यज्ञोंमें देवोंको कुछ भाग समर्पण करनेकी कल्पना प्रधान स्थान रखती है। समर्पण करना यज्ञ है और समर्पण न करना चौर्य है।

भूमिपर जितनाभी धन उत्पन्न हुआ है वह सब संपूर्ण प्रजाजनोंका है। अतः वह सब धन प्रजाजनोंके लिये हि रखना चाहिये। वैसा न रखते हुए यदि कोई मनुष्य युक्ति प्रयुक्तिसे बहुत साधन अपने पास संग्रह करके रखेगा, तो वह चोर होगा। क्योंकि जिस धनपर अपना अधिकार नहीं है और दूसरोंका है, उसका अपने पास विशेष संग्रह करना एक प्रकारकी चोरी है। इस दृष्टीसे बहुत मनुष्य चोर सिद्ध होंगे, यद्यपि आजकल की जनता इन संग्रहकर्ताओंको चोर कहके दण्डनीय नहीं समझती, तथापि यज्ञकी दृष्टीसे ये अपनेपास विशेष धनसंग्रह करनेवाले निःसन्देह चोर हैं। परंतु शासनाधिकार इनकेहि हाथमें रहनेसे ये दण्डनीय नहीं समझे जाते, यह बात अलग है। परंतु यज्ञकी व्यापक दृष्टीसे देखनेपर किसीकोभी दो तीन दिनकी आवश्यकतासे अधिक संग्रह अपने पास करना अयोग्य है। यही परमहंसोंकी 'वसुधैव कुटुंबक' वृत्ती है और यही सच्चा यज्ञ है। इस दृष्टीसे बहुतसे लोग अयज्ञ करते हैं और आपसकी लढाईयोंका दुःख उक्त दोषसे हि भोगरहे हैं। क्योंकि अयज्ञसे दुःख अवश्य होगा।

इसी भावको अन्य शब्दोंमें इस प्रकार अगले श्लोकमें कहा है- (ये आत्मकारणात् पचन्ति, ते पापाः अघं भुञ्जन्ति) जो अपने लिये हि केवल अन्न पकाते हैं वे पापी पापहि खाते हैं। अयज्ञ करनेवाला जो भोग भोगता है वह तो पापही है। पाठक अपने लिये पकानेका भाव केवल अन्न पकाना हि न समझें, यहां तो हरएक भोग अपनेपास संग्रहित करने और उसको केवल अपनेलियेहि रखनेका भाव है। इस स्वार्थीका नाम हि वेदमें 'अ-राति' है। इसका अर्थ 'दान न करनेवाला' है। इसका अर्थ आजकल 'शत्रु' मानते हैं, यह ठीक ही है कि जो 'दान नहीं करता वह अयज्ञ करनेके कारण जनताका शत्रु' हि है। यही भाव वेदमें इस तरह कहा है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप

गच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोपद् स्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते॥ १॥ स इद्भोजो यो गृहवे ददान्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ३॥ न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न स ओकोऽस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

ऋग्वेद १०।११७

"देवोंने क्षुधारूपी मृत्यु गरीबोंके पीछे हि लगाया है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यथेच्छ भोजन करनेवाले धनीक लोग भी मर जाते हैं। जो गरीबोंको धनदान करता है उसका धन कम नहीं होता, प्रत्युत बढता है, परंतु जो दान नहीं करता उसको सुख देनेवाला एक भी मित्र नहीं मिलता है॥ वही (भोजः) सच्चा भोजन करनेवाला है जो (अन्न-कामाय कृशाय चरते) अन्नकी इच्छासे दारोदार भ्रमण करनेवाले कृश याचकको (गृहवे ददाति) घरको आनेपर अन्न देता है। उसीके पास पर्याप्त समृद्धि होती है और उसीके शत्रु भी मित्र होते हैं॥ जो अपने मित्र और सहायक को भी योग्य दान नहीं करता वह सच्चा मित्र नहीं है, उससे दूर भागना चाहिये। (न स ओकः अस्ति) उसका घर सच्चा घर हि नहीं है। दूसरे दाताके पास मनुष्य जाय॥ जिसको अन्तःकरण नहीं है ऐसे अनुदारको धन मिलना व्यर्थ हि है, मैं सत्य कहता हूं कि वह उसका धन धन नहीं है वह उसकी मृत्यु है, जो अपने मित्रोंका या सज्जनोंका पोषण नहीं करता, वह (केवलादी) केवल स्वयं भोग करनेवाला (केवलाघः भवति) केवल पाप रूप बनता है।"

यहां 'दानयज्ञ' करनेका उपदेश है। जो दान, उपकार या दूसरोंकी सहायता करता है उसकी सद्गति होती है और अयज्ञ करनेवालेकी दुर्गति होती है। इस सूक्तका यह भाव स्पष्ट है। इसके अन्तिम मंत्रमें जो अन्तिम वाक्य है वही भगवद्गीताके इस श्लोकमें अन्य शब्दोंद्वारा कहा है, देखिये—

केवलाघो भवति केवलादी। ऋ० १०।११७।६

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्

भ० गी० ३।१३

"केवलादी" शब्दकी व्याख्या 'पचन्ति आत्म कारणात्' है, इस दृष्टीसे इस वेद मंत्रकी व्याख्या हि इस गीताके श्लोकने की है।

जो अन्न पकाना है, जो अपने पास धनसंग्रह करना है, वह दान, उपकार, सत्कार्य अर्थात् यज्ञके लिये हि करना चाहिये। अतः यजुर्वेदमें कहा है—

त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्यस्विद्धनम्?

यजु. ४०।१

"दानसे भोग कर, मत ललचा, भला धन किसका है?" अर्थात् धन संपूर्ण जनताका है, अतः जो धन है वह जनताकी भलाईके लिये समर्पण करके जितना अपना जीवित रहनेके लिये अत्यंत आवश्यक है उतना हि धन अपने लिये लेकर उसका भोग कर, इससे अधिक लालच न कर। यही यज्ञ है। इसी का अधिक स्पष्टीकरण गीता निम्नलिखित प्रकार करती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व-
किल्बिषैः॥ भ० गी० ३।१३

"यज्ञ करके शेष बचे हुए भागका सेवन करनेवाले सब पापोंसे मुक्त होते हैं।" यज्ञ शेषका सेवन करना बडा पुण्यप्रद है। धर्म शास्त्रका नियम ऐसा है कि प्रतिदिनका अन्न सिद्ध होनेके पश्चात् देवयज्ञ और भूतयज्ञ करके अतिथि का भोजन पहिले होवे, पश्चात् सब घरके आदमी नौकर चाकर भोजन करें, तत्पश्चात् जो बचा हो उसमें घरका स्वामी और घरकी स्वामिनी अपनी तृप्ति करें। अपने भोजनके लिये

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

अन्वयः—भूतानि अन्नात् भवन्ति, पर्जन्यात् अन्नसंभवः, पर्जन्यः यज्ञात् भवति, यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम्॥१५॥

भूतमात्र अन्नसे होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति पर्जन्यसे होती है, पर्जन्य यज्ञसे होता है, और यज्ञ कर्मसे होता है॥ १४॥ कर्म [विधिके] ज्ञानसे होता है, और ज्ञान अक्षय परमात्मासे उत्पन्न होता है; इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञमें सदा रहता है॥ १५॥

भावार्थ—सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परमात्मासे कर्मविधिका ज्ञान, इस ज्ञानसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इस लिये सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप साक्षात् परमात्मा हि नित्य यज्ञमें उपस्थित रहता है।। १४-१५॥

बैठनेपर सब भूतोंके उद्देश्यसे कुछ आहुतियां पहिले अलग रखकर पश्चात् स्वयं भोजन करना है। जो गृहस्थिके घरके इस पाक यज्ञकी रीति है, वही सब यज्ञोंमें अनेक रूपसे है। इस प्रकार यज्ञशेषका सेवन करना अत्यंत पुण्यकारक है।

यज्ञशेष भक्षण का दूसरा अर्थ महान उपकार है। परंतु यह उपकार करना मनुष्यका स्वभाव बनना चाहिये। यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ है इस कथनका तात्पर्य यह है कि यह सहज है, यह स्वभावसेहि होना चाहिये। इसमें कोई भाव बनावटी नहीं होना चाहिये। जो ऐसा अपना स्वभावही यज्ञरूप बनायेंगे वेहि सब पापोंसे मुक्त हो सकते हैं। यहां यह विषय इतना लिखनेकी आवश्यकता इसलिये पडी कि लोग 'यज्ञ' शब्दसे 'होम हवन' ही केवल समझते हैं और यज्ञका व्यापक आशय जो प्रत्येक मनुष्यके आचरण में आना चाहिये उस ओर बहुत लोगोंका ध्यान नहीं होता, इस कारण उस व्यापक आशय को स्पष्ट करनेके लिये यहां इतना लिखना पडा।

यह विषय आगे अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंमें आनेवाला है, इसलिये आगेभी इसपर बहुत लेख लिखनेकी आवश्यकता होगी। इस कारण यहां इतना भूमिकारूप लिखा है उतना पर्याप्त है। अब हम आगे यज्ञके विषयमें क्या कहते हैं सो देखेंगे—

(१४-१५) इन श्लोकोंमें साक्षात् परमात्मा यज्ञमें उपस्थित होता है ऐसा कहा है और इस कारण यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है ऐसा दर्शाया है। इस की विचारपरंपरा देखिये—

अन्नसे भूत।

(अन्नात् भूतानि भवन्ति) अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है यह बात सब जानते हि हैं, इस अन्नके विषयमें उपनिषद्वचन देखिये—

या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्। ऐ० उ० ३।२
अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
बृ० उ० ५।१२।१

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। अथो अन्नेन जीवन्ति।
तै० उ० २।२।१

अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।
तै० उ० २।२।१

अन्नं न निंद्यात्तद् व्रतं प्राणो वा अन्नम्।
तै० उ० ३।७।१

परं वा एतदात्मनो रूपं यदन्नम्।
मैत्री उ० ६।११

प्राणो वा अन्नस्य रसः। मैत्री उ० ६।१३

अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः। मैत्री उ० ६।१४

अन्नाद्भूतानामुत्पत्तिः। मैत्री उ० ६।३७

ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवति। मं०नारा०२३।१

अन्नं वै प्रजापतिः। प्रश्न उ० १।१४

अन्नं ब्रह्म। तै० उ० ३।२।१

"जो स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ वह अन्न ही है। अन्नमें ये सब भूतमात्र रहते हैं। अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है और अन्नसे जीवित रहती है। अन्नसे भूतमात्रकी उत्पत्ति होती है और अन्नसे उनका संवर्धन होता है। अन्नकी निंदा करना योग्य नहीं है, वह व्रत है, प्राण ही अन्न है। आत्माका पर रूप अन्न है। प्राण हि अन्नका रस है। अन्न सबका उत्पत्तिस्थान है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है। औषधि वनस्पतियोंसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। अन्न हि प्रजापति अर्थात् प्रजाओंका पालन करनेवाला है। अन्न ब्रह्म है।"

इस प्रकार अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होनेका और अन्न साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप होनेका वर्णन उपनिषदोंमें है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति कैसी होती है, इस संबंधमें उपनिषदोंमें जो कहा है वह अब देखिये-

आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नं। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तै० उ० २।१।१

"आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधियां, औषधियोंसे अन्न, अन्नसे पुरुष अर्थात् शरीर, यह शरीर अन्नरसमय है।"

अन्नसे रेत बनता है और रेतसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। सब पशुपक्षी अन्न खाते हैं, उनके शरीरमें उस अन्नसे वीर्य बनता है और उससे संतानोत्पत्ति होती है। वृक्ष वनस्पतियां उनका अपना अन्न खाती हैं, उससे बीजादिकी उत्पत्ति होती है और उनसे आगे बडा विस्तार होता है।

इसतरह सर्वत्र अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होनेका वर्णन है और यह विषय हरएक मनुष्य के अनुभवका हि विषय है इसलिये इस विषयमें इतनाही लिखना पर्याप्त है।

पर्जन्यसे अन्न।

आगे (पर्जन्यात् अन्नसंभवः) वृष्टीसे अन्नकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है। यह तो प्रतिवर्षका मनुष्योंका अनुभव है। वृष्टी न हुई तो धान्य अथवा अन्यान्य वृक्षवनस्पतियां नहीं उत्पन्न होंगी, यह तो निश्चित बात है। कई कहेंगे कि नदीके नहरोंके द्वारा अन्न पैदा होगा, परंतु वृष्टि न हुई तो नहरोंमें भी पानी नहीं आवेगा, इसलिये नदी नहर और कूवे के जलसे खेती हुई, तो भी वह वृष्टीसेहि होती है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् पर्जन्यसे अन्नकी उत्पत्ति होती है यह बात सत्य है और अनुभव की भी यह बात है। वेदमें तो वृष्टिसे आकाशस्थानीय प्राण हि नीचे पृथ्वीपर आता है ऐसा कहा है देखिये—

यत्प्राणस्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्रवीयन्ते गर्भान्दधतेथो बह्वीर्विजायन्ते ॥ ३॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्रमोदते यत्किंच भूम्यामधि ॥ ४॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥६॥
अथर्व० ११।४(६)।३-६

"जब यह प्राण अपनी महती गर्जनाद्वारा अपना सन्देश औषधियोंसे कहता है, उसी समय वे गर्भ धारण करती हैं, और बहुत बढती हैं॥ जब योग्य ऋतु आता है और प्राण गर्जना करके औषधियोंसे कहता है, तब पृथ्वी के ऊपर के पदार्थ मात्र आनंदित होते हैं॥ जब प्राण अपनी वृष्टी इस बडी भूमीपर गिराता है, तब सब पशु आनंदित होते हैं, वे कहते हैं कि हमारी शक्ति बढेगी। अथवा हमारा अन्न बढेगा। प्राणके द्वारा वृष्टीसे सिंचित हुई औषधियां उसके साथ बोलती हैं कि हे प्राण, तूने हमारी आयु बढा दी है और हमें सुगंधित किया है।"

यहां बडे मनोरंजक अलंकारसे कहा है कि, वृष्टिसे वनस्पतीयोंको प्राण प्राप्त होता है और उससे वनस्पतियां फूलती और फलती हैं। इसी प्रकार वृष्टिसेहि सब प्रकारका अन्नप्राणिमात्रको प्राप्त होता है।

यज्ञसे पर्जन्य।

आगे कहा है कि (यज्ञात् पर्जन्यः भवति) यज्ञसे पर्जन्य होता है। अर्थात् यज्ञ न हुए तो पर्जन्य नहीं होता और अकाल होता है। अकाल होनेसे अन्न नहीं होगा, और अन्नके अभावमें सब भूत मृतवत् होंगे। यहां तक यज्ञचक्र का प्रभाव कहा है। यह यज्ञका चक्र ऐसा है—

यज्ञसे मेघ + मेघसे वृष्टी + वृष्टीसे अन्न
( )
कर्मसे यज्ञ—शरीरसे कर्म—अन्नसे शरीर

यह यज्ञका चक्र है, यह चक्र क्रमसे भ्रमण होता रहता है। इसमेंसे एकभी यथाक्रम न होगा, तो सब चक्र टूट जायगा और भूतमात्रकी स्थिति नहीं होगी। महानारायण उपनिषद्‌में कहा है—

ताभिः पर्जन्यो वर्षति। पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्ते॥ म० नारा० २३।१

"पर्जन्य वृष्टि करता है, और वृष्टिसे औषधियां और वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं।" इस रीतिसे यज्ञसे पर्जन्य होकर अन्न की उत्पत्ति होती है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यज्ञसे पर्जन्य कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें मनुका वचन देखिये—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
मनु० ३।७६

"अग्निमें दी हुई आहुति आदित्य के पास जाती है, आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे सब प्रजाकी उत्पत्ति होती है।" यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित प्रकार कहा है—

यज्ञात्प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम्॥१०॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥११॥
म० भारत. शां० अ० २६३

"यज्ञसे प्रजा होती है जैसा आकाश से निर्मल जल प्राप्त होता है। यज्ञ की अग्निमें रखी हुई आहुति आदित्य के पास जाती है, आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे प्रजा होती है।" यज्ञसे वृष्टि होने के विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें यह वचन है—

पर्जन्येष्टि।

स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्ट्या वा यजेत...ब्रूयाद्वृष्टिकामो वाऽअस्मीति तत्रोऽध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेति। अभ्राणि मनसा ध्यायेत्यग्नीधँ, स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारँ, सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं, वर्षति हैव तत्र यत्रैवं ऋत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति॥ श० ब्रा० १।५।२।१९

"यदि यजमानकी इच्छा वृष्टि होनी चाहिये ऐसी हो तो वह पर्जन्येष्टी करे, उस समय यजमान कहे की वृष्टी की इच्छा है, अतः अध्वर्यु वायु और बिजली का ध्यान करे, आग्नीध्र अभ्रोंका ध्यान करे, होता मेघगर्जना और वृष्टी

का ध्यान करे और ब्रह्मा इन सब का ध्यान करे। ऐसे ज्ञानी ऋत्विज जहां होते हैं, और वे यदि मनसे ऐसा ध्यान करेंगे और इष्टी करेंगे, तो वहां अवश्य वृष्टि होगी। ”

यहां याज्ञवल्क्य मुनि निश्चयपूर्वक कहते हैं कि 'वृष्टि होगी,' इस से पता लगता है पर्जन्येष्टीमें इस प्रकार मानस ध्यान करनेसे कुछ अपूर्व बल पैदा होकर वृष्टी होती होगी। हमें इस बात का अनुभव नहीं है और नहि ऐसे मनोबलवाले ऋत्विज आजकल कहीं मिलेंगे। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है। तथापि वैदिक वाङ्मय देखनेसे पता लगता है कि उस प्राचीन समय पर्जन्येष्टीसे यथेप्सित वृष्टि हुआ करती थी।

यदि आकाशमें बादल आये हों और वृष्टि न होती हो तो नीचेसे ऊर्ध्वमुखी तोफें चलानेसे वृष्टि होती है। इसका कारण यह है कि मेघमंडलमें हलचल होनेसे वृष्टि होती है। आजकल कई स्थानपर अमेरिका और युरपमें मेघमंडलमें विद्युत्संचार करानेसे वृष्टि करनेका यत्न किया गया और वह सफल भी हुआ है। जहां युद्ध होते हैं और बहुत तोफोंकी मार होती है, वहां यदि आकाशमें मेघ रहे तो वृष्टि होती है, यह सैनिकोंका अनुभव है। तोफोंमें अग्नि है और यदि उसको दुर्गन्ध पदार्थोंका हवन माना जाय तो भी बात बन सकती है। इससे यदि इतना सिद्ध होजाय की मेघमंडलमें इस प्रकारकी हलचल करनेसे कुछ न कुछ वृष्टिकी संभावना होगी, तो वह बात सशास्त्र विधिपूर्वक किये गये हवनोंसे भी होना संभव हो सकता है।

आजकल जो घरमें हवन होते हैं वे बहुतहि अल्प प्रमाणमें होते हैं, उसका इष्ट या अनिष्ट परिणाम मेघमंडलपर होना असंभव है। परंतु जहां बडे यज्ञ और महान् सत्र होते हैं, जहां कई दिन बृहद्धवन किये जाते हैं, जहां घृतकी धाराएं हवनमें गिरती हैं, और जहां के हवनका धूवां मैलोंकी दूरीपरसे भी दीखता है, वहां के हवन का परिणाम मेघमंडलपर होना संभव है। हवन की अग्निसे हलकी बनी वायु ऊपर जाती है और वहां चारों ओर की वायु आजाती है। इस प्रकार जो गति वायुमंडलमें होती है उससे यज्ञप्रदेशकी ओर चारों दिशाओंमें स्थित वायुकी गति बनती है और यदि यह गति अनेक दिन रही तो उस प्रदेश की ओर हवाके साथ बादल आना भी संभव होसकता है।

यह गति जिस प्रमाणसे होगी और जितने दिन तक रहेगी उसी प्रमाणसे बादलोंका आना और वृष्टिका होना संभवनीय हो सकता है। यहां कई लोग कहेंगे कि जिस समय बडे जंगलों में आग लगती है वहां उक्त कारण वृष्टि होती होगी। होती है, प्रायः होती है। आजकल भी होती है, परंतु उन दिनोंमें बादलोंकी संभावना होनी चाहिये। वर्षाऋतुमें हि पर्जन्येष्टियां की जाती हैं अन्य ऋतुमें नहीं। जिन देशोंमें हरमास में वृष्टि होती होगी, उन देशोंमें आकाशमें बादलोंका आना और यज्ञसे वृष्टि होना संभव हो सकता है।

यहां कई लोग पूछेंगे कि यदि कवल जंगल की लकडियां जलाने से वृष्टि होना संभव होगा तो विधिपूर्वक यज्ञ करनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है कि विधिपूर्वक किये गये हवनसे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। पूर्वोक्त स्थानमें कहा है कि 'ये औषधियोंके महामख हैं, ऋतुसंधियोंमें किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसंधिमें व्याधि होते हैं। (गोपथ ब्राह्मण) अर्थात् यज्ञ की सिद्धाग्निमें जो औषधियां डाली जाती हैं, अग्निसे उनके सूक्ष्म परमाणु बनकर वे हवामें जाते हैं, मेघमंडलमें पहुंचते हैं, और अन्य स्थानोंके वायुमें भी रहते हैं। घृत के अणु रोगजंतुओंका संहार करनेवाले हैं, सोमादि औषधियोंके अंश भी इसी प्रकार रोजबीज दूर करते हैं। यज्ञमें हवन कियेगये घृत का महत्त्व रोग-

नाशन के संबंधमें विशेषहि है। केवल घृतका हवन करनेसे भी कई सांघिक रोग दूर होना संभव है। जब कोई संघिक रोग आता है और ग्राममें उसका उपद्रव शुरू होता है,तो प्रत्येक घरमें और चौरास्तोंपर बृहद्धवन करनेसे रोग दूर होता है।

इस तरह बृहद्धवनोंके द्वारा जो घृतके और विविध औषधियोंके अणु मेघमंडलमें जाते हैं और हवामें रहते हैं वे वृष्टिजल के साथ भूमिपर आकर, उनका भूमिस्थानीय अनंत वृक्षों, वनस्पतियों और कृषियोंके लिये एक पौष्टिक और शुद्ध जीवनीय रस मिलता है। वृक्षादिकोंको उत्तम खाद देनेकी यह रीति है। हवाशुद्धि, वृष्टिका नियमन, जलशुद्धि और वृक्षरसों की पुष्टि इतनो बातें हवन रूप यज्ञसे सिद्ध होती हैं, ऐसा हम हवन विधिके ग्रंथोंसे अनुमान निकाल सकते हैं। यह युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है, तथापि इसके प्रयोग करके देखने चाहिये और जो बात प्रयोगोंसे सिद्ध होगी वही माननी चाहिये।

होम हवनरूप यज्ञोंसे वृष्टि किस तरह होती है इसकी रीति हमने यहां देखी। इसी विषयमें निम्न लिखित मंत्र भी देखना योग्य है-

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिव- मुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृ- तेन पृथिवी व्युद्यते।

ऋग्वेद १।१६४।४७

(अपः वसानाः) जल लेनेवाले (हरयः सुपर्णाः) जलका हरण करनेवाले आदित्य के किरण (कृष्णं नियानं) आकर्षण के मार्गसे (दिवं उत् पतन्ति) द्युलोक को जाते हैं। (ऋतस्य सदनात्) उदकके स्थानसे (ते आववृत्रन्) वे आकर उनके द्वारा (घृतेन) जलसे (पृथिवी व्युद्यते) भरपूर की जाती है। अर्थात् पृथ्वीपर का जल सूर्य,किरणोंसे बाष्परूपमें ऊपर आकाशमें उडता है, उसके मेघ बनते हैं, वे मेघ वृष्टिरूपसे पृथ्वीपर आकर जल वर्षाते हैं। वृष्टि होनेका क्रम वेदमें इस प्रकार बताया है, इसके अनुसार जब ये सूर्य किरणों द्वारा भांप होकर जलके अणु ऊपर जाते हैं,उनके साथ हवन के द्वारा सूक्ष्म बनाये गये घृतके और सोमादि औषधियोंके अणु यदि भेजे जांयगे, तो वे जलको औषधि गुणोंसे युक्त बनायेंगे और वह जल न केवल अन्नको विशेष पुष्टिरससे युक्त बना देगा, प्रत्युत प्राणियोंके लिये भी आरोग्यवर्धक होगा।

इसप्रकार सारांशसे (यज्ञात् भवति पर्जन्यः) यज्ञसे पर्जन्य होता है इस विषयका विवेचन है। वैदिक वाङ्मयमें यज्ञविषय बहुत व्यापक और बडा विस्तृत है,उसका होमहवन विषयक एक भाग है। पाठक यहां यह न समझें कि हवनसे केवल रोगोंका नाश होगा। यह बात नहीं है। हवन एक शास्त्र है और उसका उपयोग विविध कार्यों के लिये होता था। जिसप्रकार रोगनाशक और रोगप्रतिबंधक हवन है, उसी प्रकार रोगोत्पादक और रोगवर्धक भी हवन है। शत्रुके देशमें रोग वर्धक हवन कराये जाते थे और अपने देशमें रोगप्रतिबंधक हवन किया करते थे। इसीप्रकार वृष्टिवर्धक भी हवन हैं और वृष्टिनियामक भी हैं। यह एक बडा शास्त्र है और यह प्रायः लुप्त हुआ है, सोमादि औषधियां भी नहीं मिलतीं। अतः इसविषयमें अधिक लिखा नहीं जाता। विद्याके संशोधक इसकी खोज करें। हमें यहां गीताका विधान देखना था वह सारांशरूपसे देख लिया। यज्ञके युक्तायुक्तत्व के देखनेका यहां प्रसंग नहीं है।

पाठक यहां इतनी बात ध्यानमें धारण करें कि, जो यज्ञ वृष्टिनियामक हैं वे होमहवन के हि यज्ञ हैं, परंतु भगवद्गीतामें जो यज्ञ कहे हैं, वे केवल होमहवन रूप हि नहीं हैं;उनमें वैयक्तिक,कौटुंबिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका भी समावेश होता है, इतनी विशेषता है। इस विषयका सामान्य स्वरूप इससे पूर्व (भ० गी० श्लो०३।१०-१३ के विवरणमें) बताया है और आगेभी अनेक

स्थानोंपर बताया जायगा। भगवद्गीता में जो व्यापक यज्ञ का रूप कहा है, उसका एक भाग होमहवन है। इतनी बात पाठक ध्यानमें रखें॥

यज्ञसे पर्जन्य।

यज्ञसे मेघ, मेघसे पर्जन्य और पर्जन्यसे अन्न होनेमें दूसरी रीतिसेभी एक आत्मसमर्पण रूप यज्ञ हो रहा है। यह यज्ञ भी यहां अब देखना चाहिये। जल का आत्मसमर्पण होकर उस की भांप बनकर मेघ बनते हैं, अर्थात् मेघोंकी उत्पत्ति होनेके लिये जलका आत्मसमर्पण रूप यज्ञ होनेकी आवश्यकता है। जलके इस आत्मसमर्पण रूप यज्ञ से मेघोंकी उत्पत्ति होती है। मेघ भी उसी प्रकार आत्मसमर्पण करते हैं जिसका नाम वृष्टी है। मानो, परोपकार के लिये मेघ अपना अस्तित्व तक समर्पित करते हैं,इस मेघोंके आत्मसमर्पणसे संपूर्ण वृक्षवनस्पतिसृष्टी और जीवसृष्टी पाली जाती है, अर्थात् किसी का पालन होनेके लिये दूसरेका आत्मसमर्पण रूप यज्ञ होना आवश्यक है, यही बात आगेके यज्ञोंमें देखी जाती है। मेघों से वृष्टीके द्वारा जल पृथ्वीपर आनेपर वह जल फिर वृक्षों और प्राणियों के जीवन के लिये आत्मसमर्पण करता है। जब यह जल उन वृक्ष-वनस्पतियों और प्राणियोंके शरीरका भाग बनता है, तब उनका जीवन होता है, इनके अस्तित्वके लिये, मानो, जलको अपने अस्तित्व का समर्पण करना होता है। इसी प्रकार अन्न भी आत्मसमर्पण करके प्राणियोंके जीवन का हेतु बनता है। प्राणी अपने जीवनभूत रजवीर्य का समर्पण रूप यज्ञ करके हि प्रजा उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार यह यज्ञ से सब जगत् चल रहा है। यह यज्ञ परमेश्वरीय नियमसे हो रहा है, इस लिये यज्ञ होनेपर भी जल को यज्ञ करनेका पुण्य नहीं प्राप्त होता क्योंकि जलका यज्ञ ईश्वरीय नियमसे हो रहा है उसमें जलकी इच्छाका भाग कारणीभूत नहीं है।

मनुष्य इस परमेश्वरीय नियमका अवलोकन करे, और ईश्वरका यज्ञसूत्र सर्वत्र कैसा चल रहा है यह देखे, तथा स्वयं अपनी इच्छासे आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करे। मनुष्य चूंकी स्वेच्छा से यह आत्मसमर्पण करता है, इसलिये इसको पुण्य प्राप्त होता है और यज्ञ न करनेसे उसकी अधोगति होती है। मनुष्यको परमेश्वरने स्वातंत्र्य रखा है, इसलिये अपनी स्वतंत्र इच्छासे उसको यह यज्ञ चलाना चाहिये, यह उसका अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है।

मनुष्यका जीवित जगत्के यज्ञपर अवलंबित है, जागतिक यज्ञके कारण मनुष्य जीवित रहता है, इसलिये मनुष्यको उचित है कि, वह स्वयं जगत् की भलाईके लिये अपनी शक्तिका यज्ञ करे। उदाहरणके लिये देखिये, प्राचीन लोगोंके द्वारा लगाये वृक्षोंके फल मनुष्य खाता है, अतः मनुष्यका कर्तव्य होता है कि, वह स्वयं नये वृक्ष लगावे जिनके फल भविष्यमें आनेवाले मनुष्य खा सकें। इसीप्रकार हरएक प्रकारके आत्म-समर्पणके विषयमें जानना चाहिये। मनुष्यका जीवन यज्ञमय होना चाहिये ऐसा जो स्थान स्थानपर कहा है, इसका प्रधान हेतु यह है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो यज्ञ शब्द है, वह आत्म-समर्पणरूप सामान्य यज्ञका वाचक है। द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि उदाहरण इस सामान्य यज्ञकेहि हैं। होमहवन रूप यज्ञ जो किये जाते हैं वे इस आत्मसमर्पण के उपलक्षण मात्र हैं।

गुप्तदान।

होमहवन यज्ञ का एक उपलक्षण है। जैसा यज्ञमें चन्दनकी समिधा जलाई तो उसकी सुगंधि चारों ओर फैलती है। अनेक लोग उस सुगंधीसे आनन्द को प्राप्त करते हुए भी उनको पता नहीं होता कि उनको किस दाताने सुगंधि दी है, और चंदन के हवन कर्ता को भी पता नहीं होता कि किनको मैंने सुगधि पंहुंचाई है। 'दाता को लेनेवालेका पता नाहीं और दान लेने वालोंको

दाता का परिचय नहीं' इस प्रकार का परम उच्च दान विधि यज्ञसे साध्य होता है। दाता के मनमें प्रत्युपकार लेनेकी इच्छाहि नहीं। यह उच्च रीतिका दान देनेकी विधि इस हवनसे दर्शायी है। भगवद्गीतामें आगे द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनेक यज्ञ कहे जांयगें, उनमें होने वाला दान इस प्रकारका गुप्त दान होना चाहिये। यह एक यज्ञके दानकी विशेषता है। इसको पाठक न भूलें।

कर्मसे यज्ञ।

(यज्ञः कर्मसमुद्भवः) कर्मसे यज्ञ होता है। यह कथन हरएक यज्ञके विषयमें सत्य है। यज्ञ एक प्रशस्ततम कर्म है। अतः जो मनुष्य कर्म नहीं करेगा, उससे यज्ञ होगाहि नहीं और न होमहवन अथवा द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ अथवा दूसरा कोई यज्ञ होगा, वह तो कर्म करनेपरहि सिद्ध होगा। आलसी रहनेपर न कोई कर्म होगा और न यज्ञ। अतः मनुष्य कर्म करे और वे कार्य यज्ञरूप बनावे।

ज्ञानसे कर्म।

(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि) कर्म ज्ञानसे किया जाता है। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ यहां 'कर्मकी विधिका ज्ञान' है। आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान आदि 'ब्रह्म' शब्दके अन्य अर्थ यहां नहीं है। विविध कर्मों और यज्ञोंके करनेकी विधिका ज्ञान यहां के 'ब्रह्म' शब्दसे लेना चाहिये। इस ज्ञानके विना कोई कर्म यथासांग करना असंभव है। वेदादि ग्रंथोंमें इस कर्मकी विधिका ज्ञान दर्शाया है अतः वेदको और वेदमंत्रोंको 'ब्रह्म' कहते हैं। जिसमें श्रेष्ठ कर्मोका उपदेश है वह ज्ञान ब्रह्म शब्दसे यहां लेना उचित है।

कई विद्वान् यहांके 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'प्रकृति' करते हैं और (कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि) इसका अर्थ कर्म प्रकृतिसे होता है, ऐसा अर्थ करते हैं। यह अर्थ भी सुसंगत है और इसमें किसी प्रकार विरोध नहीं हो सकता। आगे भगवद्गीतामें

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
भ० गी० १४।३

"मेरी (ब्रह्म) बडी प्रकृति उत्पन्न करनेवाली है, उसमें मैं गर्भ रखता हूं, उससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।" ऐसा कहा है। यहां ब्रह्म शब्द प्रकृतिके अर्थ में है। यही अर्थ यहां लेनेसे यह अर्थ होता है। तथा महाभारत में कहा है कि-

यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया॥३१॥
अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा॥३४॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः॥४०
म० भा० शां० अ० २६८

"यज्ञ वह है कि जिसमें फलकी अपेक्षा न रखते हुए यजनादि किया करते हैं। यज्ञके पीछे सब जगत् है और सब जगत् के पीछे यज्ञ है। यज्ञ के विना इस लोक और परलोक किसी भी लोक में सद्गति नहीं होती।" इस स्थानपर यज्ञ और जगत् परस्पर के अनुसारी हैं ऐसा कहा है, इस से भी पता चलता है कि प्रकृतिस्वभावसे कर्म और कर्म से यज्ञ सिद्ध होता है। शरीरका स्वभाव धर्म कर्म करना है, इस कर्म को यज्ञ रूपमें परिणत किया तो उद्धार होगा और यह कर्म अयज्ञरूप बना तो अपकार होगा। अस्तु, इस तरह यहां 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'प्रकृति' लेना भी योग्य है। परंतु हमारे मतसे यहां 'कर्मविधिका ज्ञान' यह अर्थ है। पाठक इसका अधिक मनन करें।

अक्षरसे ज्ञान।

(अक्षरसमुद्भवं ब्रह्म) अक्षरसे ज्ञान होता है। यहां 'अ-क्षर' शब्दसे 'अव्यय आत्मा' लेना चाहिये। आत्मासे ज्ञान प्राप्त होता है। आत्माकाहि गुण ज्ञान है। चित्स्वरूप आत्मा है इसलिये उससे ज्ञान प्रकट होता है। कर्मविधिका ज्ञान और मोक्षोपायका भी ज्ञान इसी सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मासे प्राप्त होता है। यही बात उपनिषदमें इस प्रकार कही है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

अन्वयः- हे पार्थ! एवं प्रवर्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्तयति, सः इन्द्रियारामः अघायुः मोघं जीवति ॥१६॥

हे अर्जुन! इस प्रकार चलाये हुए यज्ञचक्रके अनुसार जो मनुष्य इस लोक में नहीं आचरण करता, वह इंद्रियोंको आराम में रखनेवाला मनुष्य पापमय आयुवाला होकर व्यर्थ जीता है ॥१६॥

भावार्थ- इस तरह यह विश्वव्यापी यज्ञचक्र चल रहा है। जो इसके अनुकूल अपना आचरण करेगा वह यज्ञस्वरूप बनने के कारण पवित्र होगा। परंतु जो इसके अनुकूल अपना जीवन नहीं बनायेगा और जो अपने इंद्रियोंको आराममें रखनेका यत्न करेगा उसका जीवन पापी बननेके कारण व्यर्थ जायगा ॥१६॥

आत्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वम् ॥ छां० उ० ७।२६

'आत्मासे बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म आदि सब होता है।' यहां भगवद्गीता की हि बात बतायी है। मानो, यह छांदोग्य का विधान गीताके विधान का स्पष्टीकरण है। क्यों कि यहां आत्मासे 'मन वाणी नाम मंत्र कर्म' इस क्रमसे प्रकट होते हैं ऐसा कहा है, और गीतामें केवल 'अक्षरसे ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म' इतनाहि क्रम दर्शाया है, अतः पाठक इस उपनिषद्वचन के साथ भगवद्गीता के वचन की तुलना करें और आत्मासे किस क्रमसे कर्म होते हैं, इस का विचार जानें।

यज्ञमें परमात्मा।

इतना क्रम बतानेका हेतु यह है कि यज्ञमें परमात्मा की उपस्थिति है यह बात पाठकोंके मनमें आजाय, इसलिये अन्त में कहते हैं कि—

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

'इसलिये सर्व व्यापक परमात्मा यज्ञमें नित्य उपस्थित होता है।' जहां यज्ञ चलता है वहां परमात्मा है ऐसा समझना चाहिये। जहां पूर्वोक्त कथन के अनुसार सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म, आदर-संगठन और उपकार के प्रशस्त कर्म होते हैं, वहां सर्वव्यापक ईश्वर रहता है। अतः अपने पास यदि परमेश्वरकी उपस्थिति हो ऐसी किसी की इच्छा हो, तो वह ऐसे प्रशस्ततम कर्म करता रहे। जब तक किसी मनुष्यसे ऐसे शुभ कर्म होते रहेंगे, तबतक परमेश्वर उसके संनिध रहेगा। परमात्माको अपने पास नित्य रखने का यही एक मात्र उपाय है। परमेश्वर प्राप्ति निश्चयसे होनेका भी यही एक मात्र उपाय है। इसी लिये आगे कहेंगे कि—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
भ० गी० १८।४६

'जिसके द्वारा संपूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सब को व्याप लिया है, उसकी पूजा अपने कर्मोंके द्वारा करने वाला मनुष्य अन्तिम सिद्धी प्राप्त कर सकता है।' मनुष्य का जो जो कर्तव्य है वह उत्तम रीतिसे करके और उसका फल परमात्मा को समर्पण करके मनुष्य कृतकृत्य बन सकता है। अतः आगे यह कर्मका चक्र सतत घुमाने के लिये कहते हैं वह उपदेश अब देखिये—

(१६) इस अध्याय के श्लोक १० से १५ तक के छः श्लोकोंमें विश्वव्यापी यज्ञचक्रका वर्णन किया है। यह यज्ञचक्र परमात्मा द्वारा (प्रवर्तितं)

चलाया जा रहा है। मनुष्यसे भिन्न जितनी भी सृष्टि है वह सबकी सब सृष्टि इस यज्ञचक्रके नियमानुसार परमेश्वर द्वारा चलाई जा रही है। परंतु मनुष्यमें विशेष बुद्धि रखी है, अतः उसमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति है। चाहे यह मनुष्य उस यज्ञचक्रके अनुकूल अपना चालचलन रखे, या न रखे; यह सब इसकी इच्छापर निर्भर है। यदि यह मनुष्य उस विश्वव्यापी यज्ञचक्रके अनुकूल अपना आचरण रखेगा तो वह सुख प्राप्त करता हुआ अन्तमें परम पदको प्राप्त करेगा, और यदि यह उस यज्ञचक्रके प्रतिकूल अपना व्यवहार करेगा, तो उसको न सुख प्राप्त होगा और न उच्च गति मिलेगी। मनुष्य और अन्य सृष्टीमें इतना भेद है।

यहां कई पूछेंगे कि यदि मनुष्यसे भिन्न अन्य सृष्टि उस यज्ञचक्रके अनुकूल आचरण कर रही है, तो उसकी मुक्ति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि "स्वयं प्रेरणासे किये हुए यज्ञसे हि मुक्ति हो सकती है।" जैसा किसी व्याघ्रने किसी गायका वध किया और उसको खालिया, तो उसमें गायका आत्मयज्ञ नहीं है। आत्मयज्ञ तो तब होगा, कि जब गाय अपने आपको स्वेच्छासे व्याघ्रके लिये समर्पित करे। किसी दूसरेके नियमके वशीभूत होकर पराधीनतासे बली न दिया जावे। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको परास्त करके उसको लूटता है, उस अवस्थामें लूटे गये राष्ट्रको आत्मसर्वस्वसमर्पण का पुण्य नहीं लग सकता; परंतु यदि किसीने जगत्के उद्धारके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण किया, तो वह पुण्यात्मा बन जाता है। अर्थात् किसीका घर डाका डालनेवालोंने किसी समय लूट लिया तो सर्वमेध नामक यज्ञ करनेका पुण्य उस घरवालेको नहीं प्राप्त होगा, परंतु यदि वह गृहस्थी अपना सर्वस्व दीनोंके उद्धारके लिये स्वेच्छासे समर्पण करेगा, तो हि वह पुण्यका भागी बनेगा।

दूसरोंसे लूटा जाना "शक्तिहीनताका लक्षण" है। शक्तिहीनतासे उन्नति नहीं हो सकती। अशक्त मनुष्य यज्ञ नहीं कर सकता। जो जिसके पास बल होगा उसका यज्ञ वह दूसरोंकी भलाईके लिये करेगा। जिसके पास ज्ञानका बल है वह ज्ञानयज्ञ करेगा, जिसके पास बाहुबल है वह दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंका यज्ञ करेगा, जिसके पास धनका बल है वह दीनोंके उद्धारके लिये अपने धनका यज्ञ करेगा। इसी प्रकार जो बल जिसके पास होगा उसका यज्ञ वह कर सकेगा। जिसके पास कोई बल नहीं वह कोई यज्ञ कर नहीं सकेगा। इसलिये यज्ञ करनेके लिये किसी न किसी प्रकारका बल अपने पास संग्रहित करना चाहिये, तत्पश्चात् यज्ञ करनेका अधिकार उसको प्राप्त होगा।

आगे चतुर्थाध्यायमें श्लो० २५ से ३० तकके छः श्लोकोंमें कई प्रकारके यज्ञ कहे हैं, वे सबके सब यज्ञ बलवान् मनुष्यहि कर सकता है। बलहीन मनुष्य अथवा निर्बल राष्ट्र लूटा जाने योग्य हि है। वह यज्ञ नहीं कर सकता। अतः उन्नति की इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह अपने पास कोई न कोई बल धारण करनेका यत्न करे और पश्चात् उस बलका परोपकारार्थ यज्ञ करे। इस तरह यज्ञ में स्वयं प्रेरणासे आत्मशक्तिका त्याग अभीष्ट है।

जो जगत् में परमात्माद्वारा यज्ञ हो रहा है, उसमें परमात्माके नियम कार्य कर रहे हैं और मनुष्यसे भिन्न सब प्राणी परवश होकर उस यज्ञचक्रमें घूम रह हैं, इस कारण यद्यपि वे मुक्त नहीं हो सकते, तथापि जीवसृष्टिमें उन्नत होते होते, वे जीव मानव योनीमें प्राप्त होते हैं। इन सबकी यह उन्नति इसीलिये हो रही है कि ये सब परमात्माके यज्ञचक्रके अन्दर रहते हैं। जब मनुष्य योनिमें जीव आता है तब वह अपने प्रयत्नसे अपनी परम उन्नति करनेका अधिकारी बनता है। अतः इस स्वतंत्र मनुष्यके लिये इस श्लोकमें उपदेश दिया है कि- "हे मनुष्य! तू

स्वतंत्र है, तू यत्न करेगा तोहि तेरी उन्नति आगे होगी, तू प्रयत्न करेगा, युद्धके लिये खडा होगा तभी परमात्मा तेरे रथपर सारथी होकर तेरी सहायता करेगा। अतः तू उस विश्वव्यापी यज्ञ को अपने आचरणमें धारण कर, अपना आचरण यज्ञरूप बना और पुण्यात्मा बन कर परम उन्नति प्राप्त कर।"

यहां परमात्माके आत्मयज्ञका आदर्श इसके सन्मुख आता है। परमात्माके आत्मयज्ञसेहि इस सृष्टीकी रचना हुई है। परमात्माने अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक यज्ञ किया इसीलिये परमात्माको "परम उच्च" कहते हैं, अर्थात् परम यज्ञके साथ परमोच्चता संबंधित है। ब्रह्मके यज्ञ के विषय में इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति॥

श० ब्रा० १३।७।१

"स्वयंभु ब्रह्म एक समय तप करने लगा। उसने देखा कि तपमें सचमुच अनन्तत्व नहीं है। इसलिये मैं अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ करूंगा और सब भूतोंका अपने आत्मामें यज्ञ करूंगा। पश्चात् उसने अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ किया और आत्मामें सब भूतोंका यज्ञ किया। इस आत्मसमर्पणरूप यज्ञसे उसने श्रेष्ठता, स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया। इसी प्रकार जो आत्मसर्वस्वका यज्ञ करेगा, उसको श्रेष्ठता, स्वाराज्य और आधिपत्य निःसन्देह प्राप्त होगा।"

इसी प्रकार विश्वकर्मा के आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेका वर्णन निम्न लिखित वचन में है। देखिये—

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहुवाञ्चकार। स आत्मानमपि अन्ततो जुहुवाञ्चकार॥२॥ तदभिवादिन्येषर्ग्भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति॥३॥

निरुक्त दै० १०।२६

"विश्वकर्मा भौवनने सर्वमेध यज्ञमें प्रथम सब भूतोंका और अन्तमें अपने आत्माका भी यज्ञ किया, इस विषयका वर्णन 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' (ऋ० १०।८१।१) इस मंत्रमें है।" अब यह मंत्र देखिये—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः॥ स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ ऋ० १०।८१।१

"हमारा (पिता) परमपिता (ऋषिः) सर्व साक्षी विश्वकर्माने पहिले अपने सब भूतोंका यज्ञ किया और पश्चात् अपने आत्माका यज्ञ करनेके लिये (न्यसीदत्) बैठ गया। वह (आशिषा) अपनी शुभेच्छासे सबको धन प्राप्त हो ऐसी इच्छा करता हुआ, यद्यपि वह (प्रथमच्छद्) मुख्य स्थानमें रहनेका अधिकारी था, तथापि (अ-वरान् आविवेश) नीच स्थानमें रहने वालोंके पास पहुंचा।" इस प्रकार उसने यज्ञ किया।

आत्मयज्ञ यही है। यह जगत् परमेश्वरका घर है और ये सब भूत उसके हैं। इस परमेश्वरने इस अपने सब ऐश्वर्यका यज्ञ किया। पहिले उसने ये सब भूतमात्र, पदार्थमात्र, सब की भलाई के लिये सौंप दिये, अर्पण किये और पश्चात् उस सर्व साक्षी पिताने अपने आपको सबकी भलाई के लिये समर्पण कर दिया। इसमें उसकी शुभेच्छा यही थी कि सबको उत्तमसे उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो। इसी एकमात्र परोपकारकी कामनासे उसने, स्वयं परमोच्च स्थानमें विराजमान होने का अधिकार होते हुए भी, नीचसे नीच स्थानमें आकर निवास किया, ता कि सब भूत उन्नत हों, सब स्थानमें आनन्द रहे और सर्वत्र शान्ति

(७) अनासक्तसे कर्म।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

स्थापन हो। इस परमात्मा के आत्मयज्ञ का महान् आदर्श श्रीमद्भगवद्गीताके इस उपदेश में है। तथा आगे भगवद्गीतामें इसी अध्यायमें कहेंगे कि—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
भ० गी० ३।२२

"हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका नहीं है, जो प्राप्त करने योग्य है, वा न मिला हो ऐसा भी नहीं है, तथापि मैं यज्ञकर्म में लगा ही रहता हूं॥" यही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका आत्मयज्ञ हि है। पूर्ण आप्तकाम होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये कार्य में आत्मसमर्पण करनेका नाम आत्मयज्ञ है। यह यज्ञ स्वयंभु ब्रह्मने किया, विश्वकर्माने किया और भगवान् श्रीकृष्णने किया। इससे ब्रह्म विश्वकर्मा और श्रीकृष्ण इनका महत्त्व सब गाते हैं। जो इस तरह आत्मयज्ञ करेंगे, वे भी इसी तरह महत्त्वके भागी बनेंगे, वे श्रेष्ठ बनेंगे, वे स्वराज्य प्राप्त करेंगे और वे ही आधिपत्यके योग्य समझे जायंगे।

वेद और ब्राह्मणोंमें जिस आत्मसमर्पण रूप यज्ञका इसप्रकार वर्णन है, वही इस भगवद्गीताके इस श्लोकमें कहा है। परब्रह्म, विश्वकर्मा आदिके यज्ञपर संपूर्ण जगत् की स्थिति अवलंबित है। अतः जो मनुष्य उस परमात्मा के यज्ञ के साथ साथ अपना जीवन यज्ञमय करेगा वह भी उसी प्रकार श्रेष्ठ होगा। वही नरका नारायण बनेगा और पुरुषका पुरुषोत्तम बनेगा।

इस श्लोकमें पापी कौन बनता है और पुण्यात्मा कौन होता है, इसका उत्तम रीतिसे कथन हुआ है, वह विषय अब देखिये—

अघायु	पुण्यायु.
पापी जीवन	पुण्य जीवन.
इन्द्रियाराम	इन्द्रियसंयमी
यज्ञं नानुवर्तयति	यज्ञं अनुवर्तयति
स मोघं जीवति	स सफलं जीवति

जो मनुष्य अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है, इन्द्रियसंयम करता है, परमेश्वरीय महायज्ञमें आत्मार्पण करता है वही सफल जीवन व्यतीत करता है। इससे विपरीत जो स्वार्थका जीवन व्यतीत करता है, उसका साधनसंपूर्ण जीवन सुख पूर्ण है ऐसा यद्यपि कुछ समयतक दिखाई देगा, तथापि उसके पापी जीवनका भयानक दुष्परिणाम किसी न किसी समय उसको भोगना हि पडेगा इसमें तिलप्राय संदेह नहीं है।

कौन पुण्यात्मा है और कौन पापात्मा है, इस की परीक्षा करनेकी यही कसौटी है। जो सर्वभूतोंका हित करनेके लिये अपनी आहुती देता है वह पुण्यात्मा है और जो अपने हितके लिये सब भूतोंकी आहुती लेता है वह पापात्मा है। राक्षसी वृत्तिवाले पापात्माओंकी कुछ समय बडी चलती भी है, तथापि उससे मोहित होना योग्य नहीं है, कुछसमय ठहरनेसे पापात्माकी दुर्गति होनेका और यज्ञरूप जीवन करनेवाले पुण्यात्मा की शुभगति होनेका अनुभव आजाता है। इस लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपना जीवन यज्ञमय बनानेका यत्न करे, और अपने जीवन को कृतकार्य बनावे. इसीविषयका प्रतिपादन आगेके तीन श्लोक करते हैं वह बोधप्रद विषय अब देखिये—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अन्वयः-यः तु मानवः आत्मरतिः एव, आत्मतृप्तः च, आत्मनि एव च सन्तुष्टः स्यात्, तस्य कार्यं न विद्यते॥१७ इह कृतेन तस्य अर्थः न एव, अकृतेन (अपि) कश्चन तस्य (अर्थः) न, (तथा) सर्व-भूतेषु च अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न ॥ १८ ॥ तस्मात् (त्वं) असक्तः (सन्) सततं कार्यं कर्म समाचर, हि पुरुषः असक्तः (सन्) कर्म आचरन्, परं आप्नोति ॥ १९ ॥

जो मनुष्य आत्मामेंहि रमता है, आत्मासेहि तृप्त होता है, और आत्मा में हि संतुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता ॥ १७ ॥ यहां जैसा कर्म करनेमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता, वैसाहि कर्म न करनेमें भी उसका कोई स्वार्थ नहीं होता है। उसी प्रकार सब भूतोंसे भी उसका कोई निजी स्वार्थका संबंध नहीं होता है॥१८॥ इस कारण तू संगरहित हो कर निरन्तर कर्तव्य कर्म करता रह। आसक्तिरहित होकर कर्मका आचरण करनेवाला मनुष्यहि परम पदको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— जिसकी रति, तृप्ति और सन्तुष्टी किसी बाह्य पदार्थपर अवलंबित नहीं है, परंतु वह उसको अपने अन्दरही अन्दर प्राप्त होती है, उसकेलिये कोई कर्तव्य करनेका अवशिष्ट नहीं होता है। अर्थात् वह कृतकृत्य हुआ होता है ॥ इसकारण कर्म करनेसेभी उसको कुछ प्राप्तव्य नहीं होता और न करनेसेभी उसकी कुछ हानी नहीं होती, उसके लिये कर्म करना अथवा न करना समान हि होता है; क्योंकि किसी बाह्य वस्तुके साथ इसके निजी स्वार्थका संबंध स्वल्पभी नहीं होता। वह अपने अन्दर पूर्णताका अनुभव करता है॥ इसकारण मनुष्य आसक्ति छोडकर कर्म करता रहे, क्योंकि संग छोडकर कर्मका आचरण करनेवाला मनुष्यहि परम श्रेष्ठ मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ १७—१९ ॥

मनुष्यकी कृतकृत्यता।

(१७-१९) जबतक मनुष्यकी तृप्ति, सन्तुष्टि और रतिके लिये बाह्य पदार्थोंकी और बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है, तबतक वह कृतकृत्य हुआ नहीं होता। प्रत्येक साधारण मनुष्य अपने अन्दर अपूर्णता, न्यूनता अथवा कमीका अनुभव करता है, और रातदिन उसकी पूर्णता करनेके यत्नमें तत्पर रहता है। इसीलिये इसको कर्म करना अत्यंत आवश्यक होता है। क्योंकि कर्मके विना सुखके साधन इसको नहीं प्राप्त होते और सुखसाधनोंके अभावमें यह दुःखोंसे सदा तडफता रहता है। मनुष्यकी अपूर्णताका यही लक्षण है कि, वह सदा अतृप्त रहता है, असंतुष्ट दीखता है और सतत बेचैनसा रहता है। रातदिन कर्म करता है, आसक्तिसे भोगोंके साधन अपने पास इकट्ठे करता है, एक भोगके बाद दूसरा भोग, दूसरेके पश्चात् तीसरा इस प्रकार विश्राम न लेता हुआ भोगोंमें रत

होता है। कर्मोंसे भोग साधनकी प्राप्ति, भोग साधनोंसे भोग और भोगोंसे क्षणिक सुख, सुख के पश्चात् फिर दूसरे भोगोंके लिये कर्म, इस प्रकार कर्मभोगके चक्रमें साधारण मनुष्य सदा फंसता है। इस चक्रसे बाहर होना इसको अशक्यसा होता है। ये सब स्वार्थके हेतुसे कर्म हैं जिनमें साधारण मनुष्य फंसता है। अपने निजी भोगोंमें फंसनेसे मनुष्य सदा गिरता जाता है और अनेकानेक यातनाओंमें त्रस्त होता है इसकी इन यातनाओंमेंसे मुक्ति होनेके लिये क्या उपाय किया जाय इसका विचार शास्त्रकारोंने किया है, वे कहते हैं कि बाह्य पदार्थों अथवा बाह्य भोगोंपरसे आसक्ति हटानेसे अपने आत्मामें हि उन सब भोगोंकी प्राप्ति उसको होती है, वैसाही सिद्ध पुरुष (आत्म-रतिः) आत्मामेंहि रत होता है, अपने आत्माके साथ वह क्रीडा करता है, आत्माके साथहि वह खेलता है और जो आनन्द साधारण लोग दूसरेके साथ क्रीडा करनेसे प्राप्त कर सकते हैं वह आनन्द अथवा उससे भी अपूर्व आनन्द उसको अपने आत्माके साथ क्रीडा करनेसे मिलता है। इसी विषयमें उपनिषदोंमें इस प्रकार कहा है—

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति॥ छां० उ० ७।२५।२

"आत्मा का आदेश ऐसा है-आत्मा नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दायीं ओर तथा बाईं ओर है। आत्माही यह सब है। जो ऐसा देखता है, ऐसा मानता है, और ऐसाही अनुभव करता है वह (आमरतिः) आत्मामें रमनेवाला, (आत्मक्रीडः) आत्माके साथ क्रीडा करनेवाला, (आत्ममिथुनः) आत्मासेहि दूसरेके संबंधसे प्राप्त होनेवाला सुख प्राप्त करनेवाला होनेके कारण उसको (आत्मानन्दः) आत्मासेहि सब आनन्द प्राप्त होते हैं। ऐसा मनुष्य (स्वराट्) पूर्ण स्वतंत्र अर्थात् पूर्ण मुक्त होता है और सर्व लोकोंमें यथेच्छासे संचार करनेवाला होता है। परंतु जो इससे भिन्न ज्ञान अपने पास रखते हैं, (अन्य-राजानः) वे दूसरेके आधीन अर्थात् परतंत्र होते हैं, उनका क्षय होनेवाला लोक होता है और ऐसे लोगोंकी गति सब लोकोंमें नहीं होती।" इस स्थानपर "आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मानन्द, स्वराट्" ये शब्द हैं। गीताके 'आत्मरति' शब्दका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये यह उपनिषद्वचन बहुतहि उपयोगी है। तथा और देखिये—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥

मुण्डक ३।१।४

शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः॥ नृ० उत्तर० ६

"यह प्राण (आत्मा) हि सब भूतोंके साथ प्रकाशता है, इसप्रकार जानता हुआ मनुष्य अधिक वक्तृत्व नहीं करता। वह आत्माके साथ क्रीडा करता है, आत्मामें रमता है, आत्माकी कर्मशक्तिसे युक्त होकर वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ होता है॥ वे शान्त, संयमी, वैराग्यसंपन्न, क्षमावान्, समाहित, आत्मरत, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, और आत्मानन्द होते हैं।" तथा और देखिये—

अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्।

बृ० ४।३।२१

अकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः॥ नृसिं० उत्त० ५ बृ० ४।४।६

" जब यह पुरुष प्राज्ञ आत्मासे घेरा जाता है तब उसको बाहरके विषयोंका ज्ञान नहीं होता और न अन्दरके विषयोंका। इसलिये यह रूप (शोकान्तरं) शोकरहित अवस्था है और इसको आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम, निष्काम कहते हैं।" इत्यादि वचन हैं जिनका मनन करनेसे 'आत्मरत' शब्दका आशय ध्यानमें आसकता है। यह आत्मरति तब होगी जब यह (अकामयमानः) कामना न करेगा, (अकामः) कामनारहित होगा, (निष्कामः) निष्कामभाव अर्थात् निजी स्वार्थकी कामना छोड देगा, (आप्तकामः) आत्माकीहि कामना करेगा, (आप्तकामः) जिसकी सब कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं, जो (आत्मक्रीडः) आत्माके साथहि खेलता है, जो (आत्मानन्दः) आत्माके आनन्दमें मस्त रहता है. जो (आत्ममिथुनः) आत्मामेंहि जिसको दूसरे पदार्थके संबंधसे प्राप्त होनेवाले आनंद मिलते हैं। ये सब शब्द मनमें रखने और विचार करनेसे 'आत्मरति' का अर्थ ठीक तरह ध्यानमें आवेगा। " आत्मतृप्त " और " आत्मनि एव संतुष्टः " इनका अर्थ भी पूर्वोक्त शब्दोंके अर्थोंमें आचुका है। विशेषतः " आत्मानन्द, आत्ममिथुन, आत्मक्रीड " इनके अर्थोंके साथ इनके अर्थ संगत होते हैं।

" आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टी " इन तीन शब्दोंमें क्रमशः उत्तरोत्तर अवस्थाका निर्देश है। आत्मरति वह है कि जो एक वार आत्मसाक्षात्कार और आत्मशक्तिका अनुभव आनेपर वही साक्षात्कार सतत रहनेके लिये इच्छा होती है और उसीके लिये प्रयत्न होता है। इसमें मनुष्य रममाण तो होता है परंतु यह अवस्था पहिली होनेके कारण कुछ अनुभवकी अस्थिरता रहती है। इसका अभ्यास सुदृढ होनेपर साधकको दूसरी अवस्था प्राप्त होती है जो आत्मतृप्तिकी अवस्था है। इसमें इसको तृप्त होनेका अनुभव आता है, इससे अधिक कुछ नहीं चाहिये, ऐसा उसका निश्चय होजाता है। आत्मरति प्रयत्नसाध्य थी, उसके बादकी यह आत्मतृप्ति सुसाध्य होती है। इसके पश्चात् 'आत्मसंतुष्टि' की अवस्था है जिसमें विना आयास सहज और स्थायी संतोष इसको मिलता है। यह परमोच्च अवस्था है। यह अवस्था प्राप्त होनेपर इसका कोई क्षण इस सन्तोषवृत्तीसे खाली नहीं रहता अर्थात् यह सन्तोष उसका सहज और चिरस्थायी अथवा निज होता है। इस श्लोकमें ये जो तीन शब्द हैं वे इस प्रकारके तीन अवस्थाओंके वाचक हैं, अर्थात् ये पर्याय शब्द नहीं हैं। स्थिरसंतोषवृत्ति होनेके पश्चात् (तस्य कार्यं न विद्यते) उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि वह सिद्ध पुरुष होता है। सिद्ध पुरुष बनानेतक कर्तव्य कर्म करना आवश्यक होता है, एकवार परमपद प्राप्त होकर सहज सन्तोष वृत्ति स्थिर होगई, तो उसके पश्चात् किस लिये कर्म करना होगा ? जो जो सब साध्य हैं उनकी पूर्ण सिद्धता होनेपर और एक भी साध्य अवशिष्ट न रहनेपर कर्तव्य कर्म नहीं रहता, यह बात स्वयं स्पष्ट हो सकती है। यही बात अगले श्लोकमें कही है।

(कृतेन तस्य अर्थः न) कर्म करके कुछ अपना स्वार्थ प्राप्त करना है ऐसी बात नहीं, तृप्ति और संतुष्टी होनेपर इसका कोई स्वार्थ रहनेकी संभावनाहि नहीं है, इसलिये कुछ प्राप्तव्य अवशिष्ट न रहनेके कारण निजी स्वार्थके लिये कर्म करनेकी आवश्यकताहि नहीं होसकती। कर्म करनेसे उसको कुछ लाभ होगा अथवा उसकी न्यूनताकी पूर्ति होगी ऐसी भी बात नहीं। यहां कोई कहेगा कि जैसा वस्त्र निर्मल होनेके पश्चात् भी उसकी निर्मलता स्थिर रखनेके लिये उसको वारंवार धोना पडता है; उसी प्रकार आत्मसंतुष्टी प्राप्त होनेके पश्चात् वह स्थिर रखनेके लिये उसको कर्म करने पडेंगे और यदि वह ये कर्म न करेगा, तो उसकी आत्मसन्तुष्टीकी अवस्था हटेगी; परंतु

यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि (अकृतेन अपि तस्य अर्थः न) कुछ कर्म न करनेसे भी उसकी कुछ हानी नहीं है। एकवार आत्मसंतोष की अवस्था प्राप्त होनेपर, उसकी वह स्थिर रहती है और कभी कम नहीं होती; अतः कम न होनेके कारण उसकी स्थिरताके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

कर्म करनेसे उसको कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं होती और कर्म न करनेसे उसकी कुछभी हानि नहीं हो सकती। इसीलिये दोनों अवस्थाओंमें यह आत्मसन्तुष्ट मनुष्य एकरूप रहता है। जैसा "महासागर (भ० गी० २।७०) अनंत नदियोंसे उसमें पानी भरनेपरभी भरता नहीं और अवर्षण होनेपर भी सूखता नहीं" उसी प्रकार यह पूर्ण पुरुष अथवा सिद्ध पुरुष कर्म करनेपर अथवा न करनेपर एक जैसाही रहता है, इसीलिये उसको आत्मसन्तुष्ट कहते हैं। इसकी सन्तुष्टी किसी बाह्य हेतुसे नहीं होती, परंतु अन्दरहिसे होती है। आत्मा उसके पास सदा रहताहि है, इसकारण आत्मासे प्राप्त होनेवाला संतोष उसको सदा प्राप्त होता है। जब अन्दरसेहि आनन्द का स्रोत बहने लग जाय, तो फिर उसके पास किस बातकी न्यूनता होगी? कोई न्यूनता नहीं होती, इसीकारण उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह सकता।

जो सिद्ध पुरुष होता है (सर्वभूतेषु अस्य अर्थव्यपाश्रयः न) उसका स्वार्थ किसीभी वस्तुसे संबंधित नहीं होता। साधारण लोगोंको तो यह अनुभव है कि, उनको जगत् के विविधपदार्थ प्राप्त करनेसे और उनके भोग भोगनेसे सुख मिलता है। परंतु जिसको आत्माका साक्षात्कार हुआ और सहजहि आत्मसंतोष प्राप्त हुआ, उसके सब आनन्द उसको आत्मासेहि प्राप्त होते हैं, देखिये—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्मात्मत एवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति० ॥ २ ॥

छां० उ० ७।२६

"इस प्रकार आत्मानुभव लेनेवालेको आत्मासेहि आशा, स्मरण, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मंत्र, कर्म, और सब कुछ प्राप्त होता है। इस विषयमें ऐसा श्लोक है— इस आत्माका दर्शन करनेवालेको मृत्यु, रोग और दुःख नहीं होता। वह सब देखता है, और सब प्रकार सबको प्राप्त करता है॥" यदि उसको आत्मासेहि, अपने अंदरसेहि, सब कुछ प्राप्तव्य आनन्द प्राप्त होता है, तो फिर उसको किस उद्देश्यसे कर्म करनेकी आवश्यकता होगी? इसी लिये पूर्व श्लोकमें कहा है कि (तस्य कार्यं न विद्यते) उसके लिये कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहता, वह कृतकृत्य होता है, वह पूर्ण बनता है।

यह पूर्णता किस तरह प्राप्त होती है? इस प्रश्नका उत्तर अगले श्लोकमें दिया है। उसमें कहा है कि (असक्तः कार्यं कर्म समाचर) आसक्ति छोडकर कर्तव्य कर्म कर। आसक्ति छोडकर कर्म करनेवाला परम पदको प्राप्त करता है। (परं आप्नोति) पर अर्थात् उच्च अवस्था प्राप्त करता है। असक्त होकर कर्म करनेके विषयमें इसी अध्यायमें श्लो० १०-१६ तककी व्याख्यामें विशेष विवरण किया है। पाठक यह विषय वहां विशेष रूपसे देखें। यहां फल अपने लिये न लेकर उसका जनताके हितार्थ त्याग करनेका नाम आसक्ति छोडना है, इसीका नाम परार्थ, परमार्थ है। और

फल अपने लिये हि रखनेका नाम स्वार्थ है। फल का भोग स्वयं करनेसे परमपद नहीं प्राप्त होता, परंतु उसका यज्ञ करनेसे अर्थात् जनहितके लिये अर्पण करनेसेहि परमपद मिलता है।

साधारण मनुष्य जो सिद्ध नहीं बना, उसके लिये उचित है कि वह 'फलका त्याग' करनेको सीखे। फलका त्याग करनेसेहि मनुष्यकी पूर्णता होती है। फल अपने भोगके लिये रखनेसे आत्माकी शक्ति संकुचित होनेके कारण गिरावट होती है, और फलपर अनासक्ति रखनेसे अर्थात् फलका यज्ञ करनेसे किंवा फल का जनताकी भलाई के लिये समर्पण करनेसे इसके आत्माकी शक्ति बढती है। अनासक्ति, त्याग आदिके विषयमें भ० गी० अ० २ श्लो ४९ से अन्ततक की संपूर्ण व्याख्या पढिये। वहां अनासक्ति का विषय बहुत विस्तार से कहा है।

भ० गी० अ० ३ श्लोक १८ के समान उपदेश अन्यशास्त्रों में भी है वह अब देखिये—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥

योगवा. ६ उ० १९९।४

"ज्ञानीको कर्मोंका त्याग करनेसे कोई प्रयोजन नहीं होता है, और कर्मोंके करनेसेभी कोई प्रयोजन नहीं होता। वह जहां जैसी अवस्थामें रहता है वहां वैसी अवस्थामें जो जो कर्म आ पडे वह वैसाहि करता है।" तथा और इसी उपदेशके उपसंहार में कहा है—

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥

योगवा० ६ उ० २१६।१४

"कर्म करनेसे मुझे कुछभी प्राप्तव्य नहीं है और न करने से भी नहीं है। कर्म करना और न करना मेरे लिये एक जैसा है। जो प्राप्त होता है उसे मैं करता हूं, कर्म न करनेका भी आग्रह क्यों धरा जाय?" यहां पाठक देखें कि, इन दोनों श्लोकोंके पूर्वार्ध "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन" इस गीता के श्लोकार्धके समानहि है। केवल शब्दोंका भेद है, परंतु अर्थ का भेद कोई नहीं है। और देखिये—

किंचिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा।
अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः॥

गणेशगीता. २।१८

"सब प्राणियोंके द्वारा उस ज्ञानी पुरुषको कुछ प्रयोजन सिद्ध करना नहीं होता, अतः लोगोंको अपने अपने कर्तव्य आसक्ति छोडकर हि करने चाहिये।"

इस तरह गीताके सिद्धान्तोंके समानहि उपदेश अन्यान्य शास्त्रों में पाया जाता है। इन श्लोकोंकी तुलना करनेसे भगवद्गीताके इस (३।१८) श्लोक का अर्थ भी खुल सकता है। अस्तु।

श्रेष्ठ अवस्था, मुक्ति, परमपद, परमआनन्द, आत्मसन्तुष्टि आदि सब जो मनुष्यके प्राप्तव्य हैं उनको प्राप्त करनेके लिये अनासक्तिसे कर्म करने की आवश्यकता है। मनुष्य भोगोंपर और फलोंपर जितनी मर्यादातक अनासक्ति धारण करेगा उतनीहि मर्यादातक उसकी उन्नति होगी। कई लोग कहते हैं कि फलपर आसक्ति नहीं रही तो मनुष्यसे कर्महि नहीं होगा। परंतु यह बात साधारण भोगी मनुष्यके विषयमें ऐसीहि है। जो मनुष्य उच्च कोटीके हैं वे तो स्वभावतः हि आसक्ति छोडे हुए होते हैं और यज्ञ करना उनका स्वभाव बनता है, उनका जीवन यज्ञरूप बनता है, वे जो कुछ करते हैं उसका उद्देश प्राणिमात्र की भलाई होता है। उनका यह धर्मही बनता है। जैसा सूर्यका धर्म और कर्म प्रकाशना स्वभावसे है, उसमें फलासक्तिका भाव थोडाभी नहीं है, उसी प्रकार प्राणिमात्रपर अनुकंपा करना उनका स्वभावधर्म होता है। उनके इन कर्मोंके लिये फलकी आसक्ति प्रेरक नहीं होती। वे तो स्वभावसेहि वैसे श्रेष्ठ कर्म अनासक्तिसे करेंगे और फलका समर्पण भी वैसाहि स्वभावसेहि होगा।

(८) जनकका उदाहरण।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वयः— हि जनकादयः कर्मणा एव संसिद्धिं आस्थिताः। (त्वं) अपि लोकसंग्रहं एव संपश्यन् कर्तुं अर्हसि ॥ २० ॥

जनक आदिकोंने भी कर्मसेहि परमसिद्धि प्राप्त की थी। उसीप्रकार तुझेभी लोकसंग्रहपर दृष्टी रखकर कर्म करना योग्य है ॥ २० ॥

भावार्थ— जनक, अश्वपति आदि पूर्वकालके लोगोंने भी इसीप्रकारके निष्काम कर्म करके उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इन पूर्वजोंका उदाहरण देखकर तथा लोकसंग्रह की दृष्टी धारण करके भी मनुष्यको कर्म करना अत्यंत योग्य है ॥ २० ॥

इस विषयमें कईयोंको संदेह होगा इसलिये भगवान् श्रीकृष्णहि अगले श्लोकोंमें कुछ उदाहरण देते हैं और संदेहनिवृत्ति करते हैं। इलिये अब अगले श्लोक देखिये—

(२०) पूर्वश्लोकमें अनासक्तिसे कर्म करने का उपदेश किया है। शाब्दिक उपदेश श्रवण करनेसे मनुष्यके मनमें योग्य परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिये उसको उदाहरण देने पडते हैं। किन मनुष्योंने अपने जीवन में यह उपदेश ढाल दिया था, और उनपर इस उपदेशका परिणाम कैसा हुआ था और उन के जीवनचरित्रसे उस समयकी जनतापर क्या परिणाम हुआ, इत्यादि बातें उदाहरणरूपसे जब बतायीं जाती हैं तब वह उपदेश शिष्यके मनमें जम जाता है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के मनपर "निष्काम कर्मयोग" किंवा "अनासक्तियोग"का उच्च तत्त्व स्थिर करनेके उद्देश्यसे जनक आदि पूर्वकाल के राजा महाराजाओंके उदाहरण देते हैं। जनक, अश्वपति आदि इतिहासप्रसिद्ध पुरुषोंने इसी अनासक्तियोग का आचरण करके परम सिद्धि प्राप्त की थी। उनके उदाहरण सामने रखकर, हे अर्जुन! तू भी वैसा आचरण करके वह परम सिद्धि प्राप्त कर। यदि जनक को यह निष्कामयोग सिद्ध हुआ, तो दूसरे मनुष्यको भी वह साध्य होसकता है। इस तरह प्राचीन पुरुषोंके जीवन चरित्रोंका विचार करके अपने जीवन में योग्य रीतिसे परिवर्तन करना अत्यंत उचित है।

और भी एक प्रबल हेतु है। मनुष्यमें गतानुगतिकत्व रहता है, इस कारण जैसा एक प्रतिष्ठित मनुष्य आचरण करता है वैसा उसके अनुयायी करने लगते हैं। विशेषतः दोषोंका अनुकरण तो शीघ्र करते हैं, और गुणोंका भी करते हैं प्रतिष्ठित पुरुषोंपर यह जिम्मेवारी होती है, इसलिये उनको उचित है कि वे अपने आचरण शास्त्रमर्यादा के अनुकूल रखें। क्यों कि इन्होंने अशुद्धाचरण किया, तो उसका बुरा परिणाम उनके अनुयायियोंपर होगा। एक मनुष्य का अयोग्य आचरण हुआ तो कोई दोष नहीं है, परंतु उसके दुराचार से यदि उनके सहस्रों अनुयायियोंका बिगाड होने लगा, तो उसका विशेष विचार करना चाहिये।

अर्जुन एक प्रसिद्ध वीर पुरुष था। उसके प्रभावके अन्दर लाखों मनुष्य थे। अतः जो कार्य

अर्जुन करेगा वैसाहि उसके लाखों अनुयायी करने लगेंगे। इस समय अर्जुन युद्धसे निवृत्त हो रहा था। इस युद्धनिवृत्तीका अर्जुनके मनका हेतु संभवतः उच्च अनुकंपाही होगा, परंतु उसके सब अनुयायी यह अन्तरिक बात जान नहीं सकते। वे तो अर्जुनका युद्धसे निवृत्त होनाही देखेंगे और उससे अनुमान करेंगे, कि अर्जुनके अनुसार हम भी युद्धसे पीछे हटेंगे। इसप्रकार बाह्य अनुकरण बडा विनाशक होता है। अतः नेता अग्रणी लोगोंको उचित है कि वे इस जनताकी प्रवृत्तीको जानकर अपना आचरण ऐसा रखें की जिससे अनुयायियोंमें अयोग्य कर्म करनेकी ओर प्रवृत्ति न हो। इस दृष्टीसेभी अर्जुनको युद्धभूमिसे पीछे हटना योग्य नहीं है, प्रत्युत युद्धमें स्थिर रहकर उचित पराक्रम करनाही योग्य है। जिससे इसके अनुगामी लोग उसीप्रकार पराक्रम करेंगे और सबके मिलकर किये पराक्रमसे धर्मके पक्षका विजय होगा।

लोकसंग्रह।

इससेभी और एक विशेष हेतु है जिस कारण अर्जुनको युद्धसे निवृत्त होना अयोग्य है। वह हेतु है "लोक संग्रह" करना। 'लोकसंग्रह' का अर्थ है "(१)(लोक-) लोगोंका, जनताका(सं-) सम्यक् रीतिसे, उचित पद्धतिसे (ग्रह) धारण करना; संघटन करनाः (२) जनताकी भलाई, राष्ट्रकी उन्नति, जगत्का सुधार, मनुष्यमात्र को सन्मार्गपर लाना; (३) जनताकी रक्षा, राष्ट्रका संरक्षण; (४) लोगोंकी संघटना, राष्ट्रीय संघटना; (५) जनताको उच्च मार्गसे चलाना, उनका अभ्युदय करना। इ०।" इसका नाम "लोक-संग्रह" है। इस लोकसंग्रह का कार्य करना भी लोगोंका कर्तव्य है। विशेषतः विशेष अधि-कार पर जो होते हैं उनका तो निःसन्देह कर्तव्य है। वस्तुतः हरएक मनुष्य को यथाशक्ति लोक-संग्रह करना ही चाहिये। परन्तु परमेश्वरकी कृपासे जिनकी योग्यता विशेष उच्च है, उनको तो अपना आचरण "लोकसंग्रह" का विचार करके हि करना चाहिये। मेरे इस आचरण से लोकसंग्रह होगा या न होगा, इसका विचार करके, जिस आचणरसे लोकसंग्रह होगा, उस कार्यको अवश्य करना चाहिये। इसलिये यहां कहा है कि, (लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन् कर्तुं अर्हसि) लोकसंग्रहपर दृष्टि रखकर भी तुझे कर्म करना योग्य है। यदि तुझे स्वयं कुछ प्राप्तव्य नहीं है, तोभी लोकसंग्रह के लिये तुझे कर्म करना योग्य है। कर्म करने और न करनेसे किसीका कुछ हानि लाभ नभी होता हो, तथापि इस लोकसंग्रहका भार उसपर होनेके कारण उसको दक्षतासे कर्म करना योग्य है। यही बात महाभारतमें कही है—

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान्।
म० भा० उद्यो० ५१।५४

[नीलकंठी टीका— लोकव्यवहारान्पश्यन्तः लोकमध्ये स्थिताः सन्तः।]

"ऋषि लोग लोकसंग्रहका विचार करकेहि मुक्त हुए थे।" अपने शास्त्रोंमें लोकसंग्रहका विषय विशेष महत्त्वका स्थान रखता है। देखिये इस विषयमें महाभारतमें कहते हैं—

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥
म० भा० शां० २५८।२५

"लोकसंग्रहकारक तथा सूक्ष्म प्रसंगोंपर धर्मार्थका निश्चय करानेवाला सत्पुरुषोंका उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेवनेहि बनाया है।" इस तरह लोकसंग्रहका महत्त्व आदिकालसे आर्यशास्त्रोंमें वर्णन किया है। सब जनता का हित करने के लिये आत्मसमर्पण करने की जो उत्तम कल्पना "लोकसंग्रह" शब्दसे व्यक्त होती है वैसी किसी अन्य शब्दसे या अन्य भाषाके किसी शब्दसे नहीं होती। अथर्ववेदमें ब्रह्मचर्यकी समाप्तिपर लोकसंग्रहका कार्य करने की आज्ञा है, वह यहां देखना योग्य है—

(९) लोकसंग्रह ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥
न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अन्वयः—यत् यत् श्रेष्ठः आचरति, तत् तत् एव इतरः जनः (आचरति)। सः यत् प्रमाणं कुरुते, लोकः तत् अनुवर्तते ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! (यद्यपि) मे त्रिषु लोकेषु किंचन कर्तव्यं न अस्ति, अनवाप्तं अवाप्तव्यं च न(अस्ति, तथापि) अहं कर्मणि वर्ते एव ॥ २२ ॥

जैसा श्रेष्ठ पुरुष आचरण करते हैं, उसी प्रकार अन्य लोग भी आचरण करते हैं। वह पुरुष जो प्रमाण बताते हैं, लोग उसीका अनुसरण करते हैं ॥२१॥ हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहा है, और कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेकी रह गई है, ऐसा भी नहीं है; तथापि मैं कर्म करता ही रहता हूं ॥ २२ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ अथर्व. ११।५(७)।६

"बडी दाढी मूंछवाला दीक्षित ब्रह्मचारी समिधाओंसे तैयार होकर [पढाई की समाप्ती-पर] पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक भ्रमण करके (लोकान् संगृभ्य) लोकसंग्रह- जनताके हितके कार्य-करता हुआ, लोगोंसे (मुहुः आचरिक्रत्) वारंवार धर्म के आचारों का ग्रहण कराता है।" अर्थात् ब्रह्मचारी विद्यासमाप्तिके पश्चात् लोकसंग्रह करनेके लिये देशदेशान्तरमें भ्रमण करता है, वहां के लोगोंको धर्मोपदेश देकर सुधारता है और संगठित करता है, तदुपरान्त घरमें आकर गृहस्थाश्रमका स्वीकार करता है, इतना लोकसंग्रहका महत्त्व वैदिकधर्ममें माना है।

इसी विषयमें आगेके चार श्लोक हैं, जिनमें श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं अपना उदाहरण देकर इसी लोकसंग्रहका महत्त्वपूर्ण उपदेश करते हैं। यह मनोरंजक कथाभाग अब देखिये—

श्रेष्ठ लोगोंका उत्तरदायित्व ।

(२१-२४) श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरणहि अन्य साधारण मनुष्योंको धर्ममार्गका दर्शक हुआ करता है। उत्तम लोग जैसा व्यवहार करते हैं, अन्य लोग उसको देखते हैं और वैसा आचरण करने लगते हैं। अर्थात् साधारण लोगोंकी प्रवृत्ती अन्धानुकरण में विशेष होती है। अतः यदि श्रेष्ठ लोगोंके आचरणमें थोडा दोष हुआ तो उनके आनुयायियोंमें वही दोष बढ जाता है। सत्कर्मका अनुकरण करना कठिन कार्य है, परंतु दोषोंका अनुकरण सुगम है। श्रेष्ठोंके सद्गुण उनकी महातपस्यासे उनमें बढे होते हैं और उनके दोष उनकी कमजोरीके कारण उनमें होते हैं। अर्थात् दोषोंका अनुकरण करना अज्ञानियोंकी निर्बलताके कारण उनको सहज होता है और सद्गुणोंका अनुकरण करना तपस्याके अभावके कारण साधारण लोगोंको असंभव होता है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंपर बडा उत्तरदायित्व होता है।

यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय— यदि हि अहं अतन्द्रितः (सन्) कर्मणि जातु न वर्तेय, (तर्हि) हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥ २३ ॥ अहं कर्म न कुर्यां चेत् इमे लोकाः उत्सीदेयुः, संकरस्य च कर्ता स्याम्, इमाः प्रजाः च उपहन्याम् ॥ २४ ॥

यदि मैं कदाचित् आलस्य छोडकर कर्म में न लगा रहूं, तो हे पार्थ ! लोग भी सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार ही चलने लग जायगे ॥ २३ ॥ यदि मैं कर्म न करूंगा, तो ये लोग भी नष्ट भ्रष्ट हो जायगे, मैं सङ्कर का कर्ता होऊंगा और इन प्रजाजनोंका नाश करनेवाला भी मैं बनूंगा ॥ २४ ॥

भावार्थ- श्रेष्ठ लोग जैसा व्यवहार करते हैं अन्य साधारण लोग भी वैसा ही व्यवहार करते हैं । श्रेष्ठोंके आचरण का दूसरे लोग सदा अनुकरण करते रहते हैं । श्रेष्ठ लोग जिसको प्रमाण मानते और बताते हैं, अन्य लोगभी उसीको प्रमाण मानते हैं । उत्तम पुरुषोंको करनेका कुछ भी कार्य अवशिष्ट नभी रहा, तोभी उनको कर्म करनेमें दत्तचित्त होना चाहिये । यदि वे कर्म में दत्तचित्त न रहे, तो दूसरे लोगभी उनका अनुकरण करेंगे और कुछ कर्म न करनाहि अपना ध्येय बनायेंगे । इस तरह साधारण लोग आलसी बनेंगे और आलस्य से नाशको प्राप्त होंगे, अथवा संकरके दोषसे दूषित होंगे । इस समाजके नाशका दोष श्रेष्ठ लोगोंके कर्म न करनेपर है । अतः समाजहितकी दृष्टीसे श्रेष्ठ पुरुषोंको जनहितके लिये कर्म अवश्य करना चाहिये ॥ २१-२४ ॥

यहां ही अर्जुनके पक्षमें देखिये । अर्जुनका सव्यसाचित्व अन्य मनुष्योंके लिये अनुकरण करना असंभव है, क्योंकि वह बहुत अभ्याससे सिद्ध होनेवाला है । परंतु अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है, यह देखकर हरएक मनुष्य युद्धसे निवृत्त हो सकता है; क्योंकि यह सहजही में हो सकता है । अर्थात् अन्य साधारण लोग जो अर्जुनका अनुकरण करेंगे, वह उनकी धनुर्विद्या में नहीं,प्रत्युत उनकी युद्धनिवृत्तीमें। प्रायः अनुकरण करनेवालोंकी प्रवृत्तीहि ऐसी होती है । अनुकरणकी प्रवृत्ती निर्बलताकी ही द्योतक है, और निर्बल मनुष्य बलवाले कार्य कभी कर नहीं सकते । इसी लिये श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि अपना अन्धानुकरण साधारण लोग करेंगे, यह जानकर अपना आचरण विचारपूर्वक करें, ताकी जनता अन्धानुकरण करनेभी लगी तोभी वह सुधारके मार्गमें चले और कभी गिरावटकी ओर न झुक सके ।

युरोपके राजवंशका एक उदाहरण है, कि एक महाराज्ञी किसी पांवमें फोडा होनेके कारण और पांवमें दुःख होनेके कारण हाथमें यष्टि पकडकर लंगडती हुई चलने लगी । ऐसा चलना तो उनके लिये उस समय अत्यंत आवश्यक हो गया था । परंतु उनका चलना देखकर वहांकी अन्य अच्छी स्त्रियां हाथमें सोटी लेकर वैसीहि लंगडने लगीं!! और अबतब वह महाराज्ञी अच्छी नहीं हुई,तब-

तक वहांकी सैंकड़ों स्त्रियोंमें लंगडते हुए चलने की "फैशन" बन गई थी। इसका नाम है अन्धानुकरण। सर्वसाधारण मनुष्योंमें यह ऐसा-ही हुआ करता है। इसी लिये उपनिषद् में कहा है—

यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः॥

तै० उ० शि० ११।२-४

"जो हमारे अनिंद्य कर्म होंगे, उनका ही तू सेवन कर, इतर अर्थात् निंद्य कर्मोंका अनुकरण न कर। जो हमारे सुचरित हैं, उनको तू उपासना कर, हमारे कुचरितोंका अनुकरण न कर। जब तुझे कर्म और आचरणके विषयमें तुझे कभी सन्देह उत्पन्न हो जाय, तो वहां जो धार्मिक सत्पुरुष होंगे, वे जैसा आचरण करेंगे, वैसा वहां तू आचरण कर।" अर्थात् श्रेष्ठ सज्जनोंके सुचरितोंका अनुकरण तू कर और कभी कुचरितोंका अनुकरण न कर। महाभारतमें नारायणीयाध्यायमें यही बात कही है—

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम्॥२४॥
आत्मानं नार्चयेत्कश्चिदिति मे भावितात्मनः॥
मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते॥२५॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि-"यदि वरदाता महेश्वर शिवकी मैं पूजा न करूं तो मेरे आत्माकी भी पूजा कोई नहीं करेगा। सब लोग मेरे स्वीकार किये प्रमाणका ही अनुकरण करते हैं।" यदि श्रीकृष्ण भगवान् स्नान संध्या और देवपूजा न करेंगे, तो जगत् के लोग भी इन कर्मोंसे विमुख हो जांगये। यह उत्तरदायित्व नेता लोगोंपर है, इस लिये उनको उचित है कि, वे अपना आचरण उत्तम और निर्दोष रखें।

भगवान् श्रीकृष्ण यहां अर्जुनको अपना उदाहरण देते हैं। पहिले जनक राजा (अश्वपति राजा) आदिका उदाहरण दिया है। उनके विषयमें अर्जुन शंका करेगा कि जनक राजा आदि तो पूर्व कालके राजालोग थे, कौन जान सकता है कि उन्होंने सचमुच ऐसा ही आचरण किया था, और अन्य प्रकार नहीं किया था, उन के चरित्रलेखकोंने उनके चरित्रों में न्यूनाधिक लिखा होगा। कविलोग निरंकुश होते हैं और वे वर्णन करते जाते हैं। अर्जुन के मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना संभव है, इसलिये अर्जुन के सामने अपना ही उदाहरण रखते हैं। वे कहते हैं — हे अर्जुन! अन्योंके उदाहरण तो अलग रखो, और मेराहि आचरण देखो। मुझे इस त्रिलोकी के अन्दर मिलनेवाले सब आनन्द और सुख प्राप्त हैं, मैं सदा तृप्त और आप्तकाम हूं। मुझे कोई प्राप्तव्य वस्तुहि नहीं है। इस कारण मैं कृतकृत्य हूं। अतः मेरे लिये कुछ कर्तव्य अवशिष्ट रहा है ऐसा तो नहीं है। इस तरह कृतकृत्य होनेपरभी मैं सदा कर्म करताही हूँ। यह जो मैं कर्म कर रहा हूं, यह तेरा सारथ्यकर्म करता हूं, धर्मराज के घरके कार्य करता हूं, दुष्टोंका निर्दलन और सज्जनोंका परिपालन करता हूं, धर्मसंस्थापनाके लिये यत्नवान हूं, बालपनसे मैं जो इसी कार्यमें निरलसवृत्तीसे लगा हूं, वह इससे मुझे कुछ प्राप्त करना है इसलिये नहीं। मैंने ये सब कर्म किये अथवा न किये तो भी मेरे आनन्दमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होगा। तथापि मैं जो ये कर्म कर रहा हूं, वह केवल लोकसंग्रह पर दृष्टी रखकर हि कर रहा हूं।"

"क्यों कि यदि मैं इस प्रकारके कार्य न करूंगा और प्रबल पुरुषार्थ करनेमें दत्तचित्त न होऊंगा, तो सब लोग मरा अनुकरण करेंगे। मैं कृतकृत्य आप्तकाम और सब प्रकारसे सुखी और आनंदी होनेके कारणही यदि कर्म करनेसे निवृत्त हुआ, तो भी लोग— जो इस समय सब

प्रकारसे दुःखी, परतंत्र, त्रस्त और संकटोंसे ग्रस्त हैं,- वे भी मेरा अनुकरण करके कर्मसे निवृत्त होंगे। और प्रतिदिन अधिक दुःखसागर में डूबते जांयगे। मैं तो सब प्रकारसे आप्तकाम होनेसे कर्मसे निवृत्त हुआ था, परंतु यह बात तो अन्धानुकरण करनेवाले सामान्य जनोंके ध्यान में भी नहीं आवेगी, और वे मैं कर्मसे निवृत्त हुआ इसीलिये निवृत्त होंगे। इस तरह यदि इस राष्ट्रके सब लोग कर्महीन बनकर आलस्य में सडनेके कारण दुःखी होंगे, तो उनके दुःखका हेतु निसंदेह मैं बनूंगा। अतः लोगोंके इस असदनुकरण का दोष मुझे न लग जाय, इसलिये मैं तन्द्रारहित होकर दक्षतासे इन कार्योंको कर रहा हूं।"

"यदि मैंने कर्म करना छोड दिया तो इस प्रकार जनताका नाश होजायगा। किसी भी प्रकार उनका उद्धार नहीं हो सकता। और सबका संकर हो जायगा।"

संकरसे नाश।

"यदि कर्मत्यागसे संकर हो गया तो सब प्रजाओंका नाश होजायगा। और इस नाशका हेतु मैं बनूंगा। मैं तो कभी जनताके नाश का हेतु बनना नहीं चाहता, क्योंकि प्रजापालन का मेरा हेतु है। और इसीलिये मैं सदा ये श्रेष्ठ कर्म अहर्निश करता रहता हूं। हे अर्जुन! तू भी इस भारतवर्षमें श्रेष्ठ पुरुष है, तेरे अनुयायी भी बहुत हैं। इसकारण यदि तू इसप्रकार कर्मसे निवृत्त हुआ, तो तेरे अनुयायी भी वैसे ही कर्मसे निवृत्त होंगे। और नाशको प्राप्त होंगे, इसलिये इस समय इस युद्धसे निवृत्त होना तुम्हें उचित नहीं है। अतः हे अर्जुन! तू जिस धर्मयुद्ध करनेके लिये यहां उपस्थित हुआ है वह करना इस कारण तुझे अत्यंत उचित है।"

इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णजीका उपदेश अपनाही उदाहरण देकर अर्जुनको हो गया है। यह उदाहरण प्रत्यक्ष होनेसे अर्जुन के मन में यह स्थिर हो सकता है और उसको कोई शंका नहीं होसकती।

इस श्लोकमें 'कर्म छोडनेसे संकर और संकर से प्रजाजनोंका नाश होगा' ऐसा कहा है। इस विषयमें यहां थोडासा अधिक विचार करना आवश्यक है। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके कर्म छोडनेसे जनतामें संकरकी उत्पत्ती क्योंकर होसकती है और उससे उनका नाशभी किस प्रकार हो सकता है, यह बात विना विशेष विचार किये, हरएक के ध्यान में नहीं आसकती। इसलिये इसका यहां विचार करते हैं।

मान लीजिये कि किसी एक समाज के श्रेष्ठ लोगोंने कर्म करना छोड दिया, तो उसका परिणाम क्या होगा सो देखिये-ब्राह्मण वर्णके श्रेष्ठ लोगोंने अपना अध्ययन अध्यापन, यजन और याजन यह कर्म छोड दिया, तो ब्राह्मण वर्णके अन्य लोगभी इनका अनुकरण करेंगे और अध्ययन छोड देंगे, यजन करना छोड देंगे और वे स्वयं अशिक्षित रहनेसे वे योग्य रीतिसे अध्यापन नहीं कर सकेंगे, इसी तरह वे याजन कराने में भी असमर्थ होंगे। इस रीतिसे ब्राह्मण वर्ण कर्मभ्रष्ट होनेसे उसका ब्रह्मवर्चस नष्ट होनेसे वे केवल जातिमात्र ब्राह्मण रहेंगे और गुणकर्मोंसे उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जायगा। इसप्रकार संपूर्ण ब्राह्मणोंका नाश होनेसे सबही अन्य वर्ण पतित होंगे और इस राष्ट्रके पतन का कारण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके स्वकर्म छोडनमें हि पाठकोंको प्राप्त होगा।

अब देखिये श्रेष्ठ क्षत्रियोंने राष्ट्ररक्षा आदि अपना कर्म छोड दिया तो उनके अनुयायी दूसरे साधारण क्षत्रिय भी उनका अनुकरण करेंगे और अपना शौर्य तेज आदिकी संवृद्धि करनेका कार्य छोड बैठेंगे। इस तरह क्षत्रियोंके अन्दरके शौर्य, तेज, वीर्य, युद्धकौशल्य आदि सब शुभ गुण नष्ट होंगे और वे गुण दूर होनेसे क्षत्रियोंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा नहीं हो सकेगी, शत्रुके हमले होंगे और अन्तमें राष्ट्र शत्रुके आधीन होगा। श्रेष्ठ

क्षत्रियोंके स्वकर्म छोडनेसे यह अनर्थ होसकता है।

यदि श्रेष्ठ वैश्योंने अपना व्यापारवृद्धि, कृषि, पशुपालन आदि कार्य छोड दिया, तो अन्य वैश्यवर्गके लोगभी कामधन्दा नहीं करेंगे, और व्यापार व्यवहार बन्द होनेसे धन नहीं प्राप्त होगा, राष्ट्रमें निर्धनता बढेगी, बेकारीसे सब लोग वृत्तिहीन होंगे, कृषि अल्प होनेसे दुर्भिक्ष्य बढेगा और इस प्रकार सब राष्ट्रका नाश होगा।

शूद्रोंके श्रेष्ठ लोगोंने अपनी कारीगरीकी कर्म-कुशलता छोड दी,तो राष्ट्रमें कारीगरीकी न्यूनता होगी, बेकारी बढेगी, और किसीको भी खानेको नहीं मिलेगा और सबका नाश होगा।

यदि हरएक वर्गके श्रेष्ठ लोगोंने अपना अपना स्वकर्म छोड दिया तो इस प्रकार सब राष्ट्रकी अवनति होगी। इसीतरह किसी भी वरिष्ठ स्थानपर रहनेवाले मनुष्यने अपना कर्तव्य कर्म छोड दिया, तो भी सब अन्य लोग उसका अनुकरण करेंगे और वही हानि होगी। अकेला श्रेष्ठ ब्राह्मण अथवा अकेला श्रेष्ठ क्षत्रिय अपना कर्तव्य कर्म छोड देगा, तो केवल उसी का नाश होगा ऐसी बात नहीं, प्रत्युत उसके कर्मत्याग के बुरे संस्कार सबही अन्य लोगोंपर होंगे, और सब लोगोंका नाश होता जायगा। जो श्रेष्ठ लोग आचरण करते हैं इतर जन वैसाही आचरते हैं, यह गीताका सिद्धान्त है और पाठक देखेंगे तो इसकी सत्यता सर्वत्र दिखाई देगी।

इस तरह विचार करनेपर श्रेष्ठ के स्वकर्म छोडनेसे सब राष्ट्रका शनैः शनैः कैसा नाश होता है, इस बात का ज्ञान हो सकता है। अब देखना है कि स्वकर्म छोडनेसे 'संकर' कैसा होगा। समझ लीजिये कि ब्राह्मणने अपना कर्म छोड दिया और क्षत्रियनेभी अपना कर्म छोड दिया। ब्राह्मण शम दम ज्ञान आदि ब्रह्मवर्चस-रहित हुआ और क्षत्रिय भी शौर्य, तेज, वीर्य आदिसे रहित हुआ। तो ऐसे गुणकर्मरहित ब्राह्मण और क्षत्रिय का कौनसा वर्ण होगा? पाठक इसका विचार करें। यदि अग्निकी दाहकता नष्ट हुई, जल ने अपना प्रवाहीपन और शान्ति छोड दी, तो उनको कौन अग्नि और जल कहेंगे? दहनशक्तिसे रहित अग्नि अग्निहि नहीं रहेगी और तृषा शान्त न करनेवाला जल जलही नहीं कहलायेगा। इसी तरह अध्ययन अध्यापन, शमदम आदि गुणोंसे रहित ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाने योग्य न रहेगा; और शौर्य, वीर्य आदि गुणोंसे रहित मनुष्य क्षत्रिय नहीं कहलायेगा। यदि इनको ब्राह्मण और क्षत्रिय कहाजाय, तो भी वर्णसंकर ही होगा। क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियोंके गुणोंसे और धर्मोंसे रहितको ब्राह्मण क्षत्रिय कहना, न जलानेवाले पदार्थको अग्नि कहनेके समान, संकरकाही द्योतक है।

दूसरी बात इसमें यह है कि यदि इन लोगोंने अपने स्वकर्तव्य कठिन होनेके कारण छोड दिये, और दूसरे वर्णोंके कर्म सुकर होनेके कारण करना प्रारंभ किये, तो निःसन्देह कर्म का संकर हुआ हि। और यह बात निश्चित है कि जिस प्रकार आनुवंशिक कृषक जैसी खेती उत्तम प्रकार कर सकेगा, वैसी खेती आनुवंशिक ब्राह्मण कर नहीं सकेगा। इसलिये दूसरे का कर्म करनेसे वह वैसा उत्तम नहीं होगा, अतः वह सदोष होगा और इस कर्मसंकर के कारण अन्तमें राष्ट्रका नाशहि होगा। इसी प्रकार ब्राह्मण घरमें बैठ बैठ कर कार्य करता है, इस कारण वह खेतमें सर्दी गर्मी और वृष्टि में कार्य करने लगा, तो बीमार होगा। इसी तरह किसान घरमें बैठा रहेगा तो परिश्रम न होनेसे उसकी पाचनशक्ति बिगड जायगी। इसी रीतिसे विधर्मके अनुकरण से सबका नाश हि होगा। बडे प्रयत्नसे किसीको साध्य भी हुआ, तथापि सबको साध्य न होनेसे संपूर्ण राष्ट्रक हित की दृष्टिसे उस प्रकारके कर्मसंकरसे राष्ट्रकी बडी हानि होगी। अतः जहां कर्मसंकर होता है,वहां की जनता अन्तमें नाशको प्राप्त होती है, यह बात सिद्ध होगयी।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अन्वयः— हे भारत ! अविद्वांसः यथा कर्मणि सक्ताः (कर्म) कुर्वन्ति, तथा लोकसंग्रहं चिकीर्षुः विद्वान् असक्तः (कर्म) कुर्यात् ॥ २५ ॥ विद्वान् कर्मसंगिनां अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्, (किन्तु) युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत् ॥ २६ ॥

हे भारत ! अज्ञानी जन जैसे आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसेहि लोकसंग्रह की इच्छा करनेवाला विद्वान् आसक्ति छोडकर कर्म करे ॥२५॥ विद्वान् मनुष्य कर्ममें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानीलोगोंकी बुद्धिमें कदापि भ्रम न उत्पन्न करे; किन्तु स्वयं समत्वबुद्धियोग का आचरण करता हुआ लोगोंसे सब कर्म प्रीतिसे करावे ॥ २६ ॥

भावार्थ-अज्ञानी लोग स्वार्थसे फलभोगकी इच्छा रखकर जितनी तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, उतनीहि तत्परतापूर्वक विद्वान् मनुष्य लोककल्याण करनेकी कामनासे निःस्वार्थ होकर कर्म करे ॥ फलभोगकी इच्छासे कर्म करनेवाले अज्ञानी लोगोंकी कर्ममें प्रवृत्त हुई बुद्धिमें विद्वान् मनुष्य कदापि संदेह उत्पन्न न करे,उनसे वे सब कर्म आनन्दसे करावे; परंतु स्वयं समत्व बुद्धियोग का आचरण करता हुआ अपना कम करे ॥ २५-२६ ॥

राजाने अपना कर्म छोडा, धर्माध्यक्षने अपना कर्म छोडा, इनका अनुकरण अन्य लोगोंने किया, तो किसीका कोई नियामक न होनेके कारण व्यभिचारादिके भी अनंत दोष उस समाजमें होंगे और इस अनीतिसे भी अन्तमें रोगादिकों की वृद्धि होनेके कारण जनताका बडा नाश होगा। अर्थात किसी भी दृष्टिसे देखा जाय तो स्वकर्म छोडनेसे संकर, और संकरसे नाश होगा यह बात निःसन्देह सत्य है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि वे कदापि अपना कर्तव्य न छोडें, उनको अनावश्यक होनेपर भी लोकसंग्रह की ओर दृष्टि रखकर स्वकर्तव्य सदा आलस्य छोडकर करते जांय तभी सब राष्ट्रकी सुस्थिति होगी। इसी विषयका बहुमोल उपदेश अगले श्लोकोंमें देखिये—

(२५-२६) लोकसंग्रह का कार्य करने की जिम्मेवारी ज्ञानी मनुष्यपर है यह दर्शानेके लिये इस उपदेशका प्रारंभ है। लोकसंग्रहका अर्थ है 'लोककल्याण,' जनताकी भलाई, राष्ट्रीय उन्नति, लोगोंका अभ्युदय और निःश्रेयस। लोककल्याण की साधना करनेके उद्देश्यसे ज्ञानी मनुष्य लोकसंग्रहके कार्य करे। ज्ञानीमनुष्य तो नित्यतृप्त, आत्मसंतुष्ट तथा इच्छाद्वेषरहित होता है, अतः (तस्य कार्यं न विद्यते। भ० गी० ३।१७) उसके लिये कुछ कर्तव्य नहीं है। 'कर्म करनेपर भी उसको कोई प्राप्तव्य नहीं और न करनेसे भी उसकी कोई हानि नहीं, " ऐसी स्थिति ज्ञानीकी होनेके कारण उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, यह सत्य है। परंतु यदि इसप्रकारके सिद्ध पुरुषने कर्म छोड दिया, तो साधारण लोग

कहेंगे कि "देखो, वह फलाना मनुष्य है, वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर हम भी क्यों करें;" ऐसा कहेंगे और कर्म छोड देंगे और कर्मत्यागसे उन सबका नाश होगा। यह जनता का नाश करनेका दोष ज्ञानीमनुष्यके कर्मत्यागसे संबंध रखता है, अतः ज्ञानीमनुष्यको कुछ स्वार्थ-साधनके लिये कर्म नभी करने हों, तथापि लोगों को बुद्धिभ्रंशसे बचानेके लिये उसको उचित है कि वह कर्म करे।

अज्ञानी जन फलका भोग (सक्ताः) करनेकी आतुरता से अत्यंत तत्पर होकर कर्म करते हैं, इनका कर्म भोगेच्छासे होता है। जितनी भोगकी इच्छा अधिक उतनी कर्म करनेकी भी तत्परता अधिक होती है। प्रायः साधारण लोग इसी रीतिसे कर्म करते हैं।

ज्ञानी मनुष्यभी ऐसीहि तत्परतासे कर्म करे। इसके कर्ममें तो स्वार्थका लेशभी नहीं होगा, क्योंकि स्वार्थकी पूर्णाहुति होनेके बाद हि वह ज्ञानी बना होता है। यदि उसको कर्मसे कुछभी स्वार्थका साधन नहीं करना है, तो फिर वह किसलिये कर्म करे? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि "चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं" अर्थात् 'लोककल्याण करनेकी इच्छासे' वह कर्म करे। और उस प्रकार परमदक्षतासे कर्म करे। मेरा स्वार्थ कुछ भी नहीं है, इसलिये जैसे वैसे कर्म न करे। अपने से जितनी उत्तमतासे होना संभव है उतनी उत्तमतासे और पूर्णतासे कर्म करे और कर्मका फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसका समर्पण लोक-कल्याणके लिये करे।

कर्म चार प्रकारसे होता है, सकामकर्म, निष्काम कर्म, कर्मसंन्यास और परेच्छासे कर्म। सकामकर्म दो प्रकारसे हो सकता है, एक धर्मानुकूल और दूसरा धर्मविरुद्ध। धर्मविरुद्ध सकामकर्म को 'विकर्म' ऐसा स्वतंत्र नाम भगवद्गीतामें है। इस लिये सकाम कर्म शब्दका अर्थ यहां धर्मानुकूल कर्तव्य कर्म ऐसा करना उचित है। अभ्युदय साधन के सब कर्म इस प्रकार के सकाम कर्ममें आते हैं। धर्मानुकूल व्यवहार से धन कमाना, उससे अपने सुखसाधन बढाना, ऐहिक सुखके लिये कर्म करना ये सब सकाम कर्म हैं। स्वार्थसाधन करते करते मनुष्यमें परार्थ साधन करनेकी श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है। इस समय निष्काम भाव से यह कर्म करता है, अपने स्वार्थ की आहुति यह इस समय परार्थमें करता है। इससे इसका यह निष्काम योग होता है। इस प्रकारके निष्काम कर्मयोगी लोकोंके हितके लिये दिनरात कर्म करते हैं।

स्वार्थसे कर्म करना हो अथवा लोककल्याण के लिये अर्थात् परार्थ के लिये कर्म करना हो, इन दोनों सकाम और निष्काम कर्ममें कर्मविरोधकोंके दर्शन से बडा क्लेश होता है। स्वार्थ-साधनके सकाम कर्ममें अपने स्वार्थके विरुद्ध प्रयत्न करनेवालेके दर्शनसे जैसे क्लेश होते हैं, वैसे ही क्लेश निष्काम कर्मयोगी को निःस्वार्थ बुद्धिसे लोककल्याण, राष्ट्रकल्याण अथवा जनताके हित के लिये कर्म करते समय उसका विरोध करनेवालेको सामने देखनेसे होते हैं। इस प्रकारके क्लेश वारंवार होनेसे इन कर्मोंसे यह विरक्त होता है और 'कर्म-संन्यास' अर्थात् 'संन्यास' का मार्ग स्वीकारता है। इस संन्यास मार्ग में वह संपूर्ण प्रापंचिक कर्मोंका त्याग करता है और अपने निश्रेःयस के साधनमें लगता है। इस संन्यासमार्गमें मनःशान्तिका साधन वह करता है और अन्तमें उसको ऐसी समावस्था प्राप्त होती है, कि जिसमें पहुंचनेसे सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय आदि द्वन्द्व उपस्थित होनेपरभी उसके मनकी समता और शान्ति नहीं बिघडती। सुखमें जिस शान्तिका वह अनुभव करता है, दुःखमें भी वह वैसाही शान्त रहता है। कर्मसंन्यास की अथवा संन्यासयोगकी यह सिद्धि है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् उसको कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, अर्थात्

वह कृतकृत्य बनता है।

(तस्य कार्यं न विद्यते। गी० ३। १७) ऐसे संन्यासयोगका आचरण करनेवालेकेलिये स्वार्थ का अथवा परार्थका कोई कर्म करनेके लिये नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें यह परेच्छासे कर्म करता है। कोई मनुष्य, कोई जाती अथवा कोई राष्ट्र संकटोंसे त्रस्त होनेपर इस सिद्ध पुरुषके पास आता है और कहता है कि-"हे महात्माजी! आप हमें इस पारतंत्र्यके दुःख से छुडाइये, हम सब आपकी शरणमें आगये हैं।" इस करुणापूर्ण प्रार्थनासे उसके विरक्त मनमें करुणा उत्पन्न होती है और दयाभावसे उनका दुःख दूर करने के लिये वह संन्यासयोगी उनके उद्धारके लिये यत्न करता है। यह भी लोकसंग्रहके लिये उसका कर्म होता है। नरनारायण ऋषि बद्रिकाश्रम में तपस्या कर रहेथे, वे इसी प्रकारकी परेच्छासे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त हुए और अर्जुन-श्रीकृष्णके रूपसे भूभार हरण के कार्य में दत्तचित्त हुए। इसी प्रकारके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि निष्काम कर्मयोगकी दूसरी अवस्थामें भी यह मनुष्य लोकसंग्रहके लिये लोककल्याण के कार्य करता है और सिद्ध बननेके पश्चात् चतुर्थ अवस्थामें भी परेच्छासे लोकसंग्रह अर्थात् लोककल्याणके लिये यह सिद्ध पुरुष कर्ममें प्रवृत्त होता है। दोनों अवस्थाओंमें इससे लोकसंग्रह होता है, तथापि पहिली अवस्था में इसका मन डावांडोल होता रहता है, विरोधकों का द्वेष करता है, और त्रस्त होता है। परंतु जब यह सिद्ध पुरुष बनने के पश्चात् परेच्छासे प्रवृत्त होकर लोकसंग्रह करनेके लिये लोककल्याणके कर्म करता है, उस समय भयानक प्रतिकूल परिस्थितिमें भी उसके मनकी शान्ति नहीं हटती, वह दुःखोंकी वृष्टिमेंभी मुसकराने लगता है और किसी कारण भी उसका मन अशान्त नहीं होता। ऐसे मनुष्यको (तस्य कार्यं न विद्यते ३।१७) वस्तुतः कुछ भी कर्तव्य नहीं होता है, यह जो भी कुछ करता है वह परेच्छासे करता है और लोककल्याण के लिये करता है। इसीका जीवन 'सज्जनोंकी रक्षा, दुर्जनोंक विनाश और धर्मसंस्थापना' के लिये होता है। इन्हीं मनुष्योंके विषयमें इस श्लोकमें कहा है कि "(लोकसंग्रहं चिकीर्षुः) लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे (विद्वान्) ज्ञानी मनुष्य (कुर्यात्) कर्म करे।" यह इस लिये कहा है कि इस में अपनी निज प्रवृत्ती कर्मसे हट गयी होती है।

(अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्) अज्ञ लोग आसक्तिसे कर्म करते हैं, तथापि उनका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। बुद्धिभेद का अर्थ है बुद्धिभ्रंश, बुद्धिनाश, बुद्धिमें संदेह। कई मनुष्य अज्ञानतासे फलकी इच्छा धारण करके कुछ कर्म करता है। मान लीजिये कि वह स्वर्गप्राप्तिके लिये कुछ कर्म करता है। ऐसी अवस्थामें ऐसा कुछ नहीं कहना चाहिये, कि जिससे वह मनुष्य अपने अनुष्ठानको छोड दे। (जोषयेत् सर्वकर्माणि) उचित तो यह है कि वह ज्ञानी पुरुष सब लोगोंके कर्मोंको ऐसी युक्तिसे सन्मार्गपर लावे कि उनकी श्रद्धा और भक्ति बनी रहे, उनका दोष दूर होवे और वे सन्मार्गपर आजांय। ऐसा न करते हुए यदि उनका बुद्धिभेद करेंगे और उनमें अश्रद्धा उत्पन्न करेंगे, तो उनसे आगे कोई अनुष्ठान नहीं हो सकेगा।

यहां 'बुद्धिभेद' शब्दका अर्थज्ञान होनेके लिये उसका विरोधक शब्द 'बुद्धियोग' है इसका भी साथसाथ विचार करना चाहिये। देखिये—

बुद्धियोग	बुद्धिभेद
समत्वबुद्धि	विषम भाव
शान्ति	अशान्ति
सन्देहनिवृत्ति	सन्देह
स्थितप्रज्ञ	चंचलप्रज्ञ
वीतरागभयक्रोध	रागभयक्रोधयुक्त

(१०) मूढ और तत्त्वज्ञ ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः— प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति, परन्तु) अहंकारविमूढात्मा ' अहं कर्ता' इति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृति के गुणोंके द्वारा कर्म सब प्रकार किये हुए होते हैं । परंतु अहंकारसे विशेष मूढ बना हुआ मनुष्य ' मैं कर्ता हूं ' ऐसे मान लेता है ॥ २७ ॥

बुद्धिभेद करनेसे इस तरह हानि होती है। जिसकी बुद्धि भिन्न हुई है उससे कुछभी उन्नतिका साधन करना नहीं हो सकता। इसलिये किसी को भी उचित नहीं है कि वह दूसरे साधारण मनुष्यका बुद्धिभेद करे। इस तरह बुद्धिभ्रंश हुए मनुष्यकी बुद्धि फिर किसी अनुष्ठानमें स्थिर होनेके लिये बडे परिश्रम करने होते हैं और परिश्रम करनेपर भी संदेहरहित श्रद्धा उसके मनमें उत्पन्न होगी या नहीं, इस विषयमें संदेह हि है। इस कारण बुद्धिभ्रंश करना उसके भविष्यको नष्ट करना ही है।

शत्रु लोग ही इस प्रकारका बुद्धिभेद करते हैं और उससे अपना स्वार्थसाधन करते हैं। अर्थात् बुद्धिभेद करना महाशत्रुताका कार्य है। बुद्धिभेद से मनुष्यकी जितनी हानि होती है उतनी किसी अन्य प्रकारसे नहीं होती। इसलिये मनुष्यको उचित नहीं है कि वह किसी दूसरेके मनमें इस प्रकारके संदेह उत्पन्न करके उसका आध्यात्मिक दृष्टिसे नाश करे।

इसीलिये कहा है कि वह लोगोंसे सब कर्म इस ढंगसे करावे कि जिससे (जोषयेत्) वे प्रीतिपूर्वक श्रद्धासे कर्म भी करते जांय, उनकी श्रद्धा बनी रहे और वह सत्य मार्गपरभी आजावें। यदि उनका मार्ग अशुद्ध है तो उनको ठीक मार्गपर लाना ही चाहिये, परंतु वैसा उसको सत्य मार्गपर लानेके समय उसके मनमें संशय उत्पन्न करके उसको अश्रद्ध बनाना योग्य नहीं है।

ज्ञानी मनुष्य स्वयं (युक्तः समाचरन्) योगयुक्त होकर, अर्थात् समत्वबुद्धियोगके अनुसार अपना कर्तव्य करता रहे, कर्म न छोडे, परंतु अनासक्ति से कर्म करे।

यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि अज्ञानी आसक्तिसे कर्म करता है और ज्ञानी अनासक्तिसे कर्म करता है, परंतु दोनोंसे एकही कर्म होता है, इस प्रकार कर्म होते होते वे दोनों कदाचित् समान रीतिसेही बद्ध होंगे। बाहरकी दृष्टिसे देखनेवालोंको तो उनमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होसकता। इसप्रकारकी शंका करनेवालोंका समाधान करनेके लिये और उनकी आशंका दूर करनेके लिये और तत्त्वज्ञानी तथा मूढ मनुष्यका भेद स्पष्ट करनेके लिये आगे कहते हैं—

गुणोंसे कर्म ।

(२७-२८) कर्म किसप्रकार होते हैं, कर्मोंका कर्तृत्व किसके पास है, इसका विचार इन श्लोकोंमें किया है। साधारण मनुष्य (कर्ता अहं) मैं कर्ता हूं, ऐसा मानता है; परंतु तत्त्वदृष्टीसे विचार करनेपर वह कर्ता नहीं है ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः देखा जाय तो—

प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि ॥२७

"प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सब कर्म पूर्णतासे

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वयः— हे महाबाहो! गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् तु 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते' इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परंतु हे महाबाहो अर्जुन! गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य 'गुण गुणोंमें कार्य करते हैं' ऐसे मान कर, आसक्त नहीं होता है॥ २८॥

भावार्थ— प्रकृतिके गुणोंसे सब कुछ कर्म होते हैं, आत्मा उन कर्मोंका कर्ता नहीं है, वह अकर्ता है। तत्त्वज्ञानी मनुष्य प्रकृतिके गुणोंको और उनसे होनेवाले कर्मोंको यथावत् जानता है और एकके गुणोंका दूसरोंके गुणोंसे संबंध आकर कार्य बनते हैं, ऐसा जानकर, अहंकाररहित होकर फंसता नहीं। परंतु जो मनुष्य अहंकारसे विशेष ही मूढ बनता है वह अपने आपको कर्ता मानकर, फलसे बद्ध होकर फंसता है॥ २७-२८॥

किये हुये होते हैं।" अर्थात् कर्मोंका कर्तृत्व प्रकृतिके गुणोंके पास है न कि किसी मनुष्यके पास। उदाहरणार्थ हम एक मन्दिर बनने के कार्यका विचार करेंगे। एक स्थानपर सुंदर मन्दिर बना है, वह ईंटें, चूना, पत्थर, लकडी, लोहा आदि पदार्थोंके साधनसे कई लोगोंने बनवाया है। अब विचार करना है कि यदि ईंटोंमें, चूनेमें और पत्थर आदिमें वे गुणधर्म न होते कि जिनसे उनमें वह शक्ति आगई है, तो कोई मनुष्य कितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, मन्दिर बना नहीं सकता। ईंटोंके गुण, चूनेके गुण, पत्थरों और लकडियों के गुण तथा अन्यान्य पदार्थोंके गुण एक दूसरेके साथ मिलकर दिवार स्तंभ आदिमें परिणत हुए। पक्की ईंट समझकर यदि कच्ची ईंटें किसी स्थानपर लग जांय, तो वह मन्दिरकी दीवार ठहर नहीं सकती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक पदार्थोंके गुणही एक दूसरेके साथ मिलकर मन्दिर आदि कार्य करते हैं। यदि ये गुण उन पदार्थोंमें न होंगे तो कोईभी वैसे कार्य बना नहीं सकता।

अब यहां कई पूछेंगे कि राज, सुतार, लुहार, सूत्रधार, आदि जो लोग उस मन्दिरके कार्यमें लगे होंगे, तथा जिस शिल्पीने उस मन्दिर का ढांचा बनाया होगा, वे सब लोग 'कर्ता' हैं ऐसा माननेमें क्या दोष है? इस विषयमें भी वही बात कही जायगी कि इन कारीगरोंके हाथों, पावों और शरीरोंमें वे गुणधर्म न होते, तो इनके गुण पदार्थोंपर कार्य करके जो मन्दिररूपी कार्य बनाया गया, वह कदापि न बनता। एक कार्य करनेके लिये लाखों प्राकृतिक पदार्थोंके गुणोंका परस्पर सहकार्य होनेकी आवश्यकता है, यदि उस सहकार्यमें थोडीसीभी न्यूनता रही, तो वह कार्य उत्तम रीतिसे बनेगा नहीं। इसलिये ऐसी अवस्थामें कोई एक मनुष्य किस अधिकारसे कैसे कह सकता है कि, "मैं इस कार्यका कर्ता हूं"? क्योंकि उस कार्य के लिये लाखोंके गुण लगे हुए होते हैं, इसलिये तत्त्वतः सत्यदृष्टिसे देखा जाय तो जो अपने आपको कर्ता समझता है वह उसका कर्ता नहीं है।

जो (कर्ता अहं इति मन्यते) 'कर्ता मैं हूं' ऐसा मानता है वह सत्यदृष्टीसे देख नहीं सकता, वह तो (अहंकार-वि-मूढ-आत्मा) घमंडसे विशेष मूढ बना हुआ मनुष्य है। जो स्वयं अकर्ता होता हुआ भी अपने आपको कर्ता मानता है वह 'विशेष मूढ' नहीं तो और क्या है? मननसे यह कर्ता और अकर्ताका विचार मनमें दृढ

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९ ॥

अन्वयः— प्रकृतेः गुणसंमूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते, तान् अकृत्स्नविदः मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे मूढ हुए मनुष्य गुणों द्वारा बने कर्मोंमें आसक्त होते हैं। उन अज्ञानी मंदबुद्धिवाले मूर्खों को ज्ञानी मनुष्य चंचल न बनावे ॥ २९ ॥

भावार्थ— प्राकृतिक गुणोंमें मोहित हुए मनुष्य प्राकृतिक गुणोंसे बननेवाले कर्मोंको 'मैं करता हूं' ऐसा मानकर, उन कर्मोंका अपने ऊपर स्वयं लेप लगाते हैं। ऐसे मूढ लोग फलासक्तिसेहि कर्म करते रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य ऐसे मन्दबुद्धिवाले लोगोंको उनके कर्मोंसे विचलित न करें, अर्थात् उनका बुद्धिभेद न करें ॥ २९ ॥

करके कोई मनुष्य अपने आपको किसीका कर्ता न समझे और सब कर्तृत्व प्राकृतिक पदार्थों के गुणोंके अन्दर है ऐसा अनुभव करे और अहंकारके कीचडमें न फंसे।

यहां गुणसे कर्म बननेका और भी एक भाव है। प्रकृतिगुणसे हि सत्यपालन, उदारता, अहिंसा आदि बनना चाहिये, दीप स्वगुणसे प्रकाशता है, इसी प्रकार गौ स्वभावसे सौम्य है। संभवतः ये स्वगुणसे होनेवाले कर्मोंको जानते भी नहीं हैं। उदार मनुष्य अपनी उदारताको न जानता हुआ भी उदारताके कर्म स्वगुणसेही करता है, अथवा यों कहना सत्य होगा कि उस से उदारताके कर्म होते रहते हैं। इस प्रकारके स्वगुणसे सहजहीमें जिससे श्रेष्ठ कर्म होते हैं वह विशेष योग्यतावाला समझना योग्य है। प्रयत्नसे उच्च कर्म करनेवाले की अपेक्षा स्वगुणसेहि जिससे उच्च कर्म होते हैं, जिससे अशुद्ध आचार बनही नहीं सकता, वही पुरुष वन्दनीय है। मनुष्यको यही स्थिति प्राप्त करनी चाहिये।

गुण कर्मका विभाग ।

गुणोंसे कर्म बनते हैं, एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थके गुणोंके साथ मिलकर या विरोधी होकर किसी कार्यको बनाते हैं या बिगाडते हैं। यहां मनुष्यको गुणोंका और कर्मोंका विभाग देखना चाहिये। यही तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानको यथावत् जाननेवाला ज्ञानीहि एक प्रकारके गुण दूसरे प्रकारके गुणोंके साथ विशिष्ट रीतिसे संबंधित हो कर कार्य करते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे देखता है और 'मैं अकर्ता हूं' इस बातका अनुभव करता है और बंधनमें नहीं फंसता।

यहां स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि अहंकारसे विशेष मूर्ख बना हुआ मनुष्य बंधनमें फंसता है और तत्त्वज्ञानी अहंकारसे दूर रहनेके कारण बंधनको तोडकर मुक्त होता है।

यहां मूढ प्राकृतिक मनुष्यका मार्ग और तत्त्वज्ञानी मनुष्यका मार्ग बिलकुल भिन्न है यह बात स्पष्ट हुई। ये दो मार्ग विभिन्न हैं इसीलिये कोई ज्ञानी दूसरे कर्मसंगी अज्ञानीका बुद्धिभ्रंश न करे, ऐसा आदेश यहां देते हैं, वह अब देखिये—

प्रकृतिके गुणोंका मोह ।

(२९) पहिला दोष (प्रकृतेः गुणसंमूढाः) प्रकृतिके गुणोंसे सम्यक् मूढ होना है, सम्यक् मूढ होनेका अर्थ अत्यंत मूर्ख बनना है। प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम गुण हैं, और प्राकृतिक पदार्थोंमें सौन्दर्य, उत्तम आकार, उत्तम रुची आदि अनेक गुण हैं। मनुष्य इन गुणोंमें फंसते हैं। सुरूपतासे मोहित हुआ मनुष्य सुरूपवालेके आधीन होता

है तथा उत्तमरुचीवाले पदार्थके आधीन रुचीके कारण मोहित बना मनुष्य हो जाता है। इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंसे मोहित हुए मनुष्य उन गुणियोंके आधीन हो जाते हैं। इस तरह कोई मनुष्य सुंदर स्त्रीके आधीन, कोई धनके आधीन, कई अधिकारके आधीन, ऐसे प्राकृतिक गुणोंसे किंवा रस्सियोंसे बंधे हुए मनुष्य परतंत्र हो जाते हैं और बद्धताके कारण दुःखके भागी बनते हैं। इसीलिये कहा है कि (गुणकर्मसु सज्जन्ते) गुणोंसे होनेवाले कर्मोंमें डूब जाते हैं। पूर्वोक्त कथनके अनुसार गुणोंसे कर्म होनेपरभी, वे कर्मों का लेप मूढतासे अपने ऊपर लेते हैं। अर्थात् ये प्रकृतिके प्रवाहसे बह जाते हैं। इसलिये इनको कदापि शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

ऐसे प्रवाहसे बह जानेवालों को यहां 'अ-कृत्स्न-वित् मन्द' कहा है। 'कृत्स्नवित्' का अर्थ है पूर्ण ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ और 'अ-कृत्स्न-वित्' का अर्थ होता है 'अ-पूर्ण ज्ञानी'। पूर्णज्ञानी, किंवा सर्वज्ञ श्रेष्ठ होते हैं इसमें किसी को कोई संदेहहि नहीं है। जो कष्ट उत्पन्न होते हैं वे अल्पज्ञ, किंचिज्ज्ञ किंवा मिथ्याज्ञानीकोहि होते हैं। उसको किंचित् ज्ञान होता है, सत्यज्ञान तो किसी विषयमें भी नहीं होता, अतः उसका व्यवहार अशुद्ध रीतिसे होता है, जो उसके दुःखका हेतु बनता है। जबतक उसका मिथ्याज्ञान नहीं हटता और उसको पूर्णज्ञान नहीं होता, तबतक उसकी मुक्तता का मार्गभी खुल नहीं सकता।

ये अज्ञानी किंवा मिथ्याज्ञानी लोग यत्न तो बहुत करते रहते हैं, कर्म भी बडी तत्परता से करते हैं। "मैं कर्म करता हूं अतः फल मुझे चाहिये," ऐसा इनका विचार सदा जाग्रत रहता है। अतः ये सदा फलेच्छासे कर्म करते रहते हैं और इस फलेच्छा की आसक्तिसे पुनः पुनः बन्धनमें पडते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि एक तो इनके अज्ञानसे इनके दुःख बढते हैं और दूसरे इनकी फलासक्तिसे ये बन्धनमें पडते हैं। फलकी आसक्तिसे अधिक कर्म करना, और अधिक बन्धनमें पडना, यह क्रम इसीप्रकार इनका सदा चलता रहता है। इसतरह आसक्ति और अज्ञान मनुष्यके बन्धनका हेतु होता है। यहां कई कहेंगे कि जो (कृत्स्न-वित्) ज्ञानी हैं, वे उपदेशद्वारा उन अज्ञानीयोंको इन बन्धन कारक कर्मोंसे निवृत्त करें। ऊपर ऊपर देखनेसे ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं, ऐसाही प्रतीत होता है; परंतु गीता का कथन है कि (मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत्) इन मूढोंको ज्ञानी मनुष्य विचलित् न करे। क्योंकि उनका बुद्धिभेद करनेसे वे न कर्ममार्गमें दत्तचित होते हैं और न वे ज्ञानमार्गका आचरण कर सकते हैं। वे इसतरह 'न इधरके और न उधरके' होते हैं और चंचलता के कारण अवनत हि होते हैं।

अनधिकार चेष्टा।

आसक्तिसे कर्म करनेवालोंको उसी कर्ममार्ग का उपदेश करके उत्तमसे उत्तम और शुद्ध कर्मों में दत्तचित्त करना योग्य है। कर्ममें दत्तचित्त होनेसे उनकी चित्तकी शुद्धि होगी और वे ज्ञान मार्गके अधिकारी बनेंगे। परंतु मूढ किंवा अज्ञानी लोगोंको कर्ममार्गसे विचलित करनेसे तो वे किसीभी प्रकार उन्नति कर नहीं सकते।

जैसा कोई विद्यार्थी प्रथम कक्षामें पढनेका अधिकारी है तो उसको चतुर्थ कक्षामें रखा जाय, तो प्रथमकक्षाका पाठविधी भी उससे नहीं होता और चतुर्थ कक्षाका तो उससे होना असंभवही था। इसप्रकार वह दोनों कक्षाओंसे वंचित रहता है। यदि वह प्रथम कक्षामेंहि रहता और क्रमसे चतुर्थमें जाता, तो उसका अधिक हित हो सकता था। इसीप्रकार प्रथम कक्षा आसक्ति से कर्म करनेकी है, दूसरी कक्षा अनासक्ति से कर्म करनेकी है। प्रथम कक्षामें उत्तीर्ण होनेके विना द्वितीयमें जाना बडा हानिकारक है। इसी लिये कहा है कि ज्ञानी लोग अज्ञानियोंका बुद्धिभेद न करें। उनको आसक्तिसे ही कर्म करने दें,

(११) ईश्वरार्पण कर्म ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अन्वयः— मयि अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य, निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा, युद्ध्यस्व॥३०

मुझमें अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंका समर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर, युद्ध कर ॥ ३० ॥

भावार्थ— आत्माकी उन्नतिका विचार सदा मनमें रख, सब कर्म मुझे समर्पण कर, फलकी आशा छोड, ममतारहित हो, तथा मनके विरुद्ध बात बननेसे संतप्त न बन और इस तरह अपना आचरण करके युद्ध कर ॥ ३० ॥

उनको स्वयं आसक्तिका कटु अनुभव लेने दें। अनुभव मिलनेके पश्चात् वे स्वयं सद्गुरुके पास जांयगे और आगेके मार्गका उपदेश मांगेंगे और उस समय दिया हुआ उपदेश उनके मनमें स्थिर होगा। पूर्वका अनुभव लिया हुआ होनेके कारण वे चंचल नहीं बनेंगे और क्रमशः उन्नत होते जांयगे।

मनुष्य किसप्रकार निर्दोष कर्म करे इस विषय में आगे उत्तम उपदेश करते हैं।

(३०) युद्ध अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य कर्म किस तरह करना चाहिये, और कर्मके दोष से कैसे बचना चाहिये, इस विषय का उत्तम उपदेश इस श्लोकमें दिया है, वह पाठक अवश्य स्मरण रखें।

" अध्यात्मचेताः "

सबसे प्रथम मनुष्य 'अध्यात्मचेताः' बने। 'अधि-आत्म-चेताः' का अर्थ है, आत्माके ऊपर मन लगानेवाला, जिसका चित्त आत्मापर स्थिर हुआ है, जो आत्माका सदा चिंतन करता है, जिसके मनमें आत्मा-परमात्मा-परमेश्वरके विषयमें भक्ति है। इस तरह परमेश्वरका भक्त अथवा उसीपर चित्त स्थिर करनेवाला मनुष्य हो।

साधारण मनुष्य शरीरपर, भोगोंपर, विषयोंपर अथवा जगत् पर मन लगाता है। मन आदि इंद्रियोंकी प्रवृत्ति बाहर की ओर अधिक है, क्यों कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मा-
नमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

कठोपनि० २।१।१

" स्वयंभू परमेश्वरने इन्द्रियां बहिर्मुख अर्थात् बाह्य विषयोंका ग्रहण करनेयोग्य बनायीं हैं, इस लिये मनुष्य बाह्य विषय देखता है और अन्तरात्माको नहीं देख सकता। कोई क्वचित् एकाध धैर्यवाला बुद्धिमान्, मोक्षकी इच्छा करता हुआ, चक्षु आदि इन्द्रियोंको स्वाधीन रख कर, अन्तरात्माको देखता है। " तथा—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति
विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं वि-
दित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

कठोपनि० २।१।२

" मूढ मनुष्य बाह्य विषयोंके उपभोगोंके पीछे लगते हैं। इसलिये वे मृत्युके विस्तृत पाशोंमें बंधे जाते हैं। परंतु धैर्यवाले ज्ञानी अमृतत्व को-मोक्षको-नित्य जानकर, अनित्य विषयोपभोगों की इच्छा नहीं करते. "

यहां बताया है कि मनुष्यके इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति बाह्य विषयोंकी ओर स्वभावतः है। और अन्तरात्माके विषयमें अप्रवृत्ति है। मनुष्य "विषय-चेता" स्वभावतः है और "आत्मचेता" नहीं है। इसीलिये प्रायः मनुष्योंकी प्रवृत्ति विषयभोगों की ओर तथा फलासक्तिसे कर्म करनेकी ओर विशेष होती है। परंतु इस फलासक्तिके मार्गसे अनंत दुःख भोगने पडते हैं और जैसा जैसा दुःखोंका अनुभव होता है, वैसा वैसा मनुष्योंका मन फलेच्छा से कर्म करने की ओरसे विमुख होता है। इसीलिये कहा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥

कठोपनि० । १।२।१-२

"श्रेय (मोक्ष) अन्य है और प्रेय (भोग) अन्य है। विभिन्न अर्थवाले ये दोनों मनुष्यके पास आते हैं। उनमें से श्रेयका ग्रहण करनेवाले का कल्याण होता है, और जो प्रेय अर्थात् भोग स्वीकारता है वह हितसे दूर होता है। श्रेय (मोक्ष) और प्रेय (भोग) मनुष्यके पास आते हैं। धैर्यशाली बुद्धिवान उन दोनों का विचार करके एकको चुनता है। बुद्धिवान् मनुष्य भोगसे मोक्षको पसंद करता है, और निर्बुद्ध मनुष्य योगक्षेमके लिये भोगोंको स्वीकारता है।"

यहां दो प्रकारके मनुष्यका वर्णन है। जगत्में ये दोनों प्रकारके मनुष्य हैं, परंतु भोगोंका स्वीकार करनेवाले अनंत हैं और मोक्षके लिये यत्न करनेवाले विरला कोई होते हैं। जो प्रेय लेनेवाले होते हैं, वे 'विषयचेता' होते हैं और जो श्रेय लेनेवाले हैं वे 'आत्मचेता' होते हैं। अब इनके लिये जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनका विचार कीजिये—

अध्यात्मचेताः	विषयचेताः
श्रेय आददानः	प्रेय आददानः
धीरः	बालः, मन्दः
आत्मानं पेक्षत्	पराङ् पश्यति
अमृतं यन्ति	मृत्युपाशं यन्ति
साधु भवति	अर्थात् हीयते
निराशीः	आशापाशबद्धः
निर्ममः	अहंकारहतः
विगतज्वरः	ज्वराभिभूतः

इस तरह विचार करनेपर श्रेयमार्गसे जानेवालेका और प्रेयमार्गसे जानेवालेका परिणाम क्या होता है इसका पता लग सकता है। मनुष्य 'अध्यात्मचेता' बने, अर्थात् आत्माके कल्याण का विचार करे, भोगोंमें न फसे, यह पहिला उपदेश इस श्लोकमें दिया है।

आत्मा एक नित्य और अखंड आनन्दवाला है, इसलिये भी उसपर चित्त लगानेसे आनन्दकी प्राप्ति होना संभव है; परंतु प्राकृतिक भोग अनंत, हैं, अनित्य हैं, क्षणभर सुखका भास करनेवाले हैं और दुःख बढानेवाले हैं; इसलिये आत्मापर चित्त लगानेसे हित और भोगोंमें चित्त फंसानेसे अहित होता है। इस दृष्टीसेभी 'अध्यात्मचेता' होनेसे मनुष्यका लाभ है।

ईश्वरार्पण कर्म।

२ "सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य"- सब कर्मोंका मुझमें अर्थात् ईश्वरमें संन्यास करनेका उपदेश यहां किया है। परमेश्वरमें सब कर्म समर्पण करने चाहिये। परमेश्वर के लिये सब कर्म समर्पित करनेका अर्थ यह है कि सब कर्म परमेश्वरके लिये करना। कर्म अपने लिये करना और कर्म परमेश्वरके लिये करना, इन दो प्रकारों का तात्पर्य क्या है, इसका विचार अब करना चाहिये। जो मनुष्य अपने लिये कर्म करता है वह अपने भोग बढानेके लिये कर्म करता है, अपने लिये कौनसा भोग अभीष्ट है यह देख कर, उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करता है। इससे भोग

प्राप्त करके वह उसका भोग भोगता है। अपने लिये क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये, इसका विचार करके, जो चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, वही वह करता है। इसलिये कर्मोंका भला या बुरा फल इसीको भोगना पडता है।

उन्नतिका मार्ग।

अब देखिये कि जो मनुष्य ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपने कर्म करता है, वह विचार करता है कि परमेश्वर क्या चाहता है, उसको क्या प्रिय है, क्या करनेसे वह संतुष्ट होता है और किससे वह असंतुष्ट होता है। उसकी बुद्धिसे जो निश्चय होता है वही वह ईश्वरके अर्पण के लिये करता है। पाठक विचार करेंगे तो उनके मनमें इस बातका स्वयं प्रकाश हो जायगा, कि कर्म परमेश्वरके लिये अर्पण करनेके विचारसे मनुष्यका चित्त उक्त प्रकार शुद्ध होने लगता है। मनुष्य कितनाभी अज्ञ क्यों न हो, वह अपने कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण करने लगेगा, तो उसीसमय उसके व्यवहारमें पवित्रता बढेगी। उदाहरण के लिये देखिये, कोई मनुष्य घरमें अपने लिये पकाता है तो यद्यपि वह स्वार्थभोग के लिये हि पकाता होगा, तो भी घरकी स्वच्छता और पाककी विशेषता की ओर वह विशेष ध्यान नहीं देगा। परंतु यदि उसीके घरमें कोई साधुसंत, संन्यासी सत्पुरुष, राजा अथवा ओहदेदार, किंवा कोई बडा मनुष्य आनेवाला हो और उसके लिये भोजन पकाना हो, तो उक्त कारण वह मार्गकी, घरकी और घरके पदार्थोंकी स्वच्छता करेगा, सब घरके पदार्थ उत्तम सजावटसे लगावेगा जो पदार्थ अस्वच्छ हों उनको पीछे रखकर शोभायुक्त पदार्थोंको सन्मुख रखेगा, और सब घरकी सजावट उत्तमसे उत्तम करेगा, और खान पान भी जितना उत्तम होगा, उतना उत्तम बनानेका यत्न करेगा। प्राकृतिक भोगी मनुष्य भी इस प्रकार अपने भोग के लिये थोडा उदासीन रहता है, और मान्य अतिथिके सत्कार के लिये अधिक उत्साह दिखाता है। मनुष्यमें न जानते हुए भी अपने लिये कर्म करनेकी अपेक्षा दूसरेके लिये कर्म करनेके समय विशेष दक्षता दिखानेका गुण अंशतः है। हरएक प्रसंग में यह गुण नहीं दीखता यह बात सत्य है, तथापि किसी किसी प्रसंग में दूसरे के लिये, बडे अतिथिके लिये, आदरसत्कार करनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है, इसमें संदेह नहीं। हमें यहां इतना ही बताना है, इस सत्कारवृत्तीसे दूसरेके लिये कार्य करनेके समय अधिक अच्छा और अधिक निर्दोष करनेमें मनुष्य दक्ष रहता है। यदि मनुष्यके लिये, राजाके लिये अथवा अतिथिके लिये मनुष्य इतना सत्कार दर्शाता है, तो जो ईश्वर राजाओं का भी राजा है और अतिथियोंका भी अतिथि है, उसके लिये अपना कर्म समर्पण करनेका विचार जिस समय यह करेगा, उस समय कितनी दक्षता धारण करेगा, इसका विचार पाठक अवश्य करें। इस विचारसे पता लग जायगा कि, कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यके कर्म अधिक शुद्ध होते हैं, अधिक निर्दोष होते हैं और इस कारण मनुष्य अधिक पवित्र होता जाता है। मनुष्यकी पवित्रता संपादन करनेका यह एक उत्तम मार्ग है।

मानवी अतिथिके लिये मनुष्य इतना डर नहीं सकता, क्योंकि वह किसी एक स्थानमें बैठा रहेगा और दूसरे स्थानमें उसके प्रतिकूल व्यवहार करना असंभव नहीं होगा। परंतु परमेश्वर एक समयमें सर्वत्र उपस्थित होनेसे और सर्वज्ञ होनेसे उसको छिपाकर कोई भी कार्य मनुष्य कर नहीं सकता। जो मनुष्य परमेश्वरकी सर्वत्र सत्ता जानता है, वह सर्वत्र और सर्वदा पवित्र बनता जाता है। और जिस समय वह परमेश्वरके लिये अपने कर्म करता है, उस समय उसके कर्म भी पूर्वोक्त कारणसेहि अधिकाधिक पवित्र होते जाते हैं। इस तरह अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेवाला मनुष्य पवित्र होता हुआ क्रमशः परमपद

का अधिकारी होता है।

बुरेसे बुरा मनुष्य भी कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे उक्त कारण ही उन्नत होता जाता है। इसीलिये भ० गीतामें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

भ० गी० ९

"बडेसे बडा दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे, तो यह मानो कि वह साधु होही चुका है। क्यों कि अब उसका व्यवहार सुधर चुका है। वह शीघ्रही धर्मात्मा बनता है और निरंतर शान्ति पाता है। हे अर्जुन ! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होगा। हे पार्थ ! जो पापयोनि हैं वे भी, और स्त्रियां वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरी शरण आ जांय तो वे परमगतिको प्राप्त करते हैं।"

इन श्लोकोंमें जो कहा है वह नितान्त सत्य है। एकवार मनुष्य परमेश्वरकी भक्ति करने लगा, परमेश्वरके लिये कर्म समर्पण करने लगा, तो वह शुद्ध होने लगा। इसीलिये यहां कहा है कि "संपूर्ण कर्म मुझे समर्पण करो।" मनुष्यके सुधारका यही एक सुगम और उत्तम मार्ग है।

३ " निराशीः "

'आशा छोड दो' यह तीसरा आदेश है। मनुष्य कर्मफलकी आशा धारण करता है, सुखका इच्छुक होता है, भोगोंकी आशा रखता है। कर्मफल, सुख और भोग मुझे चाहिये ऐसा जो आग्रह धारण करता है, वह समय आनेपर अन्यायके मार्गसे जानेमें भी प्रवृत्त होता है और गिरता है। अतः यदि यह आशापाश तोड देगा, तो वह बंधमुक्त होनेमें देरी नहीं लगेगी। इसीलिये आगे कहा है—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

भ० गी० १६

"आशारूप सैंकडों फासियोंसे बंधे हुए और कामक्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायसे धनादिका संग्रह करते हैं॥ मरण पर्यंत रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंको आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए, और भोग भोगनाही आनन्द है ऐसा माननेवाले" लोग आगे दुःख भोगते हैं। इसीलिये इस दुःख और अवनतिसे बचनेके लिये कहा है कि निराशी हो। एक आशा छोडनेसे सहस्रों दुःखोंसे मनुष्यका बचाव होसकता है।

४ " निर्ममः "

'ममत्व छोड दो' यह चतुर्थ उपदेश यहां किया है। "मेरा, मेरा" ऐसा न कहो। कोई अपना नहीं है। जिसको 'मेरा या अपना' कहा जाता है वह सचमुच अपना नहीं है। मनुष्यको जो दुःख होता है, वह 'ममत्व' बुद्धिके कारण हि है। ग्राममें किसीका लडका मर गया, तो उसके संबंधियोंको छोडकर शेष आदमी रोते नहीं हैं, संबंधी लोग शोकमें इसीलिये पडते हैं कि वे उसको 'मेरा लडका' मानते हैं। यदि वे इसको 'मेरा' नहीं मानेंगे, तो उनको भी दुःख नहीं होगा। अतः जो ममत्व छोड देता है वह तत्काल दुःखसे मुक्त होता है।

५ " विगतज्वरः "

पूर्वोक्त चारों उपदेशोंका ग्रहण करनेसे और उन उपदेशोंको आत्मसात् करनेसे मनुष्य 'विगत-ज्वरः' होता है। उसका (ज्वर) संताप (वि) विशेष रीतिसे (गत) दूर होता है। क्योंकि जिसकी आशा छूट गयी, जिसकी बुद्धिमें

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

अन्वयः— ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः इदं मे मतं नित्यं अनुतिष्ठन्ति, ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते ॥३१॥ ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः मे मतं न अनुतिष्ठन्ति, तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः नष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य, श्रद्धा रखकर और दोषदृष्टिका त्यागकर इस मेरे मतके अनुसार नित्य बर्तते हैं, वे सब कर्मों (के दोषों) से छूटते हैं ॥ ३१ ॥ परंतु जो लोग इसमें दोष निकाल निकाल कर, मेरे इस मतके अनुसार नहीं बर्तते, वे अज्ञानी सर्वज्ञानमें विशेष मूढ हैं और वे नाशको प्राप्त होंगे, ऐसा तू समझ॥३२

भावार्थ— केवल दोषोंपर दृष्टि न रख, और श्रद्धासे मेरे इस उपदेशके अनुसार आचरण कर, ऐसा करनेसे तू दोषोंसे मुक्त होगा। परंतु जो दोषोंको ही केवल देखेंगे और मेरे इस मतको न मानेंगे, वे ज्ञान होते हुए भी मूढ होंगे और निःसन्देह नाशको प्राप्त होंगे ॥ ३१-३२ ॥

ममत्व नहीं रहा, जिसका ध्यान परमेश्वरमें स्थिर हुआ और जिसने अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण किये, उसको संताप होनेका कोई कारणहि नहीं है। अतः वह शांत, गंभीर और प्रसन्न रहता है।

ऐसा शान्त मनुष्य (युध्यस्व) युद्ध करे। युद्ध करेगा तो ऐसे शान्त मनुष्यको कोई दोष नहीं लग सकता। ऐसा मनुष्य जो युद्ध करेगा वह ममत्वबुद्धि छूटनेके कारण उस युद्धमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होगा, वह आशारहित होनेके कारण युद्धसे कुछ लाभ प्राप्त करनेकी कोई स्वार्थी आशा उसमें नहीं होगी, उसका चित्त परमेश्वरके ध्यानमें लगा रहेगा और यदि युद्ध-रूपी कर्म उससे हुआ, तो केवल परमेश्वरके लिये हि होगा। ऐसे कर्म करनेसे क्या लाभ होता है, वह अब देखिये—

(३१-३२) " जो मनुष्य इस मेरे उपदेशके अनुसार नित्य व्यवहार करते हैं, वे कर्मके दोषों से दोषी नहीं होते, परंतु जो इसमें दोष ढूंढते हैं और इसके अनुसार आचरण नहीं करते, वे नाशको प्राप्त होते हैं।" पूर्व श्लोकोंमें जो उपदेश किया है और विशेषतः ३१ वें श्लोकमें जो उपदेश है कि " सब कर्म ईश्वरको समर्पण कर, आत्माके कल्याणपर दृष्टि रख, ममत्व छोडकर आशाकोभी त्याग दो, ऐसा करनेसे तुम्हें कर्मका दोष नहीं लगेगा।" इस उपदेशके अनुसार जो व्यवहार करते हैं, उनका बेडा पार होता है; परंतु जो लोग अपनी कुतर्कशक्ति चलाकर, सब कर्म ईश्वरको क्यों समर्पण करें? क्या ईश्वर भूखा है? क्या उसको हमारे कर्मोंकी जरूरत है? आत्मापरही ध्यान क्यों लगाया जावे? क्या शरीरका विचार करना अयोग्य है? ममत्व कैसे छूट सकता है? और आशा तो छूटना असंभव है और मुक्तिकी इच्छाभी इच्छाही है, इत्यादि प्रकार अनेक तर्क वितर्क और कुतर्क करके, इस गीताके उपदेशके विरुद्ध जनमत बनाते हैं, और न स्वयं आचरण करते और न दूसरोंको करने देते हैं। ऐसे वितंडी लोग अवनत होते हैं। इन लोगोंके उन्नतिकी कोई आशा नहीं है।

जो लोग उन्नति प्राप्त कर सकते हैं, वे (श्रद्धा-

वन्तः अनसूयन्तः) श्रद्धालू और दोषदृष्टि न रखनेवाले हैं। सत्पुरुषोंके और सद्ग्रंथके वचनोंपर जो विश्वास रखते हैं और तदनुसार जो आचरण करते हैं, उनको 'श्रद्धावान्' कहते हैं। इन श्रद्धावानोंका मार्ग सीधा होता है और इनके मार्गमें कोई विघ्न उपस्थित नहीं होते। परमार्थ-साधनमें श्रद्धाकी बडी आवश्यकता है। श्रद्धाके विना इस मार्गपरसे जाना असंभव है। अतः जो लोग स्वयं श्रद्धा नहीं रखते, और अपने वक्तृत्वसे दूसरोंकी श्रद्धा उखाड देते हैं, उनके दोषकी कोई सीमा नहीं है। वे स्वयं तो कदापि उन्नत नहीं हो सकते, परंतु उनके दोषसे दूसरोंकी उन्नतिभी मारी जाती है।

(असूयन्तः) असूया का अर्थ है दूसरोंके "गुणोंपर दोषका आरोप करना।" जो लोग दूसरोंके गुणोंको देखकर हर्षित नहीं होते, परंतु उनके गुणोंपर दोषोंका आरोपण करते हैं, उनका मन बडा हीन होता है। और इस गुणोंपर दोषारोपण करनेके अभ्याससे अधिकाधिक हीन होता जाता है। सद्गुण परमेश्वरके हि गुण हैं, उनको देखकर मनुष्यको प्रसन्न होना चाहिये, और उनको आत्मसात् करना चाहिये। सद्गुणों की परमावधि हि परमेश्वर है, अतः सद्गुणोंका दर्शन परमेश्वरके दर्शनके समान पुनीत करनेवाला है। जो लोग असूया करते हैं और सद्गुणोंके सन्मुख रहनेपरभी वहां दोषहि देखते हैं, वे मानो परमेश्वरके स्थानपर असुरकी पूजा करते हैं, अतः वे असुर बनते हैं। असूयाके दोषका इतना घोर परिणाम है। मनुष्य जिसका स्मरण करता है, जिसका ध्यान करता है, वैसा बनता है। असूया करनेवाला किसी स्थानपर सद्गुणोंको देख नहीं सकता, वह तो सदा दोषही देखता है, इसलिये निरंतर दोषोंकाही चिंतन करनेके कारण स्वयं दोषी बनता है। अपनेहि दोषसे दोषी बननेका यह एक उत्तम उदाहरण है। अतः असूया दोषसे मनुष्य अपने आपको सदा बचावे।

इस श्लोकमें असूया दोषको हटानेका जो उपदेश किया है, वह उन्नतिका मार्ग निर्विघ्न खुला होनेके लियेही है। जिसमें असूया नहीं है, वह मनुष्य दूसरोंके गुणोंको देखकर प्रसन्न होता है और अपनी अपेक्षा दूसरेने कितनी उच्चता प्राप्त की है, यह देखकर उसकी प्रशंसा करता हुआ, उसको अपना आदर्श बनाकर, उससे भी उस सद्गुणमें अधिक बननेका यत्न करता है और इस तरह उन्नत होता है। परंतु असूया करनेवाले तो दोषचिंतनके कारण गिरतेही जाते हैं।

असूयकोंको (सर्व-ज्ञान-विमूढाः) सब ज्ञान सेही मूढ बने हुए, कहा है। इससे पूर्व 'अहंकार-विमूढात्मा' अहंकारसे मूढ बननेका उल्लेख २७वें श्लोकमें आया है, परंतु यहां अहंकारसे किंवा अज्ञानसे विमूढ बननेका भाव न कहते हुए 'सर्वज्ञानसे विमूढ' होनेका वर्णन है। सर्वज्ञानसे विमूढ किस प्रकार होसकते हैं, इसका विचार अब करना चाहिये। कई लोग तो अज्ञानसे मूढ बने होते हैं, दूसरे कई अहंकारसे विमूढ होते हैं, कई तीसरे (धर्मसंमूढचेताः। गी. २।७) धर्मके वृथा अभिमानसे मूढ हुए होते हैं, इनकी मूढता तो पाठक समझ सकते हैं; परंतु 'सर्व ज्ञानोंको प्राप्त करनेपर भी मनुष्य विशेष मूढ' कैसे होते हैं, यह समझनेके लिये इसका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये।

इस श्लोकमें कहा है कि (ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः) जो इस मेरे-भगवान्‌के-उपदेशकी भी निन्दा करते हैं, भगवानके पवित्र उपदेशोंपर दोषोंका आरोप करते हैं, और (मे मतं न अनुतिष्ठन्ति) मेरे इस मतके अनुसार आचरण नहीं करते, वे (सर्वज्ञान-विमूढाः) सब ज्ञान होते हुए भी विशेष मूढ हैं और अतः ये (नष्टाः) नाशको प्राप्त होते हैं। यहां पाठक देखें कि यद्यपि ये विमूढ कहे गये हैं, तथापि ये पढे लिखे तार्किक ज्ञानवाले ही हैं, अनाडी निरक्षर नहीं। क्योंकि ये श्रीकृष्ण भगवान् जैसे अद्वितीय ज्ञानीके उपदेश

(१२) प्रकृतिस्वभाव ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

अन्वयः— ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते । भूतानि प्रकृतिं यान्ति । निग्रहः किं करिष्यति? ॥३३

ज्ञानीभी अपनी प्रकृतिके अनुसार वर्तता है । सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं, वहां हठ क्या करेगा? ॥३३॥

भावार्थ— प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुसार व्यवहार करते हैं, इतनाही नहीं, परंतु ज्ञानीभी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलता है, उसमें हठ या बलात्कारसे क्या बनेगा ? ॥ ३३ ॥

वचनोंका आशय स्वयं समझते हैं, समझकर उनके गुणोंके ऊपर दोषोंका आरोप युक्तिसे करने की बुद्धिमत्ता अपनेमें रखते हैं अर्थात् उन उपदेश-वचनोंके गुणोंको जानते हैं, परंतु जानबूझकर भी घमंडसे मानते नहीं हैं और उत्तम उपदेशोंको प्रयत्नसे हीन और दोषयुक्त बतानेका तर्क भी लडाते हैं । किसी उत्तम वक्ता प्रतिपक्षीके सदुपदेशोंको दोषपूर्ण बतानेके लिये ज्ञान अवश्य चाहिये । परंतु यह ज्ञान तर्क वितर्क और कुतर्क करनेकाहि होता है । बालकी खाल निकालना, वितंडा करना, दूसरोंके मतोंका विपर्यास करना, और प्रतिपक्षीकी सरलताका अधिकसे अधिक लाभ उठाना, तथा उसका उपहास करके अपनी जीत करनेका यत्न करना, यह इन ' सर्वज्ञान-विमूढों ' का कार्य है। यह कार्य निरक्षर अनाडीसे हो नहीं सकता । सत्यको असत्य और असत्यको सत्य सिद्ध करनेके लिये आवश्यक तर्क करनेकी विद्याके विना यह असूया हो नहीं सकती। निरक्षर अनाडी मनुष्य प्रायः सरल और श्रद्धालू होते हैं, और वे परमार्थसाधनमें शीघ्र उन्नति कर सकते हैं ।

परंतु ये पढतमूर्ख, पढे हुए होनेपरभी मूढ, सब प्रकारका शब्दज्ञान होनेपर भी जिनके मनोंपर उस ज्ञानका कुछ भी संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे ज्ञानामृत सरोवरमें गोते लगाते हुए भी कोरेके कोरे ये 'सर्वज्ञान' प्राप्त होनेपर भी 'विशेष मूढ' बडे घमंडखोर होते हैं, किसीके उपदेशका कोई परिणाम इनपर नहीं होता । ये निःसंदेह नष्ट होनेवाले ही हैं । निरक्षर लोग अनाडी और सरल होनेके कारण अच्छे होते हैं, श्रद्धालु साक्षर भी अच्छे हैं, परंतु ये शब्दशास्त्र जानते हुए भी अनाडी बहुत ही अवनत होने योग्य हैं ।

इस श्लोक का 'सर्व-ज्ञान-विमूढ' शब्द विशेष महत्त्वका है और पाठक इसका यह अर्थ ध्यानमें रखें और स्वयं ऐसे न बनें । यहां 'ज्ञान' शब्दका अर्थ 'शाब्दिक ज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान, अक्षरज्ञान, किंवा तर्कज्ञान' है । जो सात्विक, शुद्ध और श्रेष्ठ ज्ञान है उससे कदापि मूढता उत्पन्न नहीं हो सकती । परंतु केवल शब्दज्ञान जिनको हुआ है और जो अश्रद्धालू लोग तत्त्वको नहीं जानते और कभी अनुष्ठान नहीं करते, वे शब्दज्ञान प्राप्त होने पर भी असूयाका भाव बढनेके कारण विशेष मूढ बनते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं। सब प्रकारका परमार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ये अनधिकारी होते हैं । इससे सिद्ध है कि उन्नतिके लिये मनुष्यकी तर्कना शक्ति बढनेकी अपेक्षा हृदय की सात्विक श्रद्धा बढनी चाहिये ।

आगे ज्ञानवान् होनेपर भी मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है, इसलिये प्रकृतिका सुधार होनेकी आवश्यकता है, यह बात कही है; वह विशेष महत्त्वकी होनके कारण अब देखिये-

(३३) प्रत्येक प्राणीका प्रकृतिधर्म भिन्नभिन्न

है, सिंह व्याघ्र प्रकृतिस्वभावसे क्रूर हैं और हरिन अथवा गौ प्रकृतिसे हिंसक नहीं हैं। प्रत्येक योनी में उत्पन्न होनेवाले प्राणी योनिधर्म के अनुसार विभिन्न स्वभाववाले होते हैं। कई शाकभोजी, कई मांसभोजी, कई कृमिजीवी, कई भूमिशायी, कई जलशायी, कई वायुमार्गी, इसी प्रकार प्रत्येक योनीमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी प्रवृत्तियां भिन्न भिन्न होती हैं। इनकी जो प्रधान प्रकृतियां हैं वे बदलती भी नहीं; जैसा सिंह शाकभोजी नहीं हो सकता और गौ मांसभोजी नहीं बन सकती, क्योंकि यह उनका सहज प्रकृतिधर्म है। मनुष्य-मनुष्यमें भी प्रकृतिस्वभाव की भिन्नता होती है, कई मनुष्य शान्त प्रकृतिके, कई क्रोधी, कई घातकी, कई दुष्टप्रकृतिके होते हैं । इनकी प्रकृति प्रयत्न करनेपरभी बदलती नहीं । इसकारण जो वीरवृत्तीके लोग होते हैं, उनसे शमदम का कार्य नहीं होसकता, और जो शमदमशील शांत प्रकृतिके लोग हैं, उनसे घातपातका युद्ध नहीं हो सकता। जो वैश्य वृत्तिके लोग हैं और जो एक पैसा देकर डेढ पैसेका माल लेनेकी वृत्तीके हैं, वे ब्राह्मणोंके समान त्याग नहीं कर सकते और जो सेवावृत्तीके लोग हैं, उनसे वीरवृत्तीका कार्य नहीं निभ सकता। इसका कारण प्रकृतिस्वभाव है। अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे यह प्रकृति बनती है और कितना भी हट किया, अथवा बलात्कार किया, तो भी यह प्रकृतिस्वभाव नहीं हटता।

" स्व-भाव " शब्दका अक्षरार्थ ' (स्व) अपना (भाव) जन्म ' है। निज जन्मसे जो बना होता है वह " स्वभाव " कहलाता है। अन्य पशुपक्षियोंका तो स्वभाव बदलताही नहीं, मनुष्योंका भी बदलना कठिन होता है और बडा प्रयत्न करनेपर अंशमात्र बदल सकता है। विश्वामित्र जैसेने अपनी क्षात्रप्रकृति थी, वह ब्राह्मी बनायी थी, परंतु उसके लिये उसको कितने कष्ट पडे, और वह वारंवार अपनी वीर प्रकृतिपर कैसा जाता था, यह बात उसके चरित्रमें स्पष्टता से लिखी है। प्रकृतिस्वभाव बदलना इतना कष्टसाध्य अथवा असाध्यसा है।

अर्जुन वीर वृत्तिवाला क्षत्रिय है, आप्तजनों को देखकर थोडी युद्धविषयमें उसकी अप्रवृत्ती हुई है, परंतु यह चिरकाल टिकनेवाली नहीं है। क्षणमात्र उपरति हुई तथापि वह सदाके लिये टिक नहीं सकती। यह अर्जुन इस समय तपस्या करनेके लिये वनमें चलाभी गया, तो भी थोडेही समयके पश्चात् यह अपने मूल स्वभावपर अवश्य आजायगा । अतः अर्जुन के विषयमें कहा है—

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्६०
भ० गी० १८

"यदि अहंकारके वश होकर मेरी बात नहीं सुनेगा, तो नाश को प्राप्त होगा ॥ अहंकारवश तेरा यह मानना कि 'मैं न लडूंगा' एक मिथ्या निश्चय है। तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा ॥ हे कुन्तीनन्दन ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश नहीं करना चाहता, उसे तू विवश होकर करेगा ॥"

यह जो अर्जुनके विषयमें बात कही है वह प्रायः सबोंके विषयमें सत्य है। प्रकृति स्वभाव बडा दुर्लंघ्य है। अर्जुन अपनी जन्मजात वीर वृत्तीको छोडकर आगन्तुक ब्राह्मवृत्ति धारण करना चाहता था। उसके लिये वह अशक्य था, उससे वह निभना अशक्य था। जबरदस्तीसे ऐसा हठ करना किसी को भी योग्य नहीं है। प्रकृतिके अनुकूल चलते हुए जो उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना है वह योग्य है। यह निर्विघ्न मार्ग है। अर्जुन की उन्नति वीरवृत्तीके धार्मिक कर्तव्य करनेसे हो सकती थी। उसका प्राप्त कर्तव्य युद्ध था, यह भी ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जाय

तो उसका मोक्षका मार्ग सुगम हो सकता था। परंतु वह प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्तव्यसे विमुख होता है और अस्वाभाविक परस्वभावका आचरण करना चाहता है। अग्नि यदि जल बनना चाहे, या सूर्य चन्द्र बननेका यत्न करे, तो उस प्रयत्नमें जैसा उनका नाश है, उसी प्रकार अर्जुनका परकीय ब्राह्म प्रवृत्ति स्वीकारनेसे नाश होना था। इस लिये भगवान् और कहते हैं कि-

"(ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते) ज्ञानीभी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही कार्य करते हैं। ज्ञानीभी प्रकृति स्वभावके विरुद्ध कार्य कर नहीं सकते, देखिये—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्मृताः।
जीवन्मुक्तिविवेक.

"कृष्ण भोगी थे, शुकाचार्य त्यागी विरक्त थे, जनक और रामचंद्र राज्यव्यवहार दक्षतासे कर रहे थे, वसिष्ठ यज्ञयाग अध्ययन अध्यापनमें दत्तचित्त थे।" यद्यपि ये इस प्रकार अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार विविध कर्म करते थे, तथापि ये सब ज्ञानी थे। इसी प्रकार जडभरत चूपचाप रहते थे,रैक्य गाडीके नीचेपडे रहते थे, व्यासदेव विद्यार्थीयोंको पढाते थे, दुर्वास ऋषि क्रोधी थे,वामदेव शान्त थे, इसी तरह कई ज्ञानी विविध प्रकारसे व्यवहार करते थे और करते दीखते हैं। परंतु ये सब ज्ञानी हैं। ज्ञानी होनेपर भी प्रकृति धर्म बदलता नहीं। यदि वसिष्ठ युद्ध करने लग जांय, जडभरत सेनापति बनें और रामचंद्र पौरोहित्य करने लग जांय, तो वैसा करनेमें उनकी असमर्थताहि सिद्ध होगी। ज्ञानी होनेपरभी वसिष्ठसे युद्धका क्रूरकर्म होना असंभव है और जनकसे याजन होना कठीन है, क्यों कि उनकी प्रकृति भिन्न है। अर्थात् ज्ञानी होनेपर भी सब ज्ञानियोंकी प्रकृति एक जैसी नहीं होती। ज्ञानी होनेपरभी प्रकृतिके विरुद्ध कर्म नहीं हो सकता। फिर जो ज्ञानी नहीं है उस प्राकृत मनुष्यके विषयमें तो कहनाही क्या है? उसको तो अपनी प्रकृतिके अनुसारही कार्य करते हुए अपनी उन्नतिका मार्ग ढूंढना चाहिये। अन्यथा प्रकृतिके विरुद्ध कार्य करनेसे उसका नाशहि होगा।

बलात्कार, निग्रह अथवा हठ करनेसे कोई लाभ नहीं होसकता, प्रत्युत हठसे हानिही होगी। हानि इसलिये होगी, कि प्रकृतिके विरुद्ध कर्म इससे उत्तम रीतिसे होगा नहीं और प्रकृतिके अनुकूल कर्म यह छोड देगा, इसलिये यह न इधरका और न उधरका होगा और इसी कारण विनष्ट होगा।

इस श्लोकमें कहा है कि (निग्रहः किं करिष्यति) निग्रहसे क्या बनेगा? इस विधानसे निग्रह, इन्द्रियसंयम, दमन आदि नहीं करना चाहिये, ऐसा कोई अनुमान न करें। क्योंकि "सब इंद्रियोंको वशमें रखकर योगी का मुझमें तन्मय बनना चाहिये, क्योंकि जिसका अपनी इन्द्रियों पर काबु है वह स्थितप्रज्ञ होता है॥ जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इन्द्रियां रागद्वेषरहित होकर उसकी वशवर्तिनी हैं, वह मनुष्य इन्द्रियोंसे काम लेते हुए भी प्रसन्नता प्राप्त करता है॥ जिसकी इन्द्रियां चारों ओरसे विषयोंसे निकल कर अपने वशमें आजाती हैं, वह स्थितप्रज्ञ होता है॥ (भ० गी० २।६१,६२,६८) इत्यादि स्थानोंमें इंद्रियसंयम और मनोनिग्रह का जो वर्णन किया है, उसका विरोध करनेके लिये यह श्लोक यहां खडा नहीं है। संयम और निग्रह तो अवश्य चाहिये हि। परंतु जो बलात्कारसे हठ किया जाता है और जो आगे हानिकारक सिद्ध होता है, उसका निषेध यहां किया है। 'हठ' करनेका अर्थ "संयम" नहीं है। यह बात पाठक यहां ध्यानमें पूर्णतासे रखें। अन्यथा अर्थका अनर्थ होगा।

आगे इसी प्रकृतिका वर्णन कुछ अन्य दृष्टीसे किया है वह श्लोक अब देखिये—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अन्वयः-इन्द्रियस्य अर्थे इन्द्रियस्य रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयोः वशं न आगच्छेत्। तौ हि अस्य परिपन्थिनौ॥३४

इन्द्रियके विषयके संबंधमें इन्द्रिय की प्रीति अथवा द्वेष स्वभावसिद्ध हैं। उनके वशमें न होना चाहिये, क्योंकि वे इसके शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ— प्रत्येक इंद्रियका इष्ट अथवा अनिष्ट विषय निश्चित हुआ है। इष्ट विषयपर इंद्रियकी प्रीति और अनिष्ट विषयके संबंधमें द्वेष होता है। सूज्ञ मनुष्य इस रागद्वेषके आधीन न बनें, क्यों कि ये रागद्वेष उसके शत्रु हैं और शत्रुके आधीन होजाना किसीको भी योग्य नहीं है॥ ३४ ॥

(३४) इन्द्रियके (अर्थ अर्थात्) विषय निश्चित हैं। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका इन पांच इन्द्रियोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये विषय सिद्ध हैं। ये इनके निश्चित विषय हैं और इसी लिये इनमें अदलबदल नहीं हो सकता, अर्थात् कान का विषय शब्द ही होगा कोई दूसरा नहीं होगा। इसी प्रकार प्रत्येक अन्य इंद्रियका विषय निश्चित है। ऐसेहि इंद्रियका प्रेम और द्वेष भी निश्चित है अर्थात् कान का प्रेम मधुर शब्दपर होगा और कठोर शब्दपर द्वेष होगा। नेत्र का प्रेम सुन्दर रूपपर होगा और कुरूपके विषयमें द्वेष होगा। इसी रीतिसे अन्यान्य इंद्रियोंके रागद्वेषोंके विषय में जानना चाहिये। इस रीतिसे इंद्रियोंके विषय और इंद्रियोंके रागद्वेष स्वभावसे निश्चित हैं।

सुगंध, मधुर रस, सुंदररूप, मृदुस्पर्श और मीठा शब्द इनपर हरएक मनुष्यकी प्रीति होती है। जैसे ये विषय साधारण मनुष्यका चित्त आकर्षण करते हैं, उसी प्रकार साधुको भी इनसे सुख ही होगा। संयमी अथवा ज्ञानी हुआ तो भी सुगंधसे उसको दुःख नहीं होगा, और सुंदर रूपके सौंदर्यकी सुंदरता उसको सुंदरहि दीखेगी। इसी प्रकार दुर्गन्धसे वह दुःखी होगा, कुरूप उसको कुरूप हि प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि केवल इंद्रियोंका ही विचार किया जाय, तो यह बात निश्चित है कि, इंद्रियोंके राग और द्वेष निश्चित हुए हैं। इनमें बदल नहीं हो सकता।

साधु हुआ तो भी उसको मधुर रस कडुआ लगेगा और सुंदर रूप उसको भयंकर कुरूप प्रतीत होगा, ऐसी बात नहीं है। परंतु जो भेद है और जिससे साधुकी श्रेष्ठता और साधारण मनुष्य की हीनता व्यक्त होती है, वह आगेके आचरणमें है। सत्पुरुष वे हैं कि, जो सुंदरताका अनुभव करते हुए भी उससे मोहित नहीं होते, मीठे रस को मीठा मानते हुए भी उस की प्राप्ति के लिये तडफते नहीं, इसी तरह अन्यान्य प्रेम के विषयोंके द्वारा आकर्षित नहीं होते। और इंद्रियों के द्वेष्य विषयों का द्वेष करने या उनको दूर हटानेके लिये अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करते। जो लोग सुंदररूप को अपने पास रखनेके लिये और कुरूपको दूर करनेके लिये जीवनान्त-तक प्रयत्न करते हैं, वे मूढ हैं और वे अधःपतनके लिये पात्र हैं। कई राजा या बादशाहाओंने सुन्दर स्त्रीकी सुंदरतासे आकर्षित होकर परराज्यसे युद्ध करके सहस्रों निरपराध मनुष्यों को क्रूरतासे वध किया था; इसीप्रकार धनकी लूटमारके लिये भी पाशवी सामर्थ्य बढाकर रक्तपात किये थे और यथेच्छ लूटमार की थी, ये लोग और इसी तरह वर्ताव करनेवाले विषयान्ध लोग रागद्वेषके वशमें हुए होते हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अन्वयः- स्वनुष्ठितात् परधर्मात् स्वधर्मः विगुणः (अपि) श्रेयान् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः । परधर्मः भयावहः ॥३५

सुखसे आचरण करनेयोग्य परधर्मसे अपना धर्म गुणरहित होनेपरभी अधिक कल्याण करनेवाला है । स्वधर्ममें मरना कल्याणकारी है और परधर्म भयंकर है ॥ ३५ ॥

भावार्थ— अपना धर्म आचरणके लिये कितनाभी कठिन और कैसाही गुणहीन क्यों न हो, और दूसरेका धर्म अनुष्ठानके लिये अत्यंत सुगम और कितनाभी गुणवान् क्यों न हो, तथापि सुगम और गुणवान् परधर्म की अपेक्षा कठिन और गुणहीन स्वधर्म ही मनुष्यके लिये अन्तमें श्रेयस्कर सिद्ध होता है। अपने धर्मका आचरण करते हुए मरण आया, तो भी वह कल्याणकारक है, परंतु परधर्मका स्वीकार करनेसे भयंकर आपत्ति आती है ॥३५॥

ये रागद्वेष मनुष्यके शत्रु हैं, ये (परिपन्थी) बटमार हैं। मार्गपर छिपकर रहनेवालेचोर डाकू और लुटेरेके समान ये हैं। ये मनुष्यकी उन्नति के मार्गपर मित्रता करनेका बहाना करके रहते हैं, और मनुष्य वशमें होगया तो उसको जैसा चाहे वैसा नचाते हैं। शहरमें यदि कोई चोर मिला तो नगरके अन्ततक प्रेमका बहाना करता है, और वनका मार्ग आनेपर अपना क्रूररूप प्रकट करता है और नाश करता है, अथवा जैसा बचनाग का वीष खानेके लिये मीठा और परिणाममें विनाशक होता है, उसी प्रकार इन विषयोंके आनन्दके विषयमें समझना चाहिये। सब को प्रेमका विषय प्रारंभ में मीठा और परिणाममें घातक होता है। विषयों पर का राग बढते बढते मनुष्य पागल या मूढ बनता है, यह इस जगत् में में स्थान स्थानपर अनुभव आता है। एकके फंसने का अनुभव देखकर दूसरोंको सावधान होना उचित है, परंतु साधारण मनुष्य ऐसे सावधान नहीं होते, इसी लिये इस श्लोकमें कहा है कि (तौ रागद्वेषौ अस्य परिपन्थिनौ) वे रागद्वेष इस के शत्रु हैं। साधारण मनुष्य इन रागद्वेषरूपी शत्रुओंके आधीन होकर उनके कहने के अनुसार नाचने लगता है और बद्ध होता है। येही शत्रु इसको बन्धनमें डाल देते हैं। श्रेष्ठ सज्जन भी रागद्वेषोंका अवलोकन करता है, परंतु उनके वश में नहीं होता, उनसे अपने आपको स्वतंत्र रखता है; इसलिये अपनी गंभीरता में आनन्दसे रहता है।

सुखके प्रलोभन से मलिन मार्गसे न जाने और दुःखके डर से स्वकर्तव्य न छोडनेका उपदेश विशेषतया यहां है। अर्जुन हिंसारूप युद्ध स्वधर्म होते हुए भी हिंसा के भयसे छोडना चाहता था, और शमदमादि परधर्म सुखकर होनेके कारण स्वीकारना चाहता था। यहां सुकरता का मोह और दुष्करता का द्वेष अर्जुनके मनमें हुआ और अर्जुन इन रागद्वेष रूपी शत्रुओंके आधीन होगया था। इसलिये सावधान करनेके उद्देश्यसे यह उपदेश सामान्यतया अर्जुन को भगवानने किया। परंतु इस का विशेषसा परिणाम उसपर नहीं हुआ, यह देखकर फिर और विशेष स्पष्ट शब्दोंसे कहते हैं—

आधिदैविक दृष्टि ।

(३५) प्रत्येक की स्थिति उसके निज धर्मसे होती है। अग्निका स्वधर्म उष्णता, जलका स्वधर्म शीतलता, वायुका स्वधर्म शुष्कता है और इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंके स्वधर्म भिन्न भिन्न हैं।

यदि अग्नि अपने निजधर्मरूपी उष्णतासे घबराने लगा और जलकी शीतलतारूपी परधर्म स्वीकारने लगेगा, तो उसमें उसका नाश निश्चित है। इसीतरह जिस समय जल अपने शीतलतारूपी निजधर्मको छोडकर उष्णता रूपी परधर्मका ग्रहण करने लगता है, उसी समय वह परिमाण में घटने लगता है। अर्थात् परधर्मस्वीकारसे नाश निश्चित है, वह टाला नहीं जाता।

अब यह भी देखिये कि अग्निकी उष्णता, जलकी शीतता, वायुकी शुष्कता आदि सभीके सभी विविध धर्म सृष्टिमें अत्यंत आवश्यक ही हैं; फिर एकने अपने धर्म की कठिनता से घबराने और परधर्म स्वीकारनेका यत्न करनेमें लाभही क्या है? यह विचार आधिदैविक दृष्टिसे किया, अब आध्यात्मिक दृष्टिसे यही बात अपने शरीर में देखिये—

आध्यात्मिक दृष्टि।

आंख का धर्म देखना है, कान का धर्म सुनना है, नाक का धर्म सूंघना है, जिह्वाका धर्म स्वाद-लेना है। तथा अन्यान्य अवयवोंके अन्यान्य धर्म हैं। ये सब धर्म यथायोग्य प्रमाण में रहे तो हि शरीरकी सुस्थिति है, अन्यथा दुःस्थिति होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें यदि आंख सुननेका यत्न करे, कान देखनेमें यत्नवान हो, नाक स्वाद लेनेका हठ करे और जिह्वा सुगंध सूंघने लगे, तो ऐसा करना उनके लिये अशक्य है, और हठसे ऐसा परधर्माचरण कोई करने लगे, तो निःसन्देह उसका नाश ही होगा।

यहां पाठक विचार करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, परधर्म स्वीकार करनेकी अपेक्षा यदि स्वधर्मका आचरण उत्तमसे उत्तम रीतिसे करनेकी चेष्टा की जाय, तो उसमें सब काही अधिक कल्याण है। आंख,नाक,कान,जिह्वा आदि इंद्रिय अपने अपने धर्मकी पराकाष्ठा करेंगे और संयमसे अपने ही धर्म में उन्नत होंगे, तो उसमें जितना सुख मिलना संभव है, उतना सुख स्वधर्म छोडकर परधर्म स्वीकारनेसे कदापि मिलना असंभव है।

आधिभौतिक दृष्टि।

यही बात अब आधिभौतिक जगत् में अर्थात् प्राणिसमष्टीमें देखिये। ब्राह्मणोंका कर्तव्य शम-दमपालन, अध्ययन अध्यापन आदि है; क्षत्रियोंका शौर्यवीर्य पराक्रम, युद्धमें अपलायन, शत्रुनिर्दलन आदि है; वैश्यका कर्तव्य व्यापारसे धन कमाना खेती करना है; शूद्रका कर्तव्य हरएक प्रकार की कारीगरी करना अथवा त्रैवर्णिकोंकी सेवा करना है। इन चार वर्णोंके इन शास्त्रोक्त कर्तव्यों में प्रायः सब कार्य जो मनुष्य समाज की सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं, आते हैं। इन कर्तव्योंमें क्षत्रियोंका कर्तव्य क्रूरतायुक्त वध आदि प्रकार का है, कष्ट दायक है, शूद्रका भी दुःखदायक है, ऐसा कईयोंको प्रतीत होना स्वाभाविक है। समतावादी लोग कहते हैं कि—

"देखो ये पंडित लोग बैठके खाते हैं, घरमें बैठकर अध्यापन करना कोई बडी बात नहीं है, देखो क्षत्रिय लोग कितने कष्ट सहते हैं, शूद्र कितने धूपमें अंगमेहनत करते हैं, क्यों ऐसे कष्ट ब्राह्मण न करें, क्या कारण है कि ये ही मजेसे मजा मारें और दूसरे कष्ट भोगें। ये देखो पूंजीपति वैश्य आनन्दसे तकियेके साथ बैठते हैं, घरमें सोने चांदीके ढेर लगे हैं, कुछ मेहनत किये विना ये लोग चैन करते हैं और शूद्र मेहनत करनेपर भी अधेपेट की रोटी भी नहीं खा सकते! कितना अनर्थ है! सब मनुष्य एक जैसे समसमान हैं, सबका देह पांचभौतिक है, सबमें आत्मा समान है, अतः क्यों ऐसी विषमता इस जगत् में रहे।"

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दूसरोंपर अत्याचार करते हैं और दूसरोंको सताते हैं, उनके विषयमें ये या इससे भी तीखे विचार प्रकट किये जांय, तो कोई बुरा नहीं है। परंतु वैदिक

धर्म अथवा वर्णाश्रमधर्म ठीक रीतिसे पालन होनेपर कोई किसी प्रकार किसीपर अत्याचार करहि नहीं सकता। श्रुतिस्मृतिके नियम उच्च वर्णियोंको कष्टतर और नीच वर्णियोंको सुखप्रद ही हैं।

ब्राह्मण लोग विनापरिश्रम मीठे पदार्थ खाते हैं, ऐसा दीखता है, परंतु उनके पीछे जो तपस्याका धर्मनियमाचरण लगाया है वह देखा जाय तो कोई दूसरा वर्णीय मनुष्य ब्राह्मण बननेकी इच्छाहि नहीं करेगा। क्षत्रियोंके अधीन बडा अधिकार है ऐसा प्रतीत होता है परंतु क्षत्रियको राज्यशकट चलानेका तो दुःखदायी कार्य है, उस के लिये ये अधिकार उसके साथ रहनाही आवश्यक है। वैश्य पूंजीपति इसी लिये होता है कि उसका यह संग्रहित धन राष्ट्रके हितके लिये खर्च करनेका पुण्य प्राप्त हो। ये त्रैवर्णिक आयुष्यका प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या का कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, उस में इनके लिये भोग की प्राप्तिहि नहीं है। ब्रह्मचर्यके पश्चात् बीस पचीस वर्ष गृहसौख्य भोगते हैं, पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास ये तपस्याकेहि आश्रम लेते हैं। वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करनेके पूर्व द्विज प्रायः सर्वमेध यज्ञ द्वारा अपनी कमाई सब राष्ट्र के लिये त्याग देता है, जाती की भलाई के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करता है। इसप्रकार वैदिक धर्म में धर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण पोप नहीं, क्षत्रिय क्षत्रप नहीं और वैश्य भी पूंजिपति नहीं। अर्थात् आजकल के ये निन्दनीय शब्द वैदिक धर्मियोंके लिये प्रयुक्त करना बडा अन्याय करना है। जहां प्रत्येक गृहस्थी इष्ट मित्र पारिवारिक जन नौकर चाकर आदि सब का भोजन यथायोग्य रीतिसे होनेके पश्चात् ही स्वयं भोजन करनेवाला होता हैं, परिचारकोंके पूर्व कोई गृहस्थी का भोजन होना असंभव है, और वह भोजन भी अवशिष्ट अन्न का होगा, वहां विषमतावाद उपस्थितहि कैसे हो सकता है? वर्णाश्रमधर्म समतावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका विशेष विवरण करनेका स्थल यहां नहीं है, तथापि संक्षेपसे यह बात यहां दर्शायी है, उतनी वैदिक धर्मके साम्यवाद का निदर्शन करनेके लिये पर्याप्त है। ये चार वर्ण मिलकर एक राष्ट्रदेह होता है, देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
ऋ० १०।९०।१२

"ब्राह्मण इस समाज का मुख है, क्षत्रिय इस समाज का बाहू बनाया है, जो वैश्य है वह इस समाज का ऊरू है, और पांवोंके लिये शूद्र है।" इस तरह ये चार वर्ण राष्ट्रपुरुष के चार अवयव के लिये माने हैं। जैसा सिर, बाहु, ऊरु और पांव ये शरीर की सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं, समतावादी के मतानुसार शरीरमें केवल सब अवयव सिर, अथवा सर्वत्र बाहु, किंवा सब स्थानपर पांव ही पांव बनाये जांय तो अनिष्ट होगा, उसी प्रकार समाज की सुस्थिति के लिये भी सब लोग केवल ब्राह्मण, केवल क्षत्रिय, केवल वैश्य अथवा केवल शूद्र बनाये अथवा प्रत्येक मनुष्यमें सब वर्णोंकी खिचडी बनानेका यत्न किया जाय, तो भी समाज की आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती। वैसा होनेपर समाज असुर बनेगा, और उसमें आर्यत्व न रहेगा। इसका कारण यह है कि—

मनकी विषमता।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ० १०।७१।७

"आंखवाले और कानवाले सभी लोक समानतया होते हैं, परंतु ये सब मनके वेगमें विषम होते हैं।" इस लिये उनमें विषमता रहती है। समतावादी मनोवेगका विचार नहीं करते, इस लिये फंसते हैं। और वैदिक वर्णाश्रमधर्ममें इस मनोवेगका विचार उत्तम रीतिसे किया है, इसी लिये यह एकहि धर्म जगत् का उद्धार करनेके लिये समर्थ है।

अर्जुन उवाच- अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच- हे वार्ष्णेय ! अथ केन प्रयुक्तः अयं पूरुषः, अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव, पापं चरति ? ॥ ३६ ॥

अर्जुनने पूछा- हे श्रीकृष्ण ! अब (यह बतलाओ कि) किसकी प्रेरणासे यह मनुष्य, इच्छा न रहनेपरभी, बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भावार्थ— मनुष्यकी इच्छा पाप करनेकी ओर न होते हुए भी, किसीके आधीन होकर कार्य करनेके समान, यह मनुष्य किसी किसी समय पापाचरण करता है मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति किस हेतुसे होती है ?

ऊपर लिखित चारों वर्णोंमें क्षत्रियका और शूद्रका धर्म कष्टप्रद है यह बात सत्य है, और ब्राह्मणका और वैश्य का घरबैठा व्यवहार होनेके कारण उस प्रकारके कष्ट इनमें नहीं है यह बात भी सत्य है। परंतु उनमें बिलकुल कष्ट नहीं है ऐसी बात नहीं है। एक वर्णके धर्ममें एक प्रकार के कष्ट हैं तो दूसरे वर्ण के धर्म में दूसरे प्रकार के कष्ट हैं और एकमें एक प्रकार का सुख है, तो दूसरेमें दूसरे प्रकारका सुख है। विचार करनेपर पता लग जायगा कि सब वर्णों के लिये सुख और कष्ट समानतया बांटनेका यत्न धर्मस्थापकोंने किया है और यदि कुछ विशेष किया है तो यही है कि उच्च वर्णियोंको तपका जीवन अधिक रखा है और निचले वर्ण को भोग का जीवन अधिक रखा है।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण में कुछ कष्ट और कुछ सुख है, इसी लिये अपना जन्मप्राप्त स्वधर्मविषयक कर्तव्य का त्याग करके दूसरेका धर्म सुसाध्य प्रतीत होता है, इस लिये उसका स्वीकार करना मूढता का कार्य है। जिसका जो कर्तव्य स्वभाव से प्राप्त है, स्ववर्णसे आया है, सहजन्म-सहज-से हि प्राप्त हुआ है, वही उसको सुकर है। दूसरे का कर्म आज सुकर प्रतीत हुआ, तो भी अन्तमें वह भ्रम था ऐसा ही अनुभव होगा। और स्वधर्मत्याग और परधर्मानुष्ठान करनेका यत्न अन्तमें हानिकारक हि सिद्ध होगा।

इसीलिये कहा है कि (स्वधर्मे निधनं श्रेयः) स्वधर्म आचरण करते करते मरण आगया, तो भी वह कल्याणकारी होगा, परंतु परधर्म के आचरणसे कुछ अभ्युदय होता है ऐसा भी प्रारंभ में प्रतीत हुआ, तो भी वह (परधर्मो भयावहः) परधर्म भयंकर हानिकारक है।

हानिकारक होते हुए मनुष्य क्यों उस पाप कर्म में प्रवृत्त होता है, कौनसा अन्दरका भाव है जिससे यह मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, यह उत्तम प्रश्न यहां अर्जुनने किया है, यह प्रश्न और उसका उत्तर अब देखिये—

(३६) प्रत्येक मनुष्य पापाचरण के लिये तुला होता है ऐसी बात नहीं। प्रायः मनुष्य जानताभी है कि, पापका फल दुःख है और इस कारण वह पापसे बचना भी चाहता है, बचने का यत्न भी करता है। परंतु इसकी पाप न करनेकी इच्छा होनेपरभी किसीके दबावमें आनेके समान यह मनुष्य पापकर्म में खींचा जाता है, और इच्छा न रहनेपरभी इससे पाप होता है। बचना चाहता हुआ भी बचता नहीं है। यह क्या चमत्कार है? कौन इसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है? मनुष्यका

(१२) पापप्रवृत्तिका कारण ।

श्रीभगवानुवाच— काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः— रजोगुण-समुद्भवः महाशनः महापाप्मा एषः कामः, एषः क्रोधः (अस्ति; त्वं) एनं इह वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥ यथा धूमेन वह्निः, यथा च मलेन आदर्शः आव्रियते; यथा उल्बेन गर्भः आवृतः, तथा तेन इदं आवृतम् ॥ ३८ ॥

रजोगुणसे उत्पन्न हुआ, बडा खानेवाला और बडा पापी, यह काम और यह क्रोध (मनुष्यका प्रेरक है । परंतु तू) इसको इस लोकमें शत्रु समझ ॥३७ जिसप्रकार धूवेंसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है और जैसा झिल्लीसे गर्भ वेष्टित होता है, उसी प्रकार इस (काम)से यह सब (ज्ञान) आच्छादित होता है ॥ ३८ ॥

ऐसा कौन चालक है जो इसको घसीटे लेजाता है और पाप करवाता है ?

अर्जुनका यह प्रश्न श्रवण कर श्रीभगवान् श्रीकृष्ण उसका उत्तर देते हैं ।

(३७-४१) अर्जुन ने प्रश्न किया था कि "मनुष्यकी इच्छा न होते हुए भी मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति क्यों होती है?" इसके उत्तर में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन! मनुष्य के इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें काम रहता है, वह मनुष्य की इच्छा न होनेपर भी उसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है । यह काम सदा भूखा और पापमें प्रवृत्त रहता है, कभी कितना भी भोग प्राप्त हुआ तथापि तृप्त और शान्त नहीं होता । जैसा काष्ठों और घी से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार भोगोंसे यह काम कदापि शान्त नहीं होता । यह मनुष्यका शत्रु है और यह मनुष्य के ज्ञान विज्ञान को घेर कर मनुष्य के कल्याण का नाश करता है । इस लिये कोई मनुष्य इस काम के आधीन न बने, परंतु सब इंद्रियोंका संयम करके इस को रहनेके लिये अपनी इंद्रियोंमें कोई स्थान मिलने न दे ।"

छः शत्रु!

मनुष्य के छः शत्रु हैं, उनके नाम काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये हैं । इन शत्रुओंका मुखिया काम है, क्यों कि कामके कारणहि अन्य शत्रु मनुष्यमें रहते हैं । देखिये—

कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः ॥ भ० गी० २।६२

"कामसे क्रोध होता है और क्रोधसे मोह होता है ।" कामसे लोभ भी होता है इसी प्रकार अन्यान्य विकार भी होते हैं । अतः काम मुख्य है और शेष विकार उसके अनुयायी हैं । यह काम ही मनुष्यका प्रेरक है । यहां काम शब्दका अर्थ स्त्रीविषयक भोगभावना है, इसके अतिरिक्त काम का अर्थ 'इच्छा' भी है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! नित्यवैरिणा एतेन दुष्पूरेण कामरूपेण अनलेन ज्ञानिनः ज्ञानं आवृतम् ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानं उच्यते । एषः एतैः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति ॥ ४० ॥ हे भरतर्षभ! तस्मात् त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य, ज्ञानविज्ञाननाशनं एनं पाप्मानं प्रजहिहि ॥ ४१ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सबके नित्यवैरी, कभी तृप्त न होनेवाले इस अग्नि सदृश कामसे ज्ञानीका ज्ञान ढक जाता है ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (कामरूपी शत्रु) का निवास स्थान कहा जाता है, यह (काम) इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके देहधारी जीवात्माको विशेष मोहित करता है ॥४०॥ हे भरतश्रेष्ठ! इसलिये तू पहिले इन्द्रियोंका संयम करके, ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापीका परित्याग कर ॥ ४१ ॥

भावार्थ— रजोगुणसे काम और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है । यह काम सदा अतृप्त, भूखा और मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला है । अतः यह मनुष्यका शत्रु है। इस काम और क्रोधसे मनुष्यका ज्ञान नष्ट होता है। मनुष्यके इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें यह घर करके निवास करता है और यह मनुष्यके ज्ञानको घेरकर उसको मोहित करता है । इसलिये मनुष्य संयम द्वारा अपने सब इन्द्रियोंको स्वाधीन करे और ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी शत्रुकी संगति छोड देवे ॥ ३७-४१ ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋग्वेद १०।१२९।४

"(अग्रे यत् मनसः प्रथमं रेतः आसीत्)प्रारंभमें जो मनका पहिला वीर्य प्रकट हुआ वह काम (अर्थात् प्रवृत्ति शक्तिरूप काम) हुआ । यही (असति सतः बन्धुं निरविन्दन्) असत् सृष्टि के अन्दर सत् आत्माके साथ संबंध करनेवाला है, यह बात ज्ञानी लोगोंने मनमें विचार कर निश्चित की है ।"

इस मंत्रमें कहा है कि सृष्टिके प्रारंभमें ईश्वरके मनसे जो वीर्य प्रकट हुआ वह काम है । काम का अर्थ सृष्टि निर्माण करनेकी इच्छा, कार्य करनेकी इच्छा, अपनी शक्ति प्रकट करने की इच्छा, निवृत्ति छोड प्रवृत्तिमें आनेकी इच्छा । यही काम गृहस्थाश्रमियोंमें स्त्री की प्राप्तिकी इच्छासे प्रकट होता है और संतान निर्माण करने की इच्छा इसी काम का एक अंश गृहस्थाश्रमियों में निवास करता है ।

गृहस्थीका परोपकार ।

वस्तुतः देखाजाय तो यह काम जो परमेश्वरके

मनसे प्रारंभ में प्रकट हुआ, उसमें सब जीवोंपर उपकार करनेकी इच्छा प्रधानतया थी। सब जीवोंको मुक्तिधाम का मार्ग खुला हो जावे, इस लिये सृष्टि निर्माण करनेका काम आप्तकाम परमेश्वरके मनमें प्रकट हुआ। इसी प्रकार गृहस्थियोंके मनमें जो सन्तानोत्पत्तिका काम उत्पन्न होता है, वह यदि धर्ममर्यादातकहि नियमित रहा, तो उसमें भी जीवोंपर उपकार करनेकी ही भावना है। पाठक यहां आश्चर्ययुक्त न हों और गृहस्थी के गर्भाधान करनेमें परोपकार कहां है ऐसा कह कर इस गंभीर विषयका उपहास न करें। यह गर्भाधानका विषय भी धर्मानुकूल रहनेपर परोपकारका हेतु हो सकता है। विवाहबंधनसे जो स्त्रीपुरुष एकत्रित होते हैं, उनके एकत्र सहवासमें धर्मनियमके अनुसार देखा जाय तो कामुकताका गन्ध भी नहीं है। शुद्धाचारके स्त्रीपुरुष अपना संयम चलाते हुए और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, जो गर्भाधानार्थ सहवास करते हैं, उस से जीवात्माओंको इस कर्मभूमिमें आकर अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करनेके लिये पवित्र अवसर मिलता है। यह अवसर देना बडे परोपकार का कर्तव्य है। जिन जीवोंने पूर्व जन्ममें मुक्तिका आधामार्ग काटा है और जो शेष मार्ग शीघ्र आक्रमण करना चाहते हैं, वे योगभ्रष्ट लोग संयमी योगियोंके घरोंमेंहि जन्म लेते हैं। वे सामान्य आचारभ्रष्टों के घरोंमें नहीं आ-सकते, क्योंकि कहा है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥४३॥
भ० गी० ६।४१-४३

"पुण्य करनेवाले लोग जिस लोक को पाते हैं, उसे पाकर, वहां दीर्घ कालतक रहकर, योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र योगसाधनसंपन्न योगी के घर जन्म लेता है। किंवा वह ज्ञानयोगी के ही घर जन्म लेता है। संसारमें इस प्रकार का जन्म अत्यंतहि दुर्लभ है। वहां उसे पूर्वजन्मके बुद्धि-संस्कार मिलते हैं और वह वहां से मोक्ष के लिये आगे प्रगति करता है।"

इस तरह पाठक जान सकते हैं कि संयमी योगी जो गर्भाधान के लिये सहवास करते हैं, वह अपने कामसुखके लिये नहीं, प्रत्युत योगी जीवोंको आगेका मार्ग आक्रमण करनेका अवसर दिलानेके लियेहि है। वस्तुतः यह काम इतना परोपकार का हेतु है, परंतु यह सामान्य भोगी जीवोंके आधीन होनेके कारण इतना तिरस्करणीय हो गया है। यहां जिस भोगरूप काम का तिरस्कार किया है, वह यही हीन काम है। यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है, इस विषयमें देखिये—

रजोगुणसे काम।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥
संजयति रजः कर्मणि भारत ॥९॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥१५॥
रजसस्तु फलं दुःखं..........॥१६॥
रजसो लोभ एव च (जायते) ॥१६॥
भ० गी० १४।७-१७

"रजोगुण भोगतृष्णा और आसक्तिका मूल है, यह देहधारी कोभोगप्राप्तिकेलिये कर्मपाशोंमें बांध देता है॥ रजोगुण कर्ममें मनुष्यको प्रवृत्त करता है॥ जब मनुष्यमें रजोगुण बढता है, तब उसमें लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका प्रारंभ करनेकी रुची, मनकी अशान्त वृत्ति, और इच्छा का उद्गम होता है॥ रजोगुणमें मृत्यु होनेसे कर्मसंगी लोगोंमें जन्म होता है॥ रजोगुणका फल दुःख है तथा रजोगुणसे हि लोभ होता है॥" रजोगुण

का इस प्रकार वर्णन चौदहवें अध्यायमें है और अठारहवें अध्यायमें देखिये—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८
भ० गी० अ० १८

"जिससे सब भूतों में भिन्न भाव, भेदभाव दीखता है वह राजस ज्ञान है॥ जो भोग की इच्छासे होता है, जो अहंकारसे कर्म किया जाता है, और बडे परिश्रमसे जो कर्म होता है वह राजस कर्म है॥ जो भोगी, कर्मफल भोगनेकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसाशील, अपवित्र और हर्ष तथा शोक करनेवाला है, वह कर्ता राजस कहलाता है॥ जिससे धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य के विषयमें अयोग्य विचार होता है वह राजस बुद्धि है॥ जो विषयों और इंद्रियों के संबंधसे होता है, जो प्रारंभमें मीठा लगता है परंतु अन्तमें विष जैसा प्रतीत होता है उसको राजस सुख कहते हैं॥"

इससे रजोगुण का क्या परिणाम है यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। इस का तात्पर्य यह है—

"रजोगुणसे भोगवृत्ति बढती है, भोगतृष्णा असह्य होती है, फलासक्ति होती है, भोगप्राप्तिके लिये कर्म होते हैं, मनुष्य लोभी बनता है, मन अशान्त होता है, सब कुछ सुख मुझे चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, इस प्रवृत्तिसे दुःख बढता है, भेद और कलह बढते हैं, अहंकार की वृद्धि होती है, बडे परिश्रम से भोग संपादन करनेका यत्न होता है, हिंसा अर्थात् दूसरेका घातपात करनेकी वृत्ति बढती है, अपवित्रता बढती है, किसी समय हर्ष और बहुत समय शोक होता है, धर्म अधर्म का विचार नहीं होता, कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं दीखता, विपरीत अर्थात् असत्य ही सत्य प्रतीत होता है, इंद्रियोंके विषयोपभोग बहुत भोगनेकी वृत्ति बढती है, यह विषयसुख पहिले मोहकसा प्रतीत होता है और अंत में यही विषके समान नाशक सिद्ध होता है। अर्थात् इस रजोगुणसे दुःखही बढता है।"

सारांश से यह वर्णन पूर्वोक्त गीताके श्लोकोंमें कहा है। इस प्रकारके रजोगुणसे यह काम उत्पन्न होता है और कामोपभोग में विघ्न आने लगा तो कामीकोही क्रोध उत्पन्न होता है।

बडा पेटू काम।

यह काम (महा-अशनः) बडा खानेवाला है, इसने कितना भी खाया तो भी इसका पेट भरता नहीं। यह सदा भूखा रहता है। कामी मनुष्य को कितने भी भोग प्राप्त हों, वह कदापि तृप्त नहीं होता, आगे और भोग चाहिये ऐसाही यह कहता जाता है। भोग प्राप्त करनेमें कितने भी पाप करने पडें, उस का विचार यह नहीं करता, इस लिये इसको (महापाप्मा) बडा पापी कहा है। सब पाप इस काम के आश्रयसे हि होते हैं। हिंसा, घातपात, कर्तव्य न करना और अकर्तव्य करना, खानपानका विधिनिषेध न धारण करना, ये और ऐसे अनेक पाप इसीके कारण होते हैं। जिसप्रकार अग्नीपर धूम्र का आवरण होता है और दर्पणपर मलका आच्छादन होता है, उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मापर इस कामका आवरण है, किंवा मानो मनुष्यके अन्तःकरण पर यह आवरण है। इसी आवरणके कारण मनुष्य मोहित होता है और कर्तव्यसे भ्रष्ट होता है।

यह कामरूपी अग्नि (दुष्पूरः) कभी शान्त न

होनेवाला है। कितनीभी इसमें भोगकी आहुतियां डालीं, तथापि यह शान्त नहीं होगा। यह काम का गढा कभी भरता नहीं, इसमें कितनेभी भोग डालो, यह सदा खाली ही रहता है। साथही साथ यह (महा-पाप्मा) बडा पापी है। पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला यह है। भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पाप करेगा, इसका कोई पता नहीं है। यदि धर्माचरण करनेसे उसको भोग प्राप्त हुए तो वह धर्माचरण करेगा, परंतु यदि धर्माचरण करनेसे उसके भोगोंमें कुछ न्यूनता हो जाय, तो वह पापाचरण करनेमें भी पीछे नहीं हटेगा। सब पाप प्रायः भोगवृत्ती बढानेसेहि होते हैं। इसलिये कामको यहां 'बडापापी' (महापाप्मा) कहा है। जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है, शत्रु कहलाता है। क्यों कि पापसे दुःख होता है और दुःख देना शत्रुत्वका चिन्ह है।

यहां कई कहेंगे कि जो लोग बहुत समयतक भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और पाप कर्म करनेसे भी भाग प्राप्त करते हैं, क्या वे सदाके लिये गिर जाते हैं? क्या उनको उद्धारकी कोई आशा नहीं है? इस प्रश्नके उत्तरमें अगला श्लोकहि कहता है कि ऐसे भोगी लोग सदाकेलिये अन्दरसे बिघड जाते हैं ऐसी बात नहीं है, यह एक उनके शुद्ध आत्मापर आवरणसा आता है। जैसा अग्निपर धूवां, दर्पणपर मल, और गर्भपर झिल्ली होता है उसी प्रकार इसकी आत्मापर कामका-भोगेच्छा-का आवरण होता है। इन तीनों उपमाओंमें पाठक देखें कि, धूवेंके अन्दर प्रदीप्त होने योग्य अग्नि विद्यमान रहती है, मलके आवरण के बीचमें दर्पणका शीशा जैसा का वैसा शुद्ध रहता है और झिल्लीके अन्दर सुन्दर बालक जीवित और जाग्रत रहता है, वैसीही भोगकी इच्छाके अन्दर आत्मा रहता है, सदाके लिये बिगडता नहीं। अग्निको धमनीसे वायु दिया तो अग्नि प्रदीप्त होती है, दर्पण धो दिया तो पुनः स्वच्छ शीशा बनता है और झिल्ली हटानेसे अन्दरसे सुन्दर बालक निकल आता है, इसी प्रकार संयमसे भोगेच्छा को दूर किया, तो शुद्ध आत्मा अपनी निज शक्तियों के साथ प्रकट होता है!! अर्थात् जैसा धूवां रहनेतक अग्नि जलती नहीं, ऊपर मल रहनेतक दर्पण में मुख नहीं दीखता, और झिल्लीके अन्दर वेष्टित होनेतक अन्दरका बालक जगत्का अनुभव नहीं करता, इसीप्रकार भोगेच्छा प्रबल रहनेतक हि भोगीका आत्मा अशक्त-सा प्रतीत होता है। अतः उसको सदाके लिये पतित समझना अयोग्य है तथापि जबतक भोगोंके विषयमें प्रबल इच्छा रहेगी, तबतक उस आत्माकी निज शक्तियोंका प्रकाश होना सर्वथा असंभव है और भोगेच्छा रहनेतक दुःखोंसे छूटनाभी अशक्य है। और इनके संस्कारभी इनके ऊपरसे हटनेके पश्चात् कुछ कालतक अवश्य कष्ट देते रहेंगे।

यह काम (ज्ञानिनः वैरी) ज्ञानी का वैरी है अर्थात् यह ज्ञानीके साथ कभी नहीं रहता। सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है। जिस प्रकार सूर्य के साथ अंधेरेका वैर है, उसी प्रकार ज्ञान के साथ काम का वैर है। भगवान् शंकरने अपना तृतीय ज्ञाननेत्र खोलकर उसके तेज से मदन को जला दिया, ऐसी कथा पुराणोंमें है। इस कथामें भी श्रीशंकरको "कामारि (काम+अरि)" काम का शत्रु कहा गया है। काम और मदन एक ही हैं और श्रीशंकर पूर्ण ज्ञानी हैं। अतः इनका नाम 'उमा-पति' (उमा=विद्या) विद्यापति ज्ञानी है। यह ज्ञानी होनेसेही यह कामको जला सका। जो ज्ञानी नहीं होता वह कदापि काम का नाश नहीं कर सकता। इस कथा से भी काम ज्ञान का वैरी है यह बात सिद्ध होती है। जहां काम होगा वहां ज्ञान नहीं रह सकता और जहां ज्ञान है वहां काम नहीं बढ सकता। इसी लिये ब्रह्मचर्य आश्रममें ज्ञानार्जन करनेका कार्य आवश्यक कर्तव्य है ऐसा लिखा

है, क्योंकि उस आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रममें विवाहादि होनेपर यदि यह काम के आधीन बना, तो ज्ञान प्राप्त करने का कार्य कठिन हो जाता है। यह काम ज्ञानका वैरी है इसी लिये (एतेन ज्ञानं आवृतं) यह ज्ञानको घेरता है। ज्ञान का मुख्य इंद्रिय मन और बुद्धि है, जब इस को यह काम घेरता है तब वहां मूढता छायी जाती है। जैसा शत्रुका सैन्य कीले को घेरता है और कीलेके अन्दर के वीरोंका संचार रोकता है, इसी प्रकार यहां यह काम मनबुद्धिको घेरता है और उनकी स्वतंत्रता का नाश करता है। अर्थात् ऐसे समय मनबुद्धि कामके आधीन होती है और जिस मार्गसे यह लेजाता है, उसी मार्गसे मनबुद्धि जाती है।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर यहां इस तरह मिला है। इच्छा न रहनेपर भी मनुष्य पाप किस कारण करता है, यह अर्जुनका प्रश्न था। इसका उत्तर यह है कि जब कामके द्वारा मनबुद्धि घेरी जाती है और कामके वशमें हो जाती है, तब उसका स्वामी काम हो जाता है और कामही उसका चालक होता है। शरीरका वास्तविक चालक और स्वामी आत्मा है,तथापि वह शत्रुके आधीन हुआ होता है। राज्य शत्रुके आधीन होकर राजा शत्रुके जेलखानेमें पडने के समान अवस्था यहां बन जाती है। इस तरह जो पराधीन-कामाधीन-बनते हैं वे कामके द्वारा अर्थात् शत्रुके द्वारा चलाये जाते हैं। अतः वे कामकी आज्ञानुसार भोगोंमें फंसते हैं और पापमें प्रवृत्त होते हैं। अतः सब लोक इस कामको अपना (नित्य वैरी) शत्रु समझें और संयमसे इसको दबाये रखें, इसको प्रबल होने न दें। 'निष्काम' बनने के मुख्य हेतुका पता पाठकोंको यहां लग सकता है।

यह (कामरूपः अनलः) कामरूप अग्निहि है। यह अग्नि यदि किसी मनुष्यके शरीरमें लगा, तो वह इस मनुष्यके सब सुखोंको और कल्याणोंको जलाता है। अतः इस अग्निको शान्त करना चाहिये। यदि इसमें भोगकी लकडियां और विषयसुखोंका घृत डाला जाय, तो यह अधिकाधिकहि प्रदीप्त होगा, और अधिकहि जलायेगा। अतः इसके आसपासका भोगेच्छा का घास काटना चाहिये, संयम और दमनका तथा निग्रह का जल इसपर डालना चाहिये और वैराग्य के पत्थरपर इसको रखना चाहिये। जिससे इसको प्रदीप्त होनेके लिये कुछ न मिलेगा, और यह स्वयं शान्त होगा और आगे किसी को कष्ट नहीं देगा। परंतु जो मनुष्य भोग बढाकर इस काम को शान्त करना चाहते हैं, वे बडी गलती करते हैं, उनके प्रयत्नसे यह बढता है और सर्वस्वकी आहुती लेता है। अतः 'असंग' शस्त्र से इस का नाश करना चाहिये।

मनुष्य की मनबुद्धीमें यह रहता है, 'मैं तुम्हारा हित करूंगा' ऐसा बहाना करके मनुष्यके मनको अपने ढंगोंके पास आकर्षित करता है और इस प्रकार भुलावा देकर अपना अधिकार मनपर जमा लेता है। इसलिये मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये और काम के आधीन नहीं होना चाहिये।

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥(४१)

"इसलिये तू पहिले इंद्रियोंका संयम करके, ज्ञान विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापीका त्याग करो।" इस काम का त्याग कर अथवा नाश कर। इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, यह उपाय है जिससे-केवल इसी उपायसे-कामको दबाया जा सकता है। दूसरा उपाय नहीं है।

इस श्लोकमें दो प्रकार से पदच्छेद होता है एक (प्रजहिहि) परित्याग कर, और दूसरा (प्रजहि) मार डाल, नाश कर। यहां दूसरे पदच्छेद की अपेक्षा पहिला अच्छा है। क्योंकि 'काम' का नाश-पूर्ण नाश-प्रारंभमें अभीष्ट नहीं है, परंतु उसको धर्मयुक्त बना देना अभीष्ट है। इस

१४ श्रेष्ठ शक्ति।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥ [१६२]

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अन्वयः- इंद्रियाणि पराणि आहुः, इंद्रियेभ्यः मनः परं, मनसः तु बुद्धिः परा, यः तु बुद्धेः परतः सः (आत्मा अस्ति) ॥४२॥ हे महाबाहो! एवं (आत्मानं) बुद्धेः परं बुद्ध्वा, आत्मना आत्मानं संस्तभ्य, कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि ॥४३॥

शरीरसे इंद्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है वह (आत्मा है) ॥४२॥ हे महाबाहु अर्जुन! इस प्रकार (आत्माको) बुद्धिसे भी श्रेष्ठ जान कर अपनी शक्तिसे अपना संयम करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश कर ॥४३॥

भावार्थ- शरीरपर अधिकार इंद्रियोंका है, इंद्रियोंपर मन का प्रभुत्व है, मन पर बुद्धि अधिकार चलाती है, बुद्धिपर आत्माका शासन है। अर्थात् आत्माका शासन सबपर है। यह बात ठीक प्रकार जानकर ,आत्माकी सर्वोपरि शासक सत्ताका अनुभव करके, आत्माकी निज निश्चयात्मक शक्तिसेहि आत्माका समाधान करके, अर्थात् आत्माको शान्त करके, मनुष्य इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश करे ॥४२-४३॥

लिये उसके नाश की अपेक्षा प्रथम उसको दूर रखना योग्य है। धर्म की जिस समय आज्ञा होगी, उस समय उसको अपने पास बुलाना, धर्मकी आज्ञानुसार कार्य करना और फिर उसको दूर करना योग्य है। यदि उसका बिलकुल नाश किया जाय, तो उससे यह कार्य नहीं हो सकता। त्यागने का अर्थ है 'अपने पास सदा न रखना, दूर रखना;' और मारना तथा नाश करनेका अर्थ है 'उसका अस्तित्व ही मिटा देना।'

अस्तु। आगे यही विषय अन्य रीतिसे कहा है, इसलिये वह भाग अब देखिये—

आत्मशासन।

(४२-४३) मनुष्यके शरीरमें किसका शासन चलना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस का सबको विचार करना चाहिये। हमने (श्लो० ३७-४१ में) इससे पूर्व देखा है कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ 'काम' नामक शत्रु इस शरीरमें शासन चलाता है; कामके पीछे समय समयपर क्रोध रूपी दूसरा शत्रु भी यहां अपना शासन जमा लेता है; किसीसमय लोभ, मोह, मद (घमंड) और मत्सर इन महा रिपुओंमें से कोई एक यहां का राज्य चलाता है। यह बात हम देखते हैं और अनुभव करते हैं, कि इस शरीररूपी महाराज्यमें समयसमयपर किसी न किसी शत्रुका राज्य-शासन होता है!! अतः विचार करना पडता है कि वास्तविक रीतिसे यहां किसका शासन होना चाहिये? इस शरीररूपी महाराज्यका सच्चा राजा कौन है? यदि कोई सच्चा दूसरा सम्राट् है, तो विचार करना चहिये कि वह रहता कहां है,

उसकी शक्ति क्या है, उसके होते हुए भी ये शत्रु उसके राज्यपर अधिकार क्यों चलाते हैं? इसका विचार करनेके लियेही ये दो श्लोक यहां आये हैं और इनमें सच्चा सम्राट् आत्मा है यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात बतायी है।

इस शरीरमें कार्य करनेवाली आत्माकी शक्तियोंके विचार का नाम है "अध्यात्मविचार" इस अध्यात्मविचार के अनुसार "आत्मा" यहां का सम्राट् है, अतः इसी का शासन यहां चलना चाहिये। आत्माकी सहधर्मचारिणी सम्राज्ञी बुद्धि है, आत्मा बुद्धिके साथ विचार करके यहां का शासन चलाता है। आत्मा और बुद्धीके नीचे इस का सेनापति मन है और इसके आधीन सब प्रांतोंके अधिकारी हैं। कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये ज्ञानके प्रांत हैं, तथा हाथ, पांव, मुख, मूत्रद्वार और मलद्वार ये कर्मके प्रांत हैं। इन दस प्रान्तोंके अतिरिक्त अनेक विभाग इस शरीरमें हैं, परंतु उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त दस प्रांतोंपर इस सम्राट् आत्माराम के अधिकारी कार्य करते हैं, परंतु समय मिलनेपर और आत्मारामके भोले स्वभाव के कारण प्रत्येक प्रांत का अधिकारी-सूभेदार-अपने प्रांतमें स्वतंत्र बनता है और वहां अपने मन के अनुसार, जैसा चाहे वैसा, वर्ताव करने लगता है!! कई प्रसंगोंमें एकसे अधिक प्रांतोंके अधिकारी मिलकर सम्राट् आत्माराम के शासन का विरोध भी करते हैं, और यहां ये असत्याग्रह और असहकार भी करते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक अपने स्वार्थ के लियेही प्रयत्न करता है और सबकी भलाई में अपनी भलाई देखनेवाला इनमें कोई नहीं है।

कई अधिकारी बहुत समय 'कामक्रोध' आदि दुष्ट शत्रुओंको वश होते हैं और सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं!! समय समय पर इस का ऐसा परिणाम होता है कि, उक्त षड्यंत्रमें इस आत्मा का पूर्ण पराजय होता है और इसका साम्राज्य पूर्णतया शत्रुके आधीन हो जाता है। इस आत्माराम के सब अधिकारी ऐसेही अविश्वास रखने योग्य हैं और जिस समय यह इनपर पूर्ण विश्वास रखता है, उस समय इसी प्रकार फंस जाता है। इसी लिये इन श्लोकोंमें इस आत्माको अपना अधिकार जमानेका और (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निज शक्ति से अपने शासन की स्थिरता करके, अपने राज्यमें घुसे हुए शत्रुओंको परास्त करनेका उपदेश किया है।

आत्मा मुख्य और श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त है, यह सर्वशक्तिमान् और इसीका शासन सर्वतोपरि है। प्रत्येक मनुष्य यह बात मनमें स्थिर रखे कि मेरे आत्माका शासनहि इस शरीर में चलना चाहिये। मैं अपने आत्माको ऐसा दृढ और ऐसा बलवान बनादूंगा, कि जिससे मेरे आत्माकाही शासन यहां चलेगा।

मैं अपनी धर्मपत्नी बुद्धिको धर्मानुकूल चलनेवाली और मेरी वशवर्तिनी बनाऊंगा। समय-समयपर काम आदि शत्रुओंको यह आश्रय देती है और यह उनके वश हो जाती है और मुझ आत्माको भी बुरी संमति देती है। परंतु अब मैं इसके ढंग चलने नहीं दूंगा। मेरी धर्मपत्नी मेरे हि आधीन रहे, स्वेच्छाचारी न बने। मेरे मन आदि सब अधिकारी भी शत्रुको वश होकर मेरे विरुद्ध बलवा नहीं मचायेंगे, ऐसा मैं सावध रहूंगा। और मेरा शासनही यहां चलेगा।

इस प्रकार विचार करके आत्माका शासनहि यहां चलाना चाहिये। और यहां शत्रुको किसी भी समय ठहरनेके लिये थोडासा भी स्थान नहीं देना चाहिये—

शरीरको चलानेवाली इंद्रियां हैं, यह प्रत्येक का अनुभव है। आंख स्थान देखता है और पांव वहां शरीरको लेजाते हैं। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियाँ शरीरको चलातीं हैं। ये सब इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ-मनके आधीन हैं। यदि मन किसी इंद्रिय के साथ संयुक्त न रहा,

तो वह इंद्रिय कोई कार्य कर नहीं सकता। जिस के साथ मन होता है वही इंद्रिय अपना कार्य करता है। आंख अथवा कान खुले रहनेपर भी यदि मन साथ न रहा तो आंख देख नहीं सकते, और कान सुन नहीं सकते। इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंके विषयमें है। अतः मनके आधीन ये इंद्रियाँ हैं।

ऐसेहि बुद्धिके अधीन मन और बुद्धि आत्माके आधीन है। इस तरह सबपर आत्माका शासन चलता है। प्रबुद्ध आत्माका यही वैभव है। सब इंद्रियों और अवयवोंको सुशिक्षा देनेके लिये जो योगसाधन में विविध प्रक्रियाएं लिखीं हैं, वे इन सब को आत्माके शासनमें रखनेके लिये ही हैं।

संयम।

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी यह शक्ति जानें और उस निज शक्तिका साक्षात्कार करें। और उस निज शक्तिको कार्य करनेमें समर्थ बनावे। यहां जाननेकी पहिली बात यह है कि मैं बुद्धिसेभी ऊपर के स्थानमें रहनेवाला आत्मा हूं और मेरा शासन यहां चलना चाहिये। यह साक्षात्कार कैसे होगा? इसका उत्तर (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निश्चयात्मक बुद्धिसे अपने मन आदि सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखने से यह निज शक्तिका साक्षात्कार होगा। जब तक संयम नहीं होगा, तबतक अपनी निर्बलता ही प्रतीत होगी। इंद्रियसंयम, दमन और मनोनिग्रहसे आत्मशक्ति बढती है और निग्रह न होने से आत्मा की निर्बलता होती है।

यहां "आत्मशासन" का पाठ दिया है, अपना ही संयम अपन करना है, (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) यहां अपने दोष हुए तो अपने आपको स्वयं हि दंड देना चाहिये, और अपना दिया हुआ दण्ड स्वयं हि भोगना चाहिये। यहां दूसरा शासक कोई नहीं है। जो इस प्रकार आत्मशासन अपने ही ऊपर करेगा, वही उन्नत होगा।

दूसरेपर शासन करना, दूसरोंको आज्ञा देना दूसरपर हुकुमत चलाना सुगम है. प्रत्येक मनुष्य न्यूनाधिक प्रमाणसे यह कर सकता है। परंतु सबसे कठिण बात जो है वह आत्मशासन की है। अपने दोष के लिये स्वयं अपने आपको ऐसा कडा दण्ड देना कि जैसा साधारण मनुष्य दूसरेको देता है। यही आत्मसुधार के लिये अत्यंत आवश्यक है। यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां दिया है। जो पाठक आत्मोन्नति करना चाहते हैं, वे इस ढंगसे आत्मशासन द्वारा अपनी उन्नति का साधन करें।

जिस कामरूप शत्रुको दूर करनेको (श्लो० ४१ में) कहा है, वह यदि दूर न हुआ, अथवा दूर होकर भी वारंवार आकर उपद्रव मचाने लगा, तो उसका नाश इस प्रकार आत्मशासन द्वारा करना चाहिये। इसलिये यहां (कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि) कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर ऐसा कहा है। पहिले कहा था कि उसको दूर रख और धर्ममर्यादा के अनुसार उससे काम ले। परंतु यदि वह अनिवार्य होगया और अधिक उपद्रव देने लगा, तो उसका नाशहि करना चाहिये यह दूसरा उपदेश यहां दिया है। श्रीभगवान् शंकर का काम को जलाना ज्ञानकी अंतिम सीमा का कार्य है।

आत्माको नाम 'इन्द्र' है, अतः आत्माकी शक्तिकोहि इंद्रिय कहते हैं। इस इन्द्र के वृत्रादि अनेक शत्रु हैं, वहि घेरनेवाले काम आदि रिपु हैं, यही इंद्र (इंद्रियों अर्थात) देवोंका राजा है। पुराणों में जो देवासुरयुद्ध हैं, इन्द्रवृत्रयुद्ध वेद में भी हैं, वे सब बहुत अंशमें इसी अध्यात्मक्षेत्र के युद्ध हैं। अस्तु।

श्लोक ४१ में 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस स्थानके 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ग्रहण करना योग्य है, परंतु कोई कहते हैं कि यहां 'सः' शब्द से 'काम' का ग्रहण करना चाहिये, क्यों कि आगे उसीका नाश करनेका विधान है। परंतु उपनिषद् के वचन में भी बुद्धिसे परे आत्माके

होनेका ही उल्लेख है, देखिये—

इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
कठ उ० १।३।१०-११

"इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (परः महान् आत्मा) श्रेष्ठ महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे (अव्यक्त) मूलप्रकृति श्रेष्ठ है, अव्यक्त मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, इस पुरुष से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, क्यों कि यही सब की सीमा और सब की अंतिम गति है।" श्रीमद्भगवद्गीताके विधानसे इस में अधिक विस्तारसे वही बात कही है। शरीरसे इंद्रियां श्रेष्ठ हैं क्योंकी इंद्रियां शरीरको चलाती हैं, इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं क्यों कि ये विषय इंद्रियोंके उत्पादक और प्रेरक हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है क्यों कि इन विषयोंका त्याग करना अथवा स्वीकार करना मनके आधीन रहता है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है क्योंकि किसी के विषयमें निश्चय करके संकल्पविकल्पात्मक मनका नियमन करना इसी बुद्धिका कार्य है, बुद्धिसे महत्तत्व श्रेष्ठ है क्यों कि इसी से (अहं-प्रत्यय) मैं हूं ऐसा अनुभव आता है, अव्यक्तसे मूलप्रकृति श्रेष्ठ है, क्यों कि मूल प्रकृतिही अव्यक्त महत्तत्त्वका कारण है। और इस मूल प्रकृतिसे पुरुष, चेतन आत्मा स्वयं चेतन होनेसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार आत्मा किंवा पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। यहां 'पुरुष' शब्द है इस लिये अन्तिम आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता के विषयमें कोई शंका नहीं। उपनिषदोंके सिद्धान्तही गीतामें आगये हैं, अतः संभवतः इन उपनिषद् के मंत्रों सेहि भ० गीताके "इंद्रियाणि पराणि०" ये श्लोक बनाये गये हैं। इस लिये 'परतस्तु सः' इस स्थान पर 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ग्रहण होना योग्य है न कि 'काम' का। इस विषयमें कठोपनिषद् के आगेके दो मंत्र देखिये—

इंद्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्वमुत्तमम्।
सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥
कठोप० २।३(६)।७-८

"इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे (सत्वं उत्तमं) बुद्धि अधिक उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (महान् आत्मा) महत्तत्त्व श्रेष्ठ है; महत्तत्त्वसे अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति श्रेष्ठ है। मूलप्रकृतिस पुरुष श्रेष्ठ है, यह पुरुष व्यापक और (अलिंगः) निर्गुण किंवा अतर्क्य है। जिसको जानकर मनुष्य बन्धनसे मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त होता है।"

कठोपनिषद् में ये दोनों प्रकारके मंत्र हैं। अब गीताके साथ इन कठोपनिषद् के वचनोंकी तुलना करेंगे और उससे क्या बोध मिलता है इसका विचार करेंगे—

गीता.	कठ अध्याय	कठ अध्याय
३।४२-४३	१।३।१०-११	२।३(६)।७-८
शरीर	शरीर	शरीर
इंद्रिय	इंद्रिय	इंद्रिय
......	अर्थ	......
मन	मन	मन
बुद्धि	बुद्धि	सत्त्व
......	महान् आत्मा (अहंकार)	महान् आत्मा (अहंकार)
—	अव्यक्त (प्रकृति)	अव्यक्त (प्रकृति)
सः	पुरुषः	व्यापकः पुरुषः

इस कोष्टक को देखनेसे पता लग जायगा कि, कठोपनिषद् के प्रथमाध्यायमें 'अर्थ' अर्थात् इंद्रियोंके विषयोंका उल्लेख अधिक है, जो गीता में तथा कठ उपनिषद् के द्वितीयाध्याय में नहीं है। तथा कठोपनिषद् के दोनों अध्यायोंमें 'बुद्धि' और 'पुरुष' के मध्यमें '(महान् आत्मा) महत्तत्त्व और (अव्यक्त) मूल प्रकृति' ये दो तत्त्व अधिक कहे हैं, जो भ० गीतामें कहे नहीं हैं। भ० गीतामें बुद्धिके ऊपर 'सः' कहनेसे यह नहीं सिद्ध होता

कि बुद्धि और 'सः' के बीचमें कुछ भी नहीं है. अधिकसे अधिक इतनाही कहा जा सकता है कि, यहां बीचके दो तत्त्वोंका उल्लेख किया नहीं है। उल्लेख न करनेसे बीचके तत्त्व नहीं हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता। अर्थात् गीतामें चार तत्त्वोंका उल्लेख है और कठोपनिषद् में सात तत्त्वोंका एक स्थानपर और छः तत्त्वोंका दूसरे स्थानपर उल्लेख है, यह कोई विरोध नहीं। एक ने कहा कि पहिली श्रेणीसे सातवीं श्रेणी श्रेष्ठ है और दूसरेने कहा कि पहिलीसे पंचम और पंचमसे सप्तम श्रेष्ठ है तो दोनोंमें केवल विस्तार का भेद है, मूलतत्त्वका कोई भेद नहीं। इसी प्रकार भ० गीतामें संक्षेपसे कहा और कठोपनिषद्में विस्तारसे कहा इतना ही भेद है। तत्त्वका भेद यहां नहीं है। अस्तु, अब 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस श्लोक के अर्थ के विषयमें थोडा अधिक विचार करेंगे। यहां 'सः' शब्दसे 'काम' का ग्रहण है अथवा 'आत्मा'का ग्रहण है इसका विचार कर्तव्य है। इस विषयमें दोनों मतवादियोंका विचार प्रथमतः हम यहां रखते हैं—

"सः=कामः"

"सः" का अर्थ "काम" करनेवाले पहिले आचार्य श्रीमान् रामानुजाचार्य हैं। श्री० भ० मायानन्द चैतन्य जी को भी यही अर्थ संमत है और यही अर्थ स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हुए उन्होंने निम्न लिखित विचार प्रकट किये हैं— "(१) उपनिषद् का पाठ जैसा का वैसा भ० गीतामें लिया नहीं है, और 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' ऐसा बदल कर पाठ गीतामें दिया है। उपनिषद् स भिन्न पाठ देनेमें कुछ विशेष हेतु है। इस प्रकरणमें (गीता अ० ३।३६-४२ में) कहीं भी 'आत्मा' शब्द नहीं है, अतः 'सः' पदसे यहां 'आत्मा' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'सः' शब्द तो पूर्व पदका निदर्शक होता है और ऐसा पद पूर्व श्लोकोंमें 'काम' हि है। (२)इस श्रीकृष्णार्जुन संवादमें 'काम' का विषय चलरहा है, और यहां इस प्रकरणमें आत्माका नाम तक नहीं है, अतः प्रकरण संबंधसे और पूर्वानुवृत्तिसे यहां के 'सः' शब्दसे 'काम' का ग्रहण करना और उसको बुद्धिके परे मानना योग्य है। (३) कई कहेंगे कि काम मनका धर्म होने से बुद्धिके परे नहीं है, परंतु यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।

तै० उ० २।६।१

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति।

बृ० उ० १।२।४

पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत॥

नारा० उ० १

"इसी आत्मा, पुरुष अथवा नारायणने पहिली कामना की थी कि मैं बहुत होऊं" यह पहिला काम आत्मासे हुआ है और यह बुद्धिके परे है। वस्तुतः काम मनका धर्म नहीं, यह चित्त का धर्म है, और चित्त बुद्धि से भी सूक्ष्म है। मन केवल संकल्पविकल्पात्मक है। आजकल मन पर सब चित्त बुद्धिके धर्म आरोपित किये जाते हैं, परंतु शास्त्रदृष्ट्या देखा जाय, तो चित्त कामना करता है। एक बात बुरी है ऐसा निश्चित होनेपर भी जिस काम की प्रेरणासे बुद्धि भी उस बुरी बात की ओर प्रवृत्त होती है वह काम निःसन्देह बुद्धिसे परे है। वासनामूलक अहंकार स्वरूप सूक्ष्म इच्छा ही काम है अतः वह बुद्धिसे सूक्ष्म है। इंद्रियां,मन और बुद्धि ये तीनों व्याप्य हैं और काम इनपर प्रभाव डालनेवाला है अतः वह इनके ऊपर अथवा परे है। 'एकोऽहं बहु स्यां' यह ईश्वर का पहिला काम है, यही सर्वत्र व्याप्त है। बुद्धि से इंद्रियों तक यही काम व्यापक है, अतः यह सबपर प्रभाव करता है। इस काम का यह प्रकरण चल रहा है और इसका बडा प्रभाव है ऐसा यहां कहा गया है। अतः इस प्रकरणमें 'सः' शब्दसे 'काम' का ही ग्रहण करना योग्य है।

इसी विषयमें श्री० आचार्य वि० प्र० लिमये, तिलकमहाविद्यालय, पूना, कहते हैं कि 'यो बुद्धेः

परतस्तु सः' इस श्लोकमें 'सः' का अर्थ 'काम' है। उपर्युक्त (कठ २।३।७-८) उपनिषद्वचनमें 'महान आत्मा' का अर्थ 'आत्मा' नहीं है, प्रत्युत 'अहंकार' है। क्योंकि बुद्धिके परे जो तत्व है वह अहंकार है और अहंकार का ही दूसरा नाम 'काम' है। इसके ऊपर 'अव्यक्त' (प्रकृति) और उसके भी ऊपर 'परः पुरुषः' (परमात्मा) क्रमसे अधिक श्रेष्ठहैं। स्वयं गीतामें कहा है कि-

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
(गी० ३।४२)

"इंद्रिय, मन और बुद्धि (अस्य=कामस्य) इस काम का अधिष्ठान है।" अतः यह इनका अधिष्ठाता है, इसीलिये यह काम बुद्धिसे परे है। वस्तुतः बात यह है कि ईश्वरकी अहंकार अथवा अस्मितारूप मूल वासना किंवा कामना प्रकृतिमें प्रकट होकर जिससे अहंकारबुद्धि और मन बने वही बुद्धिका प्रेरक काम है। और वही 'सः' शब्दसे यहां लेना योग्य है।

यह अर्थ लेनेपर श्लोक ४२-४३ का अर्थ इस प्रकार बनता है— "इंद्रियां शरीरसे श्रेष्ठ, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे जो श्रेष्ठ है वह काम है। इस प्रकार इस कामको बुद्धिका भी प्रेरक मानकर अपने आत्माका आत्मासे संयम करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर।" इस अर्थके साथ महाभारत के एक श्लोक की संगति है, वह श्लोक देखिये—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यंब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥
म० भा० शां० १७७

"अपने देह से जो गिनतीमें सातवां है उस प्रबल शत्रुका नाश करके, अवध्य ब्रह्मपुरी को प्राप्त कर मैं राजाके समान सुखी हुआ हूं।" यहां काम को स्थूल देह से सातवाँ कहा है। शरीर, इंद्रियां, विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, काम, इस तरह यह शरीरसे सातवाँ है। अस्तु यह एक पक्षका कथन हुआ। अब दूसरे पक्षके कथन का विचार करेंगे।

"सः—आत्मा"

इस पक्षवाले गीताके अ० ३।४२ में 'सः' शब्द का अर्थ 'आत्मा' मानते हैं। ऐसा माननेवालोंमें प्रमुख श्रीमच्छंकराचार्य हैं, इनके बाद इनके अनुयायी टीकाकार श्रीधरस्वामी, मधुसूदन-सरस्वती आदि हैं, लो० तिलक, म० गांधी आदि आधुनिक अनुवादक भी यही मानते हैं। मराठी भाषाके प्राचीन और सर्वमान्य टीकाकार श्रीज्ञानेश्वरमहाराज अपनी ज्ञानेश्वरी में इस विषयमें कुछ विवरण नहीं करते। श्रीमायानंद चैतन्यजीने हिंदीमें जो ज्ञानेश्वरीका अनुवाद किया है उसमें 'सः' शब्द से 'आत्मा' हि अर्थ किया है। वामन पंडित, मोरोपंत, मुक्तेश्वर, तुकाराम और उद्धवचिद्घन तथा प्रायः सभी सन्तकवि इसी मतके अनुयायी हैं। इनका कथन है कि "अहंकार और मूल प्रकृतिके भी परे जो पुरुष अथवा आत्मा है, उसकी शक्ति सर्वोपरि है ऐसा जानकर उस आत्मा की शक्तिसे अपनी सब इंद्रियोंका संयम करके इस दुर्जय कामरूपी शत्रुका नाश करना चाहिये।"

जहां ऐसे बडे आचार्यों और धुरंधर विद्वानों का मतभेद हो, वहां हम निश्चित मत क्या देसकते हैं? पाठक ही इस का अधिक विचार करके अपने विचारसे इसका निश्चय करें। हम निश्चित मत इस समय यद्यपि कह नहीं सकते, तथापि यहां 'आत्मा' अर्थ लेनेमें जो बहुत आचार्योंकी संमति है, वह देखकर बहुपक्षके अनुकूल अपना मत देना ही इस समय हमें योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायपर विचार।

कर्मयोग।

इस तीसरे अध्यायमें 'कर्मयोग' का विचार किया है। कर्मयोग का मर्म जाननेकी कूंजी इस अध्यायमें है, इतनाहि नहीं प्रत्युत गीताका स्वरूप भी इसी अध्यायके मननसे ज्ञात हो सकता है। कर्म क्यों करना चाहिये, कैसा करना चाहिये, कौनसा करना चाहिये और करनेयोग्य श्रेष्ठ कर्म कौनसा है, इत्यादि विषय इस अध्यायमें स्पष्ट होनेसे यह अध्याय विशेष महत्त्वका है, और इसी कारण इस अध्यायका नाम "कर्मयोग" है।

अर्जुन को कर्तव्य का मोह हुआ और वह मानने लगा कि "मेरे युद्ध करनेसे भीष्मद्रोणादि मरेंगे और गुरुजनोंका संहार होगा।" इस अर्जुन को भ्रान्ति को दूर हटानेके लिये द्वितीयाध्याय के प्रथम भागमें सांख्यमतानुसार "आत्मा अमर है" इत्यादि तत्त्वज्ञान कहा और बताया कि "जैसे ये लोग इस समय यहां हैं, वैसे ही ये पूर्व कालमें थे और भविष्यकालमें भी होंगे। कोई किसी को मार नहीं सकता और कोई मरता भी नहीं।" यह सांख्य तत्त्वज्ञान कहनेके पश्चात् अर्जुन को बताया कि 'तेरा अधिकार कर्म करनेका है, अतः तू युद्धरूप कर्म कर, यद्यपि उक्त ज्ञानसे कर्म गौण है तथापि वही तेरा अधिकार होनेसे तुझे यही करना योग्य है।' इस प्रकार उसको कर्मयोगका उपदेश किया और फिर कहा कि 'निर्मम निरहंकार निस्पृह और निष्काम होनेसे जो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है वह तो सबसे श्रेष्ठ अवस्था है' ऐसा कहनेसे अर्जुन के मनमें फिर यह शंका उत्पन्न हो गई कि 'यदि कर्ममार्ग गौण है और ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, तो मैं दोषयुक्त कर्म का आचरण क्यों करूं, क्यों मैं ज्ञानमार्ग से सीधा उन्नत होकर ब्राह्मी स्थितिका आनन्द न प्राप्त करूं?' तृतीयाध्यायके पहिले दो श्लोकोंमें यही प्रश्न अर्जुन करता है और एक उत्तर मांगता है—

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥(२)

"जिससे मेरा कल्याण होगा उसका निश्चय करके उसी (एकं वद) एक मार्ग का मुझे उपदेश कर।" दो मार्गों का उपदेश करनेसे मुझे भ्रम होता है, इस लिये इनमें से कौनसे मार्गसे मैं जाऊं? वह निश्चित मार्ग मुझे बताओ।

मनुष्योंके दो भेद।

यह अर्जुन की शंका ठीक है, यह शंका सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- 'इस लोकमें कई लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं और कई कर्मनिष्ठ होते हैं। ज्ञाननिष्ठोंसे कर्ममार्ग का आचरण ठीक प्रकार न होगा और कर्मनिष्ठोंसे ज्ञानयोग होना असंभव है।" कई लोग तत्त्वज्ञानी होते हैं, वे रातदिन तत्त्वविचार हि करते रहेंगे, उनसे व्यावहारिक कर्म होना असंभव है; और कई लोग कर्म करनेवाले होते हैं, वे कुछ न कुछ कर्म में दंग रहते हैं, इनसे तत्त्वज्ञानका मनन होना असंभव है। प्रायः ये दोनों वृत्तियां एक स्थानपर नहीं रहतीं। मानो इस दृष्टिसे मनुष्योंके ये दो वर्ग बने हैं।

धर्मग्रंथोंका वाद छोडकर हम मनुष्यजातीका जब विचार करते हैं तब हमें सब मनुष्य इन दो वर्गोंमें विभक्त हुए हैं ऐसाही प्रतीत होता है। प्रायः बहुत मनुष्य खेती, सुतार, लुहारका उत्पादक कामधंदा करनेवाले होते हैं। जातियोंका विचार छोड भी दिया और जिस देशमें यहांके समान जातिव्यवस्था नहीं है ऐसे देशमें भी देखा गया तो वहां भी उत्पादक कामधंदा करनेवालों- स्वभावसे उत्पादक काम धंदा करनेवालों-की संख्या अधिक होती है और शास्त्रविचार,

ध्यानधारणा, मनुष्यके भवितव्यके गूढ तत्त्वों का मनन करनेवाले बहुत ही विरला होते हैं। इन मेंभी कृषक, सुतार, लुहार आदि व्यावहारिक कर्ममार्गी को शास्त्रविचार और ध्यानधारणा में लगाया जाय तो उनसे यह बैठा कार्य नहीं होगा, और ध्यानधारणा किंवा तत्त्वविचार करते रहेनवाले को यदि धूप में खेतीका कार्य करना पडे, तो वह धूप की मार से मूर्छित ही होजायगा !! इस तरह इन दोनोंके मार्ग भिन्न हैं और एक का कर्म दूसरे से नहीं हो सकता। यह व्यावहारिक उदाहरण हमने इस लिये लिया है कि, ये दोनोंही सहज धर्म हैं, यह बात पाठकोंके मनपर व्यवहार देख कर भी स्थिर हो जाय। व्यवहारमें भी व्यावहारिक कर्म करनेवाले बहुत और व्यवहारका तत्त्वज्ञान जाननेवाले थोडे होते हैं। इसी प्रकार परमार्थ में भी ज्ञानमार्गी थोडे और कर्ममार्गी बहुत होते हैं।

एक का कर्म दूसरे से नहीं होता.इसी लिये इन को दो'निष्ठाएं'कहा है।(निःशेषेण स्थानं)पूर्णतासे जिसमें अवस्थान होता है, उस का नाम निष्ठा है।

अर्जुन जन्मस्वभावसे कर्मनिष्ठ था, अतः उससे ज्ञानमार्ग का आचरण होना असंभव था। इसलिये उसको यहां कहा है कि ज्ञानमार्गसे प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थिती कितनी भी उच्च क्यों न हो, तू उस मार्गसे न जा। क्योंकि वह मार्ग तुम्हारेसे आक्रमण नहीं होगा।

लोगोंकी भूल।

"कर्मयोगी" तो पहचाने जाते हैं, क्यों कि वे कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं, परंतु 'ज्ञानयोगी' की पहचान कठिन है। लोग इस की पहचानमें वारंवार भूल करते हैं। ज्ञानयोगी कर्म नहीं करता इस लिये जो कर्म नहीं करता उसको ज्ञानी और ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मानते हैं!!! ज्ञानी, ढोंगी और आलसी इनके विषयमें साधारण लोग सदा बहुत भूल करते हैं। इसी प्रकार अर्जुनने भी भूल की थी, वह 'कर्म न करना' ही ज्ञानीका लक्षण मानने लगा था, इसी लिये (श्लो० ३ में) कहा है कि कर्म न करनेसे, चूप रहनेसे, तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी और आलसीमें कर्म न करनेका गुण समान है, परंतु तत्त्वज्ञानीमें वह गुण है और आलसीमें वही दोष है। साधारणतः विरक्त सिद्ध और पागल में भी लोग भूला करते हैं। इस विषयमें पाठक इतना समझें की इनकी परीक्षा तो कदापि बाह्य आचरणसे नहीं हो सकती। जो बाह्य आचरणसे इनकी परीक्षा करने लगेंगे वे सदाही भूल करेंगे।

'जो कर्मेंद्रियों का संयम करता है और मनसे विषयभोगों के लिये तडपता रहता है, उसका नाम मिथ्याचारी किंवा ढोंगी है।' (श्लो० ६) यह ढोंगी का लक्षण यहां दिया है, परंतु इसका पता अन्य मनुष्यों को लगना कठिन है। क्यों कि कौन मनुष्य मनसे विषयोंका चिंतन करता है और कौन नहीं, यह बाहरसे कैसे जान सकते हैं? यह जानना असंभव है, अतः लोग बाह्य आंडबर से फंसते हैं। समय समय पर जो ज्ञानी सीधेसादे रहते हैं और बाह्य आडंबर नहीं करते उनको लोग मान्यता देते नहीं, और जो लोग ऐसे मिथ्याचारी होते हैं, उनका आडंबर बहुत होता है। संभवतः अधिक सहवाससे कौन ज्ञानी है और कौन ढोंगी और मिथ्याचारी है, इसका पता लग सकता होगा। प्रायः ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध पुरुष जनसंघसे उपसर्ग न पहुंचे इस लिये बाल-उन्मत्त-जडके समान भी रहते हैं, इस लिये तो उनकी पहचान अत्यंत कठीण हो जाती है।

छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी रैक्व की कथा आती है। जानश्रुति राजा बडा धर्मात्मा पुण्यशील था। उसने एकवार संवाद सुना कि 'ब्रह्मज्ञानी सयुग्वा रैक्व के समान जानश्रुति का महात्म्य नहीं है।' अतः राजाने अपने परिचारक से कहा कि ब्रह्मज्ञानी रैक्व कहां रहता है, इसका

पता लगाओ। नौकरने राज्यमें बहुत तलाश की परंतु पता न लगा। और वह राजा के पास आकर कहने लगा कि, सयुग्वा रैक्व का पता नहीं चलता। उस समय राजाने उसे कहा—

यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥७॥ सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश। तं हाभ्युवाद त्वं नु खलु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे ॥८॥ छां० उ० ४।१

"अरे जहां ब्रह्मज्ञानीकी खोज किया करते हैं वहां उनको देखो। तब उसने ढूंढा, तो उसको गाडीके नीचे खुजली खुजलाता हुआ एक मनुष्य मिला। उसने समझा कि यही ब्रह्मज्ञानी रैक्व है। वह उसके पास आदरसे जा बैठा और पूछने लगा कि 'क्या आपही भगवान् सयुग्वा रैक्व हैं?' उत्तर मिला कि "मैं ही हूं।"

यहां ब्रह्मज्ञानी गाडीके नीचे खुजली करते हुए मिले। परंतु कई मनुष्य गाडीके नीचे बैठते हैं और खुजली भी करते हैं। तथापि वे ब्रह्मज्ञानी नहीं होते! अतः ज्ञानीकी परीक्षा कठिन है—

एनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। छां० ४।१।६

'सब मनुष्य जो सत्कर्म करते हैं वह सबका सब जिसके सहज व्यवहारमें अन्तर्भूत होता है" उसको ज्ञानी कहते हैं। उसकी तृष्णा क्षय होनेके कारण उसको सब सुख एक ही समयमें प्राप्त होते हैं, साधारण मनुष्योंको एक एक इंद्रिय का सुख एक एक समय मिलता है। ब्रह्मज्ञानीके आंखमें कुछ अलौकिक तेज भी होता है, मुखपर सहजानन्द दीखता है। परंतु ये सब लक्षण ऐसे नहीं हैं, कि जिनसे ब्रह्मज्ञानी सहजहीमें पहचाना जाय। अतः मनुष्य भ्रममें पडते हैं और ढोंगीको भी सत्पुरुष मान बैठते हैं! अर्जुननेभी मनमें यही निश्चय किया था कि "मैंने कर्म छोड दिया तो मैं स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त होऊंगा।" यह उसकी भी भ्रांति थी और भगवान् श्रीकृष्णजीने 'कर्म छोडनेसे कोई मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता' (श्लो० ४) ऐसा कह कर, अर्जुनकी भ्रान्ति दूर की। पाठक यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें।

कर्मत्याग असंभव है।

'सब प्राणी प्रत्येक क्षणमें कुछ न कुछ कर्म करते हैं।' (श्लो० ५) कर्म छोडना भी एक कर्म है। 'शरीर यात्रा निवाहनेके लिये भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है' (श्लो०८)इत्यादि उपदेशद्वारा यह बताया कि 'कर्मसंन्यास' का आशय 'आलस्य' नहीं है, कर्मत्याग, कर्म संन्यास, अकर्म इनके भाव कुछ विशेष हैं। कर्म न करने से 'संन्यास' की सिद्धि हुई ऐसा मानना भ्रम है। कोई प्राणी संपूर्णतया कर्म का त्याग कर नहीं सकता। जीवन ही एक बडा भारी कर्म है। अतः 'जो मनसे इंद्रियोंका संयम करके कर्म करता है उसकी योग्यता विशेष होती है।' (श्लो० ७) अर्थात् इंद्रियसंयम, और मनोनिग्रहसे मनुष्यकी योग्यता उच्च होती है।

यज्ञके लिये कर्म।

'यज्ञके लिये कर्म करनेसे मनुष्यको कर्म का दोष नहीं लगता।' (श्लो० ९) इस लिये यज्ञ के कारण मनुष्य कर्म करता रहे। सब जगत्‌ही यज्ञ पर स्थिर रहा है, यज्ञ के विना सब जगत् का नाश होगा। इस यज्ञ का स्वरूप क्या है? यज्ञका स्वरूप श्लो० १३ में कहा है। 'जो मनुष्य अपनी पेटपूर्तिके लिये अन्न का पाक सिद्ध करते हैं, वे पापके भागी होते हैं, और जो अन्नकी सिद्धता करके उससे यज्ञ करते हैं और अवशिष्टका स्वयं भोजन करते हैं. उनके सब पाप दूर होते हैं। (श्लो० १३) अर्थात् केवल अपनी पेटकी पूर्ति के लिये अन्न पकाना पाप है और दूसरों की पेटकी पूर्ति के लिये पकाना और दूसरोंका पेट भरनेके पश्चात् जो बचे, उससे अपनी पेटपूर्ति करना पुण्य है।

(१) अपनी पेटपूर्तिका अर्थ है 'स्वार्थ' (स्व+अर्थ) अपने सुख के लिये कर्म करना।

(२) दूसरों के सुखके लिये कर्म करनेका नाम है 'परार्थ' (पर+अर्थ)।

(३) और जिसमें स्वार्थ और परार्थ साध्य होता है, एकरूप हो जाता है उसका नाम है 'परमार्थ'(परम+अर्थ) बडा अर्थ। यही यज्ञ है।

अर्थात् यज्ञसे (परस्परं भावयन्तः। श्लो०११) अपना हित होता है और दूसरोंका भी हित होता है। सबका हित अविरोधसे साधन करनेका नाम यज्ञ है, अथवा यही परमार्थ है। यहां "स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ" का अर्थ पाठक ध्यानमें रखें और केवल स्वार्थके कर्ममें, केवल परार्थके कर्ममें कैसा दोष होता है और परमार्थ के लिये किये जानेवाले यज्ञरूप कर्म से निर्दोष कर्म होनेसे कैसा परम पुरुषार्थ होता है इसका विचार मनमें सुदृढ रखें। यज्ञ का यही महत्त्व है।

अंतिम सिद्धि।

"आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टी पूर्णतासे सिद्ध हुई तो ऐसे सिद्ध पुरुषके लिये कोई कर्तव्य कर्म करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता" (श्लो० १७-१८), अतः इसको 'कृतकृत्य' कहते हैं। यह अन्तिम सिद्धि है, और इसी सिद्धि की प्राप्तिके लियेहि सब शास्त्र हैं। सिद्ध पुरुषके लिये शास्त्र नहीं हैं, वह पूर्ण स्वतंत्र है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् वह सिद्ध पुरुष कर्म करेगा अथवा न करेगा। यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक मनुष्यको अपने उद्धारके लिये यत्नवान् होना चाहिये।

अर्जुन इस सिद्धितक पहुंचा नहीं था, इस लिये यहां (श्लो० १९ में) कहा है, कि "आसक्ति छोडकर सतत कर्म कर। आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका आचरण करनेसे परमसिद्धि प्राप्त होती है।" सब लोगोंके लिये यही मार्ग उत्तम है। स्वार्थ और परार्थ छोडने और (परस्परं भावयन्तः। श्लो० ११) सबका हित साधन करनेके लिये आसक्ति छोडने का पाठ यहां पाठकोंको अवश्य पढना चाहिये। अतः कहा है कि (तदर्थं कर्म···मुक्तसंगः समाचर। श्लो० ९) यज्ञके लिये कर्म आसक्ति छोडकर कर, इसमें भी अनासक्ति का पाठ दिया है।

लोकसंग्रह और परमार्थ।

केवल स्वार्थ बुरा है, केवल परार्थ भी सदोष है, अतः परमार्थ साधनमें अपना और सब का सच्चा कल्याण है, यही बात 'लोक-संग्रह' के प्रकरण (श्लो० २०-२४) में कही है। लोकसंग्रह का अर्थ "जनताकी धारणा, जनताकी उन्नति, जगत् का सुधार, राष्ट्ररक्षा, मनुष्य मात्र का कल्याण, जनताको सन्मार्गपर रखना" इत्यादि है। यह केवल स्वार्थ से भी नहीं हो सकता और केवल परार्थ से भी नहीं हो सकता। इस लिये परमार्थसाधन से यह लोकसंग्रह करना चाहिये। यही यज्ञ का मूल अर्थ है।

लोकसंग्रह करनेके लिये भी विशेष योग्यता आवश्यक होती है। प्रत्येक मनुष्य लोकसंग्रह करेगा ऐसी बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण, राजा जनक, राजा रामचन्द्र ऐसे लोकश्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा लोकसंग्रह हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुयायी होनेके कारण लोकसंग्रह के कार्य करनेका संमान अर्जुन को प्राप्त हुआ है। भारतीय युद्धमें अर्जुन केवल "निमित्तमात्र" था। (देखो गी० ११।३३) जो निमित्तमात्र है उससे लोकसंग्रहका मुख्य कार्य हो नहीं सकता। उसके कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण जैसे शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष थे। परंतु इन के कार्य में निमित्त मात्र होने का मान प्राप्त होना भी साधारण कार्य नहीं है। इस लिये पाठक यहां यह बोध लें, कि प्रत्येक युग में शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष आते हैं, जनता को मार्ग बताते हैं और लोकसंग्रह के कार्य के लिये हलचल करते हैं, मुख्य प्रेरणा इन मुक्तात्माओं की ही होगी, ऐसे लोकसंग्रह के कार्यमें निमित्त-

मात्र होकर युद्ध भूमिपर आकर खडा रहनेका कार्य करने के लिये भी हजारों और लाखों लोगों की आवश्यकता होती है, ऐसे निमित्तमात्र बनने का भाग्य प्राप्त करना भी एक महत्त्वकी बात है और इस कार्य के लिये अपने अन्दर योग्यता प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। इस तरह थोडी योग्यतावाले भी योग्य नेता की आज्ञामें कार्य करते हुए लोकसंग्रह करनेके भागी हो सकते हैं। इस रीतिसे लोकसंग्रह, जनहित, राष्ट्रकल्याण आदि कार्य में भाग लेनेसे भी मनुष्यका जीवनयज्ञ सफल होता है।

इसी लिये (श्लो० २७ में) कहा है कि, कोई साधारण मनुष्य अपनी योग्यताके अनुसार कुछ कर्म करता हो, तो उसकी श्रद्धा उस कर्म से उडाना अच्छा नहीं है, उसकी श्रद्धा बनी रखनेसे ही उसका कल्याण हो सकता है।

कर्तृत्व।

श्लो० २७-२९में 'कर्तृत्व गुणोंके पास है,' यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही है। कुम्हार मिट्टी का घडा करता है, इसका कारण मिट्टीमें घटाकार बननेका गुण है। यह गुण न होगा तो कोई भी मनुष्य मिट्टीसे घडा नहीं बना सकेगा। केवल रेतसे घडा क्यों नहीं बनाया जाता? क्यों कि रेतमें घटाकारमें परिणत होनेका गुण नहीं है,वह मिट्टीमें है, इस लिये मिट्टीसे घडा बनता है। इस विचारसे स्पष्ट होगा कि घट बननेका मुख्य हेतु मिट्टीका गुण है। कुम्हार का भी गुण मिट्टीके गुण के साथ मिलकर घटरूपी कार्य होता है। ऐसी अवस्थामें कुम्हार यदि घमंड करे कि "मैं हि केवल घट का कर्ता हूं" तो कहां तक उसकी वह घमंड योग्य हो सकती है? और निष्कारण की हुई घमंड अन्तमें अनर्थकारक क्यों नहीं होगी? वस्तुतः (गुणा गुणेषु वर्तन्ते। श्लो० २८) एक के गुण दूसरेके गुणोंके साथ मिलकर सब कर्म सिद्ध करते हैं। इस लिये ज्ञानी की दृष्टिसे तो कोई मनुष्य अपने आपको किसी कार्य का कर्ता नहीं कह सकता। यदि इस तरह गुणोंके पास हि कर्तृत्व है, तो मनुष्य घमंड क्यों करे? एक वीर है वह घमंडसे कहता है कि मैंने युद्धमें विजय पाया। परंतु सत्य देखा जाय तो शस्त्रास्त्रोंको उत्तमता, साथवाले सैनिकों की आज्ञाधारकता, परिस्थितिकी अनुकूलता इत्यादि गुणसमुदाय से विजयरूपी फल मिला है। कई वीर सब साधनोंसे संपन्न होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेके कारण परास्त होते हैं। इसलिये मनुष्यकी सूज्ञता तो इसीमें है, कि वह कर्तृत्व की घमंड न करे, और प्रकृतिके गुणोंसे यह सब बन रहा है ऐसा माने और आसक्त न होवे।

आसक्ति और घमंड दूर करनेके लिये यह विचार उत्तम है, और जो पाठक अपनी पारमार्थिक उन्नति करना चाहते हैं, उन के लिये यह उपदेश अमूल्य है।

ईश्वरार्पण कर्म।

(श्लो० ३०-३२में) सब कर्म ईश्वरको समर्पण करनेका उपदेश कह कर यह भी कहा कि जो ऐसा करते हैं वे बन्धनसे मुक्त होते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे नाशको प्राप्त होते हैं। मनुष्य यदि अपने सब कर्म परमेश्वरकी प्रीति संपादन करने के लिये करने लगे, अथवा अपना प्रत्येक कर्म ईश्वरके लिये अर्पण करने लगे, तो उसी क्षण से वह पवित्र होने लगता है। साधारण मनुष्य समझते नहीं और ईश्वरार्पण कर्म करने का उपहास भी करते हैं, परंतु इसमें इतनी पवित्रता है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वत्र विद्यमान और सर्वशक्तिमान है और उसको समर्पण करने के लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं, ऐसा निश्चय करते हि उसके मनके अन्दर छिपे हुए हीन विचार दूर भागने लगते हैं। सर्वव्यापक सर्वज्ञ देवको छिपाकर वह हीन कर्म करेगा हो कहां? और जब वह जानने लगेगा कि वह ईश्वर सब मनुष्यों

मेंभी है, तब वह जनताका उत्तम सेवक बनेगा, दुःखितोंके दुःख दूर करनमें तत्पर होगा और पीडितों की सेवा करना परमेश्वर की सेवा है, ऐसा वह अन्तःकरण से समझेगा। साधुओंकी रक्षा, दुर्जनोंका निर्दलन और धर्मस्थापना करने के लिये परमेश्वर आता है, यह बात मानकर जो सत्पुरुष इन कार्योंमें लगे होंगे, उनका अनुयायी होकर इन कार्योंके करनेके लिये वह आत्मसमर्पण करेगा। इस तरह सहस्रों प्रकारोंसे उससे दिन प्रतिदिन शुद्ध और पवित्र कर्म होंगे और अन्तमें वह बन्धनोंसे परे होगा। ईश्वरार्पण कर्म करनेसे ऐसे अनंत लाभ हैं, पाठक इस बातका विशेष विचार करें।

प्रकृतिस्वभाव।

मनुष्यका प्रकृतिस्वभाव जन्मसे हि विशिष्ट प्रकारका बना होता है, उस स्वभावके अनुरूप हि कर्म उससे ठीक तरहसे हो सकते हैं। और प्रकृतिस्वभावानुरूप कर्म उत्तम हुआ तो उसीमें उसकी उन्नति होती है। यदि किसीको ऐसा प्रतीत हुआ कि अपना प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्म वैसा लाभकारी नहीं है जैसा दूसरेका कर्म है, और इस मतानुसार उसने वह अपना कर्म छोड दिया, तो उससे दूसरा कर्म ठीक नहीं होगा और इसका कर्म तो स्वयं इसीने छोडा है। अतः यहांसे भी भ्रष्ट और वहांसे भी भ्रष्ट होकर वह —अवनत होगा। इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त निज कर्तव्य हरएक को करना योग्य है। दूसरेका कर्म प्रारंभ में मोहक भी दीखाई दिया तथापि वह अन्तमें हानिकारक हि सिद्ध होगा।

राष्ट्रमें जो जो विविध व्यवहार चलते हैं वे सबके सब राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये आवश्यक होते हैं। इन सब कर्मोंमें प्रत्येकने उन्नति की, तो सब सामुदायिक उन्नति होनेसे सबका उसमें हित होता है। अतः किसी प्रलोभनमें आकर कोई मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म न छोडे। (श्लो० ३३-३५)

प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्तव्य हरएकको करना चाहिये, यह उपदेश अत्यंत महत्त्वका है, और युरोप अमेरिकामें भी जहां हरएक मनुष्य जो चाहे सो कर्म कर सकता है, उन स्वतन्त्र देशोंमें भी (लेबर युनियन) कर्म संघोंके सदस्य अपने संघका कर्म ही करते रहते हैं, यदि किसीने दूसरेका कर्म करनेका साहस किया, तो वह उस संघकी सभासदीसे हटाया जाता है। यह युरोप अमेरिका के कर्मसंघोंकी प्रथा देखकर भगवद्गीताद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने दिया हुआ संदेश सब जगत्में कैसा फैल रहा है, यह जानकर, गीताके सत्य सिद्धान्तों का निःसन्देह विजय होगा, यही निश्चय मनमें स्थिर होजाता है।

दुर्जय काम।

इसके पश्चात् अध्यायसमाप्तितक (श्लो० ३६-४३ तक) दुर्जय काम को जीतनेका विषय कहा है। यह काम रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण भोग बढानेकी प्रेरणा मनुष्योंके अन्तःकरण में करता है। इससे मनुष्य अनंत पाप करते हैं। और पापोंसे दुःख भोगते हैं। मनुष्योंके मनोंपर प्रायः इस काम का मल लगा रहता है। इस काम की तृप्ति कभी भोगोंसे नहीं होती, इसी लिये जो मनुष्य उन्नति चाहता है, वह अपने इंद्रियोंका संयम करे और संयमसे इस दुर्जय काम को जीते। संयमका बल बडा भारी है और मनोनिग्रह से ही इस दुर्जय शत्रुका पराजय करना संभव है।

मनुष्यकी आत्मामें इंद्रियाँ, और बुद्धिसे भी बढकर अनंत शक्ति है। इस शक्तिका विचार करके मनुष्य इस काम के आधीन न बने, क्यों कि इस तरह शत्रुके आधीन हो जानेसे मनुष्य का आत्माही निर्बल हो जाता है। अतः इंद्रिय-संयम, मनोनिग्रह आदि से अपने आत्मिक बल

के द्वारा इस दुर्जेय कामको जीतना चाहिये ।

अध्यायका सार ।

संक्षेपसे अध्यायका यह सार है । इसका भी सार अत्यंत थोडे शब्दोंमें देखना हो तो निम्नलिखित रीतिसे देख सकते हैं—

१ भोगेच्छाका संयम धर्मसे करना । काम दुर्जेय और पापमें प्रवृत्त करनेवाला है, अतः वह मनुष्यका शत्रु है । संयमसे उसको जीत कर आत्मिक बल बढाना चाहिये ।

२ अहंकार का त्याग करके, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, इन गुणोंके न होनेपर कोई मनुष्य कर्म नहीं कर सकता, ऐसा मानकर अपने आपको कर्ता होनेके अभिमानसे दूर रखना चाहिये ।

३ प्रकृतिस्वभाव के अनुरूप कर्म होते हैं, इस लिये अपनी प्रकृति स्वभाव के अनुरूप जो अपने मनकी निष्ठा हो, उसके अनुसार दक्षतासे कर्म करने चाहियें ।

४ ढोंग से ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये, जो अपने सहज कर्तव्यसे प्रतिकूल हो । हठसे ऐसे विरुद्ध कर्म कोई न करे ।

५ अपना सहज धर्म आचरण करते समय मृत्यु आया तो भी उसमें कल्याण है, परंतु ढोंगसे विरुद्ध कर्म करके कुछ लाभ भी प्रतीत हुआ, तथापि अन्तमें वह भयंकर हानि करनेवाला सिद्ध होगा ।

६ मनुष्य के लिये सर्वथा कर्म का त्याग असंभव है, इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कर्म न छोडे ।

७ यज्ञ के लिये (अर्थात् श्रेष्ठोंका सत्कार, अपनी संघटना और दीनोंके ऊपर उपकार करनेके लिये, परमार्थके लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे ।

८ लोकसंग्रहके लिये (अर्थात् जनता की रक्षा और उन्नति के लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे ।

९ मनुष्यकी उन्नति के लिये उत्तम उपाय यह है कि वह अपने सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करे । ईश्वरको अपने सन्मुख उपस्थित जानकर उसके लिये कर्म करे ।

१० इस प्रकार कर्म करनेसे मनुष्य आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट (अर्थात् आप्तकाम किंवा अकाम) होगा (यह अवस्था प्राप्त होनेपर उस के लिये कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रहेगा ।

सारांशसे इस अध्यायका यह सार है । इन दस नियमोंका मनन करके कर्तव्यकर्म करते रहनेसे मनुष्य उत्तम कर्मयोगी हो सकता है । अब ज्ञानयोग और कर्मयोग की तुलना करते हैं ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग, किंवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, अथवा सांख्यमार्ग और योगमार्गकी तुलना करते हैं;इस तुलनासे दोनों मार्गोंकी समानता कहां है और विषमता कहां है इसका पता पाठकोंको लग सकता है—

योगोंके नाम ।

ज्ञानयोग	कर्मयोग ३।३
ज्ञाननिष्ठा	कर्मनिष्ठा,योगमार्ग
सांख्यमार्ग	योग ३।३
सांख्ययोग, सांख्य	योगबुद्धि।२।३९
सांख्यबुद्धि २।३९	(समत्व)बुद्धियोग २।४९

कर्मयोगकी व्याख्या ।

समत्वं योग उच्यते २।४८
योगः कर्मसु कौशलं २।५०
समाधौ अचला बुद्धिः योगः । २।५३
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पः योगधर्मः महतो भयात्त्रायते२।४०
अत्र एका व्यवसायात्मिका बुद्धिः २।४०
बुद्धौ शरणमन्विच्छ २ । ४९
(समत्व) बुद्धियोगः कर्मणः वरः ।
(बुद्धियोगात्कर्म अवरं) २।४९

आत्माके विषयमें तत्त्वज्ञान।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
अविनाशी (आत्मा)। २।१२; २।१७	(स्वतंत्र आत्मा नहीं है)	अविनाशी आत्मा
अप्रमेय ,, २।१८	नान्यदस्तीति वादिनः। २।४२	अप्रमेयः ,,
अज, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण आत्मा। २।२०	(शरीरके साथ जन्मनेवाला और शरीरके साथ मरनेवाला)	अज, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण आत्मा।
अव्यय आत्मा २।२१	(शरीरके व्ययसे व्यय होनेवाला)	अव्ययः
अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन आत्मा। २।२३-२४	(विकारी, एकदेशी, चल इ०)	अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन आत्मा।
अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आत्मा। २।२५	(व्यक्त, विकारी)	अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आत्मा।
आश्चर्यरूप आत्मा। २।२९		आश्चर्यरूप आत्मा
अवध्य देही (आत्मा)। २।३०	(वध्य)	अवध्य आत्मा

आत्माके कुछ धर्म।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
सतः अभावः न विद्यते। २।१६	(सतः अपि अभावः भवति)	सतः अभावः न विद्यते।
देही नवानि शरीराणि गृह्णाति। २।२२	(पुनर्जन्म नहीं है)	देही नवानि शरीराणि गृह्णाति।
नित्यस्य (आत्मनः) अन्तवन्तः देहाः। २।१८	,,	नित्यस्य अन्तवन्तः देहाः।
जातस्य ध्रुवः मृत्युः मृतस्य च जन्म ध्रुवम्। २।२७	,,	जातस्य ध्रुवः मृत्युः, मृतस्य च जन्म ध्रुवम्।
अव्यक्तादीनि, व्यक्तमध्यानि, अव्यक्तनिधनानि भूतानि। २।२८		अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि भूतानि।

सांख्यमत	शरीरधर्म । अनात्मवाद	योगमत
असतः भावः न विद्यते । २।१६	असत्य शरीरका अस्तित्व है ।	असतः (शरीरादेः) भावः न ।
विनाशी, प्रमेय, जन्मवान्, मरणधर्मी, अनित्य, अशाश्वत, व्ययवान्, छेद्य, दाह्य, क्लेद्य, शोष्य, एकदेशी, अस्थिर, चल, व्यक्त, चिन्त्य, विकारी, वध्य (शरीर)		विनाशी आदि (सांख्यमतानुसार)
	द्वन्द्वातीत स्थिति ।	
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति । २।११	(गतप्राणोंका शोक करना)	गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति ।
शीतोष्णसुखदाः स्पर्शा अनित्याः । २।१४	(सुखदुःख नित्य)	सुखदुःख अनित्य ।
(द्वन्द्वान्) तितिक्षस्व । २।१४	(सुखकी इच्छा, दुःखकी अनिच्छा)	द्वन्द्वतितिक्षा ।
समदुःखसुखः धीरः अमृतत्वाय कल्पते । २।१५	कामात्मनः । २।४३	निस्त्रैगुण्यः निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः
	द्वन्द्वमय स्थिति	निर्योगक्षेमः आत्मावान् । २।४५
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः । २।५६	संगभाव, विषमता	संगं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भव । २।२८
सर्वत्रानभिस्नेहः । ५।५७	रागी, लुब्धः भोगैश्वर्यप्रसक्तः । २।४४	
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । २।५६	सुखे स्पृहा, दुःखे उद्विग्नता ।	बुद्धियुक्तः सुकृतदुष्कृते जहाति । २।५०
शुभं नाभिनंदति, अशुभं न द्वेष्टि । २।५७	शुभं अभिनन्दति, अशुभं द्वेष्टि ।	सुखदुःखे समे, लाभालाभौ जयाजयौ समौ कृत्वा पापं न अवाप्स्यसि । २।३८
अपरिहार्येऽर्थे शोकः न । २।२७	अपरिहार्येऽर्थेऽपि शोकः ।	अपरिहार्येऽर्थे शोकः न कार्यः ।
	संयम	
सर्वान्मनोगतान्कामान्प्रजहाति, आत्मनि आत्मना तुष्टः । २।५५	कामात्मानः, स्वर्गपराः । २।४३ भोगैश्वर्यप्रसक्ताः । २।४४	मुक्तसंगः यज्ञार्थं कर्म समाचर । ३।९

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
इंद्रियाणि इंद्रियार्थेभ्यः संहरति । २।५८	त्रैगुण्यविषयाः । २।४५ इंद्रियाणि संयम्य यः विषयान्स्मरन् आस्ते सः मिथ्याचारः । ३।६	इंद्रियाणि मनसा नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते स विशिष्यते । ३।७
इंद्रियाणि संयम्य मत्परः (ईशपरः) युक्तः आसीत । २।६१	इंद्रियाणि मनः हरन्ति । २।६०	इंद्रियाणां रागद्वेषयोर्वशं न गच्छेत् । तौ अस्य परिपन्थिनौ ३।३४
इंद्रियाणि यस्य वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । २।६१ यस्य इंद्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । २।६८	इंद्रियाणां चरतां मनः प्रज्ञां हरति । २।६७ कामकामी शान्तिं नाप्नोति । २।७०	इंद्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं पाप्मानं कामं प्रजहि । ३।४१ कामः क्रोधश्च महापाप्मा महाशनः । तं वैरिणं विद्धि । ३।३७
निराहारस्य विषया विनिवर्तन्ते । परं दृष्ट्वा रसः अपि निवर्तते । २।५९	फलहेतवः कृपणाः । २।४९	आत्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मनात्मानं संस्तभ्य, दुरासदं कामरूपं शत्रुं जहि'। ३।४३
रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादमधिगच्छति । २।६४	विषयान्ध्यायतः तेषु संगः उपजायते, संगात्कामः, कामात्क्रोधः, क्रोधात्संमोहः, संमोहाद् भ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति । २।६२–६३	इंद्रियाणि नियम्य, असक्तः कर्मयोगमारभते स विशिष्यते । ३।७ असक्तः कर्म आचरन् परं आप्नोति।३।१९
संयमी जागर्ति । २।६९	कामेन ज्ञानं आव्रियते । ४।३८ कामः दुष्पूरः अनलः । ३।३९	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । ३।५२
(विषयान्) पश्यतो मुनेः निशा । २।६९	कामस्य अधिष्ठानं इंद्रियाणि मनः बुद्धिः । ३।४०	कामः ज्ञानिनः नित्यवैरी, अतः तं जहि । ३।३९

अंतिमसिद्धि।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
आपूर्यमाणं कामाः प्रविशन्ति सः शान्तिं आप्नोति। २।७०	कामः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति। ३।४०	कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबंध-विनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति। २।५१
सर्वान्कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः चरति सः शान्तिमधिगच्छति। २।७१	अकर्मणः शरीर यात्रापि न प्रसिद्धयेत्। ३।८	(योग) बुद्ध्या कर्मबंधं प्रहास्यसि, २।३९ आत्मरतिः आत्मतृप्तः आत्मसंतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते। ३।१७
ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्य न मुह्यति। २।७२ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। २।६५ अन्तकालेऽपि ब्राह्मयां स्थितौ स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। २।७२	सर्वज्ञानविमूढाः अचेतसः। ३।३२	कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। ३।२० श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। ३।३१ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः। ३।१८
		कर्मयोग।
	अकर्मणि संगः। २।४७	कर्मणि ते अधिकारः। २।४७
		अकर्मणि संगः मास्तु। २।४७
	कर्मफलहेतुः। २।४७	कर्मफलहेतुः मा भूः। २।४७
	फलेषु अधिकारः। २।४७	फलेषु ते अधिकारः मा। २।४७
	अयुक्तस्य बुद्धिः, भावना, शान्तिः सुखं च न। २।६६	योगस्थः कर्माणि कुरु। २।४८ नियतं कर्म कुरु। ३।८
	अकर्मकृत्। ३।५	कश्चिदकर्मकृत्तिष्ठति। ३।५ प्रकृतिजैर्गुणैः सर्वः कर्म कार्यते। ३।५ अकर्मणः कर्म ज्यायः। ३।८ कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं न। ३।४

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
		अनासक्तियोगः ।
	आसक्त्या कर्म करोति ।	असक्तः कार्यं कर्म समाचर । ३।१९
		ईश्वरार्पण कर्म ।
	ये आत्मकारणात्पचन्ति ते पापाः । ३।१३	मयि (ईश्वरे) सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व । ३।३०
	अघायुरिन्द्रियारामो मोघं जीवति । ३।१६	कर्माणि कुरु । ३।३०
		लोकसंग्रह ।
	अप्रदाय भुंक्ते सः स्तेनः । ३।१२	लोकसंग्रहं कर्तुमर्हसि । ३।२० उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहं । संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ३।२४ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ३।२१
		यज्ञः
	यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः । ३।९	प्रजाः सहयज्ञाः सृष्टाः । ३।१० यज्ञेन प्रसविष्यध्वम् । ३।१० यज्ञः इष्टकामधुक् । ३।१० यज्ञः कर्मसमुद्भवः । ३।१४ कर्म ब्रह्मोद्भवम् । ३।१५ यज्ञेन देवान्भावयत, देवाः वः यज्ञेन भावयन्तु । परस्परं भावयन्तः परंश्रेयः अवाप्स्यथ । ३।११

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
		बुद्धिभेदवर्जन। अज्ञानां कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत्। विद्वान् युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत्। ३।२६ कृत्स्नवित् मंदान्न विचालयेत्। ३।२९
प्रकृति कर्म करती है पुरुष स्वतंत्र है वह अकर्ता है।	अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ३।२७	कर्ता। प्रकृतेः गुणैः सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि। ३।२७ गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा तत्त्ववित्न सज्जते। ३।८

पूर्वोक्त कोष्टक में "सांख्यमत, योगमत और इन दोनों मतों को न माननेवाले विवेकभ्रष्ट लोगोंका आत्मघातक मत संक्षेपसे दिया है। भगवद्गीताके पूर्वोक्त तीनों अध्यायोंमें येही मत आगये हैं। यहां कोष्टक रूपमें देनेसे और तीनों मतवादियोंके मत आमने सामने रखनेसे पाठकों को तीनों मतोंका साथ साथ विचार करना सुगम हो सकता है। जहां गीताके श्लोकका संबंध है वहां अध्याय और श्लोक का अंक दिया है और जहां गीता के श्लोकसे अनुमान किया है, वहां श्लोकांक दिया नहीं है।

इस कोष्टक को देखनेसे पाठक जान सकते हैं कि सांख्यमत और योगमत में आत्मतत्त्व, शरीरतत्त्व, द्वन्द्वातीत स्थिति, इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, इनके विषयमें तत्त्वोंकी समानता है। अर्थात् इन के विषयमें दोनों के समान उपदेश हैं। जहां कर्मयोग, कर्मतत्त्व, अनासक्ति, ईश्वरार्पण कर्म, लोकसंग्रहार्थ कर्म, यज्ञतत्त्व, कर्ता का विचार आदि के संबंधमें विचार चलता है वहां के विचार कर्मयोग के साथ अधिक संबंध रखते हैं। इनमें भी जहां "प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, इनका कर्ता आत्मा नहीं है" (३।२७-२८) ऐसा कहा है, वह विचार सांख्य तत्त्व का ही है, ऐसा हमें प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्यमत में ही "प्रकृति सब कुछ करती है, पुरुष का उस से कुछ संबंध नहीं" यह तत्त्व प्रधानतया कहा है। यद्यपि भगवद्गीतामें सांख्यमतप्रतिपादक द्वितीयाध्यायमें ऐसा किसी स्थानपर नहीं कहा, तथापि सांख्यमतप्रतिपादक सभी ग्रंथोंमें पुरुष को अकर्ता और प्रकृतिको कर्ता माना है। इसी तरह अनासक्ति का तत्त्व भी सांख्य मतके साथ मिलनेवाला है, क्यों कि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न होनेसे वह स्वभावसेहि अनासक्त है, इसीलिये अनासक्तिसे वह मुक्ति अर्थात् निजानन्दावस्था प्राप्त करता है और आसक्तिसे बद्ध होता है॥

जो भगवद्गीता का अभ्यास करनेवाले पाठक

हैं, वे यदि अध्ययन किये हुए गीता के श्लोकोंसे इस प्रकार वचन छांट छांट कर एक एक विषय के वचन अलग अलग करेंगे, तो उनको प्रत्येक विषय के संबंधमें भगवद्गीताका कथन निश्चय रूपसे क्या है इसका ठीक पता लगेगा। पाठकों की सुबोधता के लिये और सांख्य और योग की तुलना करनेके लिये यहां दो कोष्टक दिये हैं, इनमें वे दोनों मतों की समता कहां है और विषमता कहां है यह बात देख सकते हैं। साथ ही तीसरा भी एक कोष्टक है, उसमें आत्मघातके विचार संग्रहित किये हैं,इनकी भी तुलना पूर्वोक्त दोनों मतों के साथ पाठक करके योग्य बोध ले सकते हैं। ये कोष्टक पूर्ण नहीं हैं, प्रयत्नसे इनको परिपूर्ण बनाया जा सकता है। यहां केवल इस की अभ्यास में उपयुक्तता है यह दर्शाने के लिये ही ये अपूर्ण कोष्टक दिये हैं। इस प्रकार विवेचनापूर्वक प्रयत्न करते रहनेसे कभी न कभी ये कोष्टक पूर्ण बनना संभव है। अब हम इन कोष्टकों का भी सार निकाल कर प्रत्येक मत का स्वरूप अति संक्षेपसे दिखाते हैं—

ज्ञानयोग ।

सांख्यतत्त्व ।

"मनुष्य के शरीरमें जो आत्मा है वह अजन्मा अविकारी, अमर, अव्यय, अविनाशी, नित्य, सनातन, पुराण, अप्रमेय, अतर्क्य, अचिन्त्य, आश्चर्यरूप है और वह सर्वगत है। यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य और अवध्य है।"

"इस का शरीर जन्मता है, पुष्ट अथवा कृश होता है, तरुण, वृद्ध और जीर्ण होता है, अन्तमें मरता है। यह शरीर काटा, जलाया, भिगाया अथवा सुखाया जाता है। यह शरीर विकारी है, व्यक्त है और एकदेशी है।"

"शरीर जन्मता है अतः उसका मृत्यु अवश्य होगा। शरीर मरनेपर भी उसके अन्दर रहनेवाला आत्मा जैसा का वैसा रहता है। शरीर का जन्म होनेसे अथवा नाश होनेसे आत्मामें कोई बदल नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोडकर नये धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा पुराने शरीर छोडकर नये शरीर धारण करता है।"

"जैसा आकाश अनेक घरोंमें और अनेक घडों में रहता है, कोई घर जल गया अथवा एकाध घडा फड गया, तो आकाशमें कोई अदल बदल नहीं होता, वैसा ही शरीर के नाश से या बनने से आत्मा पर कोई परिणाम नहीं होता।"

"सुखदुःख शीतउष्ण, आदि द्वन्द्व शरीर को होते हैं,आत्मा इनसे अलिप्त है। यह जान कर धैर्य से, तितिक्षा वृत्तिसे और सम भावनासे अपने आपको उन द्वन्द्वोंसे अलिप्त अनुभव करना और सदा हर्षशोक से दूर रहना चाहिये। इस से अमृतत्व प्राप्त होता है।"

"मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाएं छोडकर, इंद्रियोंको विषयों से अलग कर, उनका संयम कर, रागद्वेषोंसे इंद्रियोंको मुक्त कर, सब इंद्रियोंको अपने वशमें रखकर, निःस्पृह, निर्मम, निरहंकार होकर, अपने से हि अपने आत्मामें तृप्त होकर, आत्माका ही चिंतन करता हुआ जो विचरता है, उसको प्रसन्नता प्राप्त होती है।"

"विषयोंके हमलेसे अपना बचाव करनेके लिये सदा सावध रहना चाहिये। विषयोंका देखते हुए भी मन निर्विकार रखना चाहिये, जैसा कि विषय देखेहि नहीं। जो ऐसा निर्विकार रहता है वह मुक्त होता है।"

"प्रकृतिसे कर्म हो रहे हैं,आत्मा अकर्ता है,ऐसा जो अनुभव करता है वह ब्रह्मरूप बनता है।"

यह सांख्यतत्त्व है। वारंवार मनन करने से, वारंवार ध्यान करनेसे, वारंवार इसी विचार को मनमें स्थिर करनेसे, यह तत्त्व सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्टतया अनुभवमें आता है। और

यही सहज अकृत्रिम स्थिति हो जाती है। इस तरह इसका साक्षात्कार हुआ और उसकी सह-जानन्द की अखंड स्थिति होगई, तो समझना चाहिये कि उसको अन्तिम ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई। श्रवण मनन निदिध्यासन और आत्मानु-संधानसे यह स्थिति प्राप्त होती है। सब कर्म छोडना और केवल आत्मानुसंधान करना इसमें आवश्यक है। यह मार्ग केवल ज्ञाननिष्ठावालों सेहि आक्रमण किया जा सकता है।

कर्मयोग

योगतत्त्व।

"आत्माका अमरत्व और शरीरका विना-शित्व आदि जो कथन सांख्य मार्गमें कहा है, वही यहां मन्तव्य है। इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदि सभी सांख्य तत्त्व की बातें यहां आव-श्यक हैं।"

परंतु जिसकी बुद्धि मनन, निदिध्यासन और आत्मानुसंधान में स्थिर नहीं रहती, वारं-वार विचलित होती है, और इस चंचलता के कारण जो उच्च भूमिकामें जा नहीं सकता, उस मनुष्यको विविध प्रकार के कर्म करते हुए चित्तकी शुद्धि करना आवश्यक है। ऐसे मनुष्योंके लिये यह कर्मयोग का मार्ग है।

"इंद्रियोंका संयम करना, रागद्वेषोंके वश न न होना, काम को जीतना, क्रोध का शमन करना, शरीर इंद्रियां मन और बुद्धिसे परे आत्मतत्त्व है और वह विशेष शक्तिमान है, ऐसा मानना, और इसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये अनुष्ठान करना यहां आवश्यक है।

"इसके लिये फलाशा का त्याग कर कर्म करना चाहिये, द्वन्द्वोंके विषयमें सम बुद्धि रखना चाहिये, प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करना चाहिये और फल परमार्थ के लिये समर्पित करना चाहिये। कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है, प्रत्येक प्राणी कर्म किये विना रह नहीं सकता। प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म होता ही रहता है। इस लिये मनु-ष्यको उचित है कि वह अपना नियत कर्म करे, और उसका फल दूसरों की भलाई के लिये किंवा परमेश्वरकी प्रीतिके लिये समर्पित करे।"

"जनता के हित के लिये लोकसंग्रह की बुद्धिसे अवश्य सब कर्म मनुष्य करे और उनका फल लोकहित के लिये समर्पित करे। यही यज्ञ है। यज्ञ से सब जगत् की धारणा होती है। अतः यज्ञ रूप कर्म मनुष्य अवश्य करे। ऐसे कर्म करने से चित्तशुद्धि होगी और मन स्थिर होने लगेगा और पश्चात् सांख्य मार्गमें कहे आत्मानुसंधान से वही ब्राह्मी स्थिति इस को प्राप्त होगी।"

इस से स्पष्ट है कि अखंड एकरस सर्वगत आत्मा है, इस का अनुभव करनेके लिये सब जनता के हितके लिये, सब प्राणिमात्र की भलाई के लिये अपने कर्मोंका फल समर्पित करनेका अनुष्ठान करनेकी दीक्षा कर्मयोग देता है। कर्म-योगी लोकसंग्रह, लोकहित, जनहित आदि बुद्धि से कर्म करता है, उस कर्मका फल जनता के लिये सौंप देता है, इससे भी न समझते हुए वह 'सर्वगत आत्मा' की ही उपासना करता है, ऐसा करते करते उसको किसी न किसी दिन 'सर्वगत आत्मा' का साक्षात्कार होता है। इस तरह कर्म मार्गी कर्म करता हुआ, पहिले स्वार्थसे कर्म, नंतर परार्थ के लिये कर्म, पश्चात् परमार्थ के लिये कर्म-करता हुआ, चित्त को स्थिर करता है और अन्तमें वैसा ही कृतकृत्य होता है।"

इस प्रकार सांख्य और योग का तत्त्वज्ञान है, इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये योग-मार्ग किंवा कर्मयोगमार्ग सुगम है। अतः वह सदा सर्व साधारण मनुष्योंके लिये श्रेयस्कर है।

तृतीयाध्यायका विचार समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

तृतीयाध्याय की विषयसूची।

तृतीय अध्याय समाप्त।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग ।

(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व ।

श्रीभगवानुवाच— इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच—अहं अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान् । विवस्वान् मनवे प्राह । मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ॥१॥ हे परंतप ! एवं परंपराप्राप्तं इमं (योगं) राजर्षयः विदुः । सः योगः इह महता कालेन नष्टः ॥२॥ सः एव अयं पुरातनः योगः मया अद्य ते प्रोक्तः। (त्वं) मे भक्तः सखा च असि इति, हि एतत् उत्तमं रहस्यम्॥३॥

श्रीभगवान् बोले- मैंने इस अविनाशी योगको विवस्वान्से कहा था, विवस्वान्ने मनुसे कहा. और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥१॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन! इस प्रकार परंपरासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना था, परंतु वह योग इस पृथ्वीपर बहुत समयसे लुप्तप्राय हो गया ॥२॥ वही यह पुरातन योग मैंने आज तेरे लिये कहा, क्यों कि तू मेरा भक्त है और प्रियमित्र है तथा यह योग भी उत्तम रहस्य की बात है ॥३॥

भावार्थ— ज्ञानयोग और कर्मयोग रूप जो ज्ञान इससे पूर्व कहा था वह कभी नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है; वह सत्य होनेसे अविनाशी और त्रिकालाबाधित है । परमेश्वरसे वह विवस्वान् को, उससे मनुको और उससे वही ज्ञान इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ था । इस राजर्षियोंकी परंपरासे यह ज्ञान पृथ्वीपर बहुत समय तक रहा था,परंतु बहुत समय के पश्चात् लोग इस ज्ञानको भूल गये ! अतः वही सनातन ज्ञान आज तुम क्षत्रियको दिया है । यह कोई नया मनघडन्त नहीं है । तू भगवद्भक्त और ईश्वरका सच्चा प्रेमी है, अतः यह उत्तम रहस्यका ज्ञान तुझे आज दिया गया है । इसको तू अपने मनमें स्थिर रख, इसका अनुसरण कर और कृतकृत्य हो ॥ १—३ ॥

(१-३) पूर्व अध्यायोंमें कथित ज्ञानयोग, कर्मयोग किंवा कर्मसंन्यासयोग के विषयमें अधिक स्पष्टीकरण इस चतुर्थ अध्याय में है । इन योगोंके विषयमें मनमें कई शंकाएं उपस्थित होती हैं उनका विशेष स्पष्टीकरण पाठक इस चतुर्थ अध्यायमें देख सकते हैं । इसी लिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग' रखा है ।

सार्वभौमिक तत्त्वज्ञान।

यहां पहिली शंका यह है कि, " जो भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुन से कहा, वह केवल अर्जुन को युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये कहा, अतः उसको विशेष प्रमाण मानना अयोग्य है। किसी न किसी युक्तिसे युद्धसे निवृत्त हुए वीरको युद्धके लिये प्रवृत्त करना था। वह कार्य श्रीकृष्ण भगवान् ने किया, अतः यह कथन सार्वकालिक और सार्वभौमिक महत्त्वका नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सामयिक महत्त्वकाहि उपदेश है; इस लिये हम इसको क्यों प्रमाण मानें? हम पुरातन सनातन सार्वभौमिक और सार्वकालिक धर्मतत्त्वको ही मानेंगे, सामयिक तत्त्व तो एकदेशी होनेसे सबके लिये माननीय नहीं हो सकता।"

कई लोग इस प्रकार की शंकाएं करते हैं। अतः इस शंकाको दूर करनेके लिये, और इस ज्ञान की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की सिद्धता करने के लिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि—"इस योग को मैंने ही प्राचीन समयमें विवस्वानसे कहा था, इसीको विवस्वानने मनुसे कहा और उसने इसी को इक्ष्वाकुसे कहा था। इस तरहसे यह कर्मयोग का ज्ञान श्रेष्ठ राजाओं में परंपरा से बहुत समय तक जाग्रत रहा था।" अर्थात् विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अपना जीवनक्रम इसी योग के अनुसार चलाते रहे और कृतकृत्य बने। यह कर्मयोग राजर्षियोंके लिये बडा उपयोगी है। अर्जुन राजशासन चलानेवाला प्रसिद्ध क्षत्रिय है, इस कारण उसको भी यही योग पालन करना उचित है।

ज्ञान का लोप।

यद्यपि इक्ष्वाकु आदि राजालोग इस कर्मयोगका आचरण करते रहे, और राजा महाराजों, क्षत्रियों और राजपुरुषोंकी पाठविधि में यह पढाईका विषय था, तथापि मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिमें थोडीसी शिथिलता रहती है, इस कारण सत्य सनातन धर्मनियम भी, वारंवार चालना न हुई, तो लुप्तप्राय हो जाते हैं; इस रीतिके अनुसार "यह ज्ञान भी इस पृथ्वीपर से बहुत कालसे लुप्त हुआ।" इस ज्ञानके लुप्त होनेसे हि अर्जुन इस धर्मयुद्ध से निवृत्त होनेकी चेष्टा करने लगा, और उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये इतना उपदेश फिर से सुनाना अत्यंत आवश्यक हुआ!! अर्थात् यह उपदेश जो कि श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनसे कहा, वह कोई नया उपदेश नहीं है, वह अविनाशी सनातन ज्ञान है, इतनाही नहीं प्रत्युत यह बडी रहस्य की भी बात है। अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान् जी का परम मित्र और बडा भक्त था, इस कारण भगवान् के द्वारा यह बोधामृत उसको पिलाया गया। नहीं तो ऐसी मर्म की बात कौन किसको बताता है?

इस प्रकार यहां बताया गया कि यह ज्ञान कोई मनघडन्त उपदेश नहीं है। जो त्रिकालाबाधित सनातन सत्यज्ञान विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंको प्राचीन कालमें दिया गया था, और जिस ज्ञानसे वे राजश्रेष्ठ कृतकृत्य हुए थे, वही सनातन ज्ञान इस समय अर्जुन के द्वारा सब संसारको दिया गया है। अर्थात् यह सनातन सत्य ज्ञान है, अतः उन्नति चाहनेवाले हरएक को यह मानना और आचरणमें लाना चाहिये।

प्राचीन इतिहास की साक्षी।

विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अर्जुनसे कई शताब्दी पूर्व भारतवर्षमें हुए थे। ये सूर्यवंशके बडे प्रतापी राजा थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण, किंवा कौरवपांडव और यादव ये चन्द्रवंशी थे। श्रीकृष्ण स्वयं चन्द्रवंशमें प्रतापी महापुरुष थे। अर्जुन भी चंद्रवंशका विख्यात वीर था। चन्द्रवंशमें भी कई वीर बडे धुरंधर और विख्यात हुए थे, तथापि सूर्यवंशके राजालोगोंका प्रताप चन्द्रवंशीयोंसे कई गुणा अधिक उस समय भी माना जाता था इसमें संदेह नहीं है। पृथु, मांधाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, नाभाग, अंबरीष, सिंधुद्वीप, रघु, दशरथ, राम,

नल, आदि सूर्यवंशी राजाओंके नाम महाभारतमें बारंबार आते हैं और आदर्श राजा करके इनका उल्लेख महाभारतमें बारंबार हुआ है। सूर्यवंशी राजाओंने भारतवर्षमें और भारत वर्ष के बाहर के देशोंमें भी अपना यश कमाया था। श्रीरामचंद्रजीने लंकाद्वीपके विदेशी रावण राजा का नाश करके भारत वर्षीय जनताको और त्रिविष्टपके ३३ करोड देववीरोंको रावणके बंदिवास से मुक्त किया था। इस कारण त्रिविष्टप, भारत वर्ष और पाताल तक के भूभागपर सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वमान्य हुआ था, इस कारण इस समय तक 'रामराज्य' की प्रसिद्धि है। राजा भगीरथ के प्रयत्न से गंगा नदी का भारत वर्षमें आना और उत्तर भारतवर्ष को जलसे पूर्ण और उपजाऊ करने का कार्य सुप्रसिद्ध है। हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा तो प्रसिद्ध है। मनु ने सबसे प्रथम जनता को धर्मशास्त्र दिया था। इसलिये धर्मशास्त्रके इतिहासमें 'पहिला धर्मप्रवर्तक' होने का सन्मान इसीको प्राप्त हुआ है। इक्ष्वाकुके प्रताप के कारण उसके नामसे हि एक राजवंश प्रसिद्ध हुआ है। सूर्यवंशके कई राजाओंकी देवराज इन्द्रको भी सहायता हुई है और इन्द्रपदके विषयमें स्पर्धाभी हुई है। इत्यादि कारण सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वतोपरि माना जाता था। इसीलिये अर्जुन को समझाने के समय श्रीकृष्णभगवान ने यहां सूर्यवंशके तीनों नाम लिये हैं और पूर्व अध्याय (३।२०) में जनक नामक सूर्यवंशीय राजाका नाम भी अर्जुन को आदर्श बतानेके लिये संमानके साथ लिया है। सोमवंशी दो वीर आपसमें बातचीत करते समय अथवा एक दूसरेको तत्त्वज्ञान समझानेके समय सोमवंशियों के नाम न लेते हुए सूर्यवंशियोंके नाम लेते हैं; इससे सूर्यवंशीय प्रतापी वीरोंकी प्राचीनता और विशेष वीरवत्ता स्पष्ट रीतिसे सिद्ध होती है। विभूतियोग (अ० १०) में भी जहां प्रत्येक जाती का उल्लेख कर कर के उस जातीके मुख्य मुख्य विभूतिका नाम लिया है वहां वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनंजय ये दो नाम चन्द्रवंशियोंके कहे हैं। वृष्णि जातीमें वासुदेव और पांच पांडवों में धनंजय मैं हूं ऐसा कह कर, सूर्यवंशीय वीर रामचन्द्रका जिस समय उल्लेख किया है, वहां—

रामः शस्त्रभृतामहम्। (भ० गी० १०।३१)

"संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें श्रीरामचन्द्र जैसे श्रेष्ठ हैं वैसा मैं हूं" ऐसा कहा है। 'सूर्यवंशियों में राम मैं हूं' ऐसा नहीं कहा, परंतु जगत् में जितनेभी शस्त्रधारण करनेवाले वीर हैं, उन सब में दाशरथीराम सबसे श्रेष्ठ है, वह मैं हूं, ऐसा कहा। अर्थात् इससे सूर्यवंशीय वीरोंकी सार्वभौमिक श्रेष्ठता सिद्ध होती है। श्रीरामचन्द्र तो सूर्यवंशीय राजाओंमें श्रेष्ठ हैं हि, परंतु साथ साथ इस भूमंडलके संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें भी वे श्रेष्ठ हैं, क्यों कि द्वीपान्तरीय प्रबल शत्रुका पराभव उसने किया, और देवराष्ट्र और मानवराष्ट्र को पुनः स्वातंत्र्य प्रदान किया।

यहां और एक दृष्टिसेभी सूर्यवंशी और सोमवंशीयोंकी तुलना हो सकती है। सोमवंशी कौरव पांडव भाई भाई होते हुए भी आपस में लढकर अपने देशकेहि १८ अक्षौहिणी वीर सैनिकों का नाश करने के लिये कारण हुए! यादव तो आपसमें लड लडकर नष्टही हुए!! अर्थात् इन की आपसकी दुरवस्था यहां तक पहुंच चुकी थी कि इनमें बुद्धि और वीरता रहते हुए भी ये आपसकी संघटना करके जगज्जेता न बन सके। यदि युधिष्ठिरका धर्मनिश्चय, भीम दुर्योधन का बल, भीष्म द्रोणका युद्ध कौशल, अर्जुन कर्णका शरसंधान, और श्रीकृष्णजी की युक्ति इनकी आपस में संघटना हो जाती, तो ये कौरव पांडव और यादव मिलकर निःसंदेह सब भूमंडलपर दिग्विजय कर लेते। भगवान् श्रीकृष्णजी का कौरव सभा में जाकर आपस में समझौता करनेका यत्न इसीलिये था, परंतु कौर-

वोंको मनःस्थिति यहांतक पहुंचचुकी थी कि यह संघटना बन नहीं सकी। अब श्रीरामचन्द्रजी के समय की स्थिति देखिये। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण नगरसे बाहर किये गये थे। ये शक्ति रहनेपर भी अपने भाईयोंसे न लडे, न पितासे झगडे। शान्तिसे वनमें गये और वहां की वानर जातियोंकी संघटना करके, वानरोंके संख्याबल और अपने अस्त्रबल का मेल करके, भारतवर्ष और त्रिविष्टप को शताब्दियोंसे पारतंत्र्यमें रखनेवाले विदेशी लंकाद्वीपस्थ स्वार्थी और भोगी राक्षससम्राट दशमुख रावण का पूर्ण पराभव करके आर्योका स्वराज्य पुनः स्थापित कर सके। और देवजाती कोभी रावणके बंदिवाससे मुक्त कर सके !!! यहां तुलना यह करनी है कि सोमवंशी लोग आपस में लड कर नष्ट होते हैं, और सूर्यवंशी आपसमें लडनेका अवसर आनेपर भी न लडते हुए विविध जातियोंका मेल करके अपने संघटित प्रयत्नोंसे अपने देशका और लोगोंका यश बढाते हैं और अपना पूर्ण स्वतंत्र स्वराज्य शासन अपनी मातृभूमिमें स्थापित करते हैं। इस कारण श्रीरामचन्द्रजीको आदर्श विभूति मानना सर्वथा योग्य ही है। प्रायः सभी सूर्यवंशी राजाओंका ऐसा ही प्रताप है। इसलिये भगवद्गीतामें इनको ही आदर्शरूपसे अर्जुनके सामने रखा है।

अस्तु प्राचीन इतिहास कहते हुए जो सूर्यवंशियोंका उल्लेख भगवद्गीतामें आगया है, उस से यह अनुमान उस समय के इतिहास के विषयमें होना संभव है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें।

पूर्वजोंका अनुभव।

यहां कई कहेंगे कि पूर्वजोंके नाम लेनेसे क्या होता है? क्या कभी यह माना जा सकता है कि फलाणी बात पूर्वजोंने मानी थी अथवा की थी; इसी कारण वह अच्छी और निर्दोष है?यह शंका स्वाभाविक है, और यह कोई निःसंदिग्ध नियम नहीं है कि प्राचीन कालसे मानी गई चीजें सब की सब अच्छीहि होती हैं। तथापि जो विचार या ज्ञान बहुत समयसे प्रचलित रहता है और जो आचार बहुत काल तक बडे पुरुषोंके आचरणमें रहता है, वह बहुत समय तक सुसंमत रहनेके कारण सहजही में तिरस्करणीय नहीं हो सकता, इतनाही नहीं प्रत्युत वह बहुत अंशसे जनताके लिये उपयोगी लाभदायक और सुखकारक होनेमें भी कोई शंका नहीं हो सकती। इसी दृष्टीसे पूर्वेतिहास के अध्ययन का महत्त्व है। विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु और जनक का नामनिर्देश करके अर्जुनके मनपर यह विश्वास स्थिर करनेका यहां यत्न किया गया है कि, ये प्रतापी वीर भी इसी कर्मयोगसे श्रेष्ठ पदवीको प्राप्त हुए थे। और इसी कारण यदि अर्जुन इस ज्ञान को प्राप्त करेगा और इसके अनुसार चलेगा, तो वह भी उनके समान संमाननीय होगा। सोमवंशीय वीरोंका नाम यहां न लेनेका कारण यह भी एक हो सकता है कि वे अपने हि हैं। अपने वंशीयोंके उदाहरणोंकी अपेक्षा इस तत्त्वज्ञानको माननेवाले यदि दूसरे देशवासीयोंमें, दूसरे वंशों में अथवा दूसरी जातियोंमें मिले, तो इस तत्त्वज्ञानका महत्त्व सार्वभौमिक रीतिसे स्वयं सिद्ध हो सकता है। इस दृष्टिसे भी सूर्यवंशीयोंके उदाहरण का महत्त्व अधिक है। यदि यह तत्त्वज्ञान विशेष उपयोगी न होता तो विवस्वान्,मनु, इक्ष्वाकु, जनक, जैसे प्रतापि और यशस्वो राजा लोग इसका स्वीकार क्यों करते? जिस कारण उन्होंने इस ज्ञानको माना और इसके अनुसार वे चले और कृतकार्य बने, उसी कारण इस ज्ञानकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इसी कारण आजके वीरोंको भी इसका स्वीकार करना चाहिये।

विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि राजाओंकी परंपरासे यह ज्ञान चला आया है, स्वयं भगवान् ने विवस्वान् से कहा और उसने अन्य राजाओंको कहा। इस कथनसे ऐसा कभी नहीं

मानना चाहिये कि यह कर्मयोगके ज्ञानकी परंपरा इतनीहि है । महाभारतमें इस परंपराका विशेष वर्णन है वह यहां देखिये—

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम् ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयं ॥
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे ।
वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे ॥
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः ॥
यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप ।
तदा पितामहेनैव सोमाद्धर्मः परिश्रुतः ॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम् ॥
ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप ।
वालखिल्यानृषीन्सर्वान्धर्ममेतदपाठयत् ॥
म० भा० शां० ३४८ । १३-१८

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप ।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ।
ततो ज्येष्ठाय दौहित्रे प्रादाद्दक्षो नृपोत्तम ॥
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वाञ्जगृहे ततः ।
त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ ॥
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥
नारदेन सुसंप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ॥
म० भा० शां० ३४८।४८-५४

इस स्थानपर कहा है कि ब्रह्मदेव के सात जन्म हुए और उनमेंसे प्रत्येक जन्ममें नारायणसे यह धर्म ब्रह्माजी को प्राप्त हुआ। पहिलीवार नारायणसे ब्रह्मा को, ब्रह्मासे फेनप ऋषियोंको, उनसे वैखानस ऋषियोंको, और उनसे राजा सोम को प्राप्त हुआ । इसके पश्चात् शिथिलता उत्पन्न होकर इस धर्मका लोप हुआ ।

जब ब्रह्मदेव का द्वितीय जन्म चाक्षुष नामसे हुआ, तब चाक्षुषने सोमसे इस धर्मको प्राप्त किया, उसने रुद्रको पढाया, और उसने वालखिल्य ऋषियोंको पढाया । तत्पश्चात् कालान्तरसे पुनः इसका लोप हुआ । इस प्रकार यहां (म० भा० शां० अ० ३४८ में) ब्रह्माजी के छः जन्मोंका वृत्तान्त दिया है ।

पश्चात् आजकलके ब्रह्मा का सातवां जन्म हुआ । और नारायणने यह धर्म उसको पढाया । ब्रह्माने दक्षको सिखाया, दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र पुत्रको सिखाया । उससे विवस्वान् को प्राप्त हुआ, उस से मनु को और उससे इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ ।

नारद ऋषिने भी यही धर्म रहस्य और संग्रह के साथ स्वयं नारायणसे प्राप्त किया था । इस तरह देखनेसे पता चलता है कि यह परंपरा वैखानस और वालखिल्य आदि ऋषियोंतक पहुंचती है । यहां भगवद्गीतामें दो तीन नाम लेकर संक्षेपसे कहा है, परंतु इस धर्मकी परंपरा इस प्रकार अति प्राचीन है, इस परंपराकी कालमर्यादा निश्चित करना इस समय अति कठीन कार्य है ।

"इस तरह यह योग इस प्राचीन परंपरासे प्राप्त है।" ऐसा जो यहां कहा है वह इतनी प्राचीन परंपरा बतानेके उद्देश्यसे कहा है । तथा (इमं राजर्षयो विदुः) यह योग राजश्रेष्ठोंने जाना था, इससे कई लोग यह अनुमान निकालते हैं कि इस ज्ञानका पता ब्रह्मर्षियों को न था । यह विद्या केवल क्षत्रियोंके पास ही थी । परंतु महाभारतांतर्गत नारायणीयोपाख्यानसे उद्धृत किये ऊपर लिखित श्लोकोंके अनुसंधानसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विद्या जैसी मनु इक्ष्वाकु आदि क्षत्रियों को प्राप्त थी, उसी प्रकार उनसे पूर्व यह विद्या नारद, वालखिल्य, वैखानस आदि प्राचीन ब्रह्मर्षियोंके भी पास थी । किंवा यह विद्या प्रारंभमें ब्रह्माको प्राप्त होनेके कारण ब्रह्म जाती के पास थी और उनसे क्षत्र जातीने प्राप्त की थी । श्रीमद्भगवद्गीता और नाराणीय उपाख्यान का बडा घनिष्ठ संबंध है और सिद्धान्तों के विषयमें भी दोनों की तुलनासे बडा अच्छा बोध प्राप्त हो सकता है ।

अर्जुन उवाच-- अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(२) पुनर्जन्म।

श्रीभगवानुवाच-- बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच-भवन्तः जन्म अपरं, विवस्वतः जन्म परं, (अतः) त्वं आदौ एतत् प्रोक्तवान् इति (अहं) कथं विजानीयाम्? ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् उवाच- हे परंतप अर्जुन! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि; तानि सर्वाणि अहं वेद, त्वं न वेत्थ ॥ ५ ॥

अर्जुनने पूछा— हे भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वानका पुराने समयमें हुआ था, इसलिये आपने आदिकालमें यह ज्ञान उससे कहा था यह मैं कैसे मान लूं? ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् बोले- हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत ही जन्म हो चुके हैं। इन सबको मैं जानता हूं, परंतु तू नहीं जानता ॥ ५ ॥

भावार्थ— गुरु और शिष्यका समय एक हि होना चाहिये, गुरु इस समयमें हो और उसका शिष्य प्राचीन समयमें हो चुका हो, यह कैसे माना जा सकता है? ॥ ४ ॥

इस प्रकार यह धर्म प्राचीन परंपरासे चला आता है, यह बात वीर अर्जुनने जान ली, और जब उसने यह सुना कि इस धर्मका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने हि विवस्वान् से कहा था, तब उसके मनमें एक शंका उठी की, भगवान् श्रीकृष्णजी तो मेरे सन्मुख हैं, येही हजारों वर्षोंके पूर्व विवस्वान् को धर्मोपदेश कैसे कर सकते हैं। इनको जन्म धारण करके कुल सौ वर्ष भी नहीं हुए। अतः ये विवस्वान् को उपदेश कैसे दे सकते हैं? यह अर्जुनकी शंका उसीके शब्दों से श्रवण करिये—

(४) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके सन्मुख उपस्थित हैं। उनकी आयुभी अर्जुनके समान ही है। अर्थात् कृष्ण और अर्जुन समानवयस्क थे। विवस्वान् तो इस कल्पके प्रारंभमें हुए थे। अतः इस समयके श्रीकृष्णके द्वारा कल्पके आदि में जन्मे हुए विवस्वान् को धर्मज्ञानका बोध हुआ होगा, यह बात किस प्रकार संभवनीय हो सकती है? अर्जुन की शंका स्थूल शरीर की दृष्टिसे नितान्त सत्य है, परंतु भगवान् श्रीकृष्णजी का कथन कारणशरीर की दृष्टिसे था। यह बात अर्जुनके ध्यानमें नहीं आयी, अतः उसने शंका की है। स्थूलदृष्टीवाले अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं, वह पुनर्जन्मका महत्त्वपूर्ण विषय अब देखिये—

पूर्वजन्मका स्मरण।

(५—६) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, "हे अर्जुन! इस समयतक मेरे और तेरे अनन्त जन्म हो चुके हैं, परंतु तेरी बुद्धिपर अज्ञानका आवरण है, इसलिये तुझे उन जन्मोंका स्मरण नहीं है और मेरे पास उक्त अज्ञान न होनेसे मैं उन सब जन्मोंको यथावत् किंवा प्रत्यक्षवत् जानता हूं। अतः मुझे स्मरण है कि मैंने

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वयः—(अहं) अजः अव्ययात्मा अपि सन्, भूतानां ईश्वरः अपि सन्, स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय, आत्ममायया संभवामि ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा और अविनाशी आत्मा तथा सब भूतमात्रका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको स्वाधीन रखकर, अपनी शक्तिसे हि जन्म लेता हूं ॥६॥

भावार्थ—आत्मा अजन्मा और अव्यय है, तथापि उसको अनेक जन्म प्राप्त होते हैं। जो ज्ञानरहित होते हैं वे इस पुनर्जन्मके विषयको नहीं जान सकते, परंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे जन्मजन्मान्तरका विषय प्रत्यक्षवत् जानते हैं। जो जीव बद्ध हैं वे तो स्वकर्मवश होते हुए जन्म लेकर सुखदुःखादि भोग भोगते हैं; परंतु जो अपने ईश्वर भाव का अनुभव करनेवाले शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाले हैं, वे भी विशेष धर्मकार्य करनेके उद्देश्यसे दिव्य जन्म लेते ही हैं ॥ ५-६ ॥

यह योगविद्याका ज्ञान कल्पके प्रारंभ में विवस्वान् को दिया था। उस समय विवस्वान् ने क्या किया था और मैंने भी क्या किया था, यह सब मैं इस समय प्रत्यक्षवत् जानता हूं। परंतु हे अर्जुन, तुझे तो इस देह के द्वारा किये हुए सब कर्मोंका भी स्मरण नहीं है, फिर पूर्व जन्मोंका स्मरण कहां से हो सकता है?"

अर्जुन कोई सामान्य मनुष्य नहीं था, वह (परं-तपः) श्रेष्ठ तप करनेवाला था, (गुडाकेशः) निद्राका स्वामी था, परम भक्त था, अर्थात् वह असाधारण योग्यतावाला मनुष्य था। तथापि पूर्वजन्मोंका ज्ञान होने योग्य निर्मल बुद्धि उसको प्राप्त नहीं हुई थी। बुद्धिमें मल रहनेके कारण उसकी बुद्धि स्थूल थी और स्थूलताके कारणहि वह स्थूल शरीर से परे देखनेमें असमर्थ था।

मनुष्य के तीन शरीर।

मनुष्य के स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ऐसी तीन शरीर तो मुख्य हैं। स्थूल शरीर जन्मसे मृत्युतक रहता है, सूक्ष्म शरीर वासनाक्षय होकर बंधनिवृत्ति होनेतक रहता है और कारणशरीर कल्प पर्यंत रहता है; अतः जो लोग स्थूल शरीर के ऊपर अपना अधिष्ठान रखकर कार्य कर सकते हैं वे तो केवल स्थूल शरीर को ही जानते हैं, अतः इनको स्थूल दृष्टीवाले लोग कहा जाता है, सामान्यतः सब लोग ऐसे ही हुआ करते हैं। इसके ऊपरले श्रेणी के जो लोग होते हैं वे जैसा स्थूल शरीर पर वैसा ही सूक्ष्म शरीर पर अपना अधिष्ठान रखते हैं और दोनों शरीरोंपर जाग्रतिवत् कार्य करते हैं। इस से भी ऊंचे दर्जेपर जाकर कार्य करनेवाले विरला लोग ऐसे होते हैं कि जो कारण-शरीर के अधिष्ठान पर जाग्रतिवत् कार्य करते हैं, उनको पूर्व और उत्तर कल्पका ज्ञान यथावत् रहता है। और ये लोग कल्पके प्रारंभ की बात भी आज प्रत्यक्षवत् देखते हैं और कल्पके अन्तसमय की भी बात उनको वैसीहि प्रत्यक्षसी हो जाती है। भूत भविष्य उनके लिये वर्तमान जैसे होते हैं। वे सदा आत्मा रूपसे जाग्रत् रहते हैं, स्थूल शरीर उनपर आते हैं और जाते हैं, तथापि वे आकाश में मेघ आने और जानेपरभी जैसा आकाश एकसा निर्मल रहता है, वैसे ही एक रूप और निर्मल रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इस उच्च श्रेणी के अर्थात् पुरुषोत्तम थे, अतः

उनको विवस्वान् के समय क्या हुआ था इसका ज्ञान यथावत् था और उनको अपने अनेक जन्म होने का भी स्मरण उत्तम था।

अर्जुन स्थूल दृष्टिवाला था, वह स्थूल शरीर से परे देखनेमें असमर्थ था। अतः उसको शंका हुई की "मेरे सन्मुख उपस्थित हुए श्रीकृष्ण कल्पके आदिमें विवस्वान् को कैसे उपदेश करते रहे?" वस्तुतः देखा जाय तो आत्मा अजन्मा, अविनाशी, अनन्त, और अव्यय होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णजी का आत्मा जैसा अर्जुन के समय था, वैसा ही विवस्वान के समय में भी था। न उस आत्मामें कुछ कालसे बदल हुआ और न घटबध हुआ। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् जो उपदेशका कार्य इस समय कर रहे हैं, वही कार्य विवस्वान के समय कर रहे होंगे; कमसे कम आत्मा की एकता माननेपर, वह कार्य उस समय उनसे होना स्वाभाविक है। परंतु स्थूल दृष्टिवाले अर्जुन को यह ज्ञान कैसे हो सकता है? यह ज्ञान तो आत्मभाव को सदा जाग्रत रखनेवाले श्रीकृष्ण को ही हो सकता है। अपना शाश्वत अव्यय और अविनाशी आत्मस्वरूपसे अस्तित्व प्रत्यक्ष जाननेसे उसको भूतभविष्यका ज्ञान वर्तमान जैसा हो सकता है, क्यों कि अविनाशी अक्षय आत्माके लिये सदा वर्तमान काल किंवा कालरहित अवस्था ही रहती है। परंतु जो विनाशी शरीर को हि देखते रहते हैं, उनको उत्पत्ति स्थिति और विनाश का अनुभव होता है। अतः वे उत्पत्ति और विनाश से मोहित होते हैं और अक्षय वस्तु को देख नहीं सकते। श्रीकृष्ण भगवान् की दृष्टि और अर्जुन की दृष्टिमें यह भेद था, इस लिये दोनों के अनुभव भिन्न हैं।

यहां सुबोधताके लिये एक उदाहरण लेते हैं, एक मनुष्य है, उसकी आयुके प्रारंभके ८ वर्ष बालपनमें गये, आगे २४ वर्ष गुरुकुलमें विद्याभ्यासमें गये, इसके पश्चात् के ३० वर्ष गृहाश्रममें गये और शेष आयु संन्यासाश्रममें व्यतीत हुई। आयुके इन चार खण्डोंमें रहता हुआ वह मनुष्य बालपन के किये कर्म को भी 'वह मैंने किया' ऐसा कहता है, और गृहाश्रममें या संन्यासाश्रम में किये कर्म को भी 'वह मैंने किया' ऐसाही कहता है। इन चारों अवस्थाओंमें जैसा वह एक ही भावसे रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तरकी अवस्था भी इनमें संमिलित की जावे, तो दूसरे शरीर के द्वारा किये कर्म भी "मैंने हि किये" ऐसा वह कह सकता है। परंतु यह उसको तब साध्य होगा कि जब वह अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करने लगेगा। अर्थात् जो इसप्रकार अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करता हो, वही पुनर्जन्मका स्मरण रख सकता है।

पुनर्जन्म के भेद।

पुनर्जन्मके कई प्रकार हैं। पहिले आत्मा प्राण के साथ मिलकर मेघमंडलका आश्रय करता है और वृष्टिके साथ वृक्षवनस्पतियोंपर सिंचित होता है, इस समय यह 'जलात्मा' कहलाता है यह इसका पहिला जन्म है।

वह जल वृक्षवनस्पतियां पीती हैं जिससे वह वृक्षवनस्पतियों में रहने लगता है। यह इसका दूसरा जन्म है। इस समय यह 'अन्नात्मा' कहलाता है।

वृक्षवनस्पतियोंका अन्न स्त्रीपुरुष खाते हैं, उससे उनके शरीर में रक्त और वीर्य बनता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इस समय इसको 'वीर्यात्मा' कहते हैं।

इस वीर्यसे स्त्रीके शरीरमें गर्भाधान किया जाताहै। यहां गर्भाशयमें यह रहता है। यह इसका चौथा जन्म है, इस समय इसको 'गर्भात्मा' किंवा 'मातरि-श्वा' (माता के उदर में रहनेवाला) कहा जाता है।

गर्भ स्थितीके नंतर दशम मासमें माताके उदर से वह बाहर आता है, यह उसका पांचवां जन्म है, इसको 'पुरुषात्मा' कहते हैं। इस तरह पांचवे जन्ममें जीवनपूर्ण जल मनुष्य रूपमें परिणत

होता है। (पञ्चम्यां आहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति। छां० उ० ५।३।३)

इसके नंतर उपनयन संस्कार से द्विजबालकों का नया जन्म होता है, यह छठां जन्म है, इसको 'ज्ञानात्मा' कहते हैं।

आगे ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम लेकर विविध कर्म करता है, इस समय इसको 'कर्मात्मा' कहते हैं। यहां कर्म के कारण सातवां पुनर्जन्म होता है। विशेष प्रशस्ततम कर्म करके यह जगद्वंद्य बनता है। शत ऋतु करके इन्द्रपदवी भी प्राप्त करलेता है। नर करणी (कर्म) करनेसे नर का नारायण बनता है। यह इसका 'कर्म जन्म' है।

कदाचित संन्यासाश्रम लेनेद्वारा सब कर्मोंका संन्यास करता हुआ यह 'चिदात्मा' बनता है। यह इसका आठवां जन्म है, यहां इसको आनंदावस्था का अनुभव होता है। इस समय यह (निजानन्दरूपः शिवः केवलोऽहं) मैं आनंदघन हूँ ऐसा अनुभव करता है।

इस तरह मनुष्यका आत्मा कई जन्म लेता है। इनमें पिताके देहसे माताके देहमें और माता के देहसे जगत् में जन्म होना मुख्य पुनर्जन्म है। यहां एक पक्ष ऐसा एक मत प्रतिपादन करता है कि पिता ही पुत्ररूपसे पुनर्जन्म पाता है, अर्थात् पिता पुत्र या पुत्री रूपसे नया जन्म लेता है। तात्पर्य जितने पुत्र या पुत्रियां होंगी, उतने पुनर्जन्म पिताने लिये ऐसा समझना चाहिये।

आत्मा वै पुत्रनामाऽसि ॥ कौशी० उ० २।११
स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रैति, अथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति।
बृ० उ० १।५।१७

"स्वयं ही पुत्ररूप होता है। जो ज्ञानी बनकर यहां से चल बसता है वह अपने प्राणसे पुत्र में प्रविष्ट होता है।" इत्यादि अनेक रीतिसे पिताका पुनर्जन्म पुत्रमें होनेका वर्णन शास्त्रोंमें है।

इसके अतिरिक्त एक और भी 'कर्म जन्म' नामसे पुनर्जन्म हुआ करता है। जैसा राजा, प्रधान, सेनापति, आचार्य आदि के कर्म सब देशोंमें चलते ही हैं। जब ये मरते हैं या स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं, तब दूसरे मनुष्य उस स्थानापन्न होते हैं, एक राजा दूर होनेपर दूसरा आता है, प्रधान के स्थानापन्न दूसरा होता है, सेनापति जानेपर दूसरा किया जाता है और आचार्य के स्थानापन्न दूसरा होता है। पहिले का पुनर्जन्म दूसरेमें होता है। यह 'कर्मजन्म' है। जिस राष्ट्रमें इस प्रकार के कर्म से पुनर्जन्म होते रहते हैं वह राष्ट्र सबल रहता है और जिस राष्ट्रमें मृत मनुष्यका कर्मसे पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका स्थान रिक्त रहता है वह राष्ट्र निर्बल समझना चाहिये। अपने देशमें कार्यकर्ता नेता लोगोंके स्थान रिक्त रहते हैं या भरजाते हैं, यह देखनेसे इस बात का पता लगेगा कि हमारा देश कैसा है।

इस प्रकार के कई तरह के पुनर्जन्म हैं। इनका संक्षेपसे यहां निर्देश इसलिये किया है कि, पाठकोंको अनेक प्रकारके पुनर्जन्मोंकी ठीक कल्पना हो जाय और ये इनका विचार कर सकें। परंतु यहां जिस पुनर्जन्मका उल्लेख है, वह एक शरीर छूटनेपर उस आत्माको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, उस पुनर्जन्मका है और भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा है कि "मेरे और तेरे कई जन्म वारंवार हुए हैं, इनको मैं जानता हूं परंतु तू नहीं जानता।"

इस जन्मके भी दो भेद हैं, एक स्वेच्छासे किंवा स्वतंत्रतासे और दूसरा नियमके बंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे। श्रीकृष्ण भगवान् के जो अनेक जन्म हुए वे उनकी स्वतंत्र इच्छा से हुए हैं और जो अर्जुन के जन्म हुए हैं वे नियमबंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे हुए हैं, इस विषयमें अगला श्लोक देखिये—

मुक्तका पुनर्जन्म ।

अजः, अव्ययात्मा, भूतानां ईश्वरः सन् अपि, अहम्, स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय, आत्ममायया संभवामि ॥ (४ । ६)

"अजन्मा, अव्यय अर्थात् अविनाशी आत्मा मैं हूं, और सब भूतोंका मैं ईश्वर भी हूं, इतना होनेपर भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर मैं आत्मशक्तिसे स्वयं जन्म लेता हूं।" इसमें परमात्मस्वरूपी श्रीकृष्ण किस प्रकार जन्म लेते हैं इसका वर्णन है। इसमें निम्न लिखित विधान हैं—

(१) (अ-जः) आत्मा अजन्मा, जन्मरहित है, तथा (अजः=प्रेरकः) सब का प्रेरक, चालक किंवा मुख्य नेता है;

(२) (अ-व्ययः) आत्माका कभी व्यय नहीं होता, अर्थात् वह अविनाशी है;

(३) (आत्मा=अतति इति) आत्मा सतत गति या प्रेरणा करनेवाला किंवा सर्वत्र व्यापक है;

(४) (भूतानां ईश्+वरः) सब भूतमात्रके ईशोंमें मुख्य ईश, सब जगत् का मुख्य स्वामी सब का एक मात्र अध्यक्ष और चालक;

(५) (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर, अपनी प्रकृतिको अपने आधीन रखकर, अपनी प्रकृतिका स्वामी बनकर, अपनी प्रकृतिको यथावत् जाननेवाला होकर, अपनी प्रकृतिका निरीक्षण करके,

(६) (आत्म-मायया सं भवामि) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूं, निजशक्तिसे सम्यक्तया होता हूं, अपनी शक्तिसे प्रकट होता हूं।

श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार या जन्म लेनेके विषयमें इस श्लोकमें ये छः बातें कहीं हैं, उनका मनन सबसे प्रथम करना योग्य है। इससे शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ईशका जन्म कैसा होता है और बद्ध का जन्म कैसा होता है, इस महत्त्वपूर्ण बात का निर्णय होना है, अतः पाठक इस ओर विशेष ध्यान दें।

यहां श्रीकृष्ण भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव युक्त हैं, और अर्जुन बद्ध स्थितिमें है। दोनों के (बहूनि जन्मानि व्यतीतानि) अनेक जन्म हुए हैं, ऐसा पंचम श्लोक में कहा है। इस लिये यह बात स्पष्ट होगई कि, मुक्त भी जन्म लेता है और बद्ध भी जन्म लेता है। अतः इस बातका विचार करना चाहिये कि, इन दोनों के जन्म लेनेमें कौनसा भेद है ? पूर्वोक्त स्थानपर मुक्तके जन्म लेनेके विषयमें छः बातें कहीं हैं, उनका सार यह है—

"(मुक्त आत्मा अनुभवसे यथावत् जानता है कि) अपना आत्मा जन्मरहित, नाशरहित, सबका चालक, सर्वत्र व्यापक और सब का मुख्य स्वामी है, (वस्तुतः उसको जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि विशेष कार्य करने के लिये वह) अपनी प्रकृति को अपने संयम में रखकर, अपनी शक्तिसे हि स्वयं जन्म लेता है।"
(भ० गी० ४ । ६)

भगवान् श्रीकृष्णके अनेक जन्म इस तरह होते हैं। जन्म लेनेका वास्तविक कोई कारण न होते हुए भी ये क्यों जन्म लेते हैं ? इसका हेतु (भ० गी० ४ । ७, ८ में) आगे कहा जायगा, यहां केवल किस तरह जन्म लिया जाता है, इतनीहि बातका कथन किया है। अब इसके विपरीत बद्ध मनुष्य का पुनर्जन्म कैसा होता है, वह देखिये, पूर्वोक्त मुक्त स्थितिके सर्वथा विरुद्ध अवस्था उसकी है, देखिये—

बद्ध का पुनर्जन्म ।

"(बद्ध मनुष्य अपने आपको शरीरसे परिमित समझनेके कारण सचमुच मानता है कि) मैं शरीर हूं और मैं जन्म लेता हूं, (बढता हूं, कृश होता हूं, और) मरता भी हूं, मेरा चालक दूसरा है, मैं एकदेशी और छोटा हूं, मेरे अधिकारमें कुछभी नहीं है, प्रकृतिस्वभावके अनुसार मुझसे कार्य होंगे, मैं सर्वथा असमर्थ हूं और

ईश्वरकी शक्तिसे मुझे अपने कर्मानुसार पुनः पुनः जन्म प्राप्त होगा।" इस प्रकार बद्ध दूसरेकी शक्तिसे घुमाया जाता है और मुक्त अपनी शक्तिसे सब कुछ कर लेता है।

इस के लिये एक उदाहरण ऐसा लिया जा सकता है कि, एक नगरमें एक कारागृह है, उसमें राज्य प्रबंधसे कुछ बन्दिवान रखे हैं। एक दिन उस कारागृह का निरीक्षण करनेके लिये राजा स्वयं अपने मंत्रियोंसे कारागृह में गया। जब तक राजा वहां रहा तब तक उसी कारागृह में जैसा राजा होगा और उसके मंत्री होंगे, उसी प्रकार कैदी भी होंगे। वस्तुतः इस समय राजा भी जेलखानेमें है और कैदी भी हैं। परंतु राजा स्वतंत्र है और कैदी परतंत्र हैं। यही भेद मुक्तके शरीरधारण करनेमें और बद्धके जन्मलेनेमें है। दोनों इस जगत्‌में जन्म लेते हैं और कार्य करते हैं, परंतु एक (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता है और दूसरा प्रकृतिका दास है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रकृतिके स्वामी थे और अर्जुन प्रकृतिका दास था। अर्जुनकी योग्यता अन्य मनुष्योंसे कई गुणा अधिक थी, क्योंकि उसके सौभाग्यसे भगवान् के कार्य में प्रमुख भाग लेकर ईशकार्यको करनेका अवसर उसको प्राप्त हुआ था। इसलिये अर्जुनका जन्म सार्थक हुआ। जो भगवत्कार्यसे दूर रहते हैं उनकी दुरवस्थाका विचार ही न करना अच्छा है।

इस तरह बद्ध और मुक्त के जन्म किस तरह होते हैं इस बात का विचार हुआ, अब इस विषयमें वेद में क्या लिखा है सो अब देखिये—

अजका पुनर्जन्म।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

वा० यजु० ३१।१९

"(प्रजापतिः) सब प्रजाओंका पालक (गर्भे अन्तः चरति) गर्भ के अंदर विचरता है। यह (अ—जायमानः) कभी न जन्मनेवाला है तथापि (बहुधा विजायते) अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, (धीराः तस्य योनिं परिपश्यन्ति) धीर लोग उसके मूल स्थानको देखते हैं, (तस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसीमें ये सब भुवन रखे हैं।" इसी तरह अगला वेदमंत्रभी देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।

वा० यजु० ३२।४

"यही देव सब दिशा उपदिशाओंमें है, वह (पूर्वः जातः) पहिले हुआ था और फिर (सः गर्भे अन्तः) वही गर्भ में आगया है। वही पहिले हुआ हुआ और भविष्यमें होनेवाला है। हे लोगों! वही सर्वत्र मुख करके अवस्थित होनेवाला (प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक पदार्थ में है।" तथा और देखिये—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूप ईयते०॥

ऋ. ६।४७।१८; बृ० उ० २।५।१९

"प्रत्येक रूप के लिये वह (प्रतिरूपः) आदर्श बना है, यह इस का रूप (प्रतिचक्षणाय) देखने योग्य है। यह (इन्द्रः) प्रभु अपनी (मायाभिः) शक्तियोंसे प्रत्येक रूपका नमुना बना है०।"

इन मंत्रोंका और गीताके श्लोकका बहुत साम्य है, देखिये—

गीताश्लोक	वेदमंत्र
अजोऽपि सन्	अजायमानः
भूतानामीश्वरोऽपि सन्	प्रजापतिः, देवः, इन्द्रः,
संभवामि (संभवति)	बहुधा विजायते
„	चरति गर्भे अन्तः
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि।	जातः, जनिष्यमाणः, (पुनः) गर्भे अन्तः।
संभवाम्यात्ममायया।	इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूपः ईयते।

(३) भगवान् के जन्मका उद्देश्य ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

अन्वयः— हे भारत ! यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य (च) अभ्युत्थानं भवति, तदा अहं आत्मानं सृजामि ॥ ७ ॥ साधूनां परित्राणाय, दुष्कृतां विनाशाय, धर्मसंस्थापनार्थाय च अहं युगे युगे संभवामि ॥ ८ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न! जब जब धर्म में शिथिलता और अधर्म की प्रबलता होती है, तब तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं अर्थात् मैं जन्म लेता हूं ॥७॥ साधुओंकी रक्षा के लिये, दुष्टोंके नाश के लिये और धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युगयुगमें जन्म लेता हूं ॥८॥

भावार्थ— जब धर्म दबाया जाता है और अधर्म फैलता है, तब सज्जनों की रक्षा करनेके लिये, दुर्जनों का नाश करनेके लिये और धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता है ॥ ७-८ ॥

इस तरह वेदके मंत्रोंमें जो विषय है वही भगवद्गीतामें इन दो श्लोकोंमें संग्रहित किया है। अस्तु। इस प्रकार बद्ध और मुक्त इन दोनों के पुनर्जन्म किस तरह होते हैं इसका यहांतक वर्णन हुआ। अब भगवान् कहते हैं कि, अपने जन्म किस कारण हुआ करते हैं, यह बोधप्रद और चिरस्मरणीय विषय अब देखिये—

(७-८) इन दो श्लोकोंमें मुक्त पुरुष, भगवान्, शुद्ध शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला आत्मा अथवा ईश्वर किस उद्देश्यसे जन्म लेते हैं, इस का वर्णन किया है। इन दोनों श्लोकोंमें अवतारके पांच उद्देश्य कहे हैं—

अवतारके पांच उद्देश्य ।

(१) जब (धर्मस्य ग्लानिः भवति) धर्मकी ग्लानि होती है,धर्म दब जाता है,धार्मिक लोगोंके ऊपर अधार्मिक लोग अत्याचार करते हैं, धार्मिक सज्जनोंका वचन कोई सुनता नहीं और अत्याचारी लोगोंके आधीनहि सब राजयंत्र रहते हैं, अत्याचारी लोग विना रोक टोक अत्याचार करते हैं, तब धर्म के सहाय्यार्थ भगवान् अवतार धारण करते हैं।

(२) (अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति)- मनुष्यों की प्रवृत्ति अधर्म की ओर होती है, अधर्म करनेसे अधिक सुख प्राप्त होनेकी संभावना जनता को प्रतीत होती है, उस समय धर्मका उत्कर्ष करनेके हेतुसे भगवान् अवतार लेते हैं।

(३) जिस समय सज्जनोंको उनके सत्य धर्माचरण के कारण क्लेश दिये जाते हैं, सन्मान्य पुरुषोंको अरण्यवास, कारागृहवास, वधदण्ड अथवा अन्य प्रकारके दण्ड दिये जाते हैं, धर्मका रक्त भूमिपर गिरता है, और धर्मका त्राता पृथ्वीपर कोई नहीं रहता, उस समय (साधूनां परित्राणाय) सज्जनोंकी रक्षा के लिये भगवान् का अवतार होता है।

(४) दुष्कर्म करनेवालों की जिस समय चलती होती है, सब अधिकार और वैभव दुष्क-

मियोंके आधीन होते हैं, दुष्ट कर्म करनेवालों कीहि जिस समय मानमान्यता बढती है, उस समय (विनाशाय दुष्कृतां) दुष्टोंको दण्ड देने के लिये और उनका नाश करने के लिये भगवान् का अवतार होता है ।

(५) (धर्म-संस्थापनार्थाय) धर्मकी संस्थापना अर्थात् मानव धर्मकी सुव्यवस्था करने के लिये भगवान् का अवतार होता है ।

ये पांच हेतु हैं जिनके लिये भगवान् का अवतार होता है, सारांशसे (१) धर्मकी ग्लानि का समय, (२) अधर्म के उत्थान का समय, (३) साधुओंके संरक्षण के कार्य के लिये, (४) दुष्टों के दमन के लिये और (५) धर्मव्यवस्था करने के लिये अवतार होता है ।

इसके मननसे पाठक जान सकते हैं कि किस समय और किस कारण के लिये भगवान् का अवतार होता है । जिस समय धार्मिकों का छल होगा, अधार्मिकों के अत्याचार होते जांयगे, साधुओंको कष्ट पहुंचेंगे और दुष्टोंका नाश करनेके विना धर्म की व्यवस्था नहीं होगी, जब ऐसा समय उपस्थित होगा, तब उत्तम-पुरुषका अवतार अवश्य होगा ।

देवोंका अंशावतार ।

वास्तवमें प्रत्येक प्राणीमें किंवा हरएक मनुष्य में आत्माका और अग्नि वायु इन्द्र चन्द्र आदि सब देवोंका अंशावतार होता ही है । आंखमें सूर्य, नासिकाके प्राणमें वायु, मुख में अग्नि, रेत में जल, अस्थियोंमें पृथ्वी, नाभि में मृत्यु आदि अनेक स्थानोंमें अनेक देवोंका अंशावतार होता है और जीवात्माके रूपमें परमात्मा का अंश आकर मनुष्य के हृदयस्थानमें विराजता है । इस दृष्टीसे देखा जाय, तो प्रत्येक मनुष्य अवतार हि है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ऐ० उ० २।४

यह विषय प्रायः बहुत उपनिषदों में वर्णित हुआ है अतः उसका यहां पुनः अधिक वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यद्यपि इस इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य अंशावतार है,और यह जैसा मनुष्योंमें उसी प्रकार राक्षसोंमें भी होता है । तथापि यहां जो अवतार शब्द आया है वह विशेष महत्त्व के सामर्थ्ययुक्त पुण्य पुरुषके जन्म लेनेके लिये हि समझना चाहिये ।

जनताका उद्धार ।

महात्मा, सत्पुरुष, मुक्तात्मा, पुण्यात्मा, ये तो अपने तपसे नरके नारायण स्वरूप बने होते हैं, येभी जनताकी निकृष्ट अवस्था देख कर उनके उद्धार करनेके लिये स्वयं अपनी इच्छा अथवा परमेश्वरकी आज्ञा प्राप्त करके इस भूमंडलपर आते हैं । किंवा इस भूमंडलपर की जनता जब अत्यंत दुःखी होती है और किसी प्रकार भी अपने उद्धार का मार्ग नहीं देखती, सब ओरसे दुष्टोंका उत्पात देख कर हताश होती है, उस समय अशरण होकर परम पुरुषकी प्रार्थना करती है कि "हे प्रभो ! हम सब तेरी शरणमें आगये हैं, अब तू हि हमारी रक्षा कर, हमें दूसरा मार्ग नहीं दीखता है" । ऐसे जब सब जन प्रभुकी करुणा भाकते हैं और हृदयसे उसकी प्रार्थना करते हैं, तब वह दीनदयालप्रभु भक्तोंकी प्रार्थना निःसंदेह सुनते हैं और अंशावतार से अवतीर्ण होते हैं, किंवा अपनी प्रेरणासे किसी महात्मा मुक्तात्माको प्रेरणा करते हैं । इस तरह इन श्रेष्ठात्माओंके जन्म लेनेको " अवतार " कहते हैं । ये इस भूमंडलपर आते हैं और दुष्टोंको दण्ड देकर, सज्जनोंकी रक्षा करतेहैं और धर्मव्यवस्था करके अपना अवतारकृत्य समाप्त करते हैं ।

अनुभवकी बात।

प्रत्येक देशमें, जातीमें, राष्ट्रमें और जनसमाज में अत्यंत अवनतिके समयमें अत्यंत तेजस्वी पुरुष आते हैं और विशेष कार्य अद्भुत सुकरताके साथ करते हैं, यह बात हरएक देशके इतिहास में देखी जाती है। जो बात साधारण मनुष्यकी कल्पनामें भी नहीं आती वह बात ये लोकोत्तर पुरुष करके दिखा देते हैं और लोगोंपर ऐसा प्रभाव जमा देते हैं कि ये अपने प्रभावसे विरोधियोंको भी अनुकूल बना देते हैं और साधारणतः न बननेवाले कठिनसे कठिन कार्य सहजहीमें करके दिखा देते हैं!! पाठक प्रत्येक जातीके इतिहास में ऐसे पुरुषोंके कार्य देख सकते हैं। ये पुरुष महात्मा मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा, दिव्यात्मा अथवा परमात्मा किंवा पुरुषोत्तम होते हैं। जो लोग तपसे और अपने सदाचार से मुक्त हुए होते हैं, उनका नाम महात्मा, मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा और दिव्यात्मा होता है। और परमात्मा, पुरुषोत्तम और नारायण उसका नाम है कि जो इस जगत् का कर्ता धर्ता और संहर्ता प्रभु है। भगवद्गीता के कथनानुसार श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम का अवतार हैं और उनके सहचारी श्रेष्ठात्मागण हैं। यह बात आगे अनेक स्थानोंपर स्पष्ट रीतिसे कही है। अतः इस विषयमें कोई संदेह नहीं है। तथापि सुबोधता के लिये यहां थोडेसे वचन उद्धृत किये जाते हैं—

(१) उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।१७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गी० १५। १८

(२) भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
भ० ६। २९

(३) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
भ० ७। ७

(४) मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
भ० ९। ५

इत्यादि प्रकारके अनेक श्लोक भगवद्गीतामें हैं, जिनमें कहा है कि, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण परमात्मा हैं। देखिये इनका भावार्थ इस प्रकार है-"(१)परमात्मा उत्तम पुरुष हैं और मैं हि लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम कहलता हूं। (२) यज्ञोंका भोक्ता, महेश्वर सब का मित्र मैंहि हूं। (३) मैं सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति, और लय करता हूं। सूत्रमें मणि रहनेके समान मुझमें यह सब विश्व रहा है। (४) मुझ अव्यक्त आत्माके द्वारा यह सब जगत् फैलाया गया है, यह सब मुझमें हि है।" इस तरह के वर्णन भगवद्गीतामें अनेक वार आगये हैं। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त निश्चयसे यह है कि, भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर के पूर्ण अवतार हैं। और उन्होंने पूर्वोक्त पांच कर्म करनेके लिये जन्म लिया है। "प्रजापति गर्भमें आता है, वह पहिले हुआ था, इस समय गर्भमें है और भविष्यमें भी होगा," इस प्रकार का आशय व्यक्त करनेवाले वेदमंत्र पूर्व श्लोक (भ० गी० ४। ५-६) के व्याख्यान के अवसर पर दिये ही हैं। इन की भगवद्गीताके वचनके साथ संगति लगाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार भगवान् का जन्म होना संभवनीय है।—

अस्तु, इस ढंगसे यहां बताया कि पुरुषोत्तम का दिव्य जन्म किस तरह होता है, मुक्तात्माओंका जन्म क्यों होता है और अन्य बद्ध जीवोंका जन्म किस तरह होता है। पाठक इन सब प्रकार के जन्मों का विचार करें और जानें कि जगत्में इन तीन प्रकारके जन्म हैं। इनमें पुरुषोत्तम के दिव्य जन्म का और उसके कर्म का ही मनन करना चाहिये, क्यों कि इसी के मननसे मनुष्य का उत्कर्ष होता है। देखिये इसी विषयमें आगे भगवान् स्वयं कहते हैं –

(४) दिव्य जन्म और कर्म ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यः मे दिव्यं जन्म कर्म च एवं तत्त्वतः वेत्ति, सः देहं त्यक्त्वा, पुनर्जन्म न एति, (किंतु सः) मां एति ॥ ९ ॥ वीतरागभयक्रोधाः, मन्मयाः, मां उपाश्रिताः, ज्ञानतपसा पूताः, बहवः मद्भावं आगताः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे इस दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टि से जानता है, वह देह छोडनेके बाद अर्थात् मरनेके बाद, पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता; परंतु वह मुझे प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ राग, भय और क्रोधसे रहित, मुझमें तल्लीन, मुझे ही शरण आनेवाले और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने हुए बहुतसे लोग, मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— भगवान् के जन्म भी दिव्य होते हैं और उनके कर्म भी दिव्य होते हैं । उनके रहस्य को जो यथावत् जानता है, वह पुनर्जन्मके प्रवाह में कदापि नहीं फंसता, परंतु वह निःसन्देह भगवत्स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ जो राग भय और क्रोधसे दूर रहते हैं, जो भगवद्भक्तिमें तल्लीन हुए हैं, जो प्रभुकी शरणमें जाते हैं, और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने होते हैं, वे परमात्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे परमात्मरूप बनते हैं ॥ ९-१० ॥

दिव्य जन्म और दिव्य कर्म ।

(९-१०) (जन्म कर्म च मे दिव्यं) भगवान्के हि जन्म और कर्म दिव्य होते हैं; परंतु अर्जुन के जन्म और कर्म दिव्य नहीं हैं । यह बात यहां देखने योग्य है । यहां स्मरण रखना चाहिये कि अन्योंके जन्मके समान भगवान् का जन्म नहीं होता है, वह कुछ अद्वितीय अद्भुत और दिव्य किंवा स्वर्गीय होता है । एक दिव्य जन्म है और दूसरा पार्थिव जन्म है । पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन स्थान हैं । पृथ्वीरूप अर्थात् स्थूल रूपमें होनेवाला जन्म-पार्थिव जन्म कहलाता है, अन्तरिक्ष रूपमें अर्थात् अदृश्य अंतःशक्तीके रूपमें होनेवाला जन्म आन्तरिक्ष जन्म होता है और द्युलोकके रूपमें अर्थात् स्वर्गीय रूपमें होनेवाला जन्म दिव्यजन्म कहा जाता है । ये ब्रह्माण्डके तीनों स्थान पिण्डकी व्यक्तीमें इस तरह होते हैं —

(ब्रह्माण्ड)		(पिण्ड)	
पृथ्वी	भूः	स्थूल	शरीर
अन्तरिक्ष	भुवः	सूक्ष्म	अन्तःकरण
द्यौः	स्वः	कारण	बुद्धि

पार्थिव जन्म का अर्थ है स्थूल शरीरका जन्म । यह जन्म संपूर्ण प्राणिमात्रको प्राप्त है । सब का जन्म उनके स्थूल शरीर के जन्मके साथ ही होता है । यह जन्म अत्यंत साधारण अथवा निकृष्ट है ।

इसके ऊपर की श्रेणीवालोंका जन्म अंतःकरण में अथवा मनमें होता है । द्विजोंका ऐसा जन्म होता है, इस समय इसकी माता सावित्री और

पिता आचार्य होता है। यह आचार्यजी की प्रेरणासे विद्यामाता में अन्तरिक्ष के शरीर स्थानीय प्रतिनिधिभूत अन्तःकरण के स्थानमें होता है। यह अभौतिक जन्म है। इस जन्म से उस मनुष्य में बडा परिवर्तन होता है। इस के स्थूल शरीरका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो, परंतु आचार्यद्वारा विद्यासंस्कारोंसे जो इस का दूसरा जन्म इसकी मनोभूमिकामें होता है, वह इसकी विशेष योग्यता बनाता है इस विषयमें मनुस्मृतिका वचन है—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयते मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति साविन्या सा सत्या साऽजराऽमरा
मनुस्मृति २।१४७, १४८

"माता पिता जो आपसमें मिलकर इस पुत्रकी उत्पत्ति करते हैं, और जो मातासे उत्पन्न होती है वह उसकी जाति नाममात्र है॥ पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो सावित्रीसे इसे यथाविधि जन्म देता है, वह जाती सत्य, अजर और अमर है॥"

इसप्रकारके सावित्र जन्म के कारण व्यास, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र आदि ऋषि साधारण कुलमें उत्पन्न होनेपर भी महर्षि पद को प्राप्त हुए। यह जन्म आचार्य की कृपा, सावित्री की भक्ति और अपना योग अभ्यास इन के बलसे प्राप्त होता है। यहां स्थूल शरीरके जन्मकी बहुत प्रधानता नहीं है। यह द्विजत्व मनोभूमिका में किंवा अन्तःकरणके स्थानपर बनता है। इससे मनकी शक्तिमें विलक्षण परिवर्तन होता है।

दिव्य जन्मका ज्ञान।

इससे भी ऊंचा जो जन्म होता है वह "दिव्य जन्म" कहलाता है। यह तो आत्मा बुद्धिके क्षेत्रमें दैवी स्फुरणसे हुआ करता है। किसी अद्भुत कारणसे या भगवत्कृपासे अथवा भगवदिच्छासे किसीकी बुद्धिके क्षेत्रमें दिव्य प्रेरणा, दिव्य इच्छा, दिव्य प्रभाव या दिव्य स्फुरण होता है, और उस मनुष्य में इतना परिवर्तन होता है कि उसको देखकर अन्य मनुष्य चकित ही होते हैं!! इसका नाम "दिव्य जन्म" है। इससे मनुष्य का जीवन, बुद्धिकी वृत्ति और आत्मा का तेज विलक्षण, अद्भुत और असामान्य हो जाता है। प्रारंभिक जीवनमें व्यभिचारी रहा मनुष्य आगे उत्तम ब्रह्मचारी होता है, पहिली अवस्था में निःसत्त्व रहा मनुष्य आगे प्रचण्ड सामर्थ्यके कर्म करता है। यह सब परमात्माकी दिव्य ज्योतिका प्रकाश उसकी आत्मामें होनेसे होता है। किसी मनुष्यमें यह परमात्माकी ज्योतिका आविर्भाव गर्भमें, या बाल्यपनमें होता है और किसीमें आगे की आयुमें होता है। परमात्मा इसी प्रकार स्फुरणसे दिव्य जन्म लेते हैं। परमात्मरूप बने हुए श्रेष्ठात्माभी इसी प्रकार शरीर धारण करते हैं। इनको माताके गर्भमें नौ महिने पकते रहने की आवश्यकता नहीं होती। जिनका केवल पार्थिव जन्म होता है उनको माताके गर्भमें शरीरके साथ नौ मास पकना पडता है।

यहां तीन जन्मोंसे प्राप्त होनेवाले तीन शरीरोंका उल्लेख किया है। ये तीन शरीर यद्यपि एक दूसरेके अन्दर होते हैं, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि इनमेंसे एक बलवान होनेपर दूसरा अवश्य ही बलवान होगा। जिसका स्थूल शरीर बलिष्ठ होगा उसके अन्दर के दो शरीर बलवान होंगे इस विषयमें कोई निश्चय नहीं है। "बलिष्ठ शरीरमें बलिष्ठ मन" इस अर्थका एक प्रसिद्ध वाक्य है, परंतु यह सत्य नहीं है। कई योगी और ऋषि पार्थिव शरीरसे अत्यंत दुर्बल थे परंतु उनका आन्तरिक शरीर अर्थात् मनोदेह अथवा बौद्धिक देह बडे शक्तिशाली थे। दिव्य जन्म तो बौद्धिक और आत्मिक देह के साथ संबंध रखता है। जिसके अन्दर यह दिव्य जन्मसे दिव्य देह होता है वह अपने बौद्धिक और आत्मिक देहसामर्थ्यसे निःसन्देह विशेष

समर्थ होता है। उसके अन्य देह उसकी आवश्यकतानुसार ही रहते हैं। प्रायः मलुका स्थूल देह बडा प्रबल रहता है, परंतु उसके आन्तरिक देह बलहीन रहते हैं।

यद्यपि शारीरिक बलके साथ दिव्य जन्मसे प्राप्त दिव्य देह का कोई संबंध नहीं, तथापि जिसको दिव्य देह प्राप्त होता है उसके स्थूल और सूक्ष्म देह निःसन्देह शुद्ध और पवित्र होते हैं।

इन जन्मोंको दूसरे नाम भी हैं। "दिव्य जन्म" को 'अयोनिसंभव' कहते हैं और "पार्थिव जन्म" को 'योनिसंभव' कहा जाता है। अर्थात् भगवान् इस प्रकारके स्फुरण से या अवतार से (अर्थात् नीचे उतरकर) आते हैं। अवतार के माने नीचे उतरना है, और (अव-तारण) सबको तारण करना भी है। भगवान् अपनी शक्तिसे योग्य भूमिकामें सज्जनोंका तारण करनेके लिये उतरते हैं। जिस तरह कोई मनुष्य दूसरे मंजिलसे पहिले मंजिल पर उतरते हैं, उसी प्रकार अपनी शक्तिसे प्रभु योग्य मनुष्यमें उतरते हैं, किंवा अपना स्फुरण उसके अन्दर करते हैं।

यहां कई शंका करेंगे कि, सर्वव्यापक परमात्मा इस छोटेसे देहमें किस तरह समा जाते हैं। यह शंका व्यर्थ है क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा की जितनी संपूर्ण शक्ति है,उतनीहि उसके एक छोटेसे कल्पनागम्य अंशमें किंवा स्फुरणमें है। संपूर्ण परमेश्वर जैसा पूर्ण है वैसा ही उसका एक अंश भी पूर्ण है। पूर्ण और अंशमें शक्तिकी न्यूनाधिकता नहीं है। (पूर्णमदः पूर्णमिदं) वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है, क्यों कि (पूर्णात् पूर्ण उदच्यते) उस पूर्णसे इस पूर्ण की उत्पत्ति हुई है। इस वर्णन के मननसे उक्त शंका नहीं रह सकती। भगवान् का अंश हो,ज्योतिका उतरना हो, सब का भाव एक ही है, और सब का तातात्पर्य भी एक ही है। जैसा लोहेमें या काष्ठमें अग्निका अवतार हुआ तो वह लोहा या काष्ठ अग्निरूप बनता है; अग्निके सब कार्य करता है और प्रत्यक्ष अग्निहि हो जाता है; अग्निमें और उसमें कोई भेद नहीं रहता और वहां यह प्रश्न भी नहीं उठता कि उसमें सब अग्नि आगई है या थोडीसी आगई है, क्यों कि थोडी और सब ऐसा वहां कोई भेद ही नहीं है अग्निरूप लोहा या काष्ठ बनते ही वह प्रत्यक्ष अग्निही हो जाता है। बस, इसी तरह जब किसीमें भगवान् की दिव्य ज्योतिका प्रकाश हुआ, या अवतार हुआ, तो वह भगवद्रूप ही होता है। यही दिव्य जन्म है। और सर्वत्र धर्मकी स्थापना, सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी ग्लानि होनेपर और अधर्मकी चढाई जब धर्मपर होती है उससमय यही भगवान् का दिव्य जन्म इस प्रकार होता है।

यह एक प्रकारका परम शक्तिका आविर्भाव है। यह किस तरह होगा इस विषयमें कोई नियम नहीं कह सकता। यह जैसा गर्भमें होगा, वैसाही बालकमें होगा और वैसा ही बडे मनुष्यमें भी हो सकता है। जहां होनेसे योग्य कार्य बनेगा वहां वह स्फुरण होगा। (यः दिव्यं जन्म तत्त्वतः एवं वेत्ति) जो यह भगवान् का दिव्यजन्म तत्त्वतः इस प्रकार जानता है वह (मां एति) भगवत् स्वरूपको प्राप्त होता है, अर्थात् वह भगवान् बन जाता है। इतना महत्त्व भगवान् के दिव्य जन्म का ज्ञान प्राप्त करनेका है।

जो मनुष्य इस तरह यह भगवान् के दिव्य जन्मका तत्त्व जानता है वह निश्चयसे मानता है कि, जो मनुष्य अपने आपको भगवान् के अवतार होने योग्य पवित्र और शुद्ध बनायेगा, उस की निःसन्देह उन्नति होगी। इस प्रकारके विश्वास से वह नित्य नियमसे अपनी पवित्रता करता है, इससे वह उन्नत होता जाता है। पवित्रतासे वह परमेश्वरके सन्निध पहुंचता है और एक समय ऐसा आता है कि वह परमेश्वर की कृपा के लिये

पात्र बनता है, फिर तद्रूप होनेमें देरीहि क्यों लगेगी?

ऐसा मनुष्य (देहं त्यक्त्वा) मरनेके पश्चात् (पुनर्जन्म न एति) जन्ममरण के चक्रमें नहीं पडता, परंतु सीधा (मां पुरुषोत्तमं एति) परमेश्वर को प्राप्त करता है। उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट नहीं होती। जिस प्रकार लोहा अग्निको प्राप्त होनेसे अग्नि बनता है, उसी प्रकार यह मनुष्य जब परमेश्वर को प्राप्त करता है, तब परमेश्वररूप किंवा परमेश्वरहि बन जाता है।

दिव्य कर्मका ज्ञान।

इसी प्रकार(यः मे दिव्यं कर्म एवं तत्त्वतः वेत्ति) जो मेरे दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टिसे जानता है वह भी परमेश्वरको प्राप्त करता है। जो फल भगवानके "दिव्य जन्म" जाननेवालेको प्राप्त होता है वही फल उसके "दिव्य कर्म" को जाननेवाले को भी मिलता है। दिव्य जन्म का विचार इससे पूर्व स्थानमें किया, अब दिव्य कर्म का विचार करना चाहिये।

उक्त प्रकार प्रभु अपने स्फुरणसे दिव्य जन्म लेनेके पश्चात् जो कर्म करते हैं उनकाहि नाम 'दिव्य कर्म' हैं। अवतारी पुरुष के जो कर्म होते हैं वे दिव्य कर्म ही हैं। उन कर्मोंके अन्दर जो तत्त्व रहता है वह जाननेसे मनुष्य उन्नत होता है और भगवत्स्वरूप हो जाता है। अवतार लेकर भगवान् ने कैसे कर्म किये, किस प्रकार दुष्टोंका नाश किया, किस तरह सज्जनोंका पालन किया, किस रीतिसे धर्म स्थापना की, उस समय धर्मग्लानि कैसी हुई थी और उस ग्लानि को किस तरह दूर किया, इस का विचार करनेसे मनुष्य को दिव्य कर्म का ज्ञान होता है और इस से उसको यह भी ज्ञान होता है कि स्वयं किस प्रकार कर्म करने चाहिये। इस ढंगसे मनन करनेवाला मनुष्य स्वयं इसी प्रकारके दिव्य कर्म करने का यत्न करता है और उन्नत होता जाता है। और अन्तमें परम पद को प्राप्त करता है।

"दिव्य कर्म" का अर्थ "दैवी गुणों से युक्त कर्म" है। भगवद्गीता के १६ वे अध्याय के प्रारंभमें दैवी गुणोंका वर्णन इस प्रकार है- "अभय, अन्तःशुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निंदा न करना, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादापालन, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमान, ये दैवी गुण हैं।" जिन कर्मोंमें ये गुण दीखते हैं अथवा इन गुणोंसे जो कर्म होते हैं उनको "दिव्य कर्म" कहा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंके व्यवहारोंमें और उनके कर्मोंमें इन गुणों का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। इस लिये जो मनुष्य अवतारी पुरुषोंके अथवा श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके व्यवहारमें मननके द्वारा इन दिव्य गुणोंका दर्शन करते हैं, उनको ये कर्म दिव्य हैं और ये कर्म दिव्य नहीं हैं इस बातका निश्चित ज्ञान हो जाता है और इस प्रकारका निश्चय होते ही वह मनुष्य स्वयं यत्न करके दिव्य कर्म करता है और प्रयत्नसे दिव्यकर्म करता हुआ क्रमशः उन्नत होता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि प्रयत्न करनेपर भी प्रत्येकसे प्रारंभमें ऐसे दिव्यकर्म होंगे ऐसा कोई नियम नहीं है, परंतु मनमें वह महत्वाकांक्षा रही और उसके लिये योग्य दिशासे प्रयत्न होने लगे, तो क्रमशः उन्नतिके हि पथपर उसका चालचलन होने लगता है। यही क्रम-उन्नतिकी रीति है। दिव्य विभूतिके दिव्य कर्मोंका मनन करनेसे इस तरह उन्नति होती है और अन्तमें पूर्वोक्त रीतिसे वह परमपद को प्राप्त करता है। इसी लिये यहां कहा है कि "जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मको इस प्रकार तत्त्वतः जानता है, उसको पुनर्जन्म के दुःख नहीं भोगने पडते, और वह सीधा परमेश्वरको प्राप्त करता है।" (भ० गी० ४।९)

जन्ममरण छूटना।

यहां इसको 'पुनर्जन्म नहीं होता है' ऐसा कहा

है, यह विचारणीय बात है, क्योंकि इसी अध्याय के प्रारंभके श्लोक ५ में कहा है कि "जैसे भगवान् के अनेक जन्म हुए हैं वैसे हि अर्जुन के भी हुए हैं।" यदि भगवान् को भी अनेक जन्म लेने पडते हैं, तो भगवत्स्वरूपको प्राप्त हुए मुक्तात्मा को जन्ममरण किसप्रकार छूट सकते हैं? इस शंका का विचार अब करना चाहिये—

इससे पूर्व भगवान् "दिव्य जन्म" कैसा लेते हैं, इसका वर्णन किया है। वे स्वेच्छासे, अपनी लीलासे और अपनी निज शक्ति से किसी सुयोग्य विग्रहमें उतरते हैं। वहां किसी प्रकार का बंधन उनके लिये नहीं होता, इसीप्रकार जो परमात्मस्वरूप को प्राप्त हुए मुक्त पुरुष हैं, वे भी ऐसेहि स्वकीय इच्छासे और लोकानुग्रह करनेकी बुद्धि से स्वयं किसी सुयोग्य शरीर को धारणा करते हैं। इन के लिये भी किसी प्रकारकी परतंत्रता नहीं होती। ये विग्रह धारण करें या न करें, इस विषयमें ये पूर्ण स्वतंत्र हैं। किसी दूसरे के नियमसे बद्ध होकर ये नहीं आते। ये शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव होनेके कारण इनमें परम दया भाव स्वभावसे रहता है। जैसा परमेश्वर स्वभावसे परम कारुणिक हैं, वैसेहि परमात्मस्वरूपको प्राप्त हुए मुक्त जीव भी वैसेहि परम कारुणिक स्वभावसे और अकृत्रिमतासे होते हैं। इस कारण जब वे भूमंडल की जनता अत्यंत दुःख में पडी देखते हैं, उनके दुःख के हृदयभेदक नाद सुनते हैं, और उनकी अशरण स्थिति देखते हैं, तब स्वाभाविक और अकृत्रिम करुणाके कारण स्वयं अपने सुख स्वरूपसे नीचे उतरते हैं, विग्रह धारण करते हैं और जनता के मार्गदर्शक होते हैं। इनका यह दिव्य जन्म उनकी स्वतंत्रतासे होता है और सामान्य जनता का पार्थिव भौतिक पुनर्जन्म परमेश्वरीय नियमकी परतंत्रता के कारण होता है। इसमें नियमानुसार इनको पुनर्जन्म लेना ही पडता है, ये पुनर्जन्म लेनेकी इच्छा करें या न करें, परवश होते हुए ये पुनर्जन्ममें खींचे जाते हैं। ऐसी परवशता परमात्मस्वरूप बने हुए मुक्तात्माओंकी नहीं होती, पुनर्जन्म धारण करनेके लिये उनको कोई बाधित नहीं कर सकता परंतु लोकानुग्रह करने के स्वभावसे वे स्वयं किसी योग्य शरीरमें उतरते हैं और ये स्वयं "दिव्य जन्म" धारण करते हैं।

उदाहरण के लिये जेल खानेके कैदी राजाके नियमानुसार परतंत्रतासे कारागृहमें खींचे जाते हैं, और कोई प्रतिष्ठित नागरिक स्वेच्छासे कारागार देखनेके लिये, अथवा कैदियोंको धर्मतत्त्व का उपदेश करनेके लिये जाता है, वह स्वेच्छासे और अपनी स्वतंत्रतासे जाता है। इसी तरह सामान्य बद्ध जीवोंका पुनर्जन्म और मुक्तात्मा का 'दिव्य जन्म और कर्म' जानने से पूर्वोक्त शंका दूर होसकती है। यह विषय भगवद्गीतामें वारंवार आनेवाला है, इस लिये इसका पाठक अच्छी प्रकार मनन करें।

परमेश्वर-प्राप्ति।

(सः मां एति) वह मुझे प्राप्त होता है अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त करता है, ऐसा यहां कहा है। यहां परमेश्वरप्राप्तिका अर्थ क्या है इसका थोडासा विचार करना चाहिये। इस प्रकार के परमेश्वर-प्राप्ति के सूचक वाक्य भगवद्गीतामें अनेक वार आगये हैं, देखिये—

(१) बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ भ० गी० ४।१०

स योगी मयि वर्तते ॥ भ० गी० ६।३१

मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ भ० गी० ७।२३

यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ भ० गी० ९।२५

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ भ० गी० ८।१५

संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ भ० गी० ९।२८

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ भ० गी० ११।५५

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः
भ० गी० १८।६६
(२) ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ भ० गी० २।७२
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
भ० गी० ४।३१
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
भ० गी० ५।६
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
भ० गी० ५।२०
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
भ० गी० ६।२७
ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ भ० गी० १३।३०
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ भ० गी० १४।२६
(३) जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताःपदं गच्छन्त्यनामयम्।
भ० गी० २।५१
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
भ० गी ३।१९
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
भ० गी० ५।२८
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
भ० गी० ६।४५
स याति परमां गतिम् ॥ भ० गी० ८।१३
ततो याति परां गतिम् ॥ भ० गी० १३।२८;
१६।२२
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ भ० गी० १५।२०

इस तरह के अनेकानेक वाक्य भगवद्गीतामें हैं। ये ही वाक्य अन्तिम सिद्धिका स्वरूप बतानेवाले हैं। इस अन्तिम सिद्धिका विचार हम आगे योग्य समयमें करेंगे, यहां केवल इतना ही बताना है कि—

१ मुझे प्राप्त करता है, मेरे भाव को प्राप्त होता है, मेरा स्वरूप प्राप्त करता है;

२ ब्रह्मको प्राप्त होता है, ब्रह्ममें स्थिर होता है, ब्रह्मरूप बनता है, ब्रह्मके समान महान् होता है;

३ नीरोग स्थान प्राप्त करता है, उच्च स्थान प्राप्त करता है, मुक्त होता है, श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है, कृतकृत्य होता है।

उक्त सब वाक्योंका यही आशय है और इसका तात्पर्य एक ही है कि वह परमात्मस्वरूप को प्राप्त होता है। इस के विषयमें वेद में कहा है—

तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत् ॥
वा० यजु० ३२।१२

"वह उसने देखा, वही बन गया, क्यों कि वही था।" इसमें कहा है कि इस उपासकने (तत्) उस परमात्माका दर्शन किया, तब यह उपासक (तत् अभवत्) वह परमात्मा बन गया, क्यों कि तत्स्वरूपसे यह उपासक (तत्) वही (आसीत्) था।" तथा—

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ वा० यजु० ३२।११

"(ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके प्रथम प्रवर्तककी उपासना करनेसे (आत्मना आत्मानं) अपने आत्मासे परमात्मा में (अभिसं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता है।"

इस तरह के मंत्रभागों में परमात्मसाक्षात्कार के पश्चात् परमात्मरूप बननेका विधान है। तथा उपनिषद्में भी कहा है—

शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ मांडूक्य उ० १२

"ओंकार आत्मा कल्याणमय और अद्वैतरूप है, यह जो जानता है, उसका आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट होता है।" तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्डक ३।२

"जैसी बहनेवाली नदियां अपने नामों और

रूपोंका त्याग करके समुद्र में लीन होती हैं, उस तरह ज्ञानी मनुष्य नाम और रूप से मुक्त होकर दिव्य परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है॥ जो इस परब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म बनता है, इसके कुलमें कोई अज्ञानी मनुष्य उत्पन्न नहीं होता, यह शोक और पापसे दूर होता है, अविद्याग्रंथीसे मुक्त होकर अमर होता है ॥ ''

इन सब वचनों का आशय यही है कि जो भगवद्गीताके (मां एति) " मेरे पास आता है " और (मद्भावं आगच्छति) " मेरे भावको प्राप्त होता है" इन वचनोंका है। नरका नारायण किंवा पुरुषका पुरुषोत्तम बनना है । परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्यकर्म को जाननेवाला उपासक नर का नारायण होता है । इसकी क्रम उन्नति कैसी होती है इसका विचार आगेके श्लोक (४ । १०) में किया है, वह विचार गीताके उपदेशको आचरणमें लानेकी दृष्टिसे अत्यंत महत्व का होनेसे अब उसका विचार करते हैं—

उन्नतिकी चार अवस्थाएं ।

इस श्लोकमें उन्नतिकी चार अवस्थाएं कथन की हैं । परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्यकर्म कैसे होते हैं, और अन्य सामान्य मनुष्यों के जन्म और कर्म कैसे होते हैं, इसका मनन करनेवाला मनुष्य इन चार अवस्थाओंमें से गुजरता है—

(१) मन्मयः= ईश्वरके दिव्य जन्म और कर्म में मन लीन करता है, सर्वत्र ईश्वरका रूप देखता है, सब ईश्वरमय है ऐसा अनुभव करता है,

(२) मां उपाश्रितः= ईश्वरके ऊपर पूर्णतया आश्रित होता है, सब काल और स्थानमें अपने आपको ईश्वर की शरण में रखता है ।

(३) वीतरागभयक्रोधः= (राग) भोगप्रेम, भय, और क्रोधसे रहित होता है,

(४) ज्ञानतपसा पूतः= ज्ञान और तपसे पवित्र होता है और

(५) मद्भावं आगतः= मेरे अर्थात् परमेश्वर के भावको अर्थात् ईश्वरस्वरूपको प्राप्त होता है ।

मनुष्य इन चार अवस्थाओंसे कैसा गुजरता है, इसका यहां अब विचार करना चाहिये । भगवद्गीतामें जो तत्व कहे हैं वे आचरण में लाने चाहियें, ये केवल रटनेसे कार्य नहीं होगा । अतः आचारमें लानेकी दृष्टिसे इन चार अवस्थाओंका मनन करना चाहिये। पहिली अवस्था 'भगवन्मय' होनेकी है—

(१) भगवन्मयः (मन्मयः)

भगवान् के, महात्माओंके, अवतारी पुरुषोंके अथवा विभूतियोंके जीवन चरित्र में तल्लीन होने की अवस्था यह होती है। दिन रात इनके जीवन चरित्र का विचार करके जो सदाचार का बोध मिलता है, उसको अपने आचरणमें डालनेका यत्न इस समय होता है । नित्य नियमसे उनके आचरणके साथ अपने आचरण की तुलना की जाती है, इससे अपने आचरण के दोष स्पष्ट होते हैं । दोषोंको दूर करनेसे पवित्रता बढती है । यह अभ्यास बढतेबढते भगवान् की सर्वत्र उपस्थिति है, सब जगत् भगवन्मय है इस बातका अनुभव होता है ।

(२) भगवदुपाश्रितः (मां उपाश्रितः)

भगवान् के आश्रयपर स्थिर रहना। जब किसी विभूतिके जीवनचरित्रके विषयमें चित्त में अढळ प्रेम बसता है और इसके आश्रय से अपना उद्धार निःसंदेह होगा, ऐसा पक्का निश्चय हो जाता है, तब वह उसीके आश्रयमें अपने आपको समर्पित करता है। इसी तरह उसका परमेश्वर पर दृढ विश्वास रहता है और उसी की शरणमें वह रहता है । नित्य उसका ध्यान करता है, और वह अपना सब जीवन ही उसको समर्पित करता है ।अपने आपको उसका

आधार है और किसी दूसरे का नहीं है, यह बात वह कदापि नहीं भूलता। प्रतिदिन अपना मन उस प्रभुके सन्मुख खुला करता है और अपनी पवित्रता के लिये उसकी सहायता मांगता है। इस प्रकार प्रतिदिन वह शुद्ध होता जाता है और जैसा शुद्ध बनता है वैसा वह प्रभुमें अधिक दृढ विश्वासी बनता है। इससे उसकी उन्नति होती है।

(३) वीतरागभयक्रोधः।

'राग' का अर्थ भोगोंपर प्रीति, भय और क्रोध, इसीप्रकार काम लोभ मोह मत्सर आदि सब दोष जो आसुरी भावके कारण होते हैं, उनको वह दूर करता है। वह जानता है अलोभ, अभय और अक्रोध ये दैवी संपत्तिके लक्षण हैं और वे अवतारोंके तथा विभूतियों के चरित्रों में दीखते हैं। इसके विरुद्ध असुरों में लोभ भय क्रोध आदि लक्षण होते हैं। मुझे उन्नत होनेके लिये इन असुरलक्षणोंको दूर करना और देव लक्षणोंको अपने अन्दर बढाना आवश्यक है। दिव्य जन्मवाली विभूतियोंके जन्म और कर्म वह देखता है और उनके जीवन चरित्रका मनन करके उनके समान वह निर्लोभ, निर्भय और अक्रोधी बननेका यत्न करता है। बहुत प्रयत्न करनेपर वह वैसा दैवी गुणोंसे युक्त बनता है और रागद्वेषसे दूर होता है।

(४) ज्ञानतपसा पूतः।

पूर्वोक्त रीतिसे वह निर्भय और रागद्वेषरहित होनेसे उसके अन्दर ज्ञानकी कला बढने लगती है। उसमें कामक्रोध लोभ जितने प्रमाणसे रहते हैं, उतनेहि प्रमाणसे उसमें अज्ञान रहता है। अतः कामक्रोध को दूर करनेसे मन निर्भय होता है और ज्ञानभी अतःकरणमें स्थिर होता जाता है। शीत उष्ण सहन करना, धर्माचरण, ब्रह्मचर्य पालन आदि तप करता है और इस तरह वह प्रतिसमय अपने आपको पवित्र करता है। अन्तमें एक समय ऐसा आता है कि यह उसका स्वभाव हि बनता है और विना प्रयत्न किये हि वह स्वयं सिद्ध और पवित्र रहने लगता है यही अन्तिम सिद्धि है। इस सिद्धिकी प्राप्ति होते हि—

(५) भगवद्भावं आगतः (मद्भावं आगतः)

पूर्वोक्त प्रकार स्वभावसे रागद्वेषरहित, निर्भय, ज्ञानपूर्ण और तपोमय जीवन जब होता है, तब वह भगवद्भावको प्राप्त हुआ है ऐसा कहते हैं। भगवानका भाव उसमें दीखता है, भगवान् का जीवित और जाग्रत स्वरूप वह स्वयं होता है, प्रभुकी ज्योति उसमें प्रदीप्त होने लगती है। इस तरह वह नर का नारायण, पुरुष का पुरुषोत्तम और बद्ध का मुक्त हो जाता है। परमेश्वरका भाव देखना हो तो इसमें देख सकते हैं। इस समय यह आदर्श होता है। इस समय वह अपना ध्येय और साध्य प्राप्त करके अपनी हि शक्तिसे अपने में सन्तुष्ट होता है और अपने में परिपूर्णताका अनुभव करके सहजानन्दसे आनन्दपूर्ण होनेका अनुभव करता है।

जो पाठक भगवद्गीता के उपदेशको अपने आचरणमें ढालना चाहते हैं वे इस श्लोक का अधिकसे अधिक मनन करें और इस मार्गसे चलकर अपने जन्मका सार्थक करें। ये उपदेश अपने आचरणमें ढाले गये या नहीं इसकी परीक्षा निम्नलिखित प्रकार की जाती है। "(१) क्या मैं सब जगत् भगवन्मय देखता हूं, या मुझे किसी दूसरे पदार्थका भान होता है? (२) क्या मैं अपना आश्रय प्रभुमें हि लेता हूं अथवा दूसरे का आश्रय करता हूं? (३) क्या मुझमें भोगप्रीति, भय और क्रोध हैं या ये पूर्णतासे छूटे हैं? (४) क्या मेरा तपका जीवन है," इस प्रकारके प्रश्न स्वयं करके अपने आपकी स्वयं परीक्षा करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है इसका निश्चय हो सकता है। सदाचारशील पाठकोंको यह श्लोक बडा सहायक होगा। प्रयत्नशील मनुष्य शुभकर्म करते रहते हैं और सिद्धि अवश्यही प्राप्त करते हैं। इस विषयमें किसीके मनमें

(५) कर्मकी सिद्धि ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥ (गीता ३।२३)
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अन्वयः— ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तान् तथा एव अहं भजामि । हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥११॥ कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः (मनुष्याः) इह देवताः यजन्ते, हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति ॥१२॥

जो मनुष्य जिस तरह मेरा आश्रय लेते हैं, उन्हें वैसाहि फल मैं देता हूं। हे अर्जुन ! मनुष्य सब प्रकारसे मेरे हि मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष इस लोकमें देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्म की सिद्धि अतिशीघ्र प्राप्त होती है ॥१२॥

भावार्थ— जो जिस भावसे परमेश्वरका आश्रय लेता है, उसको वैसाहि फल ईश्वरीय नियमसे प्राप्त होता है। जो धान्य बोया जाता है वही प्राप्त होता है। सब मनुष्य परमेश्वरके मार्गकाहि अनुसरण करते हैं॥ इस मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, इस लिये फलकी इच्छा धारण करनेवाले मनुष्य अनेक देवताओंकी आराधना करते हैं और उससे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥११-१२॥

संदेह हो, तो वह आगेके दो श्लोक देखें—

(११—१२) कर्म करनेपर उसका फल मनुष्यको प्राप्त होता है वा नहीं, इस विषयमें कई मनुष्य शंका करते हैं। इस आशंका को दूर करनेके लिये कर्म की सिद्धि निःसन्देह प्राप्त होती है, ऐसा भगवान् कहते हैं—

कर्मका अटल नियम ।

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते) जो मनुष्य जैसे मुझे शरण आते हैं, जो मनुष्य जिस इच्छासे मेरा आश्रय करते हैं, जो मनुष्य जिस मनोभावनासे मेरे पास आते हैं, जो मनुष्य जिस प्रयोजन से मुझे भजते हैं, (तान् तथैव अहं भजामि) उनको वैसाहि फल देकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूं। अर्थात् जो फलभोगेच्छासे सकाम कर्मद्वारा मेरी उपासना करते हैं उनको अभीष्ट फलभोग देता हूं, जो निष्काम कर्मयोग द्वारा मुझे भजते हैं उनको मैं ज्ञान देकर उन्नत करता हूं, जो मुमुक्षु हैं उनको मुक्ति देता हूं, जो केवल दुःख दूर करनेके इच्छुक हैं उनके दुःख दूर करता हूं। इस प्रकार जिस आकांक्षासे लोग मेरे पास आते हैं, मैं उनकी वह आकांक्षा पूर्ण करता हूं।

ईश्वरमें रागद्वेष नहीं हैं, अतः वह किसीको प्रीति से पास या द्वेषसे दूर नहीं करता। जो जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार वह कर्मके नियमानुसार फल पाता है। कर्म का नियम अटल है।

अर्थका अनर्थ ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥ इस श्लोक का अर्थ कई ऐसा करते हैं कि—

"जो जैसा वर्ताव मेरेसे करता है वैसा मैं उससे करता हूं।" ऐसा शब्दार्थ करके उसका तात्पर्य ऐसा मानते हैं कि, दुष्ट के साथ दुष्ट बनना, शत्रु के साथ शत्रु बनना, "शठं प्रति शाठ्यं" करना, क्रोधीके साथ क्रोधका व्यवहार करना इत्यादि आचरण करना धर्म्य है और यही भगवदादेश है। परंतु यह अर्थका अनर्थ है।

शठके साथ शठता करना, दुष्टके साथ दुष्ट बनना, यह तत्त्व एक वार स्वीकृत किया, तो इसका परिणाम आगे ऐसा भयंकर होता है कि उसका वर्णन करना कठिन है। किसीने एक वार मारा तो उसको चार वार मारना, किसीने एक वार व्यभिचार किया तो उसके बदले में चार वार करना, इस प्रकार दुष्ट कल्पना का प्रवाह चलता रहा, तो दुराचार की कोई सीमा नहीं रहती। और अन्तमें मनुष्य पशुत्वसे भी गिरता है।

इस श्लोकपर इस तरह की कुकल्पना बहुत लोग करते हैं, परंतु यह अर्थ इस श्लोकमें नहीं है। इसका अर्थ इतनाही है कि "मनुष्य जिस भावसे ईश्वरकी उपासना करते हैं, वैसा फल उनको मिलता है।" इस उत्तम धर्मनियम का इतना अनर्थ करना किसीको भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्मका नियम भी "शठं प्रति शाठ्यं" नहीं है। 'शठं प्रति सत्यं' यही धर्म का नियम है। देखिये—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्॥

म० भा० उ० ३९।७३

"क्षमासे क्रोध को, साधुतासे दुष्टको, दानसे कृपण को और सत्यसे असत्य को जीतना चाहिये।" यही धर्म है। अतः भगवद्गीताके इस श्लोक का "शठके प्रति शठता करना" ऐसा अर्थ समझना अर्थका अनर्थ करना है। इस लिये इसका ऊपर दिया अर्थ ही लें और भगवदुपदेश का सार जानने का यत्न करें। अर्थ का अनर्थ करके विपरीत अर्थ समझना सर्वथा अयोग्य है।

अस्तु। इस श्लोकमें कर्म का अटल नियम कहा है। जो जैसा करेगा वैसाही फल उसको प्राप्त होगा। यह जान कर मनुष्य अच्छा कर्म करता रहे और बुरे कर्म से दूर रहे। इतना कर्म का अटल नियम कह कर आगे कहा है—

ईश्वरका मार्ग।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। (४।११)

"मनुष्य सब तरहसे परमेश्वरके मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।" मनुष्य किसी प्रकार का भी व्यवहार क्यों न करते हों, वे परमेश्वर के पास जानेके मार्गपरहि हैं, वे परमेश्वरको प्राप्त करने के मार्ग के ऊपर हि किसी न किसी दिन अवश्य आ मिलेंगे। मनुष्य बुरे मार्ग में लगे हैं ऐसा दीखता है, परंतु बुरे मार्गका अनुभव लेनेके पश्चात् वे अवश्य परमपद को पहुंचानेवाले मार्गपर आ जायंगे। सब मानवों को परमेश्वर की प्राप्तिहि अभीष्ट है, थोडे लोग जानते हैं, और बहुत लोग नहीं जानते। न जानते हुए भी उनका वही मार्ग होता है। सत्य धर्म इतनाही होता है कि मनुष्य को सरल मार्ग बतावे। धर्ममार्गसे जानेसे मनुष्य परमपद की प्राप्ति अतिशीघ्र कर सकता है, परंतु जो आज अधर्मसे चल रहे हैं, वे दूर दूर भटकते हुए अन्तमें किसी एक दिन इसी परमेश्वरप्राप्ति के मार्गपर आजायंगे। शीघ्र पहुंचना या देरीसे पहुंचना इतनाही भेद है।

यहां अतिसंक्षेपसे दर्शाया कि भगवद्गीतामें कहा हुआ ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेका मार्ग ही सबका साध्य है। अनेकानेक धर्मों, मतों और पंथोंसे जानवाले सभी लोग इसी मार्गको आकर मिलेंगे। जो इस भगवत्कृपासे कहे मार्ग पर चलते हैं वे तो सीधे मार्गपर पहिले से हि हैं, इस कारण उनको प्रयास के श्रम न्यून और अन्य मार्गियोंको अधिक होंगे। परंतु सब

अन्य मार्ग इसी सीधे मार्गमें आकर मिलते हैं। यह जाननेसे इस मार्गकी उच्चता स्वयं सिद्ध होती है।

यही श्लोकार्ध इससे पूर्व (भ० गी० ३।२३) स्थानमें आगया है। शब्द येही हैं, परंतु वहां पूर्वापरसंबन्धसे अर्थ थोडासा भिन्न है। वहां के (३।२३) श्लोक का अर्थ ऐसा है- "यदि मैं आलस्य छोडकर कर्ममें न लगा रहूं, तो (मम-वर्त्म०) लोग भी सदा मेरे मार्ग के अनुसार ही चलने लगेंगे।" शब्द एकही होनेपर भी वहां का आशय भिन्न है। यह अर्थ इस अपने (४।११) श्लोकमें लिया तो इस श्लोक का अर्थ इस तरह होगा—"सब लोग मेरा अनुकरण करते रहते हैं इस लिये मैं लोगोंको वैसाही फल देता हूं कि जैसे भाव धारण करके लोग मेरे पास आते हैं।" अर्थात् सब लोग भी अपने रागद्वेष को दूर रख कर दूसरे लोगोंके साथ ऐसाही निस्पृहता का यथायोग्य बर्ताव करें। कोई किसीसे अयोग्य व्यवहार न करे। अस्तु।

हमारे मतसे तो "सब मनुष्य परमेश्वरकी प्राप्तिके मार्गको आकर मिलते हैं" यही आशय यहां अभीष्ट है। इसी प्रकार का एक श्लोक है—

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

"सब देवताओंको किया हुआ नमस्कार पर-मेश्वर कोहि पहुंचता है।" अन्यमतान्तर द्वारा खडे किये देव और देवता पूजा अर्चा अथवा नमस्कार अपने पास नहीं रख सकते, वे तो उनके पास आया हुआ नमस्कार आदि परमेश्वर के पास पहुंचा देते हैं। तथा—

भगवद्गीताके नवम अध्यायमें इसी आशयका एक श्लोक है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

भ० गी० ९। २३-२४

"जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भी विधिविहीनही क्यों न हो, मेरा ही पूजन करते हैं; क्यों कि मैं हि सब यज्ञों का भोक्ता हूं।" यहां भी किसी अन्य देवता का किया हुआ पूजन परमात्माको प्राप्त होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। तथा वेदमें भी कहा है—

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।

ऋ० १। १६४। ४६

"एक ही सत्य वस्तु का-अर्थात् एकहि परमा-त्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे करते हैं।" अर्थात् परमेश्वरका कोई भी नाम लिया तो उसी एक अद्वितीय परमात्मा का नाम लिया ऐसा होता है, क्यों कि वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है, फिर नामका झगडा क्यों किया जाता है। कोई नाम लिया, किसी देवताकी पूजा की अथवा किसी मार्गसे गये, तो वह सब परमात्मा की हि उपासना होती है। इस तरह का उदार मत माननेवाले लोग धर्मप्रचारकों द्वारा अन्य लोगोंको अपने मतमें लानेका प्रयत्न नहीं कर सकते, क्यों कि उनका विश्वास है कि (सर्वे मनुष्याः सर्वशः ईश्वरवर्त्म एव अनुवर्तन्ते) सभी मनुष्य सर्वथा ईश्वरप्राप्ति के मार्ग पर ही चलते हैं। किसीका मार्ग पास का सीधा है और किसीका टेढा अथवा दूरका है। यदि किसी को टेढा दूर का मार्ग पसंद हो तो वह उसीपरसे चले। एकके पास घण्टे में सौ कोश जानेवाला विमान है, दूसरे के पास बीस कोश दौडनेवाली मोटार है, तीसरेके पास घण्टे में दो कोश जानेवाली घोडा-गाडी है और चौथा पैदल चलनेवाला है। जिसके पास जैसा धनका साधन है, वैसा उसने वाहन प्राप्त किया है। सब जानेवाले हैं एकही स्थानपर, परंतु गतिकी न्यूनाधिकतासे कोई शीघ्र पहुंचता है और दूसरा देरीसे। यहां विचार की बात यह है कि जो मनुष्य पैदल चलनेवाला है, उसके पास वाहन लेने के लिये धन नहीं है, फिर वाहन में बैठनेवाले लोग उसका उपहास

यों करें,और उपहास किया भी जाय तो उसको वाहन मिलेंगे भी कहां से?

इसी तरह ज्ञानमार्गी, योगमार्गी, कर्ममार्गी और भोगमार्गी एक दूसरेका उपहास न करें। उपहास करनेसे क्या लाभ होगा? क्योंकि ज्ञानमार्गीका ब्रह्मज्ञान भोगमार्गीके समझमें हि नहीं आवेगा। कर्मनिष्ठावाला मनुष्य ज्ञाननिष्ठा का विचार समझ ही नहीं सकता (भ० गी० ३।३-४) फिर मतप्रचारक एक दूसरे निंदा क्यों करते हैं?

भागवत धर्मी मनुष्य मानता है कि "सब लोग ईश्वरकी प्राप्ति के मार्ग में ही लगे हैं," कई दूरके मार्गपर हैं और कोई समीपके। जो वाहन जिसके पास है उसमें वह बैठा है और उसी मार्गपर चल रहा है। परंतु—

मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ० १०।७१।७

प्रत्येक मनुष्य "मनके वेगमें भिन्न होने" के कारण एक जिस तत्त्व का ग्रहण कर सकता है उसी का दूसरा नहीं कर सकता। इस लिये मनुष्यों का 'बुद्धिभेद' न करते हुए (भ० गी० ३।२६) सब को सत्कर्ममें प्रवृत्त रखना चाहिये। इस से सब की क्रमशः उन्नति हो सकती है।

देवों का यजन।

(कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं) कर्म के फलकी इच्छा करनेवाले लोग (इह देवताः यजन्ते) यहां देवताओंका यजन करते हैं। यहां देवताओं की उपासना का तात्पर्य तो है हि, परंतु अन्य भी भाव है। फलकी इच्छासे अनेक देवताओंकी पूजा जगत् में चल रही है जो आज भी प्रत्यक्ष है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ भ० गी० ९।२५

"देवताओंके पूजक देवताओंको प्राप्त करते हैं, पितरोंके पूजक पितरोंके पास जाते हैं, भूतप्रेतोंके पूजक भूत प्रेत होते हैं, और परमेश्वरका भजन करनेवाले परमेश्वर माध को प्राप्त करते हैं।" आज भी भूत प्रेतोंके और मुर्दोंके उपासक पिशाच वृत्तीसे व्यवहार करते दीख रहे हैं और विविध देवोंके उपासक उन देवताओंके सदृश रहते दीखते हैं। तथा एक ईश्वरकी उपासना करनेवाले भी हैं। उपासक अपनी उपास्य देवताके समान बनता है, क्योंकि उसको उपास्यका ध्यान लगा होता है। राजस और तामस उपास्योंकी उपासना करनेवाले राजस और तामस होते हैं और सात्विक उपास्य देव की उपासना करनेवाले सत्वगुणसंपन्न होते हैं। इस लिये मनुष्य अपनी अपनी भोगेच्छाके अनुसार इष्ट देवताकी उपासना करते हैं और उनसे अपना इष्ट फल चाहते हैं। यहां उपासकों की प्रकृतिके अनुसार उपास्य पसंद किया जाता है, यह बात स्मरण रखने योग्य है। प्रेतोपासकों को उत्तम सात्विक देवता कभी पसंद नहीं होगी। अतः लोग अपनी प्रकृतिके अनुसार देवता चुनते हैं और उनका आराधन करते हैं। और आराधनासे इष्टफल प्राप्त करते हैं। क्योंकि (मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति) "इस मनुष्यलोकमें कर्मसे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।" इस कारण मनुष्य तत्परतासे सतत कर्मका आचरण करते हैं।

संगतिकरण।

"यजन" का अर्थ "पूजन, संगतिकरण और दान" ऐसा तीन प्रकार का है। पूजन का अर्थ हमने देखा, अब देवताओंके संगतिकरण का विचार करना चाहिये। प्रत्येक प्राणी में और पदार्थमें ईश्वरका अंश है, अतः प्रत्येक पदार्थ और प्राणी ईश्वरीय शक्तिसे युक्त होने के कारण देवता है। इन देवताओंका संगतिकरण अर्थात् मिलाप करनेसेहि मनुष्यका व्यवहार चलता है। जितना संगतिकरण उत्तम होगा, और जितना उसका उपयोग उत्तम होगा, उतना मनुष्यका सुख अधिक होगा। इस दृष्टीसे यह संगतिकरण रूप यजन बहुत महत्त्वका विषयक है। मनुष्य आपसमें और विविध पदार्थोंमें संगतिकरण कर रहा है। और कुछ न कुछ

(६) चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं; तस्य कर्तारं अपि मां अव्ययं अकर्तारं विद्धि ॥ १३ ॥

मैंने गुण और कर्म के विभागके अनुसार चार वर्णोंकी व्यवस्था निर्माण की है। उसका कर्ता होते हुए भी मैं अविनाशी अकर्ताहि हूँ ऐसा तू समझ ॥१३॥

भावार्थ— गुणों और कर्मों के अनुसार जो वर्गीकरण किया है, उसको चातुर्वर्ण्य कहते हैं। यह जैसा मनुष्योंमें है वैसा अन्य सृष्टिमें भी है। यह चातुर्वर्ण्य गुणों और कर्मोंको देख कर किया है, इस लिये इसका कर्तृत्व गुणकर्मों के पास है, व्यवस्थापक उसका कर्ता नहीं है। क्योंकि गुण और कर्म न होते, तो वह उसे न बना सकता ॥१३॥

सुख प्राप्त करही रहा है। तथापि यह समयसमय पर इसका उपयोग दूसरेकी हिंसा करनेमें करता है तब दुःखका भागी होता है। अतः यह संगतिकरण दान किंवा त्यागभावसे करना चाहिये। तभी मनुष्यका सच्चा कल्याण होता है। यहां प्रश्न होता है कि यह दानभावसे संगतिकरण किसीने कहां किया है? इसके उत्तर में चातुर्वर्ण्य का संगतिकरण कैसा उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

संगतिकरण और व्यवस्था ।

(१३) इस जगत् के पदार्थों के मनुष्य, पशु, औषधि और खनिज ये चार भेद हैं। इनमें भी उपभेद और अधिक हैं। ये भेद गुणकर्मोंसे हि हुए हैं। मनन कर सकते हैं इस लिये (मननात् मनुष्यः। निरु०) मनुष्य कहलाता है; केवल देखता है (पश्यति इति पशुः) इस कारण उस को पशु कहते हैं, यह मनन नहीं कर सकता; (दोष-धीः ओषधीः। निरु०) शरीरस्थ दोषोंको दूर करती हैं इस लिये वनस्पतियों को ओषधी कहते हैं, और खानोंमें उत्पन्न होनेवाले सोना, तांबा आदीको खनिज पदार्थ कहते हैं। यह वर्गीकरण इन गुणोंके कारण हुआ है। फिर गुणकर्मों का अधिक विचार करनेसे इन प्रत्येक में कई भेद माने जा सकते हैं, उनमें चातुर्वर्ण्य मुख्य है।

पिण्ड और ब्रह्माण्डमें चातुर्वर्ण्य ।

जैसा मनुष्यका शरीर एक है, और उनमें मनन करनेवाला मस्तिष्क, बलका कार्य करनेवाले बाहु और छाती, सर्वत्र रस पहुंचानेवाला पेट, नाभि या मध्य स्थान, और शरीरका बोझ उठाने का कार्य करनेवाले पांव इस तरह गुणकर्मोंसे य पिण्डके अवयवोंके चार वर्ग होते हैं; इसी प्रकार मानवसमाजरूपी एक शरीर में मनन, विचार और विद्याका मस्तिष्कका कार्य करनेवाले ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण; बाहू और छातीका बल संबंधी कार्य करनेवाले कर्मनिष्ठ क्षत्रिय; धान्य, औषधि और गोरस को उत्पन्न कर सबकी पेट पूर्ती का साधन करनेवाले पूंजीपति वैश्य; और उक्त तीनों के कर्मोंमें हरएक प्रकारकी सहायता करनेवाले अर्थात् सबके कर्मोंका बोझा उठानेवाले शूद्र, ये चार भेद गुणकर्मोंके अनुसार होते हैं।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं, समता-प्रयत्न और मन्दता ये इन तीन गुणोंके क्रमशः स्वरूप हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे ये चार वर्ण होते हैं, इसका प्रमाण इस तरह समझना योग्य है-

वर्ण	धर्म	कर्म
१ ब्राह्मण	सत्त्व, रज, तम ॥· ।· ।·	शम,दम,तप,शुद्धि, शान्ति,ज्ञान,विज्ञान और आस्तिक्य।
२ क्षत्रिय	रज, सत्त्व, तम ॥· ।· ।·	शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, अपलायन, दान और स्वामिभाव।
३ वैश्य	रज, तम, सत्त्व ॥· ।· ।·	कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य।
४ शूद्र	तम, सत्त्व, रज ॥· ।· ।·	सेवा, अथवा हुनर।

इस रीतिसे सत्त्व रज तम की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्योंके चार भेद होते हैं। और उनके कर्म भी इसी कारण भिन्न होते हैं। क्यों कि रजोगुणप्रधान मनुष्य स्वभावसे चढाई के कर्म करता है, सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य शान्ती और समवृत्तिसे रहता है, और तमोगुणी मन्द बुद्धिवाला होने के कारण पूर्वोक्त वर्णों के साहचर्य से रहकर अपना गुजारा चला सकता है।

ये चार प्रवृत्तिके लोग प्रत्येक ग्राममें, प्रान्तमें, देशमें और राष्ट्रमें होते हैं। भारत वर्ष में इस चातुर्वर्ण्य की उत्तम व्यवस्था की और आनुवंशिक शिक्षाद्वारा इन गुणों का विशेष परिपोष करनेकी अपूर्व योजना बनायी है। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक राष्ट्रमें होसकती है, और ऐसी चातुर्वर्ण्यव्यवस्था करनेसे मानवी समाज का पूर्णकल्याण होगा। परंतु यह बात अन्यदेशीयों के ध्यानमें अबतक नहीं आयी है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे (अध्याय १८। ४१-४८ में) यह चातुर्वर्ण्य इस तरह वर्णित हुआ है-

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

(२) ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥
क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥
वैश्यकर्म स्वभावजम्॥
कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

(३) स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥ ४५॥

(४) स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

(५) सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्॥४८

भ० गी० १८

"(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनके कर्म (स्व-भाव-प्रभवैः गुणैः) अपने जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे भिन्न भिन्न हुए हैं। (२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म (स्व-भाव-ज) अपने जन्म के साथ बने हैं। (३) अपने कर्म में तत्पर होने से मनुष्यको उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। (४) (स्व-भाव-नियतं) अपने जन्मसे निश्चित हुआ कर्म करनेसे पाप नहीं लगता। (५) (सह-जं कर्म) अपने साथ उत्पन्न हुआ कर्म सदोष हुआ तथापि उसको छोडना नहीं चाहिये।"

सहज कर्म।

इत्यादि स्थानों में चार वर्णों के कर्म उनके जन्मके साथ उत्पन्न हुए हैं,ऐसा कहा है। अर्जुन क्षत्रिय था। अतः उसका सहज और स्व-भाव-ज कर्म युद्ध करना था। इस में हिंसारूप दोष होनेपर भी उसको छोडना उसके लिये अनुचित था। इन श्लोकोंमें -

स्व-भाव-प्रभाव कर्म
स्व-भाव-नियत कर्म
स्व-भाव-ज ... कर्म
सह ......ज ... कर्म
स्व .... कर्म

इन सब शब्दोंका अर्थ एक ही है। अर्थात् यह चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति सिद्ध है। बडे तपःप्रभाव से विश्वामित्र जैसे उदाहरणोंमें यह बदल भी सकता है, परंतु यह अपवाद मात्र है क्यों कि श्रीकृष्ण, धर्मराज, भीष्मपितामह, ये धर्मतत्त्वके वक्ता

होनेपर भी ये क्षत्रिय ही कहे गये, विदुर धर्मज्ञ होनेपर भी शूद्र माना जाता था और द्रोणाचार्य क्षात्र गुण संपन्न होनेपर भी ब्राह्मण माने जाते थे। अर्थात् वर्णपरिवर्तन होता है यह तत्वतः मानने परभी उसकी संभावना अपवादमें मानी जाती थी, और अर्जुन के लिये वह असंभव है ऐसाही कहा गया है। इसलिये भगवद्गीता का सर्वसामान्य सिद्धान्त चातुर्वर्ण्य जन्म, गुण,और कर्मसे है यही है। इसीलिये कहा—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥　　　भ० गी० १८

"अहंकार वश होकर तेरा हठ कि 'मैं नहीं लडूँगा,' यह तेरा निश्चय मिथ्या है, तेरा स्वभाव ही तुझे बलके साथ घसीटे लेजायगा। अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, उसे विवश होकर करेगा।" स्वभाव का इतना बल है। अस्तु।

'स्वभाव' शब्दका अर्थ 'शील' ऐसा कई करते हैं, परंतु यहभी जन्मसे हि होता है। अपने जन्मसे जो प्राप्त है और जो अपनी प्रकृति है उसी का नाम स्वभाव है। प्रकृतिगुण बदलना अत्यंत कठिन है। इस तरह के स्वभावसे उत्पन्न गुणोंका विचार करके यह चातुर्वर्ण्य निर्माण किया है।

जब प्रारंभमें चारों वर्णोंका वर्गीकरण किया, उससमय मनुष्यों की स्वभाव प्रवृत्ति देखकर हि 'इसका यह वर्ण, इसका यह वर्ण' ऐसा नियम किया, और राजशासन के द्वारा सवर्ण विवाह की मान्यता देकर इन वर्णोंको जन्म द्वारा सुदृढ किया। उत्पत्तिसिद्ध वर्ण माननेसे नियत गुणों का उनमें विशेष परिपोष होने लगा और जन्म स्वभावसे हि गुणकर्मोंका निश्चय होने लगा।

भारतवर्ष में ब्राह्मण, राजपूत, बनिये इत्यादि की आदर्श से बहुत गिरावट होनेपर इस समय में भी वही प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रभाव आनुवंशिक संस्कारों का है। बौद्ध कालमें वर्ण-व्यवस्था टूट गई, फिर आचार्योंने यथाकथंचित् रचना की, पूर्व कालमें पितृ सावर्ण्यके समय मिलावट हुई, इस कारण आनुवंशिक शुद्धता जैसी चाहिये वैसी नहीं रही, अतः इस समय भिन्न कर्मोंमें लोगोंकी प्रवृत्ति दीखती है, तथापि आनुवंशिक संस्कार आज भी दिखाई देते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

वर्णका निश्चय जन्मसे, वर्ण के कर्म शास्त्र द्वारा नियत किये हुए, और कुल परंपरासे गुणों का परिपोष यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सिद्धान्त है। वर्णधर्मों और वर्णकर्मोंका निश्चय करना शास्त्रकारों का हि कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन प्रमाण मान कर अपना नियत कर्म करता रहे, दूसरा विचार करनेका उसको अधिकार नहीं है। शास्त्रमें बदल करना हो तो समय समय के ज्ञानी पुरुष समय का विचार करके योग्य बदल करें। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन का दास बन कर अपना नियत कर्म करता रहे, उसी से उसकी उन्नति होगी।

इस तरह की नियमबद्ध वर्णव्यवस्था सब देशमें होगी, तो सब का कल्याण होगा इसमें संदेह नहीं है: परंतु किसी अन्य देशमें ऐसी व्यवस्था नहीं है, और भारतवर्षमें भी परकीयों का अनुकरण करनेकी शिक्षा बढनेसे मनुष्योंकी मनमाने कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ गयी है, जिससे चातुर्वर्ण्य संस्था टूटनेके समान हुई है।

आश्रमव्यवस्था और वर्णव्यवस्था ये दो ही मुख्य स्तंभ अपने धर्मके हैं, परंतु ये इस समय पूर्णतया शिथिल होगये हैं और भावी काल में राज्यशासन का सहारा मिलनेकी संभावना न होनेके कारण भविष्यमें ये स्तंभ किस अवस्थामें रहेंगे इसका भी कोई निश्चय नहीं होता है। अस्तु इस तरह यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका तत्व है। यह व्यवस्था प्रारंभ में गुणकर्मोंको देखकर निर्माण

की थी। और जब इसकी पुनर्घटना करनी होगी, तब भी मनुष्योंके गुणकर्म के अनुसारहि व्यवस्था करनी होगी। और राज्यशासन व्यवस्था द्वारा आनुवंशिक संस्कारोंसे उसको चिरस्थायी और दृढ करना होगा।

मनुष्यों की तरह यह व्यवस्था पशु पक्षी वृक्ष वनस्पतियों में भी है। यहां भी प्रारंभ में वर्गीकरण स्वाभाविक उत्पत्तिसिद्ध गुणधर्मोंको देखकर किया जाता है और पश्चात् उन गुणकर्मोंको सुदृढ करनेके लिये आनुवंशिक रीतिसे हि ढालना पडता है। वारंवार भिन्न रसरक्तका मिश्रण होनेसे बडा बिगाड होता है, इसी लिये कुत्ते घोडे गाय आदि पशुओंकी संतति शुद्ध बीजसे हि करने की पद्धति सर्वत्र सर्वमान्य है। और वह अत्यंत योग्य है। अस्तु।

गुणकर्मोंको देखकर (गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं) चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था रचो। इसमें रचनाकी संभावना गुणों और कर्मोंके कारण होती है, इसलिये चातुर्वर्ण्यका कर्तृत्व गुणकर्मों के पास आता है। व्यवस्था करनेवाली एक व्यक्ति हो अथवा संस्था हो, वह गुणकर्मोंके न होनेकी अवस्थामें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था करनेमें असमर्थ होनेसे उसके पास चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का कर्तृत्व नहीं आता। इसी उद्देश्यसे कहा कि (तस्य कर्तारं अपि मां अकर्तारं विद्धि) उस चातुर्वर्ण्य की रचना करनेपर भी मुझे उसका अकर्ता समझ। क्योंकि कर्तृत्व गुणोंका है, मेरा नहीं।

इस का बोध होने के लिये एक उदाहरण लेते हैं कि एक ग्राम में कई बालक हैं, उनमेंसे किसी ने पढाई के लिये कुमारों को और कुमारियोंको अलग कर उनके कुमारगुरुकुल और कुमारिकागुरुकुल बनाये और उनकी पाठविधि निश्चित की। तो ये दो संस्थायें निर्माण होने का वास्तविक कर्तृत्व कुमार कुमारिओंके अस्तित्वमें होता है। ये न होते तो वह कैसे बनाता? इस कारण उन बालकोंमें जो कुमारपन और कुमारिकापन था वही उक्त संस्थाका कर्ता है, मनुष्य केवल योजक है। इसी तरह भगवान् कहते हैं कि मैंने "मनुष्योंके गुणकर्मोंको देख कर चार वर्णोंकी योजना की, उस वर्णव्यवस्था के कर्ता स्वाभाविक गुण हैं, मैं नहीं हूं।" मनुष्य भी गुणोंके पास कर्तृत्व है ऐसा मानें और अपने में कर्तृत्व का अभिमान न बढावें। [इसी विषयमें पाठक भ० गी० अ०३ श्लो० २७-२९ विवरण सहित देखें।]

संगतिकरण।

संगतिकरण से वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। समान गुणधर्मवाले वर्ग बनाकर उन की संगति करना, केवल इन्हीं का आपसमें मिलाप करना, और केवल इन्हींका आपसमें संबंध होने देना, यह वर्णधर्म का रहस्य है। इस के साथ एक जाती के गुणधर्मवालोंसे भिन्न गुणधर्मवालों का संबंध तोडना भी उतना ही आवश्यक है। समान गुणधर्म वालों का सख्य करना और उनको विषमगुणधर्म वालोंसे दूर रखना यही गुणपोषण की रीति है। मानवी धर्मका विकास इसी से होगा। परंतु इस से संघशक्ति घटेगी और फिरकेबाजी बढेगी। इसी कारण वर्गीकृत लोगोंकी अपेक्षा अवर्गीकृतोंमें संघटना हमेशा अधिक होती है। परंतु वर्गीकरण ही शास्त्रीय है और गुणविकास की दृष्टिसे उसका महत्त्व अधिक है।

एकवार वर्गीकरण अथवा वर्णीकरण आवश्यक समझागया, तो वही वर्गीकरण खानपानमें, रहनेसहनेमें, उपभोगोंकी न्यूनाधिकतामें, कपडोंलत्तोंमें इत्यादि सब व्यवहारोंमें दिखाई देता है। इसके लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है—ब्राह्मणों की त्यागवृत्ति होनेसे वे भोग कम करनेमें लगेंगे और क्षत्रियोंकी भोगवृत्ति होनेसे वे भोग बढावेंगे। ब्राह्मणोंको विचारके कार्यमें लगे रहनेसे लघु अन्न खाना अवश्यक है और शूद्रोंको कष्टके कर्म में लगे रहनेसे जडान्नभक्षण आवश्यक है।

इस कारण चार वर्णोंकी भिन्नता माननेसे आगे वह अनेक प्रकारकी भिन्नता होती जाती है और वही रहनसहनके हरएक पहलूमें दिखाई देती है। इसलिये धर्मविचारकोंको आवश्यक है कि वे ऐसी कुछ व्यवस्था करें कि वर्णभेद माननेपर भी उन सब में मिलकर अभेद होनेके लिये कुछ ऐसे उत्सव रचनेका यत्न करें, कि जिससे चारों वर्णोंका आपसमें मेल होनेका अवसर आजाय। बड़े यज्ञोंसे यही संघटना का कार्य प्राचीन समय में होता रहा।

अव्यय कर्ता और अकर्ता।

"मैं अव्यय कर्ता हूं और अव्यय अकर्ताभी हूं।" ऐसा (४।१३) यहां कहा है। इस विधानसे एक बड़े सिद्धान्त का उपदेश यहां किया है। कर्ता जिस समय कुछ कर्म करता है, उस समय उसकी शक्तिका कुछ न कुछ व्यय होता है। कर्मका अर्थ हि अपनी शक्ति का व्यय है और यह व्यय करने से फलप्राप्तिरूप लाभ होता है। कर्म में अपनी शक्ति का व्यय न किया तो फल भी नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् फल चाहिये तो कर्म के लिये शक्तिका व्यय करना ही चाहिये।

परमेश्वर यहां कहते हैं कि, "मैं अव्यय कर्ता हूं" क्योंकि मैं "अव्यय अकर्ता हूं।" यहां 'अ-कर्ता' का अर्थ 'कर्म न करनेवाला' नहीं है, परंतु "विशेषरीतिसे कर्म करनेके कारण अकर्ता" है। इस विशेष रीतिसे कर्म करने के कारणहि यह कर्ता होता हुआ भी अव्यय अकर्ता होता है!! यह कौनसी विशेषता है कि जिससे कर्म भी होते रहें और (अव्यय) अपनी शक्तिका व्यय भी न हो? और यह विशेष रीति हम जैसे मनुष्योंको साध्य हो सकती है वा नहीं? ये प्रश्न यहां विचारणीय हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
ऋ० १।१६४।२०

"एक वृक्षपर दो पक्षी हैं, उनमें से एक उस का मीठा फल खाता है और दूसरा केवल चमकता है अर्थात् फल नहीं खाता।" जीव और ईश्वर ये दो प्रकृति के ऊपर बैठे हैं। जीव फल भोग करता है और ईश्वर नित्यतृप्त है। यहां हमें पता लगता है कि जीव को फलभोग की इच्छा है इसलिये फलप्राप्त्यर्थ कर्म करने में अपनी शक्ति का व्यय करना पडता है। और परमात्मा नित्यतृप्त होनेसे वह अपने भोग के लिये कुछ नहीं करता, अतः वह सदा अकर्ता रहता है, और अकर्ता रहनेसेहि उसकी शक्तिका व्यय नहीं होता है। उससे जो होता है वह सहज कर्म होता है, इस लिये उसको "अव्यय अकर्ता" (विद्धि अकर्तारमव्ययम्) कहते हैं।

शक्तिकी रक्षा।

यहां अपनी शक्ति क्षीण न करनेका एक नियम हमें ज्ञात हुआ, यदि कोई मनुष्य तृप्त अर्थात् अकाम किंवा निष्काम हुआ, और यदि उसने सकाम भावसे अपने भोग बढानेके अर्थ कर्म न किये तो, उससे निष्काम भावसे कर्म होनेपर भी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होगी। वह कर्ता होते हुए भी अ-व्यय अकर्ता होगा। यह हेतु है भगवद्गीतामें निष्काम कर्मयोग का उपदेश करनेका। निष्काम कर्म का यह महत्त्व है। इस निष्काम कर्मयोगसे शक्तिका संग्रह होता है।

साधारण लोग अपने भोगोंके बढाने के लिये विविध कर्म करते हैं, उनके फल स्वयं भोगते हैं, और भोगोंसे रोगी होते हैं और अन्तमें क्षीण होते हैं। इस तरह सकाम-कर्म क्षीणता करनेवाला है। यह दोष न रहने के कारण निष्काम-कर्म अपनी शक्ति बढानेवाला है। यही विचार अगले श्लोकोंमें अधिक स्पष्ट कर दिया है—

(७) फलासक्तिसे बन्धन ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वयः— कर्मफले मे स्पृहा न, (अतः) कर्माणि मां न लिम्पन्ति । इति यः मां अभिजानाति, सः कर्मभिः न बध्यते ॥१४॥ एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतम् । तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं एव कर्म कुरु ॥ १५॥

कर्म के फलमें मेरी लालसा नहीं है, (इसीलिये) कर्मोंका लेप मुझे नहीं लगता । इस तरह जो मुझे भली भान्ति जानता है; वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता ॥ १४ ॥ यह जानकर पूर्व समय के मुमुक्षु लोगोंने भी कर्म किये थे । अतः पूर्वके लोगोंद्वारा किये हुए प्राचीन कालके कर्मोंके समान हि तू कर्म कर ॥ १५ ॥

भावार्थ— जिसकी कर्मके फलभोगोंपर आसक्ति नहीं होती, उसको कर्मों से कोई बाधा नहीं होती । कर्मोंके कारण जो बाधा होती है, उस का एक मात्र कारण फलासक्ति है । अतः जो फलासक्ति छोडता है वह कर्म के बंधन से मुक्त होता है ॥ यह नियम जानकर प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये थे और वे बद्ध भी नहीं हुए थे । इसलिये फलासक्ति छोडकर इस समयमें भी मनुष्य कर्म कर सकता है और कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है ॥ १४-१५ ॥

आसक्तिका दोष।

(१४—१५) मानवी व्यवहारमें तथा प्राणिमात्रके व्यवहारमें हम देख सकते हैं कि आसक्तिसे हि बडे कष्ट होते हैं। देखिये—

कुरंग-मातंग-पतंग-भृङ्ग-मीना
हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।

"हरिण, हाथी, पतंग, भृंग और मछली ये पांच क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पर आसक्त होनेसे नष्ट होते हैं।" हरिन मधुर ध्वनिपर लुब्ध होने के कारण बांधा जाता है, हाथी हाथिनी पर आसक्त होनेसे पकडा जाता है, पतंग दीपके रूपपर मोहित होने के कारण दीप पर गिर कर जल जाता है, भ्रमर मधुर रसपर आसक्त होनेसे कमलमें बांधा जाता है और मछली आमिषपर आसक्त होनेसे जाल में बद्ध होती है ।" मनुष्यों की अवस्था भी यही है ।

कई मिष्ट भोजन पर, कई स्त्रीपर, कई मधुर शब्द पर, कई धनपर, कई अपने अधिकार पर आसक्त होते हैं, और उस आसक्तिके कारण अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जो मिष्ट भोजनपर आसक्त हैं,उसको दूसरा भोजन प्राप्त होनेसे दुःख होता है और वह मिष्ट भोजनसे सुख मानता है, परंतु सदा मिष्ट पदार्थ भक्षण करनेसे रोगी होकर कष्ट भोगता है । इसी तरह अन्य स्थानों में आसक्त होनेवालोंको कष्ट ही होते हैं । अधिकार पर आसक्त हुए मनुष्य अपने हाथमें अधिकार रखनेके हेतुसे इतने अत्याचार करते हैं कि, उसकी कोई सीमा नहीं होती, इतिहास में राज-

कीय और धार्मिक अधिकारलालसाके कारण जितने रक्तपात हुए हैं उससे इतिहासके पृष्ठ कलंकित ही बने हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, आसक्तिसे अनंत दोष होते हैं और उनके कारण मनुष्यके दुःख बढते हैं।

कोई मनुष्य विशिष्ट प्रकारके मिष्ट भोजन पर हि आसक्त है और दूसरा एक जो सात्त्विक शाकभोजन आजाय उसको हाजम करके पुष्ट होता है, तो पाठक समझ सकते हैं कि विशिष्ट भोजनपर आसक्त रहनेवालेको अधिक दुःख और यदृच्छासे प्राप्त शाक भोजनपर संतुष्ट होनेवाले स्वादजय करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। इससे आसक्तिके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

मैं इस फलका भोग करूंगा, यह फलभोग मिलनेतक मैं अविश्रांत यत्न करूंगा, सब सुख मुझेहि चाहियें, इस प्रकार आसक्तिसे सुखकी लालसा करनेवाला मनुष्य सुख धर्ममार्गसे प्राप्त न होनेपर अधर्म मार्गका अवलंबन करता है, और सुखका यत्न करनेपर भी महादुःखमें फंसता है। इसलिये अति लालसा छोडकर यदृच्छासे प्राप्त होनेवाले भोगोंपर सन्तुष्ट रहनेसेहि सच्चा सुख प्राप्त होता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं कि (कर्मफले मे स्पृहा न) कर्मके फलपर मेरी लालसा नहीं है। मैं जो कर्म करता हूं फलके विषयमें आसक्त न होकर कर्तव्यबुद्धिसे करता हूं; इस कारण (कर्माणि मां न लिम्पन्ति) कर्मोंका लेप या कलंक मुझे नहीं लगता और कर्मसे उत्पन्न होनेवाले दोष मुझे दोषी नहीं करते हैं। यदि मैं कर्मफलके भोगपर आसक्त होऊंगा, तो कर्मके दोष मुझे बाधा देंगे।

यहां अपने आचरणसे भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि इस आसक्तिरहित वृत्तीसे हि मनुष्य दोषमुक्त होता है। इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। अवतारी पुरुषोंके जीवन-चरित्र इस तरह जनताके लिये मार्गदर्शक होते हैं। साधारण मनुष्योंको जहां संदेह हो वहां अवतारी पुरुषोंके जीवनचरित्रोंसे धर्ममार्गका निश्चय इस रीतिसे हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सब तरहसे पूर्ण समर्थ थे, तथापि वे जो प्रयत्न करते थे वह अपना सुख बढानेकी लालसासे नहीं था, प्रत्युत जनतामें धर्मव्यवस्था स्थिर हो जाय, सज्जनोंकी रक्षा हो और दुष्टोंका निर्दलन हो जाय, अर्थात् सब जनताको पूर्ण सुखी करनेके लिये वे यत्नवान् होते थे। इसी तरह सबको यत्नवान् होना चाहिये। यही उत्तम मार्ग है और इसी मार्गसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है।

यह भगवान्‌के अवतारका रहस्य जो जानता है, वह इसी प्रकारका सर्वजनहितकारी कर्म करता हुआ, किये कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। कर्मके दोषोंसे मुक्त होनेकी यह रीति है। एकहि युद्ध स्वार्थभोगोंके लिये भी किया जा सकता है और सर्वजनहितसंवर्धनके लिये भी किया जाता है। जो युद्ध स्वार्थभोगेच्छासे होता है वह बंधनकारक और जो सर्वजनताके हितसाधनके लिये किया जाता है वह युद्ध मुक्तिका साधन बनता है। युद्ध तो सदा हिंसामय कर्म है, तथापि वह जनताके कल्याणके लिये करनेसे निर्दोष होता है और स्वार्थभोगलालसासे करनेपर सदोष होता है। यहां किस कर्मसे बंध और किससे मुक्ति होती है यह विषय स्पष्ट हुआ। कोई कर्म हो वह किस उद्देश्यसे किया जाता है, उस उद्देश्यके कारण वह बन्धनकारक अथवा मुक्तिकारक बनता है। इसलिये फलेच्छारहित कर्म करना सबको योग्य है। भगवान् श्रीकृष्णजीके जीवनचरित्रमें प्रारंभसे अन्ततक फलभोग रहित कर्मही दिखाई देते हैं। इस कारण उनका पवित्र जीवन सब मनुष्योंके लिये आदर्श माना जा सकता है।

(८) कर्मके भेद।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अन्वयः— 'किं कर्म, किं अकर्म' इति अत्र कवयः अपि मोहिताः। तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ॥ १६ ॥

'कर्म क्या है, और अकर्म क्या है,' इस विषयमें ज्ञानी लोग भी मोहित होते हैं। इसलिये मैं उस कर्मके बारेमें तुझे कहूंगा, जिसको जानकर तू अशुभसे बच जायगा ॥ १६ ॥

ब्राह्मणका ज्ञानार्जन कर्म है, क्षत्रियका युद्ध करना कर्म है, वैश्यका वाणिज्य-व्यवहार और शूद्रका कर्मकुशलता कर्म है। ये तो इनके धर्मशास्त्रोक्त कर्म हैं। इन चारों वर्णोंको ये कर्म कर्तव्यबुद्धिसे करने चाहियें। इस तरह करनेसे ये कर्म बाधक नहीं होते। परंतु यदि ब्राह्मण बहुत धन कमानेके लिये विद्याध्ययन करेंगे, क्षत्रिय अपने भोग बढानेके लिये युद्ध करके साम्राज्य बढाने लग जांय, यदि वैश्य धन इकट्ठा करके अपने पासही रखेंगे और शूद्र स्वार्थसे कुशलताके कर्म करने लगेंगे, तो इस तरह किये कर्म स्वार्थके कारण और भोगासक्तिके कारण उनके बंधनके हेतु बनेंगे।

वर्णाश्रमधर्मका जो संगतिकरण वेदशास्त्रोंमें कहा है वह यज्ञके लिये है और यज्ञ वह है जिसमें एकदूसरेके लिये आत्मसमर्पण होता है। जहां आत्मसमर्पण नहीं वहां दोषोंकी उत्पत्तिही होती है। इसलिये भोगेच्छारहित कर्तव्यबुद्धिसे आत्मसमर्पण करनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः कर्म कृतं) यह आसक्तिरहित आत्मसमर्पणका तत्त्व जानकर प्राचीन कालके मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये और वे उस कर्मयोग द्वारा मुक्त भी हुए। मुमुक्षु उसका नाम है कि जो पारतंत्र्यसे अपना छुटकारा करना चाहता है, जिसको बंधसे मुक्त होनेकाही ख्याल होता है। ऐसा मुमुक्षु कर्तव्य कर्म आसक्तिरहित आत्मसमर्पण बुद्धिसे करता है और बंधनसे छुटकारा पाता है। प्राचीन सत्पुरुषोंने इस तरह कर्म किये और वे मुक्त हुए।

इसलिये अबके मनुष्योंको उचित है कि ये भी पूर्वजोंके समान आसक्ति छोड और त्यागभावसे तथा आत्मसमर्पणभावसे कर्तव्य कर्म करें और पारतंत्र्यसे छुटकारा प्राप्त करें; इस कर्मशास्त्रको यथावत् जाननेके लिये 'कर्म' शब्दसे किसका बोध होता है, इसका अवश्य विचार करना चाहिये, यह विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

कर्मके तीन भेद।

(१६-१८) कर्मके तीन भेद हैं, कर्म, अकर्म और विकर्म। कर्मका अर्थ वर्ण और आश्रमके लिये जो कर्तव्य करके निश्चित हुआ है वह 'कर्म' है, जो इसके विरुद्ध है, जो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है उसका नाम 'विकर्म' है, और जो कर्म न करना किंवा आलस्यमें चुपचाप रहना है उसको अकर्म कहते हैं। कर्मके इन तीन भेदोंके ये लक्षण प्रसिद्ध हैं और इस विषयमें किसीकाभी मतभेद नहीं है।

फिर पाठक पूछेंगे कि कर्म और अकर्म का निश्चय करनेमें (कवयः अपि मोहिताः) कवि लोग भी मोहित होते हैं, यह क्यों ? कर्म, अकर्म और विकर्ममें ऐसी कौनसी बात है कि जिसके

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अन्वयः— कर्मणः (तत्त्वं) हि अपि बोद्धव्यं, विकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं, तथा अकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं, कर्मणः गतिः गहना ॥ १७ ॥ यः कर्मणि अकर्म पश्येत्, अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्, सः मनुष्येषु बुद्धिमान्, सः युक्तः, (सः) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मका तत्त्व जानना चाहिये, विकर्मका तत्त्व जानना चाहिये, और अकर्मका तत्त्वभी जानना चाहिये। क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥ जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मको देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही योगी और वही संपूर्ण कर्मोंका यथावत् करनेवाला है ॥ १८ ॥

भावार्थ- कर्म, अकर्म और विकर्मका निश्चय करनेके समयमें बडे बडे ज्ञानी लोगोंकोभी भ्रम होता है। इस लिये कर्मका तत्त्व समझ लेना चाहिये। कर्ममें अकर्म होता है और अकर्म करनेपर भी कर्म होता है, यह बात जो समझ लेता है, वह ज्ञानी योगी और सब कर्म योग्य रीतिसे करनेवाला समझना चाहिये। इस तरह कर्मका तत्त्व यथावत् जाननेसे मनुष्य अशुभ स्थितिसे मुक्त होकर शुभ स्थिति प्राप्त कर सकता है ॥ १६-१८ ॥

कारण कवियोंकोभी मोह होजावे। बात ऐसी होती है, देखिये — एक मनुष्य चुपचाप खडा है, अथवा ध्यान करता हुआ बैठा है। उसका पिता उसके सन्मुख बैठा है। ऐसी स्थितिमें कोई गुण्ड आता है और पिताका मारनेका यत्न करता है। वह गुण्ड पिताके शरीरपर हमला करता है। यह देखता हुआ भी यदि पुत्र चुपचाप बैठा रहे अथवा अपना संध्याकर्म ही करता रहे, तो उसका वह 'अकर्म' अर्थात् कर्म न करना भी 'विकर्म' अर्थात् विरुद्ध किंवा निषिद्ध कर्म बनता है। यहां कुछ न करनेसे भी बडा विकर्म बन गया! अब देखिये कि केवल चुप रहनेसे भी बडा हानिकारक निषिद्ध कर्म बनता है!! निषिद्ध कर्म करने की उसकी इच्छा नहीं थी, परंतु जिस समय अपने पिता की रक्षा करना आवश्यक था, उस समय वह चुप बैठ गया यह सर्वथा अनुचित था। इसी प्रकार कोई शुभ कर्म लीजिये वह समय पर किया जाय तो सहायक होता है, नहीं तो बाधक हो जाता है। इससे पाठक जान गये होंगे कि कर्म भी अकर्म हो जाता है और अकर्म भी विकर्म होगा। यह सब परिस्थिति, समय, अवस्था, आदिपर अवलंबित है, अतः इन कर्म अकर्मादिका निर्दोष लक्षण करना असंभव है। साधारण लक्षण तो ऊपर दिया है, परंतु वह बदलनेवाले समयके कारण कभी कभी असिद्ध होता है। इसलिये कहा है कि बडे बडे तत्त्वज्ञानी भी कर्म, अकर्म और विकर्म का निश्चय करनेमें भ्रमित से हो जाते हैं, भूला करते हैं।

कर्म, अकर्म और विरुद्ध कर्म कौनसा है, इसका यथावत् ज्ञान न होनेसे अशुभ स्थिति अर्थात् दुःखद अवस्था प्राप्त होती है, क्यों कि वह कदाचित् कर्म समझ कर अकर्म करता है, और किसी अच्छे कर्मको विकर्म मानकर छोड भी देता है। इस कारण इस मोहित मनुष्य की दुर्गति होती है। परंतु जो समयपर यह कर्म है, यह अकर्म है और यह निश्चयसे विकर्म है ऐसा

असंदिग्ध रीतिसे जानता है वह शुभ अवस्था प्राप्त करता है।

इस हेतुसे (कर्मणः बोद्धव्यं) कर्म अकर्म और विरुद्ध कर्म का तत्त्व किंवा स्वरूप जानना चाहिये। कमसे कम इसके जाननेका यत्न तो अवश्यही करना चाहिये। (कर्मणः गतिः गहना) कर्म की गति गहन है, कर्मका तत्त्व अथवा स्वरूप बडा गूढ है, कर्मका परिणाम बडा विलक्षण होता है।

"अकर्म" शब्दका यहां और एक अर्थ है, जिस कर्मसे बिलकुल दोष नहीं लगता, अर्थात् जो कर्म दोष न लगनेके कारण न करनेके समान होता है, वह कर्म भी 'अकर्म' कहलाता है। निष्काम भावसे जो कर्म किया जाता है वह कर्म होता हुआ भी 'अकर्म' कहलाता है। अर्थात् इन श्लोकोंमें 'अकर्म' शब्दके दो अर्थ हैं— एक आलस्य अर्थात् कर्म न करना और दूसरा निष्काम भावसे, निःस्वार्थ भावसे, फल की आसक्ति छोडकर किया हुआ कर्म। ये अर्थ लेकर पाठक अठारहवें श्लोकका भाव देखें—

(कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्म किया जानेपर भी जो कर्म न करनेवालेके समान निर्दोष रहता है, जिसका कर्म निष्काम भावसे किया जानेके कारण जिसको दोष नहीं लगाता, कर्म करनेपर भी जो कर्म न करनेके समान शुद्ध रहता है वह बडा बुद्धिमान् योगी है। शरीरसे कर्म होनेपर भी वह आत्मस्वरूपमें अकर्ता हो कर रहता है, वह बडा ज्ञानी और योगी है और वही सब कर्म यथायोग्य रीतिसे कर सकता है। कर्म करनेपर भी जो अपने आपको निर्दोष अकर्ता अनुभव करता है वह श्रेष्ठ है। भगवान् श्री कृष्णजी कर्ता होनेपर भी अपने आपको अकर्ता मानते हैं (देखो गी० ४।१३) इसका तत्त्व यह है।

(अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्) अकर्ममें जो कर्म होनेका अनुभव करता है। आत्मा अकर्ता होनेपर भी जो शरीरसे कर्म करता रहता है। जैसा वाहनमें बैठा हुआ मनुष्य अपने आपको स्थिर अनुभव करता हुआ भी गतिमान् रहता है, और गतिमान् अवस्थामें भी वह स्थिर होता है, इसी तरह शरीररूपी कर्ममय वाहनमें बैठा हुआ यह मोक्षधामका यात्री शरीरद्वारा कर्म होनेपरभी अपने आपको अकर्ता अनुभव करता है और स्वयं आत्मस्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी वह शरीरसे कर्म करता ही है। इस तरहका जिसका अनुभव है वह बुद्धिमान् योगी और सब कर्म करनेका वही अधिकारी है। क्योंकि यही निष्काम कर्मका तत्त्व जानता है और निष्काम कर्म यथा योग्य रीतिसे कर सकता है।

यहां 'बुद्धिमान्' का अर्थ समबुद्धिवाला, और 'युक्त' का अर्थ योगयुक्त अथवा 'योगी' है। तथा 'कृत्स्नकर्मकृत्' का अर्थ संपूर्ण कर्म यथासांग करनेवाला और सब कर्म करनेपर भी कर्मोंके दोषसे निर्लेप रहनेवाला पूर्ण ज्ञानी योगी।

इन तीनों श्लोकोंमें कर्म अकर्म और निषिद्ध कर्म कौनसा है, उनके लक्षण क्या हैं, कर्मका तत्त्व गूढ होनेपरभी वह कर्म किस तरह करनेसे मनुष्य दोषमुक्त होता है, इत्यादि बातोंका उत्तम वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करके दोषमुक्त हो सकता है और शुभ गति प्राप्त कर सकता है।

कर्म का और एक अर्थ।

"अकर्म, कर्म और विकर्म" का और एक अर्थ है। 'विकर्म' शब्दका अर्थ विरुद्ध, हानिकारक, गिरावट करनेवाला कर्म, यह तो सिद्धही बात है। कर्म और अकर्मकाही दूसरा अर्थ है। अकर्मका दूसरा अर्थ यह है कि केवल अपने अस्तित्वके लिये किया जानेवाला कर्म, अर्थात् भोजन, स्नान, श्वासोच्छ्वास आदि। जिससे मनुष्यका केवल अस्तित्व रहता है। इसलिये ये तो पशुपक्षी, कृमिकीट और वृक्षवनस्पति भी करते हैं, मनुष्य जैसा उत्तम कर्मदेह प्राप्त होने-

(९) कर्ममें अकर्मता ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

अन्वयः— यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः, तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं बुधाः पण्डितं आहुः ॥ १९ ॥ (यः) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः निराश्रयः, सः कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव किञ्चित् करोति ॥ २० ॥

जिसके संपूर्ण कर्मोंके आरंभ, कामना और संकल्पसे रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए होते हैं, उसको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जिसने कर्मफलकी आसक्ति छोड दी है, जो नित्यतृप्त है और जो विना दूसरेके आश्रयसे अर्थात् जो अपनी शक्तिसे हि रहता है, वह कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

परभी केवल कृमिकीटकोंके समानहि मनुष्य रहे तो उसने क्या किया, अर्थात् कुछभी नहीं किया, अतः ऐसे सब कर्म जो केवल मनुष्यके वैयक्तिक अस्तित्वके साधक हैं वे सब अकर्म हैं ।

इसके नंतर जिन कर्मोंसे व्यक्ति और समाजकी स्थिति होती है और उनका उत्कर्ष होता है, ऐसे जो प्रशस्ततम यज्ञरूपकर्म हैं, उनका ही नाम ' कर्म ' हैं । ये सामूहिक हितके कर्म भी जानना चाहिये और वैयक्तिक हितके भी कर्म जानना चाहिये । और ऐसे वैयक्तिक और सामूहिक अवनतिकारक कर्मोंसे दूर रहना आवश्यक है इस तरह के विकर्म ये हैं, यह भी ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार केवल वैयक्तिक अस्तित्वकी रक्षा करनेके लिये आवश्यक कर्म, सामुदायिक उन्नतिके लिये आवश्यक कर्म, और दोनोंकी अधोगति करनेवाले विरुद्ध कर्म जाननेसे मनुष्य ज्ञानी होता है, योगी अर्थात् कुशलतासे कर्म करनेवाला और सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करके वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति करनेवाला होता है । अतः यह कर्मविवेकका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये । अब आगेके ५ श्लोकोंमें कर्म करते हुए भी निर्दोष होनेकी युक्ति कहते हैं—

कर्मके दोष ।

(१९-२३) कर्मोंके करनेपर कर्मके दोषोंसे बचनेका उपाय इन पांच श्लोकोंमें कहा है और इसीका नाम यहां ' कर्ममें अकर्मता ' अर्थात् कर्म करके कर्म न करनेके समान निर्दोष रहना है । यहां अकर्मका अर्थ आलस्य नहीं है परंतु निर्दोषता है। यहां कई शंका करेंगे कि कर्ममें दोष कहां होते हैं ? क्या सभी कर्म दोषपूर्ण हैं ? इस विषयमें कुछ पूर्व स्थान (भ० गी० ३ । ४) में लिखा है तथापि यहां भी कुछ पुनः लिखना चाहिये । प्रत्येक कर्मसे कुछ न कुछ दोष उत्पन्न होता है । देखिये श्वास और उच्छ्वास ये स्वाभाविक कर्म हैं । इन कर्मोंके कारण वायुमें स्थित अनन्त सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होती है । जब श्वास अन्दर जाता है तब अन्दरकी उष्णतासे वायुके सूक्ष्म कृमि मरते हैं, अतः जब उच्छ्वासके समय

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अन्वय— निराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ॥ २१ ॥ यदृच्छा-लाभ-संतुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ असिद्धौ च समः, कृत्वा अपि न निबध्यते ॥ २२ ॥ गतसंगस्य ज्ञानावस्थितचेतसः, यज्ञाय आचरतः मुक्तस्य कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३ ॥

जिसने फलकी आशा छोड दी है, अन्तःकरणका संयम किया है, और सब भोगसाधनोंका त्याग किया है, ऐसा पुरुष केवल शरीरसंबंधी कर्म करनेपर भी पापका भागी नहीं होता है ॥२१॥ जो सहजप्राप्त वस्तुसे संतुष्ट, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त, ईर्षासे रहित, और सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करनेवाला है, वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥ जो आसक्तिरहित और ज्ञानमय चित्तवाला है, केवल यज्ञके लिये हि कर्म करनेवाले उस मुक्त पुरुषके कर्म पूर्णतासे लय होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो भोगोंकी इच्छाको और भोगसंकल्पको छोडकर संपूर्ण कर्तव्य कर्म करता है और ज्ञानसे जिसके कर्म शुद्ध हुए हैं, उसका नाम पण्डित है ॥ जो कर्मका फल भोगनेकी कल्पना छोडता है, अपने आत्मामें हि संतुष्ट है और जो अपनी शक्तिसे अर्थात् विना दूसरेके आश्रयसे रहता है, उसका शरीर कर्ममें प्रवृत्त हुआ ऐसा दीखनेपर भी उसका आत्मा कुछ भी नहीं करता, वह अकर्ता रहता है ॥ फलभोग की इच्छा का त्याग करनेवाला संयमी मनुष्य सब भोगसाधनोंका त्याग करके शरीर निर्वाहके लिये किये जानेवाले स्वाभाविक कर्म करने पर भी उनके दोषोंसे दोषी नहीं होता ॥ सहज प्राप्त हुए लाभमें संतुष्ट, द्वन्द्वोंसे रहित, ईर्ष्यासे दूर, और हानिलाभके विषयमें समबुद्धि रखनेवाला मनुष्य कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता है ॥ फलका भोग करनेके विषयमें जो उदासीन, जिसका मन ज्ञानसे परिपूर्ण हुआ है, वह यज्ञके लिये कर्म करनेपर भी कर्मके दोषोंसे मुक्त रहता है, मानो उसके सब कर्म लय हो चुके हैं ॥ १९—२३ ॥

वायु बाहर आता है तब वह दोषयुक्त होता है। इस तरह स्वाभाविक कर्ममें भी हिंसाका दोष है। ऐसेहि क्षुधितोंको भोजन दान करनेके लिये अन्नके पकानेका कर्म किया, तो भी उस परोपकारके कर्ममें अग्निके जलाने आदि के कारण हिंसा होती है, इस तरह स्वार्थ के कर्म हो अथवा परोपकारके हों, हिंसा आदि दोष दूर करना कठिन है। इसके साथ अन्यान्य दोषभी होतेहि हैं जिनका विचार पाठक स्वयं करें। किसीने अपने पास धान्यादिका आवश्यकतासे अधिक संग्रह किया तो कई दूसरे मनुष्योंको भूखा रखनेका दोष उसको लगता है। हाथमें अधिकार रहनपर जो कर्म किये जाते हैं उनमें अनेक दोष होते हैं जिनके कारण अधिकार-

हीन मनुष्योंको अत्यंत कष्ट होते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि प्रत्येक कर्म में दोष होते हैं और कर्म करनेसे ये दोष लगेंगेहि। इनसे बचना असंभव है। इस दोषसे बचनेके लिये फलकी आसक्ति छोडनेका उपाय भगवद्गीताने बताया है। देखिये कोई एक मनुष्य स्वर्गभोग की प्राप्तिके लिये यज्ञरूपी कर्म करता है, इसका विश्वास है कि यह कर्म निर्दोष हुआ तो अपनेको स्वर्गभोग अवश्य प्राप्त होगा। भोगपर आसक्त होनेके कारण यज्ञमें जब विघ्न होगा या त्रुटी होगी तब वह क्रोधी होगा और क्रोधके कारण उसके हि शरीरके रक्तके जीवाणु मरेंगे। इस तरह फलासक्तिसे यह दोष होता है। फलासक्ति छोडी जाय तो यह दोष होना संभव ही नहीं है। इसी रीतिसे आसक्ति और संग छोडनसे बहुत दोष दूर हो सकते हैं, इसका अनुभव पाठकोंको स्वयं आसकता है। फलासक्ति, फलसंग या भोगकामना किस प्रकार छूट सकती है, इसके लिये क्या करना चाहिये, फलाशा छोडनेवाला मनुष्य कैसा व्यवहार करता है, इत्यादि के विषय में इन पांच श्लोकोंमें निम्न लिखित पद विशेष मनन करने योग्य हैं—

त्याग मार्ग।

(१) यस्य कामसंकल्पवर्जिताः सर्वे समारंभाः। (४।१९)

" जिसके सब कार्य भोगोंके विचारसे रहित होते हैं। " जो भोग प्राप्त करनेके हेतुसे कोई कर्म नहीं करता, अपने भोग बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं है, जो कर्म करता है परंतु फलभोग की इच्छा उसकी जडमें नहीं होती है, जो सब कर्म यथासांग करता हुआ भी भोगेच्छारहित रहता है, कामभोगका संकल्प भी जिसके मनमें नहीं उठता है, जो (सं) एकीकरण या संघटनाके लिये (आरंभः) कर्म प्रारंभ करता है, परंतु अपने भोगोंकी लालसा उसमें नहीं होती;

(२) निराशीः।(४।२१)

" भोगोंकी प्यास जिसमें नहीं है।" अपने भोगनेके लिये विविध भोग चाहिये, ऐसी इच्छा जिसके मनमें नहीं है, अपने लिये भोग प्राप्त करनेकी आकांक्षा जो नहीं धारण करता;

(३) गतसंगः। (४।२३)

"जिसने भोगोंका संग छोड दिया," जिसके मनसे फलके भोगनेकी इच्छा दूर होगयी है, जिसके मनमें विषयभोग करनेकी इच्छाही नहीं उत्पन्न होती;

(४) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा। (४।२०)

" जो कर्मफलके भोग करनेकी इच्छा का त्याग करता है, " अपने कर्मके फल का भोग स्वयं भोगना चाहिये, ऐसी इच्छा जिसके मन में नहीं है, कर्मके फलका भोग करनेकी इच्छासे जो दूर रहता है;

(५) त्यक्तसर्वपरिग्रहः। (४।२१)

"जिसने सब वस्तुसंग्रह करना छोड दिया है," जो भोग्य वस्तुओंका संग्रह अपने पास नहीं करता, जो अपनी भोगेच्छाएं कम करता है, जो न्यूनसे न्यून वस्तुओंसे अपना निर्वाह करता है;

(६) निराश्रयः। (४।२०)

" जो किसी दूसरे पर अपना आश्रय नहीं करता," जो स्वयं अपनी शक्तिसे रहता है, जो अपनी शक्तिसे अपने अन्दर हि सन्तुष्ट रहता है, जो अपने सुख के लिये किसी दूसरेपर या दूसरे पदार्थ पर अवलंबित नहीं रहता, जो अपने ही आधारपर रहता है;

(७) नित्यतृप्तः। (४।२०)

" जो सदा तृप्त रहता है," जो सदा सन्तुष्ट, सदा सुखी और सदा आनन्दपूर्ण रहता है, जिसको अपने अन्दरसेहि आनन्द प्राप्त होता है;

(८) यदृच्छालाभसन्तुष्टः। (४।२२)

"जो सहज प्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है।" जो अपने भोग बढानेकी अभिलाषा धारण नहीं करता, जो भोग सहज प्राप्त होगा, उससेहि जो आनन्दित रहता है, भोग कम मिलनेपर क्रुद्ध नहीं होता;

(९) यतचित्तात्मा। (४।२१)

" जिसने अपना मन, चित्त अथवा अन्तःकरण अपने आधीन रखा है, जो अपने मनको स्वैर भटकने नहीं देता, जिसका मन जिसकी आत्मामेंहि स्थिर रहता है, बाह्य भोगोंपर् नहीं जाता;

(१०) सिद्धौ असिद्धौ च समः। (४।२२)

" जो सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करता है," सुख मिलनेपर जो गर्वित नहीं होता और दुःखसे जो हताश नहीं होता, लाभ से जो घमंड नहीं करता और हानिसे जो त्रस्त नहीं होता, कर्मकी सिद्धि मिलनेपर जो उन्मत्त नहीं होता और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साहित नहीं होता अर्थात्—

(११) द्वन्द्वातीतः। (४।२२)

" जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके परे पहुंचा है।" द्वन्द्वोंसे जो पराभूत नहीं होता, द्वंद्वोंके होनेपर जो अपने सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होता, द्वंद्वोंका हमला होनेपर भी जो अपने सन्मार्गके स्थानमें स्थिर रहता है;

(१२) विमत्सरः। (४।२२)

" जो दूसरे का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं करता," जो किसी का मत्सर नहीं करता, दूसरे के वैभवके विषयमें जिसके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं उत्पन्न होता;

(१३) मुक्तः। (४।२३)

" वह मुक्त कहलाता है।" जो पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त है उसको मुक्त कहते हैं। इस मुक्तके और दो लक्षण ये हैं—

(१४) ज्ञानावस्थितचेताः। (४।२३)

" ज्ञान में जिसका चित्त स्थिर रहता है," ज्ञान का अर्थ है (मोक्षे धीः) मोक्षके विषयमें बुद्धिका स्थिर होना। इस मोक्षविषयक ब्रह्मज्ञानमें जिसका चित्त एकाग्र होकर रहता है, कभी उस ब्रह्मज्ञानको छोडकर दूसरे भोग विषयोंमें नहीं भटकता, स्वभावसेहि जिसका चित्त ब्रह्मज्ञानमें रमता है, तथा—

(१५) ज्ञानाग्निदग्धकर्मा। (४।१९)

" जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुके हैं," ब्रह्मज्ञान किंवा मोक्षज्ञान प्राप्त होनेसे जिसमें अपने भोगवर्धनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति नहीं रही है, जो केवल ब्रह्मरूप किंवा आत्मरूपसे रहता है, जागतिक भोगोंके विषयमें जिसकी प्रवृत्ति ही नहीं रहती, शुद्धज्ञानसे जिसे शुद्ध यज्ञरूप कर्म होते हैं, वह मुक्त है।

(१६) यज्ञाय आचरतः कर्म
समग्रं प्रविलीयते। (४।२३)

" पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य यज्ञके लिये जो कर्म करता है, वह कर्म सबका सब लयको प्राप्त होता है।" अर्थात् उस कर्मका दोष उसको नहीं लगता। यज्ञमें तीन कर्तव्य होते हैं- (यज्ञ= देवपूजा- संगतिकरण-दान) जो सत्कार करने योग्य हैं उन सज्जनोंका यथायोग्य सत्कार करना, संगतिकरण अर्थात् संघटना द्वारा जनतामें बल की वृद्धि करना, और दीनोंकी सहायता करना, इस त्रिविध कर्म का नाम यज्ञ है। इस प्रकारके यज्ञ कर्म वह करता है, परंतु ये कर्म करते हि लीन हो जाते हैं, इसलिये ऐसे कर्मोंका दोष उस को नहीं लगता। यही बात निम्नलिखित वचनों में कही है--

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।
(४।२०)

कृत्वाऽपि न निबध्यते॥ (४।२२)

केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति॥
(४।२१)

वह मुक्त मनुष्य अथवा अनासक्त मनुष्य 'कर्म' करनेके लिये प्रवृत्त हुआ तो भी कर्म न करनेके समान निर्दोष रहता है। कर्म करके भी बद्ध नहीं होता। केवल शारीरिक कर्म करने पर भी वह पापका भागी नहीं होता।" शरीररक्षणार्थ आवश्यक कर्म करनेपर भी उसको उन कर्मोंसे दोष नहीं लगता है।

कर्ममें अकर्मता।

इन पांच श्लोकोंमें यह एकहि विषय कहा है। (कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्ममें अकर्म देखनेका उपदेश श्लोक १८ में कहा है। इस तरह कर्म में अकर्म का अनुभव कौन कर सकता है, इस प्रश्नका उत्तम विवरण इन पांच श्लोकोंमें कहा है। जो इन गुणोंसे युक्त है वह कर्म में अकर्म देखता है, अर्थात् कर्म करके भी न करने के समान शुद्ध रहता है किंवा कर्म करके भी उन कर्मोंके दोषोंसे वह दूर रहता है। कर्म के दोषोंसे बचनेकी यह युक्ति है। भोगोंपर आसक्ति न धरनेसे सब कर्मों के दोष दूर होते हैं, अब कौन मनुष्य कर्म के दोषोंसे बद्ध होते हैं, इसका विचार अब देखिये-

भोग-मार्ग।

१) जो लोग अपने कामोपभोग बढानेके लिये हि कर्म का प्रारंभ करते हैं, (२) जो अनेक आशापाशों से कार्य करते हैं, (३) जो फलभोगोंपर आसक्त हैं, (४) जो भोगोंका संग करते हैं, (५) जो अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करता है, (६) जो अपने सुख के लिये दूसरोंपर अवलंबित रहता है, (७) जो सदा अतृप्त और भूखा होता है, (८) जो प्राप्त वस्तु में कभी सन्तुष्ट नहीं रहता, (९) जो अपने मनको भोगोंमें स्वैर भटकने देता है, (१०) लाभ होनेपर जिसे घमंड होती और हानि होनेपर जो उदास होता है, (११) इस तरह सब द्वन्द्वोंसे जो मारा जाता है, (१२) जो भाग्यवानोंका मत्सर और द्वेष करता है, जो उनसे ईर्ष्या करता है, (१३) जो इन भोगोंके बंधनों को तोडना नहीं चाहता, (१४) जो आत्मज्ञान का द्वेष करता है और भोगोंके विषयोंका ही सदा विचार करता है, (१५) जो अपने स्वार्थ के लिये सब कर्म करता है, वह अपने कर्मोंके दोषोंसे प्रतिसमय बांधा जाता है, जो कर्म वह करता है उसके संपूर्ण दोषोंसे वह दोषी होता है, और उन दोषोंके कारण पाप और दुःखका भागी होता है। ऐसे जो पुरुष पाठकोंके परिचित होंगे, उनके दुःखोंका विचार करनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि, यह भोगों की आसक्ति का मार्ग निःसन्देह दुःखकारक है।

शारीर कर्म।

यहां (शारीरं केवलं कर्म) केवल शारीर कर्म करनेवाला संयमी मनुष्य (किल्बिषं नाप्नोति) पापका भागी नहीं होता, ऐसा कहा है, अतः यहां 'शारीर कर्म' का अर्थ क्या है, इस का विशेष विचार करना आवश्यक है। यह विचार अब करते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१

"जिसने आशा छोड दी है, अन्तःकरण का संयम किया है, और सब वस्तुओंका संग्रह करना भी छोड दिया है, उसको, केवल शारीरिक कर्म करनेपर पाप नहीं लगता।" यह इस श्लोक का आशय है।

ईशदास्य के कर्म।

आशा छोडनेसे वासना का कार्य नहीं होता, अन्तःकरण का संयम करनेसे मनका कार्य नहीं होता, वस्तुसंग्रह न करनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति रक्षा वृद्धि आदिके विषयमें जो यत्न करने चाहिये वे नहीं होते, इस तरह उसके सब कर्म स्वयं हि बंद होते हैं। जिसके मनमें भोग प्राप्त करने की आकांक्षा है, अन्तःकरण स्वैर संचार करता है और जो भोगसाधनोंका संग्रह करता है वही

तो सदा सर्वदा भोगके कार्यमें व्यग्र रहता है। परंतु जिसकी वासना का क्षय हुआ, चित्तका संयम हुआ और जो वस्तुसंग्रह नहीं करता उस से किस प्रेरणासे कर्म होंगे? अर्थात् वासना का क्षय और मनःसंयम होते हि वह ब्रह्मरूप आत्मा से युक्त हुआ, उसमें निजकी कोई प्रेरणा नहीं रही, अतः उसके जो कार्य होंगे, वे परमेश्वरीय प्रेरणासे होंगे। उसका चित्त तो शांत है, उससे कार्य न होगा, अतः उसके शरीर से हि जो कुछ होगा वह शारीर कर्म बनेगा। इस तरह जो शारीरिक कर्म बनता है, उसमें इस कर्ताकी प्रेरणा न होनेसे इसको इस शारीरिक कर्मका दोष नहीं लग सकता। और अतः यह शारीरिक कर्म करनेपर भी वह निर्दोष रहता है।

उदाहरणार्थ देखिये कि एक गुलाम या दास है, स्वामी की आज्ञासे वह कार्य करता है, मनमें न होते हुए भी उसको कर्म करने पडते हैं, अतः किये हुए कर्मोंसे वह दास दोषी नहीं होता, क्यों कि उस कर्ममें उसका मन नहीं होता। इसी तरह यह परमेश्वर का भक्त परमेश्वरका अनन्यशरण दास होता है, उसकी मन बुद्धि चित्त अहंकार वासना आदि सब परमेश्वरमें लीन हो चुकी हैं, उसका केवल शरीर हि यहां मरणपर्यंत रहता है, इसकी पर्वाह इसको नहीं है, वह ईश्वरीय प्रेरणासे हलचल करता है और उससे जो कुछ ईशप्रेरणासे शारीरिक कर्म होते हैं, उससे उसको कोई दोष नहीं लगते। जब अपने सुखके लिये उसकी प्रेरणाही नहीं है, जब उसका शरीर परमेश्वर का साधन बना, तब उस शरीरसे हुए कर्मसे उसको दोष किस तरह लग सकता है?

शरीरनिर्वाहके कर्म।

यहां " केवलं शारीरं कर्म " का अर्थ ' शरीर से होनेवाले स्वाभाविक कर्म किंवा शरीरनिर्वाह के लिये अत्यंत आवश्यक जो कर्म हैं वे कर्म " ऐसा दो प्रकारसे होता है। जब उसने भोगोंकी आशा पूर्णतासे छोड दी, सब इंद्रियोंका संयम किया और सब भोगवस्तुओंके संग्रह करनेका भी त्याग किया, तब उससे भोगप्राप्त्यर्थ कर्म होनेकी कोई संभावना ही नहीं है। इसका मन इस समय ऐसे कर्मोंमें नहीं लग सकता, वह तो इस समय ब्रह्मात्मा बन जाता है!! जब तक शरीर रहेगा, तब तक शरीरनिर्वाह के लिये उससे कुछ कर्म अवश्य होंगे, ऐसे शरीरनिर्वाहार्थ किये कर्मोंसे वह बद्ध नहीं हो सकता, क्यों कि इन कर्मोंका संबंध उससे नहीं रहता। श्वासोच्छ्वास, मलमूत्रादि उत्सर्ग, भोजन, शयन, स्नान, आदि सब कर्म शारीरिक कर्म हैं— शरीरनिर्वाह के लिये किये जानेवाले ये कर्म हैं— अतः ये इसको बाधक नहीं हो सकते।

कर्मेंद्रियों के कर्म।

यहां इस श्लोकके विषय में कईयोंका ऐसा मत है कि यहां " शारीरं कर्म " का अर्थ 'शरीर या कर्मेंद्रियोंसे होनेवाले कर्म' ऐसा है। इस प्रकार अर्थ करनके लिये वे आधार देते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥ भ० गी० ५

"कर्मयोगी शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल इंद्रियों से भोगवासना छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं।" यहां जिस भावसे कर्माचरण लिखा है, वही अर्थ—

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
(गी० ४-२१)

यहां है। इस तरह के कर्मवादी कहते हैं कि, यहां के 'शारीरं कर्म' का अर्थ 'शरीर धारणा के लिये कर्म' नहीं है परंतु 'कर्मेंद्रियोंसे होनेवाला कर्म' ऐसा ही यहां अर्थ है। इस मतका विचार इस स्थानपर अवश्य करना चाहिये—

जो कहते हैं 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं' इसका अर्थ 'कर्मेंद्रियोंसे हि कर्म करने वाला पाप का भागी नहीं होता' है, तो इस अर्थ का तात्पर्य यह होगा, कि "मन बुद्धि और ज्ञानें-

द्रियोंसे जो कर्म होते हैं, उनके करनेपर वह कर्म कर्ता पाप का भागी अवश्य होगा।' क्योंकि वहां 'केवलं शारीरं कर्म' ऐसा उल्लेख है। यदि केवल शारीर कर्म से पाप नहीं लगता, तो मानसिक बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा! परंतु 'आशारहित संयमी और अपरिग्रहशील को मानसिक या बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा' यह कल्पनाही अयुक्त प्रतीत होती है, इस कारण उक्त मतवादियोंका अर्थ अयुक्त प्रतीत होता है।

"शारीरं कर्म" का अर्थ 'शरीरद्वारा किया कर्म' ऐसा करके उसका दोष कर्ताको नहीं लगता, ऐसा श्लोक का आशय माननेपर ऐसा मानना पडेगा कि "शरीरद्वारा अथवा कर्मेंद्रियोंके द्वारा निषिद्ध कर्म करनेपर भी कर्ताको दोष नहीं लगते।" परंतु निषिद्धकर्मोंके करनेसे दोष नहीं लगता ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण का आशय मानना सर्वथा अयोग्य है क्यों कि निषिद्ध कर्म सर्वकाल निषिद्ध होते हैं। अच्छा यदि उसका अर्थ "शास्त्रविहित कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता" ऐसा माना जाय, तो शास्त्रविहित कर्मोंसे दोष लगता है ऐसा किसीका भी मत नहीं था। अतः भगवानने ऐसा यह व्यर्थ उपदेश क्यों किया? इस तरह दोनों रीतियोंसे यह उपदेश व्यर्थ और अनर्थकारक सिद्ध होता है। अतः 'शारीरं कर्म' का अर्थ यहां 'शरीर द्वारा किया कर्म' ऐसा नहीं है, परंतु 'शरीर यात्राके लिये अत्यंत आवश्यक कर्म' ऐसा ही मानना उचित है।

'शरीर निर्वाह के लिये किये जानेवाले कर्म आशारहित संयमी पुरुष को बाधक नहीं होते' इसका हेतु और भी एक हो सकता है। जो शरीर परमेश्वरने दिया, वह उसकी सेवामें अर्पण करनेसे उस का पालन परमेश्वरीय नियमों से हि होना योग्य है। अतः शरीरनिर्वाहके लिए कर्म करनेका अर्थ हि परमेश्वरीय नियमों का पालन करना है। परमेश्वरीय नियमोंका पालन करनेसे किसीको दोष लगनेकी संभावना ही नहीं है।

अतिसंग्रहका दोष।

मनुष्य सामाजिक जीवनमें 'अपने पास अतिसंग्रह' करनेका दोष करता है। अतिसंग्रह करना बडा दोषकारक है, क्यों कि किसी एक के पास वस्तुओंका अतिसंग्रह हुआ तो दूसरेके पास उतने प्रमाणसे न्यूनता होगी। किसी एकने भोजनपदार्थोंका अतिसंग्रह अपने पास किया, तो दूसरे कई भूखे मरेंगे। अर्थात् वह अतिसंग्रही मनुष्य दूसरोंको भूखे मारनेका दोषी होता है। हरएक बातमें अर्थात् अधिकार, धन, विद्या, राज्यशासन आदि सब व्यवहारोंमें अतिसंग्रह बडा भारी दोष है। अति--संग्रह करनेकी इच्छा के कारण इस जगत् में जितने युद्ध हुए हैं, उतने किसी अन्य कारणों से न हुए होंगे। इस तरह दोषोंका जनक यह अतिसंग्रह है। इस को दूर करने के लिये 'त्यक्त-सर्व-परिग्रह' यह आदर्श भगवद्गीता द्वारा जनताके सम्मुख रखा गया है। 'संग्रहत्याग' किंवा 'अपरिग्रह का व्रत लेनेका अर्थ अपने पास का वस्तुसंग्रह सब जनताकी भलाई के लिये समर्पण करना और पश्चात् जीवननिर्वाह की अपेक्षासे अधिक संग्रह न करना। अब पाठकों के मन में इस बात का प्रकाश हुआ होगा कि 'अतिसंग्रह' की वृत्तिसे पाप किस तरह होता है और 'अपरिग्रह' की वृत्तिसे मनुष्य निष्पाप किस रीतिसे होता है।

आगे (यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते) 'यज्ञके लिये कर्म करनेवालेका किया कर्म संपूर्णतया नष्ट होता है' और कर्म नष्ट होनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य शुद्ध होता है। इस विधान का अर्थ ध्यानमें आनेके लिये 'यज्ञ' कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये। यह यज्ञ का विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

(१०) यज्ञ–विचार।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अन्वयः— ब्रह्म अर्पणं, ब्रह्म हविः, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्, ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन ब्रह्म एव गन्तव्यम् ॥ २४ ॥ अपरे योगिनः दैवं एव यज्ञं पर्युपासते; अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन यज्ञं एव उपजुह्वति ॥ २५ ॥ अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति, अन्ये शब्दादीन् विषयान् इंन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥ अपरे ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति ॥ २७ ॥ अपरे संशितव्रताः द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः तथा च स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः यतयः (सन्ति) ॥ २८ ॥ तथा अपरे अपाने प्राणं, प्राणे च अपानं जुह्वति। (तथा अपरे) प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः (सन्ति) ॥ २९ ॥

(यज्ञमें) अर्पण (की क्रिया) ब्रह्म है, हवन की वस्तु ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मने हवन किया है, (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिसे सभी कर्म ब्रह्मरूप हुए हैं, वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ कोई कोई कर्मयोगी देवताओंके संबन्धका यज्ञ करते हैं, और कोई ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञ का ही यजन करते हैं ॥ २५ ॥ और कोई श्रोत्र आदि इंद्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं। और कोई दूसरे शब्द आदि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं ॥ २६ ॥ और कई लोग ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें सब इन्द्रियकर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ २७ ॥ दूसरे कोई अति कठीन व्रत करनेवाले, द्रव्यसे यज्ञ करनेवाले, तपसे यज्ञ करनेवाले, योगसे यज्ञ करनेवाले, और स्वाध्यायके ज्ञानसे यज्ञ करनेवाले, यति होते हैं ॥ २८ ॥ तथा दूसरे कई अपानमें प्राणका और प्राणमें अपानका हवन करते हैं,

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वयः- अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञक्षपितकल्मषाः (सन्ति) ॥३०॥ हे कुरुसत्तम ! यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनं ब्रह्म यान्ति । अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति, कुतः अन्यः ? ॥ ३१ ॥ एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे वितताः (सन्ति त्वं) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि । एवं ज्ञात्वा (त्वं) विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥ हे परन्तप ! द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । हे पार्थ ! सर्वं अखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

और दूसरे कोई प्राण और अपानकी गतिको रोक कर प्राणायाममें तत्पर होते हैं ॥ २९ ॥ और कई लोग आहारको नियमित कर प्राणोंमें प्राणोंका हवन करते हैं, ये सभी लोग यज्ञके जाननेवाले और यज्ञोंद्वारा अपने पापको दूर करनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥ हे कौरवश्रेष्ठ अर्जुन ! ये यज्ञ करके अवशिष्ट रहे अमृत का भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करनेवाले केलिये जब यह लोक (सुखदायक) नहीं है, तब तो भला उसको परलोक कहांसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥ इस प्रकार अनेक तरह के यज्ञ ब्रह्मके मुखमें (वेदमें) विस्तारित हुए हैं, तू यह समझ कि ये सब कर्मसे होते हैं । यह ज्ञान होनेसे तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है । क्यों कि हे पार्थ ! सब प्रकार के कर्मोंका पर्यवसान ज्ञान में हि होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— यजमान, अग्नि, हवन सामग्री, अर्पणक्रिया किंवा यज्ञके सब साधन ब्रह्मरूप हैं, ऐसा जो अनुभव करता है, वह ब्रह्म बनता है ॥ कई लोग देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और कई ब्रह्मके उद्देश्यसे यज्ञ का समर्पण करते हैं ॥ कई लोग इंद्रियोंको संयमरूप अग्निमें, विषयोंको इंद्रियोंमें और इन्द्रियोंके और प्राणोंके कर्मोंको आत्मसंयममें हवन करते हैं ॥ कई लोग द्रव्यसे, तपसे, योगसे और अध्ययनसे अथवा ज्ञानसे यज्ञ करते हैं ॥ और संयम करते हैं । प्राणायामाभ्यासी कोई योगी अपान का प्राणमें और प्राणका अपानमें यज्ञ करते हैं ॥ दूसरे कई योगी आहारको नियमित करके प्राणका प्राणमें यज्ञ करते हैं । ये सब लोग

यज्ञ द्वारा अपने पापका नाश करनेवाले हैं॥ यज्ञ करके जो बच जाता है उस अमृत का जो सेवन करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यज्ञसे जैसा इस लोकमें सुख मिलता है, उसी प्रकार परलोकमें भी सुख मिलता है॥ ऐसे अनेक यज्ञ वेदमें हि वर्णित हुए हैं, ये सब यज्ञ कर्मसे ही सिद्ध होते हैं। सब यज्ञोंकी सिद्धता कर्मसे होती है यह तत्व जो जानता है वह मुक्त होता है॥ द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है, क्यों कि सब कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें हि होता है, इस कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ २४—३३॥

विविध यज्ञ।

(२४—३३) इन दस श्लोकोंमें अनेक प्रकार के यज्ञोंका वर्णन है। ये यज्ञ भी संक्षेपसे कहे हैं। परंतु इनके विचारसे यज्ञ की व्यापक कल्पना पाठकों को हो सकती है। यहां जो यज्ञ कहे हैं, उनकी सुबोधता के लिये उन यज्ञोंको कोष्टक रूप में यहां रखते हैं—

मुख्य यज्ञ	भेद	यज्ञभेद	गीताध्याय	यजमान	देवता	अग्नि	हवि	साधन	फल
१ ब्रह्मयज्ञ	१	१ ब्रह्मयज्ञ	४। २४;	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्मरूपता
परमात्मयज्ञ		आत्मयज्ञ		आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	”
		अहं क्रतुः	९। १६	अहं	अहं	अहं	अहं	अहं	”
		जीवयज्ञ		जीव	परमात्मा	परमात्मा	जीव	जीव	”
		यज्ञ	४। २५	यज्ञ	यज्ञ	ब्रह्म	यज्ञ	यज्ञ	”
	(आत्म)	ज्ञानयज्ञ		ज्ञाता	ब्रह्म	शिष्य	ज्ञान	वाणी	”
२ द्रव्ययज्ञ	२	२ द्रव्ययज्ञ	४। २८				धनादि		पापनिवृत्ति
देवयज्ञ		३ देवयज्ञ	४। २५	योगी	देवता				चित्तशुद्धि
३ शरीरयज्ञ	२	४ ज्ञानेंद्रिययज्ञ	४। २६			संयम	ज्ञानेंद्रिय		”
		५ विषययज्ञ	”			इंद्रिय	विषय		”
४ वाग्यज्ञ	१	६ स्वाध्यायज्ञान यज्ञ	४। २८			(शिष्य)	(ज्ञान)		”
		ज्ञानयज्ञ							
		विज्ञानयज्ञ							
५ प्राणयज्ञ	४	७ प्राणयज्ञ	४। २९			अपान	प्राण		”
		८ अपानयज्ञ	”			प्राण	अपान		”
		९ प्राणापानयज्ञ	”				प्राणापान		”
		१० आन्तरप्राणयज्ञ	४। ३०			प्राण	प्राण		”
६ बुद्धियज्ञ	१	११ योगयज्ञ	४। २८				समबुद्धि		”
७ कर्मयज्ञ		१२ तपोयज्ञ	४। २८						”
		१३ जपयज्ञ	१०। २५						”
		१४ इंद्रियप्राण·	४। २७			आत्मसंयम	प्राणकर्म		”
		कर्मयज्ञ				योगाग्नि	इंद्रियकर्म		”

ब्रह्मयज्ञ ।

इन यज्ञों में सबसे पहिला यज्ञ ' ब्रह्मयज्ञ ' है। ब्रह्मयज्ञ के परमात्मयज्ञ, जीवात्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ ये तीन अर्थ हैं। जो ब्रह्मयज्ञ नामक अनुष्ठान द्विज करते हैं, वह ज्ञानयज्ञ है; इस ज्ञानयज्ञके भी और दो भेद हैं, एक भौतिक ज्ञानयज्ञ, जिसको विज्ञानयज्ञ भी कह सकते हैं और दूसरा (मोक्षे धीर्ज्ञानं) मोक्षज्ञानयज्ञ । भौतिक ज्ञानयज्ञमें सृष्ट पदार्थों की विद्या शिष्यको दी जाती है, जिससे प्रापंचिक सुखोंकी वृद्धि हो सकती है। दूसरा मोक्षज्ञानयज्ञ है, इससे शान्ति अथवा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इस विषयमें वेदमें यह मंत्र देखने योग्य है—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥
अथर्व० ११।८।२३

" (विद्या) ब्रह्मज्ञान, (अविद्या) प्राकृतिक विज्ञान और जो कुछ उपदेश करनेयोग्य क्रियाकर्म है वह सब ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और (ब्रह्म) अथर्ववेद रूप सब ज्ञान (शरीरं) मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हुआ है। " यहां दो प्रकार के ज्ञान और उपदेश्य कर्म मनुष्यमें वेदरूपसे प्रविष्ट हुए हैं ऐसा कहा है। आत्मज्ञान, प्रापंचिक व्यवहारज्ञान और अनुष्ठानसंबंधी ज्ञान यह सब ज्ञान प्राप्त करने योग्य है। यहां कई लोग ' अविद्या ' शब्दका अर्थ ठीक प्रकार समझते नहीं और ' अज्ञान ' अर्थमें वह शब्द है ऐसा मानते हैं, इस लिये उसके अर्थके विषयमें थोडासा अधिक मनन करना चाहिये—

आत्मज्ञान	अनात्मज्ञान
ब्रह्मज्ञान	सृष्टिज्ञान
आत्मविद्या	अनात्मविद्या
ब्रह्मविद्या	अब्रह्मविद्या
ईशविद्या	अनीशविद्या
(०) विद्या	अ (०) विद्या

" विद्या और अविद्या " शब्दोंका यह अर्थ है। विद्या शब्दका अर्थ आत्माकी विद्या, और अविद्या शब्दका अर्थ अनात्मा अर्थात् सृष्टिकी विद्या है। यही अर्थ निम्नलिखित वेदमंत्रमें है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
काण्व य० ४०।१२-१४; ईश उ० ९-११

" केवल (अ- विद्या) प्रापंचिक विद्यामें जो रमते हैं वे भी दुःखी होते हैं और जो केवल (विद्या) आत्मज्ञानमें रमते हैं [और उदरपोषणादिके लिये भी कुछ यत्न नहीं करते] वे भी अधिक कष्ट का अनुभव करते हैं। प्रापंचिक विद्यासे एक लाभ है और ब्रह्मविद्यासे दूसरा लाभ है। अतः जो मनुष्य (उभयं सह) दोनों विद्याओंको साथ साथ प्राप्त करनेसे हितकारी मानता है, वह प्रापंचिक विद्यासे कष्टोंको दूर करके ब्रह्मज्ञानसे अमृतमय मोक्ष प्राप्त करता है। "

पाठक मननपूर्वक इस ज्ञानयज्ञका महत्त्व जानें और उससे अपना इहपरलोकमें कल्याण साधन करें। मनुष्यको इहलोकमें उत्तम व्यवहार चलानेके लिये सृष्टिविद्याका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, और पारलौकिक कल्याण के लिये भी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति करनी चाहिये। ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेसे हि मनुष्यका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्रह्मयज्ञमें जो ऋषियोंका और उनके ग्रंथोंका नामनिर्देश है, वह इस दोनों प्रकार के ज्ञानका बोधक है। पाठक इसका विचार करके और ब्रह्मयज्ञ द्वारा यथायोग्य दोनों प्रकारका ज्ञान प्राप्त करके अपनी उन्नतीका साधन करें। इस विषयमें वाजसनेयी यजुर्वेदमें इस तरह लिखा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् । क्षत्राय राजन्यम् ।
नृत्ताय सूतम् । गीताय शैलूषम् ।

धर्माय सभाचरम्। हेत्यै धनुष्कारम्।

वा० यजु० अ० ३०

" मोक्षज्ञान की प्राप्ति करनेके लिये ज्ञानीके पास, शौर्यके लिये वीरके पास, नृत्य सीखना हो तो नर्तक के पास, गीता सीखनेके लिए गायकके पास, धर्मनियम जानना हो तो धर्मसभाके सदस्यके पास, और हथियार प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हथियार बनानेवाले के पास जा। " इस तरह प्रापंचिक और पारमार्थिक विद्याकी प्राप्ति के विषयमें वेदमें कहा है, यह सब मनन करने योग्य है।

वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ का विषय बड़ा विस्तृत है, परंतु उसकी सब व्याप्तिका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है, अतः यहां इस विषयमें इतना ही पर्याप्त है। पाठक इतनाही स्मरण रखें कि इस ब्रह्मयज्ञमें सृष्टिविद्या और ब्रह्मविद्या ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेका उपदेश किया है। यही ज्ञानयज्ञ है। यह ज्ञान गुरु अपने शिष्यके अन्तःकरणमें हवन करता है। इस यज्ञमें गुरु यजमान है, शिष्य का अन्तःकरण अग्नि है, उसमें इस ज्ञानरूपी हविकी आहुतियां डाली जाती हैं।

परमात्मा का आत्मयज्ञ।

ब्रह्मयज्ञका दूसरा अर्थ है परमात्मयज्ञ, ब्रह्मका यज्ञ अथवा जीवात्मयज्ञ। प्रथमतः हम परमात्मा के अथवा ब्रह्मके यज्ञका विचार करेंगे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें निम्न लिखित पंक्तियां मनन करने योग्य हैं—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत, तदैक्षत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानाँ श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति॥ श० ब्रा० १३।४।३।१

" स्वयंभु ब्रह्मने तप किया, उसने देखा कि तपमें सचमुच अनन्तत्व नहीं है। इसलिये उस ब्रह्मने कहा कि मैं अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ करूंगा और सब भूतोंका आत्मामें हवन करूंगा। पश्चात् उसने अपने आत्माका सब भूतोंमें हवन किया और आत्मामें सब भूतोंका हवन किया। इस से उस ब्रह्मको श्रेष्ठता स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त हुआ। इस तरह जो मनुष्य अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र के लिये करता है वह श्रेष्ठता, स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है। "

यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञका वर्णन है। स्वयंभु ब्रह्म अपने हि तेजसे प्रकाशित था। तब उसको किसीने नहीं जाना। परंतु जब उसने अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र या संपूर्ण जगत् के लिये किया, तब उसकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई, उसको स्वाराज्य प्राप्त हुआ और सब जगत् का आधिपत्य इसी कारण उसको मिला। ब्रह्मने जब अपने सर्वस्वका यज्ञ दूसरों की भलाईके लिये किया तब उसकी श्रेष्ठता मानी गयी। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसर्वस्व का यज्ञ मनुष्यमात्र की अथवा प्राणिमात्र की भलाई के लिये करेगा, तब वह श्रेष्ठता प्राप्त करेगा, उसको " स्वराज्य " और उसको राष्ट्रमें अधिकार का स्थान प्राप्त होगा। यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञ द्वारा सब मनुष्योंको उपदेश दिया है कि, वे भी उसी तरह ब्रह्मयज्ञ अर्थात् आत्मयज्ञ करें। यहां ब्रह्मयज्ञ और आत्मयज्ञ य दोनों शब्द आत्मसर्वस्वके समर्पण के अर्थमें हैं। इसी तरह विश्वकर्मा (विश्वकी रचना करनेवाले परमात्मा) के आत्मयज्ञका उल्लेख देखिये—

विश्वकर्माका आत्मयज्ञ।

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहुवाञ्चकार। स आत्मानमपि अन्ततो जुहुवाञ्चकार तदभिवादिन्येषर्भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति।

निरु. दै. १०।२६

"भुवनोंके निर्माता जगत्कर्ता परमात्माने आत्मसर्वस्वका यज्ञ किया। उसने प्रथम सब भूतोंका यज्ञ किया और अन्तमें अपने आत्मसर्वस्व का भी पूर्णतया समर्पण किया। यह आशय अगले मंत्रमें कहा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥

ऋ० १०।८१।१

"(यः नः पिता) जो हम सबका पिता (ऋषिः) ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा है, उसने इन सब भुवनोंका समर्पण किया, और यश की इच्छा करनेवाला वह (प्रथम—छद्) पहिले स्थान के लिये योग्य होता हुआ भी (अ-वरान् आविवेश) कनिष्ठों में मिलकर रहने लगा।" यही उसका आत्मयज्ञ है और यही उसकी श्रेष्ठताका हेतु है। वह उच्च स्थानपर विराजमान होनेका अधिकारी होनेपर भी वह कनिष्ठों के साथ मिल जुलकर रहने लगा। परमेश्वर सबसे ऊंचा है, तथापि वह निकृष्ट से निकृष्ट के साथ रहता है और उसमें चैतन्य का प्रकाश करता है। इसी कारण उसकी योग्यता सबसे विशेष हुई है। इसी तरह जो मनुष्य अपनी उच्चता की घमंड छोडकर नीचसे नीच दबी हुई जातिके उद्धार के लिये आत्मसमर्पण करेगा उसका महत्त्व अधिक होगा। यह परमात्मा के आत्मयज्ञ का स्वरूप है। इस प्रकार जो आत्मयज्ञ करता है वही विश्वविजयी होता है—

विश्वजित् विश्वभृद्विश्वकर्मा। अथर्व ४।११।५

"जो विश्वके सुखके लिये कर्म करता है, जो विश्वका भरण पोषण करनेके लिये यत्नवान् होता है, वही (विश्वजित्) विश्वविजयी होता है।" अर्थात् जो जगत् के लिये आत्मसमर्पण करता है वही विश्वविजेता हो सकता है। आत्मयज्ञसे ही जगत् में विजय करना संभव है। इसी विषयमें और देखिये--

नारायण का आत्मयज्ञ।

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स एतं पुरुषमेधं ... आहरत्, तेनायजत, तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् ... यजते ॥

शत० ब्रा० १३।६।१।१

"परात्पर पुरुष— नारायण— ने इच्छा की कि मैं सब भूतों में श्रेष्ठ होऊं और मैं हि सब बनूं। उसने यह पुरुषयज्ञ किया और वह सब भूतों में श्रेष्ठ बना। जो इसका तत्त्व जानता है वह आत्मयज्ञ करने द्वारा सब भूतों में श्रेष्ठ बन सकता है।" इस तरह ब्राह्मण ग्रंथों में परमात्माके आत्मसमर्पणरूप यज्ञका वर्णन है। यही वेदमंत्रोंका तात्पर्य है, यह ब्राह्मणग्रंथों की मनघडन्त बात नहीं है। इस विषय के कुछ मंत्र ऊपर दिये हैं। इस परमात्मा के आत्मसर्वस्व समर्पणरूप आत्मयज्ञ का सीधा तात्पर्य यह है— "परमात्मा निजानन्दमें था। उस समय उसको जाननेवाला और उसकी श्रेष्ठता पहचाननेवाला कोई नहीं था। उसने अपनी शक्तिका समर्पण करके सब सृष्टीकी रचना की, उसका पालन किया, उसकी व्यवस्था की, इस आत्मसमर्पण के कारण वह सब जगत् का अधिष्ठाता बना, समर्थ बना और उसका यश सर्वत्र हुआ। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसमर्पणद्वारा सब मनुष्योंका हित करनेका यत्न करने में अपनी शक्तिसमर्पण की पराकाष्ठा करेगा, वही सब जनतामें माननीय, यशस्वी और श्रेष्ठ पुरुष बनेगा।" अर्थात् आत्मयज्ञ से श्रेष्ठता प्राप्त होती है। आत्मयज्ञ, परमात्मयज्ञ, नारायणयज्ञ, पुरुषयज्ञ आदि शब्दोंसे यह तात्पर्य पाठक यहां देखें और इसको अपने आचरण में लानेका यत्न करें।

मनुष्यका आत्मयज्ञ।

आत्मयज्ञ तो जैसा परमात्मा करता है, उसी के अनुसार जीवात्माको अर्थात् मनुष्यमात्र को करना आवश्यक ही है। मनुष्यकी उन्नतिका यही एकमात्र साधन है। श्रीमद्भगवद्गीता में जो यज्ञ का महत्त्व वर्णन किया है उसका यही हेतु है। प्रत्येक यज्ञ के लिये परमात्मा का प्राथमिक यज्ञ आदर्श है। पूर्वस्थानमें परमेश्वर बडा था तथापि वह (अवरान् आविवेश) कनिष्ठोंमें भी जाकर प्रविष्ट हुआ, उनमें आवेश उत्पन्न करने लगा, कनिष्ठों के पास रहने लगा। ऐसा जो कहा है वह सब मनुष्यमात्रको आदर्श समझना योग्य है। सब मनुष्य यह आदर्श अपने सामने रखें और अपने अधिकार की घमंड मनमें न रखते हुए कनिष्ठ मनुष्यों के पास जांय, उनकी अवस्था देखें, उनका सुधार करने का यत्न करें और उनकी सेवासे अपनी कृतकृत्यता होगी ऐसा विश्वास मनमें धारण करें। यही तत्त्व उक्त परमात्मयज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ में है और भगवद्गीतामें कहे 'सर्वभूतहिते रताः' (भ० गी० ५।२५; १२।४) सब भूतोंके हितमें रममाण होने की कल्पनामें है।

"ब्रह्मयज्ञ" शब्दके अर्थोंमें 'ब्रह्मद्वारा अथवा परमात्माद्वारा किया यज्ञ' यह एक अर्थ है, इस का विवरण यहां तक किया, ब्रह्मयज्ञ का दूसरा अर्थ 'ज्ञान द्वारा होनेवाला यज्ञ' है। इसका विचार इस लेखके प्रारंभ में किया है। ब्रह्मयज्ञका तीसरा अर्थ जीवात्मा द्वारा अथवा मनुष्य द्वारा किया जानेवाला ज्ञानयज्ञ है। इसका वर्णन मनुस्मृतिमें

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। (मनु० ३।७०)

अध्यापन ही ब्रह्मयज्ञ है, ऐसा कह कर किया है। यह ब्रह्मयज्ञ अध्ययन अध्यापन की प्रणाली यथायोग्य रीतिसे चलानेसे हो सकता है। 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः' (४।२८) इस शब्दद्वारा इस ब्रह्मयज्ञ का वर्णन यहां हुआ है। स्वाध्याय-प्रणाली यथायोग्य रीतिसे चलनेपर मनुष्यका और राष्ट्रका कल्याण निःसन्देह हो सकता है। जिस राष्ट्रमें स्वाध्याय बंद होगा, वह राष्ट्र गिर जायगा। ब्रह्मयज्ञ का चतुर्थ अर्थ 'ब्रह्मरूप बननेके लिये किया जानेवाला यज्ञ' है। इस अनुष्ठान करनेकी विधि (४।२४ में यहां) कही है। "यजमान ब्रह्मरूप है, अग्नि ब्रह्म है, हवनीय पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, यज्ञसाधन ब्रह्मरूप हैं, यज्ञक्रिया ब्रह्म है, हवन किये पदार्थ ब्रह्मरूप हैं। इस तरह सर्वत्र ब्रह्मरूपदर्शन जिसको होने लगा, वह ब्रह्म बनता है।" सब जगत् ब्रह्ममय, आत्मामय है, अतः उसको वैसा ही देखना यही ज्ञान है, इसी विषय में उपनिषदोंका कथन ऐसा है –

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। मांडूक्य० २

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० उ० ३।१४।१

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं। मैत्रि० उ० ४।६

" यह सब ब्रह्म है।" सब ब्रह्ममय है, सब ब्रह्मरूप है, अतः सबको ब्रह्मरूप मानना सत्यज्ञान है। ' सब ब्रह्मरूप है ' इसका अर्थ सब आत्मरूप है ' ऐसा भी होता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि यदि मैं आत्मरूप और दूसरा भी आत्मरूप है, तब एक दूसरे का सहायक सेवक अथवा भक्त हुआ, तो वह दूसरेका सहायक सेवक और भक्त नहीं होता, प्रत्युत "स्वयं अपने आत्माकाही सहायक सेवक अथवा भक्त होता है।" जिस समय सर्वत्र सब आत्मरूप दिखाई देता है, उस समय किसी मनुष्यने जनताके लिये आत्मसमर्पण किया, तो उसका अर्थ 'आत्माने आत्माके लिये ही समर्पण किया' ऐसा होता है। (सर्वभूतहिते रताः) सब भूतमात्रके हितमें तत्पर होनेका अर्थहि आत्महितमें तत्पर होना है, क्यों कि सर्वत्र ब्रह्मरूपता दिखाई देने लगी, तो उस समय कोई 'वह अलग और मैं उससे भिन्न' यह कल्पना ही नहीं रहती। इस समय 'परोपकार' भी 'स्वार्थ' बनता है। और स्वार्थ भी परोपकार होता है! देखिये –

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
वा० यजु. ४०।७; ईश० उ० ७

"जिस समय ज्ञानी मनुष्यके अनुभवमें सब भूत आत्मा ही हो गये, उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मनुष्य को शोक और मोह नहीं हो सकते।" शोक मोह तो 'मैं तू और वह' का भेद रहने तक होते हैं, जब सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन हुआ और भेद मिट गया, उस समय शोक मोह को स्थान ही कहां है ?

यजमान, अग्नि, ऋत्विज, हवनसामग्री, यज्ञ-साधन सब ब्रह्मरूप हैं, ऐसा अनुभव होना चाहिये, यह बात यहां (श्लो० ४।२४ में) कही है। यदि किसी को यह अनुभव हुआ, कि वह दूसरे को मारने लगा तो भी अपने आत्माको ही मारता है और दूसरोंके हितके लिये आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करने लगा, तो भी वह अपने आत्माके हितके लियेहि समर्पण करता है; भूखेको अन्न देना, तृषित को जल देना, दुखी मनुष्यके दुःख दूर करनेके लिये यत्न करना, यह सब आत्म-पूजा, परमात्मोपासना अथवा ब्रह्मयज्ञ ही है; जिसका ऐसा निश्चय होता है और जिस को ऐसा अनुभव होता है, वह सीधा ब्रह्म बनता है। इस तरह मनुष्य प्रारंभस्थितिसे अन्तिम परमोच्च अवस्था को प्राप्त होता है। प्रत्येक अवस्थामें 'ब्रह्मयज्ञ' का आशय कैसा लिया जाता है, इसका विवेचन यहां तक किया है, इस से यह ब्रह्मयज्ञ का विषय पाठकोंके ध्यानमें आगया होगा। अब सब की ब्रह्मरूपता के विषयमें एक वचन देखकर इस ब्रह्मयज्ञके विवरण को हम समाप्त करते हैं-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्,...य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। ... अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽह-मस्मीति न स वेद ॥
बृ० उ० १।४।१०

"प्रारंभमें ब्रह्म था, उसने अपने आपको देखा और जान लिया कि मैं ब्रह्म हूं, वह सब बना। जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, वह यह सब बनता है।...परंतु जो मैं भिन्न हूं और उपास्य देवता भिन्न है, ऐसे भेदभावसे देवता को देखता है, वह अज्ञानी है।" इस तरह ब्रह्मयज्ञकी अन्तिम स्थितिका वर्णन उपनिषदों में है। वेदमें यज्ञपदसे यही वर्णन किया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
ऋ० १।१६४।५०; १०।९०।१६

"देव यज्ञके द्वारा यज्ञ का यज्ञ करते थे। ये प्रारंभके धर्म थे। इस यज्ञ को करनेवाले बडे होकर स्वर्गको प्राप्त हुए, जहां पूर्व समयके साधक पंहुच चुके थे।" यहां यज्ञसे यज्ञका यज्ञ करनेका क्या तात्पर्य है, इसका विचार करना चाहिये। इसी मंत्रपर निरुक्त और ब्राह्मण ग्रंथमें इस तरह लिखा है—

साध्या देवा अग्रे अग्निनाग्निमयजन्त, ते स्वर्गं लोकमायन्। आदित्याश्चैव हांगिरसश्च तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त। ते स्वर्गं लोकमायन्। ऐ० ब्रा० १।१६; निरुक्त० १२।४१

"साध्य, आदित्य और अंगिरस इन देवोंने प्रारंभमें अग्नि द्वारा अग्निका यजन किया।" पाठक यहां देखें कि पूर्व स्थानके यज्ञ शब्द के स्थानपर यहां अग्नि शब्द है। इस का अर्थ देखनेके लिये निम्न लिखित शब्दोंका परस्पर संगतिसे विचार करिये-

ब्रह्मणा	ब्रह्म	हुतम्।	(गी० ४।२४)
यज्ञेन	यज्ञ	जुह्वति	(गी० ४।२५)
यज्ञेन	यज्ञं	अयजन्त।	(ऋ० १।१६४।५०)
अग्निना	अग्निं	अयजन्त।	(ऐ० ब्रा० १।१६)
,,	,,	,,	(निरु० १२।४१)
विश्वकर्मा	आत्मानं	जुहवांचकार।	(निरु० १०।२६)
नः पिता	,,	जुह्वत्	(ऋ० १०।८१।१)

स्वयंभु ब्रह्म आत्मानं जुहोति। (श०ब्रा० १३।४।३।१)
आत्मना आत्मानं अयजन्त
अहं क्रतुः अहमग्निः अहं हुतं (गी० ९।१६)

इन सब शब्दोंका अर्थ (आत्मना आत्मानं अयजन्त) आत्माने आत्माका यजन किया, यही है। वेदमंत्रोंमें, ब्राह्मणग्रंथमें और आधुनिक ग्रंथोंमें भिन्न भिन्न शब्दोंका प्रयोग होता है, परंतु उन सबका आशय एक ही है, यह बात इस तरह तुलना करनेसे विदित हो जाती है, यह प्रणाली पाठकों के ध्यानमें आजाय, इसी लिये यहां इतना विस्तृत विचार किया है। जो गीतामें ब्रह्मका ब्रह्ममें हवन होनेका वर्णन है, वही वेदमंत्रमें 'यज्ञ का यज्ञद्वारा यज्ञ' इन शब्दोंमें है, शब्द भिन्न हैं परंतु अर्थ एकही है। अस्तु इस तरह यहां ब्रह्म-यज्ञका विचार समाप्त करते हैं। यद्यपि इसका अधिक विवरण अभीष्ट है, तथापि यहां स्थानाभावके कारण इतनाही पर्याप्त है।

गीता में निम्न लिखित दो श्लोक परस्पर-समान हैं। और वे एक दूसरे का अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बडे उपयोगी हैं—

गीता. (४।२४)	गीता. (९।१६)
	अहं क्रतुः
	अहं यज्ञः
ब्रह्म अर्पणं	स्वधाऽहं
	अहं औषधं
	मंत्रोऽहं
ब्रह्म हविः	अहं एव आज्यं
ब्रह्म-अग्नौ	अहं अग्निः
ब्रह्मणा हुतम्	अहं हुतम्

जो बात 'ब्रह्म' शब्द द्वारा (श्लोक ४।२४में) बतायी है, वही 'अहं' शब्द द्वारा (श्लोक ९।१६ में) कही है। अतः 'ब्रह्म और अहं' का एक ही आशय है यह बात इससे सिद्ध होती है। प्रत्येक मनुष्य क्रतुमय अथवा यज्ञरूप है। प्रत्येक मनुष्य यज्ञरूप जीवनवाला बनना चाहिये, यह बात छांदोग्य उपनिषद में कही है—

अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति॥ छां० उ० ३।१४।१

"मनुष्य यज्ञमय है, जैसा यज्ञ करता है वैसा वह बनता है।" इसीलिये 'अहं क्रतुः, अहं यज्ञः' ऐसा गीताने कहा है और इससे दर्शाया है कि मनुष्यका जीवन यज्ञरूप पवित्र बनना चाहिये। क्यों कि यज्ञ ही उन्नति करने का एकमात्र साधन है। उन्नतिका दूसरा मार्ग नहीं है।

मनुष्य आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेसे उच्च अवस्था प्राप्त करता है, यह विषय पूर्वोक्त विवरणसे ही स्पष्ट हुआ। किसी राजाके लिये यदि कोई मनुष्य आत्मसमर्पण करता है, तो वह राजा उसका योगक्षेम चलाता है, फिर जगत्पतिके लिये यदि किसीने आत्मसमर्पण किया और वह उसका सेवक बना, तो वह प्रभु इसको कभी नहीं भूलगा। पाठक इस विषयमें मनमें पूर्ण निश्चय रखें।

दैवयज्ञ।

अब योगियोंके दैवयज्ञ का विचार करेंगे। यहां 'योगी' शब्द का अर्थ 'कर्मयोगी' है। हठ-योगी के यज्ञोंका विचार आगे (श्लो० २७, २९ ३० में) आनेवाला है। कर्मयोगी का अर्थ है शास्त्रोक्त कर्म कुशलतासे करनेवाला। ये कर्म-योगी देवताओंके उद्देश से पूजा संगतिकरण दानात्मक यज्ञकर्म करते हैं। मनुष्यका जीवित ही देवताओंके संगतिकरण पर अवलंबित है। देवताओंके संगतिकरणसे इस मनुष्यको सहायता न मिली, तो यह जीवित भी नहीं रह सकता, देखिये उलूखल और मूसल ये दो देवताएं हैं। इनकी संगतिकरण से धान्य स्वच्छ किया जाता है और वह यज्ञके लिये योग्य होता है। तथा मनुष्यके खाने योग्य बनता है। भूमि और जल ये दो देव हैं इसके संगतिकरण से बीज का वृक्ष

बनता है और उसके फल मनुष्य खाता है और सुखी होता है। गृह देवता है, वृक्ष देवता है, इन के संगतिकरण से मनुष्य गृहमें रहता और उद्यान में विचरता है। इस तरह देवताओंका सत्कार, संगतिकरण और दानरूप यज्ञ करनेसे हि मनुष्य का जीवन चल रहा है। और देखिये 'गौ आप् तृण और सूर्य' ये देवताएं हैं। गौ का जल तृण और सूर्य प्रकाश के साथ संगतिकरण करनेसे, गौका सत्कार करनेसे और उसको योग्य नैवेद्य समर्पण करनेसे वह गौ सुप्रसन्न होकर मनुष्यको उत्तम अमृतरूपी दूध देती है; जिससे मनुष्य पुष्ट और दीर्घजीवी होते हैं। यज्ञ में विविध पदार्थोंका हवन किया जाता है, और यज्ञमें सूर्य अग्नी वायु भूमि आदिका संबध आता है, इससे इनका संगतिकरण होकर मनुष्य सुखी होता है। न समजते हुए यह संगतिकरण की बात यज्ञविधिसे सिद्ध होती है और उससे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। कर्मयोगी देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और उससे शुभ फल प्राप्त करते हैं। मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अथवा ज्ञानी शूर व्यापारी और कारीगर ये भी देव हैं। इनका सत्कार और संगतिकरण करनेसे राष्ट्रका व्यवहार चलता है और अनंत मनुष्योंका कल्याण होता है। नरमेध नामक यज्ञ मनुष्योंके संगतिकरण करनेके लिये है, राजसूय यज्ञ राष्ट्र-पर अधिकारी चुननेके लिये होता है। अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम सोमयाग आदि यज्ञ विविध प्रकारके मानवी संगतिकरण के लिये रचे हैं। गो मेधसे गौवोंका महोत्सव किया जाता है, उससे गोसमृद्धि होती है। इस तरह प्रायः अनेक यज्ञ संगतिकरण के तत्वपर रचे हैं और इनसे मनुष्यमात्र को सुख होता है। इन यज्ञोंके विषयमें और एक बात विचारणीय है, वह अब देखिये—

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।
ओषधीष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति।

गोपथ ब्रा० उ० १। १९

गोपथ ब्रा० उ० १ २।१३

"ये यज्ञ औषधियोंके महामख होते हैं, अतः ऋतुओंकी संधियोंमें प्रयुक्त होते हैं क्यों कि ऋतुओंकी संधिमें व्याधियाँ होती हैं। औषधियोंमें यज्ञ प्रतिष्ठित होते हैं।" इस तरह यज्ञमें जो औषधियों का संगतिकरण होता है, उससे रोग दूर होनेसे मनुष्य के सुख की वृद्धि होती है। सब आयुर्वेदकी प्रक्रियाएं देवताओंके अर्थात् औषधि देवताओंके संगतिकरण से सिद्ध हुई हैं। संपूर्ण सूपशास्त्र, देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुआ है। समाजशास्त्र, राज्यशासनशास्त्र, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र तथा कई अन्य शास्त्र इसी देवतासंगतिकरण के फल हैं। इसका नाम 'देवयज्ञ' है। यह महत्व-पूर्ण विषय है, तथापि यहां इसका संक्षेपसे स्वरूप कथन किया है जिसके पढनेसे पाठक इस विषयको समझ सकते हैं। आजकल देवयज्ञ का एक अंश हवनरूपसे अवशिष्ट रहा है, शेष सब लुप्त हुए हैं। पूर्वोक्त रीतिसे विचार करने पर पाठकों को संपूर्ण देवयज्ञ की कल्पना हो सकती है।

यज्ञका यज्ञ।

आगे पचीसवें श्लोक के उत्तरार्धमें 'ब्रह्माग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञका हवन करते हैं' ऐसा कहा है, इस यज्ञ के स्वरूपका कथन तो पूर्वस्थानमें ब्रह्मयज्ञके वर्णन के प्रसंगमें हो चुका है, तथापि यहां इतना कहना आवश्यक है कि 'यज्ञद्वारा यज्ञ का ब्रह्ममें यजन' यह अद्भुत 'समर्पण-योग' है। सर्वभूतोंके हित के लिये आत्मसमर्पण करनेका यह एक यज्ञ है। यह समर्पणरूप यज्ञ करनेके समय 'मैं आत्मसमर्पणरूप बडा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा हूं, इससे सब जनता का कल्याण करनेवाला मैं हूं' इस तरह का अहंकार उत्पन्न होता है और इस अहंकारसे मनुष्यका अधःपात होता है। इस लिये यहां कहा है कि 'अपने आत्म-

समर्पणरूप यज्ञका भी परमात्मामें पूर्णतया समर्पण करना चाहिये।' और अहंकार को समूल दूर करना चाहिये। यह भाव 'यज्ञका ब्रह्माग्निमें हवन' करनेका है। अर्थात् आत्मसमर्पण करना चाहिये इतना ही नहीं, परंतु (यज्ञेन यज्ञं) आत्मसमर्पण का भी समर्पण करना चाहिये और 'मैं परोपकार का कृत्य करता हूं,' इसका भी ज्ञान नहीं होना चाहिये। यज्ञ करना स्वभावधर्म बनना चाहिये।

संयमाग्निमें हवन।

'सब इन्द्रियोंके कर्मों और सब प्राणोंके कर्मोंको ज्ञानसे प्रज्वलित हुए आत्मसंयमरूप योगाग्निमें हवन करना चाहिये।' (२७) इस स्थान पर आत्मसंयम करनेका उपदेश है। ज्ञान से अर्थात् आत्मज्ञान से, परमेश्वरविषयक ज्ञानसे किंवा ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्ण आत्मसंयम हो सकता है, इससे पूर्व यथाशक्ति अथवा यथाप्रयत्न होगा। सामान्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति भोगोंकी ओर होती है, जैसा पशु हरेभरे खेतकी ओर आकर्षित होता है, वैसाहि सामान्य मनुष्य भोग की ओर आकर्षित होता है। इसको असंयम कहते हैं और यही मनुष्यों की गिरावट का हेतु है। अतः आत्मज्ञान से आत्मसंयम को प्रदीप्त करके उसमें इंद्रियकर्मों को और प्राणकर्मोंको स्वाहा करना चाहिये। इस का सरल और सुबोध अर्थ यह है कि आत्मसंयम करके इंद्रियों के और प्राणोंके कर्म जितने होंगे उतने करने चाहियें। इंद्रियोंको स्वैर नहीं छोडना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियोंसे और कर्मेंद्रियोंसे मनुष्य भोग भोगता है। यदि इन इन्द्रियोंका संयम न किया जाय, तो मनुष्य अत्यधिक भोगमें प्रवृत्त होगा और गिरेगा। संयमसे भोगेच्छाका और भोगसाधनरूप इंद्रियोंका नियमन करनेसे भोगप्रवृत्ति मर्यादित रहेगी और मनुष्य की उन्नतिकी संभावना होगी। (२६ वें श्लोकमें भी) कान आदि इंद्रियोंका संयमाग्निमें हवन करनेका तात्पर्य यही है। सामान्य मनुष्य इंद्रियों का भोगाग्निमें हवन करते हैं, इंद्रियोंके कर्मोंका भी भोगाग्निमें हवन करते हैं। वैसा नहीं करना चाहिये। इनका हवन संयमाग्निमें करना चाहिये, और यह संयमाग्नि ज्ञानसे प्रदीप्त करना चाहिये। ज्ञान का अर्थ अपने 'मोक्षसंबंधी ज्ञान' है। इसीसे संयम सिद्ध होता है। और उसका इष्ट परिणाम इंद्रियों और प्राणोंके कर्मोंपर होता है।

आगे (श्लोक २८ में) (१) द्रव्ययज्ञ, (२) तपोयज्ञ, (३) योगयज्ञ और (४) स्वाध्यायज्ञानयज्ञ करनेवाले नियमपालक यतियोंकी प्रशंसा है। ये चार यज्ञ करनेवाले लोग क्या क्या करते हैं, इसका थोडासा विचार करना यहां आवश्यक है—

(१) द्रव्ययज्ञ= द्रव्यका यज्ञ करनेवाले। द्रव्य का अर्थ धनदौलत और पदार्थमात्र ऐसा दो प्रकार का है। जो धनवान् होते हैं वे अपने पास का धन जनताके कल्याण करनेके कार्य करनेके लिये अर्पण करते हैं, इनको द्रव्ययज्ञ करनेवाले कहा जाता है। वापी, कूप, तालाव, घाट, मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, गुरुकुल, अनाथालय आदि अनेक संस्थाएं जो जगत्में चल रहीं हैं, वे द्रव्ययज्ञसे हि चल रही हैं। राष्ट्रमें मनुष्य जितना अधिक द्रव्ययज्ञ करेंगे, उतनी ऐसी संस्थाएं अधिक कार्य करेंगी और उतनी जनताकी उन्नति अधिक होगी। दूसरे प्रकारका जो द्रव्ययज्ञ है वह अपने पासके पदार्थ देनेसे होता है-जैसा गुरुकुलोंको गौओंका दान देना, मुष्टिभागसे धान्य आटा आदि देना, धान्य, घी, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ दान करके पूर्वोक्त संस्थाओंकी सहायता करना, अथवा गरीबोंकी सहायता करना। यह यज्ञ भी बडा उपयोगी है। ऐसे द्रव्ययज्ञोंसे अनेक संस्थाएं चलती हैं और जनतापर बडा उपकार होता है।

(२) तपोयज्ञ=तप करनेवाले लोग। तपका अर्थ

शीत उष्ण आदि सहन करके धर्मकार्य करना। यम नियम व्रत उपवास आदिके द्वारा अपनी पवित्रता संपादन करना। यह व्रताचरणरूपी तप आत्मशुद्धिके लिये बडा उपयोगी है। प्रायः मनुष्य धर्माचरण करना चाहता है, परंतु थोडे कष्ट हुए तो उसका मन चंचल होकर वह कार्य छोड देता है। परंतु जो शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करने की शक्ति रखता है वह कष्टोंकी पर्वाह नहीं करता और अपने धर्माचरण में दत्तचित्त रहता है और उन्नत होता जाता है। तप अनेक प्रकार का है, इस विषयमें निम्न लिखित वचन देखने योग्य है-

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥ महाना० उ० १।१०
तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। केन उ० ३३
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। तै० उ० १।९।१
तपसा प्राप्यते सत्वम्। मैत्रि० उ० ४।३
तपसाऽपहतपाप्मा। मैत्रि० उ० ४।४
लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मुण्ड० ३३।१।५
तपो ब्रह्मचर्यम्। प्रश्न उ० १।१५
तपो वैराग्यम्। महा० उ० २

'सरलता, सत्य, विद्याध्ययन, शान्ति, इंद्रियदमन, मनःसंयम, दान, यज्ञ, अपने (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान और (स्वः) आनन्द के लिये प्रयत्न करना, (ब्रह्म) ब्रह्मप्राप्ति का अनुष्ठान करने का नाम तप है॥ तप दम और कर्म ही सब का आधार है॥ स्वाध्याय और उपदेश करना यह तप है॥ तपसे बल प्राप्त होता है॥ तपसे पाप दूर होता है॥ तपसे आत्माकी प्राप्ति होती है॥ ब्रह्मचर्य तप है और वैराग्य भी तप है॥"

इन वचनों के मननसे तप की कल्पना पाठक कर सकते हैं। तप सर्वत्र लाभदायक है और तपका जीवन न व्यतीत करना हानिकारक है।

(३) योगयज्ञ=योग का अनुष्ठान करनेवाले। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधिरूप अष्टांग योगका अनुष्ठान करनेवाले योगी जन योगयज्ञ करते हैं और आत्मोन्नति प्राप्त करते हैं। 'योग' का दूसरा अर्थ 'मेल करना' है। वैद्यशास्त्रमें अनेक औषधियोंका संयोग करनेके लिये योग शब्द प्रयुक्त होता है। दीर्घायुर्योग, जीवनीय योग आदि औषधियोगसे शरीरस्वास्थ्य, दीर्घायुसाधन, नीरोगताप्राप्ति आदि करते हैं और अपना तथा जनता का हित साधन करते हैं। औषधालयों में यहि योग किया जाता है जिससे रोगीयोंके रोग दूर होकर बडा लाभ होता है। यह योग बडा उपकारक है। इसी तरह विविध शास्त्रोंमें 'योग' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। पाठक विचार करके,जो यहां लग सकते हैं उनका समावेश इस विभागमें करें।

(४) स्वाध्यायज्ञानयज्ञ= स्वाध्याययज्ञ करनेवाले और ज्ञानयज्ञ करनेवाले। स्वाध्याय का अर्थ है (स्व+अध्याय) अपनी उन्नतिके लिये जो जो आवश्यक विद्याएं हैं उनका अध्ययन करना। और ज्ञानयज्ञ का अर्थ है जो ज्ञान अपनेको विदित हुआ है वह दूसरोंको समझाना॥ अर्थात् अध्ययन और अध्यापन ये दोनों बडेभारी यज्ञ हैं और ये दोनों संपूर्ण मानव समाज की उन्नति करनेवाले हैं, क्योंकि ज्ञानसेहि सबका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होगा। जगत् के प्रारंभसे इस समय तक जो ज्ञान का प्रवाह चलता आ रहा है वह कितने मनुष्यों के लिये उपकारक हुआ है, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। जो कुछ मानवी समाजकी उन्नति इस समय हरएक पहलूमें दीख रही है, वह सब इसी स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ अर्थात् पठण और पाठणसे हि हो रही है। यहां स्मरण रहे कि यह पठण और पाठण 'यज्ञ' रूप होना चाहिये। आजकल यह एक धंदा हुआ है और ऐसे ग्रंथों का पठण पाठन किया जाता है कि जिससे मनुष्य

की प्रवृत्ति बिगडती है, धर्मकी ओर न जाती हुई अधर्मकी ओर होती है। इसलिये इससे मानवी समाज बिगड रहा है। अतः इसको सुधारनेके लिये स्वाध्याय और ज्ञान 'यज्ञरूप' होना चाहिये, अर्थात् यह पवित्रता का केन्द्र होना चाहिये।

प्राणायाम।

प्राण और अपानके अर्थ भाषामें कुछ भिन्न हैं और यहां कुछ भिन्न हैं। यहां जो अर्थ है उसका स्वरूप यह है—

(१) प्राण = मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु बाहर जाता है, उसका नाम प्राण है, और

(२) अपान= मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु अन्दर नीचे की ओर जाता है उसका नाम अपान है।

भाषामें इसके बिलकुल विपरीत अर्थ हैं। अतः गीताके श्लोक का अर्थ करनेके समय ये अर्थ स्मरण रखें। (अपाने प्राणं जुह्वति) जो अपानमें प्राणका हवन करते हैं वे पूरक प्राणायाम करते हैं और (प्राणे अपानं) जो प्राणमें अपान वायुका हवन करते हैं वे रेचक प्राणायाम करते हैं और प्राण तथा अपानकी गतिका निरोध करने वाले कुंभक प्राणायाम करते हैं। चौथे प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेवाले अर्थात् जिस प्राणवायु की स्वाधीनता हो जावे उसीमें दूसरे प्राणों का अर्पण करके अन्तमें सब प्राणोंको स्वाधीन करते हैं। वायु को बाहर निकाल कर बाहर रोकना, अन्दर भरकर अन्दर रोकना, बाहर जानेकी और अन्दर आनेकी इन दोनों गतियोंको रोककर प्राणको स्थिर करना और समगतिसे प्राणापान को चलाना ये प्राणायाम हैं। प्राणायाम विशेष महत्त्वका विषय है और वह सुयोग्य गुरुके पास रह कर अध्ययन किया जाय तो ही वह आयुरारोग्य तथा योगसिद्धि देकर मनुष्यको समाधिसिद्धि तक पहुंचाता है। परंतु उसमें यदि दोष हुए तो विविध रोग उत्पन्न करता है। इसलिये इसका विशेष अभ्यास पुस्तक पढकर नहीं हो सकता, अतः प्राणायामोंका सविस्तर वर्णन यहां करना उचित नहीं है। जो पाठक प्राणायाम का अभ्यास विशेष करना चाहते हैं वे किसी उत्तम योगीके आश्रम में रहकर अपना साधन करें।

प्राणायाम करने वालों को 'नियताहार' अर्थात् नियमित भोजन करना चाहिये। पेट भर भर कर आकण्ठ भोजन करनेवालों से प्राणायाम नहीं होगा। पेटमें दो भाग अन्न, एक भाग जल सेवन के पश्चात् एक भाग पेट खाली रखना चाहिये। गाय का दूध घी आदि सात्त्विक भोजन करना योगाभ्यासियोंको उचित है। राजस अथवा तामस भोजन करनेवालोंको प्राणायाम से कदापि सुख नहीं होगा। उत्तम गुरुके पास रहकर प्राणायाम करनेसे शरीर (क्षपितकल्मषाः) दोषरहित हो जाता है और अपने आत्माकी शक्तिका अनुभव मिलता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।(३१)

"यज्ञ करके जो अन्न शेष रहता है, उसको अमृत कहते हैं, इस अमृत का भोजन करनेवाले लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।" अर्थात् ये ब्रह्मरूप बनते हैं। पूर्वोक्त अनेक यज्ञ करके अपने सर्वस्वका अर्पण करनेके पश्चात् जो कुछ बचता है, उसका भोग अपने लिये करनेसे मनुष्य का आत्मा उन्नत होता है। दान करके जो अवशिष्ट रहता है, वही अपने भोगके लिये रखना चाहिये। यही भाव यजुर्वेद के मंत्रमें कहा है-

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मा गृधः। कस्य स्विद्धनम्? वा० य० ४०।१; ईशा० १

"इस कारण त्यागसे, दान करके, भोग कर, मत ललचा, किस का भला धन है?" अपने पास जो धन, द्रव्य, ज्ञान, विद्या, तथा अन्य पदार्थ होगा, उसका दान जनताकी भलाई के लिये करके जो कुछ बचेगा उसका स्वयं भोग करना योग्य

है, इससे अधिक भोगोंकी लालच धारण करना अधर्म है, क्यों कि किसी एक व्यक्तिका धन नहीं है। धन तो सब का है। इसी लिये जो अपने पास अत्यधिक संग्रह करते हैं वे पापी होते हैं, और जो अपने पासके धनादिका दान द्वारा यज्ञ करते हैं, वे ही उसका योग्य उपयोग करते हैं, अतः वे पुण्यशील होते हैं और येही सद्गतिको प्राप्त करते हैं।

यज्ञ न करनेसे इस लोकमें भी सुव्यवस्था नहीं होती, (न अयं लोकः अयज्ञस्य) यदि मनुष्यों में से दानभाव, त्यागभाव अर्थात् यज्ञभाव लुप्त हो जाय, तो वे मनुष्य ही नहीं रहेंगे; वे पशुओंसे भी गिर जांयगे। मनुष्योंका मनुष्यपन यज्ञभावसेहि स्थिर रहता है। मनुष्यके साथ यज्ञकी उत्पत्ति हुई है ऐसा जो (भ० गी० ३।१० में) कहा है उस का यही उद्देश्य है। मनुष्य वाचक 'नर' नाम (न रमते) जो भोग में नहीं रमता, जो त्यागभावसे रहता है, जो यज्ञरूप जीवन व्यतीत करता है, इस अर्थका वाचक है। मनुष्यवाचक 'जन' नाम संतान उत्पन्न करनेके अर्थ में है, यहां वीर्य का यज्ञ करनेका भाव है। वीर्यका यज्ञ करनेका अर्थ धर्मानुकूल गृहस्थधर्मका आचरण करना है। मनुष्यवाचक नामों में 'व्राताः' 'पञ्चजनाः' आदि शब्द सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेका अर्थ बतानेवाले हैं और सामुदायिक जीवन यज्ञसे हि सुखकर हो सकता है, अयज्ञीय वृत्तिवाले स्वार्थी भोगी लोगों का संघ अन्तमें दुःखकारक ही सिद्ध होगा। इस तरह देखनेसे मनुष्यका संबंध यज्ञके साथ घनिष्ट है, यह बात स्पष्ट होती है। अर्थात् यदि इस लोकमें यज्ञके विना उन्नतिकी संभावना नहीं है, तो भला (कुतः अन्यः) पर लोक यज्ञके विना प्राप्त होगा यह कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् इहपर लोकमें जो उच्चता प्राप्त होती है, वह यज्ञ, दान और त्याग भावपर हि अवलंबित है।

इस तरह अनेक यज्ञ (ब्रह्मणः मुखे=ज्ञानके मुख्य भागमें) वेदमें कहे हैं। ये सब यज्ञ (कर्मजान् विद्धि) कर्मसे सिद्ध होनेवाले हैं, कर्म न करनेपर एक भी यज्ञ सिद्ध नहीं होगा, यह बात जाननेसे (एवं ज्ञात्वा वि मोक्ष्यसे) विशेष रीतिसे मनुष्य मुक्त होगा। कर्मसे यज्ञ सिद्ध होते हैं इतनी बात जाननेसे मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है, कर्म करनेसे सब प्रकार के छोटे बडे यज्ञ सिद्ध होते हैं, इससे उसको ज्ञान होता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसका यह आशय है। यही बात अगले श्लोकमें कही है—

द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्। (४।३३)

"द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है," अधिक कल्याण करनेवाला है। धन, द्रव्य, गौ, भूमि तथा अन्य पदार्थ अथवा ज्ञानसे भिन्न किसी वस्तुका दान करनेसे जो लाभ होते हैं उससे कई गुणा अधिक लाभ ज्ञानका दान करनेसे होता है। अध्यापक, गुरु, आचार्य, शिक्षक आदिकों का जो महत्त्व है वह इसी कारण है। ये राष्ट्रनिर्माता हैं। शिक्षासे हि सब कुछ उन्नति साध्य होती है। (ज्ञानात् मोक्षः) ज्ञानसे मोक्ष होता है, ज्ञानसे स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, ज्ञानसे स्वाधीनता प्राप्त होती है, ज्ञानसे अभ्युदय और निश्रेयस् मिलता है, यह बात सत्य है। यहां जैसा लौकिक ज्ञान लौकिक व्यवहार का साधक है, उसी तरह पारमार्थिक ज्ञान पारमार्थिक सिद्धिको प्राप्त करानेवाला है। अर्थात् दोनों स्थानोंमें ज्ञानसे शुभ अवस्था मिलती है। अतः कहा है—

सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते। (४।३३)

" सब कर्मोंकी समाप्ति ज्ञानमें होती है। " ज्ञानमें कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चात् कर्म रहते नहीं। क्योंकि आत्मज्ञान किंवा ब्रह्मज्ञान अन्तिम है, जो प्राप्त होनेके पश्चात् कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता। यह ज्ञान किस तरह प्राप्त होता है इस विषयमें अगले श्लोकोंमें

(११) ज्ञानका महत्त्व।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वयः— प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः ज्ञानं ते उपदेक्ष्यन्ति तत् (त्वं) विद्धि॥३४॥ हे पाण्डव! यत् ज्ञात्वा (त्वं) पुनः एवं मोहं न यास्यसि, येन भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि॥३५॥ (त्वं) सर्वेभ्यः पापेभ्य अपि पापकृत्तमः असि चेत्, सर्वं वृजिनं ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि॥३६॥ हे अर्जुन! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ॥३७॥

प्रणाम, विवेकके साथ प्रश्न और गुरुकी सेवा करनेसे तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे। उनसे उस ज्ञान को तू जान ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव! जिस ज्ञानको जाननेसे तू फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा और जिससे सब भूतोंको अपने आत्मामें और मुझमें तू देखेगा ॥ ३५॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी सब पापको ज्ञानरूप नौकासे उत्तम रीतिसे पार कर जायगा ॥३६॥ हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित् अग्नि ईंधन को जला डालती है, वैसेहि ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को दग्ध करती है ॥३७॥

भावार्थ— यदि कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक है, तो वह सद्गुरुके पास जावे, उसको दण्डवत् प्रणाम करे, उसकी मनोभावसे सेवा करे और अपने मनोगत प्रश्न विवेकपूर्वक और निष्कपट भावसे उसे पूछे। शिष्य की सेवासे सन्तुष्ट होकर वह सद्गुरु उसको सत्य ज्ञानका उपदेश करेगा ॥ इसी सत्य ज्ञानसे मनुष्य मोह-जालमें नहीं फंसता और सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतमात्रमें देखता है॥ पापीसे पापी मनुष्य भी इसी ज्ञानसे पापसे पार हो जायगा॥ क्योंकि ज्ञानसे हि सब कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधन दूर होते हैं॥३४-३७॥

बडा उत्तम उपदेश है, उसका अब मननपूर्वक अवलोकन कीजिये—

ज्ञानप्राप्तिके साधन।

(३४—३७) ज्ञान किस तरह प्राप्त किया जा सकता है, इस का उपदेश यहां किया है (१) प्रणिपात, (२) परिप्रश्न और (३) गुरुसेवा करनेसे ज्ञान प्राप्त होता है। आजकलके लोग कहेंगे कि फीज के रुपये भरनेसे ज्ञान प्राप्त हो रहा है,

फिर ये तीन शर्तोंकी आज क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में निवेदन है कि आजकल जो विद्या पैसे देनेसे प्राप्त हो रही है, वह जगत् में भयानक वैरभाव उत्पन्न कर रही है, इससे जितना जगत् का नाश हो रहा है, उतना नाश रोगादि से अथवा क्रूर श्वापदोंसे भी नहीं हो रहा है। अतः वह विद्या अथवा ज्ञान कहलाने योग्य भी नहीं है। यह तो अविद्या अथवा अज्ञान है जो फीज देकर खरीदा जा रहा है। यह भी अध्यापक को प्रणाम करके, उनसे प्रश्न पूछकर और उनके पास बैठकर प्राप्त होता है। एक न एक रूपमें इन तीन शर्तोंको पूर्ण करके हि यह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन तीन शर्तोंकी आवश्यकता है यह बात निर्विवाद है। अतः ऋषिपरंपरा के अनुसार अहंभाव छोडकर सद्गुरुकी सेवा करके, उनकी संगतिमें रहकर, उनके आचरण देखते हुए, सत्यज्ञान प्राप्त करने से निःसन्देह अधिक लाभ होगा। आजकल या सदा सर्वदा यही पद्धति ज्ञान प्राप्त करनेके लिये लाभदायक है। आज भी गुरुशिष्यका निवास एकत्र होना चाहिये, यह तत्त्व सर्वमान्य हुआ है, एकत्र निवास हुआ परंतु गुरुके विषयमें शिष्यके अन्तःकरण में श्रद्धा भक्ति न हुई, और शिष्य अपनीहि ऐंठमें अकड कर रहने लगा, तो उसे क्या लाभ होगा? इसलिये शिष्यमें नम्रता रहनी चाहिये, उसके मन में अहंभाव नहीं रहना चाहिये और गुरुके विषयमें भक्ति चाहिये। ऐसा शिष्य यदि गुरुके सन्निध रहेगा और गुरुसे प्रश्न पूछेगा, तो गुरु उसे योग्य ज्ञान देगा। यदि यह शिष्य मनोभावसे गुरु की सेवा शुश्रूषा करेगा और गुरुका प्रेम संपादन करेगा, तो उसमें जो विशेष दिव्यता होगी, वह सब पाठक अपनी कल्पनासे जान सकते हैं। इस तरह प्रणिपात परिप्रश्न और सेवा करनेसे हि गुरूसे ज्ञान प्राप्त होता है। अध्यात्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान तो सद्गुरु की सेवा करनेसेहि प्राप्त होना संभव है, वह मोल लेना असंभव है और यहां जो 'ज्ञान' शब्द आया है वह विशेषतः इसी मोक्षविषयक ज्ञानके लिये आया है। अतः इस ज्ञान की प्राप्तिके लिये तो ये तीन शर्तें पूरी करना अत्यंत आवश्यक है। यह ज्ञान हरएक पंडित दे नहीं सकता, जो (तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः) तत्त्वदर्शी ज्ञानी होंगे, वेही मोक्षज्ञान का उपदेश करनेमें समर्थ होते हैं। अतः जो इस ज्ञानके इच्छुक हैं वे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करके, उनसे प्रश्न पूछ कर और उनको नम्रभाव से नमन करके प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानके फल।

यह ज्ञान प्राप्त होनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है, इस का विचार अब करना चाहिये, क्यों कि फलके विना कौन मनुष्य है जो उसकी प्राप्तिके लिये यत्नवान् होगा? आगेके तीन श्लोकोंमें इस ज्ञान का चार प्रकारका फल कहा है जो सारांशसे यह है—

१ मोहका दूर होना। (मोहं न यास्यसि। ४।३५)
२ अपने में सब भूतोंको और सब भूतोंमें अपने को देखना। (भूतानि आत्मनि द्रक्ष्यसि। ४।३५)
३ पापके पार होना। (वृजिनं संतरिष्यसि। ४।३६) और
४ कर्मोंके दोषोंसे बचना। (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते। ४।३७)

ज्ञान प्राप्त होनेसे ये चार फल मिलते हैं। इनमें पापके पार होना (४।३६) और कर्मोंके दोषोंसे बचनेका (४।३७) आशय एक ही है। अतः इन दोनों को एक माननेसे शेष तीन ही फल रह जाते हैं। मोहके कारण पाप करता है, अयोग्य कर्म अयोग्य रीतिसे करता है और वह मोहयुक्त मनुष्य ऐसे कर्म करता है कि जिससे उसकी स्वार्थ साधनेकी इच्छा तृप्त होनेका संभव हो। इसी कारण वह इन कर्मोंसे बद्ध होता है। अर्थात् मोह, पाप और कर्मदोष इनका निकट संबंध है। मोहका अर्थ अज्ञान है, अतः ज्ञान होनेसे मोह दूर होता है,

मोह दूर होनेसे पापप्रवृत्ति हटती है और पाप प्रवृत्ति हटनेसे कर्म सदोष नहीं होते। इस तरह मोहपरंपराके ये दोष ज्ञानसे अज्ञान दूर होनेसे स्वयं नष्ट होते हैं।

अज्ञान	ज्ञान
मोह	मोहनाश
पापप्रवृत्ति	पुण्यशीलता
कर्मदोष	दोषरहित कर्म
बन्ध	मुक्ति

इससे स्पष्ट होजाता है कि ज्ञानसे क्या लाभ है और अज्ञानसे कौनसी हानि है। अर्जुन अज्ञान के कारणहि मोहवश हुआ था, भगवद्गीता का उपदेश श्रवण करनेसे उस में ज्ञान का प्रकाश हुआ, और अज्ञान दूर हुआ। अतः वह स्वकर्तव्य करनेमें समर्थ हुआ। ज्ञानका यह स्पष्ट फल गीतामें दीखता है, अतः कहा है—

मोहनाश।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
(४।३५)

"हे अर्जुन! ज्ञान प्राप्त होनेसे तुझे ऐसा मोह फिर नहीं होगा।" यह ज्ञानसे पहिला लाभ है। आगेके श्लोकोंमें कहा है कि, "पापीसे पापी मनुष्य भी इस ज्ञान को पानेसे पाप के पार हो जाता है। (४।३६)" यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि पापीको ज्ञान कैसा होगा और वह ज्ञानकी नौकामें बैठकर पापसे पार किस तरह होगा? पापी मनुष्य मोहवश होनेसे उसको ज्ञान नहीं होता यह सत्य है, परंतु पापीके किसी अज्ञात कारणसे अथवा पापभोग की समाप्ति होनेपर, उसके मनमें पापके विषय में दोष दृष्टि होती है और सत्संगति करनेको इच्छा उत्पन्न होती है। वह किसी समय यदृच्छासे सत्संगति प्राप्त करता है, उसको पश्चात्ताप होता है, वह सद्गुरुको शरण जाता है, उसकी सेवा करता है और अपने उद्धारके विषय में प्रश्न पूछता है पश्चात् उसकी कृपासे उसको ज्ञान प्राप्त होकर वह पापी भी उत्तम ज्ञान नौकापर चढकर दोष-समुद्रके पार होता है। इस जगत् में इतिहासमें ऐसे कई पापी देखे हैं कि जो थोडेसे कारण होनेसे बडे पवित्रात्मा बने हैं। पश्चात्ताप होतेही वह सीधे मार्गपर आता है। पश्चात्ताप बहुत शुद्धि करनेवाला है। पश्चात्तापसे तप्त हुआ मनुष्य जिस एकाग्रतासे प्रभुकी शरण जाता है, जिस पवित्र और अहंकाररहित भावसे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करता है, उसमें उसकी शुद्धता के बीज हैं। एकवार इस तरह शरणागत हुआ मनुष्य कदापि फिर पापवृत्तिमें नहीं फंसता। इससे पाठक जान सकते हैं कि पापीसे पापी मनुष्यभी किस तरह ज्ञानप्राप्ति करके पुण्यात्मा बनता है। यह कोई असंभव बात नहीं है। सत्संगतिका ऐसाही महत्त्व है। पहिले कितने भी पापोंके पर्वत हुए तो भी ज्ञानाग्निसे उनका भस्म होता है और शरीरभोग रहनेपर भी वह स्वानंदसुखमें मग्न रहता है। इसके लिये एक उत्तम उदाहरण दिया है—

कर्मदोषक्षय।

"जैसा लकडियोंके बडे ढेरको अग्नि लगी तो वह छोटीसी अग्नि सब लकडियों को जलाकर भस्म कर देती है, अग्नि लगनेपर एक भी लकडी अवशिष्ट नही रहती, इसी तरह ज्ञानरूप अग्नि लगनेपर सब बुरे भले पूर्व समयमें किये हुए कर्म और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके सब दोष जल जाते हैं। उनमेंसे एकभी कर्म और उसका दोष अवशिष्ट नहीं रहता। फिर मनुष्य कितना भी पापी हुआ, तो भी उसके सब कर्म और उन सब कर्मों के दोष ज्ञानाग्निसे जल जानेपर उसके पास क्या अवशेष रह जाता है, जो उसको प्रतिबंध कर सके? यहां पाठक इस उपमा और उपमेय का अच्छा विचार करें। और देखें कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते।
(४।३७)

"ज्ञानरूप अग्निसे संपूर्ण कर्म (और उनके दोष) जल जाते हैं," उन में से एक भी कर्म नहीं रहता कि जिसको भोगनेकी आवश्यकता रहे। पाठक यहां पूछेंगे कि इस श्लोकमें (सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते) सब कर्म भस्म होते हैं ऐसा लिखा है, उन कर्मोंसे उत्पन्न हुए दोष जल जाते हैं ऐसा नहीं लिखा, अतः वे कर्मोंके दोष अवशिष्ट रहते होंगे। परंतु यह शंका व्यर्थ है क्योंकि कर्मके नाश होनेपर कर्ताकी स्थिति कर्म न करनेवालेके समान होगी, कर्ता होता हुआ भी वह अकर्ता होगा (भ० गी० ४।१३); कर्म करने में भी अकर्म अर्थात् कर्म न करनेके समान रहनेकी अवस्था होती है (भ० गी० ४।१८) कर्म करनेपर भी वे सब कर्म लय होते हैं, यह जो उपदेश भगवद्गीतामें अन्यत्र किया है उसका आशय यही है कि ज्ञान होनेसे कर्म और कर्मदोष सब लयको प्राप्त होते हैं और वह मनुष्य शुद्ध होता है।

पापी मनुष्यके दुःखपार होनेकी बात भ० गीतामें आगे भी इस तरह कही है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥ भ० गी० ९

"बडे से बडा दुराचारीभी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे तो यह मानो कि वह साधु होहि चुका है क्यों कि अब उसका संकल्प शुभ हुआ है॥ वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर निरन्तर शान्ति पाता है। हे अर्जुन! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता॥ हे अर्जुन! जो पापयोनि हैं वे भी, और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, यदि वे मेरी शरण रहें, तो परम गतिको पाते हैं।"

प्रभुको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे शरण जानेसे, सच्चा पश्चात्ताप होनेसे, उत्तम गुरु के पास जाकर उसकी सेवा शुश्रूषा करने से पापी मनुष्य भी पवित्र होकर सद्गति प्राप्त करता है। किसी भी रीतिसे मनुष्य गया तो भी वह अन्तमें ज्ञान प्राप्ति द्वारा ही परमपद प्राप्त करता है। इसमें संदेह नहीं है।

ज्ञानसे सब दोष दूर होनेका एक उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है कि किसी एक धनी मनुष्यके कामधंदेमें बहुत नुकसान आया और उसका दिवाला निकला, पश्चात् बहुत दिन विपन्न दशामें वह रहा, एक दिन किसीने उसके घरमें भूमिगत द्रव्य होनेका ज्ञान उसको दिया। उसने खोदकर वह धन लिया और फिर उसी क्षणमें वह मालदार बना। अपने धनी होनेका ज्ञान होते हि उसका संपूर्ण दारिद्र्य नष्ट हुआ, जल गया और वह फिर उसको सतानेके लिये नहीं रहा। इसी तरह अज्ञानके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष ज्ञान होते ही नष्ट होते हैं।

ज्ञानके इतने लाभ हैं। अब एक लाभ सबसे महत्त्वका है उस का अब विचार करेंगे।

सर्वभूतात्मभाव।

भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि। (४।३५)

"भूतमात्रको पूर्णतासे अपने आत्मामें और मुझमें देखेगा" यह अन्तिम सिद्धि है और विशेष महत्त्व की भी है; अतः इसका विशेष विचार करना चाहिये। इसी तरह के वाक्य अनेक स्थान पर हैं, उनको इस समय देखिये—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
ईश उ. ६; काण्व य० ४०।६

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
भ० गी० ६।२९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
भ० गी० ६।३०

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
श्री० भागवत ११।२।४५;

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥
श्री० भागवत ३।२४।४६;

"जो सब भूतोंको आत्मामें देखता है और सब भूतोंमें आत्माको देखता है उससे कुत्सित कर्म नहीं होते। सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं ऐसा जो योगयुक्त आत्मा देखता है उसकी दृष्टि सम हुई होती है। जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह भी कभी नष्ट नहीं होता। सब भूतोंमें जो नित्य प्रभुका स्वरूप देखता है और सब भूत परमात्मा हैं यह अनुभव करता है वह उत्तम भगवद्भक्त है। जो सब भूतोंमें भगवान् और अपना आत्मा है ऐसा देखता है और सब भूत भगवान्में और अपने आत्मामें हैं, ऐसा जो अनुभव करता है वह उत्तम भगवद्भक्त है।" ये सब वचन एकहि भाव बताते हैं।

यहां परमात्मा सब भूतोंमें है इतना कहनेसे परमात्मा सर्वव्यापक है, सब स्थिरचरमें विद्यमान है यह बात स्पष्ट हुई है। परब्रह्म, परमात्मा अथवा आत्मा सर्वव्यापक, 'सर्वगत' (गी० २।२४) है यह बात इससे पूर्व स्थानमें भी कई वार बतायी है।

अहं आत्मा सर्वभूताशयस्थितः। (गी० १०।२०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजति। (गी० ६।३१)
अहं प्राणिनां देहं आश्रितः। (गी० १५।१४)
सर्वभूतात्मभूतात्मा न लिप्यते। (गी० ५।७)
महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा। (कठ उ० २।२१)

इन वचनोंका आशय यही है कि "एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है।" जो सब भूतोंको आत्माके समान मानता है वह दोषोंसे मुक्त होता है। अर्थात् सब भूतोंमें-स्थिरचरमें-एक आत्मा व्यापक है और वह सर्वत्र एकरस ओतप्रोत भरा है, यह जो अनुभव करता है, और उसी तरह मैं अर्थात् मेरा आत्माभी सब भूतोंमें भर गया है ऐसा जिसको अनुभव है, उसको अपना आत्मा और परमात्मा में अभेद का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह एक अनुभव है।

दूसरा अनुभव यह है कि (मयि) परमात्मामें सब भूत हैं और अपने (आत्मनि) आत्मामें सब भूत हैं, अर्थात् मैं और आत्मा एक तत्त्व है और उस के अन्दर सब संसार है। ज्ञान प्राप्त होनेसे ये दो अनुभव साक्षात् प्रत्यक्षवत् होते हैं। जिस समय यह अनुभव होगा, उसी समय समझना चाहिये कि 'ज्ञान' हुआ है। ज्ञान का अर्थ शब्दोंका अर्थ जानना नहीं है। ज्ञान का अर्थ यही है कि 'मेरा आत्मा सब भूतोंमें है और सब भूत मेरे आत्मामें हैं यह प्रत्यक्षसा अनुभव होना।' यह ज्ञान अन्तिम सीमा है। यह ज्ञान प्राप्त होते ही उसके सब कर्म और कर्मोंके सब दोष भस्मसात् होते हैं, नष्ट होते हैं, दग्ध होते हैं किंवा बन्धन करने के लिये पीछे नहीं रहते। पापीसे पापी मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करनेसे पापसे पार हो जाता है। और इसी ज्ञान के प्राप्त होनेके बाद उसको कभी मोह नहीं होता है।

पाठक यहां ध्यानमें रखें कि यहां 'ज्ञान'का अर्थ यही है। अन्य व्यावहारिक किंवा प्रापंचिक विद्या इससे भिन्न है। जिस ज्ञानका महत्त्व भगवद्गीतामें वर्णन किया है, वह ज्ञान प्रापंचिक ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान सर्वात्मभाव का अनुभविक ज्ञान है। इसी विषयमें छान्दोग्य उपनिषद में कहा है —

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार, तँ होवाच, यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अंग तदाहरेति

• तद्भावमृश्य न विवेद ॥१॥ यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति, मध्यादाचामेति, कथमिति, लवणमित्यन्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति, अभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति, तद्ध तथा चकार, तच्छश्वत्संवर्तते, तँ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यँ, स आत्मा, तत् त्वं असि० ॥

छां० उ० ६ । १३

इस छांदोग्य उपनिषद् में निम्न लिखित गुरु-शिष्य-संवाद है। यह अत्यंत बोधप्रद है अतः पाठक इसका विशेष विचार करें—

गुरुजी— हे शिष्य! इस पात्रमें जो उदक है, उसमें यह नमक डाल दे और सवेरे यह मेरे पास ले आ।

शिष्य— अच्छा गुरुजी।

[पश्चात् शिष्यने वैसा किया, तब दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुजी शिष्यसे पूछते हैं—]

गुरु— हे प्रिय शिष्य! कल रात्रिके समय जो नमक जलमें तूने रख दिया था, वह नमक मेरे पास ले आ।

शिष्य— [शिष्यने उस जल में देखा, परंतु उस में नमक उसे नहीं मिला, तब उसने कहा कि] हे गुरो! वह नमक तो यहां नहीं दीखता!

गु०— वह जलमें मिलगया होगा, अस्तु, अब वह जल ऊपरसे थोडासा पीकर देख कि उसकी रुचि कैसी है?

शि०— गुरुजी! यह नमकीन है!

गु०— अच्छा, अब बीच का थोडा पीकर देख, कैसा लगता है?

शि०— यह भी नमकीन है।

गु०— अच्छा, अब सबसे निचले भाग का थोडासा जल पीकर देख तो सही, वह कैसा लगता है?

शि०— गुरुजी! वह भी नमकीन ही लगता है।

गु०— हे प्रिय शिष्य! अब तुम्हें पता लगा कि यह नमक इस जलके साथ एकरूप हुआ, जलभरमें फैल गया, या व्याप रहा है, अतः वह तुम्हें अलग नहीं दीखता है। यद्यपि वह नहीं दीखता है, तथापि वह उसी में है। इसी तरह यह आत्मा इस सब भूतमात्रमें व्यापक हुआ है, वही सत्य वस्तु है, उसीको आत्मा कहते हैं, 'वही आत्मा तू है।'

यह उपमा और संवाद परमात्माकी व्यापकता दर्शानेके हेतुसे यहां रखा है। छांदोग्य उपनिषद् के इस छठे अध्यायमें यही विषय है। जैसा जल में नमक है और नमकमें जल है, उसी प्रकार सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें भूतमात्र हैं। जो मनुष्य इस बातका साक्षात्कार करता है, उसको ज्ञान हुआ है और वही मोहसे, पापसे और कर्मोंके दोषोंसे दूर होता है।

यह ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होनेके पश्चात् और कुछ भी ज्ञातव्य उसके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। इतना इस ज्ञान का महत्त्व है। क्योंकि जब 'मनुष्यको मेरे अन्दर जैसा आत्मा है वैसाहि और वही आत्मा सब भूतोंमें है' यह ज्ञान अनुभवसिद्ध रीतिसे होगा, तब उसके अन्दर आत्मौपम्य बुद्धि स्वभावसे जाग्रत रहेगी, और उसको अन्यान्य उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। वह स्वयं अपने स्वभावसेहि दूसरोंपर दया करेगा, दूसरोंकी सहायता करेगा, दूसरोंका भला करेगा, दूसरोंको अभ्युदयके मार्गमें लानेका यत्न करेगा, दूसरोंपर आत्मवत् प्रीति करेगा, उनके साथ प्रेमका व्यवहार करेगा, सबके साथ न्यायसे व्यवहार करेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, किसीका धनापहरण नहीं करेगा, किसीकी हिंसा नहीं करेग, किसीके साथ झूट न बोलेगा,

(१२) ज्ञानप्राप्तिके उपाय।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वयः— हि इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न विद्यते। तत् (ज्ञानं) स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति ॥३८॥ श्रद्धावान्, तत्परः, संयतेन्द्रियः ज्ञानं लभते। ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति ॥ ३९॥ अज्ञः च अश्रद्दधानः च संशयात्मा विनश्यति। संशयात्मनः अयं लोकः नास्ति, न परः (लोकः), न (च) सुखम् (अस्ति) ॥४०॥

क्यों कि इस लोकमें ज्ञान के समान दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है। उस ज्ञानको स्वयं योग द्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध हुआ मनुष्य योग्य समय से अपने आत्मामें प्राप्त करता है ॥३८॥ श्रद्धालू और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है॥३९॥ जिसे ज्ञान नहीं और श्रद्धा भी नहीं है और जो संशयग्रस्त मनुष्य है उसका नाश होता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है, न परलोक है, और न उसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त होता है ॥४०॥

भावार्थ— ज्ञानके समान पवित्रता करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। समत्वबुद्धियोगसे सिद्ध हुआ मनुष्य अपनेमें वह ज्ञान योग्य समयके अनुष्ठान के पश्चात् प्राप्त करता है॥ ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाला अनुष्ठानमें तत्पर और अपने इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है। और ज्ञान प्राप्त होनेसे उसको शान्ति प्राप्त होती है॥ अज्ञानी, अश्रद्ध और संशयी मनुष्य का नाश होता है। संशयी मनुष्यको तो इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता, फिर परलोकमें कैसा मिलेगा?

अधिक लोगोंका अधिक कल्याण करनेकी पराकाष्ठा करेगा, सबके साथ आत्मवद्भावके साथ वर्ताव करेगा। यह उसका सहज स्वभाव बनेगा, अतः उसको व्यवहारशास्त्रका उपदेश करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थिति उसको प्रत्यक्ष होगयी है, वह अपने सब व्यवहार प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ करनेके समान करेगा, फिर उसके व्यवहारमें कपट छल असत्य आदि दोषोंका उद्भाव कैसे होगा। वह तो आदर्श मनुष्य बनेगा। मनुष्य की पराकाष्ठा की उन्नत स्थिति ही यह है। इसलिये इस ज्ञानकी श्रेष्ठता है।

यह ज्ञानका महत्त्व है, यह ज्ञान किन उपायों से प्राप्त होता है यह विषय अब बताते हैं—

ज्ञानप्राप्तिके हेतु।

(३८-४०) (श्रद्धावान्) ईश्वर, गुरु और सत्यधर्मग्रंथोंके वचनोंपर श्रद्धा रखनेवाला;

(तत्परः) अनुष्ठानमें तत्पर अर्थात् दूसरे विचारों में अपना समय न गमानेवाला, कर्तव्य कर्ममें दत्तचित्त रहकर उत्तम निर्दोष रीतिसे अपने कर्तव्य करनेवाला, परमेश्वर में तलीन और (संयत—इन्द्रियः) अपने इंद्रियों को अपने स्वाधीन रखनेवाला, इन्द्रियनिग्रही और संयमी मनुष्य को ही अर्थात् (स्वयं योग-सं-सिद्धः) स्वयं समत्व बुद्धियोग द्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध बना हुआ मनुष्य योग्य (काले) समय तक अनुष्ठान करके अपने आत्मामें ज्ञान का प्रकाश हुआ है, इस बात का अनुभव करता है। इस ज्ञानप्राप्ति के चार उपाय हैं—

(१) श्रद्धा, (२) तत्परता, (३) इंद्रियसंयम और (४) योगसंसिद्धि ये चार उपाय हैं, जिनसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा में बडा बल है। जो ईश्वरपर अटल श्रद्धा रखता है वह ईश्वरके साथ अपना संबंध अतिशीघ्र जोडता है और शीघ्रही तन्मयता प्राप्त करता है। गुरुके वचनोंपर और शास्त्रकी आज्ञाओंपर श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य अपने मनको इधर या उधर न भटकाता हुआ, एक ही बिन्दुमें केन्द्रित करके अनुष्ठान करता है। इंद्रियसंयम करनेवाला मनुष्य अपने इंद्रियोंको वशवर्ती रखकर, उनको विषयमें न फंसाता हुआ, ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके शान्तिसे अपने मार्गका आक्रमण करता है। इसी तरह योगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करता है, अर्थात् समत्वबुद्धिरूपयोगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करके वह अपने अन्दर पूर्वोक्त ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा, कर्तव्यतत्परता, इंद्रियसंयम और समत्वबुद्धियोग इन चार साधनों द्वारा मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है, यहां ज्ञान का अर्थ- "आत्मा का सब भूतोंमें निवास और सब भूतोंका आत्मामें निवास देखना है। (४।३५; ६।२९, ६।३०)" यह ज्ञान श्रद्धा, तत्परता, संयम और समबुद्धि से प्राप्त होता है। और यह ज्ञान प्राप्त होते ही—

अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति। (४।३९)

"शीघ्रहि श्रेष्ठ शान्ति प्राप्त होती है।" यह ज्ञान अत्यंत पवित्र है और पवित्रता करनेवाली वस्तु है। जहां यह ज्ञान प्रकट होता है, वहां पवित्रता बनती है और सब प्रकारकी अपवित्रता वहांसे हट जाती है। यह पवित्र ज्ञान जिसको प्राप्त होता है उसको इस लोकमें भी सुख मिलता है और परलोकमें भी आनन्द प्राप्त होता है।

संशयसे नाश।

परंतु जो स्वयं अज्ञानी, अश्रद्ध और संशयग्रस्त है, उसका तो नाश होता है। वह जैसा इस लोक में दुखी होता है वैसाही परलोक में भी वह अनिश्चित स्थितिमें रहता है। यहां सश्रद्ध और अश्रद्ध ऐसे दो प्रकार के मनुष्यों की स्थिति वर्णन की है, देखिये उनकी क्या स्थिति होती है-

श्रद्धवान् (३९)	अश्रद्दधानः (४०)
तत्परः (३९)	चञ्चलः
संयतेंद्रियः(३९)	भोगपरः, असंयमी
योगसंसिद्धः(३८)	चंचलबुद्धि
स्थितप्रज्ञः	संशयात्मा (४०)
ज्ञानवान्	अज्ञः (४०)
पवित्रः (३८)	अपवित्रः, मलीनः
अविनाशी	विनश्यति (४०)
सुखमयः	दुःखरूपः
शान्तः	अशान्तः

श्रद्धालू का क्या बनता है और अश्रद्ध मनुष्यकी कैसी गिरावट होती है, यह बात यहां उत्कृष्टतासे विशद हुई है। श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेसे शान्तिसुख प्राप्त होता है, परंतु अश्रद्ध और भोगमय जीवन बननेसे सब प्रकार की गिरावट हो जाती है।

अज्ञ वह है कि जिसको 'परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है और सब संसार परमात्मामें है' इसका पता नहीं है। इस तरह का अज्ञ मनुष्य किसीपर अर्थात् ईश्वर गुरु और शास्त्रवचनोंपर श्रद्धा नहीं रखता, और इस अश्रद्धा के कारण वह

(१३) संदेह-निवृत्ति।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे धनंजय! योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥ हे भारत! तस्मात् अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं आत्मनः एनं संशयं ज्ञानासिना छित्वा योगं आतिष्ठ, युद्धाय (च) उत्तिष्ठ॥४२

हे युद्धमें विजयी अर्जुन! जिसने योगद्वारा अपने सब कर्मोंका संन्यास किया है, जिसने ज्ञानसे सब संशय काट दिये हैं, जो आत्मिक बलसे युक्त है, उसको कर्मसे बंधन नहीं होते हैं ॥४१॥ हे भारतीय वीर! इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले इस हृदयके संशयको अपने ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग का आचरण कर और युद्ध करनेके लिये उठकर खडा हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ— कर्मयोगके अनुसार अपने सब कर्म कर, ज्ञानसे अपने संदेह दूर कर, आत्मिक बलसे युक्त हो, तब तुझे कर्मोंके दोष नहीं लगेंगे, अज्ञानसे संदेह होते हैं, उनको ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग कर और युद्ध करनेके लिये उठ ॥ ४१-४२ ॥

संशयसागर में डूबता रहता है। ईश्वर नहीं होगा, यह सृष्टी स्वयं बनी होगी, क्या इसका कोई कर्ता होगा, मृत्युके पश्चात् इस जीव का क्या होता है इत्यादि विषयमें उसके विचार संशयित होते हैं। इस कारण वह कहां भी श्रद्धा नहीं रखता, कुछ भी अनुष्ठान नहीं करता और वह यहां भी दुखी रहता है और मृत्युके पश्चात् भी वह दुखीहि रहता है। संशयी मनुष्यको सत्य मिथ्या, अनुकूल प्रतिकूल, हित अहित, योग्य अयोग्य, धर्म अधर्म आदिका ज्ञान नहीं होता, और वह हित को अहित और अहित को हित मानकर फंसता है और प्रतिसमय दुःखमें रहता है। यह दुःख हटानेकी इच्छा है तो श्रद्धा, तत्परता, संयम और योगाभ्यास आदि मार्गका अवलंबन करके अपने प्रयत्नसेहि ज्ञानप्राप्तिद्वारा ऊपर उठना चाहिये। यही बात आगे के दो श्लोकोंमें कही है—

कर्मबंधनिवृत्ति।

(४१-४२) जो मनुष्य (योग-) बुद्धिकी समता (गी० २।४८) और कर्मकुशलता (गी० २।५०) रूप योगके द्वारा (-सं-न्यस्त-कर्मा) सब कर्मोंकी उत्तम प्रकार से (न्यास) व्यवस्था करता है, किंवा कर्मोंके फलोंका जगत्की भलाई के लिये समर्पण करता है; और जो (ज्ञान-सं-छिन्न-संशयः) परमात्माके सर्वत्र व्यापक होनेके अनुभविक ज्ञानसे अपने सब संशयोंको काटकर नाश करता है; तथा जो (आत्म-वान्) आत्मिक

शक्तिसे संपन्न है ऐसे मनुष्य को उसके किये कर्मोंका (कर्माणि न निबध्नन्ति) बंधन नहीं होता। अर्थात् कर्मोंके बन्धनसे छूटनेके तीन कारण हैं—

(१) बुद्धिकी समता और कर्मोंकी कुशलता के साथ कर्तव्यकर्मोंको यथा योग्य रीतिसे करना; (योग-संन्यस्त-कर्मा);

(२) (ज्ञान-) परमेश्वर सब में है और सब जगत् परमेश्वरमें है इस का अनुभव करना और परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है ऐसा अनुभव करके (-संछिन्नसंशयः) संदेह दूर करना और उसी की अध्यक्षता में उसकी संतुष्टीके लिये अपने कर्तव्य कर्म करना; और

(३) (आत्मवान्) आत्मा के बलसे युक्त होकर प्रमादरहित रीतिसे अपने कर्तव्य करना।

इन तीन शर्तोंका पालन करनेसे मनुष्य कर्मों के बंधनसे मुक्त होता है और इस तरह वह जो जो कर्म करता है वह कर्म उसको बंधन करनेके लिये रहता ही नहीं। अर्थात् वह सब कर्म निर्दोष रीतिसे करता है अतः कर्मदोषोंसे अलिप्त रहता है। यह निर्दोषता क्यों सिद्ध होती है, इसकी उपपत्ति देखिये। कर्मके बंधसे मुक्त होने के लिये कर्मसे दोषकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। यह निर्दोष कर्म किस तरह साध्य होता है, इसका मनन करना चाहिये। " समता, कुशलता, प्रभुकी समीपता, अपनी बलवत्ता और फल का समर्पण करनेसे कर्मोंके दोषोंसे मुक्ति होती है; " अब एक एक का विचार करेंगे—

(१) (योग) समता।

अपना पराया, छोटा बडा, उच्च नीच आदि विषमता मनमें रही, तो कर्म विषम होते हैं और विषम कर्मोंसे विविध दोष होते हैं। परंतु इनके विषयमें (योग) समभाव मनमें रहा, मैं और दूसरा यह भेद मिट गया और सब के साथ समान व्यवहार होने लगा, तो वैसे व्यवहार से दोष नहीं होते। यह पुत्र मेरा है और यह दूसरे का है, ऐसा भेदभाव मनमें रहेगा तब तक ही उक्त दोनों पुत्रोंके साथ विषम व्यवहार होगा और विषमतासे दोष होगा, परंतु जिस समय यह भेदभाव नहीं रहेगा और अपने और पराये पुत्रके साथ समान व्यवहार होने लगा, तो उस समय विषमता मिटनेके कारण कर्मसे दोष नहीं होंगे और कर्म भी बाधा नहीं करेंगे। सब प्रकार के द्वन्द्वों के विषयमें समबुद्धि होनेसे इसी तरह सब प्रकारकी विषमता हट जाती है और ऐसी अवस्थामें जो कर्म होते हैं, वे बाधा करनेवाले नहीं होते।

(२) (योग) कुशलता।

कुशलता से कर्म निर्दोष होते हैं, यह सब जानते हि हैं। एक कारीगर अपने कर्ममें कुशल है और दूसरा नहीं है। उनमें जो कुशल होगा उसीके कर्म निर्दोष होंगे, वैसे दूसरेके नहीं हो सकते। और निर्दोष कर्म बाधक नहीं हो सकते प्रत्युत उद्धारक होसकते हैं।

'योग' के ये दो अर्थ हैं, समता और कुशलता। इन दोनों अर्थों को देखनेसे पाठकों को ज्ञान हुआ होगा कि इन से कर्म दोष रहित होंगे और कर्ता को मुक्त करनेमें समर्थ होंगे। (योग-संन्यस्त-कर्मा) जो इस प्रकारके योग के साथ कर्तव्य करता है वह बंधन से मुक्त होता है, यह बात अब पाठकोंको स्पष्ट हुई होगी।

(३) प्रभुकी उपस्थिति।

परमेश्वर सर्वत्र है और सब परमेश्वरमें है, इसका मुख्य अर्थ है प्रभुकी सर्वत्र प्रत्यक्ष उपस्थिति। मनुष्य जहां जाये वहां उसको यदि प्रभुकी उपस्थिति प्रत्यक्ष हो, वह प्रभु मेरे कर्म देख रहा है ऐसा इसको प्रतीत होता हो, और उस प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं यह इसका निश्चय हो, तो निःसन्देह उस के कर्म उत्तम होंगे और निर्दोष होंगे। स्वामीके सन्मुख रहनेसे सेवक से उत्तम कर्म होते हैं, और

जहां तक हो सके वहां तक सेवक प्रमादरहित होकर सब कर्म करता है। फिर सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा प्रभु मेरे सन्मुख है ऐसा जिस भक्त के अन्तःकरण में विश्वास होगा, वह उसकी अध्यक्षता में निर्दोष कर्म करेगा इस में कुच्छ भी संदेह नहीं है। (ज्ञान-संछिन्न-संशयः) ज्ञानसे जिसके संदेह नष्ट होते हैं, परमेश्वर सर्वत्र है वा नहीं, वह मेरे कर्म जानता है वा नहीं, इस प्रकार के संदेह दूर होनेसे वह प्रभुको सर्वत्र उपस्थित जानता है और वह जो करता है वह उस की संतुष्टीके लिये करता है।

(४) आत्मबल।

अपने बल से कर्म करनेसे कर्म निर्दोष होता है। दूसरेकी सहायतासे जो कर्म होंगे, उसमें दूसरेके बलपर निर्भर होनेकी परतंत्रता होनेके कारण पारतंत्र्य का बडा दोष उसमें है। यह दोष हटना अशक्य है। आत्मबलसे कर्म करनेवाले में वह पारतंत्र्य का दोष नहीं रहता, यही इसकी निर्दोषता है। (आत्मवान्) आत्मिक बल सबसे श्रेष्ठ बल है अतः जिसके पास यह बल होता है, वह श्रेष्ठबलयुक्त होनेके कारण अन्य कनिष्ठ बलवालों की अपेक्षा निःसन्देह श्रेष्ठ है और उसी प्रमाणसे वह निर्दोष भी है।

(५) कर्मफल का समर्पण।

अपने (संन्यस्तकर्मा= कर्मफलसंन्यासः) कर्मोंसे जो फल प्राप्त होगा, वह अपने भोग के लिये न रखते हुए, सब जनता की भलाईके लिये उसका समर्पण करनेवाला मनुष्य इसी त्यागभाव के कारण निर्दोष होता है। क्योंकि स्वार्थभोग-वासना उससे पूर्णतया हट जानेके कारण और उससे जो होता है वह सब जनता की भलाई, भूतमात्रका हित, (सर्वभूतहिते रताः। ५।२५; १२।४) करनेमें तत्पर होनेके कारण और उसकी स्वसुख-निरपेक्षता के कारण जो कर्म उससे होते हैं, उनका दोष उसको बाधक नहीं होता है।

इस प्रकार इस श्लोकमें कर्मके दोष से मुक्त होनेके जो उपाय कहे हैं उनका विचार पाठक करें। इस श्लोकका संक्षिप्त विवरण यहां किया है, इससे पाठकोंके मनमें इसका तत्त्व ठीक प्रकार आजायगा ऐसी हमें आशा है। इतना उपदेश कर्मदोषसे मुक्त होनेके विषय में कहनेके पश्चात् अन्तिम श्लोकमें कहते हैं कि- "अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले और हृदयमें रहनेवाले संशयको ज्ञानरूपी शस्त्रसे काटकर अपनी उन्नतिका उद्योग कर।"

(संशयात्मा विनश्यति। ४।४०) जिसके अन्तःकरणमें संदेह हैं उसका नाश होता है, ऐसा पहिले कहा है, अतः उस संशयको हटाने का उपाय 'ज्ञान' है, यह बात यहां कही है। ज्ञानका अर्थ यहां "परमेश्वरकी सर्वत्र उपस्थिति और सबकी परमेश्वरमें उपस्थितिकी प्रत्यक्षता" है। इस प्रकार का ज्ञान होते ही सब सन्देह दूर होते हैं और कर्तव्याकर्तव्य के विषय में निश्चय होता है। इस तरह जिसका निश्चय होता है, वह अपने अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिये कर्मयोग का आचरण करता है और उन्नति प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे
निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के
संवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥४॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायपर थोडासा विचार ।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग ।

कर्मका सूक्ष्म विचार ।

इस चतुर्थ अध्यायमें 'ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग' कहा है, अर्थात् "ज्ञानपूर्वक कर्मोंका संन्यास करके कर्मोंके दोषोंसे छूटनेकी युक्ति" कही है, अतः इसमें कर्मोंका बडा सूक्ष्म विचार किया है। इस दृष्टीसे यज्ञविचार का प्रकरण वारंवार मनन करने योग्य है। अध्याय के प्रारंभमें हि 'इस गीता शास्त्र की अखंड परंपरा आदिकालसे चली आ रही है और इस अनादि परंपरा का पुनरुद्धार करने के लिये अपना यत्न है,' यह बात भगवान् के मुखारविंद से प्रकट हुई है। श्रीभगवान् कहते हैं कि "मैंने हि पूर्व समयमें विवस्वान् से इस शास्त्र का उपदेश किया था, उससे मनु और इक्ष्वाकु को यह योग प्राप्त हुआ, पश्चात् यह लुप्त हो चुका, उसका पुनरुद्धार करनेके उद्देश्यसे मैंने तुझे यह उपदेश दिया" इस तरह भगवान् स्वयं वारंवार अवतीर्ण होते हैं, और इस योग की पुनः पुनः जाग्रति करते हैं। ऋग्वेद में भी इसी तरह का आशय कहा गया है—

पूर्ववृत्तकथन ।

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥ अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥२॥ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥३॥ ऋग्वेद ४।२६।१—३

"मैं मनु हुआ, मैं सूर्य बन गया था, मैंने बुद्धिवान् कक्षीवान् ऋषि बनकर (ज्ञानका प्रसार किया था।) मैंने अर्जुनीके पुत्र कुत्सको अपने आधीन रखा था और मैंने ही महाकवि उशना अर्थात् शुक्राचार्य बनकर (विद्या का प्रचार बहुत किया था।) यह मेरा कार्य देखो॥ मैंनेहि आर्यों को यह भूमि समर्पण की, दाता परोपकारी मनुष्योंके हितके लिये मैं हि वृष्टि करता हूं और उन्हीं के लिये मैं नदियां बहाता हूं। और सब देव मेरे द्वारा प्रचारित हुए इस ज्ञानको अनुसरते हैं॥ मैंने शंबर नामक शत्रुके ९९ कीले तोड कर और सौंवा नगर आर्योंके रहने योग्य बनाकर आर्योंको रहनेके लिये स्थान कर दिया और अतिथिपूजक दिवोदास की रक्षा युद्धमें मैंने हि की थी।"

इस स्थानपर ऋषि बनकर धर्मोपदेशका कार्य और क्षत्रिय बनकर आर्योंकी रक्षा करनेका कार्य मैंने किया था ऐसा श्री भगवान् का कथन है। यह कथन इस गीताके वचन के साथ तुलना करने योग्य है। इसी प्रकार ऋ० १०।४८-४९ और ऋ० १०।१२५ ये सूक्त इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। अर्थात् जैसा भगवद्गीतामें कहा है कि, "मैंने पूर्व युगमें ऐसा किया और वैसा किया," इसी तरह वेदमें भी कई सूक्तोंमें कहा है।

पिताका पुनर्जन्म ।

चतुर्थ अध्यायके श्लोक ५-६ के विवरण में पिताका पुनर्जन्म पुत्ररूपसे होता है, यह विषय कहा है। यही विषय महाभारतमें अधिक स्पष्ट शब्दोंके साथ आया है, अतः वे श्लोक यहां अवश्य देखिये—

भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः॥३७
आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।

तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम् ॥४९॥
म० भा० आदि० अ० ७४

"पति बीजरूपसे अपनी स्त्रीमें प्रविष्ट होकर पुनः पुत्ररूपसे जन्मता है। इस तरह पतिको पुत्ररूपसे उत्पन्न करनेके कारण धर्मपत्नीको जाया नाम सार्थ होता है, ऐसा प्राचीन ज्ञानी मानते हैं॥ स्वयं अपना ही जन्म होकर पिताही पुत्र बनता है, ऐसा ज्ञानियोंका मत है। इसलिये पुत्र की माता अर्थात् अपनीहि धर्मपत्नीको पुत्रजन्म के पश्चात् (मातृवत् पश्येत्) अपनी माताके समान देखना उचित है।" इस रीतिसे यहां कहा है कि पिताका पुत्ररूपसे पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्मके कई भेद भ० गी० (अ०४) श्लो० ५-६ के विवरणमें बताये हैं,उनके साथ विचारने योग्य यह श्लोक है, इतनाही पाठक यहां स्मरण रखें।

ईश्वरभावकी प्राप्ति।

संपूर्ण भगवद्गीताका उद्देश्य एकहि है कि 'नर का नारायण बने।' पुरुषका पुरुषोत्तम हो जावे। जीव का शिव बने किंवा—

ज्ञानतपसा पूताः मद्भावं आगताः। (४।१०)

"ज्ञान और तपसे पुनीत होकर (मद्भावं) परमेश्वरके भावको प्राप्त होते हैं।" जो ज्ञान और तपसे पवित्र बनेंगे वे ईश्वरके भावको प्राप्त होंगे। जैसा अग्निभाव को लकडी या लोहा प्राप्त हुआ तो वह अग्नि ही होता है, इसी तरह ईश्वर भाव को जो मनुष्य प्राप्त होता है, वह साक्षात् ईश्वर बनता है। कई पाठक इस विषयमें संदेह करते हैं, अतः श्रीमद्भगवद्गीता का इस विषयमें निश्चित सिद्धान्त क्या है वह अब देखेंगे। भगवद्गीतामें इस प्रकारके भगवद्भाव से युक्त बन जानेको "सिद्धि अथवा परम सिद्धि को प्राप्त होना" कहा है, अतः वे श्लोक यहां देखिये—

परम सिद्धि।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥
गी० १४।१

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
गी० १८।४९

"उत्तम से उत्तम ज्ञान वह है कि जो ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अनेक मुनि यहांसे परम सिद्धि को पहुंचे हैं॥ जिसकी भोगोंपर आसक्ति नहीं है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने भोगेच्छाओंका त्याग किया है, वह संन्यास द्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होता है।"

यहां 'परमसिद्धि' प्राप्त करनेके साधन "सत्य ज्ञान, अनासक्ति, मनका संयम और भोगोंकी अनिच्छा" कहा है, तथा और भी देखिये—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
गी० १८।४६

"जिसके द्वारा सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वर की पूजा अपने कर्म के द्वारा करनेसे मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।" ईश्वरपूजा करनेका और सिद्धि प्राप्त करनेका यह अति सुगम उपाय है। प्रत्येक मनुष्य जो काम धंदा करता है अथवा प्रत्येक मनुष्य जिस कर्म में नियुक्त हुआ है, वह मनुष्य वही कर्म परमेश्वर को अपने सन्मुख उपस्थित जान कर और उसको सन्तुष्ट करने के लिये करे। इस से वह परम सिद्धि को प्राप्त करता है। पुरुष हो या स्त्री हो, अपना निज कर्म करता हुआ इस प्रकार उच्च होता है; किसी भी मनुष्य को किसी भी अवस्थामें इस मार्ग से जानेमें किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं हो सकता। माता अपने पुत्रको उत्तम रीतिसे सुसंस्कृत करने द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकती है, पत्नी अपने पतिविषयक और पति अपने पत्नीविषयक कर्तव्य उक्त प्रकार करते हुए उन्नत हो सकते हैं; इसी तरह ओहदेदार, व्योपारी, कारीगर, कर्म-

चारी तथा हरएक प्रकारका अन्य मनुष्य अपना कार्य परमेश्वरको संतुष्ट करने लिये करता रहेगा, तो निःसन्देह उन्नत होगा। इसमें दोही बातें मुख्य हैं।

(१) परमेश्वर को अपने सन्मुख उपस्थित मानना, और

(२) अपना कर्म उसको संतुष्ट करने के लिये करता हूं ऐसा मान कर कर्म करना।

इतने ही से मनुष्य शुद्ध, पवित्र और उन्नत होता है। दुष्ट दुराचारी मनुष्य भी ये दो बातें मानेगा, तो थोडे ही समयमें दुष्टतासे और दुराचारसे दूर होगा, फिर सदाचारी मनुष्य की उन्नति होनेमें क्या संदेह हो सकता है? उन्नति का यह सुगमसे सुगम उपाय है। यही बात अन्य शब्दोंसे निम्न लिखित श्लोकमें कही है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
गी० १२।१०

"यदि तू योगादि साधनोंका अभ्यास करनेमें समर्थ नहीं है, तो तू मेरे लिये कर्म कर। मेरे लिये कर्म करनेसे हि तू सिद्धिको प्राप्त करेगा।" बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं कि वे योगादि साधन नहीं कर सकते। इस प्रकारकी असमर्थता होने पर भी उन मनुष्योंको हताश होनेका कोई कारण नहीं है, क्यों कि ऐसे मनुष्य यदि अपने कर्म परमेश्वरकी संतुष्टी के लिये करेंगे अथवा अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करेंगे तो वे सिद्धी प्राप्त करेंगे।

कई यहां शंका करेंगे कि, केवल अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करनेसे किस तरह उन्नति होगी? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक मनुष्य स्थान स्वच्छ करता है, यदि यह स्थान स्वच्छ करनेका कार्य वह अपने देशके राजाके लिये करेगा, तो वही काम वह कितनी दक्षतासे करेगा!! अपना कर्म राजा देखेगा, इतना विश्वास होनेसे उसका वह स्वच्छता का कर्म निर्दोष होता है, फिर राजाओंका भी जो राजा है, उस सर्वसमर्थ परमेश्वरके लिये जब वह अपना कर्म समर्पण करेगा तब उसकी शुद्धता, पवित्रता और उन्नति होनेमें संदेह ही क्या होगा? अर्थात् अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संदेह ही नहीं है।

इस तरह सिद्धि प्राप्त होनेके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है- यह सिद्धि प्राप्त होनेके साधन ये हैं—

१ भोगोंपर अनासक्ति,
२ आत्मसंयम, मनःसंयम और
३ वासनाओंका त्याग,

यदि ये साधन कोई मनुष्य न कर सके, तो वह मनुष्य—

४ अपने कर्म परमेश्वर को अर्पण करे।

यह सुगमसे सुगम उपाय है, इसका अवलंबन करनेसे प्रत्येक मनुष्य उन्नतिके पथपर आगे बढ सकता है। 'मनुष्य जो कर्म करता है वह परमेश्वरको समर्पण करे' इस से और सुगम उपाय क्या हो सकता है? यहां सुगम साधन की परम सीमा हो चुकी है। मनुष्य अपना जीवन परमेश्वर के लिये समर्पण करेगा तो सिद्धि को अवश्य प्राप्त करेगा।

परंतु "सिद्धि" शब्द से किसी भी निश्चित अवस्थाका बोध स्पष्टतया नहीं होता, 'सिद्धि'का तात्पर्य क्या है? मनुष्य जब सिद्धिको प्राप्त करता है, तब उसको क्या मिलता है, और मनुष्य को जबतक सिद्धि नहीं मिलती, तब तक उसमें किस बातकी न्यूनता रहती है, इसका विचार करना चाहिये। इसका निश्चय होनेसेहि परम सिद्धिकी कल्पना ठीक प्रकार आसकती है, अतः इस बातका अब विचार करेंगे।

विशेषता।

जिस मनुष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हुई होती है, उस सामान्य मनुष्यकी अपेक्षा जिसको सिद्धि

प्राप्त हो चुकी है, ऐसे सिद्ध पुरुषमें कुछ न कुछ विशेषता होती है, ऐसा निम्नलिखित गीतावचनोंसे प्रतीत होता है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
गी० ७। १७

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
गी० ६। ९

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
गी० ३। ७

"इनमें नित्य योगानुकूल व्यवहार करनेवाला, अकेले मेरी (ईश्वरकी) भक्ति करनेवाला ज्ञानी विशेष योग्यतावाला है। मैं ज्ञानीको प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है॥ उत्तम हृदयवाला, मित्र,शत्रु, पक्षपातरहित, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और पापी इन सबपर जो समभाव रखता है वही विशेष श्रेष्ठ है॥ जो मनुष्य मनके द्वारा इंद्रियों को अपने आधीन रखता है और भोगमें आसक्त न होता हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है वह विशेष श्रेष्ठ होता है॥"

इस तरह "(१) योगानुकूल व्यवहार, (२) ईश्वरभक्ति, (३) सर्वत्र समभाव, (४) इंद्रियसंयम, (५) अनासक्ति और (६) कर्मयोगका आचरण करनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष उच्च होती है," यह गीताका कथन है। पूर्व स्थानमें "परम सिद्धि" प्राप्त करनेके लिये "अनासक्ति, संयम, वासनात्याग और प्रभुको अपने कर्म समर्पण करना" ये चार बातें लिखीं हैं। यहां मनुष्यको "विशेषता" प्राप्त करनेके लिये छः बातें कहीं हैं, जिनमें आधीं पूर्वोक्त ही दुबारा कहीं हैं।

'विशेषता' प्राप्त करनेका भी क्या आशय है? सामान्य मनुष्योंमें कौनसी हीनता होती है और विशेष मनुष्यमें कौनसी पूर्णता होती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है, जब तक इस बातका निश्चय नहीं होगा, तब तक 'विशेषता' प्राप्त होनेका आशय ध्यानमें नहीं आवेगा। अतः इसकी खोज करना चाहिये।

श्रेयःप्राप्ति।

यहां कई कहेंगे कि श्रेय प्राप्त होनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष श्रेष्ठ होती है। सामान्य मनुष्य श्रेय मार्गसे दूर रहते हैं और विशेष मनुष्य श्रेयमार्गमें प्रवृत्त होते हैं। दोनोंमें यही भेद है।। इस श्रेय को प्राप्त करने का उपाय भ० गीतामें निम्न लिखित श्लोक में कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
भ० गी० ३। ११

"तुम यज्ञद्वारा देवोंकी संभावना करो और देव तुम्हारी संभावना करेंगे। इस रीतिसे परस्पर सहायता करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त करो।" यहां परमश्रेयःप्राप्ति का साधन 'परस्पर-सहायता' है ऐसा कहा है। समाजमें अथवा राष्ट्रमें द्विविध लोग रहते हैं। पूंजोपति और कर्मचारी, ज्ञानी और अज्ञानी, अधिकारी और जनता, आर्य और दस्यु, द्विज और द्विजेतर इस प्रकार अनेकविध लोक समाजमें रहते हैं, इनकी परस्पर सहायतासेहि सबका पूर्ण हित होसकता है। ज्ञानी अशक्त होंगे और कर्मचारी सशक्त होंगे, तो ज्ञानी लोग कर्मचारियों की सहायता ज्ञानद्वारा करें और कर्मचारी अपने शारीरिक बलसे ज्ञानीयोंको लाभ पहुंचावें। इस तरह परस्पर सहायतासे सबका कल्याण हो सकता है और आपसके झगडेसे सबकी हानी होसकती है। यह बात सहजहीमें सबके ध्यानमें आसकती है। यहां कल्याण अथवा श्रेय शब्दसे इहपर लोकमें प्राप्त होनेवाला सुख जाना जाता है।

'सिद्धि, परमसिद्धि, विशेषता, श्रेय,परमश्रेय, और कल्याण' ये सब शब्द संदिग्ध ही हैं। इनसे कुछ अवस्थाविशेषकी कल्पना मनमें उत्पन्न

होती है, यह सत्य है; तथापि उस अवस्थामें क्या लाभ है और वह अवस्था प्राप्त न होनेसे क्या हानि है, इस बात की निश्चित कल्पना इन शब्दोंसे नहीं होती है, अतः इस बात की खोज और करनी चाहिये।

मायाके पार होना।

इस स्थानपर कई लोग कहेंगे, कि श्रेयःप्राप्ति का अर्थ 'माया के पार होना' है। जिस का वर्णन इस प्रकार किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
गी० ७।१४

"मेरी यह तीन गुणोंवाली दैवी माया पार करना बडा कठिन कार्य है। जो लोग मेरी शरण लेते हैं वे ही इस माया से पार जाते हैं।"

इस श्लोकमें कहा है कि संसारमें रहनेवाले सामान्य मनुष्य इस दैवी माया के पाशोंसे बंधे होते हैं, इस माया के बन्धन तोडना कठीन कार्य है; परंतु जो मनुष्य परमेश्वर की शरण में जाते हैं, केवळ वेही इस माया के बंधनोंको तोडकर मुक्त होते हैं। यहां कुछ न कुछ विशेष अवस्थाकी कल्पना होती है। 'माया' नाम की दैवी शक्ति है, उसके तीन गुण हैं, येही बडे पाश हैं, साधारण अज्ञानी मनुष्य इन पाशोंसे बांधे जाते हैं। जो विशेष ज्ञानी परमेश्वर की भक्ति करते हैं, वेही इन पाशोंको तोड कर मुक्त होते हैं।

यद्यपि यहां "माया और गुण (पाश)" इन शब्दोंसे कुछ बंधन की कल्पना आती है, तथापि 'माया' शब्दसे किसी निश्चित पदार्थ का बोध नहीं होता और गुणों (पाशों) में मनुष्य कैसा बांधा जाता है, इस का भी बोध ठीक तरह नहीं होता है, अतः इस विषयकी अधिक खोज करनी चाहिये।

पुनर्जन्म न होना।

यहां कई विद्वान् कह सकते हैं कि 'माया के पाशोंमें बंधा होनेके कारण जीव को वारंवार जन्ममरण के चक्रमें परवश होकर घूमना पडता है; परंतु जो मायापाशोंसे दूर रहता है वह पुनर्जन्म में नहीं आता।' अतः कह सकते हैं कि 'साधारण मनुष्य जन्ममरण के चक्रमें घसीटे जाते हैं, परंतु विशेष श्रेष्ठता प्राप्त करनेवाले मनुष्य जन्ममरण के प्रवाह के बाहर हो जाते हैं। इस विषयमें निम्न लिखित श्लोक विशेष विचार की दृष्टीसे देखने योग्य हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ गी० ५।१७

"ज्ञानसे जिनके पाप धुलगये हैं,वे पवित्रात्मा लोग ईश्वर का ध्यान करते हैं, ईश्वर में अपने आत्माको लगाते हैं,ईश्वरकी भक्ति करते हैं और ईश्वरपरायण होते हैं और इससे वे जन्ममरण के प्रवाहसे छूट जाते हैं।" तथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ गी०८।१६

"ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक जन्ममरण की यातना भोगनेवाले हैं। परंतु जो मनुष्य मुझे (ईश्वरको) प्राप्त करते हैं, उनको पुनः जन्म नहीं लेना पडता।" इस प्रकार यहां कहा कि परमेश्वरकी भक्ति करनेवाले श्रद्धालु आस्तिक लोग परमेश्वरको प्राप्त होनेके पश्चात् पुनः पुनः जन्ममरण लेनेके कष्टमें नहीं पडते हैं। यहां निश्चय हुआ कि 'सिद्धि प्राप्त होना, श्रेय कमाना, विशेष अवस्था प्राप्त करना' इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य 'परमेश्वरको प्राप्त करना' है। परमेश्वरको प्राप्त करनेसेहि मनुष्य परमसिद्ध होता है, परमश्रेय प्राप्त करता है, और पुनर्जन्मसे पार होता है। परमेश्वरको प्राप्त करनेका विषय, गीतामें क्या और अन्य शास्त्रोंमें क्या, वारंवार आगया है। इसका निश्चित अर्थ समझनेकी इच्छा है,तो नीचे लिखे श्लोकका अच्छी तरह मनन करिये—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
गी० १४।२

"इस ज्ञान को प्राप्त करके उपासक ईश्वरके गुणधर्मोंके समान गुणधर्मोंसे युक्त होता है, तत्पश्चात् उसको सृष्टिकी उत्पत्तिके समय में भी जन्म लेना नहीं पडता, और प्रलयकालमें भी उसको व्यथा नहीं होती।" यहां परम सिद्धि की स्पष्ट कल्पना होगई है। परमेश्वर के जो जो गुणधर्म हैं वे गुणधर्म इस को प्राप्त होते हैं, मानो वह परमेश्वर के समान बन जाता है। जैसा अग्नि का स्फुलिंग अपनी दाहक शक्ति बढाकर अग्नि बन जाता है, उसी प्रकार यह जीव शिवस्वरूप हो जाता है। (मम साधर्म्य=ईशसाधर्म्य) ईश्वर के समान धर्मवाला बनना ही अन्तिम सिद्धि है। ईश्वर के समान गुणधर्म होनेसे वह जन्ममरण के क्लेशोंसे दुःखी नहीं होता है। जैसा ईश्वर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है वैसाही यह बनता है, फिर इसको दुःख, शोक कैसे हो सकेंगे?जन्म मरण के क्लेशोंसे दूर होनेका हेतु और भी एक है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

गी० १३।२३

"जो मनुष्य गुणमयी प्रकृति और पुरुष को यथावत् जानता है उसको सब तरह का बर्ताव अर्थात् सब कर्म करनेपर भी फिर से जन्म लेना नहीं पडता।" प्रकृति पुरुष का यथावत् ज्ञान होनेपर उसको कर्म करते हुए भी निर्लेपता सिद्ध करनेका उपाय ज्ञात होता है, और उस कारण उसको पुनर्जन्म लेनेका कारण नहीं रहता। अस्तु इस तरह परम सिद्धि प्राप्त करनेका अर्थ परमेश्वरके समान गुणधर्मोंसे युक्त बनना है, अर्थात् निर्दोष, निर्लेप या निष्कलंक बनना है। इस निर्लेपता का स्वरूप अब देखिये—

निर्लेपता।

मनुष्य इस संसारमें विचरता है, अतः अनेक रीतिसे उसपर दोष लगनेका संभव होता ही है। ऐसा दोष लगनेका संभव होनेपर भी, श्रीमद्भगवद्गीताने एक अपूर्व युक्ति दर्शाई है, उसका उपयोग करनेसे इस संसारमें यह मनुष्य निर्लेप या निष्कलंक, शुद्ध और पवित्र बन सकता है। निर्लेपता को प्राप्त करनेकी युक्ति यह है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

गी० ५।१०

"कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके अर्थात् सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करके जो मनुष्य आसक्तिरहित होकर सब व्यवहार करता है, वह पानी में जैसा कमल पत्र निर्लेप रहता है वैसा पापसे कलंलित नहीं होता।" यहां निष्कलंक रहने की दो युक्तियां कहीं हैं,-"(१)कर्म परमेश्वर को समर्पण करना, और (२) भोगोंका संग छोडना।" इस युक्तिसे मनुष्य सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी निर्दोष रह सकता है। पापी मनुष्य भी इस ज्ञानसे निर्दोष होगा, देखिये—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

गी० ४।३६

"सब पापियोंमें भी तू बडेसे बडा पापी हुआ, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका द्वारा तू संपूर्ण पापोंसे पार हो जायगा।" इस तरह इस ज्ञानसे और पूर्वोक्त युक्तिसे मनुष्य निष्कलंक हो सकता है।

जो जो कर्म मनुष्य करता रहे वह परमेश्वरके लिये करे, और उसके फलभोग की इच्छा न धरे। बस इतनी युक्ति करनेसे वह निर्दोष रहेगा। कर्म करनेपर भी कमलपत्रके समान निर्लेप रहेगा। वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे जैसा आकाश घरघर में रहनेपरभी घरके दोषसे दोषी नहीं होता है, इसी तरह यह आत्मा सर्वव्यापक होनेसे शरीर से बने कर्मोंके दोषोंसे दोषी नहीं बनता, देखिये इस विषयमें भगवद्गीता का कथन कितना स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२॥

गी० अ० १३

"यह अविनाशो परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहते हुएभी न कुछ करता है और न किसी से लिप्त होता है ॥ जैसे सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे हि सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा भी लिप्त नहीं होता ॥" यही उपदेश उपनिषदोंमें भी कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १०॥ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥ कठ० २।५

"जैसा अग्नि एक है, तथापि वह भुवनोंमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तुमें अलग अलग दीखता हैं, इसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परंतु वह प्रत्येक रूपमें भिन्न रूपवाला दीखता है और उसके बाहर भी वह है ॥ वायु जैसा एक है, परंतु प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर विभिन्न रूपवाला दीखता है, उसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परंतु वह प्रत्येक रूपमें अलग अलग दीखता है और वह उसके बाहर भी है ॥ जैसा सूर्य सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण सबका चक्षु जैसा है, तथापि किसी से संसर्ग होने के कारण दोषयुक्त नहीं होता, वैसा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, तथापि वह लोकोंके दोषोंसे दोषी अथवा लोकोंके दुःखसे दुखी नहीं होता ।"

आत्मा सर्वगत-सर्वव्यापक-है, यह बात (गी० २।२४ में) पूर्व स्थानमें कही है। यह सर्वगत होनेसेहि तत्वतः निर्दोष है। जैसा थोडा थोडा जल बिगडता है, नदीनाले गंदे होते हैं, परंतु यह सब दोषपूर्ण जल महासमुद्र में पहुंचनेपर भी समुद्रका जल कभी बिगडता नहीं, समुद्रका जल सदा पवित्र रहता है, (सागरे सर्वतीर्थानि) महासमुद्रमें सब प्रकारके पवित्र तीर्थ हैं, यह सागरजलकी पवित्रता उसके "महत्व"के कारण है चूंकि सागर बहुत बडा है, इस लिये बडा पवित्र है। आत्मा भी सब से बडा है अतः वह निर्दोष है। 'भूमा और अल्प' का विचार इससे पूर्व (गी० २।२३-२५ के विवरणमें) किया है, वह लेख यहां अवश्य देखें। जो दोष होता है वह अल्पमें होता है, अतः व्यक्तिगत संकुचित भावकी दृष्टिसे कर्म करनेपर दोष होते हैं और सामुदयिक विस्तृत सार्वभौमिक भाव की दृष्टिसे कर्म करनेपर निर्दोषता सिद्ध होती है, अतः वैयक्तिक भोगतृष्णा दूर करनेसे सब दोष हट जाते है, ऐसा वारंवार कहा है, वह युक्तियुक्त है ।

इस निर्लेपताका अर्थ "कर्मके बन्धसे निवृत्ति" है। यह कर्मबन्ध किस तरह दूर होता है, यह विचार भी बडा सूक्ष्म है, वह अब देखिये—

कर्म-बन्ध-निवृत्ति ।

कर्मसे बन्धन उत्पन्न होता है और प्रत्येक जीवित मनुष्य सदा कर्म करता है, अतः प्रत्येक मनुष्य कर्मबन्ध में फंसता है। ऐसी अवस्था में कौन मनुष्य किस तरह कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है ? इस तरह विचार करनेसे मनुष्य अपनी मुक्ति के विषय में निराश होगा, अतः भगवद्गीता ने कहा है कि, हे मनुष्य तू निराश न हो, क्योंकि, असंगवृत्तिसे रहनेपर कर्मके बंधन नहीं रहते, यह सिद्धान्त बतानेके उद्देश्य से गीतामें कहा है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ गी.४।२३

" जो भोगोंपर आसक्त नहीं है, जिसका चित्त ज्ञानसे पूर्ण है, और जो यज्ञके लिये कर्म करता है उस मुक्तके सब कर्म नष्ट होते हैं।" भोगोंपर आसक्त न होनेसे और ईश्वरविषयक ज्ञानसे चित्त पूर्ण करनेसे मनुष्य के सब कर्म नष्ट होते हैं, सब कर्मोंका लय होता है, अतः बन्धन उत्पन्न करनेके लिये वे कर्म उसके पास अवशिष्टही नहीं रहते । इसी तरह कर्मयोगके द्वारा कर्मके बन्धन दूर किये जा सकते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
गी० २।३९

" यह सांख्यतत्त्वज्ञान तुझे बताया; अब कर्म योगका तत्त्वज्ञान समझाता हूं सो तू श्रवण कर, इस ज्ञानसे तू कर्मके बन्धनोंको तोड सकेगा । " कर्मयोग की रीतिसे कर्म करनेपर कर्म के दोषसे बंधन नहीं है । कर्मदोष से मुक्त होनेकी यह युक्ति है। तथा और-

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
गी० ५।३

"जो मनुष्य किसी का द्वेष नहीं करता और किसी भोगकी इच्छा भी नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे दूर रहता है,वह सच्चा संन्यासी बन्धनसे मुक्त होता है।" यहां बन्धन से छूटनेके तीन हेतु दिये हैं, (१) अद्वेष, (२) निरिच्छता और (३) निर्द्वन्द्वता । जिस मनुष्य के आचरण में ये तीनों सहज ही से रहते हैं वह मनुष्य कर्म के दोषोंसे बद्ध नहीं होता है। किसी का द्वेष न करो,भोग की कामना न करो और सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखो, ऐसा करनेसे मनुष्य मुक्त होगा । तथा और—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
गी० ३।३१

"जो लोग श्रद्धा रखकर, और द्वेष का त्याग करके, इस मेरे कथन के अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्म के बन्धन से मुक्त होते हैं।" इस वचन में भी (१) श्रद्धा, (२) अद्वेष और (३) भगवान् के मतानुकूल व्यवहार करना ये तीन हेतु कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये दिये हैं। भगवान् के मतानुसार चलनेका अर्थ आसक्ति रहित कर्म करना इत्यादि भगवद्गीतामें कहा हुआ है। अब कर्म बन्धन न होनेके लिये क्या करना चाहिये इस विषयमें देखिये -

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
गी० ४।१४

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
गी० ४।२२

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥
गी० ४।४१

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
गी० १८।१७

"मुझे कर्मफल की लालसा नहीं है, अतः मुझे कर्मोंका लेप नहीं होता है; इस तरह जो मुझे भलीभान्ति जानता है, वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता ॥ जो सहजप्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है, जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहता है, जो द्वेषरहित होता है और जो सफलता और निष्फलता के विषय में मन में समभाव रखता है, वह कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पडता ॥ समत्वरूपी योगद्वारा जिसने कर्मफलका त्याग किया है, ज्ञान के कारण जिसके सब संदेह दूर हो चुके हैं और जो आत्मबलसे युक्त है, उसको कर्मोंसे बन्धन नहीं होते हैं ॥ जिसमें अहंकार--घमण्ड-नहीं है, जिसकी बुद्धि मलीन नहीं हुई

है, वह इन सब लोकोंको मारते हुए भी नहीं मारता, और किये कर्मोंसे बन्धन में नहीं पडता।"

इन चार श्लोकोंमें कर्मोंके द्वारा होनेवाले बन्धन दूर करनेके उपाय कहे हैं। कर्मबन्धन तोडनेके उपाय ये हैं— (१) कर्मफल की अनिच्छा, (२) यदृच्छालाभ में संतोष, (३) द्वन्द्वातीत होना, (४) मत्सररहित होना, (५) सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखना, (६) योग से कर्म को करना, (७) ज्ञान से सन्देहनिवृत्त होना, (८) आत्मबलसे युक्त होना, (९) अहंकार न होना, (१०) शुद्ध पवित्र निर्मल बुद्धि करना, इन दस उपायोंसे कर्मोंके बन्धन दूर होते हैं। ये दस युक्तियां जिसने साध्य की हैं, वह सदा कर्म करता रहा, तो भी बद्ध नहीं होता; तथा—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
गी० ५।७

"जो समत्वरूपी योगका आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने मन को जीता है और जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, और जो सब भूतमात्रको अपने आत्माके समान अनुभव करता है, वह कर्म करते हुए भी अलिप्त रहता है।" यहां (१) समत्वयोगका आचरण, (२) हृदय की शुद्धता, (३) आत्मविजय, (४) इंद्रियसंयम, और (५) सर्वभूतात्मभाव ये पांच साधन कर्मदोष निवारण के लिये कहे हैं, इन में से कई पूर्वोक्त साधनों में आचुके हैं और शेष उनके साथ साथ सिद्ध होनेवाले हैं।

इन श्लोकोंका मनन करनेसे हमें पता चलता है कि मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होनेका आशय 'कर्मके दोषोंसे दूर होना' है। जो कर्मोंके करनेपरभी निर्लेप रहता है, उसको सिद्ध पुरुष समझना चाहिये, इसीको मुक्त कहते हैं।

मुक्ति अथवा मोक्ष।

मनुष्य को सिद्धि मिली, मनुष्य विशेष योग्यतासे युक्त हुआ, कर्मबन्धनसे दूर रहा, निर्लेप या निष्कलंक हुआ, तो कहा जाता है कि वह मुक्त हुआ। यह मुक्ति प्राप्त करना मनुष्यका मुख्य ध्येय है, अतः इस मुक्तिके विषय में गीतामें क्या कहा है उसका यहां विचार करना चाहिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
गी० ९।१

"तू द्वेष रहित है, इस लिये तुझे यह गुह्य ज्ञान मैं कहता हूं, इस ज्ञान से तू अशुभ से अपने आपको मुक्त करेगा।" यहां मुक्तिका अर्थ 'अशुभसे बचना' है और यह मुक्ति गुह्य ज्ञानसे प्राप्त होती है। तथा—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
गी० १८।७१

"जो मनुष्य श्रद्धालु और द्वेष न करनेवाला है, यदि वह यह मोक्षका ज्ञान श्रवण करेगा, तो निःसन्देह मुक्त होकर शुभकर्म करनेवालों के पुण्य लोकों को प्राप्त होगा।" यहां मुक्त होनेके तीन साधन कहे हैं, (१) श्रद्धालुता, (२) द्वेषरहितता और (३) मोक्षमार्ग का ज्ञान। श्रद्धाहीन और द्वेष करनेवाले लोग वारंवार बन्धनमें फंसते हैं, अतः मुमुक्षु मनुष्यको उचित है कि वह श्रद्धा से मोक्षज्ञान प्राप्त करे और कभी द्वेषभाव मनमें न धारण करे। अथवा ईश्वर की शरणमें जानेसे भी मोक्ष प्राप्त होता है, देखिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गी० १८।६६

"सब विभिन्न धर्मकल्पनाओंका त्याग करके तू मेरी (ईश्वरकी) शरणमें आ। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, अतः तू शोक मत कर।"

यहां एकनिष्ठासे परमेश्वर की शरण में जानेसे मुक्ति मिलती है, ऐसा स्पष्ट कहा है। अन्य विचार छोडकर शुद्ध भावसे परमेश्वरकी शरणमें जानेसे

मनुष्य मुक्त होता है। परमेश्वर मनुष्य का हृदय देखता है, उसमें श्रद्धाभक्ति होगी और सत्य-निष्ठासे शरण में आनेका भाव होगा, तो उसकी मुक्ति होनेमें क्या देरी होगी? इस तरह शरण जानेवाले को साधनोंके विविध आडम्बर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति है। ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति का वर्णन यह है—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ गी.१०।३

"जो मनुष्य मुझ सब लोकोंके महेश्वर को अजन्मा और अनादि स्वरूपमें यथावत् जानता है,वह सब लोगोंमें बडा ज्ञानी होता है और सब पापोंसे मुक्त होता है।" यहां ईश्वरको यथावत् जाननेसे अर्थात् ज्ञानमार्गसे मुक्ति प्राप्त करनेका वर्णन है। परमेश्वरका दिव्य स्वरूप जाननेसे इस तरह मुक्ति होती है। अब योगमार्गसे मुक्त होनेके विषय में देखिये—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
गी० ५।२८

"जो मोक्षपरायण मुनि अपने इंद्रिय, मन और बुद्धिको अपने वश में रखता है और इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होता है, वह सदा मुक्त ही है।" यह अनुष्ठान तथा योगसाधनसे मुक्ति है, इंद्रियादिकोंका संयम करना और इच्छा, कामना, वासना, भय, क्रोध आदिसे दूर होना, यही प्रयत्नसाध्य है। यह साध्य होते हि मुक्ति सिद्ध होती है। मुक्तिका अर्थ इंद्रिय-मन-बुद्धि की स्वाधीनता और इच्छा-भय-क्रोधरहित होना है। इसका नाम मुक्ति है। पूर्वोक्त निर्द्वन्द्व आदि स्थिति इस से स्वयंसिद्ध होती है।

यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि बन्धन-निवृत्ति, पापसे बचना, कर्मबन्धन से छूटना आदि जो मुक्तिके लक्षण हैं वे निषेधभावदर्शक हैं। फलानी बात वहां नहीं होती, यह अभाव-कथन है, अभावकथन से मुक्त स्थितिमें क्या होता है इसकी कल्पना नहीं होती। अतः मुक्तिका भावरूपस्वरूप क्या है इसका विचार करना आवश्यक है। वह अब करते हैं—

शान्ति की प्राप्ति।

मुक्तिमें 'शान्ति' रहती है। यह मुक्तिका भाव-रूप वर्णन है। मुक्तिमें शान्ति है। आपने देखा कि मुक्तिमें निर्द्वन्द्व स्थिति होती है। द्वन्द्व का अर्थ लडाई झगडा है और निर्द्वन्द्व स्थितिका अर्थ शान्ति है। इसी तरह इच्छा-भय-क्रोध ये अशा-न्तिके स्वरूप हैं और इनसे दूर होनेका नाम मोक्ष अथवा शान्ति है। इस तरह मुक्तिके जो अन्यान्य साधन कहे हैं, उनसे अशान्ति हटती है और शान्ति प्राप्त होती है; इसका अनुसन्धान पाठक करें। इस शान्तिके विषयमें भगवद्गीतामें निम्न लिखित वचन मनन करने योग्य हैं -

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
गी० २।७१

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
गी० ५।१२

"सब कामनाओंको छोडकर जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरण करता है वही शान्ति प्राप्त करता है॥ समत्वरूप योगका आचरण करनेवाला कर्मफलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करता है, परंतु समत्व-रूप योगका आचरण न करनेवाला कामना के वशमें होकर फलासक्तिके कारण बंधनमें फंसता है॥"

यहां परम शान्ति प्राप्त करनेके जो साधन कहे हैं वे ये हैं— "(१) कामना अथवा वासना का त्याग, (२) निःस्पृह वृत्तिका धारण, (३) ममत्व-का त्याग, (४) अहंकारका त्याग, (५) समत्व रूप योगका आचरण, (६) कर्मफलका त्याग।"

पाठक यदि पूर्व स्थानमें मोक्ष, बन्धननिवृत्ति, परम सिद्धि आदि प्रकरण देखेंगे, तो उनको येही साधन वहां भी दिखाई देंगे, अर्थात् यद्यपि इन शीर्षकोंके शब्द विभिन्न हैं, तथापि उनसे बोधित होनेवाली स्थिति एक ही है, क्योंकि येही सब साधन हरएक स्थानमें भिन्न भिन्न रूपसे आरहे हैं। यही बात और देखिये —

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
गी० ४। ३९

" श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है, ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है।" यहां श्रद्धा, तत्परता, इंद्रियसंयम ये साधन ज्ञान प्राप्तिके लिये कहे हैं और ज्ञानसे शान्ति प्राप्त होनेका उल्लेख यहां भी है। योगसे भी शान्ति मिलती है देखिये—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ ६।१५

" जिसका मन इस तरह नियम में रहता है, वह योगी आत्माको परमात्माके साथ मिलाता है जिससे वह मुझ-परमात्मा में रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त करता है।"

इस तरह ध्यानयोगी भी परम शान्ति प्राप्त करता है, इस के साधनों में भी (१) मन का संयम, (२) ध्यानयोग, (३) ईशप्राप्ति ये शान्ति के साधन कहे हैं। इनमें मनःसंयम पूर्वोक्त साधनोंमें से एक है। परमेश्वरको जाननेसे भी शान्ति मिलती है —

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
गी० ५। २९

"यज्ञ और तपके भोक्ता, सब लोकोंके बडे ईश्वर, और सब भूतमात्रों का हित करनेवाले, सब भूतोंके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले मुझ परमेश्वरको जान कर मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है।" परमेश्वर को यथावत् जाननेसे शान्ति प्राप्त होनेका कथन यहां है। यहां जो 'सब भूतका हित करनेका गुण' परमेश्वरमें है ऐसा कहा है, वही सब भूतोंका हित करनेका स्वभाव अथवा सब भूतोंके हित में आत्मसमर्पण करनेका स्वभाव बनाना (सर्वभूतहिते रताः। गी० ५। २५; १२। ४) उपासक को योग्य है। ईश्वर के गुणोंका ज्ञान होने से उन गुणोंका अपने में धारण करने की ओर प्रवृत्ति होती है और उससे ईश्वरीय भाव उपासक में प्रति समय बढता है और अन्त में शान्तावस्था प्राप्त होती है। इसीका वर्णन इस श्लोकमें है। परमेश्वर सब लोकोंका महान् ईश्वर है इस लिये सब भूतमात्रोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र उसके लिये बहुत ही विस्तृत है। जो मनुष्य जितना बडा होगा, उस प्रमाणसे उसका सब भूतोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र बडा होगा। जैसा उदाहरण के लिये देख सकते हैं, कि— एक ग्रामनिवासी ग्रामनेताका भूतहित करने का कार्यक्षेत्र ग्राम होगा, किसी प्रांतके नेताका कार्यक्षेत्र प्रांत तक होगा, और राष्ट्रके नेताका कार्यक्षेत्र राष्ट्र तक होगा, इस तरह कार्यक्षेत्र न्यूनाधिक होगा। परमेश्वर सब विश्व का नेता है इस कारण वह सब विश्वका हित करता है। कार्यक्षेत्र छोटा हो या बडा हो, उस में अपनी योग्यतानुसार 'सब भूतोंका हित' करनेका नियम सर्वत्र समान है जो उन्नतिका हेतु है। परमेश्वर सब विश्वका हित करता है इसी लिये वह विश्वका नेता है, यह योग्यता उसके उस कर्म के कारण उसको प्राप्त हुई है। अर्थात् जो मनुष्य जितना कार्यक्षेत्र अपने लिये विस्तृत करेगा, उतनीहि उसकी योग्यता बढना संभव है। और उसी प्रमाणसे वह शान्तिका अधिकारी होगा। तथापि अपना कर्तव्य कर्म करनेकी शान्ति तो कर्तव्य करनेपर प्रत्येक कर्ता को प्राप्त होगी। अब त्यागसे प्राप्त होनेवाली शान्तिके विषयमें देखिये —

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ गी० १२। १२

"अभ्यास से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है क्यों कि इस त्यागसे तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।" यहां योगाभ्यास, ध्यान, ज्ञान आदिसे कर्मफलका त्याग अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इस त्यागभावसेहि शान्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहा है वह शान्ति प्राप्त करनेकी दृष्टीसे विशेष महत्त्व की बात है। कर्मयोगियोंको तथा अन्यों को भी फलत्याग से ही शांति की संभवना है, अब शांत मनुष्य की स्थिति कैसी होती है सो देखिये—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ गी० २। ७०

"चारों ओर से पानी भर जानेपर भी अचल रहनेवाले समुद्रमें जिस प्रकार सब नदियां स्वयं चलीं जातीं हैं, उसी प्रकार जिसमें सब विषय (स्वयं उसकी कामनाके विना) प्रवेश करते हैं, उसे ही सच्ची शान्ति मिलती है। जो कामोपभोगोंकी इच्छा करता है, उसको शान्ति नहीं मिलती।"

यहां उपमा और उपमेय का विचार करना चाहिये। समुद्र चाहता नहीं की नदियां अपनेमें पानी लावें, वह तो पहिले भी पूर्ण होता है, ऐसे स्वयं पूर्ण में नदियोंने पानी भर दिया तो भी वह वैसाही पूर्ण रहता है, जैसा पहिले था। नदियोंने पानी न लाया तोभी वह अपूर्ण नहीं होगा। नदीयोंसे पानी आने और न आनेपर समुद्रकी पूर्णता अवलंबित नहीं है, वह तो दोनों अवस्थाओं में पूर्ण है इसी कारण वह शान्त है। जो नदियोंके पानी लानेसे भर जायगा और न लानेसे सूख जायगा, उसमें यह पूर्णताकी शान्ति नहीं होगी। इसी तरह जिसको विषय प्राप्त होनेसे ही सुख होगा और न प्राप्त होनेसे नहीं होगा, वह तो उसकी अपूर्णताका लक्षण है। जिसमें ऐसी बात नहीं है, जो दोनों अवस्थाओं में सम रहता है, उसीको शान्ति प्राप्त होती है।

यह शान्ति मनुष्य चाहता है। यह शान्ति प्राप्त होनेके साधन ये हैं— (१) कर्मफलका त्याग, (२) समत्वयोगका आचरण, (३) मनका संयम, (४) कामनात्याग, (५) निःस्पृहता, (६) ममत्व छोडना, (७) निरहंकार होना, (८) श्रद्धालु होना, (९) ईश्वरतत्परता, (१०) इंद्रियसंयम करना (११) परमेश्वरको जानना, (१२) परमेश्वर सबका मित्र है ऐसा जानना (और वैसा स्वयं सबका मित्र बनना), (१३) स्वयं परिपूर्ण रहना, ये शान्ति प्राप्त करनेके साधन हैं। इनमें बहुतसे पूर्व स्थानमें आगये हैं। इसका विचार करनेसे पता चलता है कि शान्ति प्राप्त करनेका आशय भी पूर्ववत् "सिद्धि" प्राप्त करना है। सुख प्राप्त होनेके साधन भी ऐसे ही हैं, देखिये—

अक्षय्य सुख।

मनुष्य प्रतिसमय कुछ न कुछ सुख प्राप्त करता है, परंतु वह सुख क्षणिक होता है अतः प्राप्त होते हि नष्ट होता है, और फिर मनुष्य दुःख का अनुभव करने लगता है। इस तरह सुख के नंतर दुःख और दुःखके नंतर सुख, ऐसा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका चक्र चलनेके कारण मनुष्य त्रस्त होता है। इस त्राससे मुक्त होना और अक्षय्य सुख प्राप्त करना यह मनुष्यका ध्येय है। सब धर्मशास्त्र मनुष्यको अक्षय्य सुख प्राप्त करने का सीधा मार्ग बतानेके लिये हैं। यह अक्षय्य सुख कैसा मिलता है, इस विषयमें भगवद्गीताका उपदेश देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥
गी. ५।२१

"जो बाह्य स्पर्शविषयोंपर आसक्त नहीं है, उसको अपने आत्मामें सुख प्राप्त होता है; वह ब्रह्मके साथ अपने आत्माका योग करनेवाला मनुष्य अक्षय्य सुख प्राप्त करता है।" इसमें

अक्षय सुख प्राप्त करनेके दो उपाय कहे हैं— (१) विषयोंपर अनासक्ति और (२) परमात्माके साथ योग। पाठक विचार करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि, इन दोनों उपायोंमें विषयोंपर अनासक्ति रखना ही मुख्य बात है, क्यों कि बाह्य विषयोंपर आसक्ति न रही, तो स्वयंहि अन्तरात्मा परमात्मामें संयुक्त हो जाता है। अतः विषयोंका मोह छोडने का कितना घनिष्ट संबन्ध अक्षय सुख प्राप्त करनेके साथ है, इसका पाठक यहां विचार करें। संपूर्ण मानवी उन्नति अर्थात् मानवोंकी अध्यात्मिक उन्नति विषयोंपर अनासक्त होनेसे हि सिद्ध होती है, फिर उसका नाम अक्षयसुखप्राप्ति हो अथवा सिद्धि, परम सिद्धि, परम गति इत्यादि हो। नामभेदोंसे कल्पनाभेद कितना भी हुआ, तथापि 'भोगोंपर अनासक्त होना' ही साधनोंमें मुख्य साधन है, इसमें सन्देह नहीं है। यही बात आगे कही है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
गी० ५।१३

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
गी० ६।२८

"सब कर्मोंका मनसे त्याग करके, संयमी पुरुष, नव द्वारवाले इस देहरूपी नगरमें, स्वयं कुछ न करता हुआ और कुछ न कराता हुआ, सुखमें रहता है॥ आत्माके साथ निरंतर अनुसंधान करनेवाला निष्पाप योगी सहज ही में ब्रह्मप्राप्तिसे मिलनेवाला अत्यंत सुख अनुभवता है।" पहिले श्लोक में भोगोंपर अनासक्ति का और दूसरे में परमात्माके साथ अपने आत्माका संबंध करनेका विषय कहा है। इस से विना आयास अपने अन्दर ही अन्दर अनन्त और अक्षय सुख प्राप्त होता है। मनुष्य भोगोंपर आसक्त होनेसे दुःखमेंहि फंसता जाता है। इस तरह क्षणिक सुखके पीछे लगकर अक्षय सुखसे वंचित होता है। यही बात और अन्य शब्दोंसे कही है, देखिये—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
गी० ६।२७

"जिसका मन भलीभान्ति शान्त हुआ है, जिसके विकार नष्ट हुए हैं, वह ब्रह्मरूप बना हुआ निष्पाप योगी निःसन्देह उत्तम सुख प्राप्त करता है।" यहां भी वेही दो साधन-भोगोंपर अनासक्ति और ब्रह्मके साथ योग—ये दो साधन उत्तम सुख की प्राप्तिके लिये कहे हैं। यही विषय सारांशसे पुनः अन्य शब्दोंद्वारा कहते हैं, देखिये—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
गी० ५।२३

"जो मनुष्य यह देह छूटनेके पूर्व काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है, वही योगी और वही सुखी है।" यहां कामवेग को सहन करना और क्रोधवेगको सहन करनेसे सुख मिलनेकी बात कही है। यहां मनुष्य मात्रपर कामके वेग और क्रोधके वेगका आक्रमण होता है ऐसा कहा है। जो मनुष्य श्रेष्ठ श्रेणीका होगा, वह उन कामक्रोधके हमलोंको सहता है, अर्थात् उस वेगके आधीन नहीं होता, उनका आक्रमण होनेपरभी अपनी स्थितिमें अचल रहता है, अतः सुखी रहता है। परंतु जो मनुष्य कमजोर होता है वह कामके वेगसे कामी और भोगी बनता है और क्रोधवेगसे क्रोधी बनता है और उन वेगोंके साथ बहता जाता है, अतः निरंतर दुःखी होता है। सुखदुःखका यह मुख्य कारण पाठक ध्यानमें धारण करें। इसी अक्षय सुखको अमृत कहते हैं, अतः अमृत प्राप्त करनेके विषय में गीताका उपदेश देखिये—

अमृतत्वकी प्राप्ति।

मरनेका नाम दुःख है और न मरने अर्थात् अमर होनेका नाम सुख है। परंतु यहां विचार ऐसा करना होता है कि, मनुष्य अपने मर्त्य देहमें रहता हुआ अमर कैसे हो सकता है? मर्त्यदेह कभी न कभी मरेगा ही, इसलिये अमरत्वप्राप्ति मनुष्यको किस उपाय से होना संभव है? इस विषयमें गीता का मननीय उपदेश ध्यानमें नित्य धारण करने योग्य है, देखिये—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥२।१५

"सुखदुःखको समान माननेवाले जिस धैर्यशाली मनुष्यको ये विषय पीडा नहीं देते, वह अमरपन के लिये योग्य होता है।" यह पुरुष अमरपन का अधिकारी है। सुखदुःखको समान मानना यह एक बडी भारी तपस्या है, सुखमें कदाचित् मनुष्य सम रहेगा, परंतु दुःख आनेपर भी समवृत्ति रखना और कर्तव्यसे न गिरना बडा कठीन कार्य है। इसी तरह विषयोंसे दूर रहना भी एक तपस्या ही है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर पाठकोंको यह बात विदित होगी कि, यह सब भोगोंपर अनासक्ति रखनेसेहि साध्य होना संभव है। इसी विषयमें और देखिये—

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
गी० १४।२०

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
गी० १३।१२

"देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंसे पार होकर देहधारी मनुष्य जन्म मृत्यु जरा आदि दुःखोंसे छूटता है और अमरत्वको पाता है॥ जिसे जाननेवाला अमरपन प्राप्त करता है, वह ज्ञेय वस्तु क्या है सो मैं तुम्हें कहूंगा, वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् कहते हैं और न असत्॥"

इस तरह मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है। शान्ति, अक्षय सुख, अमरत्व, परमसिद्धि आदिका अर्थ एक ही है। इसीको "अनामय-अव्यय-शाश्वत पद" कहते हैं, इस के विषयमें गीताके वचन देखिये—

अनामय-अव्यय-शाश्वत पद।

"अनामय" का अर्थ जहां रोगादिकों के क्लेश नहीं हैं, जो नीरोग स्थान है, "अव्यय" का अर्थ जहां व्यय अर्थात् शक्तिका नाश नहीं होता है, शक्ति अखंडित रहती है और "शाश्वत" का अर्थ चिरकाल रहनेवाला, कभी नाश न होनेवाला। ये सब शब्द अक्षय सुख देनेवाले अमृतत्व के के वाचक हैं; इनके संबंधका वर्णन गीतामें निम्नलिखित श्लोकोंमें आगया है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
गी० २।५१

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ गी० १५।५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
गी० १८।५६

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गी० १८।६२

"समत्वबुद्धियोग करनेवाले ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करके, जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थान को प्राप्त होते हैं॥ जिसने मान और मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मविचार में मग्न हैं, जिनकी विषयकामनाएं शान्त हो चुकी हैं, जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहते हैं, वे अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं॥ मेरा (ईश्वरका) आश्रय करके सदा सब कर्म करनेवाला मनुष्य मेरी (ईश्वरकी)

कृपासे सनातन अविनाशी स्थान प्राप्त करता है॥ भक्तिसे तू उसी ईश्वरकी शरण जा। उसी की कृपासे तू परम शांतिसे परिपूर्ण अमरपद प्राप्त करेगा।"

इन श्लोकोंमें शाश्वत स्थान प्राप्त करनेके साधन निम्न लिखित दिये हैं— (१) कर्मफलत्याग, (२) समत्वयोगका आचरण, (३) मनकी स्वाधीनता, (४) मान और मोह छोडना, (५) भोगदोषोंसे दूर होना, (६) कामनात्याग, (७) द्वन्द्वोंको छोडना, (८) आत्मविचार-ईशध्यानमें तत्परता, (९) सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करना, (१०) परमेश्वरकी शरणमें जाना, इन साधनोंसे शाश्वत सुखका स्थान मिल सकता है। इन में वही त्यागवृत्ति, भोगनिवृत्ति और ईश्वरपरायणता ह, जो इस से पूर्व हमने देखी है। शाश्वत पद का ही अर्थ परम गति है, अतः इस विषयमें गीताका सिद्धान्त देखिये—

परम धाम और परम गति।

परम गति, परम धाम और शाश्वत पद एकही के अनेक नाम हैं। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
गी० ८।२१

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
गी० १५।६

"जिसका नाम अव्यक्त और अक्षर है, उसको परम गति भी कहते हैं, जिस स्थान को प्राप्त होनेसे पुनर्जन्म लेना नहीं पडता, वही स्थान (मेरा) परमेश्वरका परम पद है॥ सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि उस स्थान को प्रकाशित नहीं करता, जहां पहुंचकर फिर वापस आना नहीं होता, वही (मेरा) परमेश्वर का परम स्थान है॥" अर्थात् परमेश्वरका जो परम स्थान है उसी को परम पद, परम स्थान, परम धाम, परम गति आदि नाम हैं। यह स्थान, धाम अथवा गति प्राप्त करनेसे वारंवार जन्ममरण के कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करनेसे हि यह स्थान मिलता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ गी० ८।२८

"इस ज्ञानको प्राप्त करनेपर वेद, यज्ञ, तप और दान के जो पुण्य फल कहे गये हैं, उन सब का अतिक्रम करके योगी आद्य श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त प्राप्त करता है।" ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेसेहि योगी को इस परम स्थानकी प्राप्ति होती है। योगमार्गसे मनुष्य इस परम गतिको प्राप्त करता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
गी० ६।४५

"प्रयत्नसे योगाचरणमें दक्ष रहनेवाला योगी पापसे मुक्त होकर और अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे शुद्ध होकर परम गतिको पाता है।" कर्मयोग के अनुष्ठानसे इस तरह परम गति मिलती है। ओंकारके जपयोगसे भी परम गति मिलती है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
गी० ८।१३

"ओंकार का उच्चार करता हुआ और (मेरा) ईश्वरका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देहत्याग करता है वह परम गतिको प्राप्त करता है।" इसी तरह ईश्वरस्मरण नित्य करनेवाला भी पुण्यात्मा बनता है। यहां परम गति प्राप्त होनेका साधन ओंकारजप और ईश्वरध्यान कहा है। तथा—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
गी० १३।२८

"जो मनुष्य ईश्वरको समभावसे सर्वत्र उपस्थित

देखता है, और स्वयं अपने आत्माका घातपात नहीं करता, वह उस कारण परम गतिको पाता है।" यहां भी परमेश्वर के सर्वव्यापक होनेका ज्ञान प्राप्त करनेसे परम गति प्राप्त होनेका विधान स्पष्ट है। जो परमेश्वरको सर्वत्र उपस्थित जानता है वह अपने साथ परमेश्वरकी उपस्थिति देखता है और अपने आपको हीन कर्मसे दूर रखता है, इसलिये उन्नत होता है। यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ गी० ९।३२

"जो पापयोनि हैं वे, तथा स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, जो (मेरी) ईश्वरकी शरणमें जाते हैं वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।" अर्थात् परम गति प्राप्त करनेका सरल और सीधा उपाय परमेश्वर की शरण में जाना है। तथा—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ गी० १६।२२

"(काम क्रोध लोभ) इन तीन नरकद्वारोंसे जो मनुष्य दूर रहता है और अपने आत्माका कल्याण करता है, वह उस कारण परम गतिको प्राप्त होता है।" इस श्लोकमें काम-क्रोध-लोभसे दूर रहनेसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है, यह मार्ग प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक व्यवहारमें ला सकता है। अन्य मार्गभी सुकर हैं, परंतु काम, क्रोध और लोभ के द्वार प्रत्येक क्षण में मनुष्य के सन्मुख आते हैं; अतः वे सन्मुख खुले होकर आतेहि उनसे दूर रहनेका यत्न करनेसे मनुष्य की उच्च गति होने लगती है। इसका अनुष्ठान करनेका अवसर मनुष्यको प्रतिदिन मिलनेवाला है। सामान्य मनुष्यको आगेके श्लोक में कहा है कि, शास्त्रमर्यादानुसार न चलने से उन्नति, सुखप्राप्ति और परमगति नहीं होती—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ गी० १६।२३

"जो मनुष्य शास्त्रविधि छोडकर स्वेच्छासे भोगोंमें रमता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख कमाता है और न परम गतिको पाता है।" अर्थात् मनुष्य शास्त्रमर्यादा के अनुसार चलते रहे तोहि उनको परम गति सुख और सिद्धि मिलती है। मनुष्य इस बातका अनुसंधान करें और शास्त्रविधिके अनुसार चलकर अपना कल्याण करें। शास्त्रमर्यादाके अनुसार चलनेसेहि मनुष्य उन्नत होता हुआ कृतकृत्य होता है।

कृतकृत्यता।

मनुष्य कृतकृत्य किस रीतिसे होता है, इस विषयमें श्रीमद्भगवद्गीताका कथन यह है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ गी० १५।२०

"यह गुह्यसे गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा है, इसे जानकर मनुष्य समत्वबुद्धिसे युक्त बनता है और कृतकृत्य भी होता है।" अर्थात् इस गीताशास्त्रके अनुसार मनुष्य कर्तव्य कर्म करने लग जांयगे, तो वे निःसन्देह कृतकृत्य बनेंगे। शास्त्रानुसार अपना कर्तव्य कर्म करनेसे मनुष्य पर (ब्रह्म)को प्राप्त होता है।

श्रेष्ठ अवस्था की प्राप्ति।

जो दूर, अति दूर होता है, जो श्रेष्ठ अति श्रेष्ठ होता है, उसको 'पर' कहते हैं, जो मनुष्यका अन्तिम प्राप्तव्य है उसको भी पर कहते हैं। इस पर की प्राप्ति करनेके लिये मनुष्य निम्नलिखित ज्ञानको प्राप्त करे और अनासक्तिसे कर्तव्य कर्म करे—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ गी० १३।३४

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
गी० ३। १९

"जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृतिपुरुषके भेदको देखता है और भूतों का प्रकृतिबंधसे मोक्ष होनेका उपाय भी जो जानता है, वह पर (ब्रह्म) को प्राप्त करता है ॥ तथा तू संगरहित होकर निरंतर कर्तव्य कर्म करता रह; आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्य को पर (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है। " इस तरह प्रकृतिका, जीवात्मा का और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके तथा मोक्षमार्गका ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्यको पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह ज्ञान मार्गसे उन्नति है। फलासक्ति छोडकर सतत कर्तव्य कर्म करनेसे भी मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त होता है। यह कर्ममार्गसे उन्नति है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अर्थात् प्रकृति, जीव और ईश्वरका ज्ञानचक्षुसे निरीक्षण करनेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त होता है, ऐसा जो ऊपर कहा है, उस 'ज्ञानचक्षु' द्वारा निरीक्षण करनेका तात्पर्य क्या है, और उस ज्ञानचक्षुका अर्थ क्या है? ज्ञानचक्षु, दिव्यचक्षु, दिव्यदृष्टि, ज्ञानदृष्टि आदि शब्दोंके अर्थ क्या हैं? इस ज्ञानचक्षुसे यह किस तरह देखा जाता है, इसका विचार इस स्थानपर अब करेंगे—

ज्ञानचक्षुसे देखना।

मनुष्य परमेश्वरको देखता है, परंतु वह चर्मचक्षुसे नहीं देख सकता, परंतु ज्ञानचक्षुसेहि देख सकता है, इस विषयमें कहा है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥
गी० १५। १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
गी० १५।११

"चलनेवाले, स्थिर रहे, भोग करनेवाले और गुणोंसे युक्त होनेवाले ईश्वर के अंश को मूर्ख लोग नहीं देखते, परंतु ज्ञानचक्षुवालेहि देखते हैं ॥ यत्न करनेवाले योगी जन अपनेमें रहनेवाले इस ईश्वरको देखते हैं, परंतु आत्मशुद्धि न करनेवाले मूढ लोक इसको नहीं देखते॥ " यहां ज्ञानचक्षुसे परमेश्वरका दर्शन शक्य है और इस ज्ञानचक्षुसे हि ईश्वरको हम चलते फिरते और ठहरे हुए देख सकते हैं। यही बात विश्वरूपदर्शनके समयमें भी कही है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
गी० ११। ८

"इस अपने चर्मचक्षुसे तू मुझे (ईश्वरको) नहीं देख सकता, अतः तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूं, इससे तू मेरा ईश्वरीय योग देख।" यहां दिव्य चक्षु प्राप्त कर, किंवा ज्ञानचक्षु प्राप्त कर ईश्वरका विश्वरूप अर्जुनने देखा है। यहां कहा है कि ईश्वरका विश्वरूप साधारण आंखोंसे नहीं दीख सकता, वह केवल दिव्यदृष्टिसे ही दीख सकता है। अर्जुनने दिव्यचक्षु का लाभ करनेपर परमेश्वरका विश्वरूप देखा है, उसका वर्णन यह है—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥६
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ७ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥८
गी० ११

"मेरे सैंकडों और हजारों रूप देख, ये अनेक प्रकारके रंगरूपोंसे युक्त हैं। (वसु) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु, मरुत्, अश्विदेव आदि सब मेरे रूप तू देख। यहां बहुतसे आश्चर्य तू देख। इस मेरे देहमें सारा स्थावर जंगम जगत् और जो तू देखना चाहता है सब यहां देख।" यह भगवान् श्रीकृष्ण का वचन श्रवण करके अर्जुनने

जो विश्वरूप देखा वह यह है—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
गी० ११

"अनेक मुख और अनेक आंखवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक आभूषणोंसे युक्त, अनेक आयुध धारण करनेवाला, दिव्य माला और वस्त्र धारण करनेवाला, दिव्य चन्दन लगायो,आश्चर्यमय अनन्त देव का सर्वत्र मुखवाला वह रूप था। उस ईश्वरके देहमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ सब जगत् का एकत्र ठहरा रूप उस पाण्डवने देखा।" यही रूप अर्जुनने कैसा देखा सो देखिये-

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूत-
विशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासन-
स्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतो-
ऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशि-
सूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन
दिशश्च सर्वाः ॥२०॥ गी० ११

"हे ईश्वर! मैं आपकी देहमें सब देवोंको, सब प्राणियोंको, ब्रह्माको, सब ऋषियों और सर्पोंको देखता हूं। आपके अनेक बाहु, पेट, मुख और नेत्र हैं। और अनन्त रूप हैं,आपके विश्वरूप का आदि मध्य और अन्त नहीं है। आपकी आंख सूर्यचन्द्र हैं, अग्नि मुख है, और आप सब जगत् को तपा रहे हैं। आकाश, पृथ्वी और सब दिशाओंमें अकेले आप ही व्याप्त है।"

यह परमेश्वर का विश्वरूप है। विश्वरूपका अर्थ 'सर्वरूप किंवा सब विश्वका अर्थात् जगत् का रूप' है। परमेश्वर का विश्वरूप वही है जो सब जगत् के अन्दर के सब पदार्थों का रूप है। इस विश्वरूपमें मनुष्य,सर्प आदि प्राणी संमिलित होनेके कारण इस परमेश्वरके विश्वरूपके असंख्य मुख, असंख्य आंख, असंख्य हाथ, असंख्य पेट और असंख्य पांव हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब उसीके शरीर के अवयव हैं। जगत्के प्रत्येक रूपके लिये वही मूल नमूना होनेके कारण जगत् का संपूर्ण रूप उसी ईश्वरका 'विश्वरूप' है।

जैसा मनुष्यका जीवात्मा पूर्ण निराकार है, तथापि उस निराकार जीवात्माके आधार पर रचा हुआ यह शरीर साकार है,अतः उस निराकार जीवात्मा का यह साकार शरीर है; उसी तरह निराकार परमात्माका साकार शरीर यह 'विश्व' है, अतः विश्वका रूप उसकाही रूप है। तथापि इस विश्वरूप के बनने बिगडनेसे उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती है। यही बतानेके लिये परमेश्वर की अष्टधा प्रकृतिका वर्णन गीतामें निम्न लिखित प्रकार किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
गी० ७।४

"पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी (ईश्वरकी) आठ प्रकारकी प्रकृति है," अर्थात् यह ईश्वरका शरीर है। जीवात्माका भी यही अष्टधा प्रकृतिका शरीर है। इस अष्टधा प्रकृतिमें मनुष्यशरीर, जीवात्मशरीर और परमात्मशरीरकी समता है। जीवात्मशरीर छोटा और परमात्मशरीर बडा इतना ही इसमें कल्पनाभेद है। जैसा जीवात्मा शरीर में रहता हुआ शरीरसे सदा पृथक् है। उसी प्रकार परमात्मा इस संपूर्ण विश्वरूपमें रहता हुआ भी विश्वरूपसे पृथक् है। उपासक को अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरका ज्ञान,

और दर्शन तथा उसमें प्रवेश करना चाहिये, यह दर्शानेके लिये कहा है—

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ गी० ११।५४

"ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, ईश्वरका दर्शन करना चाहिये, और परमेश्वरमें सच्चा प्रवेश करना चाहिये।" ये तीनों बातें पूर्वोक्त विश्वरूपकी कल्पना लेनेपर ही करना संभव है, विश्वके रूपमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना, विश्वके रूपमें ईश्वरका दर्शन करना और उसीके विश्वरूपमें प्रवेश करना अर्थात् मैं प्रत्यक्ष परमेश्वरमें विचरता हूं, इस बातका अनुभव करना। यह त्रिविध अनुभव पूर्वोक्त विश्वरूपको परमेश्वरका रूप माननेपर ही संभव है। नहीं तो (द्रष्टुं) ईश्वर को देखना कैसे संभव हो सकता है? देखना तो विश्वरूपको ही हो सकता है। यही बात और देखिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
गी० ६।३०

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः॥
गी० ६।२९

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यतं यः पश्यति स पश्यति॥
गी० १३।२७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
गी० ५।१८

"जो मुझे (ईश्वरको) सब जगह देखता है और सबको मुझमें (ईश्वरमें) देखता है, उसके लिये मैं (ईश्वर) कभी दूर नहीं हूं और वह मेरे लिये (ईश्वरके लिये भी) कभी दूर नहीं है अर्थात् हम दोनों परस्पर के साथी होते हैं॥ सर्वत्र समभाव से देखनेवाला योगयुक्त आत्मा सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतों को देखता है॥ सब भूतोंमें समभावसे परमेश्वर है और वह विनष्ट होनेवाले पदार्थोंमें अविनाशी है, यह जो जानता है वही सत्य जानता है॥ विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको पकानेवाले में अर्थात् सब में ज्ञानी लोग सम (भावसे अवस्थित ब्रह्म) को देखते हैं॥" अर्थात् ब्रह्म सबमें एकसा है इसका अनुभव करते हैं।

मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जिस तरह की 'समदृष्टि' चाहिये उसका वर्णन इन श्लोकोंमें है। इस समदृष्टिका ही नाम 'ज्ञानदृष्टि ज्ञानचक्षु, दिव्य दृष्टि अथवा दिव्य चक्षु' है। इसी दृष्टीसे ईश्वरका विश्वरूपदर्शन हो सकता है और जब विश्वरूपमें एकरस ईश्वरका दर्शन होने लगा, तो अन्तिम उच्चतम अवस्था प्राप्त हुई, ऐसा मान सकते हैं। यह एक दृष्टि है और भी एक दृष्टि है वह अब देखिये—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
गी० १३।२९

"जो इस बातका अनुभव करता है कि सब कर्म प्रकृतिसे होते हैं, और आत्मा अकर्ता है, वही सत्य ज्ञान जानता है।" यह भी दृष्टि मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यक है। अन्तिम स्थितिको प्राप्त करने के लिये प्रारंभमें अनेक अनुष्ठान के मार्ग हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
गी० १३।२४

"कई ध्यानसे, कई सांख्यसे, कई योगसे और कई कर्मयोगसे आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं।" अर्थात् स्वयं अपने अंदर परमेश्वर का दर्शन करते हैं। यह आत्मा सब आश्चर्योंमें एक बडा भारी अद्भुत आश्चर्य है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति
तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ गी० २।२९

"कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टीसे देखता है, वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्य से सुनता है, परंतु सुन कर भी कोई इसको नहीं जानता।" जगत् में अत्यंत आश्चर्यका विषय यही आत्माके ज्ञानका विषय है। यह अत्यंत अद्भुत होनेसे इसको यथावत् जानना कठिन है और शब्दोंद्वारा जानने पर भी इस का यथावत् अनुभव करना तो अत्यंतहि कठिन कार्य है, इसी कारण ब्रह्मज्ञानी विरला होते हैं। और इसी लिये ब्रह्मज्ञान की महती वर्णन की है। और इसी लिये इस लेखमें अन्तिम अवस्थाकी कल्पना शब्दों में वर्णन करनेका यत्न किया है। अस्तु। यहां तक जिस दृष्टिसे मनुष्य की उन्नति होती है उसका स्वरूप बताया, तथापि इस विषयमें एक श्लोक और देखिये—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
गी० ६।३१

"सर्व भूतोंमें रहनेवाले मुझ-ईश्वर-को जो अभेद दृष्टिसे भजता है, वह चाहे जिस तरह बरतता रहे, वह योगी मुझ-ईश्वरमें हि रहता है।" यहां ऐसा कहा है कि जीव अन्तमें परमेश्वरमें रहता है, यह अन्तिम स्थिति है और इसीका नाम ईश्वरप्राप्ति है। अब इस स्थितिका विचार करते हैं।—

परमेश्वर-प्राप्ति।

यहांतक जो विचार किया, उसका तात्पर्य यह है कि, मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति विविधमार्गोंसे करते करते अन्तमें परमेश्वरको प्राप्त करता है, इसीका नाम सिद्धि, मुक्ति, परमपदप्राप्ति आदि है। यह विषय सबसे मुख्य है, इसलिये इसका विशेष मनन करना चाहिये। परम पुरुषकी प्राप्ति के विषयमें भगवद्गीतामें कहा है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
गी० ८।८

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
गी० ८।१०

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
गी० ८।२२

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये- यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ गी० १५।४

"जो चित्तको अभ्यासद्वारा स्थिर करके उसको इधर उधर भटकने नहीं देता है अर्थात् एकाग्र बनाता है, वह उसीका चिन्तन करनेके कारण उसी दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करता है॥ जो मनुष्य प्रयाणसमयमें अचल मनसे, भक्तियुक्त होकर योगबलद्वारा भ्रुकुटीके बीच ठीक प्रकार प्राण को प्रविष्ट करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है॥ जिसमें सब भूत रहे हैं और जिसने सब व्याप लिया है, उस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे हि होते हैं॥ जिसने सब जगत् की प्रवृत्ति फैल रखी है, उसी आदि पुरुष की शरण में मनुष्य जाये। और उस पदकी खोज करे कि, जिसे प्राप्त कर फिर से जन्ममरण लेना नहीं होता है।"

इन श्लोकोंमें परमेश्वरप्राप्ति के विषयमें स्पष्ट निर्देश है। अतः परमेश्वरप्राप्ति मनुष्यका अन्तिम साध्य है इस विषयमें सन्देह नहीं है। इसी परमेश्वरप्राप्तिके विषयमें निम्न लिखित श्लोक देखने योग्य हैं, इनमें 'परमेश्वर' वाचक शब्द के स्थानपर '(मां) मुझे' इस शब्दका प्रयोग किया है। भगवद्गीतामें परमेश्वर के अर्थमें ' मैं ' शब्द कई वार आगया है, अतः अब ये श्लोक देखिये-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
गी० ४।९
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
गी० ७।१८
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
गी० ७।१९
मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ गी० ७।२३
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
गी० ८।७
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
गी० ८।१५
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ गी० ९।५४
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
गी० ९।२८
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
गी० ९।३४
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
गी० १०।१०
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
गी० ११।५५
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
गी० १२।४
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
गी० १८।६५
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम्॥
गी० १८।६८

"जो मेरे इस दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जानता है, वह देह छोडनेके बाद फिरसे पैदा नहीं होता, परंतु मुझे पा लेता है॥ ये सारे भक्त अच्छे हैं, पर मेरी संमति में ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। क्यों कि वह योगी यह जान कर कि मुझे पानेसे बढकर दूसरी अधिक अच्छी गति नहीं है, मेरा ही आश्रय लेता है॥ बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है, सब "वासुदेवही है," इस बात का अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥ मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं॥ मुझमें मन और बुद्धि को लगानेसे तू अवश्य मुझे पावेगा॥ मुझे पा कर परमगतिको पहुंचे हुए महात्मा लोग पुनः दुःखके घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते॥ मेरा यजन करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं॥ इससे तू शुभाशुभ फल दायी कर्मबन्धसे छूटेगा और संन्यास योग से मुक्त होकर मेरे पास आवेगा॥ मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इस तरह मुझमें परायण होनेसे और मेरे साथ आत्माका योग करनेसे तू मुझहि प्राप्त होगा॥ मुझमें इस तरह तन्मय होकर रहनेवालों और प्रीति पूर्वक मेरा भजन करनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं॥ जो सब कर्म मेरे लिये करते हैं, जो मुझमें तल्लीन होते हैं, जो मेरे भक्त हैं, जो आसक्ति छोडते हैं और सब भूतोंका द्वेष नहीं करते; वे मुझे प्राप्त होते हैं॥ जो अपने इंद्रियसमूहोंको अपने वशमें रखते हैं, सर्वत्र समभाव रखते हैं, वे सब भूतोंके हितमें लगे रहनेके कारण मुझेहि पाते है॥ मेरी लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यजन कर, मुझे नमन कर। ऐसा करनेसे तू मुझेहि पावेगा, मेरी यही सत्य प्रतिज्ञा है॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहता है, वह मेरी श्रेष्ठ भक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे प्राप्त करता है॥

इन श्लोकोंमें 'मुझे पाता है' इसका अर्थ 'परमेश्वर को प्राप्त करता है' ऐसा है। इस

स्थानपर परमेश्वर प्राप्तिके साधन जो कहे हैं वे ये हैं— (१) परमेश्वर के अवतार और कर्मके रहस्य का ज्ञान, (२) आत्मज्ञान, (३) सब जगत् में ईश्वरके विश्वरूपका दर्शन, (४) ईश्वरभक्ति, (५) ईश्वरको सब कर्मोंका समर्पण, (६) संन्यासयोग, (७) ईश्वरमें तल्लीनता, (८) ईश्वरको नमन, (९) ईश्वरसे अपने आत्माका योग, (१०) अनासक्तिसे कर्म करना, (११) इन्द्रियसंयम, (१२) सर्वत्र समभाव, (१३) सब भूतोंके हितमें तत्परता, (१४) ईश्वर के साथ लगन, (१५) यह गुह्य ज्ञान भक्तोंको देना, इतने अनुष्ठानसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त करता है, ईश्वरके साथ रहता है, ईश्वरके पास रहने लगता है अथवा ईश्वरको अपनाता है। इस ईश्वर प्राप्तिका अर्थ क्या है इस का विचार करने के लिये निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
गी० १२।८

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
गी० ८।१४

"अपना मन मुझ (ईश्वर) में लगा, अपनी बुद्धि ईश्वरमें स्थिर कर, इससे तू मुझमें हि निवास करेगा॥ जो अनन्यचित्त होकर निरन्तर मेराहि स्मरण करता है, उस नित्ययोग करने वाले योगीको मैं सुगमतासे मिलता हूं॥"

यहां परमेश्वर प्राप्तिका अर्थ परमेश्वर का सहज से दर्शन होना लिखा है। कई मनुष्योंको राजाका दर्शन कठीन होता है, परंतु कईयोंका सहजहीसे होता है। अर्थात् जिनके लिये राजाका दर्शन सुलभ होता है उनकी योग्यता विशेष होती है। राजाकी सहायतासे वे जनता का बहुत कल्याण कर सकते हैं। इसी तरह जिनको परमेश्वर का दर्शन सुलभ है, वे उस शक्तिसे बहुत लोगोंका कल्याण कर सकते हैं। परमेश्वर प्राप्ति किंवा ईश्वर का सुलभ दर्शन होनेका क्या भाव है, यह साध्य होनेसे कौनसी शक्ति इसे प्राप्त होती है, इसका निश्चय करने के लिये निम्न लिखित श्लोकों का मनन करिये—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
गी० ४।१०

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
गी० ८।५

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥
गी० १३।१८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गी० १४।१९

"राग भय और क्रोधसे रहित, ईश्वरके ध्यान में तत्पर, ईश्वरकी शरणमें जानेवाले, ज्ञान और तपसे पवित्र होकर ईश्वरके भाव को प्राप्त करते हैं॥ अन्तसमयमें ईश्वर का स्मरण करता हुआ देह छोडता है वह ईश्वर के भाव को प्राप्त करता है, इस में कोई संदेह नहीं है॥ इस तरह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के संबन्धमें सारांशसे कहा है। इसे जान कर ईश्वरका भक्त ईश्वर भाव को प्राप्त होता है॥ जब ज्ञानी यह देखता है कि गुणोंको छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, वह गुणोंसे परे आत्मा को जानकर ईश्वर भावको प्राप्त करता है॥"

यहां कहा है कि "(१) राग भय और क्रोध को दूर करता है, (२) ईश्वरमें तल्लिन होता, है, (३) ईश्वरकी शरण जाता है, (४) ज्ञान और तपसे पवित्र होता है, (५) अन्त समयमें ईश्वरका स्मरण करता है, (६) क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयको जानता है, (७) प्राकृतिक गुणोंसे सब

किया जा रहा है ऐसा जानकर जो आत्माको अकर्ता अनुभव करता है और आत्मा को गुणोंके परे अनुभव करता है" वह ईश्वर भावको प्राप्त होता है।

ईश्वरके गुणोंका अपने में उत्कर्ष होनेसे अपने में 'ईश्वर भाव' आता है। उदाहरण के लिये अग्निमें कुछ समय लोहा रहा, तो अग्निके गुण धर्मोंको धारण करता है, मानो वह अग्निभावको धारण करता है। अग्निभाव जलती लकडीमें भी आता है। जब लोहा अग्निकी उपासना (उप-समीप, आसन-बैठना) करता है, अनन्य होता है अर्थात् वह किसी अन्यके सहवास में नहीं जाता, परंतु केवल अग्निके हि सन्निध रहता है, जब पूर्णतया अग्निकीहि शरणमें रहता है, जब अग्निके गुणोंसे प्रभावित होता है, तब अग्निभावको धारण करता है और अग्निभावसे युक्त होनेसे अग्निही बनता है अर्थात् अग्निके कर्म करता है। मनुष्यकी उन्नतिके भी यही नियम हैं, जब मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है, ईश्वरके पास बैठता है, अनन्य भावसे ईश्वरकी शरणमें जाता है, कभी दूसरा भाव मनमेंनहीं लाता, जब ईश्वरके गुणोंको अपनेमें धारण करता है, तब वह ईश्वरभावसे युक्त होताहै यही नरका नारायण, अथवा पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवका शिव अथवा मर्त्यका अमर बनना है। जो अन्तिम पद, परम स्थान, परमसिद्धि आदि शब्दोंसे सब धर्मग्रंथोंमें वर्णन किया है। मनुष्यका जन्म इस ईश्वरभावको प्राप्त होनेके लिये हि है। जो इस ईश्वरभावको प्राप्त करता है उसके जन्मका सार्थक हुआ, अन्य लोगोंने व्यर्थ जन्म लिया, ऐसा कह सकते हैं।

ब्रह्म-प्राप्ति

इस समय तक जो बात 'ईश्वर-प्राप्ति' शब्द से कही गयो, वही बात 'ब्रह्म-प्राप्ति' शब्द द्वारा अब कही जाती है। देखिये—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥
गी० ५।६

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
गी० ८।२४

"योगाभ्यास के बिना संन्यास का आचरण दुःख दायक है। योगाभ्यास से शीघ्र ही मुनिजन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं॥ उत्तरायण के छः मासोंके शुक्लपक्ष के दिन के समय में सूर्य की ज्योति पूर्णतेजस्वी रहने के कालमें और समीप भागमें यज्ञाग्नि प्रज्वलित रहनेके समय जो इस लोक छोड कर जाते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं॥" यहां ब्रह्म प्राप्त होनेका विधान है, "मेरी प्राप्ती, ईश्वर प्राप्ति और ब्रह्म प्राप्ति" एक ही स्थितिका नाम है। इसी का नाम ब्रह्म-निर्वाण है—

ब्रह्म-निर्वाण।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
गी० २।७२

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
गी० ५।२४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
गी० ५।२५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
गी० ५।२६

"यह ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद फिर कभी मोहवश नहीं होता और अन्त समय में भी यह ब्राह्मी स्थिति रही, तो ब्रह्मनिर्वाण को पाता है॥ जिसको अन्दरसे सुख मिलता है, जिसके अन्दर शान्ति है, तथा जिस के अन्दर आत्म-प्रकाश हुआ है, वह ब्रह्मभूत

योगी ब्रह्म निर्वाण को पाता है॥ जिसके पाप नष्ट हुए हैं, जिनके द्वैतभाव दूर हो चुके हैं, जिनका संयम हुआ है, जो सब भूतमात्र के हितमें लगे हैं, वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं॥ जिन्होंने काम और क्रोध छोड दिया है, जो संयमी हैं, और जिनको आत्माका ज्ञान हुआ है ऐसे ऋषियोंको सर्वत्र ब्रह्म निर्वाणका अनुभव होता है॥"

यहां ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके कुछ साधन कहे हैं— (१) पापोंका नष्ट होना, (२) द्वैतभाव दूर होना, (३) आत्मसंयम करना, (४) सर्वभूतोंके हित करनेमें आत्म—समर्पण करना, (५) कामक्रोध छोडना, (६) इंद्रिय संयम करना, (७) आत्मज्ञान होना, इन साधनोंसे ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति प्राप्त होती है।

इस स्थितिमें जो अनुभव होता है वह भी इन्हीं श्लोकों में कहा है— (१) अपने अन्दरसे सुख होता है, (२) अन्दरसे शान्तिका अनुभव होता है, (३) अन्दर से प्रकाश होनेका अनुभव होता है, (४) ब्रह्मरूप अवस्था होती है, (५) मोह सदा के लिये दूर होता है, (६) सर्वत्र ब्रह्मरूपता का अनुभव होता है। यह अनुभव ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होनेके नंतर होता है।

इस से हम अनुमान कर सकते हैं कि, ब्रह्मनिर्वाण जब तक प्राप्त नहीं होता है, तब तक निम्न लिखित अनुभव होता है— (१) बाह्य विषयोंसे सुख प्रतीत होता है, (२) अन्दर से और बाहर से अशान्ति रहती है, (३) अन्दर और बाहर अन्धेरा मोह और अज्ञान रहता है, (४) अल्पता का अनुभव होता है, (५) मोहयुक्त अयोग्य व्यवहार होता है, (६) सर्वत्र जडताका अनुभव होता है। ब्रह्मनिर्वाण न प्राप्त होनेकी अवस्थामें मनुष्यकी यह अवस्था होती है। यह अवस्था साधारण मनुष्य के प्रतिदिनके अनुभव की हि है।

इतना विचार करनेके पश्चात् 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'नि-वा' धातुका अर्थ 'खुली शान्त वायुमें बैठ कर शान्त होना' है। और 'निर्वन्' धातुका अर्थ 'सत्कार करना, संगत होना, मिलना, विजय प्राप्त करना, प्रीति करना, साथ होना, उसीमें रहना' है। येही धात्वर्थ 'निर्वाण' शब्दमें प्रधानतया हैं। अतः 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ निम्न लिखितप्रकार होता है—(१) ब्रह्मके साथ मिलकर शान्ति प्राप्त करना, (२) ब्रह्मकी उपासना करना, (३) ब्रह्मके साथ मिलना, (४) ब्रह्मके रूपमें एकरूप होना, (५) ब्रह्मकी शक्ति पाकर विजय कमाना, (६) ब्रह्मके साथ प्रीति करना, (७) ब्रह्मके साथ होना, (८) ब्रह्ममें रहना। ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके ये आशय हैं।

ब्रह्मनिर्वाण न प्राप्त होनेकी अवस्थामें क्या होता है, इसका अनुमान इसीके विचार से हो सकता है, जैसा— (१) विषमतामें रहनेसे अशान्त होना, (२) जड के साथ रहनेसे जड बनना, (३) द्वैतमें फंसना, (४) संकुचित स्थितिमें रहना, (५) पराजित होना, प्राकृतिक जय भी पराजय ही है, (६) ईश्वर का द्वेष करके मोहोत्पादक पदार्थोंपर प्रेम करना, (७) विषयों के साथ रहना, (८) द्वन्द्वों के युद्धमें फंसना, इत्यादि अनुभव ब्रह्म निर्वाण प्राप्त न होने तक होते हैं। सामान्य जनोंके दैनिक अनुभव येही हैं।

कई लोग 'निर्वाण' का अर्थ 'पूर्णनाश को प्राप्त होना' करते हैं, विशेषतः विधर्मी प्रचारक लोग निर्वाण का सत्य अर्थ न ध्यानमें धारण करके, पूर्ण नाश होनेका अर्थ निर्वाण में है, ऐसा मानते हैं, और स्वयं भ्रममें फंस कर दूसरोंका भ्रममें फंसाते हैं। उनको इस सत्य अर्थका विचार करना चाहिये। ब्रह्मनिर्वाणमें ब्रह्म जैसी अवस्था होती है। लोहा तपकर अग्निरूप अवस्थाको प्राप्त होता है, उस अवस्थामें लोहेका नाश नहीं होता है, परंतु उसके अणुरेणु में विशेष महाशक्ति का

स्फुरण होता है, इसी तरह साधारण मनुष्य प्रापंचिक द्वन्द्वोंमें दुःख भोगता है,यह दुःख उससे दूर होकर धर्म नियमादि तपके द्वारा यह शुद्ध होता हुआ, ब्रह्मकी संपूर्ण शक्तिसे यह आविर्भावित होता है, मानो ब्रह्मके समान होता है। अतः इसको 'पूर्ण विनाश' कहना मूढता है। हां, यह तो मान सकते हैं कि इसमें जो त्रुटियां थीं उनका नाश इस समय हुआ है, परंतु वह इसका नाश नहीं। ब्रह्मनिर्वाण में यह स्वयं 'आनन्दमय' बनता है। जैसा सूर्यको अन्धेरेका पता तक नहीं होता, इसी तरह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके पश्चात् उसको अपनेहि अन्दरसे इतना आनन्द मिलता है और इतनी शान्तिका अनुभव होता है कि, उसके पश्चात् उसको दुःख और अशान्तिकी कल्पना भी नहीं रहती।(अन्तःसुखः, अन्तरारामः, अन्तर्ज्योतिः। गी० ५।२४) अन्दर से सुखी, अन्दरसे शान्त, अन्दरसे प्रकाशपूर्ण होनेका नाम ब्रह्मनिर्वाण अथवा निर्वाण है। अतः कोई यह न समझें कि, निर्वाण प्राप्त होनेका अर्थ सर्वस्व नाश होना है, प्रत्युत 'सर्वतःपूर्ण' होनेका नाम निर्वाण है। इस विषयमें ये श्लोक देखने उचित हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गी० १४।२६

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गी० १८।५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
गी० १८।५४

"जो एकनिष्ट भक्तियोगद्वारा ईश्वरकी सेवा करता है वह प्रकृति के गुणोंसे होनेवाले बंधनको तोडकर ब्रह्मरूप बननेके लिये समर्थ होता है॥ अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और भोगसाधनोंका संग्रह छोडकर, ममत्व भावको छोडता है, वह ब्रह्मरूप बनने योग्य है॥ ब्रह्मभावको प्राप्त मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त रहता है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी वासना धरता है। वह भूत मात्रके विषयमें समभाव रखता हुआ, ईश्वरकी परमोच्च भक्ति में मग्न रहता है॥"

यहां ब्रह्मरूप बननेके साधन कहे हैं और ब्रह्मरूप बननेपर कैसी अवस्था होती है इसका भी निरूपण किया है। ब्रह्मरूप बननेके साधन ये हैं— (१) ईश्वरी एक निष्ठ भक्ति, (२) गुणातीत होनेका प्रयत्न, (३) काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मद, बलकी घमंड छोडना, (४) शान्त होना, (५) ममत्व छोडना, (६) शोक और कामना का त्याग करना, (७) सर्वत्र समभाव धारण करना, इससे मनुष्य ब्रह्मरूप अवस्था को प्राप्त होता है।

ब्रह्मरूप बननेपर उनकी स्थिति ऐसी होती है— (१) प्राकृतिक विषयोंसे बाधा नहीं होती, (२) अतुल शान्ति रही है, (३) षड्रिपुओंका हमला नहीं होता, (४) सदा प्रसन्नता रहती है, (५) कामना और शोकसे दूर होता है, (६) सब से समान व्यवहार होता है, (७) ईश्वर की परमोच्च भक्ति में रहता है। ब्रह्मरूप बना हुआ मनुष्य इन गुणोंसे युक्त होता है। अतः यह कहना कि निर्वाण प्राप्त होनेपर पूर्णनाश होता है, केवल अज्ञान का द्योतक है। इस स्थितिका स्वरूप गीतामें और अधिक स्पष्ट किया है, वह अब देखिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
गी० ५।२०

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
गी० १३।३०

"जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हुआ है, जो ब्रह्मको जानता है,और जो ब्रह्ममें

आश्रित है, उसको प्रिय की प्राप्तिसे सुख नहीं होता और अप्रिय प्राप्त होनेसे दुःख नहीं होता॥ जब वह मनुष्य भूतमात्र का अस्तित्व भिन्न होते हुए भी एकमें समाया है ऐसा देखता है और वहां से हि सबका विस्तार होता है ऐसा समझता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है॥" अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे (१) बुद्धि स्थिर होती है, (२) मोह दूर होता है, (३) प्रिय अथवा अप्रिय की प्राप्तिसे सुख दुःख नहीं होता, (४) विभिन्न भूतोंका उगम एक सत्तत्त्वमें है और वहां से हि फिर सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्ति के ये और फल पूर्वोक्त फलों के साथ देखने योग्य हैं।

अस्तु। यहां तक अन्तिम सिद्धिका स्वरूप क्या है और उस समय सिद्ध पुरुष में कौनसी शक्ति बढती है और कैसा अनुभव होता है, इस विषयमें सारांश से विवरण किया। इस चतुर्थ अध्याय में इस सिद्धिके निदर्शक ये वाक्य हैं—

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति॥ (४।१२)
पुनर्जन्म नैति। (४।९)
कर्मभिर्न स बध्यते। (४।१४)
कृत्वाऽपि न निबध्यते। (४।२२)
कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्। (४।२१)
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति। (४।४१)
मोक्ष्यसेऽशुभात्। (४।१६)
एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे। (४।३२)
ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। (४।३६)
परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (४।३९)
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्। (४।२४)

"इस मर्त्यलोकमें मनुष्यको सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। सिद्धि प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्मोंका बन्ध दूर होता है। कर्म करनेपर भी पाप नहीं लगता। आत्मबल प्राप्त होनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता। अशुभ दूर होगा। बन्धनसे मोक्ष प्राप्त होगा। पाप दूर होगा। पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी। ब्रह्म प्राप्त होगा।" इतने वाक्य इस अध्यायमें हैं, इनका बोध यथायोग्य रीतीसे होना अत्यंत आवश्यक है। भगवद्गीताका यह मुख्य विषय है और मनुष्यको प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है। इस विषयमें गीताके पाठकोंकी निश्चित कल्पना होनी चाहिये। तभी गीताका सिद्धान्त समझमें आजायगा। सिद्धी क्या है, ब्रह्मप्राप्ति होनेपर क्या लाभ होते हैं, न होनेपर हानी कौनसी है इत्यादि विषय मुख्य हैं और इसका निश्चित ज्ञान पाठकोंको होना अत्यंत आवश्यक है। अतः सिद्धिके विषयमें संपूर्ण भगवद्गीता में जो जो वाक्य विविध स्थानों में आये हैं, उनको प्रकरणशः यहां एकत्रित करके संगति लगायी है। जो पाठक इनका मनन करेंगे उनको इस विषयकी निश्चित कल्पना हो जायगी।

अब इस लेखका संक्षेपसे सार निकालते हैं। निम्नलिखित कोष्टक में परम सिद्धिके साधन और फल रखते हैं, इससे पाठकोंको विना परिश्रम पता लग जायगा, कि सिद्धिके साधन कौनसे हैं और सिद्धि प्राप्त होनेपर कौनसे फल प्राप्त होते हैं। यह विषय इससे पूर्व आचुका है, अतः यहां केवल सूचक शब्दही दिये जाते हैं, जिन शब्दोंके मननसे पाठक साधनों और फलोंका स्वरूप जान सकेंगे—

सिद्धिके साधन।

१ चित्तकी एकाग्रता

चित्तकी एकाग्रता अथवा 'स्थिरता' सिद्ध करनेके लिये 'मनःस्थैर्य' अर्थात् मनकी स्थिरता, और 'बुद्धीस्थैर्य' बुद्धिकी स्थिरता सिद्ध करनी चाहियें। मनकी चञ्चलता ही सब परमार्थ सिद्ध होनेमें विघ्नरूप है।

२ संयम

अन्तिम सिद्धि अथवा परमपद प्राप्तिके लिये '**संयम**' करना अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें यह मार्ग है—

यदृच्छालाभसंतुष्ट= सहज जो प्राप्त होगा उसमें संतोष मानना, अधिकाधिक भोगसाधन प्राप्त करनेकी इच्छा न करना; इसके लिये "**भोगवासना त्याग**" करना चाहिये। मनमें भोग वासना उत्पन्न हुई तो उसका त्याग करना; तथा '**कामत्याग, कामवासनात्याग, भोगत्याग, संग्रहत्याग**' करना चाहिये। '**आत्मजय, चित्तसंयम, आत्मसंयम, इंद्रियसंयम, जितेन्द्रियता, मनोनिग्रह, मनःशान्ति**' ये शब्द संयमकी व्याप्ति बता रहे हैं। मनुष्यके अन्दर दोष रहनेसे उसका मन चञ्चल होता है अतः '**आत्मशुद्धि, दोषत्याग, कामक्रोधलोभत्याग, भोगभयत्याग, मोहत्याग, अहंकार-गर्व-त्याग, मानत्याग, ममतात्याग**' करना चाहिये। इस कार्य के लिये '**कामक्रोधवेगोंको सहन**' करना चाहिये। अन्यथा वे हि सिरपर चढ बैठेंगे। इसीसे मनुष्य '**आत्मबलसे युक्त**' होगा।

३ अनासक्ति।

विषयों और भोगोंपर तथा कर्मफलपर आसक्ति न रखनेसे हि संयम साध्य हो सकता है। इसके लिये '**असंगभाव, कर्मफलमें अनासक्ति, कर्मफलत्याग, बाह्य सुखोंपर अनासक्ति, निष्कामता, निस्पृहता, कर्मफल के विषयमें निस्पृहता, निस्पृहबुद्धि**' धारण करना चाहिये।

४ निर्द्वन्द्वता।

निस्पृह और अनासक्त बननेके लिये '**निर्द्वन्द्व**' बनना चाहिये, सुखदुःख, हानिलाभ आदि अनेक द्वन्द्व हैं, इनमेंसे किसीमें भी फंसना नहीं चाहिये, इसकी सूचना देनेवाले शब्द "**निर्द्वन्द्वता, सुखदुःखसमबुद्धि,**" ये हैं। प्रियसे प्रेम और अप्रियका द्वेष न करना, भेदोंमें अभेद का अनुभव करना, यही निर्द्वन्द्वता प्राप्त करनेका साधन है।

५ अद्वेष।

"**अद्वेष, अनसूया, मत्सररहितता, वैरत्याग, द्वैतनिवृत्ति**' ये शब्द अद्वेष भाव की साधना करनेके सूचक हैं।

६ आत्मवद्भाव।

सबको आत्माके समान देखनेसे द्वेषसे और द्वन्द्वसे दूर रहनेकी संभावना होती है। '**आत्मवद्भाव, सर्वभूतहितरतत्व, सर्वभूतमित्रता,**' ये शब्द इस आत्मभाव का अभ्यास करनेकी सूचना दे रहे हैं।

७ गुणातीतता।

"**निर्गुण, गुणातीतत्व, निर्मल बुद्धि**" ये शब्द गुणातीत होनेकी कल्पना दे रहे हैं।

८ समबुद्धि।

समबुद्धि होनेसे मनुष्य को पूर्वोक्त सिद्धि मिलती है। इसके सूचक शब्द "**सर्वत्र समबुद्धि, बुद्धियोग, समत्वयोग, सर्वत्र समदर्शन, सर्वत्र समता**" ये हैं।

९ कर्मयोग।

समबुद्धिसे कर्म करनेसे मनुष्य पूर्ण उन्नतिका अधिकारी होता है। इसके सूचक शब्द—"**यज्ञार्थकर्म, शास्त्रोक्त कर्म, ईश्वरार्पणके लिये कर्म, पुण्यकर्म, कर्तव्यकर्म, इन्द्रियसंयमपूर्वक कर्मयोगाचरण, समत्व योगपूर्वक कर्माचरण, कर्मयोग, स्वकर्माचरण, नित्ययोगाचरण, परस्पर सहायतार्थ कर्म**' इत्यादि हैं। इन शब्दोंके मननसे प्रारंभसे अन्ततक संपूर्ण कर्मयोग के मार्ग का ज्ञान होता है।

१० ज्ञानयोग।

"**ज्ञान, प्रकृति-पुरुष-विज्ञान, क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, ईशज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञान, विज्ञान,**" ये शब्द ज्ञानका स्वरूप बताते हैं,। यह ज्ञान और विज्ञान महत्वका है जो जाननेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे '**निष्पापता, संशयनिवृत्ति, स्वयंपूर्णता, आत्मबल, आत्मनिष्ठा, आत्माके अकर्तृत्व का अनुभव, आत्मदर्शन, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता, अन्तरिक सुखशान्ति और ज्योतिका अनुभव,**' होने का वर्णन गीतामें स्पष्ट है। इसी का नाम '**ब्रह्मयोग**' है, इसके लिये '**मोक्षतत्पर**' मनुष्य योग्य अधिकारी है, '**ओंकारजप**' इसका एक

साधन है। 'प्रकाशमार्ग' का अवलंबन करना इस कार्य के लिये योग्य है। 'आत्मघात न करते हुए' इस मार्ग का आक्रमण करना चाहिये। इससे 'भूत-प्रकृति-बंधनसे मुक्ति' होती है।

११ ईश्वरभक्ति।

ज्ञानसे 'ईश्वरभक्ति' जाग्रत होती है। ज्ञानसेहि सत्य 'ईश्वरपरायणता, ईश्वरप्रेम, ईश्वर-बुद्धि, ईश-श्रद्धा, ईश्वर-शरणता, ईश्वर-ध्यान-तत्परता, ईश-पूजन, ईश्वर-स्मरण, ईश्वराश्रय, एकनिष्ठ भक्ति, एकाग्रभक्ति, और पराभक्ति' होती है। इससे आगे 'सर्वत्र आत्मदर्शन, सर्व सृष्टीमें ईश्वर-दर्शन, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ईश्वरमयता, अष्टधा प्रकृति और पुरुषका संबंध' ज्ञात होता है और इस ज्ञानसे 'ज्ञानीका विश्वरूपी परम पुरुषमें प्रवेश' होता है और इसीपर 'ईश्वरकी प्रसन्नता' होती है।

इस तरह 'नरका नारायण बननेका साधनयोग है।' यहां यह अतिसंक्षेपसे इस लिये दिया है कि, यह सूत्ररूपसे पाठकोंके सन्मुख सदा रहे। इनमेंसे ये सूचक शब्द भगवद्गीतामें कौनसे स्थानपर हैं, यह यदि किसी पाठक को देखना हो, तो वह पूर्व प्रकरणोंमें देख सकते हैं। परंतु इतने विस्तृत लेख देखनेका समय जिनके पास न हो, उनके लिये येही शब्द पतोंके समेत आगे प्रकरणशः दिये हैं—

परमसिद्धिकी प्राप्तिके साधन।

१ सिद्धिकी प्राप्ति।

ज्ञानप्राप्ति (१४।१); सर्वत्र असक्त बुद्धि; आत्मजय; निस्पृहता; संन्यास (१८।४९); स्व-(-वर्णाश्रम--)-कर्म से ईशपूजा (१८।४६); ईश्वर के लिये कर्म करना (१२।१०)।

२ विशेषताकी प्राप्ति।

नित्य योगाचरण; एकाग्र भक्ति; ईश्वर प्रेम (७।१७); सर्वत्र समबुद्धिः। (६।९), इंद्रिय संयमपूर्वक कर्मयोगाचरण (४।७)।

३ श्रेयःप्राप्ति।

परस्परसहायता (३।११)।

४ मायाके पार होना।

ईश्वर प्रपन्नता (७।१४)।

५ पुनर्जन्ममरण दूर करना।

ईश्वरबुद्धि, ईश्वरध्यान, ईश्वरपरायणता, ज्ञानसे निष्पाप होना (५।१७); ज्ञान प्राप्ति (१४।२); प्रकृतिपुरुषविज्ञान (१३।२३)

६ निर्लेपता।

कर्म ईश्वरको समर्पण (५।१०); असंगभाव (५।१०); ज्ञान (४।३६); निर्गुणत्व (१३।३१)।

७ कर्म-बन्ध-निवृत्ति।

असंगभाव, ज्ञानतत्परता, यज्ञके लिये कर्म करना (४।२३); बुद्धियोग (२।३९); अद्वेष, निष्कामता, निर्द्वन्द्वता (५।३); श्रद्धा, अनसूया, (गीताशास्त्रानुसार) नित्यअनुष्ठान (३।३१); कर्मफलमें निस्पृहता (४।१४); यदृच्छालाभसंतुष्टता, द्वन्द्वातीतता, मत्सररहितता, सिद्धिअसिद्धिविषयमें समता (४।२२); समत्वयोगसे कर्मफलत्याग, ज्ञानसे संशयनिवृत्ति, आत्मबलसे युक्त होना (४।४१); अहंकारत्याग, निर्मलबुद्धि (१८।१७); योगाचरण, आत्मशुद्धि, आत्मजय, जितेंद्रियता, सर्वभूतोंके साथ आत्मवद्भाव (५।७)।

८ मुक्ति।

ज्ञान विज्ञान (९।१); श्रद्धा, अद्वेष, पुण्यकर्म (१८।७१); ईश्वरशरण होना (१८।६६); ईश्वरज्ञान (१०।३); इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, मोक्षतत्परता, इच्छा-भय-क्रोध त्याग (५।२८)।

९ शान्ति।

कामनात्याग, निस्पृहता, ममतात्याग, अहंकारत्याग (२।७१); कर्मफलत्याग (५।१२); श्रद्धा, इंद्रिय-संयम, ज्ञान (४।३९); मनोनिग्रह, योगाचरण (६।१५); सर्वभूतोंसे मित्रता (५।२९); कर्मफल त्याग (१२।१२); अचलता, स्वयंपूर्णता, निष्कामता (२।७०)।

१० अक्षय सुख।

बाह्य सुखोंपर अनासक्ति, ब्रह्मयोग (५ । २१); कर्म संन्यास (५ । १३); योगाचरण (६ । २८); मनःशान्ति, भोगवासनानाश (६ । २७); कामक्रोधोंके वेग को सहना (५ । ५३)।

११ अमृतकी प्राप्ति।

सुखदुःखविषयमें समता (२ । १५); गुणातीत होना (१४ । २०); ब्रह्मज्ञान (१३ । १२)।

१२ अनामय शाश्वत पद की प्राप्ति।

बुद्धियोग, कर्मफलत्याग (२ । ५१); मानमोह का त्याग, आसक्ति दोष का त्याग, आत्मनिष्ठा, काम का त्याग, निर्द्वन्द्वता, मोहत्याग (१५ । ५); ईश्वर का आश्रय (१८ । ५६); ईश्वरशरण (१८ । ६२)।

१३ परम–धाम।

सतत योगाचरण (६ । ४५); ओंकारजप (८।१३)। सर्वत्र समदर्शन, आत्मघात न करना, (१३ । २८); ईश्वरशरण (९।३२); कामक्रोधलोभत्याग (१६।२२); शास्त्रविधिके अनुसार आचरण (१६।२३)।

१४ कृतकृत्यता।

ज्ञान (१५ । २०)।

१५ श्रेष्ठ अवस्था।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय (१३ । ३४); अनासक्ति, कर्तव्यकर्माचरण (३ । १९)।

१६ ज्ञानचक्षुकी प्राप्ति।

सर्वत्र आत्मदर्शन (१५ । १०–११); विराट् देहमें सब जगत् को देखना (११।६-१३); अष्टधा प्रकृति को ईश्वर का देह मानना (७।४); इस विराट् पुरुषका ज्ञानसे दर्शन करके उसमें प्रविष्ट होना (११।५४); सर्वत्र समदृष्टि, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (६।२९;३०;१३।२७;५। १८); आत्माको अकर्ता और प्रकृति कर्मकर्त्री है इसका अनुभव (१३।२९); अपने अन्दर परमात्मदर्शन (१३।२४); आत्मदर्शन से आश्चर्यका अनुभव (२।२९); सर्व भूतों में परमेश्वर का दर्शन (६।३१)।

१७ ईश्वरप्राप्ति।

एकाग्रचित्त (८।८); भक्ति (८।२२); योगसाधन, स्थिर मन (८।१०); ईश्वरशरण (१५।४); परमेश्वर-ज्ञान (४।९); अपने मन बुद्धिको ईश्वरमें लगाना (८।७); ईश्वरपूजन (९।२५); संन्यासयोग (९।२८); ज्ञान (७।१८); सर्व ईश्वर है इसका अनुभव (७।१९); ईश्वरके लिये कर्म करना, ईश्वर की भक्ति करना, भोगसंगत्याग, वैरत्याग (११।५५); इंद्रियसंयम, सर्वत्र समबुद्धि, सर्व भूतों के हित करनेमें तत्परता (१२।४); सतत योगाचरण, प्रीतिपूर्वक भक्ति (१०।१०); इस ज्ञान का प्रचार (१८।६९); ईश्वरमें मन बुद्धि को लगाना (१२।८); अनन्यचित्त होना, ईश्वरका नित्य स्मरण (८।१४); भोग, भय, क्रोध दूर करना, ईश्वरमयता, ईश्वरका आश्रय, ज्ञानतपसे पवित्रता (४।१०); ईश्वर स्मरण (८।५); क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का अनुभव (१३। १८); गुणातीत आत्माका ज्ञान (१४।१९)।

१८ ब्रह्म--प्राप्ति।

योगयुक्त संन्यास (५।६); प्रकाशमार्ग से जाना (८।२४)।

१९ ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति।

अपने अन्दर सुख, शान्ति और ज्योति का अनुभव (५।२४); निष्पाप होना, द्वैतनिवृत्ति, आत्म-संयम, सर्वभूतहितमें तत्परता (५।२५); कामक्रोध-त्याग, चित्तसंयम, (५।२६); एकनिष्ठ भक्ति, गुणातीत होना (१४।२६); अहंकार, गर्व, कामक्रोध, संग्रह और ममता इनका त्याग (१८।५३); सर्वत्र समता, परा भक्ति(१८।५४); प्रियसे प्रेम और अप्रियसे द्वेष न करना, बुद्धिकी स्थिरता, मोहत्याग, ब्रह्मज्ञान (५।२०); भेद में अभेद का अनुभव (१३।३०)

साधनमार्ग का विचार करनेवाले पाठकों को ये शब्द इस विषयका स्पष्ट बोध करा सकते हैं। सब भूतों में ब्रह्मकी प्रत्यक्षवत् उपस्थिति का ज्ञान होनेसे और सब भूतों में एक आत्मा है और उसी आत्मामें सब भूत हैं, इसका प्रत्यक्षवत् ज्ञान होनेसे मनुष्य का मोह दूर होता है, यह नर नारायणरूप हो जाता है, क्योंकि उस अव-

स्थामें विश्वरूप नारायण में वह भी एकरूप हुआ होता है। जब नारायण विश्वरूप है तब इससे भिन्न नर का अस्तित्व ही कैसा होगा? क्यों कि विश्वरूप में इस नर का रूप भी तो संमिलित है। इसकी यथावत् प्रत्यक्षता करना ही अन्तिम अनुभव है, जो होनेके बाद और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता, और जो अनुभव होतेहि यह शोकमोहादि से मुक्त होता है। यही परम पदकी प्राप्ति है।

चतुर्थ अध्यायका विचार समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीता-सुभाषित ।

चतुर्थ अध्याय ।

(१) श्रेष्ठका आत्मयज्ञ ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य संभवाम्यात्ममायया ॥ (४।६)

" मैं अजन्मा, अविनाशी और भूतोंका ईश्वर होनेपर भी (जगत्कल्याण करनेके लिये) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूं ॥ "

जगत् के कल्याणके लिये ईश्वर स्वयं इतना आत्मयज्ञ करता है, यह देखकर राजा, महाराजा, सरदार, साहुकार, धनी और बडे समझे जानेवाले लोगोंको भी सर्वभूतोंका हित करनेके कार्य में अपना समर्पण करना चाहिये। जो ऐसा करेंगे वे ही श्रेष्ठ बनेंगे, अन्य स्वार्थी लोग गिरते जांयगे। बडे लोग कनिष्ठोंके सुधारके लिये आत्मयज्ञ नहीं करते, इसी लिये जगत् में दुःख बढ रहे हैं ।

(२) विपत्ति-निवारणार्थ कर्म ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (४।७)

" जहां धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी प्रबलता होती है, वहां (धर्मस्थापनाके लिये) मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं। "

जहां अधर्म, अनीति,अन्याय,और सज्जनोंका छल होता है, वहां श्रेष्ठोंको पहुंचना चाहिये और वहां धर्म न्याय आदिकी स्थापना करनेके लिये आत्मार्पण करना चाहिये। तथा पराधीन लोगोंको स्वाधीनता प्राप्त करनेकेलिये जो कार्य करने होते हैं, उस में स्वयं यत्नवान् होना चाहिये ।

(३) तीन कर्तव्य ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥(४।८)

" साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करने के लिये मैं युगयुगमें आता हूं। "

मनुष्यको सत्पक्षकी रक्षा, असत्पक्षका नाश और धर्मस्थापना के कार्यमें अपने आपको लगाना योग्य है। इसीसे मनुष्य कृतकृत्य होता है ।

(४) योग-आचरण ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (४।११)

" जो जैसे मुझे शरण आते हैं उनको वैसाही फल मैं देता हूं। "

मनुष्यको उचित है कि वह दूसरोंके साथ यथायोग्य आचरण करे ।

(५) कर्मसिद्धि ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (४।१२)

" मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे शीघ्रहि सिद्धि प्राप्त होती है। "

मनुष्यको कर्म करनेसे हि सिद्धि मिल सकती है ।

(६) स्वार्थ से दोष ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। (४।१३)

" कर्मके फलपर मेरी इच्छा नहीं है, इस लिये कर्मोंका दोष मुझे नहीं लगता। "

फलभोगकी इच्छा होनेसे कर्मका दोष लगता है। स्वार्थके कारण दोष लगता है।

(७) गहन कर्मतत्त्व।

गहना कर्मणो गतिः ॥ (४।१७)

"कर्मका तत्त्व बडा गहन है।"

कर्म अच्छा है या बुरा, इसका निश्चय करना बडा कठिन काम है।

(८) पण्डित।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ (४।१९)

"जो भोगेच्छा छोडकर कर्म करता है, उसके सब दोष ज्ञानसे जल जाते हैं, अतः उसीको ज्ञानी पंडित कहते हैं।"

भोगेच्छा छोडनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(९) यज्ञार्थ कर्म।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ (४।२३)

"यज्ञके लिये जो कर्म होता है, उस कर्मका दोष पूर्णतासे नष्ट होता है।"

सर्व भूतोंके हित करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म यज्ञरूप होते हैं, वैसे कर्म करनेसे किसी प्रकार का दोष नहीं होता है।

(१०) ब्रह्मकर्म।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (४।२४)

"कर्ता, कर्म, विधि,और साधन ये सब जिसको ब्रह्मरूप प्रतीत होते हैं, उसको सर्वत्र ब्रह्म दीखनेके कारण वह स्वयं ब्रह्म ही बनता है।"

संपूर्ण जगत् में और संपूर्ण व्यवहार में जिसको परमात्माका रूप दिखाई देता है, वह स्वयं परमात्मा बनता है।

(११) कर्महीन की दुर्गति।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः॥ (४।३१)

"कर्म न करनेवालेको यहां सुख नहीं होता, फिर उसको परलोक कहांसे प्राप्त होगा?"

कर्म न करनेसे अपना भी हित नहीं होगा और दूसरे की भी उन्नति नहीं होगी और न परलोक मिलेगा। अतः सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

(१२) ज्ञानदान श्रेष्ठ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः॥ (४।३३)

"द्रव्यदानसे ज्ञानदान अधिक कल्याण करनेवाला है।"

द्रव्य देनेसे ज्ञान देना दोनोंका भला करनेवाला है।

(१३) ज्ञानसे पापनाश।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ (४।३६)

"ज्ञानकी नौका सब पापसमुद्रके पार ले जायगी।"

ज्ञानसे हि सब दोष दूर होंगे और सब सुख प्राप्त होंगे।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते॥ (४।३७)

"ज्ञानरूप अग्निसे सब कर्मोंके दोष जल जाते हैं।"

ज्ञानसे सब दोष दूर होते हैं और गुण पास आते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (४।३८)

"ज्ञानके समान कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है।"

ज्ञान सब से पवित्रता करनेवाला है।

(१४) श्रद्धासे ज्ञानप्राप्ति।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥ (४।३९)

"श्रद्धालु, तत्पर और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।"

(१५) ज्ञानसे शान्ति।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (४।३९)

"ज्ञानसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।"

(१६) संशयसे नाश।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। (४।४०)

"अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयी मनुष्य का नाश होता है।"

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ (४।४०)

"संशयी मनुष्यको न इस लोकमें सुख होता है और न परलोकमें।"

क्योंकि संशयसे नाश निश्चित है।

(१७) आत्मबलसे निर्दोषता।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति। (४।४१)

"आत्मिक बल से युक्त हुए मनुष्यको कर्मोंका दोष नहीं लगता।"

(१८) अज्ञान दूर कर।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४।४२)

"हे भारतीय! हृदयस्थ अज्ञानजन्य संशयको ज्ञानसे दूर कर और उद्योग करनेके लिये उठ।"

ज्ञान प्राप्त कर, अपना संदेह दूर कर और अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेके लिये प्रबल प्रयत्न करने की इच्छासे सिद्ध हो।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी ।

चतुर्थ अध्यायकी विषयसूची ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

कर्मसंन्यासयोग ।

कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है?

अर्जुन उवाच-- संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वयः- अर्जुनः उवाच- हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं, पुनः योगं च शंससि; एतयोः यत् एकं श्रेयः, तत् मे सुनिश्चित ब्रूहि ॥१॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण! आप एक बार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी बार कर्मके योगकी प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग निश्चयसे मेरे लिये कल्याणकारी होवे, वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये ॥ १ ॥

भावार्थ— गुरुको उचित है कि वह शिष्यको एकहि निश्चित और श्रेयस्कर मार्गका उपदेश करे। अनेक मार्गोंकी प्रशंसा करके शिष्यके मनमें भ्रम उत्पन्न न करे ।

(१) पूर्व अध्यायमें कई श्लोकोंमें सर्वकर्म-संन्यास करनेकी प्रशंसा की है जैसे—

संन्यासकी प्रशंसा ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ॥ गी० ४।१८
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं ॥ गी० ४।१९
यदृच्छालाभसंतुष्टः गी० ४।२२
सर्वं कर्म...ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ गी० ४।३३
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते०॥गी४।३७

"जो कर्ममें अकर्म देखता है, जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए हैं, जो सहजप्राप्त वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है, सब कर्म ज्ञानमें समाप्त होते हैं, ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानमार्ग अर्थात् सर्वकर्म-संन्यास-मार्गकी प्रशंसा की है। यह प्रशंसा पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य संन्यासका आश्रय करे। क्यों कि सब कर्मोंका अन्त यदि संन्यासमें हि होना है, तो वही संन्यास प्रारंभसेहि क्यों न लिया जावे? इस तरह पाठककी प्रवृत्ति इस संन्यासप्रशंसाके उपदेशोंसे कर्मसंन्यास करनेकी ओर होती है।

इस प्रकार कर्मसंन्यासकी ओर प्रवृत्ति करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि—

कर्मयोगकी आज्ञा ।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
गी० ४।४२

"हे भारतका हित करनेके लिये प्रवृत्त हुए वीर! इस सन्देहको काटकर कर्मयोगका आचरण करनेके लिये उठ।" इस उपदेश द्वारा फिर कर्मयोगमें प्रवृत्त हो ऐसा कहा है । यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कर्मका संन्यास किया जाय अथवा कर्मयोगका आचरण किया जाय ? दोनों मार्ग परस्परभिन्न हैं, 'ठहरो और भागो' इन दो आज्ञाओंमें जितना परस्परविरोध है, उतना ही विरोध 'कर्म करो और कर्मत्याग करो' इन

(२) कर्म और संन्यास एकही हैं।

श्रीभगवानुवाच-- संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ; तयोः तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते ॥ २ ॥ यः न द्वेष्टि, न (च) कांक्षति, सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः, हे महाबाहो ! हि निर्द्वंद्वः बन्धात् सुखं प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् बोले— कर्मोंका संन्यास और कर्मोंका योग ये दोनोंही मनुष्यका कल्याण करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्यासकी अपेक्षा (तेरे लिये) कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसी-की प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करता, उसे नित्यसंन्यासी समझना उचित है। जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है, वही सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

आज्ञाओंमें है ! जिस समय गुरु कर्मयोग और कर्मसंन्यास इन दोनोंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करते हैं, उस समय शिष्य क्या करे, कर्म करे वा कर्म छोड देवे ? मार्ग पूछनेवालेसे यदि कोई कहे कि तुम पूर्वकी ओर जानेवाले मार्गसे जाओ अथवा पश्चिमकी ओर जानेवाले मार्गसे जावो, तो वह पांथस्थ किस मार्गसे जावे? उसी तरह यहां अर्जुनके मनमें पूर्वोक्त कारणसे बडा संदेह उत्पन्न हुआ। अतः वह कह रहा है कि "कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग मेरे लिये श्रेयस्कर होगा, उसका उपदेश मुझे करो" अर्थात् अनेक मार्गोंका उपदेश करके पहिलेसे भ्रान्त हुए मेरे चित्तको अधिक भ्रममें न डालो, इस समय मेरा निश्चित रीतिसे कल्याण किस तरह होगा, इसका ही उपदेश करना आपको उचित है। इस प्रकार अर्जुनका प्रश्न श्रवण करके भगवान् उसका सन्देह दूर करनेके लिये समझाते हैं—

(२-१) पूर्व अध्यायमें ज्ञान और कर्मकी समान प्रशंसा सुनकर अर्जुनके चित्तमें संशय उत्पन्न हुआ, यह जानकर, इस सन्देहको दूर करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यास और कर्म।

संन्यासःकर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ॥(५।२)

"संन्यास और कर्मयोग ये दोनों निःसंदेह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाले हैं" यहां गीता-शास्त्रमें संन्यास और कर्मयोग ये शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त किये हैं। निम्न लिखित कोष्टक देखनेसे इनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है—

कर्म	संन्यास
,, योग	सांख्य, ज्ञान
कर्ममार्ग	संन्यासमार्ग
,,	सांख्यमार्ग
कर्मयोग	संन्यासयोग
,,	सांख्ययोग
,,	ज्ञानयोग

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वयः— सांख्ययोगौ पृथक् (इति) बालाः प्रवदंति, न पंडिताः; एकं अपि सम्यक् आस्थितः (पुरुषः) उभयोः फलं विन्दते ॥ ४ ॥ यत् स्थानं सांख्यैः प्राप्यते, तत् योगैः अपि गम्यते; यः सांख्यं योगं च एकं पश्यति, सः (एव) पश्यति ॥ ५ ॥

अज्ञानी लोग सांख्यमार्ग (संन्यासयोग) और योगमार्ग (कर्मयोग) को पृथक् पृथक् मानते हैं, परंतु ज्ञानी जन ऐसा नहीं मानते। क्यों कि इनमेंसे किसी एकका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेसे, मनुष्यको दोनोंका फल प्राप्त होता है॥४॥ जो स्थान सांख्यमार्गियोंको प्राप्त होता है, वह योगमार्गियोंको भी प्राप्त होता है, अतः जो सांख्य और योगको एकरूप देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥५॥

भावार्थ—ज्ञान और कर्म ये दोनों मार्ग मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले निःसन्देह हैं। तथापि सर्वसाधारण मनुष्यके लिये कर्मही विशेष लाभकारी है॥ जो किसीका द्वेष नहीं करता अथवा किसीपर प्रेम भी नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी है, फिर वह ज्ञानमें तत्पर हो अथवा कर्ममें लगा हुआ हो। द्वन्द्वोंसे जो दूर रहता है वह सुखसे बन्धनोंसे छूट जाता है॥ ज्ञान और कर्म ये दोनों भिन्न भिन्न हैं ऐसा मूढ लोग मानते हैं, परंतु ज्ञानी लोगोंका मत वैसा नहीं है। इस का कारण यह है कि, इनमें से किसी एकका भी यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान किया जाय, तो दोनोंका फल प्राप्त होता है॥ जो उच्च स्थान ज्ञानियोंको मिलता है, वही कर्ममार्गियों को भी प्राप्त होता है। अतः अन्तिम साध्यकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है। इस तरह ज्ञान और कर्मको फलकी दृष्टिसे एक जानना ही सत्य ज्ञान है॥२—५॥

कर्मयोग	बुद्धियोग
योगबुद्धि	सांख्यबुद्धि
कर्म	अकर्म

इस तरह इन दोनों मार्गोंके नाम हैं। यदि पाठक इन नामोंका स्मरण रखेंगे तो उनको किस शब्दसे किसका बोध होता है इसका उत्तम ज्ञान हो सकता है। इससे पूर्व तृतीयाध्यायमें कहा है कि—

दो निष्ठा।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(गी० ३।३)

"इस संसारमें दो प्रकारकी प्रवृत्तिवाले लोक होते हैं। सांख्योंकी प्रवृत्ति ज्ञानकी ओर और योगीयोंकी प्रवृत्ति कर्मकी ओर होती है।" यह मनुष्यका स्वभाव धर्म है। जो जिसकी निसर्ग-प्रवृत्ति होती है, उसके अनुकूल चलनेसेहि उसका कल्याण होता है। निसर्गप्रवृत्तिके विरुद्ध चलनेसे, अर्थात् प्रकृतिका विरोध करनेसे बडी हानि होती है, अतः कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
(गी० ३।३३)

"ज्ञानीभी अपने प्रकृति स्वभावके अनुसार बर्तता है। सब प्राणिमात्र अपने स्वभावके अनुसार चलते हैं, ऐसी अवस्थामें बलात्कार करनेसे क्या लाभ हो सकता है?" इस कारण अपने निज निसर्गस्वभावके अनुकूल मार्गसे चलना उचित है, यह पहिले दर्शाया है। इस नियमके अनुसार जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ज्ञानमार्गकी ओर हो वह ज्ञानमार्गसे जाये और जिसकी निज प्रवृत्ति कर्ममार्गकी ओर हो वह कर्ममार्गका अनुष्ठान करे। ये दो मार्ग पूर्वोक्त दो प्रवृत्तिवाले मनुष्योंके लिये होनेसे, दोनोंकी समान प्रशंसा होनेपर भी मनुष्यको संदेहमें पडनेका कोई कारण नहीं है। क्यों कि मनुष्यको उचित है कि वह अपनी निज प्रवृत्ति देखे और उस प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग हो उसका अनुष्ठान करे और अपनी निज प्रवृत्तिके विरुद्ध मार्ग से न जावे। भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजने चतुर्थ अध्यायमें संन्यासयोग और कर्मयोगकी समानतया प्रशंसा की है, यह सत्य है, परंतु इससे उसके चित्तको भ्रम होनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अर्जुनको उचित था कि, वह अपनी निज प्रवृत्ति देखता और उस निज प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग है उसपर चलता। परंतु अर्जुन प्रारंभमेंहि युद्धरूप स्वभावोचित कर्म छोडनेको अर्थात् अपना कर्म छोडनेको प्रवृत्त हुआ था, और भिक्षावृत्तिसे रहनेके लिये उत्सुक हुआ था। भैक्ष्यचर्यसे अकिंचन संन्यासवृत्तिसे रहना उसका प्रवृत्तिधर्म नहीं था, युद्धरूप कर्ममार्गका अवलंबन करके, शत्रुपर विजय प्राप्त करके, राजा बनना उसके प्रवृत्तिके अनुकूल था। परंतु अर्जुन स्वाभाविक प्रवृत्तिका कर्म त्याग रहा था और बलात्कारसे भिन्न प्रवृत्तिका शमदमादि संन्यासधर्मका आश्रय करनेमें दत्तचित्त था। इसी लिये अर्जुन से श्रीकृष्ण महाराजने आगे कहा है कि—

प्रवृत्तिकी प्रबलता।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०
गी० १८

"यदि अहंकार वश होकर 'मैं नहीं लडूंगा' ऐसा तू निश्चय करेगा, तो यह तेरा निश्चय व्यर्थ होगा, क्योंकि तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा। अपने स्वभावानुकूल स्वकर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, उसे तूहि विवश होकर करेगा।" यह अन्तमें उपदेश इस लिये किया कि अर्जुन अपनी प्रवृत्तिके विरुद्ध चल रहा था। बलात्कारसे वैसे प्रकृतिधर्मका विरोध करना अन्तमें लाभदायक नहीं होता है। यदि मनुष्य अपनी प्रवृत्तिको जानकर अपनी प्रवृत्तिके अनुकूल कर्म करेगा, तो उसको कभी अयश नहीं प्राप्त होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे सत्त्व रज तम आदि गुणोंका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिका स्वभावगुण धर्म जाननेका आदेश दिया है। यदि मनुष्य सत्त्व प्रकृतिवाला हो तो सात्त्विक ज्ञानमार्गसे जानेका निश्चय करे और यदि रजोगुणी प्रकृतिवाला हो तो कर्ममार्गमें प्रवृत्त होवे। सोलहवें अध्यायमें दैवी गुणोंवाले और आसुर गुणोंवाले लोगोंकी प्रवृत्ति कैसी भिन्न होती है इसका वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य अपनी कौनसी प्रवृत्ति है इसका निश्चय कर सकता है। इसीतरह सतरहवें और अठारहवें अध्यायमें सत्त्व रज और तम प्रवृत्तिवाले लोगोंका वर्णन है, इसका विचार करके मनुष्य जान सकता है कि अपनी प्रवृत्ति कौनसी है। इन अध्यायोंमें जो विचार किया है वह मनुष्यको आत्मपरीक्षा करनेके लिये साधक हो सकता है। इसके मनन

से मनुष्य अपनी परीक्षा करके निश्चय करे कि निज प्रवृत्ति सात्त्विक है वा राजस है अथवा तामस है? इसी तरह अपनी ज्ञाननिष्ठा है वा कर्मनिष्ठा है? इस प्रवृत्तिको जानकर उस प्रवृत्ति के अनुकूल जो कर्तव्य हो वह करनेमें प्रवृत्त हो। अर्जुनने इस अपनी स्वभावप्रवृत्तिका विचार नहीं किया और एकदम विकारवश होकर स्वभावोचित युद्धकर्मका त्याग कर बलात्कारसे ध्याननिष्ठ संन्यास लेकर भिक्षावृत्तिका आश्रय करनेमें प्रवृत्त हुआ। इसीलिये उसने यही समझा कि भगवान् श्रीकृष्णजीने जो संन्यास और कर्म इन दोनों मार्गोंकी प्रशंसा की, वह अपने लियेहि है, ये दोनों मार्ग मेरे लियेहि कहे गये हैं, ऐसा समझकर भ्रममें पडा और प्रश्न करने लगा कि इन दोनों मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग अपने लिये अधिक श्रेयस्कर है? यदि अर्जुन अपनी प्रवृत्ति को जान लेता, तो यह प्रश्नहि उसके मनमें न उठता, क्यों कि उसकी निसर्गप्रवृत्ति शमदमादि साधन की ओर झुकनेवाली नहीं थी, भोगप्रधान प्रवृत्ति थी। इस तरह अर्जुनके मनमें अहंकार की प्रधानता होनेके कारण उसने अपना सहजप्राप्त कर्तव्य छोड दिया और दूसरा भिक्षुधर्म स्वीकारना चाहा, अतः उसके मनमें सन्देह हुआ और उसने शंका की, जिसका उत्तर भगवान् दे रहे हैं। वे कहते हैं कि "संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग ये दोनों निःसन्देह कल्याण करनेवाले हैं।" यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या ये दोनों मार्ग प्रत्येक मनुष्यका हित करनेवाले हैं? अथवा प्रत्येक मार्ग भिन्नभिन्न प्रवृत्तिवालोंकाहि हित करनेवाला है?

पूर्वापरसंबंधका विचार करनेसे यह बात स्पष्ट है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये कल्याणकारी है और योगमार्ग कर्मनिष्ठावालोंके लिये हितकारी है। इसी उद्देश्यसे "संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मार्ग मनुष्योंका कल्याण करनेवाले हैं" ऐसा सामान्यतया उपदेश यहां कहा है। इसमें किन लोगोंका कल्याण ये दो मार्ग करते हैं यह बात गुप्त है। इसके आगे भी ऐसा ही कहा है कि—

कर्मयोगकी विशेषता।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गी० ५।२)

"इन दोनोंमेंभी संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष श्रेयस्कर है।" परंतु यह कर्मयोग जो श्रेयस्कर है वह सब लोगोंको श्रेयस्कर है अथवा किसी विशेष प्रकारके मनुष्योंको श्रेयस्कर है इसका विचार करना चाहिये। जनतामें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं (गी० ३।३) एक प्रकारके पुरुषोंको कर्मनिष्ठ कहते हैं और दूसरे प्रकारके पुरुषोंको ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है। जगत् में सब मनुष्य एकही वृत्तिके नहीं होते और उक्त दो निष्ठाओंसे तीसरी निष्ठाभी जगत् में नहीं है। एक वार यह निश्चित होनेसे संन्यासयोग और कर्मयोग किन मनुष्योंके लिये हितकारी है, यह बात स्वयं स्पष्ट होजाती है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये हितकारी है और कर्मयोग शेष सब लोगोंके लिये लाभकारी है। जगत् में ज्ञानी लोग बहुतही थोडे होते हैं, अतः कर्मयोग सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये लाभकारी है, यही इसकी विशेषता है।

जो मनुष्य अत्यंत विरक्त होते हैं, भोगवासनाओंसे स्वभावतः दूर रहते हैं, वैराग्य जिनका स्वभावधर्म बना है, जो मुक्त होनेकी एक मात्र कामना धारण करते हैं अथवा जगत् के व्यवहार छोडकर जो केवल ज्ञानप्राप्तिके लियेहि अपना जीवन लगानेको सिद्ध हैं, वे संन्यासमार्गसे जाकर अपना जीवन सफल कर सकते हैं। इनके लिये ही संन्यासमार्ग श्रेयस्कर है।

नामसंन्यासी।

नहीं तो जो आजकलके वेषधारी नाममात्र संन्यासी हैं, जिन्होंने आजीविकाके लिये संन्यास

ग्रहण किया है, संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् भी विविध भोगप्राप्तिके साधनोंमें जो फंसते रहते हैं, जिसका चित्त ब्रह्मप्राप्तिकी अपेक्षा भोगप्राप्तिमें अधिक लगा होता है, जिनको मनके अन्दर संन्यास ग्रहण करनेके कारण पश्चात्ताप होता है, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। ये वस्तुतः कर्मयोगके अधिकारी हैं। कर्म करके चित्तकी शुद्धता करनेसे इनकी उन्नतिका मार्ग सुकर होता है। ऐसे लोगोंका उद्धार कर्मयोग द्वारा होता है।

पूर्वोक्त संन्यासमार्गके अधिकारी जगत् में थोडे होते हैं। उनको छोडकर शेष सब लोग कर्मयोगसे अपनी उन्नतिका साधन कर सकते हैं, अर्थात् इस कर्मयोगके अधिकारी इस जगत् में अधिक हैं। हरएक मनुष्य कर्ममार्गसे अपना कल्याण कर सकता है, यही (कर्मयोगो विशिष्यते।५।२) कर्मयोगकी विशेषता है। मानो इस तरह सभी लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं। यह कर्मयोग सब लोगोंका कल्याण करनेवाला है। जैसे अधिकार न रहते हुए लिये हुए संन्यास से संन्यास लेनेवाले की गिरावट होती है, वैसी गिरावट कर्मयोगसे किसीकी भी नहीं हो सकती। क्यों कि सभी लोग इसके अधिकारी हैं। ज्ञाननिष्ठावाले लोग भी यदि कर्म करेंगे तो वे गिरेंगे नहीं, परंतु कर्मनिष्ठावाले संन्यास लेंगे तो उनका अधःपात हो सकता है, क्यों कि उनसे संन्यास निभ नहीं सकता। यह कर्मयोगकी विशेषता है।

संन्यासका मुख्य लक्षण भोगेच्छाकी पूर्ण निवृत्ति है। अतः जिसमें भोगेच्छा है उससे संन्यास कदापि नहीं हो सकता। संन्यासधर्मकी यही कठिनता है, क्योंकि प्रायः मनुष्य भोगेच्छा युक्त होते हैं। अब ऐसे भोगेच्छावाले मनुष्य अपनी उन्नति किस तरह साध्य करें? उत्तरमें गीताने कहा है कि वे कर्मयोगसे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसमें भोगेच्छाका पूर्ण त्याग करना आवश्यक नहीं है, थोडा भोग और थोडा त्याग ऐसा मेलमिलापसे साधन करते हुए, इसमें उन्नति प्राप्त करना होता है। इसलिये प्रत्येक प्रवृत्तिका मनुष्य इस कर्मयोगसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। यह दर्शानेके लिये संन्यास के मुख्य लक्षण कहे हैं—

संन्यासीके लक्षण।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥

'नित्य संन्यासी' के लक्षण ये हैं— (५-३)

(१) यः न द्वेष्टि= जो किसीका द्वेष नहीं करता, किसीका शत्रुत्व नहीं करता,

(२) यः न कांक्षति= जो किसीकी इच्छा नहीं करता, जो किसी भोगकी प्राप्तिकी वासना नहीं धरण करता, जो भोगोंके विषयमें निरिच्छ है,

(३) यः निर्द्वन्द्वः= जो सुखदुःख, हानिलाभ, रागद्वेष, शत्रुमित्र, उच्चनीच आदि द्वन्द्वभावसे दूर रहता है, सुख हो अथवा दुःख हो दोनों अवस्थाओंमें जिसका मन सम रहता है,

(४) यः नित्यसंन्यासी-जो पूर्वोक्त संन्यासीके लक्षणोंसे सदा युक्त रहता है, अर्थात् थोडी-दूर भोगी और थोडी देर त्यागी नहीं रहता, परंतु सदा सहजतया रागद्वेषरहित रहता है,

वही सुख प्राप्त करके बन्धनसे मुक्त होता है। यहां चार लक्षण संन्यासी के कहे हैं, (१) द्वेष न करना, (२) भोगेच्छाका न होना,(३)द्वन्द्वभावसे दूर होना और (४) इन तीनों गुणोंका सतत होना, ये चार लक्षण जहां होंगे, वह संन्यासमार्गका अधिकारी है। इसमें चतुर्थ लक्षण विशेष महत्त्वका है। कई मनुष्य थोडी देर तक किसीका द्वेष करना छोड देंगे, किसी भोगकी कामना भी नहीं करेंगे,कदाचित् शत्रुमित्र भावादि द्वन्द्वोंसे भी दूर रहेंगे, परंतु यह सब थोडी देर के लिये उनसे नाट्य होगा। इस तरह जो लोग

थोडी देर तक उक्त लक्षण धारण करनेका नाट्य करेंगे, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। परंतु जिनमें उक्त तीनों लक्षण 'नित्य' रहते हैं, स्वभावसे सहज वृत्तिसे और विना आयास रहते हैं वे संन्यासी हैं।

जिनमें द्वेष करनेकी प्रवृत्ति नहीं, जो स्वभावसे सन्तुष्ट हैं, अतः भोगवासना जिनमें उठती नहीं, जो अनुकूल या विपरीत अवस्थामें सम वृत्तिसे रहते हैं, और ये तीनों वृत्तियां जिनमें सदा रहती हैं, वेही सच्चा संन्यासी हैं। और येही संन्यासमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

संन्यास का अनधिकारी।

पूर्वस्थानमें संन्यासयोगका अधिकारी कौन है इसके लक्षण कहे। अब उक्त विचारसे हि संन्यासका कौन अधिकारी नहीं है, इसका विचार हो सकता है। संन्यास लेनेका जिनको अधिकार नहीं है उनमें निम्न लिखित लक्षण होंगे—

(१) यः द्वेष्टि = जो द्वेष करते हैं, निन्दा करते हैं, शत्रुत्व करते हैं, जो झगडालू हैं,

(२) यः कांक्षति= जो वासना धारण करते हैं, मुझे सुख चाहिये ऐसा मान कर जो वासना के पीछे दौडते हैं,

(३) यः द्वन्द्वयुक्तः= जो सुखदुःखादि द्वन्द्वों में फंसे होते हैं, जो सुखसे हर्षित और दुःखसे उदासीन होकर कर्तव्य छोडते हैं।

(४) यः अल्पसमयसंन्यासी= जो थोडी देर तक तो संन्यासभावको स्वीकारना चाहता है, और थोडी देर के पश्चात् पुनः भोगोंमें लिपट जाता है।

इस तरहके लक्षणोंसे जो लोग युक्त होंगे, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। उनको उचित है कि, वे कर्मयोगसे अपने चित्तकी शुद्धि करें, और क्रमशः उच्च भूमिका को प्राप्त करते जांय। ये लक्षण यद्यपि श्रेष्ठ संन्यासीके हैं तथापि कर्मयोगीभी इन लक्षणोंको अपने अन्दर क्रमशः बढा सकता है और कर्मयोग करते हुए भी संन्यासी होनेका फल प्राप्त कर सकता है। इसीलिये येही लक्षण पूर्वस्थानमें कर्मयोगीके वर्णनमें आगये हैं; देखिये—

कर्मयोगीके लक्षण	संन्यासीके लक्षण
निर्द्वन्द्वः (२।४५)	निर्द्वन्द्वः (५।३)
शुभाशुभ परित्यागी (१२।१७)	,,
सिद्ध्यसिद्ध्योः समः (२।४८)	,,
... ...	... ...
न द्वेष्टि (१२।१७)	न द्वेष्टि (५।३)
वीतक्रोधः (२।५६)	... ...
न कांक्षति (१२।१७)	न कांक्षति (५।४)
संगं त्यक्त्वा (२।४८)	,,
फलं त्यक्त्वा (२।५१)	,,
कामं जहि (३।४३)	,,

इस तरह कर्मयोगी अपने कर्ममार्गपर चलता है, और शनैः शनैः उन उच्च गुणोंको प्राप्त करता है, जो गुण ज्ञानमार्गीको प्राप्त होते हैं और इस तरह कर्मयोगीभी उसी स्थानपर पहुंच जाता है, जहां ज्ञानमार्गी पहुंच जाता है। कर्मयोगी यद्यपि भोगप्राप्तिके उद्देश्यसे प्रारंभमें कर्म करता है, तथापि उसको शनैः शनैः त्याग करनाहि पडता है, और जितना उसका स्थान उच्च होता है उतना उसको अधिक त्याग करना अत्यंत आवश्यक होता है। अर्थात् शनैः शनैः उसमें त्यागभाव बढता है और भोगभाव कम होता है, इसी तरह जिस प्रमाणसे उसमें त्यागकी मात्रा बढती है, उसी प्रमाणसे उसमें द्वेषकी मात्रा भी न्यून होती जाती है। ऐसेहि उत्तम कर्मयोगी होनेके लिये उसको 'सम' बुद्धि धारण करनी पडती है, यहां उसको निर्द्वन्द्व होनेका पाठ मिलता है। इस रीतिसे उस कर्मयोगीमें कर्मयोग आचरण करते करते संन्यासीके लक्षण विकसित होने लगते हैं, मानो इस प्रकार उन्नत होनेपर कर्मयोगी और संन्यासयोगी एकहि अवस्थामें हैं ऐसा दिखाई देता है। इसीलिये कहा है कि—

(३) संन्यासके लिये योगकी आवश्यकता।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! अयोगतः संन्यासः तु दुःखं आप्तुं, योगयुक्तः मुनिः नचिरेण ब्रह्म अधिगच्छति॥६॥

हे महाबाहो अर्जुन ! कर्मयोगके विना संन्यास दुःखसे साध्य होनेवाला है, परंतु कर्मयोग करनेवाला मुनि शीघ्रही ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ- कर्मके विना ज्ञानयोग सिद्ध होना अत्यंत कठिण है अर्थात् सिद्ध होना प्रायः अशक्य है। परंतु पुरुषार्थरूप कर्मयोग करता हुआ मनुष्य क्रमपूर्वक उन्नत होकर अन्तमें निश्चयसे ब्रह्म प्राप्त करता है, उससे उच्च पदको प्राप्त करता है, मुक्त होता है अर्थात् बन्धनसे छूट जाता है ॥६॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५

"मूर्ख लोग मानते हैं कि सांख्यमार्ग भिन्न है व योगमार्ग भिन्न है, परंतु ज्ञानी लोग जानते हैं कि दोनों का फल एक ही है। क्यों कि इनमें से किसी एक मार्गका अच्छी प्रकार आक्रमण किया जाय, तो दोनोंका फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है, वही योगमार्गियों को भी प्राप्त होता है, अतः फलकी दृष्टिसे दोनो मार्ग एकही हैं, ऐसा जो जानता है वही सच्चा ज्ञानी है।"

यहां स्पष्ट रीतिसे कहा है कि सांख्य और योग, किंवा ज्ञान और कर्म, अथवा संन्यास और कर्मयोग एक ही अन्तिम फल देनेवाले हैं। जो फल एकसे प्राप्त होता है, वही दूसरेसे मिलता है। दोनों मार्गोंसे एकहि अन्तिम साध्य सिद्ध होता है। यदि ऐसा है, तो दोनोंकी समानतया प्रशंसा करनेमें कोई हानि नहीं है,क्यों कि प्रशंसा सुननेसे मनुष्य उन मार्गोंसे जायंगे और अन्तिम सिद्धि दोनों मार्गोंसे जानेवालोंको समानतया प्राप्त होगी। इसलिये मनुष्य इस मार्गसे गये अथवा उससे गये, तो, उसमें कोई हानिकी संभावना नहीं है। मनुष्य चलनेके समय विचार करे कि, अपने लिये सुगम कौनसा मार्ग है? अपनी स्वभावतः कर्मनिष्ठा है या ज्ञाननिष्ठा है। अपनी स्वभावतः जो निष्ठा होगी, उसके अनुकूल अपने योग्य मार्ग द्वारा आगे बढनेसे मार्गक्रमण विना कष्ट हो जाता है, अन्यथा थोडे कष्ट होंगे। जो विचार करना चाहिये केवल इस ही बात का विचार सबसे प्रथम करना चाहिये।

'दोनों मार्ग फलकी दृष्टिसे समान हैं' ऐसा भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजका भाषण श्रवण करके अर्जुन को बडी प्रसन्नता होगई, और वह मनही मनमें मानने लगा कि, "जो मैंने स्वयं भैक्ष्यचर्य स्वीकारने द्वारा भिक्षु या संन्यासी होकर तपस्वी होनेका मार्ग आक्रमण करनेका निश्चय किया है, वह भी निःसंदेह उन्नति करनेवाला है,अतः अब युद्ध न करते हुए उसी संन्यासमार्गपर चलना मेरे लिये अच्छा है।" इस तरह अर्जुनके मनमें संन्यासी बननेके विचार चलहि रहे थे इतनेमें उसके भावोंको उसके मुखाविर्भावसे जानकर कुशल वक्ता तत्त्वज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—

(३) पूर्वस्थानमें ज्ञानयोग और कर्मयोग का फल एकहि है, किंवा फल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे ये दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा कहा। इस कथनसे

कोई साधक मान सकता है कि, ये दोनों मार्ग समानतया सुगम हैं, प्रारंभसे अन्ततक अनुष्ठान-कालमें भी एकसा सुख देनेवाले हैं, कोई साधक किसी मार्गसे चलने लग जाय तो उसकी सुगमताकी दृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं, इस तरह का विचार साधकके मनमें आसकता है; इस लिये इस दृष्टिसे इन दो मार्गोंमें जो भेद है उसका विवरण करनेका उपक्रम भगवान् इस श्लोकमें करते हैं।

अयोगतः संन्यासः दुःखं आप्तुं। (५।६)

"योग के न करनेपर संन्यास लिया तो उससे दुःखही दुःख प्राप्त होगा।" परंतु संन्यास न लेते हुए योग का अनुष्ठान किया जाय तो दुःख नहीं होता। इस कथन से इस बातकी स्पष्टता होती है कि सबसे प्रथम मनुष्य योगका अनुष्ठान करे, यहां 'योग' का अर्थ 'कर्मयोग, निष्काम कर्मयोग, कर्ममार्ग, योगसाधन, योगमार्ग, अथवा पुरुषार्थयोग' है। जो साधक प्रारंभमें इस कर्मयोग को करता है वह कुछ साधन के पश्चात् ज्ञानयोग का अधिकारी होता है और उस समय उसने संन्यासमार्ग का स्वीकार किया, तो उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

जो मनुष्य पूर्वजन्मके सत्कर्मसे जन्मसेहि सिद्ध होते हैं, वे चाहे कर्मयोगके अनुष्ठानके बिना भी संन्यास ग्रहण करके मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वे जन्मसे सिद्ध होते हैं। परंतु जो ऐसे जन्मसे सिद्ध नहीं होते हैं, वे सामान्य मनुष्य ब्रह्मचर्यादि आश्रममें रहते हुए, और शनैः शनैः योगाभ्यास करते हुए अपने आपको संन्यासमार्ग के अधिकारी बनावें और पश्चात् संन्यास लें, अर्थात् ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका आचरण करना आवश्य है।

इसके लिये एक उदाहरण लेते हैं- एक सुंदर अमृत जैसे शुद्ध और पवित्र जलका सरोवर है, उसमें ऐसा उत्तम जल है कि जिस जलका सेवन करनेसे मनुष्य नीरोग, सुदृढ, दीर्घजीवी और सुखी होता है। अतः प्रत्येक मनुष्य उस अमृत जलको प्राप्त करनेका इच्छुक है। उस सरोवरके पास जानेके दो मार्ग हैं, एक सीधा और सुगम्य है परंतु पंधरह सौ कोस लंबा है, दूसरा अति समीपका है, बीचमें एक पर्वतपर चढकर एक दो दिनोंमें दूसरी ओर उतरनेसे सरोवर के समीपके तीर पर पहुंचता है। पर्वतपर का मार्ग केवल दो दिनोंका है और दूसरा सीधा मार्ग चलनेके लिये दो अथवा तीन मास लगते हैं। परंतु उस पर्वतपर चढना कठिन है, मार्ग अत्यंत बिकट है। पांव फिसल गया तो निश्चयसे मृत्यु होती है, बीचमें सांप बिछू सिंह व्याघ्र आदि पशु भी हिंसा करनेके लिये तयार हैं। दुष्ट लुटेरे दस्यु भी मारपीट करनेके लिये तैयार हैं, इस कारण यह मार्ग साधारण मनुष्यके जानेके लिये अत्यंत कठिण है। दूसरा दूरका सीधा मार्ग यद्यपि दो मास लगेंगे, तथापि बीचका सब मार्ग सुगम है, मार्गपर पत्थर या गढे नहीं हैं, सुखदायी वाहन हैं, बीचबीचमें धर्मशालाएं अतिसुंदर बनीं हैं, सब खानपानकी सामग्री है, इस तरह सुंदर दृश्य देखते हुए मनुष्य आनंदसे वहां पहुंच सकता है। इस विचार-से यह बात निश्चयसे ज्ञात होगी कि समीपके मार्गसे यह दूरका मार्ग सर्वसाधारणके लिये हितकारी है। जो विशेष धीर वीर शूर और विशेष संनद्ध हों वे पर्वतके मार्गसे जावें, परंतु सर्वसाधारण मनुष्यको इसी सीधे दूरके मार्गसे जाना योग्य है।

यही बात संन्यासमार्ग और कर्ममार्गकी है। सर्वसाधारण मनुष्य संन्यासधर्मका यथायोग्य पालन कर नहीं सकता, अतः ऐसा मनुष्य संन्यास लेकर गिर जाता है, परंतु वही कर्ममार्गसे क्रमशः उन्नति प्राप्त करता हुआ अपने परम धाम. को प्राप्त कर सकता है। योग्यता न होते हुए अनधिकारी लोग संन्यास लेकर अपनी और दूसरोंकी गिरावटके लिये कैसे कारण होते हैं,

इसकी प्रत्यक्षता इस समयके नामधारी संन्यासी दे रहे हैं। इस समय बहुत थोडे संन्यासी सच्चे संन्यासी हैं, वे अपना और समाजका उद्धार करते हैं। परंतु अन्य संन्यासी केवल वेषधारी होनेसे राष्ट्रमें कितना अनर्थ करके कैसे भूभार होते हैं यह विचारी मनुष्य अपने चारों ओर देखकर जान सकते हैं। इस लिये वेषधारी नाममात्र संन्यासियोंका नियंत्रण होना चाहिये इसमें संदेह नहीं है।

अब कर्मयोग क्या है और उससे उन्नति का सीधा मार्ग सबके लिये कैसा खुला होता है, इसका संक्षेपसे यहां विचार करना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि पारिभाषिक शब्दोंके उपयोग ऐसे किये जाते हैं कि किसका कहां कौनसा अर्थ है, इसका निर्णय करना विचारवान् पाठकोंको भी दुर्घट कार्य हो जाता है, जैसा 'सांख्य, संन्यास, ज्ञान' इनके साथ 'योग अथवा मार्ग' शब्द लगकर "सांख्ययोग, सांख्यमार्ग, संन्यासयोग, संन्यासमार्ग, ज्ञानयोग, ज्ञानमार्ग" ये शब्द बनते हैं। प्रायः इनका अर्थ गीतामें समान है, परंतु 'ज्ञान' शब्दका 'भौतिक विज्ञान, ग्रंथज्ञान, शास्त्रज्ञान' आदि मानकर कई लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। ज्ञानमार्ग आदि शब्दोंका अर्थ गीतामें निश्चत है, "ज्ञानका अर्थ मोक्षविषयक ज्ञान, परमात्मा एक है, वह सर्वव्यापक है, प्रत्येक वस्तुमात्रमें उसकी शक्ति कार्य कर रही है, वही परमात्मा मेरे हृदयमें है, उसका पूर्ण ज्ञान होनेपर उस साधकको प्रापंचिक सुख तुच्छ लगता है, परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव प्राप्त करनेकी अभिलाषा बढती है, बेचैनी होता है, और वह आंतरिक आतुरतासे निश्चय करता है कि, इस सर्वव्यापक परमात्माका साक्षात्कार किये विना मैं नहीं रहूंगा। ऐसे अटूट निश्चयसे वह सब प्रपंच छोडता है और परमार्थसाधनमें दत्तचित्त होता है।" यह ज्ञानमार्ग का अथवा संन्यासमार्गका अधिकारी है। शेष सब लोग कर्ममार्गके अधिकारी हैं।

'कर्ममार्ग, कर्मयोग, योगमार्ग' ये सब शब्द समानार्थक हैं। मनुष्य निकृष्टसे निकृष्ट भी क्यों न हो वह अपनी उन्नति इस मार्गसे चलकर निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। संन्यासमार्गके समान यहां गिरावट का डर नहीं है। कर्ममार्गमें दो भेद हैं-(१) सकाम कर्म, और (२) दूसरा निष्काम कर्म। सकाम कर्मकी सीढी नीचे है और निष्काम कर्मका स्थान ऊंचा है। साधारण मनुष्य प्रारंभ में सकाम कर्म करे। सकाम कर्मका अर्थ अपने भोगके लिये, सुखके लिये अथवा यशके लिये किये जानेवाले कर्म। मुझे सुख प्राप्त होना चाहिये ऐसा मानकर मनुष्य प्रारंभमें सकाम कर्म ही करता है। क्योंकि निष्काम कर्म बडा कठिन अर्थात् स्वयं प्रयत्न करना और उसका फल न लेना, यह बडा स्वार्थत्यागसे होनेवाला है।

सुखकी इच्छासे ब्रह्मचर्य पालन करता है, प्रापंचिक और पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करता है, इस ज्ञानप्राप्तिके अध्ययनमें उसको सिद्ध पुरुषोंका जीवनचरित्र विदित होता है, उससे पारमार्थिक उन्नतिकी शाब्दिक कल्पना आती है। पश्चात् वह सुख बढानेके लिये गृहस्थाश्रम स्वीकारता है, विवाह करके सहधर्मचारिणीके साथ रहने लगता है, यहां तो उसको अपनी पत्नीके लिये स्वार्थ त्याग करनेका पाठ मिलता है, थोडे समयके पश्चात् उसको संतान होते हैं, उस समय वह उनके लिये अपने सुखका त्याग करनेका पाठ सीखता है। इसी तरह उसका परिवार जितना बढता है, उतना अपना सुख त्यागना और दूसरोंके हितके लिये प्रयत्न करना वह सीखता है। यही अपने सुखका दूसरोंकी भलाईके लिये संन्यास करना है। कर्ममार्गमें संन्यासका पाठ इस तरह वह सीखता है।

गृहस्थधर्ममें स्वसुखवर्धनके प्रयत्नमें हि इस रीतिसे स्वसुखत्याग करनेसे महत्सुख मिलनेका अनुभव गृहस्थीको प्राप्त होता है। पुत्रादि

के हितके लिये स्वसुखका त्याग करनेसे उसको बडा सुख मिलनेका अनुभव आता है। इसी तरह कर्ममार्गसे आत्मसमर्पणका पाठ उसको मिलता है। आगे इसी तरह अपने कुटुंब के लिये, परिवारके लिये, जातिके लिये और राष्ट्रके लिये आत्मसमर्पण करनेके लिये यह कर्मयोगी तैयार होता है; अन्तमें अपने धर्मके लिये मरनेको भी सिद्ध होता है, यह इसका बडा स्वार्थत्याग है। जब यह जाति, राष्ट्र और धर्मके लिये आत्मसमर्पण करनेको तैयार होता है, तब वह त्यागी अथवा संन्यासी होनेका अधिकार अथवा योग्यता धारण करता है। इस स्थानपर कर्मयोग और संन्यासयोगका संमेलन होता है।

कर्मयोगके अनुसार पहिले सकाम और पश्चात् निष्काम कर्म करनेवाला कर्ममार्गी प्रारंभिक अवस्थामें अपने सुखके लिये कारणीभूत स्त्री आदिकी उपासना करता है, धन देनेवाले धनिकके पास बैठता है, अधिकार देनेवाले राजाका अनुसरण करता है, इहपर लोकमें सुखभोग देनेवाले विविध देवताओंकी उपासना करता है। इस तरह सकाम कर्म करते करते उसकी दैवी शक्तिकी जाग्रति होती है। प्रारंभमें अपने उपास्यमें वह देवत्वकी कल्पना करता है और अन्यत्र देव नहीं है ऐसा मानता है। परंतु उपासना होते होते, चित्तके मल दूर होते हैं, कुछ श्रवण मनन भी करता है और इस तरह उन्नत होकर सब भूतोंमें परमात्मा की उपस्थिति है ऐसा जानता है और यह विश्वही परमात्माका विश्वरूप है यह बात उसके मनमें स्थिर होती है।

इस ढंगसे कर्मयोगी सकाम कर्मको छोडकर निष्काम कर्म द्वारा परमेश्वरकी पूजा करता है, इस समय वह मानता है कि -

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

गी० १८।४६

"स्वकर्म द्वारा उस परमात्माकी पूजा करनेसे मनुष्यको परम सिद्धि प्राप्त होती है।" इस स्थानपर उसको परमेश्वरकी सर्वव्यापकताका पता लगता है और वह उसका साक्षात्कार करनेको उद्युक्त होता है। यहां इस रीतिसे कर्मयोगी और संन्यासी एक सीढीपर होते हैं।

अपने धर्मके वर्णधर्म और आश्रमधर्म बतानेवाले सब शास्त्र इसी कर्मयोगका ही वर्णन करते हैं और आजकल जो भी सार्वजनिक हितके अथवा राष्ट्रहितके कार्य जनताके सन्मुख आये हैं, वे सब तथा वैयक्तिक उन्नतिके सब कार्य इसी वर्णाश्रमधर्ममें किसी न किसी स्थानपर अवश्यमेव रहते हैं। अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले लोग वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, औद्योगिक, राष्ट्रीय आदि सब प्रकारकी उन्नतिमें कदापि पीछे नहीं रहेंगे। अतः हम कहते हैं कि हमारा वर्णाश्रमधर्म सर्वांग परिपूर्ण है और चिरस्थायी अतएव सनातन कहने योग्य है।

कर्मयोगका यह विचार यहां इसलिये किया कि स्वार्थी मनुष्य भी कैसा शनैः शनैः उन्नत होता हुआ अन्तमें परमार्थी बनकर संन्यासमार्गका अधिकारी होता है, अथवा कर्मयोगसे ही वह परम पद प्राप्त करता है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होता है; यह बात पाठकोंके ध्यानमें ठीक रीतिसे आजाये। कर्मयोगसे चित्त शुद्ध होनेकी जो संभावना है, वह इस तरह है। थोडासा विचार करनेसे पता लग सकता है कि इस कर्मयोगसे प्रत्येक मनुष्य चलकर उन्नतिका भाग्य प्राप्त कर सकता है। अन्तिम अवस्थामें संन्यासी और कर्मयोगी एकसे बनते हैं इसका तत्त्व यह है। अतः कहा है—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ (५।६)

"कर्मयोगका आचरण करनेवाला मुनि शीघ्र ही ब्रह्मपद प्राप्त कर सकता है।" कर्मयोगका अधिकार यह है। इस योगमार्गमें पातंजलयोग, हठयोग भी संमिलित है। नीरोगता, मनःशान्ति

(४) उन्नतिका क्रम ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः— योगयुक्तः, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः, सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥ ७॥

जो योगका आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जिसने अपने इंद्रियोंको जीत लिया है और जिसका आत्मा सब भूतोंका आत्मा बना है, वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो कर्मयोगमें दत्तचित्त है, जिसने अपनी शरीर, मन और इंद्रियां स्वाधीन करली हैं, और सब प्राणियोंका आत्माही जिसका आत्मा हुआ है, वह कर्म करनेपर भी उन कर्मोंके पुण्यपापसे दूर रहता है अर्थात् निष्कलंक होता है ॥ ७ ॥

आदि सुख प्राप्त करनेके हेतुसे मनुष्य इस आसनादि अभ्यासको स्वीकारता है और अभ्यास करते करते वह समाधितक पहुंचता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है। इसका प्रारंभ सकाम कर्म अर्थात् अपने सुख बढानेके कर्म के प्रारंभ में होता है, इसलिये यह मार्ग हरएकको पसंद आता है, और ये कर्म करते करते मनुष्य निष्काम कर्म करने लगता है और पश्चात् क्रमशः मोक्षका अधिकारी होता है।

कर्मयोगमें शास्त्रवचनसे जो कर्म बताये हैं वेही करने चाहिये। जो शास्त्रने कहा वह करो, न कहा वह न करो। शास्त्रपर विश्वास रखो, शास्त्रही आगेका मार्ग बता देगा। इस विचारपद्धतिसे निष्काम कर्मकी दीक्षा मिलती है और मनुष्य निष्काम कर्मयोगी बनकर उच्च अवस्था प्राप्त करता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि इस कर्मयोगके लिये प्रत्येक मनुष्य अधिकारी है, यह कर्मयोग किसीको दूर नहीं करता, स्वार्थीसे स्वार्थी मनुष्य भी इस मार्गसे उन्नतिके पथपर चलकर उन्नत हो जाता है। यही कर्म योगकी विशेषता है। (कर्मयोगो विशिष्यते। गी० ५।२)

कर्मयोगी उक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है, इसकी उन्नतिका क्रम कैसा है यह आगे बताते हैं—

(७) कौन मनुष्य कर्मके दोषसे दूर होते हैं और कौन कर्मके दोषसे दोषी होते हैं इसका विचार इस श्लोकमें किया है। इस श्लोकमें कर्मयोगीकी उन्नतिका क्रम भी बताया है। इसमें सबसे प्रथम कर्मयोगमें तत्पर होना चाहिये, ऐसा कहा है—

योग-युक्त ।

'योग-युक्त' शब्दसे यही बात कही है। योगयुक्तका अर्थ कर्मयोगतत्पर है। योगयुक्तका अर्थ 'योगकी रीतिसे अपने दैनिक कार्य करनेवाला' है। जो कुछ कर्म वह करता है, वह कर्मयोगकी रीतिसे करता है। उनका चालना बोलना बैठना उठना सब कुछ कर्मयोगके अनकूल होता है, अर्थात् कर्मयोगाचरण जिसका स्वभावधर्मसा बना है वह मनुष्य योगयुक्त, कर्मयोगी अथवा योगी है। कर्मयोगसे अपनी उन्नति सिद्ध करनेवालेको उचित है कि वह इस प्रकार अपने आपको कर्मयोगयुक्त अर्थात् कर्मयोगमें दत्तचित्त करे, अपना जीवन योगमय करे, अपना चाल-

चलन रहना सहना आदि योगमय करे। योगका अर्थ समता और कर्मकुशलता है। (गी० २।४८; ५०) अपने द्वारा जो कुछ कर्म हो जाय वह योग ही बने, इस तरह जो कर्मयोगी अपना सब व्यवहार योगमय करता है, वह मानो दिनरात योगाचरण ही करता है,उसने अहिंसा की तो भी वह योग होगा और हिंसा की तो भी वह योगही होगा। जो उससे होगा वह सब योगही होगा। इस तरह कर्मयोगरूप जीवन व्यतीत करनेवाले को क्रमसे शुद्धि होती है।

विशुद्ध आत्मा।

अपना जीवन उक्त प्रकार योगमय करनेसे वह शुद्ध होने लगता है। अपना जीवन योगमय करना बडा कठिन कार्य है। यह सहज साध्य नहीं है, तथापि मनुष्यको यह बात सिद्ध करनेके लिये तत्परतासे यत्नवान् होना चाहिये। बडा प्रयत्न करनेपर यह योगमयता अपना स्वभाव बन सकती है। जो आचरण किया जाय, उसमें समता है वा नहीं, इसका विचार करनेसे अपने आपको पता लग सकता है कि, यह आचरण योगयुक्त हुआ या नहीं। ऐसी विचारपूर्वक अपने आचरणकी परीक्षा करनेसे कुछ समयके पश्चात् अपना आचरण योगानुकूल होने लगता है। और अपनी शुद्धि होती जाती है।

इस आचरणमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरभक्ति की प्रधानता रहती है। अपने मन आदि इंद्रियोंसे अहिंसा आदिक कर्म ही करने चाहियें और हिंसा, असत्य, चोरी, भोग, अपने पास वस्तुसंग्रह करना, अपवित्रता, असंतोष, शीतोष्ण सहन न होना, अध्ययन न करना और ईश्वरसे विमुख होने आदिकी ओर नहीं जाना चाहिये। पहिले पहिले आचरणका यही पाठ है। इस पाठका अभ्यास करते रहनेसे साधक अपवित्रतासे दूर होता है और पवित्रता की ओर जाता है। इस तरह क्रमपूर्वक जितना अभ्यास होगा, उतनी पवित्रता उसकी होती जायगी। कर्मयोगसे इस तरह पवित्रता होती है।

'विशुद्धात्मा' शब्दमें यद्यपि 'विशुद्ध हुआ आत्मा' ये शब्द हैं तथापि यहांका आत्मा शब्द 'शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा' का वाचक है। यहां का आत्मा शब्द 'अपना' वाचक है। अर्थात् कर्मयोगसे जो पवित्रता होती है वह शरीरकी, इंद्रियोंकी, मनकी, बुद्धिकी और आत्माकी होती है। मानो वह अन्तर्बाह्य शुद्ध होता है। उसका शरीर निर्दोष, नीरोग और निर्मल होता है, उसकी इंद्रियां सुसंस्कारसंपन्न होती हैं और कुपथमें नहीं भटकती, उसका मन शुभ संस्कारयुक्त होता है, उसकी बुद्धि निर्मल होती है और आत्मा सदा प्रसन्न होता है। कर्मयोगीका स्थान इस समय इस द्वितीय भूमिकापर होता है। इस शुद्धता और निर्मलतासे वह अपने इंद्रियोंको जीतनेमें समर्थ होता है।

विजितात्मा, जितेन्द्रिय।

कर्मयोगसे पवित्रता और पवित्रतासे इंद्रियनिग्रह होता है। यह उन्नतिका क्रम है। कर्मयोगसे पवित्रता और निर्दोषता किस तरह सिद्ध होती है इसका वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। अब उस पवित्रतासे इंद्रिय-निग्रह किस तरह सिद्ध होता है इसका विचार करना है। पवित्रता साध्य करनेका ध्येय अपने सन्मुख रखने मात्रसेहि सब प्रकारकी अपवित्रतासे दूर रहनेकी ओर रुचि होती है। सत्यका अवलंबन करनेकी प्रतिज्ञा करनेसेहि सब प्रकारके असत्यसे दूर रहना आवश्यक हो जाता है। अहिंसामय जीवन व्यतीत करनेका निश्चय करनेसे संपूर्ण प्रकारकी हिंसासे दूर रहना पडता है। इसप्रकार सब तरहके असद्व्यवहारोंसे दूर रहनेमें इंद्रियोंको संयमकी शिक्षा मिलती है।

सामान्य मनुष्यके सन्मुख सत् और असत्

ये दोनों प्रकारके व्यवहार उपस्थित होते हैं और वह किसी समय सद्व्यवहारमें जाता है और किसी समय असद्व्यवहारमें फंसता है। यह स्थिति असंयमकी है। असंयमका अर्थ विषयोंसे पराभव होना है। जो विषय सामने आता है वह इसका पराभव करता है और इसको अपने आधीन कर लेता है और वह मनुष्य पराधीनतासे विषयमें लिपट जाता है, तथा प्रसंगविशेषमें वह अनर्थ भी कर लेता है। काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर ये इसको परास्त करते हैं और इसको बांधकर जैसा चाहे वैसा इससे आचरण कराते हैं। यह पूर्ण पराधीन अवस्था है। इससे उन्नत होनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह सबसे प्रथम असद्व्यवहार से दूर रहे और सद्व्यवहारमें हि दत्तचित्त हो। यही आत्मशुद्धि का मार्ग है और इसीसे इंद्रियजय, मनोजय और आत्मजयके पाठ मिलते हैं। सद्व्यवहारमें प्रवृत्त रहनेसे निश्चयसे हि असद्व्यवहार के झंझाटसे मनुष्य बच सकता है, और उतना उसका संयम होता है और उतनाही उसका विजय होता है। इस रीतिसे शनैःशनैः वह आत्मसंयममें अपना कदम आगे बढता हुआ 'विजितात्मा और जितेंद्रिय' बनता जाता है। इस दृष्टिसे पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, आत्मशुद्धि करनेके यत्न से हि आत्मजय होता है। मनुष्यकी शुद्ध और अशुद्ध व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है, परंतु जो आत्मशुद्धीकी इच्छासे शुद्ध व्यवहारमें अपने आपको रखता है और अशुद्ध व्यवहारसे बचता है, उसने मानो सौमें पचास प्रलोभनोंसे अपना बचाव निःसन्देह किया है। और असद्व्यवहारमें प्रलोभनों की संभावना अधिक होनेसे जो मनुष्य केवळ सद्व्यवहार में हि अपने आपको रखता है वह प्रायः सभी प्रलोभनोंसे दूर रहता है। यही आत्मजय और इंद्रियजय है।

इस तरह 'योगतत्पर' होनेसे 'आत्मशुद्धि, आत्मजय और इंद्रियजय' क्रमशः साध्य होते हैं। 'विजितात्मा और जितेन्द्रिय' का अर्थ 'शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि और आत्माको जोतना' है। साधारण स्थितिमें इंद्रियां ही हुकुमत करती हैं, शासन करती हैं, अर्थात् इंद्रियां जो चाहती हैं वही करना पडता है अर्थात् यहां शासन इंद्रियोंका होता है न कि आत्माका। जिस समय आत्माका विजय होता है उस समय शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धि आत्माके आधीन रहती हैं और स्वेच्छाचार नहीं करतीं हैं। यह आत्माका राज्य है, इसीको आध्यात्मिक स्वराज्य किंवा वैदिक भाषामें बोलना हो तो 'स्वाराज्य' कहते हैं।

सर्वभूतात्मभूतात्मा ।

साधक प्रारंभमें शुभकर्ममें रत होता है, उस कर्मसे वह निर्दोष बनता है, इंद्रियजय तथा आत्मजय करके संयमी होता है, और अन्तमें 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होता है। सर्व भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा बना है, उसको 'सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा' कहते हैं। यह अन्तिम उन्नतिकी अवस्था है। सर्वसाधारण लोगोंका अनुभव प्रारंभावस्थामें 'मेरा आत्मा भिन्न है और दूसरेका आत्मा भिन्न है तथा प्रत्येकका आत्मा भिन्न है' ऐसा होता है। यह भिन्नभावकी अवस्था है, यही सब दुःखोंका कारण है। इस अवस्थामें यह अपने सुखके लिये दूसरोंके गले घूंटता है। दूसरोंका नाश करके अपने सुख बढानेके यत्नमें तत्पर रहता है। इससे उसको अनंत दुःख भोगने पडते हैं। दुःखोंके अनुभवके पश्चात् वह दूसरोंपर प्रेम करने लगता है, जहां तक इसके प्रेमकी व्याप्ति फैली होती है, वहांतक उसका आत्मा फैलता है। पहिली वैयक्तिक आत्माकी अवस्था छोडकर यह 'कुटुंबात्मा' बनता है और अपने स्त्रीपुत्रादिकों पर अपने आत्मासमान प्रेम करता है, उनके सुखसे सुखी और उनके दुःखोंसे दुःखी होता है। यह कुटुंबात्मा की अवस्था कुछ

समय वह अनुभवता है, इस समय इसका प्रेम अपने कुटुंबपर रहता है। अपने कुटुंबके सुखके लिये दूसरे कुटुंबोंका घातपात करनेमें इस समय यह प्रवृत्त होता है, इससे कुटुंबोंमें झगडे होते हैं। इस अवस्थासे उन्नत होकर यह 'जात्यात्मा' बनता है। अपनी जातिपर प्रेम करने लगता है, इस समय इसका आत्मा जातितक फैलता है। इस अवस्थामें यह जातिके हितके लिये अपने और अपने कुटुंबकी आहुति देनेमें धन्यता मानता है। जातिके लिये आत्मसर्वस्व समर्पण करता है, परंतु दूसरी जातिसे युद्ध करता है और अपनी जातिके हितके लिये दूसरी जातिका नाश करनेमें प्रवृत्त होता है। इससेभी जगत् में दुःख बढानेका अनुभव होता है।

इसके नंतर वह राष्ट्रात्मा बनता है। अपने राष्ट्रके हितके लिये अतुल स्वार्थत्याग करता है, परंतु दूसरे राष्ट्रोंके साथ द्वेष करता है, युद्ध करता है, दूसरे राष्ट्रवासियोंको पादाक्रान्त करता है, उनको लूटता है इस कारण जगत् में द्वेष बढता जाता है और इस द्वेषसे उसको अत्यंत दुःख भोगना पडता है। इसके पश्चात् मानवसमष्टिका आत्मा बनता है, इसका आत्मा मानो इस समय मनुष्यमात्रतक फैलता है, इस समय यह जात पात राष्ट्र आदि बंधनोंसे बाहर होता है, बडे विस्तृत कार्यक्षेत्रका अनुभव करता है। संपूर्ण मानवोंको अपने परिवारमें मानता है और भेद मिटनेके कारण बडा सुख अनुभव करता है। तथापि इस समय यह मानवेतर प्राणियों को अपना भोग्य समझता है और मानवोंको भोक्ता समझता है। इस दोषके कारण फिरसे उसको दुःखोंका अनुभव होता है। इन दुःखोंमें तडफता हुआ आगे सोचता है, उस समय उसको प्रतीत होता है कि अपने आत्मा की भूतमात्रतक व्याप्ति बढानी चाहिये, तभी शान्तिकी संभावना है।

इस ज्ञानके अनुसार वह अपने प्रेमका फैलाव भूतमात्रतक करता है। इस समय वह संन्यास लेकर अपने प्रेमका विस्तार सब भूतोंतक करता है। जितना उसका प्रेम विस्तृत होता है उतनाही उसका आत्मा फैलता है क्योंकि प्रेमहि आत्माका गुण है। इस समय वह 'मैं किसीकी हिंसा नहीं करूंगा' ऐसा संकल्प करके सब भूतमात्रके हितके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
गी० ५।२५

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
गी० १२।४

"जिनके पाप नष्ट हुए हैं, जिनका द्वैतभाव नष्ट हुआ है, जिन्होंने अपने आपका संयम किया है, जिनके इंद्रियसमूह वशमें हुए हैं, जिनकी सर्वत्र समबुद्धि हो चुकी है, जो सर्व भूतोंके हित करनेके कर्ममें रमते हैं; वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं।" यहां हमें ईश्वरकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है और ईश्वरसे दूर होनेका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान होता है, देखिये—

ईश्वरप्राप्तिका मार्ग	ईश्वरसे विमुखता का मार्ग
पापनाश	पाप
द्वैतनाश	द्वन्द्व, युद्ध
आत्मसंयम	असंयम
इंद्रियदमन	इंद्रिय स्वैराचार
समबुद्धि	विषमबुद्धि
सर्वभूतहितरति	अपने हितमें रति
ईशप्राप्ति	असुरत्वप्राप्ति
ब्रह्मप्राप्ति	अल्पत्वप्राप्ति
मुक्ति, स्वातंत्र्य	बंधन, परवशता

पाठक यहां विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि सर्वभूतहितमें रममाण होनेसे पापनाशादि सब ही गुण प्राप्त होते हि हैं। अपने प्रस्तुतके श्लोकमें 'योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजि-

(५) तत्त्वज्ञानी योगी।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥

अन्वयः – युक्तः तत्त्ववित् पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्,

---

तात्मा, जितेंद्रिय और सर्वभूतात्मभूतात्मा' ये शब्द मुख्य हैं। इस श्लोकका ही भाव पूर्वोक्त दो श्लोकोंमें है, देखिये—

क्षीणकल्मषाः (५।२५) विशुद्धात्मा (५।७)
यतात्मा ,, विजितात्मा ,,
संनियम्येन्द्रियग्राम ,, जितेन्द्रिय ,,
सर्वभूतहितरत सर्वभूतात्मभूतात्मा ,,
(५।२५;१२।४)
सर्वत्र समबुद्धिः (१२।४) योगयुक्त ,,

पाठक इन शब्दोंकी परस्पर तुलना करेंगे तो उनको उक्त उपदेशोंमें कितनी समानता है, इसका ज्ञान हो सकता है। अस्तु। सर्व भूतोंके हितमें रमनेकी अवस्था उच्चतम अवस्था है। व्यक्तिहित, कुटुंबहित, जातिहित, राष्ट्रहित, मानव समाजहित और सर्वभूतहित इस तरह मनुष्य की उन्नतावस्था होती है और पहिले जो अपने हितके लिये संपूर्ण जगत्को स्वाहा करना चाहता था, वहां अन्तमें विश्वके हितके लिये अपना सर्वस्व समर्पण करता है, यही सर्वभूतहितमें रत होना है और यही सर्वभूतात्मभूतात्मा बनता है। इस समय उसको कोई दूसरा दीखता ही नहीं। सबकी भलाईमें अपनी भलाई होती है, इस बातका अनुभव वह इस समय करता है। सब भूतोंका हित करनेसेहि सच्चा अपना हित होता है, यह बात इस समय वह स्वानुभवसे जानता है। संपूर्ण जगत् में एकही आत्मा सर्वव्यापक है और वही मैं हूं, मुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं, यह भाव 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' की अवस्थामें अनुभवमें आता है। इस समय न कोई मेरा है, न कोई पराया है और न कोई अपनेसे भिन्न है' यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस समय जो यह सब भूतोंके हितमें रमता है वह मानो अपनेहि हितमें रमता है, क्योंकि अपनेसे भिन्न कोई पदार्थका अस्तित्वही नहीं होता है।

एकात्मप्रत्ययसारं शिवं॥ मांडूक्य उ० ॥

एक आत्माका प्रत्यय इस समय उसको आता है। इस समय चाहे आप ऐसा भी मान सकते हैं कि इसका आत्मा सब भूतोंका व्यापता है,अथवा आप ऐसा भी मान सकते हैं कि (सर्व-भूतात्मभूतात्मा) सर्व भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा (सर्वात्मभावसे) बना है। सबका आत्मा (सर्वगतः।गी० २।२४) एकही होनेसे उक्त दोनों कथनोंका भाव एकही होता है।

पूर्वोक्त स्थानमें मनुष्यकी उन्नतिका क्रम स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। साधक इस क्रमका अवश्य मनन करे। कर्मयोगसे आत्मशुद्धि होकर मनुष्य कैसा उन्नत होता है और अन्तमें सर्वात्मभावको कैसा प्राप्त होता है, इसका यहांका वर्णन बडाही मननीय है। इस तरह सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ साधक अब साधक नहीं रहता,परंतु सिद्ध बनता है और—

कुर्वन्नपि न लिप्यते। (५।७)

"कर्म करनेपर भी वह कर्मके गुणदोषोंसे लिप्त नहीं होता है।" सदा एकसा निर्दोष निष्कलंक अथवा निष्पाप रहता है। कर्मके बंधनसे छूटता है, मुक्त होता है अथवा ब्रह्मरूप बनता है। इस समय इसकी मनोभावना कैसी होती है, इसका वर्णन अब देखिये—

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

अन्वयः— प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन् अपि, इंद्रियाणि इंद्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन्, अहं किंचित् न एव करोमि इति मन्येत ॥ ८-९ ॥

योगयुक्त तत्त्वज्ञानी देखने, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोडते, लेते, पलक खोलते और बंद करते समय 'केवल इंद्रियां ही अपने अपने विषयोंमें स्वयं वर्तती हैं, और मैं कुछ भी नहीं करता' ऐसा अनुभव करे ॥ ८-९ ॥

भावार्थ— साधक सबसे पहिले संपूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे और पश्चात् अपना जीवन योगमय करे। इससे शनैः शनैः उसकी कर्मविषयक अहंकारबुद्धि कम होती जायगी, और अन्तमें ऐसी एक उच्च अवस्था उसके अनुभवमें आजायगी कि, जिसमें इंद्रियोंके सब व्यवहार विना इसकी अहंकारयुक्त प्रेरणाके स्वयं हो रहे हैं और उनका कर्तृत्व इसके पास थोडासा भी नहीं, है ऐसा अनुभव उसको आजायगा ॥ ८-९ ॥

तत्त्ववित्।

(८-९) इन दो श्लोकोंका मिलकर एक वाक्य है। इस में कहा है कि साधक पहिले 'तत्त्ववित् योगी' बने। 'तत्त्ववित्' का अर्थ तत्त्वज्ञानी, तत्त्वोंके गुणधर्म जाननेवाला। तत्त्व कुल पच्चीस हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पंच तन्मात्राणि, उभयमिंद्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः इति पंचविंशतिगणः ॥

सांख्यदर्शन १।६१

" सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंकी सम अवस्था का नाम प्रकृति है। इस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारसे पांच तन्मात्रा, पांच कर्मेंद्रिय और पांच ज्ञानेंद्रिय तथा मन बनते हैं, पंच तन्मात्रोंसे पांच स्थूल भूत बनते हैं और पच्चीसवाँ आत्मा है।" इसका आशय यह है—

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी सम अवस्था अर्थात् किसी एक गुण की न्यूनाधिकता न होना प्रकृतिका स्वरूप है। इसी साम्य अवस्थाको 'प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त, कारण, मूल प्रकृति' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व का अर्थ सब जगत्में व्यापनेवाला बुद्धितत्त्व है। जागतिक बुद्धि ऐसा भी इसका नाम हो सकता है। मूल प्रकृतिसे पहिला कार्य यह बना है।

इस महत्तत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति हुई। अहंकारका अर्थ 'मैंपन' है। 'मैं भिन्न हूं और दूसरे भिन्न हैं' इस प्रतीतिका नाम अहंकार है। इसी अहंकारके कारण इस जगत्के बीचमें मर्यादा भेदभाव, द्वैतभाव आदि उत्पन्न होते हैं।

इस अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्रा हुए। तन्मात्राका अर्थ मूल सूक्ष्म तत्त्व, जिनसे इन पांच गुणोंका बोध होता है वे मूल शुद्ध तत्त्व। इनसे पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय बने हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिव्हा और नासिका ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं; और वाक्, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रिय हैं। ये दस इन्द्रिय पूर्वोक्त तन्मात्राओंसे

क्रमपूर्वक बने हैं। इन दस इंद्रियोंको बाह्य इंद्रिय कहते हैं। दूसरा आभ्यंतर इंद्रिय मन है, वह भी अहंकारसेहि बना है। इनमें अहंकार होनेसे प्रत्येक इंद्रियका गुण कर्म और स्वभाव भिन्न भिन्न होता है। गुण कर्म स्वभावोंकी अर्थात् धर्मकर्म की भिन्नताही अहंकारका लक्षण है। पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेंद्रिय और मन मिलकर सोलह पदार्थ अहंकारसे बने हैं।

पंच तन्मात्राओंसे पांच स्थूल भूत बने हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पांच स्थूल भूत हैं।

मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेंद्रिय, मन, पांच महाभूत और आत्मा मिलकर पच्चीस तत्त्व हैं।

इनका यथावत् ज्ञान होनेका नाम तत्त्वज्ञान है। जो इनका यथावत् ज्ञान प्राप्त करता है उसी को तत्त्ववित् कहते हैं। जो कुछ पढाईका विषय है वह यही है। इस पढाईमें प्रायः आज कलके सभी शास्त्र आते हैं। आजकलके विज्ञानके जितने भी शास्त्र हैं उन सबका समावेश इस पढाईमें होता है और आत्माका शास्त्र विशेषतया इसमें पठनीय करके कहा है, जिसको आर आजकलकी पढाईमें ध्यान कम है। यही आर्य और अनार्य पाठविधिमें भेद है। अस्तु। इससे ज्ञात होगा कि गीतामें जिसको तत्त्ववित् कहा है, वह ज्ञानविज्ञानसे संपन्न है, अर्थात् वह भौतिक विज्ञानशास्त्र का और आत्मिक ज्ञानको जाननेवाला है। यह अधिकार कोई साधारण नहीं है। शब्द ब्रह्मको आत्मसात् करनेसेहि यह अधिकार प्राप्त होना संभव है।

इस तरह जिसने शब्दोंके द्वारा तथा मननके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है अर्थात् जिसने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं लिया, परंतु शब्दों द्वारा तत्त्वको जाना है, वह (तत्त्ववित् युक्तः) तत्त्वज्ञानी योगयुक्त होवे अर्थात् शब्दोंद्वारा प्राप्त किये ज्ञानका अनुभव किंवा साक्षात्कार करनेके लिये योग का अभ्यास करे।

योगी।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो० द० १।२

"योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध है।" गीतामें योगके दो अर्थ दिये हैं—

समत्वं योग उच्यते॥ गी० २।४८

योगः कर्मसु कौशलम्॥ गी० २।५०

"सिद्धि और असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषयमें मनकी सम भावनाका, और कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है।" अर्थात् योगी, योगयुक्त किंवा युक्त बननेका तात्पर्य यही है कि, अपनी चित्तवृत्तियोंका निरोध करना, द्वन्द्वोंका परिणाम अपने ऊपर न होने देना और कर्मकी कुशलता संपादन करना। इसमें 'समत्व' का अर्थ विशेष रीतिसे ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यका मन सदा विषम रहता है, स्वकीय और परकीय भावकी विषमता, सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, उच्चनीच, सिद्धि असिद्धि आदि अनेक प्रकारकी विषमता इस जगत् में है। इस विषमताका परिणाम मनपर न हो और किसी भी अवस्थामें मनकी समवृत्ति न बदले, इसका नाम योगसाधन है, किंवा योगाभ्यास है किंवा अभ्यास है। यही समत्वका अभ्यास है। चित्तवृत्तिका निरोध करके यही समत्व प्राप्त करना चाहिये। जिसका मन इस प्रकारके समभावसे सदा युक्त होता है और कितनी भी विपरीत परिस्थिति उत्पन्न होनेपर उसमें थोडी भी चंचलता उत्पन्न नहीं होती, उसको योग सिद्ध हुआ ऐसा मान सकते हैं।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि मनकी चंचलता अनुकूल परिस्थितिसे जैसी होती है वैसी ही प्रतिकूल परिस्थितिसे भी होती है। धन प्राप्त होनेपर मनुष्य उन्मत्त होता है और निर्धनता आनेसे वह खिन्न होता है। परंतु जिसका मन 'सम' हुआ है, जिसने समत्वयोगका अभ्यास

उत्तम रीतिसे किया है और जिसको समत्वकी सिद्धि हो चुकी है उसका मन किसी भी अवस्था में चंचल नहीं होगा। कठिनसे कठिन प्रसंग में भी उनको सहजानंदवृत्तिमें न्यूनता नहीं होगी। जिसको यह स्थिति पूर्णतया प्राप्त हुई है उनको हि 'योगी' कह सकते हैं। और जिसको पूर्वोक्त तत्वज्ञान हुआ है और जिसने यह योग भी साथ साथ सिद्ध किया है उसको 'तत्ववित् योगयुक्त' कह सकते हैं।

तत्ववित् योगी।

ऐसा तत्वज्ञानी योगी कैसा व्यवहार करता है यह बात इन दो श्लोकोंमें कही है। "चलने बोलने सूंघने आदि व्यवहार करते समय ये कार्य मैं नहीं करता, परंतु इंद्रियों से स्वयं ये कर्म हो रहे हैं" ऐसा अनुभव उस तत्वज्ञानी योगीको सदा होता है। प्रथमतः यह बात समझना जरासा कठिण है। कोई व्यभिचारी अत्याचारी और दुराचारी भी दंभसे कहेगा कि मैं तो व्यभिचार अत्याचार या दुराचार नहीं करता, मेरे इंद्रियही ये व्यवहार करते हैं; परंतु यह उसका कथन नितान्त असत्य है। क्योंकि 'तत्ववित् योगी' होनेपर उससे ऐसे हीन आचार होना सर्वथा असंभव है। तत्ववित् योगी हि कह सकता है कि मेरे इंद्रियों द्वारा जो कुछ हो रहा है उससे मेरा संबंध नहीं, वह मैं नहीं करता, परंतु उसका कर्ता मुझसे भिन्न है। इसका अनुभव लेनेकी रीति निम्न लिखित स्थानपर दी है, उसका अनुभव पाठक स्वयं ले सकते हैं।

अकर्तृत्वका अनुभव।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अकर्तृत्वका अनुभव कई श्लोकोंमें कहा है। पाठक भी यह अनुभव थोडेसे अभ्याससे ले सकते हैं। उक्त श्लोकमें जो कर्म लिखे हैं वे ये हैं—

पश्यन्	(देखना)	नेत्र का कार्य
शृण्वन्	(सुनना)	कान ,,
स्पृशन्	(स्पर्श करना)	त्वचा का कार्य
जिघ्रन्	(सूंघना)	नाक ,,
अश्नन्	(खाना)	मुख ,,
गच्छन्	(जाना)	पांवों ,,
स्वपन्	(सोना)	मन ,,
श्वसन्	(श्वास लेना)	नाक ,,
प्रलपन्	(बोलना)	मुख ,,
विसृजन्	(छोडना)	गुदा ,,
गृह्णन्	(लेना)	हाथ ,,
उन्मिषन्	(पलक खोलना)	प्राण ,,
निमिषन्	(,, बंद करना)	,, ,,

ये तेरह कार्य यहां कहे हैं। परंतु पाठक अनुभवके लिये अन्यान्य कार्य भी विचार में ले सकते हैं। प्रथम पलक खोलना और बंद करना (उन्मेष और निमेष) ये कार्य तो प्रत्येक मनुष्य कह सकता है कि मैं नहीं करता, ये स्वयं हो रहे हैं। अर्थात् इस निमेष-उन्मेषका कर्तृत्व मेरे पास नहीं है, इसका कर्ता कोई हो, परंतु वह मैं नहीं हूं। इस विषयके अकर्तृत्वका अनुभव प्रत्येक मनुष्यको स्वयं है।

इसी तरह गुदाका कार्य छोडनेका है। यद्यपि शौच छोडनेपर मनुष्यका थोडा दबाव है, जिस समय चाहे वह शौच जाता है, जिस समय चाहे नहीं जाता, तथापि प्रबल वेग आनेपर यह शौच का कार्य भी करने न करनेका अधिकार मनुष्य के आधीन नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त केवल शौच करना ही 'विसर्जन' का कार्य नहीं है। शरीरके संपूर्ण रोमरंध्रोंसे जो मलत्याग, पसीने का त्याग, आंख नाक कान आदिसे मलत्याग होता है वह भी विसर्जनकाही कार्य है और वह मनुष्यके आधीन बिलकुल नहीं है। शरीरमें शौच का कार्य केवल गुदासे हि होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है। शरीरके लाखों रोमरंध्रोंसे शौच-का कार्य हो रहा है और वह मनुष्यके आधीन बिलकुल नहीं है। इसका कर्तृत्व मनुष्य अपने पास है ऐसा किसी तरह नहीं मान सकता।

इसके पश्चात् (स्वपन्) सोना देखिये। सोने का कार्य भी मनुष्य अपने कर्तृत्वसे कर सकता है ऐसी बात नहीं है। "मैं अब निद्राको लाता हूं" ऐसा कहकर कोई निद्रा लानेके लिये प्रयत्न करे, तो निद्रा आना बंद होता है। निद्रा लानेका उपाय इंद्रियों और मनको निष्क्रिय करनाहि है। अर्थात् अपने कर्तृत्वका अभिमान छोडनेसेहि निद्रा आनेकी संभावना होती है। कर्तृत्वका अहंकार पूर्ण नष्ट हुआ, मन स्थिर और शान्त हुआ, कर्मप्रवृत्ति बंद हुई तो निद्रा आती है। इसलिये (स्वपन्) सोने का कार्य अपने कर्तृत्वसे होता है ऐसा कहना असंभव है।

(श्वसन्) श्वास लेने और छोडनेका कार्य भी मनुष्यके आधीन नहीं है। प्राणायाम करनेवाले योगी कुछ समय कुंभक करके श्वासको बंद रखते हैं, तथापि वे भी सदाके लिये बंद नहीं रख सकते। कुंभककी मर्यादा न्यूनाधिक कर सकते हैं। अतः श्वास लेने और छोडने का कार्य मनुष्य के कर्तृत्व से बाहर है। योगी लोग दीर्घ कुंभक करते हैं उस समय उनके शरीरके सभी रोमरंध्रोंसे श्वास लेने और छोडनेका कार्य स्वयं होता है, यह कार्य तो किसीभी मनुष्यके आधीन नहीं है। अर्थात् यह श्वसनका कर्तृत्व मनुष्यके आधीन है ऐसा मानना असंभव है। इसका नियंत्रण किसी दूसरी शक्तिके आधीन है। इसका अनुभव भी पाठक ले सकते हैं। बिस्तरेपर लेटे रह कर, तकियेके साथ लेटकर अथवा किसी अन्य सुखसे बैठनेकी अवस्थामें रहकर पाठक अपना शरीर ढीला छोड दें और स्वयं श्वासोच्छ्वास करना भी छोड दें। प्रयत्नसे श्वास भी न लें और न छोडें। श्वास लेनेछोडनेका कोई प्रयत्न न करें। शरीरस्वभावसे जो श्वासोच्छ्वास होगा वही होने दें। थोडे अभ्याससे यह बात साध्य हो सकती है और उस समय अनुभव आसकता है कि अपने श्वास और उच्छ्वास होनेका संबंध थोडा भी अपने पास नहीं है और उसका संबंध किसी अन्य शक्तिके साथ है, जो अपने प्रयत्नके विना ही इस शरीरसे श्वासोच्छ्वास की क्रियाएं करा रही है। यह अभ्यास साध्य होतेहि इस संबंधमें अपना अकर्तृत्व उत्तमतासे अनुभवमें आसकता है।

यहां तक हमने देखा कि, निमेष उन्मेष करना, मलत्याग करना, सोना और श्वास उच्छ्वास करना ये शरीरसे होनेवाले कर्म किसी स्वतंत्र शक्तिसे हो रहे हैं, अर्थात् मनुष्यको इन कर्मोंके विषयमें अपने कर्तृत्वका अभिमान धारण करना अयोग्य है। मनुष्यके प्रयत्न न करनेपर भी ये कर्म शरीरसे स्वयं होते रहेंगे। फिर कौन इसका कर्ता है? जिसने किसी विशेष उद्देश्यके लिये यह शरीर निर्माण किया है, वह इस शरीरसे ये कर्म कराता है। यदि शरीर निर्माण करने में उसका कोई विशेष उद्देश्य है, तो निःसंदेह उसको स्वस्थ रखनेके लिये अत्यंत आवश्यक ये कर्म करना भी उसीको आवश्यक है। अपना शरीर निर्माण करनेका क्या उद्देश्य है, इसका पता साधारण मनुष्यको नहीं है। परंतु यह सब संसार किसी विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बनाया है, अतः इस संसारके अंदर जो जो सब संसारके अवयवरूप अनंत शरीर रचे गये हैं, वे भी उसी विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही होना संभव है। वह उद्देश्य हम जानते नहीं,परंतु यह रचना करनेवाला अवश्य जानता होगा। क्यों कि विना उद्देश्य इस संसारकी रचना मानना अशक्य है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥
गी० १८।६१

"ईश्वर सब भूतोंके मध्यमें बैठा है और सबको अपनी अद्भुत शक्तिसे घुमा रहा है।" सब जगत् का भ्रमण वही कर रहा है। हमें पता नहीं है कि वह सब संसारको क्यों घुमा रहा है, परंतु

निःसंदेह वह जानता है। मेरा शरीर संसारका एक भाग है, संसारके साथ वह भी बनता बिघडता और घुमाया जाता है। और इससे जो पूर्वोक्त कर्म हो रहे हैं, वे उसीकी गतिसे हो रहे हैं। ये कर्म न तो हम कर रहे हैं और नहि करनेकी शक्ति हम रखते हैं। शरीर निर्माण करनेवालाहि इसका उद्देश्य जानता है। यदि ऐसा है, तो इस शरीरको उसीके आधीन करो। तुम अपना अभिमान बीचमें लाकर 'मैं यह करता हूं और वह करता हूं' ऐसा क्यों करते हो? विचार करनेपर तुम्हें पता लगेगा कि, यह शरीर तुम्हारे प्रयत्नके विनाही चल रहा है और चलता रहेगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
गी० १८।५९

"अहंकारसे यदि तू कहेगा कि मैं यह (युद्धरूप) कर्म न करूंगा, तो तेरा यह व्यवसाय मिथ्या होगा, क्योंकि प्रकृति तुझसे यह कर्म करावेगी।" हमने ऊपर देखहि लिया है कि उक्त कर्म जो शरीरसे हो रहे हैं वे किसी दूसरी शक्तिकी नियंत्रणासे हो रहे हैं, उनके होनेमें मनुष्यका प्रयत्न नहीं है। इन कर्मोंके अतिरिक्त शरीरके अन्दर हृदयकी धुकधुक, रुधिरका प्रवाह आदि अनेक कर्म हैं जो उसी परमेश्वरकी शक्तिसे चल रहे हैं। मनुष्य चाहे या न चाहे वे कर्म होते ही रहेंगे। ईश्वरकी सार्वभौमिक शक्ति इन कर्मोंको करती है, अथवा यों कहिये कि इस शरीरनिर्माणमें ईश्वरका कोई विशेष उद्देश्य है, वह सफल होनेतक यह शरीर बनेगा और इससे ये कार्य होतेहि रहेंगे। इसलिये उत्तम तो यह है कि जिसने यह शरीर निर्माण किया है, उसीके आधीन इस शरीरको किया जावे, उसीके कार्यके लिये यह शरीर समर्पित होवे और अपने अहंकारको बीचमें न लाया जावे। इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
गी० ५।८

"तत्त्वज्ञानी योगी मैं कुछ भी कर्म नहीं करता हूं ऐसा माने।" मैं अपने अहंकारसे कुछ नहीं करता हूं, इस शरीरको उसके निर्माता ईश्वरके आधीन करता हूं, इसका कर्ता धर्ता वही है, जिस उद्देश्यसे उसने इसको निर्माण किया है, वह उसका उद्देश्य इस शरीरसे पूर्ण हो जावे, उसकी शक्तिकी अपेक्षा मेरी अहंकारकी शक्ति कम है, मैंने न भी इच्छा की तभी वह कार्य करावेगाही, यदि ऐसा है तो मैं बीचमें अपने अहंकारको लाकर सार्वभौमिक कार्यका विरोध क्यों करूं?

इस प्रकारके विचारसे उक्त सार्वभौमिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये आत्मसमर्पण करनेका भाव अपने अकर्तृत्वमें है, यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर होगी।

इसीके समान देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना, जाना, बोलना और लेना ये कर्म भी पूर्ण पुरुषके शरीरसे वसेहि ईशप्रेरणासे होते रहते हैं, कि जैसे अपने श्वास उच्छ्वास होते हैं। वह अपने स्वार्थसाधनके लिये नहीं देखता, परंतु सार्वभौमिक हितके लिये देखता है, इसी तरह अन्यान्य व्यवहारभी सार्वभौमिक प्रेरणासे वह करता है।

इस बातकी कल्पना ठीक ठीक होनेके लिये एक उदाहरण हम लेते हैं। एक सैनिक है, वह अकेला शत्रुके साथ युद्ध कर रहा है, अपनी इच्छानुसार शत्रुपर हमले करता है। दूसरा एक सैनिक है, वह सेनापतिकी आज्ञानुसार सेनापथकके साथ चलता है, स्वयं अपनी प्रेरणासे कुछभी नहीं करता, परंतु जो कुछ करता है वह सेनापति जैसा कराता है वैसा करता रहता है। इन दो सैनिकोंमें बडी शक्ति किसकी है? जो स्वयं युद्ध करता है उसकी शक्ति कम है और जो सेनापथकके साथ रहकर सेनापतिकी

(६) निर्दोष कर्म ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

अन्वयः- यः संगं त्यक्त्वा कर्माणि, ब्रह्मणि आधाय, करोति, सः पद्मपत्रं अम्भसा इव, पापेन न लिप्यते॥१०॥

जो फलासक्तिको छोडकर, कर्मोंको, ब्रह्ममें अर्पण करके, करता है, वह कमलपत्र पानीसे न लिप्त होनेके समान, पापसे लिप्त नहीं होता है ॥१०॥

भावार्थ— कर्मका फल मुझे मिलना चाहिये, मैं उसका भोग करूंगा, यह फलके साथ संग करनेकी वृत्ति छोड दो, अपने सब कर्म ब्रह्ममें रख दो अर्थात् ब्रह्मके लिये अर्पण करो, और फिर सब कर्म करो। इस तरह किये कर्म दोष बढानेवाले नहीं होते अर्थात् इनसे कर्ता दोषी नहीं होता है ॥१०॥

प्रेरणासे व्यवहार करता है उसकी शक्ति संघके साथ रहनेके कारण कई गुणा बढती है ।

अहंकारसे अकेले रहकर कार्य करनेसे शक्ति की हानि कैसी होती है और अहंकार छोडकर संघरूप बनकर संघपतिकी प्रेरणासे सबके चलने पर कैसी शक्ति बढती है, इसका पता यहां लग सकता है। पहिला मनुष्य कर्तृत्वका अहंकार धारण करता है, इसलिये अकेला होनेके कारण शक्तिसे क्षीण है और दूसरा अहंकार दूर करनेके कारण संघवान् बननेसे अपनी शक्ति बढाता है । यही बात 'अकर्म' सिद्धिमें है ।

एक मनुष्य अहंकारवश होकर अपने आपको कर्ता मानता है और कृतकर्मके पुण्यापुण्य कर्मों का फल भोगता है और उसमें बद्ध होता है। दूसरा अहंकार छोडकर मैं कुछ नहीं करता, परंतु इस शरीर के इंद्रिय विषयोंमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं. उनको मैं प्रेरित नहीं करता हूं, जिसने यह शरीर बनाया उसकी प्रेरणासे यह सब हो रहा है, ऐसा अनुभव करता है. उसके शरीरमें उसका अहंकार कार्य नहीं करता, उस समय परमेश्वरकी सार्वभौम प्रेरणासे उसके शरीरके व्यापार विशिष्ट सार्वभौम उद्देश्य पूर्ण करनेके लिये होते हैं। अतः माना इसके शरीरसे ईश्वर ही कार्य करा रहा है; अतः इससे महान् महान् कार्य होते हैं। इसीको लोग पुण्य पुरुष, महात्मा, पुण्यात्मा आदि शब्द प्रयुक्त करते हैं। और ऐसे महा पुरुष का प्रभाव बडा भारी होता है ।

अपने इंद्रिय अपनी प्रेरणासे कार्य नहीं करते, यह बात केवल शब्दोंसेहि नहीं होनी चाहिये, परंतु सचमुच अपने अहंकारकी प्रेरणा शून्य होनी चाहिये। अपना अहंकार शून्य होनेसेहि वहां परमेश्वरकी प्रेरणा शुरू होती है ! जबतक अपना अहंकार रहेगा तबतक परमेश्वरकी शुद्ध प्रेरणा होना संभव नहीं है । शास्त्रोंमें 'अहंकार-को नाश करो,' ऐसी जो आज्ञाएं हैं उसका हेतु क्या है यह बात इस विवरणसे स्पष्ट हो सकती है ।

सचमुच अहंकार नष्ट होकर 'मैं कुछ भी नहीं करता (नैव किंचित् करोमि । ५।८) ऐसा कहने का अर्थ 'मैंने व्यक्तिगत छोटा कार्य छोडकर, मैं समूहगत विशाल कार्यमें समर्पित हुआ हूं' ऐसा है। इससे गीतामें कहा अकर्तृत्व अथवा अकर्मत्व कर्मका अभाव नहीं दर्शाता, परंतु सार्वभौमिक महाकर्मकी संभावना बताता है। यही बात आगेके श्लोकमें दर्शायी है—

(१०) निर्दोष कर्म करनेकी युक्ति इस श्लोकमें कही है। ऐसे कर्मोंकी दो ही शर्तें हैं।—

निर्दोष कर्म	सदोष कर्म
(१) संगं त्यक्त्वा ।	(१) संगं कृत्वा
(फलके साथ संग न करना)	(फलका भोग करने की दृढ इच्छा करना)
(२) कर्माणि ब्रह्मणि आधाय ।	(२) कर्माणि स्वस्मिन् आधाय ।
(कर्मोंका ब्रह्ममें रखना)	(कर्मोंका अपनेमें रखना)

यहां सदोष कर्म कौनसा है और निर्दोष कर्म कौनसा है इसका स्पष्ट दर्शन होता है। जिस कर्मके फल कर्ता स्वयं अपने भोगके लिये उपभोगना चाहता है, जिन फलभोगोंका संबंध दूसरोंके साथ नहीं होने देता और जो कर्म केवल अपनी भोगलालसा तृप्त करनेके लियेही होते हैं, वे कर्म दोष बढानेवाले, बंधन करनेवाले और कष्ट बढानेवाले होते हैं ।

तथा जिन कर्मोंका फल कर्ता अपने भोगके लिये नहीं रखता, प्रत्युत दूसरोंके हितके लिये अर्पण करता है, और जो कर्म परब्रह्मके लिये, परमात्माकी संतुष्टिके लिये समर्पित किये जाते हैं, उनका दोष कर्ताको नहीं लगता, उनसे बंधन दूर होते हैं और उनसे कष्ट नहीं होते।

बंध और मोक्षका इस तरह संग और असंग वृत्तिके साथ संबंध है। एक गृहमेंहि इसका अनुभव लीजिये। यदि किसो गृहस्थाके घरमें एक मनुष्य भोग्य पदार्थ कमाता है और अपने गृहमें निवास करनेवालोंको कुछभी न देता हुआ सबका स्वयं भोग करता है, तो कुछ समयके पश्चात् उसके उस स्वार्थके कारण उस कुटुंबमें विषम मनोवृत्तियां बढकर कलह शुरू होते हैं। और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है। इसके विरुद्ध यदि कोई गृहस्थी स्वयं कमाये हुए भोगोंको सब गृहनिवासियोंमें बांटता है, तो उस गृहके सब लोग आनंदमें रहते हैं और उस कुटुंबका यश बढाते हैं।

यही बात ग्रामके विषयमें और राष्ट्रके विषयमें सत्य है। राष्ट्रमें उत्पन्न होनेवाले भोग राष्ट्रनिवासियोंको विना प्रतिबंधके मिलने चाहिये। परंतु राष्ट्रमें कई लोग स्वार्थी होते हैं, वे भोग-साधनोंका अपने पास संग्रह बढाते हैं और उतने ही प्रमाणसे दूसरोंको भोगोंसे वंचित रखते हैं। यहां संपत्तिका विषमविभाग होता है और यही सबके दुःखका कारण है। फलका भोग मैं हि करूंगा और मैं इस फलको अपने लिये रखूंगा, दूसरोंको नहीं दूंगा, यह प्रवृत्ति दोषमय है। जहां जहां दोष उत्पन्न हुए हैं वहां वहां यही प्रवृत्ति दोषोंके जडमें रही है। अतः घरका, ग्रामको अथवा राष्ट्र की वस्तुव्यवस्था की ऐसी रचना करनी चाहिये कि, जिससे कोई मनुष्य वंचित न रहे और एकके पासहि उस का अत्यधिक संग्रह न होवे।

इस कार्यके लिये (१) संगत्याग और (२) ब्रह्मार्पण ये दो उपाय यहां श्रीमद्भगवद्गीताने सूचित किये हैं। प्रत्येक मनुष्य आसक्ति छोडे, भोग मैं ही करूंगा यह प्रवृत्ति छोडे और अपने कर्म ब्रह्मके लिये अर्पण करे।

कर्मोंको ब्रह्मार्पण करनेका अर्थ क्या है? ब्रह्म का अर्थ बडा, महान्, भूमा, सर्वव्यापक सत्ता है, इसके विरुद्ध अल्प है।

ब्रह्म	अल्प
भूमा	थोडा
समष्टि	व्यष्टि, व्यक्ति,
संपूर्णता	अपूर्णता
महत्त्व	क्षुद्रत्व
व्यापक भाव	संकुचित भाव
सबके लिये समर्पण	एकके लिये संग्रह
निर्दोषता	सदोषता

मनुष्य जब एक व्यक्तिके लिये, अल्पके लिये अपने कर्म करता है तब वह दोषी होता है, परंतु वही जब सबके हितके लिये अपने कर्म करता

है तब वही निर्दोष होता है। 'ब्रह्म' का ही अर्थ 'सब' है। ब्रह्मार्पण करनेका तात्पर्य सबकी भलाईके लिये समर्पण करना है। यहां दोष और निर्दोष की व्याख्या स्पष्ट होती है। व्यक्तिके हित के लिये सबके हितकी उपेक्षा करना दोषकारक है और समष्टिके हितके लिये व्यक्तिका समर्पण होना निर्दोषताका हेतु है। अर्थात्—

ब्रह्मणि कर्माणि आधाय। (गी० ५।१०)

का अर्थ 'संपूर्णके लिये अपने कर्मोंके फलका समर्पण करना' है। कर्म ब्रह्मार्पण करना, परमात्माकी प्रीतिके लिये कर्म करना, ईश्वरकी संतुष्टता के लिये पुरुषार्थ करना इस सबका अर्थ एक ही है। ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वर सब विश्व का हित, समष्टिका हित, सबका हित चाहता है। अपने कर्म ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरको समर्पण करने का अर्थ अपने प्रयत्न विश्वहितके लिये, समष्टिके हितके लिये, सबके हितके लिये करना है। ये कैसे हो सकते हैं? सार्वजनिक हित करनेकी बुद्धि बढानेसे यह अभ्यास बढ सकता है। अथवा इसी उद्देश्यसे इस श्लोकके पूर्व दो श्लोकोंमें कहे अनुसार "मैं इस शरीरसे कुछ भी नहीं करता हूं, यह शरीर जिसने निर्माण किया और जो इसका चालक है, उसके लिये मैं यह शरीर समर्पण करता हूं, वह जैसो चाहे वैसो प्रेरणा इस शरीरको करे और इस शरीरसे कर्म करावे, अब यह शरीर मेरा नहीं है, यह मेरा जीवन उसीके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये समर्पित होवे।" ऐसा संकल्प करके जो अपने अहंकार को पूर्णतया नष्ट करता है, उसीके अंदर दैवी स्फुरण होता है और उसके शरीरसे दैवी प्रेरणासेहि सब कर्म होते हैं। अतः वह उक्त कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है। अपना सब शरीर और जीवन ब्रह्मको, परमात्माको अथवा ईश्वरको समर्पित करनेसे अर्थात् अपना अहंकार पूर्णतया नष्ट करनेसे इस शरीरको चलानेवाला ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वर होता है। और इसी कारण इसके होनेवाले कर्म सार्वभौमिक महत्त्वके होते हैं। ऐसी योग्यता रखनेवाला मनुष्य कहीं क्वचित् होता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
गी० ७।३

"हजारों मनुष्योंमें कोई एकाद मनुष्य इस सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमेंसे भी विरलाहि तत्त्वदृष्टिसे परमेश्वरको जानता है।" इतने थोडे लोग सिद्ध पुरुष अथवा महात्मा होते हैं। परंतु सबको उचित है कि वे इस मार्गसे चलनेका अभ्यास जितना हो सके उतना करें। यह कोई आवश्यकता नहीं है कि पूर्ण सिद्धि इसी क्षणमें प्राप्त हो। प्रयत्न करनेपर सिद्धि प्राप्त होगी हि, उसका विचार इस समय करनेकी आवश्यकता नहीं है। अस्तु। कर्म ब्रह्मार्पण करनेका आशय इस प्रकार महत्त्वपूर्ण और गंभीर है।

कर्म ब्रह्मके लिये समर्पण कैसे किये जाते हैं? यह प्रश्न यहां कोई पूंछ सकते हैं। इसका उत्तर सरल है। यह विश्व ब्रह्मका हो रूप है। विश्वमें जितने रूप हैं वे सब ब्रह्मके रूप हैं यह विषय आगे ११ वें अध्यायमें स्पष्ट होनेवाला है। इस ब्रह्मकी सेवा हम जितनी अधिक कर सकें, उतनी करना चाहिये। यह सेवा अविरोधसे और अहिंसासे होनी चाहिये। अर्थात् हमारा वैयक्तिक द्वेष उसमें लाना नहीं चाहिये, संग अर्थात् अपने भोगकी मनीषा उसमें नहीं रहनी चाहिये, और जितनी सेवा अधिकसे अधिक कर सकें उतनी करनी चाहिये। मानवसमष्टी अथवा प्राणिसमष्टीका कोई भाग हम अपने कर्मफलसमर्पण के लिये ले सकते हैं। इसका प्रारंभ 'फलसंग छोडने' से होगा। एकवार अहंकार और फलसंगकी इच्छा छूट गयी, तो आगेका कार्य उसी परमात्माका है। वह जैसी चाहिये वैसी सेवा इससे ले सकता है। उसका विचार वह उत्तम

(७) आत्मशुद्धि ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

अन्वयः— योगिनः आत्मशुद्धये कायेन, मनसा, बुद्ध्या, केवलैः इंद्रियैः अपि संगं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति ॥ ११ युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिं आप्नोति । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी आत्मशुद्धिके लिये शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे अथवा केवल इन्द्रियोंसे भी आसक्ति छोडकर कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मयोगी कर्मके फलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करते हैं । परंतु जो योगाचरण नहीं करता, वह कामनावश होनेके कारण फलमें आसक्त होनेसे बद्ध होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ — साधक योगी अपने शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे भी कर्मयोगके नियमानुसार फलासक्ति छोडकर कर्म करते हैं, जिससे उनकी शुद्धि होती है ॥ ११ ॥ फलका त्याग करनेके कारण कर्मयोगीको बडी शान्ति मिलती है, परंतु जो लोग फलभोगकी कामनासे फलके ऊपर आसक्त होकर कर्म करते हैं, वे उनकी आसक्तिके कारण ही बद्ध होते हैं ॥ १२ ॥

रीतिसे कर सकता है ।

पाठक यहां स्मरण रखें कि— (१) फलसंगत्याग और (२) कर्मोंका ब्रह्मार्पण " ये दो हि विषय श्रीमद्भगवद्गीताके मुख्य विषय हैं । मनुष्यके प्रत्येक जीवनविभागमें इनका संबंध आता है और इनका जितना पालन होगा, उतना साधक उन्नत होता जायगा । इसीसे आत्मशुद्धि होती है, इस विषयमें गीताका उपदेश देखिये—

(११-१२) कर्मयोगी किस तरह कर्मयोग का आचरण करता है और उस कर्मयोग के आचरणसे उसको क्या फल प्राप्त होता है, इस का विचार यहां किया है । साधक को ये श्लोक बहुत बोध देनेवाले हैं । योगी लोग फलकी असक्ति छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

योगिनः संगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति।
(५।११)

योगी अर्थात् कर्मयोगी कर्म तो करते हैं, परंतु फलासक्ति छोड कर करते हैं । "जो कर्म मैं कर रहा हूं उसका फल मुझे नहीं चाहिये, परंतु वह परमेश्वरको समर्पित हो," इस त्यागबुद्धिसे वे कर्मयोगी कर्म करते हैं । परमेश्वरार्पणका तात्पर्य समष्टिके हितके लिये समर्पण है, यह बात इसके पूर्वके श्लोकके स्पष्टीकरणमें बतायी है । अपने शरीरमें हस्तपादादि अनेक अवयव हैं, वे व्यक्तिशः कर्म करते हैं, परंतु उनके कर्मका फल सब शरीर को मिलता है, इससे शरीर स्वस्थ रहता है । जिस समय कोई एक अवयव हठ करके अपने स्वार्थके लिये अधिक सुखभाग लेनेका यत्न करेगा, उसी समय वहां रोग हो गया है ऐसा समझना चाहिये । रक्तका प्रवाह सब शरीरभर चल रहा है, यदि इसमें प्रतिबंध करके किसी अवयवने अपने अन्दरहि अधिक रक्त संचय करनेका हठ या स्वार्थ किया, तो वहां सूजन शुरू होगी और जो रोग उत्पन्न होगा, उससे

सब शरीर दुःखी होगा। एकके स्वार्थसे अर्थात् एक व्यक्तिकी फलासक्तिसे उसको तो कष्ट होते ही हैं, परंतु जिसका वह अंग है, उसको भी कष्ट भोगने पडते हैं। एक व्यक्तिके स्वार्थवश होनेके कारण राष्ट्रको परतंत्र होना पडता है. इसके उदाहरण इतिहासमें अनंत हैं। अतः फलभोगकी कामनाका संग छोडना ही उन्नतिका मुख्य साधन है। इस कारण भगवद्गीतामें 'फलका संग छोडने' का उपदेश वारंवार आगया है। 'संग' में प्रबल आसक्ति होती है। यह प्रबल असक्तिहि दोष उत्पन्न करती है।

फलत्यागसे सबका सुख।

कर्म करनेसे कुछ न कुछ फल उत्पन्न होगा ही। फिर उसका क्या किया जावे ? यदि कर्ताने उस फलका संग छोडा, तो उसका आगे क्या होगा ? वस्तुतः इसका विचार कर्ताको करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिसकी नियंत्रणासे इस संपूर्ण जगत् के सब व्यवहार चल रहे हैं, वह इस फलका जहां जैसा उपयोग करना होगा, वहां वैसा करेगा। कर्ताको उसकी चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है।

तथापि इस बातको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण हम लेते हैं। किसी एक राज्यके सब प्रजाजन कर्म करते हैं, और जो उन कर्मोंका फल होता है, वह सबका सब उस राज्यकी शासनसंस्थाको समर्पित करते हैं अर्थात् कर्मफलत्याग करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अंत्यज अपने अपने ज्ञान, शौर्य, व्यापार, कारीगरी और सेवा आदि कर्म करते हैं, और सब अपने कर्मफल का त्याग करते हैं अर्थात् इनसे जो फल उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापालकके कोशमें जमा होता है। कोई व्यक्ति अपने पास कोई धन नहीं रखती। प्रजापालक संस्थाहो सब प्रजाजनोंकी सब प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करती है। इस प्रकारकी राज्यव्यवस्थामें उत्तम रीतिसे अपना कर्तव्य कर्म करना ही प्रजाजनका कर्तव्य है, उसके फलपर उस प्रजाजनका अधिकार नहीं है, फलपर अधिकार तो प्रजापालक शासनसंस्थाका है। प्रजाजनोंके संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंका फल शासनसंस्थाके कोशमें संचित होगा, और जहां जिस प्रजाजनको जिसकी आवश्यकता होगी, वहां उसको राज्यप्रबंधसेहि वह वस्तु प्राप्त होगी। सब धन प्रजापालक शासनसंस्थाका है-

कस्य स्वित् धनम्। वा० य० ४०।१; ईश उ०१

"(कः वै प्रजापतिः) क नाम प्रजापालकका है और सब धन उस प्रजा पालनेवालेका है।" धनपर किसी दूसरेका अधिकार नहीं है। धनका अर्थ प्रजाके 'कर्मोंका फल' ही है। जहां इस तरहकी प्रजापालक शासनसंस्था है और जहां सब प्रजाजन अपने कर्तव्य कर्म तो करते हैं, परंतु कर्मका फल अर्थात् धन अपने पास नहीं रखते, परंतु प्रजापालकके कोशमें समर्पण करते हैं, और प्रजापालक सबके हितसाधनका प्रबंध करता है, वहां सब प्रजाजनोंको अधिकसे अधिक सुख, आनंद और शान्ति रहती है। क्यों कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने पास अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए सब धनोंका संचय करते रहते हैं, इसलिये राष्ट्रमें विषम धन संचय होता है और कई मनुष्य इस संचयके कारण विना कर्म किये ही बहुत भोग भोगते हैं, और कई ऐसे प्रजाजन होते हैं कि, जो बहुत परिश्रम करनेपर भी अपना न्यूनसे न्यून आवश्यकताओंको भी पूर्ण करनेमें असमर्थ होते हैं। इस विषमताके कारण इस जगत् में सब दुःख और कष्ट होते हैं। इसलिये उत्तम तो यह है कि-

(१) प्रत्येक मनुष्य अपना नियत कर्म अत्यंत कुशलतासे जहां तक उत्तम हो सके वहां तक उत्तम रीतिसे पूर्ण करे, [कर्मण्येवाधिकारस्ते। गी० २।४७]

(२) उस कर्मसे प्राप्त होनेवाले फल (धन) पर अपना अधिकार न रखे, उस कर्मसे जो फल (धन) प्राप्त होगा वह सबका सब प्रजापालकके कोशमें संचित होता रहे। [मा फलेषु कदाचन। गी० २।४७।

(३) अपने कर्मका फल (धन) अपने भोगके लियेहि अपने पास संग्रहित करनेकी वैयक्तिक स्वार्थकी कामनासे कोई कर्म न करे। [मा कर्मफलहेतुर्भूः । गी० २।४७]

(४) अपने पास कर्मका फल (धन) संग्रहित नहीं होता, इसलिये मैं कर्म ही नहीं करूंगा ऐसा कुविचार भी कोई न करे। [मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि । गी० २।४७]

ये चार सूत्र परम उच्च और सबको सुख तथा शान्ति देनेवाले सर्वहितकारी राज्यशासन संस्थाकी सुव्यवस्थाके निदर्शक हैं, यह बात यहां पाठक समझें। और ऐसी उत्तम राज्यव्यवस्थामें सब प्रजाजनोंको किस तरह सुख हो सकता है, इसका मनन अपनी कल्पनाशक्तिसे करें। इससे फलका संग छोडनेका महत्त्व सबको अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिके हितके लिये अपने कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करेगी, तो सब को अधिक सुख, अधिक आनंद और अधिक शान्ति मिल सकती है। ऐसी शासनसंस्थामें एक भी मनुष्य दुःखी नहीं होगा। मनुष्योंके अपने कर्मफलका संग छोडनेसे (सर्वभूतहिते रताः । गी० ५।२५;१२।४) सर्व भूतोंका हित कैसा होता है, इसका विचार पाठक इस विवरणसे जान सकते हैं, और फलासक्ति छोडनेके उपदेश का महत्व भी जान सकते हैं।

यहां हमने एक ग्राम या राष्ट्रकी शासक संस्थाकाहि विचार किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें 'सर्व-भूत-हित' का विचार है। सवभूतहित में केवल मानवसमष्टिहि नहीं, परंतु सब प्राणियों की समष्टिका विचार है। सब प्राणियोंको अधिक से अधिक सुख तभी हो सकता है, जब कि सब मानव फलासक्ति छोडकर अपने अपने सब कर्म उत्तमसे उत्तम रीतिसे परिपूर्ण करते रहें और कर्मके विना अर्थात् बेकार कोई न रहे। शासन संस्थाकी उच्चसे उच्च कल्पना यहां इस तरह भगवद्गीताने दी। ये उपदेश सब लोगोंके आचरणमें कब आवेंगे इसकी कल्पना आज करना कठिन है, परंतु जब ये उपदेश आचरणमें आवेंगे, तभी सबको सुख, आनंद और शान्ति मिलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। फलके साथ संग त्यागने का इतना महत्त्व है। पाठक इस बातको न भूलें।

कर्मसे आत्मशुद्धि ।

अशुद्धिसे कष्ट और शुद्धिसे सुख होता है। अशुद्धिसे शरीरमें रोग होते हैं और शरीर शुद्ध होनेपर रोग दूर होते हैं, इसी तरह इंद्रिय, मन, बुद्धि और चित्तमें अशुद्धतासे दोषोंकी उत्पत्ति होती है और शुद्धतासे दोषोंकी निवृत्ति होती है। प्रत्येक मनुष्य इस तरह शुद्ध होगा, तभी मानवसमष्टि शुद्ध हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य को मानवसमष्टि शुद्ध हुई है वा नहीं, इसका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, अपनी शुद्धि करनेके लियेहि उसको यत्न करना चाहिये। अर्थात् एक मनुष्य भी इस तरह पूर्ण शुद्ध हुआ, तो भी उसमें सबका हित ही है। क्यों कि सब अशुद्ध होनेकी अपेक्षा उनमेंसे एक शुद्ध हुआ तो भी उतनी सब समाजकी शुद्धता होगी। इस बातका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी शुद्धताके लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

अपनी पवित्रता, चित्तशुद्धि अथवा आत्मशुद्धि कर्मसेहि होती है। साधारण बातमें भी यह सत्य है। स्नानरूप कर्म करनेसे शरीरका बाहरका भाग पवित्र होता है। इस विषयमें मनुस्मृतिमें कहा है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥
मनु० ॥ ५।१०९

"जलसे शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं, सत्यपालनसे मन शुद्ध होता है, विद्या और तपसे

भूतात्मा की शुद्धि होती है और ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है।" जलस्नान, सत्यपालन, विद्यार्जन, तपश्चर्या, ज्ञानार्जन ये सब कर्म हैं, जिनसे मनुष्यकी शुद्धि होती है। जो सकाम या निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें कही है, वे सब कर्म चित्तशुद्धि करनेवाले हैं।

ब्राह्मणके कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, सहनशीलता, सरलता, विज्ञान और आस्तिक्य ये हैं; क्षत्रियके कर्म शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और प्रभुत्व ये हैं; वैश्यके कर्म कृषि, गोरक्षण और वाणिज्य हैं और शूद्रके कर्म कारीगरी और परिचर्या हैं (भ० गी० १८। ४२-४४)। ये सब कर्म मनुष्यकी पवित्रता करनेवाले हैं। आलस्यसे मनुष्य अपवित्र होता है और पुरुषार्थसे सब दोष दूर होते हैं।

यहां कोई पूछ सकते हैं कि आलस्यसे दोष क्यों उत्पन्न होते हैं? इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्र को कुछ न कुछ भोग आवश्यक ही होते हैं। कमसे कम स्थान, अन्न, जल और वस्त्र इनकी तो उसे अत्यंतहि आवश्यकता है। आलसी मनुष्य अपने आलस्यके कारण कामधंदा नहीं करता और सदा दरिद्रतामें फंसा रहता है, परंतु पेटकी आवश्यकता उसको सतातीही रहती है। इस कष्टसे उसकी प्रवृत्ति चौर्य, असत्य, हिंसा, व्यभिचार आदि कुकर्मोंकी ओर होती है और इस तरह वह दोषोंकी परंपरामें फंसता है। इतने विचारसे पाठक जान सकते हैं कि कर्म छोडनेसे दोष कैसे उत्पन्न होते हैं और कर्म करनेसे हि मनुष्य दोषसे कैसा बच सकता है। कर्मसेहि धन मिलता है। कर्महि धन है। धनसे मनुष्यको आवश्यक उपभोग मिलते हैं। शास्त्रोक्त कर्म करनेमें समय जानेसे उसको बुरा विचार करनेके लिये अवकाश भी नहीं रहता है और सब समय में कर्म करनेसे कर्मका रूपान्तर आवश्यक उपभोग मिलकर जीवन सुखमय होनेमें होता है, इस तरह कर्म से दोषप्रवृत्ति हटती है और चित्तशुद्धि होती है। अतः मनुष्य अपने आपको शुभ कर्ममें सदा रखे। क्योंकि यही कर्ममार्ग उस की उन्नतिका साधक है। इसलिये कहा है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(गी० ५।११)

"योगी लोग आत्मशुद्धिके लिये फलासक्ति छोडकर कर्म करते हैं।" इस कर्मयोगसे किस तरह उन्नति होती है, इसका ज्ञान इतने विवरणसे पाठकोंको हो सकता है। तथा—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गी० ५।१२)

"कर्मयोगी अपने कर्म के धनरूप फल का सर्व भूतोंके हित के लिये दान करके पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है। और कर्मयोग न करनेवाला भोगी मनुष्य अपने कर्म का फल अपने भोग के लिये अपने पास रखकर बद्ध होता है।" यह सब कथन पूर्वोक्त विवरण के अनुकूल ध्यानपूर्वक मनन करनेसे स्पष्ट हो सकता है।

पूर्वस्थानमें इसी विवरणमें यह बात बतायी है कि—(१) प्रत्येक मनुष्य उत्तम कुशलतासे अपना कर्तव्य कर्म करे, (२) अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला धनरूप फल अपने पास न रखे, परंतु प्रजापालक के कोशमें सबके हितके लिये जमा होवे, (३) कोई मनुष्य अपने भोग बढानेके उद्देश्यसे कर्म न करे, तथा (४) कोई मनुष्य कभी कर्महीन न रहे। ये कर्म के नियम ध्यानमें धारण करनेसे पता लगता है कि 'कर्मफल का त्याग या दान' करनेसे परम शान्ति कैसी प्राप्त होती है। प्रजापालक द्वारा अपना सब योगक्षेम होगा, ऐसा निश्चय प्रत्येक योगी को रहता है, इससे योगक्षेमविषयक चिन्ता उसकी शान्तिका नाश करनेमें असमर्थ रहती है। तथा अपने कर्म का धनरूप फल भी प्रजापालक के कोशमें जमा होनेसे उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता भी कमानेवाले को नहीं कष्ट देती। इस तरह कर्मयोगीको

न धनरक्षाकी चिन्ता है और न अपने योगक्षेम की चिन्ता है। ऐसा निश्चिन्त होनेसे वह परम शान्ति पाता है। ऐसी शान्ति उसको नहीं होती कि जो अपने कर्मका वेतन अपने पास जमा करता है, उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता रखता है, और अपने योगक्षेमकी सब चीजें खरीदने के कष्ट उठाता रहता है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लगेगा कि जो अपनी वैयक्तिक भोग वासनामें लिपटा हुआ मनुष्य होगा वही दुखी अशान्त और कष्टी होगा, और उसीको कम भोग प्राप्त होंगे, क्यों कि उसको तो अपनी कमाईका ही उपभोग लेनेकी संभावना है। परंतु जो अपनी कमाई सर्वभूतहितके दानमें अर्पण करता है उसको स्वयं अनंत भोग उपस्थित होते हैं क्यों कि उसका योगक्षेम प्रजापति चलाता है, फिर उसको किस बातकी न्यूनता होगी? यहां कर्मयोगीको कर्मफल समर्पणसे शान्तिकी प्राप्ति और स्वार्थी भोगीको भोगवृत्तिसे अशान्ति कैसी होती है, इसका स्पष्टीकरण हुआ। पाठक इसका विचार करें। अब एकही पंक्ति विचार करनेकी शेष रही है, वह है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति॰ ॥ (गी॰ ५।११)

"योगी लोग केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे कर्म करते हैं।" वह केवल कर्म कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिये। बालकके व्यवहार मन और बुद्धिके विनाही होते हैं। पंचतत्त्वोंसे बना यह शरीर सब इंद्रियोंके साथ जब सोता है, तब मन अकेला स्वप्नमें व्यापार करता है, उस समय शरीर और इंद्रियां कार्य नहीं करती हैं। जिस समय मनुष्य भ्रम या उन्मादसे युक्त होता है,उस समय जो व्यवहार वह करता है, उसका पता उसको नहीं होता; क्योंकि उस समय उसका मन उसमें नहीं होता है। इस तरह साधारण मनुष्य भी समयसमयपर केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे कर्म करता है। योगी तो मन तथा बुद्धि आदिके संयम द्वारा उनको अलग रखके केवल प्रत्येकसे कर्म करता है, अतः कर्मका दोष उसको नहीं लगता। अहंकार न रहनेसे यह निर्दोषता सिद्ध होती है, यह बात यहां पाठक स्मरण रखें। जहां अहंकार हुआ वहां दोष हुआ ही जानो। बालक जो कर्म करता है उसमें उसका अहंकार नहीं होता, इसलिये वह कर्म करनेपर भी निर्दोष रहता है। युवती स्त्रीको बालक स्पर्श करता है और एक तरुण युवा पुरुष स्पर्श करता है; परंतु दोनोंके स्पर्शके परिणाममें कितना अंतर होता है, इसका विचार यहां पाठक करेंगे, तो उनको दोष कहां उत्पन्न होता है, इस बातका पता लगेगा। जब बालक एक युवतीको देखता और उसके अवयवोंको स्पर्श करता है, तब वह केवल शरीर से और आंखसे कर्म करता है, अतः उस कर्मसे उसपर कोई विकार नहीं होता, अतः वह निर्दोष रहता है। परंतु तरुण पुरुषका युवतिके शरीर को स्पर्श या उस स्त्रीके अवयवोंका निरीक्षण करनेमें उसके अहंकारका मन-बुद्धिके साथ संमेलन होनेसे उसके अंदर विकार उत्पन्न होते हैं, इससे दोष होता है।

जो बालकके समान अवस्था है, वही सहजावस्था है। योगाभ्यास, संयम, दृढ भक्ति, वैराग्य आदिसे योगी उस अवस्थाको पुनः प्राप्त करता है। जब वह सहजावस्था प्राप्त होती है तभी योगी केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे कर्म करके निर्दोष रह सकता है। सहजावस्था प्राप्त होने तक अहंकार को दूर रखनेसे भी वही बात बनना संभव है, परंतु यह प्रत्येक समय प्रयत्नसे और दक्षतासे सिद्ध करना आवश्यक है। प्रयत्नमें और दक्षता में थोडीसी शिथिलता होगई,तो अहंकार बीचमें घुसेगा और दोष उत्पन्न करेगा। इस कारण सदा दक्षता धारण करना युक्त है। अभ्यासकालमें

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वयः— वशी देही सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य, नवद्वारे पुरे, न एव कुर्वन्, न कारयन् सुखं आस्ते ॥१३॥

संयमी देहधारी पुरुष सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके, नौ द्वारों वाले (इस देहरूपी) नगरीमें, न कुछ करता और न कराता हुआ सुखसे रहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— अपने सब इंद्रियोंका संयम करो, मनका संबंध भी कर्मोंसे छोड दो और प्रकृतिस्वभावसे कर्म होने दो। ऐसा करनेसे स्वयं कुछ भी न करते और कराते हुए, इसी शरीरमें सहजहीसे पूर्ण सुख प्राप्त हो सकता है ॥ १३ ॥

ऐसेहि दक्षतापूर्वक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस प्रकारके अभ्याससे सिद्ध हुए पुरुषकी स्थिति कैसी होती है, इसका वर्णन आगेके श्लोक में अब देखिये—

(१३) इस शरीरमें नौ द्वार हैं— दो आंखें, दो कान, दो नासिकाछिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा ये नौ द्वार इस शरीररूपी नगरीमें हैं। इसी लिये इसको 'द्वारवती' अर्थात् 'जिसको द्वार हैं ऐसी नगरी' कहते हैं। यह भगवान् की कृपासे बनायी गयी है, अर्थात् यह भगवान्ने किसी विशेष उद्देश्यसे बनायी है, इसका स्वामी वह है मैं नहीं हूं। अतः इसपर भगवान् का अधिकार है मेरा नहीं। इस तरह विचार करनेसे देहपरकी अहंकारबुद्धि दूर होती है, और मैं दूसरेके घरमें अतिथि हूं, यहां आनेकी मेरी तिथि जैसी निश्चित नहीं है, वैसीहि यहांसे जानेकी भी तिथि निश्चित नहीं है। अतः मैं यहां 'अ-तिथि' के रूपमेंहि रहूंगा। ऐसा निश्चय मनमें करनेसे अहंकार दूर होनेमें सहायता होती है।

इस शरीरके बनानेमें जो परमात्माका उद्देश्य है वही पूर्ण होना चाहिये। यदि मैंने इस शरीर को अहंकारसे किसी दूसरे कार्यमें लगाया, तो कदाचित् इस शरीरका मूल उद्देश्य सिद्ध न होगा, और उस उद्देश्यकी सिद्धितक वारंवार शरीर धारण करना पडेगा। इस आपत्तिको टालनेके लिये अपना अहंकार बीचमें न लाना आवश्यक है। अपना अहंकार बीचमें न लानेसे अपनी ओरसे कोई भी प्रेरणा होना संभव नहीं है, और—

नैव कुर्वन्, न कारयन्। (५।१३)

"स्वयं कुछ न करना, और न कराना" यह अवस्था सिद्ध हो सकती है। अबतक अपना अहंकार बीचमें रहेगा तबतक यह अवस्था प्राप्त नहीं होगी। अहंकार कुछ न कुछ करेगा और करावेगा हि और इस कारण दुःखादि भी भोगना पडेगा। अपने अहंकारको इसी कारण समूल दूर करना चाहिये।

जैसा प्रवासी दूसरेके घरमें कुछ दिन निवास करता है, वैसा इस नौ द्वारवाले शरीररूपी परमेश्वरके मंदिरमें निवास करना चाहिये। यदि पाठक इस शरीरको परमेश्वरका मंदिर मानें और उसमें अपने आपको प्रवासी अतिथि समझें, और यही वृत्ति अपनेमें स्थिर कर सकें, तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त होनेसे विलंब नहीं होगा।

दूसरेके घरमें रहनेवाला अतिथि जहां तक हो सके वहां तक (वशी) संयमी रहता है, अपनी वृत्तियोंको उच्छृंखल होने नहीं देता, वहांके कर्मचारियोंपर अपना अधिकार नहीं चलाता,

(८) अज्ञानसे मोह ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

अन्वयः— प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वं, न कर्माणि, न च कर्मफलसंयोगं सृजति । स्वभावः तु प्रवर्तते ॥१४॥

ईश्वर लोगोंके न कर्तापनको, न कर्मोंको और न कर्मोंके फलके संयोगको निर्माण करता है । स्वभाव हि सब कुछ करता है ॥१४॥

वहांके कर्मचारियों से होनेवाले-बननेवाले अथवा बिघडनेवाले कर्म देखता है, परंतु केवल साक्षी होकर वहां रहता है, क्योंकि उसको वहां से थोडी देरके पश्चात् जाना है; अतः वह वहांके कर्मोंके फलके साथ अपना संबंध जोडना नहीं चाहता। (मनसा संन्यस्य सुखं आस्ते) मनसे अपना संबंध यहां नहीं है ऐसा जानकर सुखसे अपने स्थानमें रहता है। वहांके कर्मचारियोंके वेतन देनेकी चिन्ता उसको नहीं सताती और किसीनें कुछ कर्म किया, या न किया, इसका आयव्यय रखनेकी भी उसको आवश्यकता नहीं है। जितने समय वहां विश्राम करना होगा, वह चिन्तारहित होकर विश्राम करेगा और जानेका समय प्राप्त होते हि उस स्थानको छोड देगा। इस परमेश्वरके मंदिरमें जो इस तरह अतिथिरूप रहेगा, वह पूर्ण सुख सहजहींसे प्राप्त कर सकता है। इस नौ द्वारोंवाली नगरीमें कुछ न करते और न कराते रहनेका तात्पर्य यह है।

इस शरीरका स्वभावही कर्म करनेका है, अतः कोई प्राणी क्षणभरभी कर्म न करते हुए रह नहीं सकता (गी० ३।५)। यह सत्य है, परंतु यह कर्म जिसका यह मंदिर है, उसकी प्रेरणासे होते रहें, अपनी प्रेरणाका अहंकार बीचमें घुसेडना और उस कारण उत्पन्न होनेवाली चिन्ता आदिका भार व्यर्थ अपने ऊपर लेना योग्य नहीं है। अपनी अहंकारकी प्रेरणा पूर्णतया बंद होते हि यहां ईश्वरको प्रेरणाका प्रारंभ होता है। उस ईश्वरकी प्रेरणासे जो कर्म इस शरीरसे होते हैं, वे सर्व-भूतहित (गी० ५।२५; १२।४) के लिये होते हैं। क्यों कि वह सर्वव्यापी है और सबका हित करना उसका स्वभाव है। उसकी प्रेरणासे जो कर्म होते हैं, वे शुद्ध होते हैं और उसका दोष साक्षी होकर रहनेवाले जीवको नहीं लगता। इसलिये साक्षी बनकर रहनेका उपदेश यहां किया है। स्वयं अपनी प्रेरणासे कुछ कर्म न करना और न कराना, इस शरीरको परमेश्वरकी प्रेरणाके अनुसार व्यवहार करनेके लिये उसके आधीन करना, और जो इससे कर्म होगा उसका निरीक्षण साक्षी होकर करना, यह उपाय कर्मके दोषसे बचनेका है। जिसका शरीर इस प्रकार परमेश्वरकी प्रेरणासे सर्वभूतहितके कर्ममें लग गया, वही धन्य है। यही धन्यता प्राप्त करना प्रत्येकका कर्तव्य है और साध्य है। जो इस तरह धन्य होनेका यत्न नहीं करते, उनको अज्ञानसे मोह होता है, इस विषयमें आगेके दो श्लोकोंमें स्मरण रखने योग्य उपदेश कहा है। यह अब देखिये—

(१४—१५) जो मनुष्य अहंकार को नहीं छोडते और फलासक्तिसे कर्म करते हैं, वे कर्मों के दोषोंसे दुःखी होते हैं। जब उनका दुःख असह्य होता है तब वे कहते हैं कि, " देखो, परमेश्वरने ये दुःख मुझे दिये हैं, क्या किया

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

(९) ज्ञानसे परमतत्त्वका प्रकाश ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

अन्वयः-विभुः न कस्यचित् पापं न च एव सुकृतं आदत्ते । अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं, तेन जन्तवः मुह्यन्ति॥१५॥

सर्वव्यापी परमेश्वर न किसीके पापको और न किसीके पुण्यको लेता है। अज्ञानसे ज्ञान आच्छादित हुआ है, इस कारण मनुष्य मोहित होते हैं ॥१५॥

भावार्थ— लोगोंका कर्तृत्व, उनके कर्तृत्वसे होनेवाले कर्म और उन कर्मोंसे मिलनेवाले फल ये सब ईश्वर नहीं निर्माण करता। स्वभावहि सब कुछ बनाता है॥ ईश्वर किसीके पापको या पुण्यको अपने ऊपर नहीं लेता। लोगोंका ज्ञान अज्ञानसे ढंका रहनेके कारण लोग भले बुरे फलका संबंध ईश्वरके साथ जोडते हैं और भ्रममें पडते हैं ॥१४-१५॥

जावे," इस तरह सुखदुःखका कारण परमेश्वर है ऐसा लोग वारंवार बोलते हैं। परंतु यह लोगोंका अज्ञान है। क्यों कि जो लोग अहंकारसे कर्म करते हैं वे ही उस कर्मदोषसे प्राप्त होनेवाले दुःखसे दुखी होते हैं। जब यह दोष या पाप उन्होंने हि किया है, तब उसके लिये ईश्वर पर शब्द रखना कैसा योग्य हो सकता है? स्वयं अग्निमें हाथ रखना और जल गया तो ईश्वरने जलाया ऐसा कहना, यह कदापि योग्य नहीं है। जिसने अपना अहंकार बीचमें रखा है और जो यह कार्य मैंने किया ऐसा कहता है, उसको उचित है कि वह अपनी कमाईका भोग करे। दूसरेको बुराभला कहनेसे क्या बनेगा ? अपना उत्तरदातृत्व दूसरेपर लगा देनेसे भी कुछ बनेगा नहीं। सीधी बात तो यह है कि मनुष्य या तो सबसे पहिले अपना अहंकार दूर करें, नहीं तो दुःखभोगनेको तैयार रहें। अपने कर्मसे सुख प्राप्त हुआ तो उस समय 'मैंने किया' ऐसा कहना और दुःख होने लगा तो कहना कि 'परमेश्वरने दुःख दिया' यह केवल अज्ञानका मोह है। मनुष्योंका ज्ञान अज्ञानसे आच्छादित है, इस लिये वे ऐसा कहते हैं। वस्तुतः सब दोष उनके अहंकारका और अज्ञानका है। जो लोग पराधीन हैं, दुःखी हैं, पीछे रह गये हैं, अज्ञानी हैं यह सब उनकाहि दोष है और इसका उत्तरदातृत्व किसी प्रकार भी दूसरेपर नहीं है। जो जैसा कर्म करते हैं वे वैसा फल प्राप्त करते हैं। यह सब स्वभावसे हो रहा है। परंतु अज्ञानसे मनुष्य अपना दोष दूसरेपर लगाना चाहता है और भ्रमसे वैसा कहता भी है। जो इस अज्ञानको दूर करते हैं उनको स्वयं प्रकाशी ज्ञान कैसा प्रकाशित होता है, यह बात आगेके श्लोकमें कही है—

(१६-१७) जैसा प्रकाश होनेसे अंधेरेका नाश होता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होतेहि अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसी सूर्यको अंधेरीकी कल्पना तक नहीं है, अमृतने मृत्युका नाम भी न सुना होगा, जैसी लक्ष्मी कभी दरिद्रताका अनुभव

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

अन्वयः— येषां तु तत् अज्ञानं आत्मनः ज्ञानेन नाशितं, तेषां ज्ञानं आदित्यवत् तत् परं प्रकाशयति॥ १६॥ तद्बुद्धयः, तदात्मानः, तन्निष्ठाः, तत्परायणाः, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति॥ १७॥

जिनका वह अज्ञान आत्माके ज्ञानसे नष्ट हुआ है, उनका ज्ञान सूर्यके समान उस परम श्रेष्ठ तत्त्वको प्रकाशित करता है॥ १६॥ उस परमात्मतत्त्वमें जिनकी बुद्धि लगी है, उसीमें जिनका आत्मा रमता है, उसीमें जिनकी निष्ठा है, और उसीमें जिनका ध्यान तन्मयतासे लगा है, उनके पाप इसी ज्ञानसे धुल जाते हैं और वे जन्ममरणके भँवरमें नहीं फंसते॥ १७॥

भावार्थ— ज्ञान प्राप्त होनेसे साधकका अज्ञान दूर होता है और उसी ज्ञानसे परमात्माका प्रकाश उसके सन्मुख हो जाता है। जैसा सूर्य आकाशमें दिखाई देता है, वैसाहि उसको परमात्मा साक्षात् हो जाता है। ऐसा साक्षात्कार होनेके पश्चात् उसकी बुद्धि, अन्तःकरण, निष्ठा और ध्यान ये सब उसी परमात्मामें सदा सर्वदा तल्लीन हो जाते हैं और यह साधक उसमें तन्मय हो जाता है। जब वह ऐसा तन्मय होता है, तब वह पापोंसे मुक्त होकर जन्ममरणके चक्रसे भी मुक्त हो जाता है॥ १६-१७॥

नहीं करती, इसी प्रकार ज्ञान होतेहि वहां अज्ञान रह नहीं सकता। मनुष्य जिस शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करता है उस संबंधका उसका अज्ञान दूर होता है। यह बात सर्वसाधारण व्यावहारिक विद्याके विषयमें भी सत्य है। परंतु यहां 'ज्ञान' शब्द परमात्माके संबंधका ज्ञान बताता है। मोक्षविषयक बुद्धिको (मोक्षे धीर्ज्ञानं) ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्राप्त होते हि सब ज्ञातव्यका ज्ञान होनेसे उसका संपूर्ण अज्ञान अर्थात् आत्माके संबंधका अज्ञान पूर्णतया दूर होता है। यह अज्ञान दूर होतेहि उसके सन्मुख सूर्यके समान परमात्माका प्रकाश होता है। इसी विषयमें ऋग्वेदकी श्रुति देखिये—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ २०॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ २१॥ ऋ० १। २२

"ज्ञानी सदा उस सर्वव्यापक परमेश्वरके परम पदको देखते हैं। जैसा सूर्य आकाशमें दिखाइ देता है, वैसा उनको परमेश्वर दिखाई देता है॥ विद्वान्, कुशलतासे कर्म करनेवाले बुद्धिवान् और जागनेवाले विशेष ज्ञानीहि सर्वव्यापक ईश्वरके परम पदको प्रदीप्त अवस्थामें देखते हैं।" अतः गीतामें कहा है कि—

तेषां ज्ञानं तत् परं आदित्यवत् प्रकाशयति। (५। १६)

" उन ज्ञानियोंका ज्ञान उनको सूर्यप्रकाशके समान परम पद उसको प्रकाशित करता है।" अर्थात् उनको वह परम पद ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि जैसा आकाशमें सूर्य दिखाई देता है। जिसको एक वार उस परम पदका दर्शन हुआ उनकी वृत्ति तल्लीन होती है, इस विषयमें १७ वें श्लोकमें चार शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

(तद्बुद्धयः) उनकी बुद्धिमें वही एक परमेश्वरका विषय है, अर्थात् दूसरा कोई विषय उनको बुद्धिमें नहीं रहता, केवल परमेश्वर विष-

(१०) समदर्शन ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

अन्वयः-पण्डिताः विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि, शुनि, श्वपाके च एव समदर्शिनः (सन्ति) ॥१८॥

ज्ञानी लोग विद्या और विनय संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्तेको खानेवाला चाण्डाल इन सबमें सम (भावसे स्थित ब्रह्मको) देखते हैं ॥१८॥

यक ज्ञान ही उनकी बुद्धिमें जीवित और जाग्रत रहता है। (तदात्मानः) जिनका आत्मा तद्रूप हुआ है, जिनका चित्त अथवा अन्तःकरण परमात्ममय बना है, जो परमात्माके विषयमें रमते हैं। (तन्निष्ठाः) जिनकी निष्ठा परमेश्वरमें दृढ हो गयी है और (तत्परायणाः) जो अपने जीवित का ध्येय वही परम पद है, ऐसा मानते हैं। इस तरह ज्ञानी जन परमात्माके रंगसे रंगे होते हैं और इस कारण (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) उनके सब पाप अथवा दोष इस ज्ञानसे हि धोये जाते हैं और वे निर्दोष, निष्कलंक, निर्मल और स्वच्छ होते हैं।

उनकी बुद्धि, आत्मा, मन और चित्त सबका सब परमात्मरूप, परमात्ममय बननेसे उसमें भोगादि विषय- हीन कामक्रोधादि विषय-रह नहीं सकते; इस लिये वहां दोषोंकी संभावनाही नहीं होती। अन्तःकरणका ऐसा धर्म है कि उसमें कोई एक विषय हि एक समयमें रह सकता है। यदि कामादि विषय उसमें रहे तो परमात्माकी भक्ति वहां नहीं रहेगी;और यदि परमात्ममय अन्तःकरण बना तो वहां ये क्षुद्र विषय नहीं रहेंगे। ऐसा नियम होनेसे साधकको उचित है कि वह अपने अन्तःकरणमें हीन विषयोंको स्थान न दें। ऐसा अभ्यास करें कि सदा सर्वदा अपने अन्तःकरणमें परमात्माका निवास बना रहे। ऐसा करनेसे उनको सदा आनंद प्राप्त होगा। अखंड आनन्द प्राप्त करना हो तो दूसरा कोई उपाय नहीं है। अपना अन्तःकरण कामक्रोधादि विषयोंको खुला करनेसे किसी समय थोडासा सुख और दूसरे समय थोडासा दुःख मिलता रहेगा। विषयी अन्तःकरण रहनेतक अखंड आनन्द प्राप्त होना असंभव है। अपने आपको परमात्ममय अनुभव करनेसेहि असीम अखड आनन्द प्राप्त होना संभव है। तथा इसके साथ साथ परमात्ममय बननेसे-

अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति। (५।१७)

"चक्रवत्परिभ्रमण करनेके दुःखसे मुक्त होते हैं।" चक्रवत् परिभ्रमण किंवा पुनरावृत्तिका अर्थ पुनर्जन्म ऐसा भी है और सुखदुःखका चक्र ऐसा भी है। इस प्रपंचमें सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात् सुख होता है। यह सुखदुःखका चक्र सदा भ्रमण करता है। इसी तरह दिनरात यह कालचक्र चलता है। जन्ममृत्युका भी चक्र है। ऐसे अनेक चक्र यहां है। इन चक्रोंमें मनुष्य भ्रमता है, पागल बनता है, दुःखी कष्टी होता है। जबतक विषयभोगोंमें यह मग्न रहेगा तबतक इस द्वन्द्वोंके चक्रसे मुक्त होना अशक्य है। केवल परमात्ममय होनेसेहि इसके सब मल धुल जाते हैं और इस चक्रभ्रमणसे इसकी मुक्ति होती है। परमात्ममय बननेसे वृत्ति कैसी होती है, इसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें किया है, वे श्लोक अब देखिये—

समदर्शन ।

(१८-१९) मनुष्य जब इस संसारमें देखता है, तब उसको उच्च नीच आदि भेद भावही

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अन्वयः-येषां मनः साम्ये स्थितं, तैः इह एव सर्गः जितः, ब्रह्म हि समं निर्दोषं, तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः॥१९॥

जिनका मन इस साम्यभावमें स्थिर हो चुका है, उन्होंने, मानो, इसी जीवनमें जन्ममरणको जीत लिया है। ब्रह्म ही सर्वत्र सम और सदा निर्दोष है। इस लिये वे (समदर्शी मनुष्य सदा) ब्रह्ममें हि स्थित अर्थात ब्रह्ममय होते हैं ॥१९॥

भावार्थ— जो आत्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करते हैं, वे आत्मज्ञानी महात्मा लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति आदि सब पदार्थोंमें सम भावसे अवस्थित ब्रह्मका अनुभव करते हैं। उनको सर्वत्र सब विभिन्न पदार्थोंमें अभिन्न ब्रह्मका दर्शन होता है। जिनको इस तरह सर्वत्र ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, मानो उन्होंने जन्ममरणको जीतकर अमर पद प्राप्त किया है। क्यों कि ब्रह्म सर्वत्र सम और दोषरहित है और इसी ब्रह्ममें वे सदा स्थिर होते हैं ॥१८—१९॥

नजर आता है। संपूर्ण सृष्टिमें यदि कुछ है तो भेदभावहि है। साधारण मनुष्य संसारमें इस भेदभावको प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये शास्त्रका 'समदर्शन' उसके समझमेंहि नहीं आता है। प्रत्यक्षको छोडकर अप्रत्यक्षको कौन मानेगा? ऐसीही सब संसारी जीवोंकी भावना होती है। अतः यहां हमें देखना है कि, यहां सृष्टिमें सचमुच भेदभाव है या नहीं है?

भगवद्गीताने इन श्लोकोंमें कहा है कि- 'ज्ञानी और सदाचारी ब्राह्मण, अज्ञानी और दुराचारी चाण्डाल ये मानव प्राणी, तथा गाय, हाथी, कुत्ता, आदि पशु इन सबको समदृष्टिसे देखना चाहिये। अर्थात् इनको ओर विषम भावसे देखना योग्य नहीं है। इनमें जो सम और निर्दोष तत्त्व है उसको देखना चाहिये। वही ब्रह्म है और उसका दर्शन होनेसे इस संसारमें (सर्गः जितः)विजय प्राप्त होता है।

यहां प्रश्न होता है कि क्या ब्राह्मण और चाण्डाल समान हैं? क्या मानव प्राणी और पशु समान हैं? क्या गाय और कुत्ता समान हैं? हमारा अनुभव यह है कि, ये समान नहीं हैं। हम देखते हैं कि ब्राह्मण सद्विद्या पढाता है, चाण्डाल का रहनसहन मलिन होती है, गाय उत्तम पौष्टिक दूध देती है, कुत्ते और हाथीसे वह कार्य नहीं होते। यह भेद हमारे अनुभवमें प्रतिदिन आता है, फिर हम इनमें समभाव कैसा रखें? क्या ज्ञानी लोग नहीं जानते कि, गायका उपयोग भिन्न है, और कुत्तेका उपयोग भिन्न है? क्या कभी इन दोनोंकी समानता हो सकती है? इतना भेद प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेपर भी इनको हम समत्वसे कैसे देखें?

सर्वसाधारण मनुष्य इसी प्रकारकी शंकाएं वारंवार उपस्थित करते हैं। इनके उत्तरमें इतनाही कहना है कि, पूर्ण ज्ञानी मनुष्य भी गायसे उत्तम दूध प्राप्त होता है और कुत्ता उत्तम रक्षा करता है, हाथी बडा बोझ उठाता है इत्यादि भेदोंका अनुभव करता ही है। वह कभी दूध निचोडनेके लिये कुत्तेके पास नहीं जाता और द्वाररक्षा करनेके लिये गायको कभी नहीं रखता; इतना भेद अनुभव करता हुआ भी वह दोनोंकी

और सम दृष्टिसे देखता है। अर्थात् भेद अनुभव करनेमें साधारण मनुष्य और ज्ञानीका अनुभव समान है, परंतु समदृष्टि रखना ज्ञानीकोहि साध्य है। यह सम दृष्टि कैसी हो सकती है इसका विचार यहां करना चाहिये।

उदाहरणके लिये सोनेके आभूषण लीजिये। कई आभूषण सिरमें धारण किये जाते हैं, कई गलेमें, कई छातीपर, कई हाथमें, कई कमरमें और कई पांवमें धारण करते हैं। ज्ञानी महात्मा लोग भी जानते हैं कि नथ नाकमें धारण की जाती है और कंकण हाथमें धारण करते हैं। ज्ञानी लोगभी हाथमें नथ नहीं धारण करते और न कंकण नाकमें डालते हैं। तथापि वे संपूर्ण विविध आभूषणोंमें सुवर्ण दृष्टिसे समत्वका अनुभव करते हैं। कोई आभूषण लीजिये उसका सुवर्णत्व सब आभूषणोंमें समान है। इसी प्रकार मृत्तिकाके घडा, कूजा आदि अनेक बर्तन बनाये तो भी उन सबमें मृत्तिकाका रूप समान है। यही समत्व उन सबमें है। तांबे पितल के अनंत पात्र बनते हैं, प्रत्येक पात्रका व्यवहारकी दृष्टिसे अर्थात् उपयोगकी दृष्टिसे भिन्नत्व स्पष्ट है; परंतु उनकी तांबापन या पीतलपनकी दृष्टिसे समानता है। बर्तन कोई हो वह उपादान दृष्टिसे तांबा है, या पीतल है, अथवा मृत्तिकाहि है। यहां पता लगा कि व्यवहार दशामें भेदका अनुभव होता हुआ भी वहां तत्त्वकी दृष्टिसे अभेदका अनुभव होना संभव है।

मच्छर छोटसे छोटे प्राणी हैं, हाथी बडेसे बडा प्राणी है। मच्छरका छोटापन और हाथीका बडापन छोड दें, तो दोनों 'प्राणी' होनेमें एक हैं। इसी तरह ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गाय, कुत्ता और मच्छर भिन्न योनिवाले होते हुए भी प्राणी हैं और प्राणी होनेके कारण प्राणियोंके समान गुणधर्मोंसे युक्त हैं। यही उनमें समत्व है। प्राणी होनेके कारण सबको भूख समान रीतिसे लगती है, सबको जीवन समानतासे प्यारा है, सबको मृत्युका समान भय है, इस तरह सबकी समानता देखने योग्य है। ब्राह्मणको सांपके काटनेसे जैसे क्लेश होंगे वैसेहि चाण्डाल को होंगे। निद्रामें दोनोंकी समान अवस्था होगी। इस तरह विचार करनेपर दोनोंका समत्व ध्यान में आसकता है। देखिये—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
गी० ६।३२

"जो मनुष्य सबको अपने समान देखता है, और सुखके विषयमें तथा दुःखके विषयमें समान भाव रखता है वह परम श्रेष्ठ योगी है।" यहां आत्मौपम्य दृष्टि कही है। जिस अवस्थामें मनुष्य सबको अपने समान देखता है, वही श्रेष्ठ अवस्था है। पशुमें और मनुष्यमें यही भेद है। आत्मौपम्य-दृष्टिसे पशु कभी देख नहीं सकता। मनुष्यमें यह आत्मौपम्यदृष्टि बढ सकती है। इसीलिये मनुष्य-की योग्यता श्रेष्ठ है।

आत्मौपम्यदृष्टिसे भी 'समदर्शन' अधिक श्रेष्ठ है। समदर्शनका अर्थ ब्रह्मदर्शन या ब्रह्म-साक्षात्कार है।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म॥ गी० ५।१९

"ब्रह्महि निष्कलंक और सम है।" सदा निर्दोष और सर्वत्र सम ब्रह्म है। किसी स्थानपर वह न्यून और किसी स्थानपर वह अधिक नहीं है। जैसा आकाश सर्वत्र समानतया अवस्थित है, वैसाहि ब्रह्म सर्वत्र सम है। अतः समदर्शन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है।—

पण्डिताः समदर्शिनः॥ गी० ५।१८

"पण्डित लोग समदर्शी होते हैं।" अर्थात् वे सर्वत्र सदा ब्रह्मदर्शन करते हैं। ब्रह्मका साक्षात्कार उनको सदासर्वदा होता है। वे जैसा ब्रह्म ब्राह्मणमें देखते हैं, वैसाहि चाण्डाल, गाय, हाथी, कुत्ता आदिमें देखते हैं, इसी तरह जगत् का प्रत्येक पदार्थ उनको ब्रह्मरूप दिखाई देता है। यह

विश्व ब्रह्मका रूप है ऐसा उनको स्पष्ट प्रतीत होता है। वे किसी पदार्थको देखें, उनको ऐसा प्रतीत होता है कि, ब्रह्महि उस रूपको धारण करके अपने सन्मुख उपस्थित हुआ है। इस तरह उनकी अखंड ब्रह्मरूप वृत्ति रहती है, वे ब्रह्म देखते हैं, वे ब्रह्म सुनते हैं, वे ब्रह्मकी सेवा करते हैं और अन्तमें ब्रह्मरूप बनते हैं। देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

गी० ४।२४

"अर्पण, हवनसामग्री, अग्नि, हवनकर्ता ये सब ब्रह्म हैं। जिसकी वृत्ति इस तरह ब्रह्ममय हुई वह स्वयं ब्रह्म बनता है।" यही बात यहां कही है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

गी० ५।१९

"जिनका मन इस साम्य भावमें स्थिर हुआ, वे कृतकृत्य और विजयी हुए हैं। क्यों कि जैसा ब्रह्म निष्कलंक और सम है वैसेहि वे निष्कलंक और सम होते हैं।" मनकी समवृत्ति होना ही मनुष्यका अन्तिम साध्य है। पूर्ण पुरुषका यही लक्षण है। सुखदुःख में समभाव, उच्चनीच के विषयमें समवृत्ति, चराचर के विषयमें समदृष्टि होनी चाहिये।

प्रायः मनुष्य अपने संबंधियों के विषयमें पक्षपात करता है और दूसरोंके विषयमें तिरस्कार रखता है। परंतु समदर्शी मनुष्य निष्पक्ष रहता है। वह कभी अपने संबंधियोंका पक्षपात नहीं करेगा और न दूसरों के विषयमें उदास रहेगा। वह सबके विषयमें सम रहेगा। यही समवृत्ति मनुष्य के श्रेष्ठ होनेकी सूचक है।

अर्जुनकी दृष्टि विषम हो गयी थी। उसने कहा था कि 'ये मेरे दादा, मामा, चचा, भाई, पिता आदि हैं इस कारण इनका वध करना योग्य नहीं,' यह पक्षपात का वचन है। ये लोग सत्पक्षमें हैं या असत्पक्षमें हैं, इसका विचार समभावसे करके अपना कर्तव्य क्या है, इसका निश्चय करनेमें वह असमर्थ था। वह अपने संबंधियोंका पक्षपात करना चाहता था और विश्वकी स्थिरताका विचार तक करना नहीं चाहता था। यही उसके मनकी विषमता है। यह विषमता हटा कर उसका मन समभावयुक्त करना भगवान्‌को अभीष्ट था। जगत्‌की दृष्टिसे अपना कर्तव्य क्या है इसका निश्चय प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। अपने संबंधियोंके हितके लिये जगत्‌का नाश करना दोषकारक है। समष्टिके हितके लिये व्यष्टिका समर्पण करना ही धर्म है।

समदृष्टि रखनेसे सेवाभाव भी बढता है। क्यों कि सर्वत्र समदृष्टि रखनेसे सदा सर्वदा सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार होनेसे और परमात्मा सब का उपास्य और सेव्य होनेसे इस उपासक में सेवाभाव बढता है और वह सर्वत्र परमेश्वर की सेवा ही करता है। यदि वह ब्राह्मण हुआ तो वह अध्यापन द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है, यदि वह क्षत्रिय हुआ तो वह दुर्जननिर्दलन और सज्जनप्रतिपालन द्वारा ईश्वरसेवा करता है, इसी तरह वह अन्य वर्णमें हुआ तो अपने अपने कर्तव्य कर्म करके परमेश्वर की सेवा करता है। सर्वजनहित करना ही महासेवा है। कोई रोगी सन्मुख आया तो साधक वैद्य हुआ तो वह उसको योग्य उपचार करे और उस स्वकर्तव्यद्वारा परमात्माकी सेवा करे। मनुष्य अधिकारपर हो, वकील हो, नौकर हो, कारीगर हो, पूंजीपति हो, या हुनर करनेवाला हो, वह किसी भी अवस्थामें हो, वह यदि समदर्शी होगा तो वह समदृष्टिसे ईश्वरसेवा करके योग्य आचरण करता हुआ निःसन्देह उन्नत हो सकता है।

समदर्शनसे निर्दोषता भी आती है, विजय प्राप्त होता है, अमरत्व प्राप्त होता है और अन्तमें मोक्ष भी मिलता है। समदृष्टि होतेहि उसके सब

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

अन्वयः— प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्, अप्रियं प्राप्य च न उद्विजेत्, एवं स्थिरबुद्धिः, असंमूढः, ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो प्रिय वस्तुको प्राप्त कर हर्षित नहीं होता, और अप्रिय की प्राप्ति होनेसे उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिर बुद्धिवाला और कभी मोहमें न फंसनेवाला ब्रह्मज्ञानी, मानो, ब्रह्ममें हि स्थिर हुआ है ॥२०॥

बंधन टूट जाते हैं। क्यों कि सब बंधन विषम दृष्टि रहने तकही सताते हैं।

समदृष्टि होनेसे जागतिक व्यवहारमें समवर्तन नहीं होता। जैसा देखिये कि कोई समदृष्टिवाला महात्मा है, तो वह पंडित को भी घास देगा और गौको भी घास देगा, ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। व्यवहारमें आवश्यक भेदभाव रहेगा। परंतु समदृष्टिवाला आत्मवत् भावसे सबभूतोंकी ओर देखेगा और वैसाहि कहेगा, कि जैसा अन्न तथा जलके विना मुझे कष्ट होते हैं वैसेहि घास के न मिलनेसे गौ आदिको कष्ट पहुंचते हैं। इस तरह सर्वत्र एक आत्माका प्रत्यय वह करता है और सबके हितके लिये स्वयं सेवा करनेको उद्युक्त होता है और सर्वभूतहितके लिये आत्मसमर्पण करता है। सर्वभूतोंकी स्वयं सेवा करता है।

सर्वत्र समदृष्टि होनेसे सर्वत्र ब्रह्मका साक्षात्कार होता है और वह साधक भी अन्तमें स्वयं ब्रह्म बनता है। जो मनुष्य सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार करेगा, वह आचरणसे भी शुद्ध बनेगा और पवित्र होता हुआ निष्कलंक होगा।

अपनेमें समदर्शन ।

सर्वत्र समदर्शन करनेका और एक उपाय है। अपने शरीरमें देखिये। मुख, बाहु, छाती, पेट, जांघ, और पांव ये अवयव हैं, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय ये दस इंद्रिय भी हैं। इनमें आंख,मुख आदि इन्द्रिय सुन्दर हैं, गुदा मलत्यागका इन्द्रिय है इसलिये वह मलिन है। इन्द्रिय अथवा अवयव सुन्दर हों या मलिन हों, उनमें जीवात्मा का कार्य समानताके साथ हो रहा है, सुन्दर मुखमेंहि केवल आत्मा है और मलिन पांवमें नहीं ऐसी बात नहीं है। सब शरीरमें वह जीवनरूपसे सर्वत्र सम विद्यमान है। पाठक अपने शरीरमें यह आत्माकी समतासे अवस्थिति देखेंगे, तो परमात्माकी विश्वमें समत्वसे अवस्थिति कैसी है, इसका ज्ञान उनको हो सकता है। क्योंकि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें नियम एकही है। अतः जो साधक अपने देहमें आत्माका समत्व देखेगा वही विश्वमें परमात्माका समत्व जान सकता है, वेदमें भी यही बात कही है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥

अथर्व० १०।७।१७

" जो एक मनुष्यमें ब्रह्मका दर्शन करते हैं, वे हि विश्वमें परमेष्ठी प्रजापति परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। " इसलिये सबसे प्रथम अपने देहमें समत्व देखना उचित है। तत्पश्चात् वही न्याय संपूर्ण विश्वमें लगानेसे संपूर्ण विश्व ब्रह्मकाही रूप है, ऐसा प्रतीत होगा। यही विश्वरूपदर्शन है।

इस तरह जिसकी दृष्टि सम होती है, वह पूर्ण पुरुष बनता है और सबको वंद्य होता है। इसका वर्णन आगेके श्लोकोंमें देखिये—

(२०-२१) साधारण मनुष्य और ब्रह्मज्ञानी

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

अन्वयः— यः बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा (सः), आत्मनि यत् सुखं विन्दति, (तत्) अक्षय्यं सुखं सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अश्नुते ॥२१॥

जो बाह्य विषयभोगोंमें आसक्त नहीं होता, वह अपने आत्मामें जिस सुखको प्राप्त करता है, वही अक्षय सुख ब्रह्मयोगमें अपने आपको तत्पर करनेवालेको प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ— प्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे हर्ष न करो, अप्रिय वस्तु मिली तो दुःख न करो; दोनों अवस्थाओंमें ऐसी समवृत्ति रखो कि जो दोनों की अनिच्छा में हो सकती है। इस तरह बुद्धिको स्थिर रखो, किसी प्रलोभनमें न फंसो। इससे ब्रह्मकी स्थिति प्राप्त होगी॥ बाह्य भोगोंमें आसक्त न होनेसे जो मनकी शान्ति होती है, उससे स्वयं अपने आत्मामें अखंड प्रसन्नता होती है। इसी तरह ब्रह्म के साथ अपनी तन्मयता करनेसे भी वैसा ही अखंड सुख अनुभवमें आता है ॥२०-२१॥

इन दोनोंकी पहचान किस तरह कर सकते हैं यह प्रश्न अनेक बार पूंछा जाता है। इसका उत्तर इन श्लोकोंमें दिया गया है।

साधारण मनुष्य।

साधारण मनुष्य प्रिय वस्तुको प्राप्त कर ऐसा उन्मत्त होता है कि मानो बेहोषसा बनता है। साधारण मनुष्यको विशेष अधिकार या ओहदा प्राप्त होनेसे, बहुत धन मिलनेसे, उत्तम स्त्री आदि मिलनेसे, बहुतही घमंड करता है, किसीकी भी पर्वाह नहीं करता और उन्मत्त होकर ऐसे प्रमाद करता है कि, उनसे उस का अधःपात हि होता है। इसी तरह अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे, ओहदे परसे उतारनेसे, धनका नाश होनेसे, स्त्री आदि का साहचर्य नष्ट होनेसे अथवा कोई सांसारिक आपत्ति उत्पन्न होनेसे ऐसा दुःख करने लगता है कि, उस दुःखके कारण उसकी बुद्धि निकम्मी हो जाती है। इस प्रकारके मनुष्य सुख प्राप्त होनेपर अथवा दुःख प्राप्त होनेपर किसी कामके नहीं रहते और इनका जीवन व्यर्थसा होता है। अनुकूल परिस्थितिमें अत्यधिक घमंड होनेके कारण और प्रतिकूल परिस्थितिमें खेद होनेके कारण उनका मन कोईभी शुभ कर्म करनेयोग्य स्थिर नहीं रहता।

कोई मनुष्य राजकार्य करता है, प्रजाके उद्धार में दत्तचित्त होता है, इसको राजपुरुष कष्ट देते हैं। यदि इन कष्टोंके प्राप्त होनेपर वह हताश और निरुत्साह बनेगा, तो उससे कोई नहीं कार्य बन सकता। अतः मन ऐसा बनना चाहिये कि जो समयपर फूलोंसे भी मृदु हो और दूसरे समयपर वज्रसे भी कठोर हो परंतु परिस्थितिके दबावसे न दब जावे। जैसा पर्वत मृगजलके पूरसे नहीं बहता, न वायुके वेगसे उडता है, मेघोंसे वृष्टी होनेपर भी अढळ और स्थिर रहता है, उस प्रकार वह स्थिर रहे।

दुष्ट लोग जब अधिकारपर चढते हैं तब वे सज्जनोंको कष्ट देते हैं, मारते हैं, पीटते हैं, अनंत दुःख देते हैं। ये दुःख शरीरको होंगे हि। ऐसी कोई बात नहीं है कि महात्माके शरीरपर ताडन

करनेसे उनको दुःख नहीं होता। ताडनसे, भूखसे या अन्य कष्टसे दुःख होना शरीर धर्महि है। साधारण मनुष्य इन दुःखोंके वशमें हो जाता है इसलिये असमर्थ बनता है। परंतु श्रेष्ठ मनुष्य शरीरको यातनाके दुःख होनेकी अवस्थामें भी अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होता। शत्रु उसे ताडन करें अथवा मित्र उसे सुख देवें, उसका शरीर सुखमें रहे या क्लेशमें रहे, उसका मन सदा समवृत्तिसे युक्त और शांत होता है।

जो परिस्थितिके दबावसे नहीं दबता, परंतु अपने मनको परिस्थितिसे ऊंचा ऊठाकर उच्च स्थितिमें रखता है, वही स्थिरबुद्धिवाला है। जो स्थिरबुद्धि होता है वही मूढ नहीं बनता। जो परिस्थितिके दबावसे दबता है वही मूढ है। उसका निजी मत कुछभी नहीं होता है। उस मूढ की बुद्धि संसारके प्रभावसे बहती चली जाती है। बाहरके दुःखसे दुःखी और बाहरके सुखसे सुखी होना ही संसारके प्रवाहसे बह जाना है। ऐसे प्रवाहसे बह आनेवाले लोग किसी कामके नहीं होते। महा प्रवाहमें गिरनेपर भी जो अपने बलसे परले पार हो जाते हैं वेहि स्थिर बुद्धिवाले कहे जाते हैं। येही जगद्वंद्य होते हैं और ऐसेहि श्रेष्ठ लोग शककर्ता होते हैं। इनकी तुलना करनेसे बडा बोध प्राप्त होता है, अतः यहां तुलनाका कोष्टक दिया जाता है।

ब्रह्मज्ञानी	संमूढ
प्रियं प्राप्य न प्रहृष्यति	प्रियं प्राप्य हर्षति
(प्रियसे हर्षित नहीं होता)	(प्रियसे हर्षित होता है)
अप्रियं प्राप्य नोद्विजति	अप्रियं प्राप्य उद्विजति।
(अप्रियसे खिन्न नहीं होता)	(अप्रियसे खिन्न होता है)
असंमूढः।	संमूढः।
(मूढ नहीं बनता)	(मूढ बनता है)
स्थिरबुद्धिः।	चंचलबुद्धिः।
(स्थिर होता है)	(चंचल होता है)
भोगेषु असक्तः।	भोगेषु सक्तः।
(भोगोंमें सक्त नहीं होता)	(भोगोंमें रमता है)
आत्मनि सुखं विन्दति।	बाह्यभोगेषु सुखं विन्दति।
(आत्मामेंहि सुख प्राप्त होता है)	(भोगोंसे सुख लेता है)
अक्षयं सुखं अश्नुते।	किंचित् सुखं किंचित् दुःखं अश्नुते।
(अक्षय सुख मिलता है)	(कभी सुख कभी दुःख अनुभवता है)

इस तरह संसारी और ब्रह्मज्ञानीका स्वरूप होता है। पाठक यहां यह न समझें की ब्रह्मज्ञानी मनुष्य संसारमें विजयी नहीं हो सकता। वस्तुतः वह संसारमें विजय प्राप्त करता हुआ परमार्थका भी साधन कर सकता है। संसारी करके जो वर्णन ऊपर दिया है वह सर्वसाधारण मूढ मनुष्य है। संसारमें विजयी होकर रहनेके लिये भी स्थिरबुद्धि और अनासक्त ही बनना चाहिये। अर्थात् ब्रह्मज्ञानीका जो वर्णन ऊपर दिया है, वह संसारके प्रवाहके साथ बहता नहीं, परंतु संसारके प्रवाहको अपने पीछे लाता है, संसारके प्रवाह को अपने मतानुसार चलाता है। संसारपर प्रभुत्व प्राप्त करता है। संसारी मनुष्य संसारके प्रवाहका गुलाम होकर रहता है, परंतु ब्रह्मज्ञानी मनुष्य संसारको अपने आधीन रखता है। ब्रह्मज्ञानी संसारको अपना खेल बनाता है और संसारी जीव स्वयं संसारका खेल बनता है। पाठक यह भेद विचारसे ध्यानमें रखें और दोनोंकी योग्यता जाने।

अन्तःस्रोत।

मनुष्यकी आत्मामें आनंदका अखंड स्रोत है। मनुष्यकी बाह्यप्रवृत्ति हटगयी तो वह शुरू होता है। सर्वसाधारण मनुष्य मानता है कि बाहरके पदार्थ प्राप्त होनेसेहि सुख मिलता है। परंतु यह उसका भ्रम है। अनुभवके लिये देखिये कि मनुष्य स्वप्नमें सामान्यतः और गाढ निद्रामें विशेषतः जिस सुखका अनुभव करता है वह

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! ये हि संस्पर्शजाः भोगाः ते दुःखयोनयः आद्यन्तवन्तः एव तेषु बुधः न रमते ॥२२॥

हे कुन्तीपुत्र! जो उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होनेवाले भोग हैं, वे दुःखके कारण हैं, और वे आदि अन्तवाले अर्थात् उत्पन्न हो कर नाश होनेवाले हैं, अतः इनमें ज्ञानी नहीं रमते हैं ॥२२॥

भावार्थ— विषयोंका इंद्रियोंके साथ उत्तम स्पर्श होनेसे जो सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है, वह निःसन्देह दुःखका कारण है। और वह सुख उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होनेवाला है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य उन भोगोंमें नहीं रमते हैं ॥२२॥

किसी भी बाह्य पदार्थ के कारण नहीं होता, प्रत्युत वह अंदर ही अन्दर उसको मिलता है। प्रत्येक मनुष्य इस सुखका अनुभव प्रतिदिन लेता है। जबतक बाह्य भोगोंमें मनुष्य रत होता है, तब तक यह अखंड आनंदका अन्तःस्रोत बंद रहता है। जैसी जैसी बाह्य भोगोंपर की इसकी प्रवृत्ति हट जाती है, वैसा वैसा यह अपने आत्मा के सुखके अखंड स्रोतका अनुभव करने लगता है। अतः कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा आत्मनि सुखं विन्दति।
(गी० ५।२१)

"बाह्य भोगोंपर आसक्त न होनेसे अपने आत्मामें हि एक विलक्षण सुख है इस बातका अनुभव होता है।" यहि सुख मनुष्य को प्राप्त करना चाहिये। यह सुख अन्दर है, अन्तर्मुख होनेसे हि यह प्राप्त होता है। बाह्य भोग क्षणभंगुर हैं। क्षणभंगुर भोगोंसे प्राप्त होनेवाला सुख भी क्षणभंगुर ही होगा। क्षणभंगुर सुख क्षणभर रहकर फिर नष्ट होता है। इससे क्या लाभ होगा? मनुष्यको तो अक्षय सुख की लालसा है। वह कभी बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकता।

देखिये जल पीनेसे सुख होता है, परंतु तृषा लगनी चाहिये और उत्तम जल भी चाहिये। अच्छा तृषाभी लगी और जल भी मिला, तो भी थोडासा जल पीतेहि तृषा शांत हो जाती है। और जब तृषा शांत होगी तब उस जलसे कोई सुख नहीं होगा। इसी तरह सब बाह्य भोगोंकी बात है। एक क्षणमें जो भोग सुख देंगे, वेही भोग दूसरे क्षणमें सुख नहीं दे सकते। ऐसे अनिश्चित परिणामोंपर जो विश्वास रखेंगे, वेही भ्रांत और मूढ पुरुष हैं।

वस्तुतः बाह्य भोगोंमें कोई सुख नहीं होता है। सब सुख अन्दर ही अन्दर है। तृषा लगतेहि मानव की प्रवृत्ति जलकी ओर होती है, जल मिलते हि उसकी बहिःप्रवृत्ति हटती है, उस समय उसकी वृत्ति स्वरूपमें अर्थात् अपने आत्मा में होती है, वही अन्तर्मुख वृत्ति है। और वृत्ति अन्तर्मुख होतेहि सुख होता है। कोई बाह्यविषय किसीको सुख देता है ऐसा मानना मूढतासे हि हो सकता है। मनुष्य को सर्वदा जो सुख होता है वह उसको अपने आत्मासे हि प्राप्त होता है। यही अक्षय सुख है। ऐसा होते हुए सब संसारी जीव भोगोंके संग्रहमें लगे रहते हैं, यही एक इस जगत् में आश्चर्य है। यही मूढता है और यही भ्रम है।

ब्रह्मयोग।

मनको प्रवृत्ति अन्तर्मुख करनी और बाह्य प्रवृत्ति को हटानाही ब्रह्मयोग है। सर्वत्र ब्रह्म है, सर्व जगत् ब्रह्ममय है ऐसा अनुभव करना, वह ब्रह्म अपने अन्दर है यह जानकर उसके साथ अपने आत्माका योग करनेका नाम ब्रह्मयोग है। 'ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा' बनना चाहिये। ब्रह्मके साथ अपने आत्माका निरंतर योग करनेसे और उस ब्रह्मकी कभी विस्मृति न होनेसे निरंतर ब्रह्मपरायणता साध्य होती है। जैसा संसारी जीव सदासर्वदा संसार का विचार करता है, वैसाही ब्रह्मज्ञानी महात्मा सदा सर्वदा ब्रह्मपरायण होता है। जो ब्रह्मपरायण होता है वह ब्रह्म बनकर अक्षय सुख प्राप्त करता है।

ब्रह्मपरायण होनेवाला ज्ञानी कभी सांसारिक भोगोंमें नहीं फंसता, क्यों कि उसकी दृष्टीसे सांसारिक भोग तुच्छ होते हैं। यही बात आगेके श्लोकमें कहा है—

(२२) सब भोग 'संस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले' हैं। स्पर्श के कई भेद हैं। स्पर्श, संस्पर्श किंवा सुस्पर्श, कुस्पर्श ये स्पर्शका विचार करनेके समय विचारमें लेना योग्य है। स्पर्श शब्द सामान्य संबंध का वाचकहै। बुरे दुखदायी स्पर्शको कुस्पर्श कहते हैं और उत्तम सुखदायी स्पर्शको संस्पर्श किंवा सुस्पर्श कहते हैं। बुरे स्पर्श अर्थात् कुस्पर्श का विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्यों कि कोई मनुष्य कुस्पर्शके विषयमें फंसता नहीं। जहांसे कुस्पर्श होता है वहांसे वह भाग जाता है। मनुष्य जो फंसते हैं वे सुस्पर्श अथवा संस्पर्शमें हि फंसते हैं, अतः यहां कहा है कि जो भोग इस उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होते हैं और उनसे जिस सुखका अनुभव होता है ऐसा लोग मानते हैं, वह सुख सच्चा सुख नहीं है, प्रत्युत वह सुख दुःख बढानेवाला है। अतः उन भोगोंमें फंसना योग्य नहीं है। ये भोग आदि-अन्तवाले होते हैं, अर्थात् ये एक समयमें उत्पन्न होते हैं और दूसरे समयमें विनाशको प्राप्त होते हैं। अतः ये क्षणभंगुर हैं इसलिये अस्थायी सुखमें फंसना किसी को योग्य नहीं है। इसी कारण ज्ञानी लोग भोगोंमें नहीं फंसते। यह इस श्लोक का आशय है, इसका विशेष विचार करना चाहिये—

सुस्पर्शसे सुख कैसा प्राप्त होता है, इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्यको है। जिस समय शीत लगता है, उस समय गर्म कपडोंका उष्ण स्पर्श सुखदायी प्रतीत होता है, परंतु यह उष्ण स्पर्श तबतक ही सुखदायक होता है कि जबतक शीत की बाधा होती रहती है। जिस क्षणमें शीतबाधा हट गयी उसी क्षण उष्ण स्पर्शसे होनेवाला सुख भी हट जाता है, इसी कारण कहा है कि यह संस्पर्शसे होनेवाला सुख नाशवन्त है।

भूख लगनेकी अवस्थामें मधुर अन्नका स्पर्श सुख देता है, जबतक भूख रहती है, तबतक ही अन्नसे सुख होता है। जिस समय भूख दूर होती है उसी समय अन्नसे सुख होना भी दूर होता है। इसी तरह सब प्रकारके सुस्पर्शसे होनेवाले सुखके विषयमें समझना योग्य है। इस विचारसे इस बातका पता लगेगा कि केवल उत्तम स्पर्शसे भी सुख नहीं होता, परंतु उस स्पर्शकी वासना अपने अन्दर उत्पन्न होनी चाहिये। वासना के विना कितनाभी उत्तम स्पर्श पास आगया तो उससे सुख नहीं होगा।

इस लिये ऐसा कहा जा सकता है कि अपने अन्दर इच्छा हो, तदनुकूल संस्पर्श हो, तब सुख प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं होता। इसी कारण यह संस्पर्शसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनित्य है। इच्छा न हो, अथवा विषय न हो, उसमें मन न हो तो सुख नहीं होता, इच्छा तृप्त होनेपर भी सुख नहीं होता, एक ही विषयका सतत सेवन करनेपर भी पहिले के समान आगे सुख नहीं होता। ऐसी इस संस्पर्शजन्य सुख की अवस्था है। इसी लिये कहा है कि यह संस्पर्शसे होनेवाला सुख

(११) कामक्रोध-वेगको सहना ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

अन्वयः— इह एव शरीरविमोक्षणात् प्राक्, यः कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं शक्नोति, सः नरः युक्तः, सः सुखी भवति ॥२२॥

इस संसारमें हि शरीर के नाश होनेसे पहिले, जो काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सहन करने में समर्थ होता है, वही मनुष्य योगी है और वही सुखी होता है ॥२३॥

भावार्थ- मनुष्य इस लोकमें रहता हुआ, शरीरका नाश होनेके पूर्व अर्थात् जबतक शरीर है तब तक ही काम और क्रोधके वेग को सहे, उन वेगके वशमें न होवे; परंतु वह वेग आनेपर भी अपने आपको अचल रखे। जो इस वेगको जीतेगा वही सुखी होगा। इन वेगोंको जीतनाही योग है ॥२३॥

उत्पन्न होकर नाश होनेवाला, अत एव अनित्य है। अतः इस अनित्य सुख के पीछे कोई न जावे और नित्य सुखकी प्राप्ति के लिये हि सब का यत्न होता रहे।

यदि ये विषयोंसे प्राप्त होनेवाले भोगसुख अनित्य हैं तो नित्य सुख कौनसा है? यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है, इस विषयमें इसी श्लोकसे निर्णय हो सकता है। देखिये—

अनित्य सुख	नित्य सुख
संस्पर्शज भोग	स्पर्शरहित भोग
विषयसुख	निर्विषयसुख
दुःखयोनि	सुखयोनि
आद्यन्तवन्त	अनाद्यनंत
अनित्य	नित्य
बुधः न रमते	बुधः रमते
अज्ञः रमते	अज्ञः अनधिकारी

इस कोष्टक से पता लग सकता है कि सुख दो प्रकारके हैं,एक विषयोंसे प्राप्त होनेवाला और दूसरा विषयोंको छोड कर अपने हि आत्मा में प्राप्त होनेवाला, अपने आत्मा में आत्मासे हि होनेवाला सुख। विषयोंकी संगतिसे प्राप्त होनेवाला सुख विषयोंके आधीन होनेसे खंडित है और अपने आत्मामें हि मिलनेवाला सुख दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा न रखनेके कारण अखंड सुख है। विषयसुख दुःख उत्पन्न करता है और आत्मसुख किसी प्रकार दुःखका हेतु नहीं बन सकता। अज्ञ लोग बाह्य विषयोंके सुखमें फंसते हैं, परंतु ज्ञानी मनुष्य आत्मासे मिलनेवाले अखंड सुखका अखंड अनुभव लेते हैं और निजानन्दमें मस्त होते हैं।

विषयोंसे प्राप्त होनेवाला सुखदुःखका मूल कैसा है, इस विषयमें थोडासा विवेचन करना यहां आवश्यक है। पाठक यहां देखें कि योग्य खानपानके सेवनसे सुख होता है, यह सुख बाह्य विषयसे प्राप्त होनेवाला है। इस सुखकी लालसा के कारण जिह्वा रसास्वाद लेनेमें अधिकाधिक आसक्त होती है, मुझे फलाणे रसवाले पदार्थ अधिक मिलें इस इच्छासे यह मनुष्य उन रसील पदार्थोंका अत्यधिक संग्रह करनेका यत्न करता है। दूसरोंको ये पदार्थ न मिलें और मुझे हि केवल

मिलें इस स्वार्थबुद्धिसे वह दूसरोंको उन विषयों से दूर रखता है, अतः द्वेष बढता है और इस प्रकारके द्वेषसे अनंत कलह होते हैं और कलहसे दुःख बढते हैं। इस कलहाग्निमें जैसी व्यक्तिकी वैसीहि समाजकी बहुत हानि होती है। इसी तरह अन्यान्य विषयोंके भोगोंकी लालसा बढ जानेके कारण अन्त में दुःख बढते हैं। इसलिये कहा है कि ज्ञानी लोग ऐसे विषयभोगोंमें नहीं फंसते। अतः सब लोगोंको योग्य है कि वे इस प्रकारके विषयभोगों में न फंसे और आत्मामें स्वयं प्राप्त होनेवाले निर्विषय सुख को प्राप्त करनेका यत्न करें। इस अखंड सुख को प्राप्त करनेका यत्न कैसा करना चाहिये इस विषयमें आगेके श्लोक में एक युक्ति कही है, वह अब देखिये—

(२३) इससे पूर्व दो प्रकारके योग कहे हैं। (१) कर्ममें कुशलता [२।५०] और (२) द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव [२।४८] ये दो योग हैं, तीसरा योग इस श्लोकमें कहा है- (३) कामक्रोधों के वेगोंको सहना [५।२३] यह भी बडाभारी योग है। इस योगके आचरणसे मनुष्यको सच्चा स्थायी सुख प्राप्त होता है। कर्म-कौशल रूप योगसे उत्तम कर्म बनते हैं, द्वन्द्वविषयक समभावरूप योगसे द्वन्द्वोंसे कष्ट नहीं होता, और कामक्रोध-वेग सहनेसे अपना बल बढता है। ये तीनों योग बहुतही महत्त्वके हैं और साधक को निःसन्देह उन्नति करनेवाले हैं।

कामका वेग और क्रोधका वेग ये बडे भारी वेग हैं। विश्वामित्र बडी भारी तपस्या करता था। परंतु एक दिन मेनका नामक एक स्त्रीका दर्शन होतेहि उसके मनमें कामका वेग ऐसा बढ गया कि अन्तमें वह तपस्यासे भ्रष्ट हि हुआ। दूसरे शुकाचार्यभी बाल ब्रह्मचारी तपस्वी थे, उसको तपस्याका भंग करनेके लिये भी एक अप्सरा आयी थी। परंतु वे कामके वेगको सहने-वाले थे, अतः कामवेग उस शुकाचार्यजीके मनको कंपायमान नहीं कर सका। यह मनोबल का भेद है। विश्वामित्र का मन कामवेग सहन करनेमें समर्थ हुआ। कदाचित् यहां ऐसाभी कहना संभव है कि शुकाचार्यके मनमें काम उत्पन्न ही नहीं हुआ और विश्वामित्रके मन को कामवेगने बहा दिया। कामके वेगको सहनेकी अपेक्षा मन में काम की उत्पत्तिहि नहीं हुई तो वह स्थिति बडीहि उच्च है इसमें संदेह हि नहीं। अस्तु। इन दो उदाहरणोंसे पाठकोंके मनमें कामके वेग को सहने और न सहने का आशय स्थिर हो सकता है। कामके वेगको न सहनेवाले हि प्रायः सब संसारी मनुष्य होते हैं। मनकी निर्बलताके कारण इनका कमजोर मन कामके वेगसे कंपाय-मान होता है, मानो जलप्रवाहमें पडे हुए पत्तेके समान वह वेगके साथ बहता चला जाता है। इस प्रकारके कामप्रवाहके साथ बहनेवाले मनको कदापि स्थिरता और शान्ति प्राप्त नहीं होती। वह सदा अशान्तिसे तडफता रहता है।

कितना भी वायुका वेग हुआ तो भी पर्वत स्थिर रहता है, क्योंकि वह प्रबल वायुवेगको सह सकता है, परंतु थोडासा वायु वृक्षों के पत्तोंको हिलाता है क्यों कि वे वायुवेगको नहीं सह सकते। इससे स्पष्ट है कि शत्रुका वेग सहनेके लिये अपने अन्दर विशेष शक्ति चाहिये और शत्रुके वेगसे उखड जाने के लिये अपनी निर्बलताही कारण हो सकती है।

वेदमें 'सहमान और असह्य' ये दो शब्द इसी अर्थ के संबंधमें विशेष मनन करने योग्य हैं। 'सहमान' का अर्थ शत्रुके वेग को सहन करके अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला, और 'असह्य' का अर्थ जिसका वेग शत्रुको असह्य होता है। ये दोनों शब्द अपने सामर्थ्य के द्योतक हैं। यही भाव 'कामक्रोधके वेगको सहने का है।' कामक्रोधके वेग को सहनेका अर्थ उनसे अपनी शक्ति अधिक करना और उनको अपने वशमें करना है। अपनी शक्ति अधिक करनेसेहि शत्रु अपने आधीन हो सकता है और अपनी शक्ति कम

होनेसे शत्रुका अधिकार अपने ऊपर होगा।

"जो मनुष्य इसी देहमें, इसी जन्ममें, अर्थात् मृत्युके पूर्व कामक्रोध के वेग को सह सकता है, अर्थात् कामको और क्रोधको अपने वशमें करता है, अपने ऊपर उसका शासन होने नहीं देता, वही योगी और वही सुखी है।"

कामका हमला हुआ और यदि मनुष्यका मन निर्बल हुआ, तो मनपर कामका प्रभुत्व होता है, इससे सब शरीर में एक प्रकार की विलक्षण हलचल शुरू होती है, इस हलचल का परिणाम वीर्यपर होता है। वीर्य पिघलता है, स्रवता है, और सब शरीर की कमजोरी होती है। मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है। इस तरह शारीरिक ओज और मस्तिष्क का बल क्षीण होता है। यदि वारंवार कामवेग के हमले शुरू हुए और प्रतिवार इसकी निर्बलता सिद्ध होने लगी तो आगे क्षय आदि बीमारियां होती हैं और अन्तमें मृत्यु के वश में वह मनुष्य जाता है।

इसी प्रकार क्रोधके वेग से शरीरमें रक्तके जीवनकण नष्ट होते हैं और रक्त निर्जीवसा बनता है, मस्तिष्कमें भ्रम होता है और यदि क्रोध का वेग बढ गया तो मनुष्य पागल या भ्रान्तसा बनता है। इस रीतिसे देखा जाय तो काम और क्रोध ये दोनों प्रबल शत्रु हैं अतः उनका वेग बढने नहीं देना चाहिये। अतः गीतामें अन्यत्र कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम्॥
गी० ३।३७

"रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध भोगोंसे तृप्त न होनेवाले और महापापी हैं। इनको तू अपने वैरी समझ।" ये शत्रु हैं ऐसा मान कर इनसे सदा सावधान रहना चाहिये। तथा—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥
गी० १६।१२

"कामी और क्रोधी लोग सैंकडों आशाओंके जालोंसे बद्ध होते हैं और अपने विषयभोगोंके लिये अन्यायपूर्वक अपने पास अधिकाधिक द्रव्य संचय करते हैं।" और इसी संचय के कारण मनुष्योंके समाजमें विविध क्लेश बढते हैं, अतः—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
गी० ५।२६

"जिन्होंने काम को और क्रोधको परास्त किया है, जिन्होंने अपने मनको स्वाधीन किया है और जिनको अपने आत्माका ज्ञान हुआ है, ऐसे संयमी यतियोंको सर्वत्र ब्रह्मही ब्रह्म अनुभव में आता है।" यह है काम और क्रोधको वश करनेका फल। तथा और देखिये—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
गी० १६।१६

"अनेक भ्रमोंमें पडे, मोहजालोंमें फंसे और कामभोगोंमें आसक्त जो होते हैं, वे अपवित्र नरक में गिरते हैं।"

इस तरह कामक्रोध में फंसने का परिणाम भयानक अधःपात होनेमें होता है और कामक्रोध का संयम करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। इस लिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह कामक्रोधोंके वेगको सहनेके योगका अभ्यास करे। इस योगका अभ्यास प्रत्येक दिन मनुष्य कर सकता है। रात्रीके सोनेके पूर्व एकान्तमें बैठकर अपने दैनिक जीवनका विचार मनुष्य करे और सोचे कि कामका वेग अथवा क्रोधका वेग कितने समय अपने ऊपर आगया, उस समयमें उस वेगसे बह गया अथवा मैंने उसको सहन किया। इसका विचार करके साधक परमेश्वरकी प्रार्थना करे कि इस वेगके सहनेका बल अपनेमें बढे और मुझे इस योगकी सिद्धि प्राप्त होवे। पुनः प्रातःकाल उठकर मनुष्य निश्चय करे

(१२) ब्रह्मनिर्वाण।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

अन्वयः— यः अन्तःसुखः, अन्तरारामः, तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव, सः योगी ब्रह्मभूतः ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति॥२४॥ क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधाः, यतात्मानः, सर्वभूतहिते रताः, ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते॥२५॥ कामक्रोधवियुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनां अभितः ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥२६॥

जिसे अन्दरसे सुख प्राप्त होता है, जिसके अन्दर शान्ति रहती है तथा जिसके अन्दर प्रकाश (ज्ञान) हुआ है, वह योगी स्वयं ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करता है ॥२४॥ जिनके सब पाप नष्ट हुए, जिनके सब सन्देह दूर हो चुके हैं, जिन्होंने अपना संयम किया है और जो सब प्राणिमात्रके हितमें लगे हुए हैं, वे अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्य ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करते हैं ॥२५॥ जिन्होंने काम का और क्रोध का त्याग किया है, जिन्होंने अपना संयम किया है, जिन्होंने अपने को पहचाना है, उन संयमीयों के लिये चारों ओर ब्रह्मकी शान्ति सदा रहती है ॥२६॥

भावार्थ— जिनको किसी बाह्य कारण के विना ही अन्दरहि अन्दरसे सुख प्राप्त होता है, जिनके अन्तःकरणमें अढळ शान्ति रहती है, जिनको अन्तर्यामी आत्माका ज्ञान हुआ है, जिनके सब पाप और सब सन्देह दूर हो चुके हैं, जिन्होंने अपना पूर्ण संयम किया है, तथा जो सब प्राणिमात्रोंके हितमें अपने आपको लगानेमें आनंद मानते हैं, जिन्होंने कामक्रोध का त्याग किया है, उन संयमी अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्यों को ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त होती है ॥२४—२६॥

कि आजके दिन मैं कामक्रोधके वेगको सहूंगा और उस वेगसे परास्त न होऊंगा। इस तरह आत्मपरीक्षा करनेसे मनुष्यमें यह बल बढ सकता है और इसका मन उक्त वेग सहनेमें समर्थ हो सकता है। यही इस योगकी सिद्धि है। इसी सिद्धिको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। इसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें देखिये—

(२४-२६) इन तीन श्लोकोंमें मनुष्यमात्रका अन्तिम ध्येय जो "ब्रह्मनिर्वाण" है, वह कौन प्राप्त कर सकते हैं, इस बातका वर्णन है। इन श्लोकोंके मननसे ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करनेवाले और ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्ति न करनेवाले, ऐसे

द्विविध जन होते हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इन दोनोंके स्वभाव कैसे होते हैं, इसका विचार अब देखिये—

ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करनेवाले	ब्रह्मनिर्वाण जिनको नहीं प्राप्त होता
(१) अन्तःसुखः– जिनको अपने अन्दरहि अन्दर सुख प्राप्त होता है।	(१) जिनको केवल बाह्य विषयोंसे हि सुख मिलता है, जो कि वास्तव में दुःखका हेतु है। (गी० ५।२२)
(२) अन्तरारामः– जिनके अन्तरात्मामें शान्ति स्थिर रहता है। जो निजानन्दसे आनन्दित होते हैं।	(२) जिनके अन्दर और बाहर सदा अशान्ति रहती है। जो दिनरात तडफते रहते हैं।
(३) अन्तर्ज्योतिः, विदितात्मा, ऋषिः— जिनके अन्दर प्रकाश है, आत्माका ज्ञान हुआ है। जिनके अन्तःस्फूर्तिमें सब सन्देह निवृत्त होते हैं। जो अतीन्द्रियार्थदर्शी हैं, ज्ञानी हैं।	(३) जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ, जिनको अन्तःस्फूर्ति नहीं होती, जिनको सांसारिक विद्या होनेपर भी आत्मज्ञान नहीं है, अथवा दोनों नहीं हैं।
(४) ब्रह्मभूतः– ब्रह्मके समान जो विशाल बना है।	(४) जिसके विचार संकुचित हैं, जिसकी दृष्टि विशाल नहीं है।
(५) क्षीणकल्मषाः— जो निष्पाप हैं।	(५) जो पाप करते हैं।
(६) छिन्नद्वैधः— जिनके संदेह और द्वैतभाव नष्ट हुए हैं।	(६) जो संदेहग्रस्त हैं, और जो द्वन्द्वोंमें फंसे रहते हैं।
(७) यतात्मा, यतचेताः यतिः— जिन्होंने अपना संयम किया है।	(७) जो स्वैर आचार करते हैं।
(८) सर्वभूतहितरत– सर्व प्राणिमात्रोंके हितमें तत्पर।	(८) दूसरोंका घातपात करके अपना सुख बढानेवाले।
(९) कामक्रोधवियुक्तः— जिन्होंने काम और क्रोधका त्याग किया है।	(९) कामी और क्रोधी।
(१०) ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति, लभते, अभितः वर्तते— ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त होती है, चारों ओर होती है।	(१०) सर्वदा अशान्त रहते हैं।

पाठक यदि इस कोष्टकका अच्छी प्रकार मनन करेंगे, तो उनको पता लगेगा कि, किस साधनसे कौन मनुष्य ब्रह्मकी शक्ति प्राप्त करते हैं। इस कोष्टकके मननसे जो ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्तिका साधन निश्चित होता है, वह निम्नलिखित है—

ब्रह्मनिर्वाण का साधन।

पाप का आचरण न करना, पापविचार दूर करना, ज्ञानप्राप्तिसे सब संदेह दूर करना, द्वन्द्वभाव दूर करना, झगडे फिसाद न करना, इंद्रियोंका, मनका और आत्माका संयम करना, इंद्रियों को अपने आधीन करना, स्वैराचार बन्द करना, कामक्रोध आदि अन्तःशत्रुओंका निरास करना, विषयलंपटता छोड देना, सब प्राणियोंका हित करनेमें आत्मसमर्पण करना, उदारचरित बनना, ये हैं साधन जिनसे ब्रह्मप्राप्ति होती है।

ये साधन करते रहनेसे मनुष्यकी एक एक शक्ति विकास को प्राप्त होती है। और साधनका महत्त्व उसे ज्ञात होता है। जब साधन विशेष अधिक होता है, तब निम्नलिखित अनुभव उसे प्राप्त होते हैं—

उसकी आत्मामें अन्दरहि अन्दर विना किसी बाह्य कारण के अपूर्व सुख और आनन्द होता है, यह अखंड आनंद होता है और किसी बाह्य कारणसे वह नष्ट नहीं होता। इसको सहजानन्द कहते हैं। जैसा आनंदयुक्त बालक का मुख प्रसन्न होता है वैसी उसकी वृत्ति सदा प्रसन्न होती है। आन्तरिक शान्ति रहती है, अगत्

(१३) सदा मुक्त ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

अन्वयः— यः मुनिः बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा, चक्षुः च एव भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा, प्राणापानौ च नासाभ्यन्तरचारिणौ समौ कृत्वा, यतेन्द्रियमनोबुद्धिः, विगतेच्छाभयक्रोधः, मोक्षपरायणः (स्यात्), सः सदा मुक्तः एव ॥२७-२८॥

जो मुनि बाह्य विषयोंको बाहर ही त्याग कर, दृष्टिको भृकुटी के बीच स्थिर करके, प्राण और अपान को नासिकाके अन्दर संचार करते हुए सम करके, इंद्रियां मन और बुद्धिको वशमें करके, इच्छा भय क्रोध से रहित होकर, जो मोक्षपरायण होता है, वही सदा मुक्त है ॥२७-२८॥

भावार्थ— जो मौनावलंबन करके बाह्य विषयोंको त्यागता है, दृष्टिको दोनों भौंहों के बीचमें स्थिर रखता है, प्राण और अपान की गतिको सम करता है, इन्द्रियां मन और बुद्धिको वशमें रखता है, इच्छा भय क्रोध को दूर रखता है और केवल ब्राह्मी शान्ति प्राप्त करनेमें तत्पर रहता है, वही सदा मुक्त होता है ॥२७-२८॥

का कोई कारण उसको अशान्त करनेमें असमर्थ होता है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अन्दर प्रकाश है, मैं अपने प्रकाशसे जगत् को प्रकाशित कर रहा हूं यह उसका अनुभव होता है। सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान उसको होता है। उसका मन विशाल होता है। संकुचित और संकीर्ण भाव उसमें कदापि नहीं होते। पापकी प्रवृत्ति उसकी हट जाती है, मैं अन्य जगत् से भिन्न हूं और जगत् परस्पर भिन्न है और वह मुझसे भिन्न है यह द्वैतभाव हट जाता है और द्वैत भाव के कारण उत्पन्न होनेवाले सब संदेह दूर होते हैं। सहज ही से संयम होता है, कभी मन विषयों की ओर दौडता ही नहीं। सब प्राणियोंका हित करना वह अपना कर्तव्य समझता है इतनाही नहीं परंतु सर्वभूतहित करनेसे हि उसको आनन्द होता है। सब भूत-सेवासे वह अपने आपको कृतकृत्य हुआ समझता है। सब भूतोंकी सेवा निष्काम भावसे करना उसकी प्रसन्नताका विषय होता है। वह न कभी काम विषय में लिपटता है और न क्रोध के वश होता है, तथा लोभ मोह मद मत्सर से भी वह दूर होता है।

ऐसे मनुष्य के चारों ओर ब्रह्मकी शान्ति सदा अटल रहती है। अर्थात् वह सदा ब्राह्मी शान्तिका अनुभव करता है। 'ब्रह्मनिर्वाण' का विशेष वर्णन चतुर्थ अध्याय के अन्त के विवरण में किया है, यह विषय पाठक वहां देखें। अस्तु। इस तरह ब्रह्म प्राप्तिका साधन और फल है। पाठक इसका अच्छी प्रकार मनन करें। यही विषय कुछ अन्य शब्दों द्वारा भगवान् पुनः कहते हैं, वह उपदेश अब देखिये-

(२७-२८) इन दो श्लोकों में सदा मुक्त

रहनेवालेके लक्षण और साधन बताये हैं। इन श्लोकोंका मनन करनेके लिये सदा मुक्त और सदा बद्धके लक्षणोंका विचार करना चाहिये। वह विचार निम्नलिखित कोष्टक में दिया है—

सदा मुक्त	सदा बद्ध।
(१) मुनिः- मौन धारण करता है, अल्प-भाषण करता है।	(१) बहुत बक् बक् करता है।
(२) स्पर्शान् बहिः कृत्वा- विषयभोगोंका बहिष्कार करता है।	(२) विषयभोगोंमें फंसता है।
(३) चक्षुःभ्रुवोः अंतरे कृत्वा- दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर करता है। दृष्टिको स्थिर करता है।	(३) दृष्टि चञ्चल रहती है।
(४) प्राणापानौ समौ कृत्वा- प्राण अपानोंकी गति सम करता है।	(४) प्राण अपानोंकी गति विषम होती है।
(५) यतेन्द्रियमनो-बुद्धिः-इंद्रियां मन और बुद्धिका संयम करता है।	(५) इंद्रियां, मन और बुद्धिको स्वैर छोडता है।
(६) विगतेच्छाभय-क्रोधः (गी. ५।२८); वीतरागभयक्रोधः- (गी. २।५६;४।१०) इच्छा भय और क्रोधका त्याग करता है।	(६) इच्छा भय और क्रोधसे युक्त होता है।
(७) मोक्षपरायणः- मुक्तिके मार्ग में तत्पर रहता है।	(७) मुक्त होनेका विचार हि नहीं करता, बंधनमें आनंदसे रहता है।

पाठक इस कोष्टक का विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मुक्तिका मार्ग कौनसा है और बंधनका मार्ग कौनसा है। जो बहुत बोलते हैं, व्यसनों में फंसते हैं, विषयोंके पीछे पडे रहते हैं, इंद्रियोंको स्वैराचारी बनाते हैं, वासनाओंके पीछे दौडते जाते हैं, क्रोधसे अन्धे हुए होते हैं, भविष्यके विषयमें डरते हैं, जो चञ्चल वृत्ति-वाले होते हैं, वे सब बंधनमें कष्ट सहते रहेंगे। जबतक उनके ये आचार रहेंगे तब तक उनकी बंधनसे निवृत्ति होनेकी आशा नहीं है।

परंतु जो मौनावलंबन करते हैं, अथवा अल्प भाषण करते हैं, विषयभोगोंको दूर रखते हैं, दृष्टि स्थिर करते हैं, इंद्रियोंका संयम करते हैं, वासना, भय और क्रोध को दूर रखते हैं, अपने बंधन को दूर करनेका उद्योग करनेमें तत्पर होते हैं, वे मुक्त होते हैं।

साधारणतः बंध और मुक्त होनेका हेतु यह है। अब इसका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये। पहिली बात मौन की है। मुनि बनना चाहिये। जो मौन धारण करता है, उसको मुनि कहते हैं। अथवा अल्प भाषण करनेवालों को भी मुनि कहा जाता है। भाषण द्वारा मनुष्यकी बहु-तसी शक्ति क्षीण होती है। शब्दोच्चारणमें बडी शक्ति लगती है। यदि ये शब्द अच्छे हुए तो उन से परिणाम उत्तम होने के कारण, उस भाषण के लिये हुए शक्ति-क्षय का शोक करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। परंतु यदि भाषणमें बुरे हीन विचारही प्रकट हुए तो उनसे सुननेवालोंका भी अधःपात होनेकी संभावना होनेके कारण, उस भाषण में जो शक्ति खर्च हुइ, वह न केवल व्यर्थ गयी अपितु हानिकारक भी बनी। इसलिये मुनि लोग मौनावलंबन करते हैं, अथवा जितना कम बोला जाय उतना कम बोलते हैं और जब बोलते हैं तब शिवसंकल्पयुक्त ही बोलते हैं। इस लिये उनके उच्चारे हुए शब्दोंके अनुकूल बात बन जाती है।

चित्तकी एकाग्रता करनेके लिये 'मौन' धारण करना एक बडा भारी साधन है। इससे बुरे विचार हटते हैं और चित्त स्थिर होने लगता है। जो व्यवहार में पडे हैं वे यदि सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करेंगे, तो भी उनको लाभ होगा। परंतु साल दो साल जो मौन धारण करेंगे उनको बहुत लाभ होगा। उत्तम मौन तो वह है कि

जिसमें दूसरोंके प्रश्नोंका किसी शब्दसे, चिन्हसे या चेष्टासे उत्तर देनेका यत्न न हो। जिसमें लेखद्वारा या चिह्नद्वारा उत्तर दिया जाता है वह मौन रूपयेमें दो आने लाभ करेगा। अस्तु। यहां इतनाही बताना है कि मौन एक उत्तम साधन है, जिससे आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है। इससे अपने आत्माकी शक्ति आत्मामें संग्रहित होती है। बहुत बोलनेवालेकी शक्ति व्यर्थ चली जाती है।

दूसरा मोक्षका साधन विषयभोगोंपर बहिष्कार है। इंद्रियोंके विषयभोग निश्चित हैं। उन विषयभोगोंमें पडनेसे भी मनुष्यकी शक्ति क्षीण होती है। इस शक्तिके क्षयसे बचनेके लियेहि यह संयमका साधन है। स्पर्शका अर्थ विषयोंसे स्पर्श है। नेत्रका विषय रूप है अतः सुन्दर रूपका भोग नेत्रद्वारा होता है और इस उपभोगमें मनुष्यकी शक्तिका बहुत क्षय होता है। परंतु यह क्षयकी परंपरा इससे भी दूरतक चली जाती है। जब मनुष्य सुंदर रूपमें मोहित होता है, उस सौंदर्यभोगमें बड़ा आसक्त होता है, तब उसके केवल नेत्र इंद्रियकी शक्ति ही नष्ट होती है ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत उस उपभोगके साथ जिन दूसरे इंद्रियोंका संबंध आता है, उन सब इंद्रियोंकी शक्ति भी कम होती है। यहां तक की सौन्दर्यके पीछे पडे हुए मनुष्यका वीर्यनाश होकर उससे शरीरका भी नाश होता है। इसी तरह जिह्वाके रसभोगमें आसक्त मनुष्यका पेट खराब होता है, कब्जी होती है और अन्तमें शरीर क्षीण होकर मृत्यु होती है। इसी प्रकार अन्यान्य भोगोंके विषयमें भी समझना उचित है। इसलिये धर्मानुकूल विषयसेवन जहांतक हो वहांतक अल्प करना योग्य है और अपने आपको क्षयसे बचाना भी योग्य है।

इसी साधनके साथ संबंध रखनेवाला साधन इंद्रियसंयम है, जिसमें इंद्रिय, मन और बुद्धिका संयम करना होता है। बुद्धिका संयम सुविचारमें बुद्धिको रखना और दुष्ट विचारसे हटानेसे होता है, मनभी सत्कर्ममें लगाना और दुष्ट कर्मसे दूर रखना योग्य है। इंद्रियोंके संयमके विषयमें भी वही बात है। इस संयमसे अपनी शक्ति सुस्थिर रहती है, बढती है, और आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है।

इसके साथ वासना अथवा इच्छाका त्याग करनेका साधन है। इच्छा, भय और क्रोध का त्याग करना चाहिये। क्रोधसे जो हानि होती है उसका वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। रक्तके जीवनकण क्रोधसे नाश होते हैं, अतः क्रोधको जीतनेसे वेहि जिवनकण सुरक्षित रहते हैं, जिनसे जीवन का आधार स्थिर होता है। क्रोध न करनेसे यह प्रत्यक्ष लाभ है। क्रोध के समय संपूर्ण शरीर के रक्त में एक प्रकारके आघात शुरू होते हैं, जिनसे मस्तिक बिगडता है, विवेक का नाश होता है, स्मृति दूर होती है और मनुष्य पागलसा बनता है। इस समय क्रोधी मनुष्य अनुचित कर्म भी करता है। यह सब क्रोधसे अनर्थ होता है। अतः क्रोध को दूर रखनेसे मनुष्य इन अनर्थोंसे बचता है।

भोग और कामक्रोध के कारण मनुष्य जो कुछ बुरा भला करता है, उसके परिणामसे वह भयभीत होता है, डरता है। आगे परिणाम मेरे प्रतिकूल होगा, ऐसा उसका मन गवाही देता रहता है। इस कारण ऐसा कोई कर्म करना मनुष्य को उचित नहीं है कि जिस कारण ऐसा डरना उसको आगे आवश्यक होवे। इसका आशय यह है कि यदि डर हटाना है तो सब प्रकारके बुरे विचार, बुरे उच्चार और बुरे आचारोंसे दूर रहना चाहिये।

इच्छा, वासना ये सब भोगप्राप्तिके विषयमें होती हैं। मुझे भोग चाहिये और हर प्रयत्न करके मैं भोग भोगूंगा। इस वासना से मनुष्य प्रेरित होकर समय समयपर भयानक कर्म करता है। इन से कुछ समय उसको कुछ भोग प्राप्त भी हुए,

तथापि अन्तमें उस भोगवासना के इतने भयानक बुरे परिणाम होते हैं कि उन का दुःख न केवल कर्ताको परंतु उनके अनेक वंशजों को भी भोगना पडता है। इसलिये मोक्षपरायण मनुष्यको उचित है कि वह इच्छा को दूर करे और निरिच्छ रहे।

यह सब साधन मोक्षप्राप्तिके लिये, 'सदा मुक्त' होनेके लिये कहे हैं। इसके साथ 'मोक्ष-परायण' होना भी अत्यंत आवश्यक है। मोक्ष-परायण का अर्थ मोक्षतत्पर, जिन साधनोंसे अपने सब बंधन दूर होंगे, उन का अवलंबन करनेवाला, अपने मोक्ष का ही ध्यान करनेवाला। यह गुण आतुरता दर्शाता है।

ये सब साधन 'सदा मुक्त' होने के हैं। 'सदा मुक्त' का अर्थ इस जीवित दशामें भी जो मुक्त होता है। कई मानते हैं कि शरीर रहने तक मुक्ति नहीं होती। इस पक्षवालोंके मत का इन श्लोकोंने अच्छी प्रकार खंडन किया है और कहा है कि मनुष्य इसी जीवन में 'सदा मुक्त' हो सकता है और इसके साधन ये हैं।

इन श्लोकोंमें और दो साधनों का उल्लेख है, जिनका विचार हमने अभीतक नहीं किया। उनमें से एक 'भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थिर करना' है और दूसरा 'प्राणापानोंको नासाभ्यंतर संचारी करके सम करना' है। इन दो साधनोंका संबंध जैसा शरीरके साथ है वैसा मन आदि सूक्ष्म शक्तियोंके साथ भी है। अतः इन का विशेष विचार करना चाहिये।

(चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा) दृष्टि भौंहोंके बीचमें स्थिर रखना चाहिये। दोनों भौंहोंके मध्यमें दृष्टि रखनेसे एक प्रकार की मूर्छासी आजाती है। मूर्छा होने तक यह अभ्यास कोई न करें। गुरु के सन्निध रहनेका जिनको सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जितना चाहे उतना अभ्यास करें, परंतु अन्य असहाय्य मनुष्य मूर्छना तक अभ्यास न बढावें। भ्रूमध्यमें दृष्टि रखनेसे प्रथमावस्थामें बहुतसे दृष्टिदोष दूर होते हैं। जिनको समीपका दीखता नहीं, उनको समीपका ठीक प्रकार दीखने लगता है। इसके अतिरिक्त दूसरा यह लाभ है कि चित्तकी स्थिरता होती है। परंतु कई लोग मस्तिष्क के निर्बल होते हैं, उनको भ्रूमध्यमें दृष्टि रखने से शिरोवेदना शुरू होती है और वे अधिक अभ्यास नहीं कर सकते। ऐसे निर्बल लोगोंको उचित है कि वे प्रथम मस्तिष्कका बल बढानेका उपाय करें। और पश्चात् भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करनेका अनुष्ठान करें। जिनको शिरोवेदना नहीं होती उनका मार्ग सरल होता है। इस दृष्टिका अभ्यास करनेवाले सूर्यदर्शन का अभ्यास करें, मंद सूर्यकी ओर १०।१५ मिनिट तक टकटकी लगानेसे सब दृष्टिदोष दूर होते हैं। शनैः शनैः यह अभ्यास १ मिनिटसे १५ मिनिट तक बढाया जावे। इस अभ्याससे दृष्टि निर्दोष होती है और भ्रूमध्य में स्थिरता करना सुगम हो जाता है। ब्रह्मका स्थान मस्तक है, इसको सहस्रार कमल कहते हैं, इस सहस्रार कमलमें ब्रह्मका स्थान है। भ्रूमध्यदृष्टिसे कुछ अभ्यासके पश्चात् प्रकाश-दर्शन होने लगता है। आगे उसी प्रकाशमें दृष्टि रखनेसे शनैः शनैः आगेके अनुभव होते हैं। इस तरह भ्रूमध्यदृष्टिसे अनेक लाभ होते हैं।

दूसरा साधन (प्राणापानौ नासाभ्यंतरचारिणौ समौ कृत्वा) प्राण और अपान नासिकामें संचार करनेवाले परंतु सम करनेसे होता है। यहां प्राण अपान शब्द श्वास उच्छ्वासका बोधक है। मनुष्यके श्वास उच्छ्वास नीरोग अवस्थामें करीब करीब सम रहते हैं और रोगी अवस्थामें विषम हो जाते हैं। उच्छ्वास कम हुआ तो शरीरसे मळ दूर नहीं होता और अधिक हुआ तो अशक्तता बढती है। परंतु श्वास और उच्छ्वास सम हुए तो शरीरका आयव्यय सम होनेसे शरीर की समावस्था देर तक रहती है। श्वास और उच्छ्वास पूर्ण हुए तो शौचशुद्धि होनेमें और अवष्टंभ हटनेमें सहायता होती है, जिससे आरोग्य बढता है। श्वास उच्छ्वास सम होनेसे

(१४) शान्तिकी प्राप्ति ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अन्वयः-- यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वभूतानां सुहृदं सर्वलोकमहेश्वरं मां ज्ञात्वा शान्तिं ऋच्छति ॥२९॥

यज्ञ और तपके भोक्ता, सब भूतोंके हित करनेवाले, सब लोगोंके महान् ईश्वर ऐसे मुझको जानकर मनुष्य शान्ति को प्राप्त होता है ॥२९॥

भावार्थ- जिस ईश्वरके लिये यज्ञ और तप किये जाते हैं, जो सब प्राणिमात्रका हित करता है, और जो सब विश्वका एकमात्र मुख्य-स्वामी है, उस को यथावत् जाननेसे मनुष्यको शांति प्राप्त होती है ॥२९॥

मनभी सम अवस्थामें रहने लगता है, क्यों कि प्राणका मनसे संबंध नित्य है।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।

'प्राण चंचल होनेसे चित्तकी चंचलता होती है और प्राण समवृत्ति होनेसे चित्त भी समवृत्ति होता है।" इसी कारण प्राणापान सम होनेसे मन स्थिर होता है। और मनका स्थिर होना एक बडा भारी साधन मोक्षकी प्राप्तिके लिये होता है।

पाठक सदा मुक्त होनेके इस साधन का अच्छी प्रकार मनन करें और इसको अपने आचरण में ढाल कर अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करें। क्यों कि यही एकमात्र मनुष्यजन्म का सार्थक है।

सदा मुक्त होनेका अर्थ अटल शान्ति प्राप्त करना है। इस शांतिकी प्राप्ति कैसी होती है यह विषय अगले श्लोकमें कहा है, वह महत्त्वका उपदेश अब ध्यानसे देखिये—

(२९) इस श्लोकमें शान्ति प्राप्त करने का उपाय कहा है। परमेश्वरका स्वरूप यथावत् जाननेसे मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है। परमात्माका और जीवात्माका स्वरूप वस्तुतः एक ही है, क्योंकि दोनों स्वरूपतः 'आत्मा' हैं। एक का बडापन और दूसरेका छोटापन अलग रखकर दोनोंका विचार किया जाय तो दोनोंका रूप एक ही प्रतीत होगा। परंतु इन दोनोंमें भेद भी है। वह भेद यह है कि, एक परमात्मा, परमेश्वर, सर्वभूतहितकर्ता है और दूसरा अल्प, अनीश, स्वार्थी है। यही भेद मुख्यतः दीखता है और विचारणीय भी है।

एकके पास सर्व अधिकार हैं और दूसरेके पास कुछभी अधिकार नहीं है। यह क्यों हुआ? इसका मनन करना चाहिये। जिसके हाथमें कुछ भी अधिकार नहीं है उसको उचित है कि वह अधिकारवालेके कर्तृत्वका मनन करे और स्वयं वैसा बननेका विचार करे। पुत्र अपने पिताका कर्तृत्व देखे, शिष्य अपने गुरुका गुरुत्व किसमें है, इसका विचार करे और उनके अनुसार बननेकी चेष्टा करे। ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेका यही हेतु है। इस गीतामें क्या और अन्य ग्रंथोंमें क्या ईश्वरके गुणोंका वर्णन जो किया है उसका हेतु यही है। साधक जीव उन परमेश्वरके गुणोंका मनन करे और स्वयं वैसा बननेका प्रयत्न करे।

पुत्र पिताके सदृश बन सकता है, शिष्य गुरुके समान विद्वान् हो सकता है, इसी तरह आत्मा परमात्मा हो सकता है। यदि साधक नर नारायण होना संभव न होगा, तो फिर उसको परमात्माके गुण जाननेकी आवश्यकता ही नहीं है। परंतु शास्त्रोंका सिद्धान्त तो यही है कि यह पुरुष पुरुषोत्तम हो सकता है। इसीलिये इस पुरुषके उद्धारके लिये पुरुषोत्तमके गुणोंका वर्णन किया जाता है। यह वर्णन पुरुष देखे और उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करे और प्रयत्नसे पुरुषोत्तम बने।

इस श्लोकमें इसी उद्देश्यसे ईश्वरके कुछ गुण कहे हैं। ईश्वर के गुण अनंत हैं। उन गुणोंका विस्तार बहुत है। यहां केवल सूचना मात्र थोडेसे गुण कहे हैं। इस श्लोकमें परमेश्वर-(१) यज्ञतपका भोक्ता, (२) सर्व भूतोंका सुहृत्, और (३) सर्व लोकोंका महेश्वर है, ये तीन ही गुण कहे हैं। परंतु इनसे दूसरे अनेक गुण सिद्ध होते हैं। देखिये—

" सर्वभूतानां सुहृत् ।"

"ईश्वर सब भूतोंका मित्र है।" सबका हित करनेवाला है। मित्र अथवा सुहृत् वह होता है कि जो सदा हित करनेवाला होता है। सुहृद उत्तम हृदयवाले को कहते हैं। किसी के विषय में उत्तम हृदयवाला होनेका अर्थ उसका उत्तम हित करना है। ईश्वर सब प्राणिमात्रोंका हित करता है, कोई प्राणी ईश्वरकी प्रार्थना करे या न करे, वह उसका उत्तम हित करता है। सब प्राणियों का हित करनेमें ईश्वर सदा तत्पर है। यही ईश्वरका ईश्वरत्व है। वह कभी किसी का बुरा करता ही नहीं। अतः उसको 'शं-कर' कहते हैं। वह सदा सब का कल्याण करता है।

सामान्य मनुष्य क्या करता है, यह तो सब को पता है। मनुष्य अपने हित करनेमें तत्पर रहता है, इतना ही नहीं, प्रत्युत दूसरोंका घातपात करके अपना सुख बढाना चाहता है। यहां साधारण मनुष्य और ईश्वर के गुणोंकी तुलना हो सकती है—

ईश्वर के गुण	सामान्य मनुष्यके गुण।
सर्व-भूत-सुहृत् ।	स्वहिततत्पर ।
सब भूतों का हितकर्ता ।	अपनाहि हित करनेका इच्छुक ।
अपनी शक्तिसे दूसरोंकी मुक्ति करनेवाला ।	दूसराको परतंत्र रखकर अपना स्वार्थ साधन करनेवाला।
सब का आनन्दवर्धक ।	अपना सुख बढानेका इच्छुक ।
परमार्थी	स्वार्थी
विश्वकुटुंबका हितकर्ता	अपने परिवारका हितैषी
सर्व भूत-हितके कारण अजातशत्रु	स्वार्थ के कारण सब दूसरोंकी शत्रुता करनेवाला ।

किन प्रशस्त गुणोंके कारण ईश्वरका सबपर प्रभुत्व हुआ है और किन दुष्ट गुणोंके कारण साधारण मनुष्य मनुष्यत्वसे भी गिरता है, उसका स्पष्टीकरण इस कोष्टकसे हो सकता है। मनुष्यको उचित है कि वह इन गुणोंका मनन करे, और अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये वह "सर्वभूतोंका सुहृत्" बननेका यत्न करता रहे। जितना उसका सुहृदत्व व्यापक होगा, उतना उसका प्रभुत्व सिद्ध होता जायगा। मनुष्यका उन्नतिका क्रम इस तरह होता रहता है। अपना हित, कुटुंबका हित, परिवारका हित, जातिका हित, राष्ट्रका हित, मानवजातिका हित, सब भूतमात्रका हित। यहां "अपनापन" बढता जाता है। जितना इसका 'अपनापन' विस्तृत होता है उतना इसमें प्रभुत्व स्थिर होता है। और जब यह 'सर्वभूतहितरत' होता है, तब वह ईश्वरके सदृश हो जाता है। सब प्राणियोंके हितके विषयमें समान भाव मनमें स्थिर होना यह एक विशेष उन्नतिकी स्थिति है।

सब प्राणियोंका हित हो जावे, इतनी इच्छा तो प्रायः सबमें होती है, परंतु जो मनुष्य अपना सर्वस्व प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है, वही श्रेष्ठ होता है। सब प्राणिमात्र वासुदेव स्वरूप हैं, और वासुदेवकी सच्ची प्रसन्नता प्राणिमात्रका हित करनेसे होती है, ऐसा जान कर जो अपनी शक्तिको सब प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है, उसीकी योग्यता श्रेष्ठ होती है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।
गी० १८।४६

"जो अपना कर्म है, उसके द्वारा सब प्राणिमात्रका हित करनेसे उस वासुदेवकी पूजा होती है। और इसीसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होती है।" उदाहरणके लिये देखिये। ब्राह्मण अपने ज्ञानसे सब भूतोंका हित करे, क्षत्रिय अपनी रक्षा द्वारा सब भूतोंका हित करे, वैश्य व्यापारसे सब भूतोंका हित करे और शूद्र अपनी कारीगरीसे सबका हित करे। इस तरह चारों वर्ण अपने अपने कर्मोंसे सब लोगोंका हित कर सकते हैं। साधारणतः इन कर्मोंका उपयोग अपने हित संवर्धनके लिये किया जाता है, वेही कर्म यदि सर्व भूतोंका हित करनेके लिये किये जायगे, तो वे कर्म मुक्तिके सहायक बन जांयगे और उनसे पुरुष सचमुच पुरुषोत्तम बनेगा।

पाठक विचार करके जान सकते हैं कि इस सर्वभूतहित की कसौटीसे अपना आचरण कैसा हो रहा है और कैसा होना चाहिये। मनुष्योंको उचित है कि वे अपने अन्दर सुहृद्भाव बढावें और द्वेषभाव कम करें। साधकको यही अभ्यास करना चाहिये।

"यज्ञतपसां भोक्ता।"

"ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता है।" उपासक यज्ञ करते हैं और परमेश्वरकी प्रीति होनेके लिये उसको समर्पित करते हैं। ऐसेहि तपस्वी लोग अपने तपको भी परमेश्वरार्पण करते हैं। उन यज्ञोंको और तपोंको स्वीकार करके ईश्वर उनपर संतुष्ट होता है। ईश्वरकी संतुष्टताका यही एकमात्र साधन है।

यहां यज्ञ क्या चीज है इसका विचार करना चाहिये। 'देव पूजा-संगति करण-दान' ये तीन यज्ञ के रूप हैं। जनतामें ज्ञानदेव, बलदेव, धनदेव और कर्मदेव ये चार प्रकारके देव हैं, इनको चार वर्ण कहा जाता है। इन चार वर्णोंमें जो देव होंगे उनका सत्कार करना, आपसमें संगतिकरण मित्रता अथवा संघटना करना, और दीनों को दान करना ये तीन भाग यज्ञके हैं। यज्ञमें ये तीन बातें अवश्य होनी चाहिये। ये न होनेकी अवस्थामें कोई कर्म यज्ञरूप हो नहीं सकता। इस प्रकारके यज्ञरूप कर्मसे परमेश्वर प्रसन्न होता है, ये ही यज्ञरूप कर्म परमेश्वर के पास स्वीकृत होते हैं। इन यज्ञरूप कर्मोंका ही परमेश्वर भोक्ता है।

तपका अर्थ शीतोष्ण सहन करना है। सत्कर्म करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको सहनेका नाम तप है। प्रत्येक कर्म करनेके लिये शीतोष्ण, हानिलाभ, जयापजय, भूखप्यास आदि सहन करनाही चाहिये। इस सहन करनेका ही नाम तप है। यह तप ईश्वरार्पणबुद्धिसे करना चाहिये, जिससे ईश्वर की प्रसन्नता होती है। देखिये—

ईश्वरकी प्रसन्नता	ईश्वरकी अप्रसन्नता
यज्ञ—	अयज्ञ—
यज्ञसे ईश्वरकी प्रसन्नता	यज्ञ न करनेसे अप्रसन्नता
सत्पुरुषोंके सत्कारसे	सत्पुरुषोंको कष्ट देनेसे
आपसकी संघटनासे	आपसके झगडोंसे
दीनोंकी सहायतासे	दीनोंको कष्ट देनेसे
तप—	अतप—
शीतोष्ण सहनेकी शक्ति बढानेसे	शीतोष्ण सहनेकी शक्ति न होनेसे

इस कोष्टकसे स्पष्ट हुआ कि यज्ञ और तपसे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है और इनके न होनेसे ईश्वर अप्रसन्न होता है। ईश्वर की प्रसन्नता का विचार अलग रखा जाय, और केवल मानवी-समाजके हितकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो पाठकोंको स्पष्ट होगा कि यज्ञ और तपसे समाजका हित होता है। देखिये यज्ञसे कैसा हित होता है। श्रेष्ठोंका सत्कार, आपसकी संघटना और दीनोंका उद्धार ये यज्ञके तीन भाग हैं। श्रेष्ठ सज्जनोंका सत्कार करनेसे वे समाजको सदुपदेश देते हैं और सन्मार्गपरसे समाजको चलाते हैं। आपस की संघटना करनेसे संघशक्ति बढती है और दीनोंकी सहायता करनेसे उनकी सामाजिक सुस्थिति उत्तम होनेके कारण वे भी समाजके लिये आत्मार्पण करते हैं। इस तरह संपूर्ण समाज और राष्ट्र यज्ञके द्वारा संजीवित, सुसंघटित और सबल होता है। यज्ञसे यह प्रत्यक्ष लाभ है। तपसेभी इसी तरह लाभ होता है। प्रत्येक कर्म करते समय जो कष्ट होंगे, उनको सहन करनेसे वह कर्म पूर्ण रीतिसे हो सकता है। तथा उसमें बलकी भी वृद्धि होती है। अस्तु। यज्ञ और तप से इस रीतिसे लाभ होता है। यह लाभ प्रत्यक्ष होनेके कारण इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

परमेश्वरकी प्रसन्नता भी उसीसे होगी जिससे संपूर्ण जनता का लाभ होगा, क्यों कि परमेश्वर का मुख, बाहू, उदर और पांव क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अर्थात् ज्ञानी, वीर, व्यापारी और कारीगर हैं; (ऋग्वेद १०।९०।१२) इसका सरल अर्थ यह है कि जनता ही जनार्दन का प्रत्यक्ष रूप है। अतः संपूर्ण जनताका लाभ जिससे होगा, उससे निःसन्देह परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी हि, और परमेश्वरकी प्रसन्नताका अर्थ भी सबकी प्रसन्नता है— क्योंकि—

वासुदेवः सर्वमिति। भ० गीता ७।१९

" वासुदेव अर्थात् परमेश्वर ही सब कुछ है " अतः वासुदेव तृप्त और प्रसन्न हुआ तो सब तृप्त और प्रसन्न होनेमें कोई संदेह नहीं। ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता होनेमें यह आशय है। पाठक इसका विशेष मनन करें और इससे उन्नित बोध प्राप्त करें।

"सर्वलोकमहेश्वरः।"

अब परमेश्वर का यह एक गुण विचारके लिये हमारे सन्मुख है। संपूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर एक मात्र प्रभु है। उसको छोडकर इसका नियंता दूसरा कोई नहीं है। सब जगत् का प्रभु एकही है, उसको किसी नामसे पुकारो, सबकी प्रार्थना वही सुनता है।

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥
तथा—
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
गी० अ० ९

" संपूर्ण देवताओंको किया हुआ नमस्कार परमात्माको पहुंचता है। जो लोग अन्यान्य देवताओंकी पूजा करते हैं वे यद्यपि अविधिपूर्वक पूजा करते हैं तथापि वे परमेश्वर की ही पूजा करते हैं। क्यों कि वही ईश्वर सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु है। "

एक ईश्वरकी कल्पना इससे अधिक पूर्ण रीतिसे कही जानी असंभव है। पाठक एक ईश्वर की इस पूर्ण कल्पना को अपने मनमें स्थिर करके अनेक देवतावादको मनसे हटादें। अनेक देवताएं वैदिक धर्मके अनुसार हैं, परंतु वे केवल इस एक परमात्माके विविध प्रकाशकिरण ही हैं। परमात्माको छोडकर उन अन्य देवताओंको स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

जो लोक इस सर्व लोकोंके महेश्वरको शरण जाते हैं, उनको भय दर्शानेवाला इस जगत् में कोई नहीं है। वह निर्भय होकर विचरता है। उसको इस परमात्माका आधार सदा रहता है।

"शान्ति ऋच्छति।"

इस प्रकारके परमेश्वर का ज्ञान होनेसे प्रत्येक साधक को शान्ति प्राप्त होती है। क्यों कि जो परमेश्वर को यथावत् जानता है वह स्वयं परमेश्वर बनता है और परमेश्वर सदा शान्त है, अतः वह साधक भी शान्ति को प्राप्त होता है। देखिये—

ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति॥
श्वे० उ० ३।७

ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
श्वे० उ० ४।१४

ब्रह्मविदाप्नोति परम्॥ तै० उ० २।१।१

ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ ध्या० उ० ८; गीता. ५।२०

ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभिप्रैति॥ कौ० उ० १।४

"ईश्वर को जानकर अमर होते हैं। परमेश्वर को जानकर अत्यंत शान्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञानीको परम पद प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्ममें स्थिर होता है। ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्मको प्राप्त होता है।"

इत्यादि वचनों में कहा है कि ईश्वरके ज्ञान से शान्ति मिलती है और ईश्वरत्व स्थिर होता है। इसी का नाम नर का नारायण होना है।

"मां ज्ञात्वा।"

"मुझे जान कर" शान्ति मिलती है ऐसा यहां कहा है। यहां "मुझे" (मां) शब्दद्वारा किसका बोध लेना चाहिये, यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है। सब लोग जानते हैं कि यहां कहनेवाले भगवान् वासुदेव होनेसे यहां "(मां) मुझे" इस शब्दद्वारा भगवान् का ही ग्रहण करना योग्य है। भगवान् वासुदेव, कृष्ण, परमेश्वर और परमात्मा इन शब्दोंसे गीतामें एकही वस्तुका ज्ञान होता है, यह बात सब जानते ही हैं। निःसन्देह यहां के "(मां) मुझे" इस शब्दसे परमात्मा यह अर्थ विवक्षित है। परंतु भगवद्गीतामें जहां जहां "अहं, मम, मां" आदि शब्द आये हैं, वहां वहां परमात्मा यह अर्थ तो है हि, परंतु गुप्त रूपसे साधक भी अपने आत्माको वहां रखकर, अपना भावी अनुभव पूर्ण पुरुषकी स्थिति आनेके पूर्वहि केवल शब्दोंसे जान सकता है।

साधक कभी न कभी सिद्ध बन सकता है। अतः साधकस्थितिमें उसको सिद्धावस्थाका अनुभव आना असंभव है। तथापि सिद्ध अवस्थामें अपना अनुभव कैसा होगा, इसकी कल्पना करनी हो तो, गीताके 'अहं, मम, मां' आदि शब्दोंके स्थानपर 'भगवान् की कल्पना' न करके 'अपनी कल्पना' वहां करके शब्दों द्वारा वह स्थिति यह साधक भी जान सकता है। सिद्धावस्थामें मेरी कैसी स्थिति होगी, मैं कैसा उन्नत होऊंगा, और उस स्थितिमें मुझे क्या अनुभव होगा, इसका ज्ञान वह उक्त प्रकार पहिले भी प्राप्त कर सकता है।

जैसा कोई मनुष्य नाटकमें राजा का स्वांग लेकर रंग में आता है, और राजाका आविर्भाव करता है और सचमुच राजा ही क्षणमात्र बनता है। जब तक वह उस रंग में रहता है तब तक उसको स्वयं राजा न होते हुए भी राजा बननेका अनुभव आता है। सच्चा राजा न होता हुआ भी केवल नाट्यप्रसंग से जैसा वह राजाके अधिकार का अनुभव ले सकता है, वैसा ही गीताके 'मैं, मेरा, मुझे' इन शब्दोंके स्थान में और वेद के भी इन शब्दोंके स्थान में अपनी कल्पना करके अपनी भावी अवस्था की कल्पना उसको हो सकती है। यह कल्पना केवल शब्दों की ही है, इस में इस समय सत्यांश थोडासा भी नहीं है, तथापि इस साधक को इस तरह यह कल्पना करनेसे मैं कहां हूं, मेरा कितना साधन हुआ और कितना होना चाहिये इत्यादिका निश्चय करने के विषयमें इस आत्मपरीक्षासे सुगमता हो सकती है।

गीता का अभ्यास करनेवाले इस दृष्टिसे भी मनन करें। अभ्यास की यह एक रीति है। कईयों

को इस अभ्यास से भी बहुत लाभ हो सकता है। यदि मैंने अच्छी तरह अभ्यास किया, तो मेरी स्थिति कैसी होगी इसकी कल्पना होनेसे साधक का चित्त अभ्यासपर अधिक स्थिर हो सकता है।

"मेरा ज्ञान होनेसे शान्ति प्राप्त होती है।" इसका अर्थ "आत्मा का ज्ञान होनेसे शान्ति मिलती है" ऐसा भी है। शरीर, इंद्रियां, मन इनमें भिन्नता, विषमता, न्यूनाधिकता, दोषमयता, विकारमयता और अशांति है। इस लिये इनके ज्ञान से विषमता ही बढेगी, और विषमतासे अशान्ति हो सकती है, अर्थात् इससे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होगी। केवल 'आत्मा' हि एक अव्यय, अजर, अमर, अभय, निर्दोष, निर्विकार है, इस लिये आत्माके ज्ञानसेहि निर्दोषता होगी और निर्दोषतासे शान्ति भी प्राप्त होगी।

जिस आत्मा के ज्ञानसे यह शान्ति प्राप्त होगी वही आत्मा मेरे अन्दर, मेरे अन्तःकरणमें है, इतनाही नहीं परंतु वही मेरा अन्तरात्मा है, यह ज्ञान होनेसे अपना बल अधिक हो जाना संभव है। मेरा अन्तरात्मा इस प्रकारका है, यह सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है और इसीसे मनुष्यका उद्धार होता है। गीताके " मैं, मेरा, मुझे " ये शब्द इसी अन्तरात्माके वाचक हैं। परंतु जब यह अनुभव होगा तभी इनकी सचाईका पता लग सकता है। तब तक यह शाब्दिक ज्ञान ही रहेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित,
ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक,
श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादमें
कर्मसंन्यासयोग नामक
पंचम अध्याय
समाप्त ॥५॥

श्रीमद्भगवद्गीताके पंचम अध्यायका थोडासा विचार।

कर्मसंन्यासयोग।

इस अध्याय का नाम 'कर्मसंन्यासयोग' अथवा 'संन्यास योग' है। कई पुस्तकोंमें 'सांख्य-योग' ऐसा भी मुद्रित है। आत्मा अकर्ता,अभोक्ता किंवा निष्क्रिय है, इस बातकी सिद्धता इस अध्याय में की है, इस लिये इस का यह नाम है। इस लिये इस अध्यायमें जिस संन्यास का वर्णन है उसका स्वरूप हमें यहां देखना चाहिये। इस अध्याय के पूर्व भी संन्यास का बहुत मनोरम वर्णन किया और पश्चात् कर्म करनेको भी कहा इस लिये अर्जुन के मनमें शंका उत्पन्न हुई कि-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ ५।१

"हे कृष्ण! आप एक वार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी वार कर्मोंके योग की प्रशंसा करते हो, इस लिये इन दोनोंमें से जो एक मार्ग मेरे लिये कल्याणकारी होवे,वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये।"

इस प्रश्नमें अर्जुन की शंका का कारण स्पष्ट हुआ है। भगवान् के मुखारविंदसे जब अर्जुन ने संन्यास और कर्मयोग की प्रशंसा समान-तया श्रवण की, तब उसके मनमें शंका हुई की कौनसा मार्ग अवलंबन करें? यदि कर्मसंन्यास श्रेयस्कर है तो उसीका आचरण क्यों न करें? फिर वारंवार 'कर्म करो' ऐसा उपदेश भगवान् मुझे क्यों दे रहे हैं? ऐसा विचार अर्जुन के मन में आया। और कर्मसंन्यास और कर्मयोग में मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा योग है, यह प्रश्न अर्जुनने यहां किया। इसी प्रश्नका उत्तर भग-वान् ने इस अध्यायमें दिया है।

"संन्यासयोग और कर्मयोग दोनों निश्रेयस-कर हैं, परंतु संन्यास की अपेक्षा अर्जुन जैसे मनुष्यों के लिये कर्मयोग विशेष सुखकारक है।" (गी. ५।२) यहां कर्मयोग में कुच्छ विशे-षता है, जो विशेषता संन्यासयोगमें नहीं है, ऐसा कह कर कर्मयोग की विशेष प्रशंसा की है। यहां ध्यानमें धारण करना यह है कि, अर्जुन का प्रश्न "मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा मार्ग है" ऐसा है और प्रश्न के अनुकूल श्रीभगवान् का उत्तर भी "तेरे लिये कर्मयोग विशेष हितकर है" ऐसाहि है। यह प्रश्न और यह उत्तर विचारपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है, कई दूसरे मनुष्यों के लिये संन्यासयोग भी वैसा ही श्रेयस्कर होगा जैसा अर्जुन जैसों के लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। क्यों कि (गी० ३।३ में कहा है कि) संन्यास-स्वभाव-वाले और कर्मस्वभाववाले ऐसे दो प्रकारके लोग होते हैं, उनमें से संन्यास-स्वभाववालों के लिये संन्यासमार्ग श्रेयस्कर है और कर्मस्वभाव-वालोंके लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। इस पूर्व-कथित नियमानुसार यहां (५।२ में) कहा है कि अर्जुन जैसे कर्मस्वभाववालों के लिये कर्म-योग ही विशेष श्रेयस्कर है।

यदि ऐसा है तो अर्जुन जैसे कर्मयोगी लोग संन्यासफल कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अथवा उनको संन्यास का फल कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता? यदि नहीं हो सकता तो बडी निराशाकी बात है। परंतु भगवद्गीता निराशा का उपदेश कभी नहीं देती, इसी लिये कर्मयोगी को भी संन्यास का फल प्राप्त करा देनेकी युक्ति यहां कही है, जिस से कर्मयोगी को निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। वह इस युक्तिका आश्रय करके कर्मयोग का आचरण करता हुआ भी संन्यास का फल प्राप्त कर सकता है। देखिये—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥५।३

"जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसी की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता और जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है, वह नित्यसंन्यासी है और वह सुखपूर्वक बंधनसे मुक्त होता है।" यहां (१) इच्छा न धरना, (२) द्वेष न करना और (३) द्वैतभाव न धारण करना, ये तीन लक्षण नित्य संन्यासीके कहे हैं। जिसके मन से इच्छा दूर हुई, द्वेषभाव हट चुका और द्वैतभाव अलग हुआ वह संन्यासी हुआ जानो। अर्थात् वह गेरुवे कपडे पहने या न पहने, वह निःसंदेह संन्यासी है। सच्चा संन्यासी कौन है और कौन नहीं इस का ज्ञान अधोलिखित कोष्टकसे होगा।

नित्य संन्यासी	असंन्यासी
न कांक्षति	कांक्षति
(इच्छा न धरना)	(इच्छा धरता है)
न द्वेष्टि	द्वेष्टि
(द्वेष न करना)	(द्वेष करता है)
निर्द्वन्द्वः	द्वन्द्वः
(द्वैत छोडना)	(द्वैत भाव का धारण)
बंधात् प्रमुच्यते	बंधात् न मुच्यते
(बंधसे मुक्त होता है)	(बंधमें गिरता है।)
मोक्ष	बंध

यहां इसके मननसे संन्यास से मोक्ष होनेके अर्थ क्या हैं और संन्यास न होने से बंधन होनेका तात्पर्य क्या है, इस का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पाठक इस कोष्टक का बहुत मनन करेंगे तो उनको व्यवहार में सब कर्म करते हुए भी नित्य संन्यासी होनेको युक्ति प्राप्त हो सकती है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन निषेधलक्षणों से किन गुणोंका बोध होगा? इच्छा का दूर होना, कामनाका हटना और द्वैत का न होना ये तीनों निषेधक लक्षण हैं। निषेधसे किसी सत् तत्त्व का बोध नहीं होगा, अतः इनसे संन्यासीके सत् गुणोंका विचार करना चाहिये।

(१) द्वैतभाव मनसे हट गया, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वहां सबके एक तत्त्व का भाव होगा, साधारण अवस्था में 'मैं भिन्न हूं और सब जगत् मुझसे भिन्न है' ऐसा ही द्वैत का अनुभव मनुष्य को आता है। यह द्वैतानुभव सत्य नहीं है। 'मैं तू और वह' यह सब मिलकर एक ही 'अस्तित्व' है। क्यों कि "वासुदेवः सर्वं" (गी० ७।१९) यह महासिद्धान्त है। अतः यदि 'वासुदेवः सर्वं' यह सत्य है, तो 'नेह नानास्ति किंचन' इस उपनिषद्वचन की सत्यता भी यहां हो अनुभव में इसी तरह आजायगी। अतः 'निर्द्वन्द्व' रूप निषेध लक्षण का विधिलक्षण 'एकत्वका दर्शन' ही है। (एकत्वमनुपश्यतः। ईश उ०)

(२) 'न द्वेष्टि' यह नित्य संन्यासी का दूसरा निषेध लक्षण है। जो नित्य संन्यासी होगा वह किसी का कभी द्वेष नहीं करेगा, परंतु वह द्वेष नहीं करेगा, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह दूसरोंसे कैसा आचरण करेगा। वस्तुतः द्वेष न करने का विधि रूप तात्पर्य दूसरे पर 'प्रेम करना' ही है। वास्तविक तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो यह नित्यसंन्यासी किसी दूसरेपर प्रेम नहीं करता, वह अपनेपरहि प्रेम करता है। क्यों कि 'वासुदेवः सर्वं' सब कुछ वासुदेव का रूप है। 'मैं तू और वह' ये सब उसके लिये एक तत्त्वके रूप बने हैं। दूसरा कोई जगत्में नहीं है, फिर यह द्वेष किसका करे? यदि कुछ बिगडा है तो भी उसीने बिगडा है और यदि कुछ सुधरा है तोभी उसीनें सुधरा है। इस एकत्वके अनुभवसे द्वेषकी जड ही नष्ट होती है। वह किसीका द्वेष कर हि नहीं सकता। इस स्थितिमें वह द्वेष रहित होता है इतनाही नहीं, इस समय उसको अखंड आत्माका दर्शन होनेसे तथा आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ न होनेसे सर्वत्र वासुदेव का अखंड रूप दिखाई देता है, अतः वह सब पर अखंड प्रेम करता है। अपने आत्मापर प्रेम करनेके समान वह सब पर प्रेम करता है। संपूर्ण जनता, संपूर्ण प्राणिसमष्टी, संपूर्ण स्थिर

चर जगत् उसके लिये वासुदेवमय, परमात्ममय ईश्वरस्वरूप बन गया, तब—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। ईश ४

'इस तरह एकत्व का साक्षात्कार हुआ तो शोक और मोह कैसे हो सकते हैं?' इस एकत्वानुभव के कारण ही वह सब पर अखंड प्रेम करता है। 'न द्वेष्टि' इस निषेध लक्षण का 'अखंड प्रेम करना' यह विधिरूप अर्थ है।

(३) नित्य संन्यासी का तीसरा लक्षण (न कांक्षति) इच्छा न करना है। जिसको अखंड परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार हुआ उसको और कौनसी कामना होगी? अन्तिम कामना उसकी सफल होनेके कारण जो अन्तिम प्राप्तव्य था वह उसको प्राप्त प्राप्त हुआ, फिर उसके समीप कौनसी कामना होगी, जो उसको सतावेगी? सब वासुदेव का रूप है, इस विषय में जिसको संदेह न रहा, उसको कोई कामना नहीं रह सकती। अतः उसको 'तृप्त, संतुष्ट' कहते हैं। इस लिये 'न कांक्षति' का विधिरूप अर्थ 'नित्य तृप्त' अथवा 'नित्य संतुष्ट' है।

इतने विवेचनसे तीनों निषेधरूप लक्षणोंके विधिरूप लक्षण ध्यानमें आसकते हैं। वे यहां कोष्टकमें देखिये—

नित्यसंन्यासी के लक्षण।

विधिलक्षण।	निषेधलक्षण।
एकत्वानुभव	निर्द्वन्द्वः
अखंड प्रेम	न द्वेष्टि
नित्य संतुष्टी	न कांक्षति

इन लक्षणोंसे 'नित्य संन्यासी' कौन है और कौन नहीं है, इस का ज्ञान हो सकता है। जो नित्यतृप्त है, जिसके अंतःकरणमें अखंड प्रेम का स्रोत चलता है और जिसमें आपपर भाव नहीं है तथा जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको कुछ वासना नहीं है और जिसमें द्वंद्वभाव नहीं है, वह नित्यसंन्यासी है।

कर्म करनेवाला मनुष्य भी द्वन्द्वरहित होने द्वेष छोडने और वासनात्याग करनेसे किंवा नित्य संतुष्ट रहने, अखंड प्रेम करने और एकत्वका अनुभव करनेसे नित्यसंन्यासी होनेका लाभ प्राप्त कर सकता है।

नित्य और अनित्य संन्यासी।

यहां 'नित्य संन्यासी' और 'अनित्य संन्यासी' का अर्थ भी विचार करके देखना चाहिये। पूर्वोक्त स्थानमें जो लक्षण दिये हैं वे नित्य संन्यासी के हैं। नित्य संन्यासी वह है कि स्वभावतः हि जिसके मनसे वासना, द्वन्द्व और द्वेष हट चुके हैं, स्वभावसेहि जिसके मनमें संतोष, सर्वात्मभाव और प्रेम विद्यमान हैं। ऐसा मनुष्य कर्म करे अथवा न करे वह सदा संन्यासी है।

परंतु जो मनुष्य बलात्कारसे वासनाको दूर रखना चाहता है, चिडानेपर भी प्रयत्न से द्वेष करना नहीं चाहता, द्वैतका अनुभव होनेपर भी सर्वत्र एक तत्त्व है ऐसा मननसे जानना चाहता है, उसका यह भाव स्वभावसे नहीं होता, परंतु प्रयत्नसे जो इस प्रकार अपने मनको ढालना चाहता है; तथा जो मनमें संतोष न रहनेपर भी मनकी वासनाओंको दबाकर संतोष को मन में स्थिर करना चाहता है, दूसरों का द्वेष मनमें उत्पन्न होनेपरभी विचार से वह द्वेष को दबाकर प्रेम करनेका यत्न करता है, इस प्रकारका मनुष्य यद्यपि बाह्य दृष्टिसे संयमी संन्यासीसा दिखाई देता है, तथापि वह 'अनित्य संन्यासी' हि कहलायेगा, क्योंकि उसके स्वभाव में संन्यासीपन परिपूर्ण भरा नहीं, वह प्रयत्नसे संन्यासी होता है, इसी लिये जिस समय उसका प्रयत्न ढीला होता है, उस समय वह संन्यासी नहीं होता है। इसी हेतु से उसे 'अनित्य संन्यासी' कहते हैं। जो नित्य संन्यासी है वह स्वभावतः हि हरएक अवस्था में संन्यासी है। वह कर्म करे या न करे, गेरुवे कपडे पहने या न पहने, वह कैसाभी रहे, उसका संन्यासीपन अखंड है। गीताका कहना है कि मनुष्य उक्त लक्षण अपनेमें स्थिर करे और नित्य

संन्यासी बने। कर्म करने या कर्म छोडनेका संबंध गीताकी दृष्टिसे इस नित्य संन्यासके साथ नहीं है। गीताकी दृष्टिसे संन्यासका संबंध मनकी अवस्था के साथ है; यदि मन द्वेषभाव, द्वैतभाव और अपूर्णताके भाव से रहित हुआ और यदि उसमें प्रेम, ऐक्य और संतोष रहा तो वह नित्यसंन्यासी हुआ। गीता मनुष्यके मनको देखकर संन्यासी होने न होनेका निश्चय करती है। पाठक इस बात को ध्यानमें धारण करें और नित्यसंन्यासी बननेका यत्न करें। इस अभ्यास के लिये बडा प्रयत्न करना पडेगा, परंतु जब यह साध्य होगा, तब संन्यासकी सब सिद्धियां इसके पास आकर सदा खडीं होगीं।

सांख्य और योगकी एकता।

सांख्यमार्ग और योगमार्ग, अथवा संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग भिन्न नहीं हैं, एकही हैं यह भी गीताका एक महत्त्वपूर्ण कथन अत्यंत विचार करने योग्य है। सब लोग जानते हैं कि संन्यास मार्ग में कर्मोंका त्याग करना आवश्यक है औरकर्ममार्ग में कर्मोंका करना आवश्यक है। प्रकाश और अंधकार के समान इन दोनों मार्गोंमें अन्तर है। तथापि गीताका कथन है कि ये दोनों एकही हैं-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ॥४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५
गी० ५

"सांख्य और योग विभिन्न हैं, ऐसा मूढ मानते हैं, ज्ञानी नहीं। किसी एक के अनुष्ठानसे दोनोंका फल प्राप्त होता है, जहां सांख्यमार्गी जाते हैं वहां योगी भी पहुंचते हैं। अतः सांख्य और योगको जो एक देखता है वही सत्य देखता है।" इस तरह दोनों मार्ग एकसे हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। दोनोंको पृथक् माननेवालोंको 'मूढ (बाल)' भी कहा है और आग्रहके साथ दोनोंकी एकता दर्शायी है। तथापि एकता दर्शाते दर्शाते दोनोंमें कुछ भेद है यह भी यहांहि दिखाया है, नहीं तो 'जो स्थान सांख्यमार्गी प्राप्त करते हैं, वह योगी भी प्राप्त करते हैं' ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन नहीं था। इसी विधानसे ये दो मार्ग कुछ अंशमें भिन्न हैं ऐसा सिद्ध होता है। परंतु यह भेद आचरण की दृष्टिसे है, अन्तिम सिद्धिकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं, क्योंकि दोनोंको एकहि स्थान प्राप्त होता है। पाठक पूर्वोक्त संन्यासी के ही लक्षण देखें, कर्मयोगी भी इच्छा द्वेष और द्वैतभाव छोडकर संन्यास का पूर्ण फल प्राप्त करता है। पूर्णफल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे दोनोंकी एकता ही होगयी। यद्यपि बाह्य दृष्टिसे कर्मयोगी और संन्यासयोगी भिन्न दिखाई देंगे, तथापि उनकी मनोभूमिपर समान योग्यता होगी। यहां परिणामकी दृष्टिसे दोनोंकी एकता हमने देखी। और भी एक विचार है जिससे कर्मयोगकी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। कर्मयोगके विना सांख्ययोग सिद्ध होना अति कठिन है-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
गी० ५।६

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥
गी० ५।२

"योगके अभ्यासके विना संन्यासका अभ्यास करना अति दुःखदायक है। परंतु जो पहिले योगसाधन करके पश्चात् संन्यासका अनुष्ठान करता है वह शीघ्रहि ब्रह्म प्राप्त करता है। संन्यास और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं, परंतु कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की विशेषता है।" यह विशेषता सुगमताके कारण है। यदि कोई मनुष्य दोनों एकही हैं ऐसा मानकर कर्मयोग का त्याग करके एकदम संन्यासका ग्रहण करेगा तो उसको (दुःखं आप्तुं अयोगतः। ५।६) निःसंदेह दुःख होगा। परंतु संन्यास न लेते हुए कोई कर्मयोग करेगा तो उसको वैसे कष्ट नहीं होंगे।

अर्थात् यह विशेषता सुगमताकी दृष्टिसे है। सर्व-साधारण लोगोंको आचरणमें कठिनता प्रतीत न हो इस लिये उनके लिये प्रथम श्रेणिमें रह कर करने योग्य सुगम यह कर्म मार्ग है। इसी दृष्टिसे इसकी यह विशेषता कही है। इस मार्ग से जाते जाते आगे इच्छा द्वेष छोड दिये तो इसीसे नित्य संन्यासी बनकर अन्तिम सिद्धि भी मिलती है। इस तरह यह मार्ग सुगम है, प्रारंभमें आचरने योग्य है, इस कारण आगे इसको छोडना पडता है और दूसरा पकडना पडता है, ऐसी भी बात नहीं। इसी का आचरण करते करते,रागद्वेष और द्वैतभाव छूटते हि अन्तिम सिद्धी प्राप्त होती है। इस तरह यही मार्ग प्रारंभ में सुकर है और अन्तमें सिद्धिप्रद भी है, अतः कहा है कि "जहां संन्यासी जाते हैं वहां योगी भी जाते हैं। (गी. ५।५)" अर्थात् योगी पीछे नहीं रहते। शनैः शनैः उन्नत होंगे, देरीसे पहुचेंगे, परंतु पहुचेंगे निश्चयसे। इतने विचारसे कर्मयोग की विशेषता किस दृष्टिसे है यह बात पाठकों के ध्यानमें आचुकी होगी, और दोनोंकी एकता किस दृष्टिसे है इस का भी ज्ञान हुआ होगा।

'संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयसकर हैं' (गी० ५।२) तथापि अर्जुनसे कहा कि 'तू कर्मयोग ही कर,' इसका कारण इस मार्ग की सुगमता है। कोई यहां शंका न करे कि कर्मयोग करनेसे कर्मसंन्यास का फल प्राप्त होता है वा नहीं? वह निःसन्देह प्राप्त होता है। क्यों कि गीतामें इसी सिद्धि की युक्ति कही है। कर्मयोग करते करते इस युक्ति के द्वारा साधक सहज ही में कर्मसंन्यास का फल प्राप्त कर सकता है। वह युक्ति 'कर्मफलपर अनासक्ति किंवा कर्मफलत्याग' है, अथवा दूसरे शब्दोंमें 'इच्छा, द्वेष और द्वन्द्व का त्याग करना' है। दोनों का अर्थ एक ही है।

निर्लेपता।

'इच्छा द्वेष और द्वन्द्व' ये तीन बंधन के हेतु हैं, इन से युक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्य को कर्म का लेप लगता है, अथवा पाप लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि कर्म के दोष को हटाना है तो इच्छा द्वेष और द्वैतभावको दूर करना चाहिये। यहां पाठक पूछ सकते हैं कि इच्छा द्वेष आदि के कारण कर्म का दोष क्यों लगता है? इस के उत्तर के लिये थोडासा विचार करना आवश्यक है। सब से पहले द्वन्द्वभाव में 'मैं अलग हूं और अन्य लोग मुझसे पूर्णतया भिन्न हैं" यह विचार सतत जाग्रत रहता है। इस से हि यह विचार उत्पन्न होता है कि मेरे प्रतिस्पर्धी ये सब अन्य हैं, इस लिये इनसे मुझे डर है अतः इनसे सुरक्षित रखनेके लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारके अनेक विचार मन में उत्पन्न होनेसे मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। इस द्वेषभावका परिणाम लडाई झगडे फिसाद आदि हैं और अन्तमें मनकी अशान्तिहि इसका फल है। तात्पर्य यह है कि द्वैत भावसे द्वेष भावकी उत्पत्ति है। द्वैतभावसेहि इच्छा की उत्पत्ति है, क्योंकि मैं अपूर्ण हूं और वह दूसरा पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण होऊंगा, इस विचार से दूसरे पदार्थोंकी प्राप्ति करनेकी कामना होती है, इस इच्छा या कामनासे विरोधक के साथ द्वेष और अनुकूल के साथ स्नेह होता है और आगे झगडे और अशान्ति होनेमें कोई संदेह हि नहीं है।

इस तरह एक के साथ प्रेम, दूसरे के साथ द्वेष शुरू हो गया, मुझे भोग चाहियें, उनके मिलनेके लिये बीजमें जो जो रुकावटें आ जायगीं उनको मैं हटा दूंगा, इत्यादि विचार से जो कृत्य होंगे, जो जो कर्म होंगे वे परिशुद्ध होंगे, ऐसा कौन कह सकेगा? और यदि ये कर्म परिशुद्ध नहीं होंगे तो वे बंधनकारक अवश्य होंगे। इसी लिये कहा है कि 'इच्छा द्वेष और द्वैत' भावसे जो कर्म होंगे वे बंधन के हेतु होंगे। अतः बंधनसे निवृत्त होने के लिये यदि प्रयत्न करना है तो पहिले 'इच्छा, द्वेष और द्वन्द्व' को मन से हटाना

चाहिये। और मनमें 'तृप्ति, और सर्वात्मभाव' स्थिर करना चाहिये। इसी सिद्धि के लिये धर्मग्रंथों में विविध विधि कहे हैं, गीतामें भी कहा है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्व-
सन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥
—गी० ५

"कर्मयोग करनेवाला, पवित्रात्मा, आत्मविजयी, इन्द्रियविजयी और सर्व भूतों के आत्मा को अपने आत्मा के समान माननेवाला, कर्म करता हुआ भी निर्दोष रहता है॥ कर्मयोगी तत्व का ज्ञान जानता हुआ मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं ऐसा माने। देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोडते, लेते, पलक खोलते और बंद करते समय केवल इंद्रियांही इंद्रियोंके विषयोंमें स्वयं वर्तती हैं ऐसा अनुभव करे॥ फल की आसक्ति छोडकर कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके जो करता है, वह पद्मपत्र पानीमें न लिप्त होने के समान, पापसे अलिप्त रहता है॥"

यहां गीताने कर्म करते हुए कर्म के दोषोंसे अलिप्त रहने की उत्तम युक्ति कही है। पहिले मनुष्य जितेन्द्रिय, शुद्धात्मा और आत्मसंयमी बने और सर्व भूतोंका जो आत्मा है वही मेरा आत्मा है ऐसा समझे। कर्म के फल पर आसक्त (संगं त्यक्त्वा) न रहे, ईश्वर को अपने सब कर्म समर्पण करे। अपने आपको कर्मोंका अकर्ता समझे और सब कर्म इंद्रियों द्वारा हो रहे हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूं ऐसा अनुभव करे। इतने होने से कर्म के दोषोंसे मनुष्य अलिप्त रह सकता है। इन चार श्लोकोंमें जो कहा है वही पूर्वोक्त तीन शब्दोंमें कहा है, यह बात अधोलिखित कोष्टकमें देखिये—

न कांक्षति (५।३) = विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः (५।७); नैव किंचित्करोमि (५।८); इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते (५।९); संगं त्यक्त्वा (५।१०) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि (५।१०) [फलेच्छा छोड, सब कर्म ईश्वरार्पण कर शुद्धात्मा होकर कर्मयोग करे]

निर्द्वन्द्वः, न द्वेष्टि (५।३) = सर्वभूतात्मभूतात्मा (५।७) [सर्व भूतोंका आत्मा अपना आत्मा है ऐसा माने]

"वासना त्याग, द्वेषत्याग और द्वन्द्वत्याग" इन तीन त्यागोंमें ये सब उपदेश किस तरह आते हैं यह बात यहां पाठक देख सकते हैं। वासनात्याग से हि यह सब हो सकता है, क्यों कि राग द्वेष सब वासना के कारणहि होते हैं। कर्मयोगी सब कर्म करता हुआ किस तरह अलिप्त रह सकता है इस संबंध का यह विवरण सदा स्मरण रखने योग्य है। कर्मफल की भोगेच्छा छोडनेसे यह सब साध्य हो सकता है। कर्मको फल भोगनेकी इच्छा छोडना अथवा कर्मफल का त्याग अथवा दान ईश्वर की तुष्टि के लिये करना एक ही है। सर्व भूतोंका आत्मा ही व्यावहारिक भाषामें ईश्वर और पारमार्थिक भाषामें ब्रह्म है। अपने सब कर्मोंके फल उसकी संतुष्टि के लिये समर्पण, दान अथवा त्याग करनेसे मनुष्य कर्मदोष से मुक्त हो सकता है। इस का स्पष्टार्थ देखिये—

ब्रह्म के लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना॥

ईश्वरके लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना।

सर्वभूतात्मा के लिये सब कर्मफल दान करना।

सर्व प्राणियों की संतुष्टीके लिये अपने कर्मफलोंका दान करना।

प्राणिमात्रको सुख देने के लिये अपना जीवन दान करना।

अहिंसा व्रत धारण करना और किसीको कष्ट न देना, इतनाही नहीं परंतु सब प्राणियोंका हित करनेके लिये यथाशक्ति यत्न करना। अद्वेष, अद्वैत, निष्कामता आदि शब्दोंका भाव यही है। साधारण हीन मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरोंका घातपात करता है यह द्वेषमय द्वैतरूप सकाम अवस्था है। इसमें कर्मदोष लगते हैं। परंतु जब मानव उच्च अवस्थामें पहुंचता है, उस समय दूसरोंके हित के लिये आत्मसमर्पण करता है, इस समय उसके मनमें अद्वेष, अद्वैत और निष्काम भाव होता है अतः वह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है। बंधमुक्तकी सिद्धि इस तरह होती है।

सर्वभूतोंकी सेवा परमात्माकी सेवा है, क्योंकि (वासुदेवः सर्वं॥ गीता ७।१९) सर्वभूतही वासुदेवका रूप है। वासुदेव, नारायण, परमात्मा, परमेश्वर, ईश्वर वस्तुतः अमूर्त है, परंतु उसकी मूर्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गौ, घोडे आदि प्राणी हैं (ऋग्वेद १०।९०।८,१०,१२ देखो) अतः परमात्माकी सेवा, भक्ति, उपासना करने की इच्छा हो तो इन मूर्तियोंकी सेवा भक्ति उपासना करनी चाहिये। भगवद्गीताके विभूति अध्याय (गी० १०) और विश्वरूप अध्यायमें (गी० ११) यही कहा है। मानवोंमें तथा अन्य प्राणियोंमें जो दुखी, कष्टी, और त्रस्त होंगे, उनका दुःख, कष्ट और त्रास दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण करना ही परमात्माके लिये अपना जीवन अर्पण करना है। जो लोग अपनी मानव जातिमें हीन, दीन, रोगी, दुखी, दबेदबाये, दारिद्र्यपीडित, अकालसे कष्टी लोग देखते हैं, और उनको सहायता न करते हुए मंदिरोंमें भोग चढाते हैं, या अन्य रीतिसे अपनी चैन उडाते हैं, वे ईश्वर-भक्तिसे कोसों दूर हैं। पाठक यहां समर्पण आदि किस के लिये करना चाहिये इसका यह सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें। कर्मफलका त्याग-दान समर्पण इसी सर्वभूतात्माके लिये करना चाहिये, इसी सर्वभूतात्माकी भक्ति करना चाहिये। यही सर्वभूतात्मा दृश्य और मूर्त परमेश्वर है। यही सबका उपास्य है। यहां कई लोग कहेंगे कि ब्राह्मणमें परमात्माका रूप हम देख सकते हैं, परंतु चाण्डालमें परमेश्वर कैसे रह सकते हैं, इस आशंकाके निवारण के लिये इसी अध्यायमें कहा है—

> विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८
> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
> निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्‍ब्रह्मणि ते स्थिताः
> —गी० ५।१९

"ज्ञानी ब्राह्मण, अज्ञानी चाण्डाल ये मनुष्य तथा गाय, हाथी और कुत्ता आदिमें ज्ञानी लोग समरूपसे ब्रह्म है ऐसा देखते हैं। यह ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्दोष है, जिनका मन साम्य स्थितिको प्राप्त होता है, वे ब्रह्ममें अवस्थित होते हैं और जन्ममरण को जीतते हैं।" इस उपदेशसे ब्राह्मण में ईश्वर का भाव है और चाण्डाल में नहीं है ऐसा कहना अयोग्य है। सब वस्तुमात्र वासुदेव हि है (गी० ७।१९) वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण, अथवा कुत्ता हो या हाती। वह सब परमेश्वरका ही मूर्त रूप है। यह समबुद्धि धारण करके इस सर्वभूतात्माकी भक्ति मुमुक्षुको करनी चाहिये। अपने कर्मोंके फल का दान इसी की संतुष्टिके लिये करना चाहिये। गीता में 'कर्मफलत्याग, कर्मफल का संग छोडना' आदि जो कहा है उसका अर्थ अपने कर्मका फल इसी जनताजनार्दन या सर्वभूतात्मा को समर्पण करना है। गीता में कर्मफलत्यागका उपदेश देखिये—

कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा । २।४८
कर्मजं ... फलं त्यक्त्वा । २।५१
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं । ४।२०
कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति । ५।१०
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा । ५।१२
कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । ६।२४
कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि । १८।६
संगं त्यक्त्वा फलं चैव कार्यं...कर्म ... क्रियते॥ १८।९
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं । १८।२
अधिकारः मा फलेषु कदाचन । २।४७
फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२
कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये । ५।११

" अपने कर्मोंका फल केवल मुझेहि मिले ऐसी वासना न धारण कर। अपने कर्मका जो फल होगा वह सर्वभूतात्माके लिये दान कर। कर्मके फलपर तेरा अधिकार नहीं है। अपने कर्मके फलमें आसक्त होनेसे बंधन प्राप्त होता है। अपने कर्मका फल सर्वभूतात्माके लिये समर्पण करनेसे अपनी पवित्रता होती है। " कर्मफलके त्यागका आशय क्या है, इसका विचार करनेके लिये इन वचनोंका मनन करना चाहिये। इस मननसे निश्चित होता है कि कर्मयोगके निम्नलिखित सूत्र हैं—

कर्मयोगके सूत्र ।

प्रत्येक मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिये। (२।४७)

किसीको कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है। (१८।५)

कर्म यथासांग करना चाहिये। (२।४८)

उसके फलपर आसक्ति नहीं धारण करनी चाहिये। (२।४७)

अपने कर्मोंका जो फल प्राप्त होगा वह सर्वभूतोंके हितके लिये समर्पण करना चाहिये। (५।७; ३।२०; ५।२५; १२।४)

अपने कर्मोंका फल अपने लिये रखनेसेहि बंधन होगा। (५।१२)

अपने कर्मोंका फल सर्वभूतात्माकी संतुष्टिके लिये दान करनेसे मोक्ष होगा। (५।२५; १२।४)

कर्मयोग के ये सूत्र हैं। पाठक इनका मनन करें। इन सूक्तोंका मनन करनेसे जो मानवधर्म निश्चित होता है वह यह है। ब्राह्मण अपना अध्यापनरूप कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे, परंतु जो उससे वेतन मिलेगा, उस फलरूप धनका दान सब प्राणियोंकी भलाई के लिये करे। क्षत्रिय प्रजारक्षण आदि अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे, उससे प्राप्त होनेवाला फल अर्थात् धन आदि सब प्राणियोंके हित के लिये अर्पण करे। वैश्य कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य करे, बहुत धन कमावे और उस धनरूप कर्मफल का दान सब की भलाई के लिये करे। इसी तरह शूद्र अपनी कारीगरी और सेवा उत्तम से उत्तम करे, उससे जो धनरूप फल प्राप्त हो उस का दान वह सब की भलाई के लिये करे। अर्थात् राष्ट्रके सब लोग उत्तमोत्तम कर्म करें, कोई आलसी न रहे, कर्म में कसूर कोई न करे, जितना उत्तम होना संभव हो उतनी पराकाष्ठा करके उत्तम कर्म करे, उस कर्मसे जो फल अर्थात् धन आदि मिले वह लेकर अपने पास जमा करके कोई न रखे। सब कर्मफलरूप धन राष्ट्रकोशमें सबकी भलाई के लिये समर्पण होता रहे। उस राष्ट्रकोशसे सब जनताका योगक्षेम चलाया जावे। संपूर्ण मानव जातिका व्यवहार इसी निष्काम भावसे चले, तभी मुक्ति होगी। और सकाम भावसे उत्पन्न हुए आजकल के सब दुःख दूर होंगे।

जगत् के सब बंधन, सब कष्ट, मानवजातिकी संपूर्ण आपत्तियां सब व्यक्तियां अपने लिये अपने कर्मफल का संग्रह कर रही हैं इसी कारण हैं। इसी फलासक्तिके कारण सब आपत्तियां हैं। जिस समय यह फलासक्ति दूर होगी और

अपने कर्मका फल सर्वभूतात्माके लिये दान करने का सब का स्वभाव बन जायगा, उसी समय सब आपत्तियां दूर होगीं। इसी स्वभाव का नाम 'संन्यास, कर्मसंन्यास' है, इसी को 'त्याग' कहते हैं। यही मानवों दुःखोंका अन्त करनेवाला है। यही फल निम्न लिखित गीताके श्लोक में कहा है—

निर्द्वन्द्वो हि...बंधात्प्रमुच्यते ॥५।३॥
कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति ॥५।१२॥
संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥५।१३॥
ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥५।२१॥
विगतेच्छाभयक्रोधो...मुक्त एव ॥५।२८॥
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा... शान्तिमृच्छति ॥ ५।२९

"द्वैतभाव का त्याग करनेसे बंधनसे मुक्ति होती है। अपने कर्म के फल का दान करनेसे शान्ति होती है। फल का संन्यास करनेसे सुख मिलता है। सर्वभूतात्माके साथ मिलनेसे अक्षय्य सुख मिलता है। वासनात्याग से मुक्ति मिलती है। सर्व भूतोंके मित्र का ज्ञान प्राप्त करनेसे शान्ति मिलती ह।" ये सब वचन पूर्वोक्त अर्थ ही अन्य शब्दों द्वारा बता रहे हैं। मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म करें, उसका फल जनताजनार्दन के लिये समर्पित करें, इससे वे बंधनसे मुक्त होंगे और उनके सब क्लेश दूर होंगे।

बंध के विषयमें उपनिषदोंका सिद्धान्त इस प्रकार है—

बंधाय विषयासंगि। मैत्री० उ० ६।३४
बंधाय विषयासक्तम्। ब्रह्म० २
बंधो हि वासनाबन्धः। मुक्ति० २।६८
मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः। मुक्ति० २।६८

"विषयोंपर आसक्त होनेसे बंधन होता है। वासनासे बंधन होता है। वासना का क्षय ही मोक्ष है।" अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह करने की इच्छा का नाम वासना है। यही सब मनुष्यों के अनंत क्लेशोंका हेतु है। यहां तक जो विचार किया, उससे पाठकों के मनमें कर्मफल-संग्रह से दुःख और कर्मफलदान से सुख होता है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। त्याग और भोग का सुव्यवस्थित नियम इसी के मननसे ज्ञात होगा।

फलसंग्रहसे दुःख कैसा होता है, इसका विचार पाठक कर सकते हैं। कल्पना कीजिये कि एक ग्राममें एक बहुत ही बडा धनी मनुष्य है, सबसे अधिक धन होनेसे वह अन्योंका भलाभी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। परंतु भला करनेवाला क्वचित् कोई होता है, मनुष्य स्वार्थी होनेके कारण वह अपने स्वार्थ के कारण दूसरोंकी हानि करता है। अतः वह धनवान् मनुष्य अपने धनसे सब धान्य खरीद कर अपने पास रखता है और दिल चाहे भावसे बेचता है। अन्योंके पास इतना धन न होनेसे वे लाचार होते हैं और भूखे रहते हैं। यह अनर्थ अयोग्य धनविभागसे होता है। यदि वह धनी मनुष्य अपके सब धन का त्याग ग्रामके लोगोंके लिये करेगा और इसी तरह ग्रामके सब अन्य लोग अपने अपने कमाईका त्याग सब ग्राम की भलाई के लिये करेंगे और ग्राम की ग्रामसभा अपने सार्वजनिक कोशमें उस धनको रखेगी और उस से सब ग्राम का प्रतिपाल किया जायगा, तो उस ग्राममें कोई दुखी नहीं रहेगा। इस त्यागसे सब ग्रामका अधिकसे अधिक भला होगा। इसी लिये 'अपरिग्रह' अर्थात् संग्रह न करनेका व्रत धारण करनेके लिये कहा है। कर्मफलसंग का त्याग करनेका ही नाम अपरिग्रह है। अपना परिग्रह बढानेसे हि अनंत क्लेश होते हैं। इस से अर्थात् फलसंग का त्याग करनेसे जो फल होता है वह अब देखिये—

ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥५।६॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥५।२०

विद्त्यात्मनि सुखम् ॥ ५।२१

स सुखी नरः ॥ ५।२३

ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ५।२३

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ॥ ५।२५

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥ ५।२६

प्रकाशयति तत्परम् ॥ ५।१६

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम् ॥ ५।१७

"ब्रह्म प्राप्त होता है। वह सुखी होता है। परमपद प्राप्त होता है। दुःख का पुनः पुनः आक्रमण नहीं होता।" यह अन्तिम सिद्धि कर्मफल का त्याग करनेसे हो सकती है। ब्रह्मप्राप्ति का अर्थ बडी शक्तिकी प्राप्ति है। ब्रह्म सबसे बडी शक्ति है, वह सब स्थिरचर में व्यापक है। यह ब्रह्म अर्थात् यह बडी शक्ति किस समय प्राप्त होती है? जब यह मनुष्य स्थिरचरकी सुस्थितिके लिये अपने कर्म के फल का समर्पण करता है। इस विषयमें एक उदाहरण हम देखते हैं —

कर्मफलसंग्रह।

किसी एक घरमें दस भाई रहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अपने कर्म से प्राप्त होनेवाला धन अपने लिये अपने पास रखता है, उसमें से थोडासाभी दूसरे को नहीं देता। दूसरे मरें या जीवित हैं इसका कुछ भी विचार नहीं करता। प्रत्येक भाई अपने अपने कमरे में रहता है। यद्यपि इस मकानमें दस भाई हैं तथापि शत्रु उपस्थित होनेपर ये दस नहीं हैं। एक एक अलग अलग है। यदि शत्रुके दो मनुष्य आजांय तो वे इस एक एक भाई का नाश करके उनके घरके स्वामी बन सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने कर्म का फल अपने पास रखनेसे अपना सांघिक बल बढता नहीं, अपना वैयक्तिक बल भी घटता है और अनेक कष्ट होते हैं। इसी लिये कहा है कि कर्म का फल ईश्वरार्पण करो। फलपर आसक्त न होओ।

कर्मफलत्याग।

अब कर्मफलत्याग करनेवाले दस भाइयोंके दूसरे घरकी स्थिति हम देखेंगे। इस घरमें वैसे हि दस भाई हैं। वे प्रत्येक उत्तम कर्म करते हैं और जो कमाई होती है वह एकत्र मिलकर रखते हैं। उस संग्रहित धनसे सब की भलाई के लिये मिलजुलकर व्यय करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति दसों भाइयोंकी भलाई के लिये व्यय करने को तैयार रहता है। सब मिलकर परस्पर सहायतासे सब कार्य करते हैं, इस लिये प्रत्येक मनुष्य दस भाइयोंकी शक्ति से युक्त है। ऐसे सुसंघटित दस भाईयों की शक्ति प्रत्येक की दस शक्ति होनेके कारण दसों की मिलकर शक्ति सौ के बराबर होगी। यह लाभ कर्मफलत्याग और अपरिग्रह-व्रत के कारण होता है। इस स्थितिमें वे परम-शक्तिसे युक्त होते हैं, मानो यही उनकी ब्रह्मभूत स्थिति है।

जो एकात्मरूप होता है उसकी शक्ति एक मनुष्यके शक्तिके समान होगी। परंतु जो सर्वात्मरूप होगा, सर्वभूतात्मभूतात्मा बनेगा, जो सर्वभूतात्मा बनेगा उसकी शक्ति सब भूतोंकी शक्तिसे भी अधिक होगी। इसी का नाम ब्रह्म है। ऐसे लोग कर्म करनेपर भी उनके दोषों से दूर रहते हैं।

अब विचार करना चाहिये कि इस स्थितिको प्राप्त करनेका साधन क्या है, कैसा आचरण करनेसे मनुष्य सर्वभूतात्मरूप बन सकता है, किस रीतिसे मनुष्य इस उन्नति के पथपर सीधा चल सकता है? इस के सूचक शब्द इसी अध्याय में जो हैं उनका अब विचार करेंगे—

अज्ञानी बाल।

पहिले जो अज्ञानी निर्बुद्ध और मूढ हैं उनका वर्णन इस तरह इस अध्याय में किया है—

बालाः (४) = बालक जैसे अप्रबुद्ध,

अयुक्तः (१२) = योग न करनेवाले, प्रयत्न न करनेवाले,

कामकारेण फले सक्तः (१२) = स्वार्थसे फलमें आसक्त, अपने कर्म का फल अपने लिये अपने पास रखनेवाला,

अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं तेन मुह्यन्ति (१५) = अज्ञानसे जिनका ज्ञान ढका है, उस कारण मोहमें जो पडते हैं।

ये लोग गिरते हैं, इनका अधःपात होता है, इनको क्लेश होता है। इनमें (अयुक्त) कर्म न करनेवाले, स्वार्थी, कर्मका फल अपने लिये रखनेवाले, अज्ञानी मनुष्य आते हैं। इन शब्दोंके विरोधी शब्दोंसे उन्नतिका मार्ग सूचित होता है, वह ऐसा है—

बाल ४	पंडित (प्रौढ) ४
अयुक्तः १२	युक्त (योगी) ८
सक्तः १२	असक्तः १०
अज्ञानी १५	ज्ञानी १५, १७
मोहयुक्त	मोहरहित
संमूढ	असंमूढ २०

पाठक विचार करेंगे तो उनको यही उन्नतिका शुभ मार्ग आगे के शब्दोंसे व्यक्त हो रहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा।

तत्त्वज्ञानी पण्डित।

जो कर्तव्य और अकर्तव्य यथावत् जानता है वह तत्त्वज्ञानी पंडित है। यह फलासक्ति छोडकर कर्म करता है। इसका वर्णन इस अध्यायमें निम्न लिखित रीतिसे किया है—

पण्डिताः (४), पण्डिताः समदर्शिनः (१८) = ज्ञानी, बुद्धिमान्, समदर्शी

तत्त्ववित्, (८) ब्रह्मवित् (२०) विदितात्मानः (२६) = तत्त्व जाननेवाले, ब्रह्म जाननेवाले, आत्मज्ञानी,

ऋषयः (२५) = अतीन्द्रियार्थदर्शी, सूक्ष्मदर्शी,

सांख्य (५) = ज्ञानमार्गी, संन्यासमार्गी,

असंमूढ (२०), ज्ञानन येषां अज्ञानं नाशितं (१६) = जिनकी मूढता दूर हो चुकी है, तत्त्वज्ञानसे जिनका अज्ञान हट गया है,

ज्ञानं तत्परं प्रकाशयति (१६) = ज्ञानसे जिनको परतत्त्वका ज्ञान हो चुका है,

ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (१७), क्षीणकल्मषाः (२५), विशुद्धात्मा (७) = ज्ञानसे जिनके पाप धोये गये हैं, जो शुद्ध बने हैं, जिनके दोष न्यून हो गये हैं,

येषां साम्ये स्थितं मनः (१९) = जिनका मन सम हो गया, समभाव में जिनका मन रहता है।

ब्रह्मणि स्थिताः (१९, २०) = जो ब्रह्ममें रहते हैं।

इस तरह जो ज्ञानी, मोहरहित, पापरहित, समबुद्धिवाले, तत्त्वज्ञानी होते हैं वे असंग होकर अर्थात् कर्मोंका फल अपने लिये न रखते हुए, जनताजनार्दन के लिये समर्पण करते हैं, मनुष्य और पशुओंके विषयमें सम दृष्टि रखते हैं, सर्वत्र एकरस आत्मतत्त्व भरा है, ऐसा अनुभवसे जानते हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानियोंसे कभी पापाचरण नहीं होता, अतः वे शुद्धात्मा होकर बंधनसे मुक्त होते हैं।

योगी।

येही योगका आचरण करते हैं और अपना उन्नतिका मार्ग आक्रमण करते हैं। इनके सूचक शब्द ये हैं—

योगयुक्तः (६, ७), युक्तः (८), योगी (२४), योगः (५) = योगका आचरण करनेवाले। कर्मयोगमें योग शब्दका विशेष अर्थ है। 'कर्ममें कुशलता' (गी० २।५०) संगत्यागपूर्वक सिद्धि असिद्धिके विषयमें 'बुद्धिकी समता' (गी० २।४८) और कामक्रोधादि वेगोंको 'सहन करनेकी शक्ति' (गी० ५।२३) ये योगके अर्थ हैं। अर्थात् योगका आचरण करनेका अर्थ कुशलतापूर्वक कर्म करना, द्वन्द्वोंके विषयमें सम

बुद्धि धारण करना और कामक्रोधादि वेगोंको सहना ' है। भगवद्गीतामें योग शब्दका अर्थ यह है। और भी इस शब्दके कुछ विशेष अर्थ हैं, उनका विचार किसी अन्य स्थानमें किया जायगा।

कुर्वन् (७) = इस शब्दका अर्थ भी कर्मयोगका आचरण करनेवाला ऐसा है। कर्मयोग प्रयत्नका योग है। प्रत्येक कर्म उत्तम कुशलताके साथ करना चाहिये और फलोदय तक बीचमें प्रयत्नकी शिथिलता नहीं होनी चाहिये, यह तो कर्ममार्गका सर्वसाधारण नियम है हि। इसके साथ साथ—

मोक्षपरायणः (२८) = मोक्ष मिलनेकी इच्छा धारण करना, मोक्षप्राप्ति के विषयमें तत्पर रहना, मोक्षके सिवाय दूसरा कुछ नहीं सूझना चाहिये। तथा-

तद्बुद्धयः, तदात्मनः, तन्निष्ठाः, तत्परायणाः (१७) = ईश्वरका स्मरण अपनी बुद्धिमें रखना, अपने आत्माको ईश्वरमय करना, ईश्वरपर निष्ठा और भक्ति रखना, और ईश्वरपरायण होना। कर्मयोगीको इस प्रकार ईश्वरपरायण होना चाहिये। जिसका ध्यान किया जाता है वैसा वह बनता है, इस न्याय के अनुसार ईश्वरपरायण हुआ मनुष्य ईश्वरही बनता है और तदनुकूल सुयोग्य कर्म करता है। कर्मयोगी अपने सन्मुख अपना आदर्श तारक श्रेष्ठ पुरुषको रखता है और तदनुकूल बनता है।

संयम का आचरण।

कर्मयोगमें संयम के आचरण का महत्त्व अत्यंत है। इस के विना कर्मयोग की सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषयके सूचक शब्द ये हैं-

मुनिः (६, २८) = मौन धारण करनेवाला, यहां भाषाका संयम है। भाषण द्वारा जो शक्तिका न्हास होता है वह इस वाक्संयमसे बचाया जाता है। इस का दूसरा अर्थ 'मननशील' भी है। जो मनन करके तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता है।

वशी (१३), **यति** (२६), **विजितात्मा** (२५), **यतचेतस्** (२६), **स्थिरबुद्धिः** (२०) **जितेंद्रिय** (७), **यतेंद्रियमनोबुद्धिः** (२८) = ये सब शब्द आत्मा, बुद्धि चित्त, मन, वाणी, इंद्रियां, शरीर आदि सब का संयम करनेकी सूचना दे रहे हैं। इसमें बुद्धि चित्त आदि सब का संयम है, किसी को छोडा नहीं है। क्यों कि एक को स्वैर छोडने से अन्योंका संयम निरर्थक हो जाता है। अतः सावधानता से सब का संयम करना चाहिये।

ऐसे संयमी मनुष्य ही कुशलतापूर्वक कर्मयोग का आचरण करके अपनी परम उन्नति सिद्ध कर सकते हैं। विना संयम के कर्मयोग की सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अतः सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध होने के लिये संयम अतीव आवश्यक है।

निरिच्छता।

संयम के साथ इच्छा, वासना अथवा कामना का कम होना भी अत्यंत आवश्यक है। संयम सिद्ध होनेसे इच्छा कम होगी और इच्छा कम होनेसे संयम सिद्ध होगा, ऐसा अन्योन्याश्रय इस विषयमें है। इस महत्त्वपूर्ण विषयके सूचक कई वाक्य इस अध्यायमें हैं, देखिये—

न कांक्षति (५) = इच्छा नहीं करता, वासनाको प्रबल होने नहीं देता। यहां इच्छा का अर्थ भोगप्राप्तिकी इच्छा है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्। (२७), **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा** (२१) = स्पर्श का अर्थ बाह्य विषय है। इन विषयोंमें जो असक्त नहीं रहता, इन विषयोंको जो दूर करता है, वह आसक्तिरहित होता है। क्योंकि—

ये संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनयः आद्यन्तवन्तः, तेषु बुधः न रमते (२२)=जो विषयभोग हैं वे दुःखके उत्पादक हैं, तथा उनसे जो सुख मिलता है, वह उत्पन्न होकर नाश होता है, इसलिये ज्ञानी मनुष्य उनमें रमता नहीं, क्योंकि अखंड सुख उन विषयभोगोंसे नहीं प्राप्त होता और उनसे विविध दुःखों की उत्पत्तिभी होती है। इसीलिये कहा है कि—

कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति स युक्तः

सुखी च। (२३) = जो मनुष्य कामके वेगको और क्रोधके वेगको सह सकता है, इनका वेग आनेपर जो अपने स्थानसे चलित नहीं होता, वेगोंका हमला होनेपर भी जो उन वेगोंको दूर कर सकता है, वही योगी है और वही सुखी है। पाठक यह सच्चे सुखका लक्षण ध्यानमें धारण करें। भोगेच्छासे दूर रहनेसे इस सुखकी प्राप्ति होती है। विषयभोगोंका संग छोडना चाहिये, अपने कर्मके फलका संग करनेकी इच्छाका भी त्याग करना चाहिये तभी सुख मिल सकता है, इसीलिये कहा है—

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति (१२), संगं त्यक्त्वा कर्म करोति (१०,११) = अपने कर्मके फलका त्याग करनेसे शान्ति प्राप्त होती है, कर्मके फल का संग छोडनेसे हि निर्दोषता प्राप्त होती है, यह त्याग मनसे करना चाहिये तभी उक्त सिद्धि मिलेगी। इस विषयमें निम्नलिखित प्रमाण देखिये—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी (१३) = सर्व कर्मोंका मनसे संन्यास करता है वह सुखी रहता है। सुख चाहिये तो मनसे कर्मसंन्यास करना चाहिये, यह बात सिद्ध है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत (८), नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् (१३)= योगी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता, इस नौ द्वारवाले नगरमें न कुछ करते और न कुछ कराते रहना चाहिये। नगरमें न करते कराते-कैसे रह सकते हैं ऐसी आशंका यहां हो सकती है। इस के उत्तर में निवेदन है कि एक नगरमें एक उत्तम राजा है, उसने मंत्री सेनापति आदि स्थानोंपर उत्तमोत्तम सुशिक्षासंपन्न पुरुषों को नियुक्त किया है। वे कर्मचारी अपना अपना कार्य पूर्ण और उत्तम रीतिसे करते हैं, इस कारण उस राजा को कोई कार्य करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। राजा की शक्ति लेकर वे सब ओहदेदार कार्य करते हैं, यह सत्य है, तथापि सब कर्मचारी अपने कर्म में परिपूर्ण और उत्तम सुशिक्षित रहनेके कारण सब कर्म उनसे यथासांग होते हैं और राजाको उनका कर्म देखनेके सिवाय कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। इसी तरह योगादि साधनों द्वारा जिसने अपने सब मन बुद्धि और अन्य इंद्रियोंको सुशिक्षित, संयमित, शान्त और दान्त बनाया है उनके इंद्रिय ही स्वयं योग्य कर्म करते हैं, कभी स्वेच्छाचारी नहीं होते, और इस देहधारीको स्वयं कुछ करने के लिये अवशिष्ट नहीं रहता। ऐसे योगी महात्मा ही कह सकते हैं कि मैं इस देह में रहते हुए कुछ भी कर्म नहीं करता, मैं कुछ नहीं करता हूं। इस विषयमें अधिक स्पष्टीकरण के लिये निम्न लिखित श्लोक देखिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
(११)

इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्। (९)

"केवल शरीर से, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे योगी लोग अपनी शुद्धिके लिये, कर्मफल का संग छोडकर कर्म करते हैं। सब इंद्रिय स्वयं अपने अपने निश्चित विषयोंमें वर्तते हैं, इस बातका वे अनुभव करते हैं।" प्रत्येक इंद्रिय केवल स्वयं अपने विषयमें सुयोग्य कर्म करने के लिये वह इंद्रिय कितना सुशिक्षासे संपन्न और संयमित होना चाहिये, इसका विचार पाठक यहां अवश्य करें। नेत्र रूपविषय के क्षेत्र में हि काम करेगा, परंतु उसका कार्य पूर्णतया निर्दोष होनेके लिये उसको उत्तम शिक्षित, संयमित और शान्त बनाना चाहिये। सब इंद्रियोंको ऐसे शिक्षित, संयमित, शान्त और दान्त बनाने के लिये योगसाधन अत्यंत आवश्यक है। इस का विचार आगे छटे अध्यायमें आनेवाला है। यहां इतनाही ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल इंद्रियोंसे भी कर्म हो सकता है और वह उत्तम से उत्तम हो सकता है, योगी लोग ऐसाही कर्म करते हैं। इस कारण वे निर्दोष रहते हैं।

प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्। (२०)= प्रियवस्तु

प्राप्त करनेसे भी बहुत हर्ष नहीं करना चाहिये। क्योंकि यदि प्रियके दर्शनसे हर्ष हुआ तो अप्रियके दर्शनसे अवश्यमेव दुःख होगा। इसलिये यदि अप्रियकी प्राप्तिका दुःख नहीं चाहिये, तो प्रियकी प्राप्तिसे हर्ष भी करना योग्य नहीं है। क्योंकि—

आत्मनि सुखं विंदति। (२१) = जो सुख मिलता है वह आत्माके अन्दरसे हि मिलता है, बाहरसे नहीं। अतः अपने सुखके लिये बाह्य पदार्थोंको अपने पास जमा करनेकी क्या आवश्यकता है? बाह्य पदार्थोंका आकर्षण जितना छोडा जाय उतना अन्दरहि अन्दरसे सुख मिलता है। सुखका स्रोत अन्दर है, बाहर नहीं है। इसलिये बाह्य पदार्थ प्रिय हों या अप्रिय हों उनके विषयमें समबुद्धि रखकर संतुष्ट रहनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीसे अन्तरात्मामें सुख मिलने लगता है।

द्वेष न करो।

न द्वेष्टि (३), **अप्रियं प्राप्य न उद्विजेत्** (२०)= द्वेष नहीं करना चाहिये। अप्रिय पदार्थ प्राप्त होनेसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये। इससे पूर्व कहा है कि प्रिय की प्राप्तिसे हर्ष नहीं करना चाहिये। उसीसे अप्रियसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये, यह उपदेश सिद्ध होता है, तथापि स्पष्ट बोधके लिये वही सूचित होनेवाला उपदेश यहा स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है। अप्रिय का द्वेष नहीं करना चाहिये और प्रियसे हर्ष नहीं करना चाहिये, इसका आशय क्या है? इसका आशय यह है—

कामक्रोधवियुक्तः (२६), **विगतेच्छाभयक्रोधः** (२८), **कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति स सुखी नरः।** (२३)= काम और क्रोध का त्याग करना, जिसने इच्छा, भय और क्रोध को दूर किया, जो काम और क्रोध के वेग को सह सकता है वही मनुष्य सुखी है। 'काम' का अर्थ प्रिय वस्तुकी प्राप्ति की इच्छा, 'क्रोध' का अर्थ अप्रिय की प्राप्तिसे रोष करना। इस तरह जो पूर्व स्थानमें कहा वही यहां कामक्रोध शब्दों द्वारा बताया और कामक्रोध को छोडनेको भी इसी लिये कहा है। ये दोनों छूट गये तो 'भय' भी नहीं रहता, क्यों कि भय तबतक हि रहता है जबतक काम और क्रोध रहते हैं।

द्वन्द्व छोडना।

द्वन्द्व से काम क्रोध भय आदि होते हैं। द्वन्द्व का अर्थ द्वैतभाव है। सुख दुःख, इष्ट अनिष्ट आदि अनेक द्वन्द्व द्वैतभाव की कल्पनासे होते हैं। अतः कहा है—

निर्द्वन्द्वः (५)= द्वन्द्वभावना छोडनी चाहिये। यही सब दुःखकी जड है। यदि किसी प्रकार द्वैतभाव या द्वन्द्वभाव छूट गया, तो किसी कारण भी अपने पास दुःख आ नहीं सकते। इसीलिये वारंवार द्वन्द्वोंको दूर करनेको, या द्वन्द्वके विषयमें '**समबुद्धि**' रखनेको कहा है। समबुद्धिका अर्थ ब्रह्मबुद्धि है। यदि द्वन्द्वके विषयमें ब्रह्मबुद्धि हो गयी तो द्वन्द्वोंका ही नाश हुआ। द्वैत रहा ही कहां? इसीलिये—

छिन्नद्वैधाः (२५) = द्वैतभाव जिनका छिन्नभिन्न हुआ है, उनकोहि "**ब्रह्मभूत**" (२४) ब्रह्मरूप बना कहा है। अर्थात् ब्रह्मरूप बनना और द्वन्द्वभाव छोडना एकही है, इसीलिये गीतामें ब्रह्मभूतको द्वन्द्वातीत कहा है। जो द्वन्द्वातीत होता है वही—

सर्वभूतानां सुहृत् (२९), **सर्वभूतहितरत** (२५), **सर्वभूतात्मभूतात्मा** (७), **ब्रह्मयोगयुक्तात्मा** (२१) होता है। जो द्वन्द्वभाव के परे जाता है, जिसका आपपरभाव छूट गया है, वही सर्व भूतोंका मित्र, सब प्राणियोंका सच्चा हितकर्ता, सर्वभूतोंका आत्मा जिसका आत्मा बना है ऐसा सर्वात्मभावयुक्त और ब्रह्मके साथ संयुक्त हुआ होता है। अर्थात् जिसमें द्वन्द्वभाव है, वह ब्रह्मसे दूर है, अतः दुःखी है।

इन शब्दों और वाक्योंके मननसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके लिये कौनसा साधन आवश्यक है इस बात की स्पष्टता हो जाती है। आशा है कि पाठक इसका यथेष्ट मनन करके जो साधन निश्चित होगा, उसका अनुष्ठान करके उन्नत होनेका यत्न करेंगे।

योगसाधन।

योगसाधनका विषय अगले अध्यायमें आनेवाला है, वहां उसका अधिक विचार होगा।

जो अन्तिम सिद्धि होती है ऐसा इस अध्याय में कहा उसमें योगसाधनके विना बडे विघ्न उपस्थित होते हैं। योगसाधनके विना मनुष्यको योग्य प्रगति होनेमें बडे कष्ट होते हैं (गी० ५।६) ऐसा जो इस अध्यायमें कहा, उससे मानवी उन्नति में योगसाधनका महत्त्व कितना है, इस बातकी सिद्धि होती है। अतः जो पाठक अपनी उन्नति करनेका यत्न करते हैं,उनको आगेके 'योगाध्याय' का अच्छी तरह मनन करना चाहिये। इस लिये बीचमें कोई दूसरा विचार उपस्थित न करते हुए हम भी छठे अध्याय का मनन अब शुरू करते हैं, उसका अध्ययन पाठक करें और अपने आपको मानवी पूर्णताकी अन्तिम सिद्धिको योग्य बनावें॥

पंचम अध्याय का विचार समाप्त ॥ ५ ॥

उत्तम कर्म करके उन्नत होनेका यत्न क्यों नहीं करता है? अवश्य यत्न करना चाहिये ।

११ नियत कर्म कर ।

नियतं कुरु कर्म त्वं । गी० ३।८

"तू नियत कर्म कर ।" जो धर्मशास्त्र सदाचार और अपने मनकी प्रसन्नता से करने योग्य निश्चित होता है, वह नियत कर्म है । क्यों कि—

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥ गी० ३।८

"कर्म न करने से कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है।" क्यों कि कर्म करनेसे सुधार होता है, लाभ होता है । आलस्य से क्या लाभ होना संभव है? विशेषकर यह देखो कि—

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

गी० ३।८

"कर्म न किया तो शरीर का व्यवहार भी नहीं चलेगा।" क्यों कि कर्म न किया तो सर्वत्र स्तब्धता ही होगी और पूर्णतासे अधःपात होगा।

१२ परस्पर-सहाय्य ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

गी० ३।११

"परस्पर की सहायता करनेसे सब का परम कल्याण हो सकता है ।" इस लिये आपस की संघटना करके परस्पर सहायक होने द्वारा सब लोग अपना उद्धार करें ।

१३ चोर का लक्षण ।

अप्रदाय....यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

गी० ३।१२

"जो दान करनेके विना स्वयं हि भोग करता है वह चोर है ।" अतः अपने पास जो है उसका कुछ योग्य अंश दान करके अवशिष्ट भाग का स्वयं भोग करना योग्य है । अतः कहा है—

१४ पापी भोजन ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ गी० ३।१३

"दान करके अवशिष्ट रहे भोग का जो सेवन करते हैं उन के सब पाप नष्ट होते हैं । परंतु जो केवल अपने लिये हि पकाते हैं और वह स्वयं खाते हैं वे मानो पाप ही खाते हैं ।" अर्थात् केवल स्वार्थ भोग पाप है और दान करके भोग करना पुण्य कारक है ।

१५ व्यर्थ जीवन ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं....जीवति ॥

गी० ३।१६

"जिसका पापमय जीवन है और जो अपने इंद्रियोंके आराममें सदा लगा रहता है, उस को जीवन व्यर्थ है ।" मनुष्यको उचित है कि वह कुछ पुण्य कर्म करे और परोपकार भी करे ॥

१६ कर्तव्य कर ।

असक्तः....सततं कार्यं कर्म समाचर ॥

गी० ३।१९

"भोगासक्ति छोडकर सतत कर्तव्य कर्म कर।" अपने कर्तव्य कर्म का त्याग करना कभी उचित नहीं है।

❀ ❀ ❀

१७ लोग अनुकरणशील हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

गी० ३।२१

"श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा अन्य लोग करते हैं, श्रेष्ठ पुरुषों का अंधानुकरण साधारण लोग करते हैं।" इस लिये श्रेष्ठोंको अपना योग्य आचरण करना योग्य है, अन्यथा जनता को बिगाडने का पाप उनके सिरपर चढेगा।

❀ ❀ ❀

१८ अपना उत्तरदातृत्व।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

गी० ३।२४

"यदि मैं कर्म न करूंगा तो इन सब लोगोंका नाश होगा, उनका संकर और नाश करनेका पातक मुझे लगेगा।" ऐसा मनुष्य समझे। अपने आलस्यमें पडे रहनेसे लोग भी वैसाही करेंगे और सबका नाश होगा। इसलिये सब को कर्म करना चाहिये।

❀ ❀ ❀

१९ लोकसंग्रह।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

गी० ३।२५

"ज्ञानी मनुष्य जनताकी संघटना करनेके लिये सदा कर्म करे।" लोकसंग्रह का ध्येय मनुष्यको अपने सन्मुख रखना चाहिये।

❀ ❀ ❀

२० बुद्धिभेद न करो।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

गी० ३।२६

"कर्म करनेवाले अज्ञानी लोगोंका बुद्धिभेद कोई न करे, उनके कर्मों को योग्य दिशा लगाकर उनका उत्साह बढावे। ज्ञानी मनुष्य स्वयं अपना कर्म कुशलतासे करे और लोगोंसे करावे।"

❀ ❀ ❀

२१ युद्ध किस समय किया जाय?

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व ॥

गी० ३।३०

"भोगेच्छा छोडकर और ममत्व का पक्षपात छोडकर पश्चात् युद्ध कर।" भोगेच्छा और पक्षपात छोडनेसे हि धर्मयुद्ध होगा, तब तक अधर्म युद्ध होगा।

❀ ❀ ❀

२२ बटमार शत्रु।

इंद्रियस्येन्द्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ॥

गी० ३।३४

"इंद्रियों का विषयों के साथ राग और द्वेष निश्चित है, उन रागद्वेषोंके वशमें कोई न आवे,

क्यों कि वे रागद्वेषहि बटमार चोर शत्रु हैं।" शत्रु के आधीन कोई भी न होवे।

❧ ❧ ❧

२३ स्वधर्म श्रेष्ठ है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

गी० ३।३५

"अपना गुणहीन धर्म भी हितकारी है, परधर्म गुणवान् भी हुआ तो उस का स्वीकार करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। अपने धर्म में मरण आनेसे भी कल्याण होगा, परधर्म स्वीकार करनेसे परिणाम भयंकर होगा।"

❧ ❧ ❧

२४ वैरी को पहचानो।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥

गी० ३।३७

"रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध सदा भूखे और पापी हैं। ये तुम्हारे शत्रु हैं।" शत्रुओंको अपने वशमें करना चाहिये। शत्रुओंका प्रभुत्व अपने ऊपर होने नहीं देना चाहिये।

❧ ❧ ❧

२५ संयम करो।

इंद्रियाणि नियम्य....पाप्मानं प्रजहि ॥

गी० ३।४१

"अपने इंद्रियों का संयम करके पापी (काम क्रोध) का निग्रह कर।" पापी वृत्तिको उच्छृंखल होने न दो ॥ तथा—

जहि शत्रुं....कामरूपं दुरासदम् ॥

गी० ३।४३

"कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर।" शत्रुको अपने पास जीवित न रख।

पंचम अध्यायकी विषयसूची।

गीताके पंचम अध्याय के कुछ सुभाषित ।

१ निश्चित उपदेश करो ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

गी० ५।१

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

गी० ३।२

"इन दोनों में से जो श्रेयस्कर है, वही निश्चय करके मुझसे कहो।" शिष्यको उपदेश करनेके समय, यह भी करो अथवा वह भी करो, ऐसा संदेहपूर्ण उपदेश नहीं कहना चाहिये। निश्चय करके जो उस के लिये हितकारक हो, वही कहना चाहिये, जिससे शिष्यको संदेह न होगा और उसका कल्याण होगा ।

२ द्वन्द्व छोडनेसे मुक्ति ।

निर्द्वन्द्वो.... बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५।३

"द्वन्द्वोंको छोडनेसे बन्धन से मनुष्य मुक्त होता है।" सुख दुःख, हानि लाभ, मैं और अन्य आदि अनेक द्वन्द्व हैं। जब तक ये द्वन्द्व भाव मन में रहते हैं तब तक ही बंधन के कष्ट भोगने पडते हैं। ये द्वन्द्वभाव छूट गये तो बंधन भी दूर हो गये। अर्थात् मुक्ति ही सिद्ध होती है ।

३ शान्तिकी प्राप्ति ।

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति ॥

गी० ५।२२

"अपने कर्म से जो फल प्राप्त होगा, उसका दान जनता की भलाई के लिये करने से शान्ति की प्राप्ति होती है।" और इस के विरुद्ध-

कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

गी० ५।१२

"स्वार्थ से फलभोग के विषयमें आसक्त होने से बंधन होता है।" बंध और मोक्षकी यह व्यवस्था स्वार्थ और उपकार के साथ संबंधित है ।

४ स्वभाव बलवान् है ।

स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ गी० ५।१४

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥

गी० ३।३३

प्रकृतिं यान्ति भूतानि ॥ गी० ३।३३

"प्रकृति स्वभाव ही सर्वत्र प्रबलतासे प्रवृत्त होता है।" "ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति के स्वभावके अनुसार कर्म करता है।" तात्पर्य प्रकृति स्वभाव का अतिक्रमण करना बडा कठिण कार्य है ।

५ अज्ञानसे मोह ।

अज्ञानेन .... मुह्यन्ति जन्तवः ॥

गी० ५।१५

"अज्ञान के कारण मनुष्य मोहित होते हैं।" और प्रमाद करते और दुःख भोगते हैं। सब दुःख इसी अज्ञान से होते हैं। अतः ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

※ ※ ※

६ ज्ञानसे उन्नति।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

गी० ५।१७

"ज्ञानसे जिनके मल धोये गये और जो निर्मल होगये वे पुनः पुनः कष्टमें नहीं पडते।" उनके सब दुःख दूर होते हैं।

※ ※ ※

७ आसक्ति छोडनेसे सुख।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा....सुखमक्षयमश्नुते॥

गी० ५।२१

"बाह्य विषयोंके भोगोंकी आसक्ति छोडनेसे अक्षय सुख मिलता है।" और विषयभोगोंपर आसक्त होनेसे अक्षय दुःख होता है। क्योंकि—

भोगाः दुःखयोनय एव, न तेषु रमते बुधः॥ गी० ५।२२

"भोग दुःख बढानेवाले हैं अतः उनमें ज्ञानी नहीं रमता।" अज्ञानीहि भोगोंमें रमता है और दुःख भोगता है। अतः सिद्ध है—

शक्नोति यः सोढुं....कामक्रोधोद्भवं वेगं, स सुखी नरः॥ गी० ५।२३

"जो काम और क्रोधके वेगको सह सकता है वही मनुष्य सुखी है।" परंतु जो कामक्रोधके वेगको सह नहीं सकता, उस वेगमें बह जाता है वह अत्यंत दुखी होता है।

※ ※ ※

८ जनताका हित करनेसे ब्रह्मप्राप्ति।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं....सर्वभूतहिते रताः॥

गी० ५।२५

"सर्व भूतोंका हित करनेमें जो सदा दत्त चित्त होते हैं वे ब्रह्म प्राप्त करते हैं।" जो दूसरों के हित में विघ्न करते हैं, दूसरों को कष्ट देते हैं वे दुःख भोगते हैं।

※ ※ ※

९ कामक्रोध छोडनेसे ब्रह्मप्राप्ति।

कामक्रोधवियुक्तानां....ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते॥

गी० ५।२६

"काम और क्रोध छोडनेवालोंको ब्रह्मप्राप्ति होती है।" काम और क्रोध के वश होनेवालों को अनंत दुःख होते हैं। तथा—

विगतेच्छाभयक्रोधो....मुक्त एव॥

गी० ५।२८

"जिसने इच्छा, भय और क्रोध छोड दिये वह मुक्त ही हुआ जानो।" अर्थात् जिसमें वासना है, भय है और क्रोध है, वह सदा बद्ध होकर रहता है।

※ ※ ※

तृतीय अध्याय के सुभाषित।

तृतीय अध्याय के सुभाषित पूर्व स्थानमें नहीं दिये गये वे अब दिये जाते हैं—

१० प्रतिक्षण कर्म होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्॥

गी० ३।५

"एक क्षणभर भी कोई प्राणी कर्म किये विना रह नहीं सकता।" यदि ऐसा है तो फिर मनुष्य

पंचम अध्यायकी विषयसूची समाप्त।

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)